योगाश्रम

श्रीसनातनधर्म कालेजमें सनातनधर्मकी प्रतिष्ठाके लिये यह आश्रम बनाया गया है। प्रसिद्ध श्रीरामेश्वरजीके मन्दिरके समीप पतितपावनी भागीरथीके तट पर मुहल्ला नवाबगञ्ज, कानपुरमें यह सुन्दर आश्रम स्थापित है। इसके अधिष्ठाता श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराज जिज्ञासु जनता तथा कालेजके अधिकारी छात्रोंको योग, उपासना, ज्ञान आदि-की नियमित शिक्षा देते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता, दर्शनशास्त्र तथा अन्यान्य शास्त्रोंकी यहां पर नियमित चर्चा होती है। आश्रमकी ओरसे विशेष धूमधामके साथ गुरुपूर्णिमा, श्रावणी, वसन्तपञ्चमी आदि त्यौहारों पर उत्सव मनाये जाते हैं। बीच बीचमें बाहरसे भी विद्वानों-को बुलाकर कालेजमें धर्मोपदेश कराये जाते है। उत्तम उपदेशप्रद पुस्तक पुस्तिकाएँ भी नियमित प्रकाशित की जाती हैं। यह रमणीय पवित्र स्थान निवृत्तिसेवी गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासियोंके सर्वथा रहने योग्य है।

निवेदक—

स्वामी नारायणानन्द,

मैनेजर।

ॐ नमः परमात्मने ।

धर्म-विज्ञान

अर्थात्

शास्त्र तथा सायन्सके अनुसार सनातनधर्मके प्रत्येक विषय पर विवेचन ।

प्रणेता—श्रीस्वामी दयानन्द ।

प्रकाशक—योगाश्रम, सनातनधर्म कालेज, कानपुर ।

मुद्रक—लाला रामनारायण, मरचैंट प्रेस, कानपुर ।

 १९२१ [मूल्य चार रुपया ।

* ॐ तत् सत् *
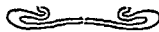
❋ धर्म-विज्ञान ❋

आवश्यक सूचना।

श्रीभगवान्‌की अपार कृपासे 'धर्म-विज्ञान' नामक यह बृहत् ग्रन्थ समाप्त हुआ। जिस देशकालमें मैंने श्रीधर्मकल्पद्रुमको लिखा था उससे वर्त्तमान देश-कालकी गति सम्पूर्ण भिन्नरूप होनेके कारण मुझे यह नवीन पुस्तक लिखनी पड़ी है। इसमें धार्मिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक, नैतिक आदि समस्त विषयोंपर धर्मकी पूर्ण मर्यादाको रखते हुए वर्त्तमान देशकालपात्रानुसार यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थमें धर्मकल्पद्रुमके समस्त विषयोंका सारसंग्रह तो है ही, इसके अतिरिक्त पश्चिमी सायन्सके अनुसार इसमें समग्र विषयोंका विचार किया गया है, जिससे पश्चिमी शिक्षा प्राप्त जिज्ञासुओंके लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपकार साधन करेगा इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। इसमें स्थान स्थान पर पश्चिमी विद्वानोंके विचार उद्धृत करके समस्त विषयोंकी पुष्टि की गई है और प्रत्येक विषय पर प्राच्य प्रतीच्य तुलनात्मक विचार द्वारा धार्मिक, सामाजिक, आध्यात्मिक सभी प्रकारके विषय विवेचनको सर्वाङ्ग सुन्दर बना दिया गया है। धर्मकल्पद्रुमकी भाषा अनेक कारणोंसे कुछ कठिन तथा जटिल होगई थी, इस दोषका भी निराकरण करके 'धर्म-विज्ञान' की भाषाको सरल, मधुर तथा हृदयग्राही बनानेका प्रयत्न किया गया है। आजकल जीवन संग्रामके विशेष बलवान् हो जानेके कारण हिन्दु प्रजामें अर्थ क्लेश बहुत कुछ बढ़ गया है। इसी कारण 'धर्म-विज्ञान' में धर्मकल्पद्रुमके प्रायः सभी विषयोंका सन्निवेश रहने पर भी इसका मूल्य बहुत ही कम रक्खा गया है। इत्यादि कारणोंसे क्या स्कूल, कालेज, महाविद्यालय, पाठशाला और क्या धर्मप्रेमी हिन्दुजनता सभीकी धर्म-पिपासाकी पूर्ण निवृत्ति धर्म-विज्ञानके द्वारा हो सकेगी यही आशा की जाती है। मैंने श्रीभगवान् नन्दनन्दनको स्मरण करके इस ज्ञानयज्ञका प्रारम्भ किया था, अतः उन्हींके राजीव चरणोंमें इसका फलाफल समर्पित है।

ग्रन्थ छपनेके समय मेरे बाहर भ्रमणमें रहनेके कारण ग्रन्थमें कुछ अशुद्धियां रह गई हैं जिनका संशोधन आगामी संस्करणमें कर दिया जायगा।

ग्रन्थकर्ता।

धर्म-विज्ञान ।

विषय-सूची ।

विषय	पृष्ठ

विषय   पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

❀ ॐ तत् सत् ❀

धर्म-विज्ञान ।

मङ्गलाचरण ।

वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाऽहोरात्रान् संदधाम्यृचं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारम् ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

आधुनिक विज्ञान और सनातनधर्म ।

आर्य्यशास्त्र तथा अन्य शास्त्रोंमे 'विज्ञान' शब्दके अनेक प्रकार लक्षण और अर्थ बताये गये हैं । कोषकार अमरसिंहने "मोक्षे धीर्ज्ञानमित्याहुर्विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः" ऐसा कह कर वर्त्तमान शिल्पशास्त्रज्ञान तथा पश्चिमी सायन्सके ज्ञानका ही 'विज्ञान' नाम दिया है । किन्तु उपनिषदादि शास्त्रोंमें अनुभवगम्य विद्या तथा पराविद्याके अर्थमें 'विज्ञान' शब्दका प्रयोग देखनेमें आता है । यथा—

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' बृहदारण्यक उ० ।

'विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान् नरः' कठोपनिषत् ।

'विज्ञानं प्रज्ञानम्' ऐतरेय आरण्यक ।

'विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति' छान्दोग्य उ० ।

'अज्ञानेनावृतं लोकं विज्ञानं तेन मुह्यति' ।

'विज्ञानं निर्मलं सूक्ष्मं निर्विकल्पं यदव्ययम्' । कूर्म पु० २य अध्याय ।

इन सब प्रमाणोंके द्वारा 'विज्ञान' शब्दका आत्मोपलब्धिमूलक ज्ञान, प्रपञ्चसे अतीत शुद्ध निर्विकल्प ज्ञान यही अर्थ प्रतिपादन किया गया है। 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः' (गीता ७।२) ऐसा कह कर श्रीभगवान्‌ने गीतामें अनुभवात्मक ज्ञानको ही 'विज्ञान' कहा है। अतः स्थूल सूक्ष्म दोनों अर्थोंमें ही 'विज्ञान' शब्दका प्रयोग होता है यह निश्चय हुआ। तथापि 'आधुनिक विज्ञान' कहनेसे आजकल लोग प्रायः अमरकोषके लक्षणानुसार आधिभौतिक सायन्स, पश्चिमी सायन्स, स्थूल शिल्प चमत्कार इत्यादि भावसे ही इस शब्दका ग्रहण करते हैं। अतः इस ग्रन्थमें भी 'विज्ञान' शब्दका प्रयोग स्थूल अर्थमें ही किया जायगा। इस प्रकार आधुनिक विज्ञानका धर्मके साथ क्या सम्बन्ध या भेदभाव है, इसीका तत्त्वनिर्णय करना वर्त्तमान प्रबन्धका आलोच्य विषय है।

चिन्ताशील पश्चिमी विद्वान् हर्बर्ट स्पेन्सरने विज्ञान शास्त्र और दर्शन शास्त्रका भेद निर्णय करते समय कहा है—

Science is partially unified knowledge and philosophy is completely unified knowledge अर्थात् वस्तुका समभावयुक्त केवल आंशिक, असम्पूर्ण ज्ञान सायन्सके द्वारा होता है, किन्तु उसका पूर्णज्ञान करानेवाला दर्शन शास्त्र ही है। सायन्सकी वास्तविक गति वस्तुज्ञानके विषयमें कितनी है इस विषयमें वैज्ञानिक पण्डित टिन्डयाल साहबने कहा है— Science understands much of the intermediate phase of things that we call nature, of which it is the product, but science knows nothing of the origin or destiny of nature Who or what made the sun and gave his rays their alleged power ? Who or what made and bestowed upon the ultimate particles of matter their wondrous power of varied interaction ? Science does not know the mystery, though pushed back, remains unaltered (Fragments of Science Vol II) अर्थात् प्रकृतिराज्यके बीचके कुछ व्यापारोंको सायन्स प्रकट कर सकता है, किन्तु उसके आदि-अन्तका कुछ भी पता सायन्स नहीं लगा सकता है। सूर्यका उत्पत्तिकर्त्ता कौन है या कैसे सूर्य उत्पन्न हुआ ? सूर्यकिरणोंको असीम शक्ति

किसने दी है ? अणु परमाणुओंको किसने बनाया और उन्हे अद्भुत, असीम कार्यकारिणी शक्ति किसने दी ? इन विषयोंका कुछ भी रहस्यज्ञान सायन्सको नहीं है, उसने इस ओर हाथ तो बढ़ाया था, किन्तु असमर्थ ही रह गया। इसी प्रकार हर्बर्ट स्पेन्सर साहबने भी धर्म और सायन्सकी समता बतानेके प्रसङ्गमें कहा है—

If religion and science are to be reconciled, the basis of reconciliation must be this deepest, widest and certain of all facts—that the power which the universe manifests to us is utterly inscrutable (*First Principles*) अर्थात् धर्म और सायन्स इन दोनोंकी यदि एकता करनी हो तो एकताकी यह निश्चित भित्ति होनी चाहिये कि समस्त विश्व मे गूढ़ रूपसे निहित और समस्त विश्वमें प्रकाशमान समस्त विश्वके हेतुभूत कारणशक्तिको हम जान ही नहीं सकते। अर्थात् इस शक्तिको जानना सायन्सकी ज्ञानकोटिके बाहर है, अतः इसके छोडे बिना, धर्म और सायन्सकी एकता नही हो सकती। इसी विषयका प्रतिपादन अन्य ग्रन्थमें भी किया गया है यथा—

"In the matter of evidence in psychological question, the sense perceptions, with which science naturally deals, are only second rate criteria and ought to be received with caution" "The closing of the external channels of sensation is usually the signal for the opening of the psychic and from all the evidence it would seem that the psychic sense is more extensive, acuter and in every way more dependable than the physical."

Second Sight P 12 and 13 Sepharial

वस्तुनिर्णयमें ऐन्द्रियिक अनुभूति जो कि सायन्सका विषय है, केवल असम्पूर्ण प्रमाण मात्र है और ऐसे प्रमाणो पर विशेष भरोसा भी नही करना चाहिये। बहिरिन्द्रियका पथ बन्द कर देने पर ही अन्तरिन्द्रियका मार्ग खुलता है और समस्त विचार द्वारा यही प्रतिपन्न हुआ है कि अतीन्द्रिय सूक्ष्म अनुभव,

ऐन्द्रियिक स्थूल अनुभवकी अपेक्षा अधिक व्यापक, तीव्र तथा निर्भर करने योग्य है। इन सब प्रमाणोंके द्वारा तत्त्वनिर्णयराज्यमे आधुनिक विज्ञान की पहुँच कहाँ तक है सो स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है।

आज दिन समस्त ससारमें सायन्सकी भरमार है। प्रकृतिका अनेक चमत्कार सायन्सके द्वारा प्रकाशित होनेसे सायन्सका आदर आजकल बहुत कुछ बढ़ गया है। किन्तु सायन्स 'कैसे' (how) के सिवाय 'क्यों' (why) को नही बता सकती है। प्रकृतिके नियम (Law of nature) विश्वससारमें उत्ताप, आलोक, सौदामिनीरूपसे या कठिन-तरल वायवीय वस्तु आदिके भेदसे 'कैसे' काम करते हैं इसीका चमत्कार बताना सायन्सका काम है। ऐसे चमत्कार 'क्यों' होते है, कौन अदृश्य, अलौकिक शक्ति कारणरूपसे सबके भीतर निहित रह कर प्रकृतिमाताकी ऐसी मनोहारिणी मूर्तिको जगज्जनोकी नयन-रञ्जनी रूपसे प्रकट करती है, इसका पता सायन्सको अबतक नही लग सका है। इसका पता अध्यात्मशास्त्र (Philosophy) को प्राप्त है। स्थूल सूक्ष्म प्रकृतिकी लीलाको सायन्स और कारण प्रकृतिके अलौकिक रहस्यको अध्यात्म-विद्या प्रकट करती है। पश्चिम देशमें अब तक सायन्सका ही बहुत प्रचार हुआ है, अध्यात्मविद्याका नहीं। प्राचीन महर्षियोने सायन्स तथा अध्यात्म-विद्या दोनोंसे काम लिया था और इसी कारण आर्यशास्त्रमे लौकिक प्रकृतिराज्य तथा अलौकिक ब्रह्मराज्य दोनोका तत्त्वनिरूपण उत्तम तथा पूर्ण रीतिसे किया जा सका है। वास्तवमे सनातनधर्म ही पूर्ण विज्ञानानुकूल (Scientific) धर्म है। क्योकि यह कोई दस-बीस नियमोसे जकड़ा हुआ 'मजहब' नही है। इसके अनन्त नियम हैं। जीव जगतमे जन्म लेकर परमात्मामे लय होने तक क्रमोन्नतिके पथमे चलनेके लिये अनेक जन्मोमे स्वभावतः जिन नियमोका आश्रय करता है, उन सभीकी समष्टि सनातनधर्ममे है। ये नियम प्रकृतिके निम्नस्तरमें कुछ और होते है, मध्यस्तरमे कुछ और होते हैं और उच्च, उच्चतर, उच्चतम स्तरोमे कुछ विशेष ही होते हैं। ये सब प्रकृतिके नियम है और सायन्स भी प्रकृतिके नियमको (Law of nature) ही व्यक्त करती है। अतः सनातनधर्म सायन्स अनुमोदित धर्म है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि आज दिन सायन्सजगत्मे जितनी उन्नति हो रही है और नव नव आविष्कार हो रहे है, उतने ही सनातन-धर्मान्तर्गत विषयोंकी सत्यता प्रमाणित हो रही है। आत्मा तथा प्राण मनुष्येतर

जडजगत् तकमें व्याप्त है इसको विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र वसुने स्पष्ट प्रमाणित कर दिया है, असवर्ण विवाहसे क्या क्या दोष उत्पन्न होते हैं इसको अमेरिकाके विज्ञानवित् पण्डितोने यन्त्र द्वारा रक्तपरीक्षा करके पूर्णरूपसे दिखा दिया है, मनुष्यकी तरह वृक्ष भी किस प्रकार सोते-जागते देखते-सुनते हैं इसका भी भूरि भूरि प्रमाण वसु महाशयने संसारके सामने प्रकट कर दिया है, गङ्गाजलमे किस प्रकार विषनाशिनी तथा रोगकीटाणुनाशिनी अद्भुत शक्ति है इसको इञ्जिनियर हैंकिन्स साहबने यन्त्रोंकी सहायतासे सबको दिखा दिया है, एक स्त्रीके अनेक विवाह होनेसे किस प्रकार उपदंश आदि दुरारोग्य रोग वशमे फैल जाते है इसको पूर्ण रूपसे हैमूलक साहबने प्रमाणित कर दिया है। इत्यादि इत्यादि सनातनधर्मके सभी गूढ तत्त्व जिन्हें पूज्यपाद सत्यदर्शी, अतीन्द्रियदर्शी महर्षियोंने योगदृष्टि द्वारा प्रकट किये थे, उनकी सत्यता तथा चमत्कारिता आज सायन्सकी उन्नतिके साथ साथ निखिल विश्वमें परिव्याप्त हो रही है। इन सब विषयोंका प्रचुर वर्णन क्रमशः किया जायगा।

इन सब वर्णनोसे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि सायन्स सनातनधर्मसे भिन्न या विपरीत वस्तु नही है, किन्तु उसके एक अंशका प्रकाशक मात्र है। प्रकृतिके स्थूल, सूक्ष्म, कारण और तुरीय ये चार विभाग होते हैं। इनमेंसे स्थूल विभागका और सूक्ष्मके कुछ अंशका प्रकाशन सायन्सके द्वारा होता है। बाकी सूक्ष्म, कारण, तुरीय इन तीनोंका प्रकाश करनेवाला अध्यात्म शास्त्र है। जहां पर प्रकृति पुरुषमे विलीन है और पुरुषसे उसकी भिन्नता प्रतीत नहीं होती है, उसका नाम तुरीय दशा है। जहां पर प्रकृति पुरुषकी शक्तिको पाकर ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र क्रमसे अनन्तविश्वकी जननी बनती है वह उसकी कारण दशा है। सूक्ष्मदशामे विविध दैवीशक्ति, विद्युत्शक्ति आदि रूपसे प्रकृतिका कार्य देखनेमे आता है, उनमेसे विद्युत् शक्ति आदिके कार्यका पता सायन्सको लगा है अर्थात् सौदामिनी कैसे कैसे कार्य करती है सो सायन्स बता सकती है, किन्तु किस अचिन्त्य मौलिक शक्तिके प्रभावसे, क्यो इस प्रकारसे कार्य करती है, उसका पता सायन्सको अभी तक नहीं लग सका है। यही आधुनिक विज्ञान तथा अध्यात्म विद्यामे पार्थक्य है। इसी कारण कहा जाता है कि सनातनधर्म आधुनिक विज्ञानसे विपरीत वस्तु नही है। आधुनिक विज्ञान उसके एक अंशका प्रतिपादक है, बाकी वह अंश तथा प्रकृतिके अन्य तीन अंश

और प्रकृतिके परपारमें विराजमान सत्-चित्-आनन्दरूप परमात्मा सभीका प्रतिपादक, पथप्रदर्शक श्रीसनातनधर्म है । इसी प्रकारसे आधुनिक विज्ञान और सनातनधर्मका चिरन्तन सम्बन्ध सिद्ध किया गया है और इस तथ्यको पश्चिम देशके कतिपय विद्वानोंने स्वीकार भी किया है यथा—

"Religion and science are necessary correlatives They stand respectively for those two antithetical modes of consciousness which cannot exist asunder" *Spencer*.

Science is a part of religion. 'Both astronomy and medicine' says Weber 'received their first impulse from the exigencies of religious worship' The laws of phonetics were investigated because the wrath of the gods followed the wrong pronunciation of a single letter of the sacrificial formulas, grammar and etymology had the task of securing the right understanding of the holy texts Geometry was developed in India from the rules for the construction of alters All the astronomical knowledge of the Babylonians had as its ends the regulation of religious worship In Egypt the majority of the books relating to Science are sacred works, composed and revealed by the gods themselves

Spencer's Principles of Sociology Vol III

अर्थात् धर्म और सायन्सके भीतर आवश्यक सम्बन्ध विद्यमान है । वे यथाक्रम ऐसी दो अनुभूतिके उपायरूपसे रहते हैं जिनको पृथक् करना असम्भव है । सायन्स धर्मके एक अंशका प्रतिपादक है । वेबार साहबका कहना है कि ज्योतिःशास्त्र और चिकित्साशास्त्र रूपी दोनो सायन्सका उत्पत्ति निदान धार्मिक पूजा व्यापार ही है । ध्वनिविज्ञानकी उत्पत्तिका कारण ही यह है कि वैदिकयज्ञमें वेदमन्त्रका दुष्ट उच्चारण होगया था । व्याकरण आदि शब्दशास्त्र धार्मिक पुस्तकोंके यथार्थ परिज्ञान करानेके लिये ही विरचित किये गये हैं । यज्ञवेदी निर्माणके नियमोंके आधार पर ही ज्यामिति नामक विज्ञान शास्त्रकी उन्नति हुई है । धार्मिक उपासनाकी व्यवस्थाके लक्ष्यसे ही बेबिलोनियन

जातिने ज्योतिषका ज्ञान लाभ किया था। मिश्रदेशमें सायन्सविषयक जितनी पुस्तकें हैं उनमेंसे प्रायः सभी देवताओंके कहे हुए पवित्र ग्रन्थ नामसे प्रसिद्ध हैं। इस प्रकारसे पश्चिमी तथा एतद्देशीय विद्वानोंने धर्म, सायन्स और अध्यात्मशास्त्रका पृथक् पृथक् स्थान निर्देश करके इन तीनोंका परस्पर अभिन्न सम्बन्ध बता दिया है। अब धर्म क्या वस्तु है इसीका तत्त्वनिर्णय किया जायगा।

पश्चिम देशके लोग धर्मको रिलिजन (religion) कहते हैं। किन्तु रिलिजन शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थसे आर्यशास्त्र वर्णित 'धर्म' का पूर्ण लक्षण चरितार्थ नहीं होता है। रिलिजन शब्द re-back, ligo – to bind, that which binds one back from doing wrong अर्थात् जो शक्ति मनुष्यको पाप करनेसे बचावे इसी भावका द्योतक है। नैतिक जीवनको उत्तम बनाना-पश्चिमी रिलिजन शब्दसे यही अर्थ निकलता है। किन्तु आर्यशास्त्रवर्णित 'धर्म' शब्दका तात्पर्य इससे बहुत व्यापक है। धर्म शब्द 'धृ' धातुसे बनता है जिसका अर्थ यह होता है कि 'जो शक्ति चराचर समस्त विश्वको धारण करे उसीका नाम धर्म है'। धर्मकी सर्वतोव्याप्त शक्ति जड चेतनात्मक समस्त विश्वकी रक्षा करती है। 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' यह तैत्तिरीय आरण्यकका मन्त्र है। अर्थात् समग्र विश्वकी स्थिति धर्मके द्वारा ही होती है। आर्यशास्त्र-मे ब्रह्माण्डके रक्षक विष्णुकी मूर्ति धर्ममूर्ति कही गई है। 'यज्ञो वै विष्णुः' 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' इत्यादि श्रुति इसी अर्थका बोधक है। श्रीभगवान् धर्ममूर्ति विष्णु धर्मकी रक्षाके लिये समस्त विश्वमे व्याप्त रहते हैं। यथा ऋग्वेदसंहिता १।१।२२।१८ "त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्"। अनन्तशक्तिधारी विश्वरक्षक विष्णु धर्मकी रक्षाके लिये तीन चरणसे तीनों लोक व्याप्त किये हुए रहते हैं। धर्मकी मूर्ति विष्णुमूर्ति है इस लिये उन के चार हाथ होते हैं। उनका चक्रयुक्त हाथ धर्मका, गदायुक्त हाथ अर्थका, कमलयुक्त हाथ काम (शिल्पकला) का और शङ्खयुक्त हाथ मोक्षका देनेवाला है। क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और ब्राह्मण इन चार वर्णोंके साथ यथाक्रम इन चार हाथोंका सम्बन्ध है। इसी कारण आर्यशास्त्रमे धर्मसे बाहर कोई वस्तु नहीं है। पश्चिम देशमें लड़ना, शत्रुओंको मारना युद्धविद्या है, किन्तु आर्य-शास्त्रमें यह क्षत्रिय धर्म है। वहां की राजनीति यहां का राजधर्म है। वहांका वाणिज्य, व्यापार, अर्थसंग्रह आदि यहांका वैश्यधर्म है। वहांकी कारीगरी

शिल्प कलाकौशल यहांका शूद्रधर्म है । इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें धर्म और अधर्मके सिवाय कोई तीसरी वस्तु नहीं बताई गई है। यही धर्मकी व्यापकताका लक्षण है । धर्महीन पश्चिमी शिक्षाके फलसे आजकल हम धर्मके इस व्यापक लक्षणको भूलकर उसे अतिसङ्कीर्ण 'रिलिजन' या मजहब समझ बैठे हैं यह हमारी बड़ी भारी भूल है।

अब भगवान् श्रीकृष्ण तथा महर्षि कणाद कथित धर्मलक्षणके विषयमें बताया जाता है। महाभारतके कर्णपर्वमें श्रीभगवानने कहा है—

धारणाद्धर्म्ममित्याहुर्धर्म्मो धारयते प्रजाः ।
यस्माद्धारणसंयुक्तं स धर्म्म इति निश्चयः ॥

धारण करता है इसलिये धर्म्मको धर्म्म कहा गया है, धर्म्म प्रजाओंको धारण करता है, जो धारण करनेकी योग्यता रखता है वही धर्म्म है।

ईश्वरकी जो अलौकिक शक्ति सम्पूर्ण संसारकी रक्षा करती है, उसीका नाम धर्म्म है । जो शक्ति पृथिवीके भीतर व्यापक रहकर पृथिवीमें पृथिवीपन बनाये रखती है, जो शक्ति जलमें रहकर जलका जलत्व और उसकी तरलता सम्पादन करती है, जो शक्ति तेजमें रहकर उसकी उष्णताकी रक्षा करती है, जिस शक्तिके न रहनेसे पृथिवी, जल या तेज रूपमें पलट जाती अथवा तेज कठिन और वजनदार हो जाता, आज पृथिवी रूपमें है कल वह आकाश रूपमें या आकाश ही पृथिवीके समान स्थूल दिखाई देता, जो शक्ति इस पञ्चभूतको एवं मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष और ग्रह नक्षत्र आदि पाञ्चभौतिक पदार्थोंको अपने अपने स्वरूपमें स्थित रक्खे, उसी शक्तिको धर्म्म कहते हैं।

इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी प्रत्येक वस्तुमें तथा प्रत्येक अणु परमाणुके भीतर आकर्षण और विकर्षण नामकी दो शक्तियां हैं । इन दोनोंकी समानताके कारण ही इस असीम शून्य महाकाशमें वर्त्तमान अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त सूर्य्य चन्द्र ग्रह नक्षत्र अपनी अपनी कक्षामें घूमते हुए कभी कोई अपनी कक्षासे गिरकर दूसरे ग्रहादिके साथ टक्कर नहीं खाते हैं, जलमय चन्द्रलोक तेजोमय सूर्य्यलोकमें प्रवेश करके नष्ट नहीं होता है अथवा बड़ा ग्रह छोटे ग्रहको अपने भीतर खींचकर नष्ट नहीं करता है । जो ईश्वरकी शक्ति इस प्रकारसे आकर्षण

और विकर्षण दोनोंकी समानता रखकर सृष्टिके सब पदार्थोंकी रक्षा करती है, वही धर्म्म है ।

संसारमें धर्म्मकी इस धारिका शक्तिका प्रभाव दो रूपोंमें दिखाई देता है, एक, एक पदार्थको दूसरे पदार्थसे पृथक् रखकर उसको ठीक अपनी अवस्थामें रखना और दूसरा, क्रमशः उन्नति कराकर पदार्थको पूर्णताकी ओर ले जाना।

क्रमाभिव्यक्ति (क्रमशः प्रकट होना) के नियमसे जीवभावका विकाश उद्भिज्जसे आरम्भ होता है और क्रमशः स्वेदज, अण्डज एव जरायुज पशु आदि योनियोंको पारकर मनुष्ययोनिमें पूर्ण हो जाता है । प्रत्येक जीवमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय, ये ही पांच कोष या पांच विभाग हैं । इन पञ्चकोषोंके विकाशके तारतम्यसे ही वृक्ष और मनुष्यमें इतना भेद है । उद्भिज्जमें केवल अन्नमय कोषके विकाशसे ही ऐसी शक्ति देखनेमें आती है कि केवल शाखा (डांढ) रोपनेसे वृक्ष बन जाता है । स्वेदजमें अन्नमय और प्राणमय कोषोंका विकाश है । प्राणमय कोषका विकाश होनेसे ही स्वेदज कीट आदिमें अनेक प्राणक्रियाएं देखनेमें आती है । जैसा कि रोगके कीटसे शरीरमें रोग उत्पन्न होकर देशभरमें महामारीका फैल जाना और रुधिरमें शुक्लकीटकी प्रबलतासे रोगका विनाश होना इत्यादि । अण्डजमें अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोषोंका विकाश है, मनोमय कोषके विकाश होनेसे ही साधारण पक्षियोंमें अपने बच्चोंके साथ स्नेह करना अथवा कबूतर एव चक्रवाक (चकवा) आदि विशेष पक्षियोंमें दाम्पत्यप्रेम आदि देखनेमें आते है जो मनोवृत्तिके स्पष्ट लक्षण हैं । जरायुज पशु आदिमें विज्ञानमय कोषका विकाश होनेसे ही घोड़ा, हाथी और कुत्ते आदिमें स्वामीकी भक्ति आदि बुद्धिकी अनेक वृत्तियोंका परिचय मिलता है । मनुष्यमें पांचों कोषोंका विकाश है । आनन्दमय कोषका विकाश होनेसे ही मनुष्य हंस कर अपने मनका आनन्द प्रकट कर सकता है । और और जीवोंमें आनन्दमयकोषके रहने पर भी उनमें उसका विकाश नहीं है इसलिये वे हंस नहीं सकते । जीव कोष-विकाशके अनुसार उद्भिज्जसे स्वेदज, स्वेदजसे अण्डज, अण्डजसे जरायुज पशु आदि, और पशु आदिसे मनुष्य योनिमें आता है । यहां भी क्रमशः असभ्यसे अनार्य्य, अनार्य्यसे आर्य्य शूद्र, शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय, क्षत्रियसे ब्राह्मण, ब्राह्मणमें भी मूर्ख जातिमात्रोपजीवी ब्राह्मण,

उससे कर्मी ब्राह्मण, उससे विद्वान् ब्राह्मण, विद्वान्से तत्त्वज्ञ, तत्त्वज्ञसे आत्मज्ञ ब्राह्मण होकर पञ्चकोषोंके विकाशकी पूर्णताको लाभ करता है, उसके वाद आत्मज्ञानको प्राप्त करके जीव मुक्त हो जाता है। जीवकी यह क्रमोर्द्ध्वगति या जीवभावका क्रमविकाश धर्म्मका ही कार्य्य है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जिस शक्तिने जीवको जड़से पृथक् कर रक्खा है और जो प्रत्येक विभिन्न-जीवकी स्वतन्त्र सत्ताकी रक्षा कर रही है एवं जो शक्ति वृक्ष आदि स्थावरसे लेकर जीवको क्रमशः उन्नत करती हुई अन्तमें मोक्षप्राप्त करा देती है, उसी एकमात्र व्यापक शक्तिका नाम धर्म्म है। इसलिये वैशेषिक दर्शनके कर्त्ता महर्षि कणादने कहा है कि—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

जिससे ऐहिक तथा पारलौकिक अभ्युदय और मोक्ष प्राप्त हो, वही धर्म्म है।

अज्ञान और बुद्धिका विकाश न होनेके कारण उद्भिज्ज आदि मनुष्यसे नीचेके सब जीव प्राकृतिक नियमके आधीन रहकर क्रमशः उन्नत होते हैं। किन्तु मनुष्ययोनिमे आकर जीव स्वाधीन हो जाता है और प्रकृति पर आधिपत्य जमाकर उसके नियमोंको तोड़ने लगता है। पशु आदि जीव, आहार निद्रा भय और मैथुन विषयमें प्राकृतिक नियमके सर्वथा आधीन होकर चलते हैं। वे कभी भी समयके नियमका उल्लङ्घन नहीं करते हैं। मनुष्य स्वतन्त्र होने-से उस नियमको तोड़ देता है और इस प्रकारकी स्वाधीनताके कारण ही प्राकृतिक नियमभङ्ग होनेसे प्रकृतिका जो क्रमोन्नतिकारी प्रवाह है, जिसने जीवको उद्भिज्जसे लेकर क्रमशः उन्नत करता हुआ मनुष्ययोनितक पहुँचा दिया था, वह प्रवाह मनुष्ययोनिमें आकर वाधाको प्राप्त होता हुआ फिर नीचेकी ओर लौटने लगता है। जिस शक्तिके द्वारा निम्नगति बन्द होकर क्रमशः प्रवाह वे रोक टोक ऊपरकी ओर बहता रहे और जिसका अवलम्बन करके जीव मनुष्ययोनिमें प्राप्य मुक्तिपदको पा सके, वही धर्म है। जीव मनुष्ययोनिमें धर्मके आश्रयसे प्रकृतिके अनुकूल चलकर प्रकृतिकी क्रमोन्नतिशील धारामें अपनेको अनायास छोड़ देता हुआ धीरे धीरे शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय, क्षत्रियसे ब्राह्मण, ब्राह्मणमें भी विद्वान्, कर्मी, तत्त्वज्ञ एवं आत्मज्ञ होकर अन्तमें

मोक्षको प्राप्त होता है। यही चेतन जगत्‌में अभ्युदय और निःश्रेयस देनेवाला प्रकृतिके अनुकूल धर्मका अनुशासन है। इसी प्रकारसे धराधारिका धर्मशक्तिके द्वारा जड़चेतनसम्बन्धी विशेष धारण क्रिया सम्पन्न होती है।

विश्वको धारण करनेवाली यह शक्ति नित्य है, इसी कारण धर्मका नाम सनातनधर्म है। यज्ञ, दान, तप, कर्म, उपासना, ज्ञान आदि इसके अनेक अङ्ग होते हैं। सनातनधर्मके अङ्गो और उपाङ्गोंके विस्तार पर जब विज्ञानवित् पुरुषगण ध्यान देते हैं तो उनको प्रमाणित होता है कि सनातनधर्मके किसी न किसी अङ्गोपाङ्गकी सहायतासे पृथिवी भरके सब उपधर्म, पन्थ और सम्प्रदायों को धर्मसाधनोकी सहायता प्राप्त हुई है। इसी मूल धर्मके आधार पर शाखा प्रशाखा या इसकी छायारूपसे ससारके सभी 'मजहब' बने हैं। जङ्गली कोल भील आदि जातियोंकी भूतप्रेत-उपासना भी इसके भीतर है, जापानियोंकी पितृ पूजा भी इसी धर्मके भीतर है, प्राचीन रोमन कैथोलिककी एञ्जेल (Angel) उपासनारूपसे देवोपासना तथा पारसियोंके जोरोस्तार (Zoroastrian) धर्मान्तर्गत समुद्र अग्नि आदि विभूतिउपासनारूपसे देवोपासना भी इसीके भीतर है। महम्मदीय और ईसामसीय भक्तिप्रधान उपासना भी इसीकी छायासे बनी हुई है। बौद्धो तथा जैनोकी बुद्धदेवपूजा, ऋषभदेवपूजा आदि तथा तीर्थङ्करपूजा अवतारोपासनारूपसे इसीके भीतर है। शाक्त, शैव, वैष्णव आदि साम्प्रदायिकजनोकी पञ्चदेवोपासना भी इसीके भीतर है। सिख आदि नानक-पन्थियोंकी गुरुपूजा भी विभूतिपूजा तथा अवतारोपासनारूपसे इसीके भीतर है और राजयोगपरायण वैराग्यवान् साधककी निर्गुण निराकार अन्तिम ब्रह्मपूजा भी इसीके भीतर है। अतः जब सभी 'मजहब' इसीके भीतर आये तो सनातनधर्म-को छोड़कर अन्य मजहबोंमें फंसना और फसकर सनातनधर्मकी ही निन्दा करना अज्ञानमात्र है इसमें कुछ भी सन्देह नही है। मनुष्य इसी मूलधर्मकी शरणमें रहकर अपने अपने अधिकारके अनुसार सभी प्रकार उन्नति इसीके द्वारा कर सकता है। पूर्ण भवरोगवैद्य महर्षियोंने इस धर्मके भीतर किसी भी रोगका इलाज बाकी नहीं छोड़ा है। केवल उनपर विश्वास रखनेसे सभी अधिकारी कल्याण प्राप्त कर सकते हैं।

अब धर्मकी आवश्यकताके विषयमें कुछ बताया जाता है। बृहदारण्यको पनिषद् चतुर्थ ब्राह्मणमें इस विषयमें एक सुन्दर मन्त्र मिलता है, यथा—

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत् । तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति ... . स नैव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति । स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च । स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्म तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथ अबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः ।"

प्रथम सृष्टिके समय सब ब्राह्मण थे, अन्य वर्ण नही थे । उससे काम नही चला । इसलिये परमात्माने पालनादि कार्यके लिये क्षत्रिय-वर्णकी उत्पत्ति की, जो पृथिवीमें क्षत्रिय नामसे कहे गये और दैवजगत्मे इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और ईशान इत्यादि नामसे अभिहित हुए । फिर भी केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय-वर्णसे भी काम पूरा न चला, क्योंकि, रक्षार्थ अर्थोपार्जनकी आवश्यकता हुई । इसलिये परमात्माने वैश्य-वर्णकी उत्पत्ति की, जो मनुष्यलोकमें वैश्य कहलाते है और दैवजगत्मे 'गण' नाम प्राप्त करते है। देवताओंमे वैश्य यथाः—अष्टवसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, त्रयोदश विश्वेदेवा और उनचास मरुत्गण। तदनन्तर उससे भी सब काम नही चला । तब सेवाके लिये परमात्माने शूद्र-वर्णकी उत्पत्ति की, दैवलोकमे पोषणकारिणी पृथिवी इस वर्णके अन्तर्गत है और मनुष्यलोकमें शूद्रजाति है। इस प्रकारसे चार वर्णोंकी सृष्टि करने पर भी व्यवस्था नही चली । यथेष्ट वृत्ति सबमें बनी रही, कोई किसीका सञ्चालक नही रहा । क्षत्रिय प्रबल होकर दुर्बल अन्य जातिको पीड़ित करने लगे । अन्य जातियोंमें भी यथेच्छाचार फैलने लगा । तब परमात्माने चार वर्णके ही सञ्चालक-रूपसे धर्मरूपी महाशक्तिकी उत्पत्ति की, जिसकी अधीनतामें रहकर चारों वर्ण ठीक ठीक अपना अपना कर्म करने लगे और संसारकी सब व्यवस्था ठीक ठीक हो गई । इस प्रकारसे श्रुतिने विश्वके चालकरूपसे धर्मकी ही महिमा वर्णन की है।

आर्यशास्त्रमें मनुष्यजीवनके समस्त पुरुषार्थके चार लक्ष्य बताये गये हैं, यथा—काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष । वास्तवमें मनुष्य संसारमें उत्पन्न

होकर जो कुछ करता है सभीका लक्ष्य इन चारोंमेसे कोई न कोई होता है। इसी कारण आर्य्यशास्त्रमे साधनाके सभी अधिकारानुसार ये ही चार लक्ष्य बताये गये हैं। कोई साधक धर्मलक्ष्य करके भगवान्‌की उपासना करता है, कोई अर्थ प्राप्तिके लिये उनकी पूजा करता है, कोई कामना सिद्धिके लिये भगवद्‌-भक्त बनता है और कोई मोक्ष प्राप्तिके अर्थ परमात्माकी आराधनामें रत रहता है। भगवान् अपने चारों हाथोंसे अधिकारानुसार अपने आर्त्त, अर्थार्थी आदि सभी प्रकारके भक्तोंको चतुर्वर्ग प्रदान करते हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-रूपी चतुर्वर्ग प्रदानके लिये ही उनके चार हाथ हैं। उनका चक्रयुक्त हस्त धर्मका देनेवाला है, शङ्खयुक्त हस्त मोक्ष प्रदाता है, गदायुक्त हस्त अर्थको देता है और सकमल हस्त कामद है। इसी प्रकार शिवरूपमे भी 'परशुमृगवराभीति' हस्तोंसे भगवान् चतुर्वर्ग ही देते हैं। परशुधारी हस्त अर्थप्रद है, मृगयुक्त हस्त काम प्रदाता है, वर मुद्रायुक हस्त वरणीय धर्मका देनेवाला है और अभयमुद्रायुक्त हस्तसे भवभयनाशकारी मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतः सिद्ध हुआ कि जगत्मे चतुर्वर्ग ही सकल जीवोंके सकल पुरुषार्थका लक्ष्य होता है। कर्म तथा अधिकारके तारतम्यानुसार लक्ष्यमे भी तारतम्य होता है। इसी कारण कोई व्यक्ति या जाति अर्थ या कामको लक्ष्य करके पुरुषार्थ करती है और कोई व्यक्ति या जाति धर्म मोक्षको लक्ष्य करके पुरुषार्थ करती है। उपनिषद्‌में लिखा है "यदा वै करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति नासुखं लब्ध्वा करोति, सुखमेव लब्ध्वा करोति" अर्थात् सुखहीको लक्ष्य करके जीवकी सकल चेष्टा होती है। दुःखके लिये किसीकी भी कोई चेष्टा नहीं होती है। अतः धर्मार्थकाममोक्षमेसे किसी वर्गमें भी प्रवृत्ति सुखके लिये ही होती है। अर्थकामलक्ष्यपरायण जाति अर्थ काममे ही परमसुख मानकर उसीके लिये पुरुषार्थ करती है। धर्ममोक्षलक्ष्य-परायण जाति धर्म मोक्षमें ही आत्यन्तिक सुख जानकर उसीके लिये पुरुषार्थमे प्रवृत्त हो जाती है। लक्ष्य सुखलाभ करना सभीका है केवल अधिकार तथा विचार तारतम्यानुसार ही पुरुषार्थ प्रवृत्तिमे तारतम्य दृष्टिगोचर होता है।

पूज्यपाद दूरदर्शी प्राचीन आर्य्यमहर्षियोंने अनेक विचार करके अर्थ कामकी अपेक्षा धर्ममोक्षको ही श्रेष्ठतर लक्ष्यरूपसे निर्णय किया है और इसी लिये आर्य्यजातिके आत्यन्तिक सुख साधन तथा जातीय लक्ष्यरूपसे धर्ममोक्षको ही बताया है। उन्होने अर्थकामके प्रति आर्य्यजातिको उपेक्षा करनेका उपदेश

नही दिया है। वेद्के सहिता तथा ब्राह्मणभागमे अर्थकामप्रधान प्रवृत्तिमार्गका ही इसलिये वर्णन है । महर्षियोंने केवल अर्थकामके लिये ही अर्थकामकी सेवा न करके धर्मानुकूल अर्थकामकी सेवा करनेको कहा है ताकि धर्म्मरहित अर्थ-कामका जो दुःखमय परिणाम है सो जीवको प्राप्त न होकर धर्मानुकूल अर्थकाम-के द्वारा अन्तमें आनन्दमय मोक्षपद्मे जीवकी प्रतिष्ठा हो। यही उनके इस प्रकार उपदेश करनेका तात्पर्य है और यह तात्पर्य कितना गंभीर, दूरदर्शिता तथा सत्यदर्शितासे पूर्ण है सो अर्थकामलक्ष्यके विषयमें धीर होकर थोड़ा विचार करनेसे ही पता लग जायगा। अर्थकाम जीवके चित्तमे विषयवासनाको उत्पन्न करता है। जीव अर्थकामका दास होकर इन्द्रियसुखके लिये उन्मत्त हो जाता है। विषयवासनाका स्वरूप यह है कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

(मनुसंहिता २ अ०)

विषयभोगके द्वारा विषयवासना निवृत्त नही होती है, किंतु घृतपुष्ट अग्निकी तरह उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती रहती है। इसलिये जिस जातिमे अर्थकाम ही लक्ष्य है, धर्मानुकूल अर्थकाम लक्ष्य नही है वह जाति वासनाका दास बनकर उसीकी तृप्तिके लिये ससारमे किसी प्रकारके अधर्माचरणमे भी संकोच नही करती है। काञ्चनमे आसक्त जीव मिथ्या, प्रतारणा, चोरी, कपट व्यवहार, दूसरेको ठगना, नरहत्या आदि सभी पापकर्मके द्वारा अर्थसंग्रहमें रात दिन व्यग्र रहता है। काममे आसक्त जीव उससे भी अधिक पशुभावको प्राप्त हो जाता है, क्योंकि एक तो कामसेवाके द्वारा कामाग्नि बढ़ती ही रहती है, दूसरा कामसुख मनका अभिमानमात्र होनेसे नवीन भोग्यवस्तुमे कामुक स्त्रीपुरुषको अधिक सुखकी प्रतीति हुआ करती है। इसलिये जिस जातिमे धर्महीन काम ही लक्ष्य है वहांके स्त्रीपुरुषोमे व्यभिचारका विस्तार होना स्वतः सिद्ध है। इसीसे विचारवान् पुरुष समझ सकते है कि धर्म्महीन अर्थकामपरायण जातिकी अन्तिम दशा क्या होगी। अर्थलोलुप बनकर सम्पत्ति संग्रहके लिये दूसरोंकी सम्पत्ति तथा दूसरोंका धन उन्हे ठगकर या उनसे लड़कर लेनेकी स्वभावतः ही इच्छा होगी। कामका दास बनकर परस्त्रीके छीननेकी या दूसरेको वञ्चना करके लेनेकी स्वतः ही इच्छा होगी। फल यह होगा कि

अर्थकामपरायण जातिके भीतर अन्तर्विवाद, परस्परमें कलह, प्रतारणा और संग्राम सदा ही बना रहेगा और यह दोष जब समस्त जातिके भीतर फैल जायगा तो ऐसी जाति दूसरी जातिका सम्पत्ति हरण अथवा बलात्कारसे युद्धादि द्वारा सम्पत्ति आत्मसात् करनेकी चेष्टा करेगी। इसीसे जातीय संग्राम या जातीय महासमर भीषणरूपसे प्रवृत्त होकर जातीय शान्ति, जातीय प्रेम सभीको ग्रास कर लेगा। यूरोपका महासमर इसी धर्महीन अर्थकाम-परताका ही विषमय परिणामस्वरूप था और जबतक समस्त संसारमे धर्म-मूलक अर्थकाम संग्रहकी प्रवृत्ति नहीं होगी तबतक बीच बीचमे इस प्रकारका संग्राम सर्वथा अपरिहार्य है। कुरुक्षेत्रका महासमर जिसके तीव्र अनलमें चिरकालके लिये भारतीय वीरता भस्मीभूत हो गई है, वह भी कौरवोंकी धर्महीन अर्थकामपरायणताका ही चरम परिणाम था। अर्थकाम तथा राजसिक शक्तिके मदमे उन्मत्त होकर दुर्योधनने जब धर्मकी कुछ भी परवाह नहीं की और कपटता, प्रवञ्चना तथा घोर अधर्मका आश्रय लेकर धार्मिक पाण्डवोंको अनन्त दुःख दिया तभी कुरुक्षेत्रका महासमर प्रारम्भ हुआ था। इसी प्रकारसे जगत्प्रसिद्ध प्राचीन रोमन जातिका भी विनाश धर्महीन अर्थ-काम सेवाके द्वारा हुआ था। यूरोपके नाना देशोंपर अधिकार विस्तार करके सम्पत्ति तथा प्रभुताके मदमे अत्यन्त उन्मत्त होकर रोमनजातिमें विषय लालसा बहुत बढ़ गई थी। अति घृणितरूपसे कामसेवा, व्यभिचार, पशु तकके साथ अप्राकृतिक इन्द्रिय संसर्ग ये सब उनके सामाजिक आचारमें परि-गणित तथा निर्दोष आनन्दके उपादान माने जाने लग गये थे। प्रकाश्य थियेटर आदिमें स्त्रीपुरुष मिलकर इन सब बीभत्स नारकीय दृश्योंको करने और देखने लग गये थे। तभी पापके गुरुभारसे वसुन्धरा कांप उठी थी और भीषण भूकम्पके द्वारा इटाली देशका अधिक अंश विध्वस्त हो गया था। और पश्चात् इसी अर्थकाममूलक महापापके फलसे रोमन जाति स्वाधीनता-च्युत, विदेशीय जातिके द्वारा विदलित और नष्ट भ्रष्ट हो गई थी। यही सब धर्महीन अर्थकामपरायणताका अवश्यम्भावी कुपरिणाम है। इसी कारण दूरदर्शी प्राचीन महर्षियोंने आर्य्यजातिके लिये अर्थकामको लक्ष्य न बताकर आत्माको लक्ष्य बताया है और धर्मानुकूल अर्थकाम सेवा द्वारा अन्तमें मोक्षपदवीपर प्रतिष्ठा हो उसी आत्माराम अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये उपदेश किया है।

पहले ही कहा गया है कि "सुखार्थाः खलु भूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः" अर्थात् जीवकी यावतीय चेष्टा सुखलाभके लिये ही होती है। इस कारण अदूरदर्शी जीव अर्थकामकी भी सेवा सुखलालसासे ही करता है। किन्तु ऊपर लिखित वर्णनोंसे स्पष्ट होगा कि अर्थकाम जीवको वास्तवमें सुख न देकर अन्तमें घोर दुःखानलमें ही दग्ध करता है। शास्त्रमें त्रिगुणभेदसे जो तीन प्रकारके सुख बताये गये हैं उनमें अर्थकामजन्य सुख राजसिक तामसिक है। राजसिक सुखका लक्षण यह है कि—

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

विषयके साथ इन्द्रियोंके संयोगसे राजसिक सुख उत्पन्न होता है, वह प्रथमतः अमृतकी तरह होनेपर भी परिणाममे विषवत् दुःखदायी तथा प्राण-घातक है। पूज्यपाद महर्षियोंने शास्त्रोमे भलीभांति इस बातको सिद्ध कर दिखाया है कि मोक्षकी तो बात ही नही है, धर्मको अपने सम्मुख न रखकर केवल अर्थ और कामके लिये जो अर्थकामका सग्रह जीव करता है, उससे उपस्थित राजसिक और तामसिक सुख कुछ होनेपर भी अन्तमे वह व्यक्ति अवश्य ही घोर नरकका अधिकारी होता है इसमें कुछ भी सदेह नही है। विषयसुखमे दुःख क्या है इस विषयमें भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें कहा है—

"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।" विषयसुखके साथ परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख आदि अनेक प्रकारके दुःख होने से विवेकी पुरुषके निकट विषयसुख दुःखरूप है। चित्तकी शांति ही सुखका कारण है, किन्तु विषयसेवा द्वारा विषयस्पृहा पुनः पुनः बलवती होकर चित्तको कदापि शान्त होने नही देती है इसलिये भोगकालमें भी भोगी-का चित्त भोगमुग्ध तथा चंचल होकर दुःखी ही रहता है। मन चचल रहता है किन्तु इन्द्रियाँ शक्तिहीन होकर काम नहीं देती हैं, भोगान्तमें प्रतिक्रिया द्वारा समस्त शरीर तथा मन अवसन्न, क्लांत, मृतवत् होकर अगाध दुःख तथा अनुतापके समुद्रमे डूब जाता है, वासनाकी शान्ति नही, किन्तु उसकी तृप्तिके पहले ही शरीर भोगपरिणाममें अवश्यम्भावी अति कठिन रोगोंके द्वारा ग्रस्त

हो जाता है, जिससे अकाल मृत्यु, अति कष्टप्रद मृत्यु आदि सभी दुःख जीवको प्राप्त होते हैं—येही सब विषयसुखके साथ अवश्य भोक्तव्य परिणामदुःख है। भोगदशामें समभोगी या अधिकभोगीको देखकर ईर्षादिद्वारा महान् तापदुःख भोगीको प्राप्त होता है। और अन्तमें भोगमें असक्त वृद्धावस्थामें भोग्यवस्तुओंका स्मरण करके संस्कारदुःख होता है। इस प्रकारसे विषयसुखके साथ परिणाम दुःख, तापदुःख तथा संस्कारदुःखका नित्य सम्बन्ध होनेसे विचारवान् पुरुषगण विषयसुखको दुःखरूप ही समझते हैं। जब राजसिक विषयसुखके साथ ही इतना है तो उसके तामसिक हो जाने पर प्रमाद, मोह आदि द्वारा विषयसुख कितना दुःखप्रद होगा इसका वर्णन नहीं हो सकता है। द्वितीयतः केवल इहजन्ममें ही विषयसुखसहचर दुःखकी समाप्ति नहीं होती है। उसका संस्कार कर्माशयमें एकत्रित होकर मृत्युके समय, मृत्युके अनन्तर प्रेतादियोनि, तथा नरकादिमे पुनः पुनः जन्म मरणमें जीवके लिये अशेष दुःखका कारण बनता है। आजीवन सेवित विषयको जीव मृत्युके समय छोड नहीं सकता है, किन्तु भोगसे तृप्ति होनेसे पहिले ही काल जीवनतरुका छेदन कर देता है, अतृप्त विषयी अत्यन्त दुःखके साथ संसारको छोडकर परलोकमें जाता है, विषयके उन्मादमें अनुष्ठित अधर्माचरणोंको स्मरण करके अनुतापके अनलमें दग्ध होने लगता है, वासनाके केन्द्र स्त्री पुत्रपरिवारोंको सामने विलाप करते हुए देखकर उसका प्राण फटता है और इस प्रकारसे विषयमुग्ध होकर मरनेसे निश्चय ही जीवको मरणानन्तर प्रेतयोनि प्राप्त होती है। प्रेतयोनिमें वासना-विदग्ध जीवको दारुणदुःख भोगना पड़ता है, उसको क्षणभरके लिये भी उस योनिमें शान्ति नहीं मिलती है, वासना हृदयमे बलवती रहनेपर भी उसके भोगनेमे असमर्थताके कारण प्रेतके हृदयमे अशान्तिकी अग्नि सदा ही जलती रहती है, इत्यादि इत्यादि अनेक दुःख भोगके बाद अर्थकामपरायण जीवको पूर्व असत्कर्मानुसार नरकलोकमे भी अनेक प्रकारके कष्ट भोगने पडते हैं। रौरव, कुम्भीपाक, असिपत्रवन आदि नरकोंका दुःख शास्त्रमें प्रसिद्ध ही है। उनमे भीषण कष्ट पानेके बाद पुनः मातृगर्भमें प्रविष्ट होकर दस महीने तक जीवको अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। तदनन्तर गर्भसे निकलनेके समय अनेक कष्ट पाकर पूर्व मन्दकर्मानुसार हीन योनियोमें जीवका जन्म होता है। अन्यायरूपसे अर्थोपार्जनकारी दरिद्रके घरमें उत्पन्न होकर आजीवन दुःख

पाते है। कामपरायण पापी कामसम्बन्धीय अनेक कष्टोंको झेलते हैं। इसी प्रकारसे अर्थकामवासना द्वारा नवीन नवीन संस्कार उत्पन्न होकर जीवको जन्म-मरण चक्रमें घुमाया करते है और सहस्र प्रकारसे जीवहृदयमें अनन्त दुःखके दारुण दाहको चढ़ाया करते हैं। क्षणभङ्गुर अर्थकाममूलक विषयसुखके साथ इतना परिणामादि दुःख सम्बन्ध होनेसे ही दूरदर्शी महर्षियोंने आर्य्य-जातिके लिये अर्थकामको जीवनका लक्ष्य न बताकर आत्माको ही जीवनका लक्ष्य बताया है और धर्मके अवलम्बनसे मोक्षमार्गमे अग्रसर होकर उसी नित्यानन्दमय आत्माकी उपलब्धिको ही आत्यन्तिक लक्ष्य करके वर्णन किया है। यही मनुष्य-जीवनमें अभ्युदयनिःश्रेयसप्रद धर्मकी आवश्यकता है, जिसका अनुभव कर लेनेपर जीव अशेषकल्याणका अधिकारी हो सकता है।

देशसेवा और सनातनधर्म।

आधुनिक विज्ञानके साथ सनातनधर्मका सम्बन्ध बताकर अब देशसेवाके साथ सनातनधर्मका सम्बन्ध बताया जाता है। नवशिक्षित लोगोंमेसे कोई कोई ऐसा सन्देह करते हैं कि सनातनधर्मके साथ देशसेवाका सम्बन्ध नही है। परन्तु जो लोग आर्यशास्त्रके रहस्यसे परिचित हैं वे भलीभाँति जानते है कि आर्यजातिमे देशसेवा संस्कार बहुत ही महत्त्व तथा वैज्ञानिक रहस्यसे पूर्ण है। आर्यजातिने अपने शास्त्रमे देशको तीन भागोंमें विभक्त किया है। यथा शरीर देश, जन्मभूमि देश और समस्त विश्व देश।

प्रथम दशामे साधक अपने शरीरको ही देश मानता है और शरीरकी सहायतासे आत्मोन्नतिमें तत्पर होकर योग्यता लाभ करता है। इस दशामे वह शरीरकी स्वास्थ्यरक्षा आदि शरीरके भोगविलासके लिये नही करता है, किन्तु जन्मभूमिरूपी देशकी सेवाके लिये ही शरीररूपी देशकी रक्षा करता है। दूसरी अवस्थामें मनुष्य अपनी जन्मभूमिको देश समझकर उसकी सेवासे निःस्वार्थ पुरुषार्थकी शिक्षा द्वारा पुण्य सञ्चय करता है। इसी पुण्यका अन्तिम फल आधिभौतिक मुक्ति अर्थात् देशकी स्वतन्त्रता है। इसी पुण्यकार्यमें रुचि बढ़ानेके लिये ही शास्त्रमें लिखा है 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'। अर्थात्

माता और मातृभूमि स्वर्गसे भी बढ़ कर है अतः सदा सेवा करने योग्य है। तीसरी अवस्थामें सर्वोत्तम परमहंसके लिये समस्त विश्व ही स्वदेश है। इसीके विषयमें श्रीभगवान् शंकराचार्यने कहा है—

"बान्धवाः शिवभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्"

भगवान् वेदव्यासने भी कहा है—

"उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्"

अर्थात्—समस्त भगवद्भक्त अपने मित्र और समस्त विश्व अपना देश है। किन्तु आर्य्यजाति अन्य जातियोंकी तरह मोह, राग या परकीय द्वेषमूलक अभिमानके द्वारा ग्रस्त होकर स्वदेशकी सेवा नहीं करती है। क्योंकि आर्य-जातिको ज्ञात है कि ये सभी वृत्तियां क्लिष्ट तथा बन्धनकारिणी हैं। राग, मोहादि द्वारा देशसेवा करनेसे उस सेवाका यह परिणाम निकलता है कि यदि कार्यमें सफलता हुई तो अहंकार और कर्त्तृत्वाभिमान बढ़ जायगा। यथा गीतामें—

"अहंकारविमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते।

समष्टिजीवके कर्मानुसार ही फलाफल होता है, किन्तु आसक्तियुक्त कर्त्ता यही समझता है कि मानो उसने ही देशका उद्धार कर दिया। इस प्रकार अहंकारजन्य कर्त्तृत्वाभिमान जीवका बन्धनकारक तथा अधोगतिप्रद होता है। पक्षान्तरमें यदि प्रारब्धवशात् कार्य्यमें विफलता हुई तो मोह, या अनुरागमें धक्का लगनेसे सकाम देशसेवक नैराश्यके समुद्रमें डूब जायगा और कदाचित् नैराश्यके तीव्र आघातसे भग्नहृदय होकर सेवाव्रतको त्याग भी दे सकता है। इसके सिवाय तृतीय पथ, जिसमें कि परकीय द्वेषपर स्वकीय प्रेमकी प्रतिष्ठा है अर्थात् अपने देशकी उन्नतिके लिये दूसरे देशपर अत्याचार करना है, वह तो परम द्वेषमूलक होनेसे महातमोगुणमय, संग्राममय, अशान्तिकर, आध्यात्मिक-अवनतिकर तथा सर्वथा परित्याज्य है क्योंकि स्थितिका लक्षण प्रेममूलक सत्त्वगुणमें है द्वेषमूलक तमोगुणमें नहीं है। तमोगुण नाशकर्त्ता है, इस लिये जो जाति अन्य जाति पर अत्याचार तथा द्वेषके बर्त्ताव द्वारा अपनी श्रीवृद्धि चाहती है, वह कदापि चिरकालस्थायिनी, शान्तिमयी श्रीको नहीं प्राप्त कर सकती है। उसके स्वार्थपरतामय, अनुदार नीच आचरणोंसे अन्तर्जातीय

संग्राम तथा विप्लव होता है, कदापि यथार्थ उन्नति नहीं होती है। इस कारण पूज्यपाद दूरदर्शी महर्षियोंने आर्यजीवनमे मोह-राग-अभिमानहीन गीतोक्त कर्मयोगके सिद्धान्तानुसार स्वदेशसेवाका उपदेश किया है। उनका उपदेश यह है—

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि॥
> योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा धनञ्जय!
> सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

कर्ममेही अधिकार है, फलमे अधिकार नही है। फलाकांक्षासे कभी कर्म नही करना चाहिये और फल नही मिलेगा इस विचारसे कर्मका त्याग भी नही करना चाहिये। आसक्तिशून्य तथा सिद्धि असिद्धिमे समभावापन्न होकर कर्म करना चाहिये, इस प्रकार समभाव ही योग कहलाता है। आर्यजातिके आदर्श लक्षणोंमें परधर्मी विद्वेष या परजाति विद्वेष है ही नहीं। इन दोनोंको आर्यजाति निन्दनीय तथा जातीय कलङ्करूप समझती है। जिस जातिके धर्ममें यह उदार सिद्धान्त है कि:—

'धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्'

अर्थात् जो धर्म अन्य धर्मको बाधा देवे वह कुधर्म है उस जातिमे परधर्मी विद्वेष हो नही सकता। और जिस जातिके उदार लक्ष्यमे 'उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्' ऐसी आज्ञा है, उस जातिके आदर्शचरित्रमे परजातिविद्वेषका कलङ्क रह ही नही सकता। आर्यशास्त्रमे कही कही जो अनार्यदेशमे जाने अथवा वहाँ वास करने आदिके विरुद्ध वचन पाये जाते हैं अथवा समुद्रयात्रा या विदेशयात्रा आदिकी निन्दा पायी जाती है, उसका कारण परधर्मीविद्वेष या परजातिविद्वेष नही है। किन्तु उसका कारण आर्यजातिमें आध्यात्मिक भावकी पुष्टिका संरक्षण ही है। आर्यजातिकी जो मनुष्यश्रेणी केवल आध्यात्मिक लक्ष्यको ही मुख्य समझती है, अथवा जो ब्राह्मणमण्डली केवल मोक्षधर्मकी ही पक्षपातिनी हो उन्हींको लक्ष्य करके ये सब आज्ञाएँ आर्यशास्त्रमे दी गई है। आर्यजीवन अध्यात्मलक्ष्यमय है, इस लिये आर्यजातिकी स्वदेशसेवामें भी अध्यात्म लक्ष्य

ही प्रधान रहता है । आर्यजाति भगवत्पूजारूपसे स्वदेश तथा स्वजातिकी सेवा करती है। उसके सिद्धान्तानुसार समस्त ससार श्रीभगवान्का विराट् रूप तथा स्वदेश उस विराट् पुरुषका हृदय है । इस लिये आर्यजातिकी स्वदेशसेवा विराट् भगवान्की पूजा है । मोक्षप्रिय आर्यजाति निष्कामभावसे ही इस विराट पुरुषकी पूजा करती है और सफलता या विफलताको पूजाफल रूपसे श्रीभगवान्में ही समर्पण करती है। इसलिये स्वदेशसेवामे उसको मोह, आसक्ति, अभिमान, अहंकार आदि क्लिष्ट वृत्तियोके द्वारा आक्रान्त होनेका कोई भी अवसर नही रहता है। वह स्वदेशसेवा द्वारा विराट भगवान्की ओर ही अग्रसर होती है। स्वदेशसेवामें उसकी मृत्यु, मृत्यु नही कहलाती है, किन्तु अमृतत्व प्राप्तिकी सोपानस्वरूप बन जाती है । स्वदेशसेवामे प्राण समर्पण करके आर्यजाति प्राणहीन नही होती है, किन्तु विश्वप्राण भगवान्मे ही जा मिलती है । अतः इस प्रकार अलभ्य लाभके लिये प्राणदान देनेमे आर्य्य जातिको कुछ भी सङ्कोच नहीं रहना है। अन्यजातिके लोग मोहादिवृत्तियोके वशीभूत होकर स्वदेशवासियोको भ्राता कहकर उनके सुखके लिये आत्म-सुखत्याग करनेमे पुरुषार्थ करते हैं। किन्तु आर्यजातिको इस प्रकार वृत्तिके वशीभूत होनेका प्रयोजन नही रहता है। उसका धर्ममय, अध्यात्मलक्ष्यमय जीवन ही आत्मैकत्वज्ञानसे जीवमात्रके प्रति, विशेषतः स्वदेशवासियोंके प्रति भ्रातृभाव उत्पादित करता है। वास्तवमे अपने देशवासियोको 'भाई' कहनेका अधिकार आर्यजातिको ही है । क्योंकि आर्य्यजाति ही आर्यशास्त्रानुभवसे जानती है कि—

"ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति"
"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"

प्रत्येक जीवमे जीवात्मारूपसे अद्वितीय परमात्माका ही अंश विद्यमान है, अतः परमात्माके अंश होनेसे सभी आत्मा भ्रातृभावसे युक्त हैं। समस्त जीवोंमें विशेषतः स्वदेशवासियोमे यह भ्रातृभाव स्वाभाविक तथा अध्यात्मकारण-जन्य है । इन्हीं सिद्धान्तोके अनुसार आर्य्यजाति स्वदेश सेवामे विराट भगवान्की पूजा और नरपूजामे नारायणकी पूजा करती है । और फलनिरपेक्ष होकर इस प्रकारसे अनुष्ठित महती पूजा आर्यजातिके लिये यथार्थतः स्वराज्य प्राप्तिकी कारणस्वरूप बन जाती है।

आर्य्यजातिके इस स्वदेशसेवाव्रतमे सनातनधर्मकी ओरसे विशेष प्रोत्साहन प्राप्त होता है। जीवभाव स्वार्थमय है, इसलिये दूसरेके लौकिक सुखके लिये प्राण देकर अपना लौकिक सुख खोनेवाला मनुष्य इस संसारमे बहुत ही कम मिलता है। किन्तु यदि जीवको इस प्रकारका विश्वास हो जाय कि इस दुःखमिश्रित सुखमय मनुष्यलोकसे ऊपर ऐसे अनेक लोक हैं, जहां दुःखलेशहीन अनुपम सुख मिलते हैं और जहां पर इस लोकमे स्वधर्म तथा स्वदेशके लिये प्राणदानके फलसे मनुष्य जा सकते हैं, तो परलोकपर विश्वासशील आस्तिक मनुष्यको परार्थके लिये प्राणसमर्पण, परम वाञ्छनीय तथा प्रीतिकर वस्तु हो जाती है। क्योंकि इस प्रकारसे प्राणदान तथा ऐहलौकिक सामान्य सुखत्याग अधिक सुखलाभका ही कारण हो गया। बृहदारण्यकोपनिषत् में लिखा है कि उन्नत देवादि लोकोंमे मनुष्यलोकसे शतशत गुण अधिक आनन्द है। स्वर्गलोकके विषयमे शास्त्रमे प्रमाण है—

"यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं स्वःपदास्पदम्॥"

"स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति
न तत्र त्वं न जरया विभेति।
उभे तीर्त्वा अशनायापिपासे
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥"

"अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।"

स्वर्गसुखके साथ दुःख मिला हुआ नहीं है या उसके बाद भी दुःख नही होता है, वहां इच्छानुसार सभी भोग्य वस्तु प्राप्त होती है। स्वर्गलोक भयशून्य है वहां मृत्युका अधिकार नहीं है और जराका भी भय नही है, क्षुत् पिपासा तथा दुःखशोकसे मुक्त होकर वहां लोग आनन्दके साथ दिव्य भोगोको भोगते हैं। इस प्रकार स्वर्ग तथा अन्यान्य ऊर्द्धलोकोमे गति कैसे होती है, इस विषयमे गीतामे लिखा है—

"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्"
"यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ! लभन्ते युद्धमीदृशम्॥" (गीता)

धर्म तथा देशसेवाके लिये मृत्यु और युद्ध स्वर्गका खुला हुआ द्वार स्वरूप है। अतः इस प्रकार अनुपम सुखप्रद देशसेवाके लिये किसकी रुचि नही होगी? यही आर्य्यजीवनको स्वदेशसेवामय बनानेके लिये धर्मकी ओरसे पवित्र प्रोत्साहन है। केवल इतना ही नहीं, अधिकन्तु स्वदेशसेवादि उत्तम कर्मोके फलसे बहु वर्ष तक उन्नत लोकोंमे सुख भोगानन्तर पुनः जब मनुष्यलोकमे जीवका जन्म होता है, तो अति उत्तम सुखमय उन्नत कुलमें वे सब जन्मते हैं। जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद्में लिखा है—

"ये रमणीयचरणा अभ्याशो ते रमणीयां योनिमापद्येरन्"

रमणीय आचरणकारिगण उन्नत रमणीय योनियोंको प्राप्त होते हैं। अतः धर्मसे परलोक पर विश्वास और उससे देशसेवादि उत्तम कार्योंमें प्रवृत्ति स्वभावतः होती है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

ऊपर वर्णित कारणोंसे आर्यजाति देशसेवाके कार्यमें शास्त्रविरुद्ध उपायोंका अवलम्बन न कदापि कर सकती है और न करनेकी आवश्यकता ही समझती है क्योंकि उनको निखिलशास्त्रयोनि श्रीभगवान्‌के गीतावाक्य पर सम्पूर्ण विश्वास है यथा—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि॥

अर्थात् जो शास्त्रमे बताये हुए उपायोंको छोड़ कर मनमाना काम करता है, उसको कार्यमें न सिद्धि ही मिलती है, न सुख मिलता है और न उत्तम गति मिलती है। इस लिये कर्त्तव्य अकर्त्तव्यका निर्णय करते समय शास्त्रमें क्या लिखा है जान कर तदनुसार कर्त्तव्य ठीक करना चाहिये। तभी सच्ची सफलता मिलती है। और ऐसा करनेसे कभी धोखा नहीं होता है। आजकल शास्त्रज्ञान-हीन देशनेता कहानेवाले कुछ मनुष्य देशसेवा तथा देशोन्नतिकार्यमें शास्त्रोंको तथा सनातनधर्मको बाधक समझते हैं। सो उनकी सम्पूर्ण भूल है। उनको आर्यजातिके लिये सच्ची उन्नतिका क्या मार्ग है यदि इसका पूर्ण परिज्ञान होता तो वे कभी ऐसा

कहने या सोचनेकी चेष्टा नही करते । विचार करने पर पता लगेगा कि इतने झगड़ेके वाद स्वराज्यलाभके लिये स्वदेशीवस्त्र व्यवहार आदि जिन उपायों पर निर्भर किया जाता है, उन सवका प्रयोग आर्यशास्त्रमें सदाचाररूपी प्रथम धर्मके भीतर ही अनादिकालसे रक्खा गया है। केवल वस्त्रकी ही वात क्या, आर्यशास्त्रमे तो दैव या लौकिक कार्यमें अनार्य प्रस्तुत या अनार्य संस्पृष्ट वस्तुओंका सर्वथा वर्जन लिखा है । महाभारतके आदि पर्वमे पाण्डुराजाके अन्त्येष्टि प्रकरणमें— 'अथाऽतो देशजैः शुभ्रैर्वासोभिः समयोजयन्' ऐसा कहकर दैव तथा पितृकार्यमें स्वदेशी वस्त्रका ही व्यवहार होना चाहिये ऐसी आज्ञा की गई है। आह्निकतत्त्वमे इसी प्रकरणके अनुसार प्रमाण उद्धृत किया गया है यथा—

न स्यूतेन न दग्धेन पारक्येण विशेषतः।
मूषिकोत्कीर्णजीर्णेन कर्म कुर्याद् विचक्षणः ॥

अर्थात् दैवकार्यमे सिया हुआ, जला हुआ या चूहेसे कटा हुआ वस्त्र जिस प्रकार काम नहीं आता है उसी प्रकार विदेशजात वस्त्र भी काम नहीं आता है। आर्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार पहिले देवताको समर्पण करके तव वस्त्र पहिनना चाहिये अतः अपने व्यवहारमें भी विदेशी वस्त्रादिका उपयोग करना सर्वथा शास्त्र तथा सदाचार गर्हित है। मन्वादि स्मृतियोंमें 'उपपातक कौन कौन हैं' इसके वर्णनप्रसङ्गमें लिखा है कि गोवध, अयाज्ययाजन, परदारसेवा, आत्मविक्रय, अभोज्यभोजन आदि जिस प्रकार उपपातक हैं ऐसा ही 'महायन्त्र-प्रवर्त्तन' भी उपपातक है । वड़ी वड़ी मेशीनें—वस्त्रादि द्रव्य अथवा आटा आदि खाद्यद्रव्य प्रस्तुत करनेके लिये जो होती हैं, उन्हें महायन्त्र कहते हैं। इनके द्वारा श्रमसामञ्जस्य नष्ट होकर पूंजीपति का दल वढता है और मजदूर तथा मध्यवित्तका दल हीनवल हो जाता है । इससे देशमें अन्तःकलह, अशान्ति, रागद्वेष फैल जाता है। इसी कारण आर्यशास्त्रमे मेशीनसे काम लेने को उपपातक कह कर उसकी वडी निन्दा की गई है और गृहशिल्पका ही आदर तथा प्रशंसा की गई है। श्राद्धतत्त्वमे तो दशाहीन वस्त्रका दैवपितृकार्यमें व्यवहार ही निषिद्ध किया गया है यथा—

ईषद्धौतं नवं शुभ्रं सदशं यन्न धारितम्।
अनाहतमिति प्रोक्तं प्रशस्तं सर्वकर्मसु ॥

स्वच्छ, नवीन, शुभ्र वस्त्र, जिसको किसीने पहिना नही और जिसकी दोनों ओर दशा वनी हुई हो उसको अनाहत कहते है और समस्त दैव तथा पितृकार्यमे ऐसा ही वस्त्र प्रशस्त है। मैशीनमे एक साथ लम्बे लम्बे बहुत कपड़े तैयार होते हैं, इस लिये उसमे 'दशा' नही रक्खी जा सकती है, जैसा कि हाथके बुने हुए वस्त्रमें रक्खी जा सकती है अतः हाथका बुना हुआ वस्त्र ही शुभकार्यमे उत्तम है, यही शास्त्रका सिद्धान्त निश्चित हुआ। यजुर्वेदीय श्राद्धतत्वमे इसी प्रकार अन्यान्य चीजोंके विषयमे भी कहा गया है कि—

'आसुरं चक्रनिष्पन्नं दैविकं हस्तनिर्मितम्'

मिट्टीके वर्त्तन, अन्यान्य धातु या उपकरणनिर्मित वस्तु इन सबमे जो चक्र या यन्त्रके द्वारा निर्मित हो वह आसुरी वस्तु कहलाती है और हाथके द्वारा निर्मित हो तो दैवी वस्तु कही जाती है। आसुरी वस्तुओंके द्वारा दैवकार्य नही हो सकते। इस प्रमाणसे मेशीन निर्मित यावतीय द्रव्य अव्यवहार्य बताये गये हैं। इतना तक कि दियासलाई आदि जिसमें अशुद्ध मांसोत्पन्न फास्फरस लगते हैं उसका भी परित्याग यज्ञादिकार्यमें अग्नि प्रज्वालनार्थ कर दिया गया है—यथा 'क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरम्'। क्रव्यसे उत्पन्न अग्नि द्वारा कोई उत्तम कार्य नही करना चाहिये। अपना भोजनादि कार्य भी यज्ञ है, क्योंकि भगवान्‌को निवेदन किये विना अन्नग्रहण करना पाप तथा चोरका काम है यथा गीतादि शास्त्रमें लिखा है—

'अन्नं विष्ठा पयो मूत्रं यद्विष्णोरनिवेदितम्'।
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः'। (गीता)

जो अन्न या दुग्ध भगवान्‌को निवेदन नही किया जाता है वह विष्ठा मूत्र तुल्य ग्रहणके अयोग्य है। यज्ञशेष भोजन करने पर मनुष्य सब पापसे मुक्त हो जाता है, केवल अपने ही लिये पकानेवाला पाप भोजन करता है। देवताओंका दिया हुआ अन्न जो उन्हें विना भोग लगाये खाता है वह चोर है। अतः दैनन्दिन भोजन वनानेमे भी दियासलाई आदि अशुद्ध वस्तुका व्यवहार निन्दनीय है, फिर विशेष यज्ञादि कार्यमें तो इनका व्यवहार हो ही

नहीं सकता है। इसी कारण अरणि मथकर यज्ञाग्नि प्रकट की जाती है। इसके अतिरिक्त विदेशी चीनी, विदेशी नमक, विदेशी औषधि इत्यादि सभीमें कही हड्डीका, कही खूनका, कही शराबका, कही अन्य किसी अपवित्र वस्तुका अवश्य सम्बन्ध रहनेसे वे सभी त्याग करने योग्य हैं। क्रिकेट, हाकी, टेनिस, बलोवाल, केरम, विलियार्ड आदि खेलनेकी चीजे, भेसेलीन, पमेटम, लेवेण्डर, ब्रश, कोक्नोजेम, विस्कुट, बार्ली, मेलिन्सफूड, मल्टेड् मिल्क आदि कितनी ही चीजें—सबके सब अनार्य सस्पर्शदूषित होनेके कारण आर्य सदाचारके विचारसे नितान्त गर्हित है। सदाचार सनातनधर्मका प्रथम अङ्ग है। जिससे प्रथम धर्मका ही पालन नही होता है, वह आगेके धर्मका क्या पालन करेगा? इस लिये विदेशी वहिष्कार द्वारा देशसेवा सनातनधर्मजगत्का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है, यही सिद्ध हुआ। और धर्म होनेके कारण राजकीय सन्धि, सामयिक राजनीति, व्यापार वाणिज्यमें सुविधा-असुविधा आदि किसी भी कारणसे विदेशी वस्तुका कदापि ग्रहण नही हो सकता है, क्योंकि इसके साथ धर्म विचारसे आत्माका चिर-सम्बन्ध है। श्रीभगवान् मनुने अपनी संहिताके ६ अध्यायके ७५ श्लोकमें स्त्रियोंके लिये चरखा कातनेका स्पष्ट उपदेश किया है। यथा—

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता।
प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः॥

प्रवास जाते समय पति यदि भोजन वस्त्रकी व्यवस्था कर गये हो तो सती स्त्रीको नियमके साथ उसीसे दिन काटती रहनी चाहिये, नही तो सूत्र निर्माण आदि निर्दोष शिल्पके द्वारा धन कमाकर जीविका चलाती रहनी चाहिये। इस प्रकारसे स्वदेशी भावमय जीवन बनाना और हर प्रकारसे देशकी सेवा करना सनातनधर्मका उत्तम अङ्ग है यही सिद्धान्त स्पष्ट होता है।

यदि आजकल समस्त पृथिवीमें प्रचलित भिन्न भिन्न धर्ममतोंके सिद्धान्त पर ही विचार किया जाय तौभी देशसेवाके विषयमे सनातनधर्मका सिद्धान्त ही सबसे बढ़ कर पाया जायगा। क्योंकि सनातनधर्मका यह अटल सिद्धान्त है कि बिना देशसेवारूपी विराट पूजाके मनुष्यको मोक्ष मिल ही नही सकता। आर्यशास्त्रमें तो दोके सिवाय कोई तीसरे प्रकारकी मृत्यु लिखी ही नही है। मनुसंहितामें स्पष्ट लिखा है—

> द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
> परिव्राड योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥

जिस प्रकार योगबलसे ब्रह्मरन्ध्र द्वारा प्राणके निकालनेसे योगी सूर्यमण्डल भेदकर उत्तम गतिको पा सकता है, उसी प्रकार देश तथा धर्मके लिये पीठ न बताकर युद्धमे जो वीर मरता है उसको भी योगीकी उत्तमा गति प्राप्त हो जाती है।

श्रीमद्भागवतमे तो यह भी लिखा है कि देशसेवा छोड़कर केवल व्यक्तिगत पूजा करनेसे यथार्थ शान्ति नहीं मिलती है। यथा—

> अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
> तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥
> द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।
> भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥
> अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
> अर्हयेद् दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥ (४ स्कन्ध)

श्रीभगवान् जीवात्मारूपसे घट घटमे व्याप्त हैं, अतः जीवसेवा न करके केवल पूजा करना पूजाका विडम्बनमात्र है । जो मन्दिरादिकी तरह शरीररूपी मन्दिरमे भी भगवान्की स्थितिको न मानकर जीवोंसे वैरभाव रखता है उसका मन शान्तिको नहीं पा सकता है । इसलिये सकल शरीरमे आत्माको मान कर मित्रकी दृष्टि सबके प्रति रखनी चाहिये और दान मान आदि द्वारा सबकी सेवा करनी चाहिये। श्रीभगवानने गीतामें स्पष्ट बताया है कि निर्गुण ब्रह्मोपासकगण यदि जीवसेवा न करें तो निर्वाणमोक्षपदको कदापि नही पा सकते हैं। यथा—

> ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते ।
> सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
> संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
> ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ (१२ अध्याय)

मन वाणीसे परे, इन्द्रियातीत, कूटस्थ, चिन्तासे अतीत, सर्वव्यापी, अचल, अव्यक्त, निर्गुण, निराकार ब्रह्मको वे ही योगिगण पा सकते हैं, जिनने इन्द्रियोंका विशेष निग्रह किया है, स्त्री पुरुष पशु मानव आदि सर्वत्र ब्रह्मभावसे जिनकी समबुद्धि उत्पन्न हुई है और जो विश्वको ब्रह्मका रूप मानकर भूतहितमें सदा रत रहते हैं। और भी—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ (५-२५)

निष्पाप ऋषिगण द्विधाभावहीन, संयतेन्द्रिय तथा भूतहितमें रत होकर ही ब्रह्मनिर्वाणको पाते हैं, अन्यथा नहीं। इन सब प्रमाणोंसे स्पष्ट होता है कि देशसेवा कार्यमें सनातनधर्मका विचार बहुत कुछ उन्नत है। अब ऐसी आज्ञा शास्त्रोंमें क्यों की गई है इस पर विचार किया जाता है। जीवभाव संकीर्ण तथा स्वार्थपरतामय है। क्रमोन्नतिमें पशुयोनिके बाद मनुष्ययोनिके होनेसे साधारणतः मनुष्योंके भीतर भी पशुभाव बहुत कुछ भरा हुआ रहता है। इन्द्रियपरता स्वार्थपरता इत्यादि पशुभावके लक्षण हैं। बिल्ला, शेर, सिंह, लङ्गूर आदि पशु स्वार्थवश अपने बच्चेको भी मार डालते हैं। इस प्रकार क्षुद्रहृदय जीव ब्रह्मको नहीं पा सकते हैं, क्योंकि 'बृहत्त्वाद् ब्रह्म गीयते' ब्रह्मसत्ता असीम है, देश कालसे सीमाबद्ध नहीं है, बड़ेको पानेके लिये हृदयको बड़ा बनाना होता है।

इस लिये जब तक जीव अपने व्यष्टि शरीरके ऊपर ही ममताग्रस्त होकर उसीको सेवामें लालायित रहता है तब तक उसकी आत्मा न उदार बन सकती है और न जीवकी क्षुद्रता नष्ट होकर विराट ब्रह्मके साथ एकता हो सकती है। निष्काम कर्मयोगके द्वारा जीव अपनी क्षुद्रसत्ताको उदार करता हुआ तथा अनुदार मलोंको दूर करता हुआ ब्रह्मकी विराट सत्ताके साथ धीरे धीरे एकतायुक्त हो सकता है। इस लिये वेदमें कर्मयोगका उपदेश किया गया है। कर्मयोग स्वराज्यप्राप्तिका एक प्रधान उपाय है। निष्कामता, स्वार्थसङ्कोच तथा दूसरेके सुखके लिये आत्मसुख विसर्जन इसके प्रधान साधन हैं। इसका प्रथम अनुष्ठान पारिवारिक राज्यमें ही प्रारम्भ होता है। charity begins at home उदारता घरमें ही प्रारम्भ होती है ऐसा वचन भी मिलता है। मनुष्य एक परिवारमें रहकर स्त्री पुत्र आत्मीय स्वजनोंके लिये अपना स्वार्थ त्याग करना सीखता है।

उनके सुखमे सुखी होना, उनके दुःखमें दुःखी होना, उनके सुखके लिये अपना सुख त्याग करना—इस प्रकारसे अभ्यास करते करते जीवभावसुलभ स्वार्थ-परताका सङ्कोच और ईश्वरभावसुलभ परार्थपरताका विकाश होने लगता है। तदनन्तर यही परार्थभाव उदार होता हुआ ग्रामसेवा, प्रदेशसेवा, जातिसेवा इत्यादि क्रमसे समग्र देशसेवामे जब जीवके चित्तको नियोजित करता है तभी वह महान् आत्मा कर्मवीर, स्वदेशसेवी कहलाता है। प्राचीन रोमजातिमे इस प्रकार कर्मवीरकी पूजा देवताकी तरह हुआ करती थी और इसका नाम Hero-worship या वीरपूजा था। आधुनिक यूरोपियन जातिके भीतर भी कर्मवीरो-का सम्मान होता है। यही तक स्थूल स्वदेशसेवाकी कोटि है। इसके बाद धर्म-सेवाकी कोटि है जिसमे प्रथमतः समस्तससारव्यापी स्वधर्मवालोके प्रति प्रेम किन्तु परधर्मवालोके प्रति द्वेष होता है। यह कोटि मुसलमानधर्मकी है, जिसके अनुयायिगण मुसलमानोसे तो प्रेम करते हैं, किन्तु अन्य धर्मवालोको 'काफेर' कह कर उनके वध करनेमे भी पुण्य समझते हैं। इसके अनन्तर ईसाई धर्मकी कोटि है जिसमे duty to God and love to man अर्थात् मनुष्यमात्रके प्रति प्रेम और ईश्वरभक्ति बताई गई है। किन्तु वर्त्तमान क्रिश्चियनजगतमें वह आदर्श नामशेष रह गया है। वे सार्वजनिक प्रेमका उपदेश दूसरोको तो करते हैं, किन्तु स्वय इसका आचरण नही करते। वर्त्तमान क्रिश्चियनजगत्का स्वधर्म तथा स्वदेशप्रेम बहुधा परदेश तथा परजातिपीड़न पर ही निर्भर करता है। वे परकीय द्वेषके द्वारा आत्मीय प्रेमका परिचय प्रदान करते है। इसी कारण यूरोपकी स्वदेश तथा स्वधर्म सेवामे शान्ति नही फैल रही है, किन्तु द्वेषकी अग्नि क्रमशः बढ़कर जातीय घोर सग्राम फैल रहे हैं।

इसके बाद जैन तथा बौद्धधर्मकी कोटि है जिसमे मनुष्यप्रेमके अति-रिक्त मनुष्येतर पशु, पक्षी, कीटादि तकसे प्रेम तथा उनकी रक्षा करनेकी आज्ञा है। इसी कारण ईश्वरसत्ताके न मानने पर भी इन धर्मोमें अहिंसामूलक परम प्रेमकी प्रतिष्ठा है। मुसलमान तथा ईसाई लोग मनुष्येतर प्राणियोमे प्रेम नही रखते, किन्तु उन्हे अपना खाद्य समझकर खा जाया करते है। इसी कारण सेवा-विचारसे इन धर्मोकी कोटि जैन बौद्ध धर्मोसे हीन है। इसके बाद सनातन-धर्मकी कोटि है, जिसमे ईश्वरसत्ताको सकल जीवोमे मानकर सबकी रक्षा की जाती है, विश्वप्रेम और भगवद्भाव दोनोके होनेसे ही यह कोटि इतनी

उन्नत है। इस कारण उदार सनातनधर्मी कर्मयोगी मनुष्यमात्रके साथ साथ जीवमात्रके प्रति प्रेम करते हैं, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, वृक्ष, लता सभीमे भगवत्कला जाकर सभीके साथ अपने उदार हृदयका सम्बन्ध स्थापन करते है। जैसा कि भागवतमे लिखा है—

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहुमानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥-(४ स्कन्ध)

ईश्वर सकल जीवोमे व्याप्त है इसलिये सभीको आत्माका अंश समझकर सभीका सत्कार करना चाहिये, इस सिद्धान्तके अनुसार उदारचेता कर्मयोगी विश्वके समस्त जीवोंके प्रति प्रीतिपरायण हो जाते है। इसके भी अनन्तर जब कर्मयोगीका आध्यात्मिक सम्बन्ध सजीव निर्जीव समस्त भूतोंमे, मनुष्येतर पश्वादि जीव, मनुष्य, देवता, ऋषि, पितृ सभीमे तथा सबसे परे विराजमान परब्रह्ममें प्रतिष्ठित हो जाता है, तभी उनको यथार्थमे पूर्ण स्वराज्यकी प्राप्ति होती है। पूज्यपाद महर्षियोने 'स भवति स्वराट्' इत्यादि वेदवचनोंके द्वारा इसी स्वराज्यकी ओर लक्ष्य कराया है। श्रीभगवान् मनुजीने भी कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ (१२ अ०)

आत्माको सकल भूतोमे तथा सकल भूतोको आत्मामें देखकर आत्मयज्ञपरायण महात्मा स्वराज्यलाभ करते है। इस स्वराज्यका लाभ करनेसे ही सिद्धयोगी समस्त संसारको ब्रह्मरूपमें देखकर सभीसे प्रेम तथा सभीसे पवित्र आनन्द लाभ कर सकते है, उनको शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक सभी प्रकारकी स्वतन्त्रता पूर्णरूपसे प्राप्त हो जाती है और तभी श्रीभगवान् शकराचार्यके वचनानुसार उनको अनुभव होता है कि—

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहः पुण्याः समस्ताः क्रियाः।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिगिरो वाराणसी मेदिनी
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परे ब्रह्मणि ॥

आनन्दमय ब्रह्मका सर्वत्र अनुभव हो जानेसे समस्त जगत् ही नन्दन-कानन है, सभी वृक्ष कल्पवृक्ष हैं, सभी जल गङ्गाजल है, सभी कार्य धर्मकार्य हैं, प्राकृत संस्कृत सभी वाक्य वेदवाक्य हैं, सभी भूमि वाराणसी है और सभी स्थिति ब्राह्मी स्थिति है, यही स्वाराज्यमें विराजमान योगीका आनन्दमय अनुभव है। यही आध्यात्मिक लक्ष्यसम्बन्धमे आर्य्यजातिकी अन्य जातियोंसे परम विशेषता है और देशसेवासम्बन्धमें अन्य धर्म्ममतोंसे सनातनधर्म मतकी श्रेष्ठताका अकाट्य उज्ज्वल दृष्टान्त है।

ऊपर लिखित वर्णनोंसे यह स्पष्ट होगा कि आर्यजातिकी देशसेवामें भौतिक विज्ञान (Material Science) की उन्नति ही चरम उन्नति नहीं समझी जा सकती है। यद्यपि प्राचीनकालमे अर्थकामसम्बन्धीय समस्त अभावको दूर करनेके लिये भौतिक विज्ञानकी भी विशेष उन्नति आर्यजातिने की थी, जिसका पूरा वृत्तान्त अन्य प्रबन्धमे दिया जायगा तथापि निम्नलिखित कारणोंसे आर्यजाति आधुनिक पाश्चात्यजातियोंकी तरह भौतिक विज्ञानोन्नतिको ही उन्नतिकी पराकाष्ठा नही समझ सकती।

(क) भौतिक विज्ञानोन्नतिका लक्ष्य अर्थकाम है, धर्ममोक्ष नही है, जो कि पूर्ववर्णित हेतुओंके अनुसार आर्यजातिको एकान्त अभीष्ट नही हो सकता है।

(ख) भौतिक विज्ञानोन्नति अप्राकृतिक समस्त कलाकौशलको प्रकट करके मनुष्यजीवनको एकवार ही अस्वाभाविक बना देती है। वह प्रथमतः कुछ दिनों तक अच्छी लगनेपर भी पीछेसे मनुष्य शरीर, मनुष्य मनको दुःखशोक रोगग्रस्त तथा कुछसे कुछ बना देती है। उसके द्वारा मनुष्यजीवनमे स्वाभाविक भावका आनन्द एकवार ही जाता रहता है।

(ग) भौतिक विज्ञानोन्नति भौतिक होनेके कारण मनुष्यके अन्तःकरणमे दम्भ अहङ्कारको खूब ही उत्पन्न करती है, जिससे मनुष्य अहंभावग्रस्त होकर प्रायः यही समझने लगता है कि संसारमे प्राकृतिक विज्ञानके सिवाय और कोई पदार्थ ही नही है। समस्त संसारकी सृष्टि स्थिति या नाश रासायनिक संयोग वियोग द्वारा प्राकृतिक रूपसे ही होता है, इसके ऊपर किसी अलौकिक परमात्मा आदि वस्तुके माननेकी कोई भी आवश्यकता नही है। इस प्रकारसे

भौतिक विज्ञानके मदमें आकर लोग प्रायः नास्तिक हो जाते हैं और अर्थकाम-परायण परलोकभयवर्जित नास्तिक बनकर अपने तथा सामाजिक जीवनको अधःपातमें ले जाते हैं।

(घ) भौतिक विज्ञान-उन्नतिके द्वारा अर्थकामकी पुष्टि होकर प्रबल राग द्वेष तथा उसके परिणामरूप अन्तर्विवाद, जातीय कलह, जातीय संग्राम आदि तो अवश्य ही उत्पन्न होते हैं, किन्तु इन सब विपत्तियोंके निवारणके लिये भौतिक विज्ञानके पास कोई भी साधन नहीं है। अन्यपक्षमें आसुरी अस्त्र शस्त्र बनाकर भौतिक विज्ञान उल्लिखित संग्राम, नरहत्या तथा देशनाशक विप्लवोंको और भी वृद्धिगत कर देता है। थोड़ा ही विचार करनेसे स्पष्ट होगा कि भौतिक विज्ञान उन्नतिके द्वारा युद्धकार्यमे प्राचीन कालकी तरह यथार्थ वीरताकी परीक्षाके लिये कोई भी यन्त्र नहीं बना है, किन्तु किस प्रकारसे छल कपटके द्वारा अतिदूरसे या प्रच्छन्न होकर स्वल्पकालमें अनेक मनुष्य मारे जा सकते है इसीके अनेक यन्त्र बने है। आकाशयान (Airoplane), पनडुबी (Submarine), बडी बड़ी तोपें (Maxim gun) आदि सभी यन्त्र भीषण नरहत्याके ही यन्त्र (Engines of destruction) हैं। इनके द्वारा संग्राममें वीरताकी कोई भी परीक्षा नहीं होती है, केवल नरहत्याकारी भौतिक मस्तिष्क शक्तिकी परीक्षा होती है। अतः इस प्रकार उन्नतिके द्वारा संसारमे वास्तविक शान्ति कदापि नहीं प्रतिष्ठित हो सकती है किन्तु केवल विद्रोह, अशान्ति, मदोन्माद, राग द्वेष और प्रबल हत्याकाण्ड ही बढता है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण आजकल समस्त संसारमे दीख रहा है और इसका अन्तिम परिणाम यह होगा कि समस्त सभ्यताभिमानी जातियां असभ्य बन जांयगी।

(ङ) भौतिक विज्ञानके द्वारा क्रमशः स्थूल सूक्ष्म दोनों ही जगत्मे प्रबल असामञ्जस्य (discord, disbalance) उत्पन्न होता है जिसके फलसे स्थूल संसारका स्वास्थ्य, नैरोग्य तथा मानसिक शान्ति नष्ट होकर दुर्भिक्ष, हाहाकार, महामारी तथा प्रबल अशान्तिसे संसार परिपूर्ण हो जाता है। यह विचार सूक्ष्म तथा गम्भीर है इस कारण नीचे विस्तारके साथ इसपर विवेचन किया जाता है।

प्रत्येक पदार्थ तभी तक अपनी नीरोग अवस्थामें रह सकता है जब तक उस पदार्थकी प्राणशक्तिकी समतामें किसी प्रकारकी हानि उत्पन्न न हो।

प्राणशक्तिके अधिक व्यय या अपव्ययसे उसकी समतामें हानि हो जाती है जिससे कई प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि मनुष्यशरीरमें प्राणशक्तिकी समता रहनेसे वात, पित्त, कफ और अन्यान्य धातुओंका भी सामञ्जस्य रहता है जिससे मनुष्यशरीर नीरोग रहता है। परन्तु ब्रह्मचर्य्यनाश, अधिक परिश्रम, काम, मोह, क्रोध आदि वृत्तियोंके वशीभूत होना आदि कारणोंसे मनुष्यकी प्राणशक्ति घट जाती है, उसकी समतामें विरोध पडता है जिस कारण वात पित्त कफ और अन्यान्य धातुओंमे विकार उत्पन्न होकर वह शरीरको रोगग्रस्त तथा अल्पायु कर देता है। जिस प्रकार व्यष्टि शरीरमें है ठीक उसी प्रकार समष्टि अर्थात् ब्रह्माण्डशरीरमे जो प्राणशक्ति विद्यमान है उसकी समता और सामञ्जस्यके द्वारा ब्रह्माण्डशरीरान्तर्गत वात पित्त कफ तथा अन्यान्य धातुओंकी समता रक्षित होकर ब्रह्माण्डशरीर नीरोग रहता है और उस नीरोगताके फलसे देशकालानुसार ऋतुओंका ठीक ठीक परिवर्तन, शस्य-सम्पत्तिकी वृद्धि, प्रजाका सुख, दुर्भिक्ष आदिका अभाव, महामारी तथा देशव्यापी रोगोंकी अनुत्पत्ति आदि महत्फल उत्पन्न होते हैं। ब्रह्माण्डशरीरव्यापी इस प्राणशक्तिकी समता यदि किसी तरहसे विगड जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि ब्रह्माण्डके वात पित्त कफ तथा अन्यान्य धातुओंमें भी विकार होगा, पञ्चतत्त्वोंमे विकृति उत्पन्न होगी जिससे ब्रह्माण्डशरीर रोगग्रस्त होकर, ऋतुविपर्यय, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि कुलक्षण, दुर्भिक्ष, महामारी आदि रोगोंको उत्पन्न करेगा। पञ्चतत्त्वोंके जिस प्रकार परिणामके द्वारा सुफला वसुन्धरा अपनी निर्दिष्टगतिको प्राप्त कर रही है और विराट् पुरुषका स्थूल ब्रह्माण्डशरीर नीरोगतापर प्रतिष्ठित है, उस प्राकृतिक गतिपर यदि बलात्कार किया जाय अर्थात् प्रकृतिको तोडकर इच्छानुसार अप्राकृतिक बनाया जाय—जल जिस गतिके अनुसार नदी समुद्र आदि रूपमें चलनेसे जगद्जीवनकी रक्षा कर सकता है, वायु जिस गतिसे प्रवाहित होने पर संसारका स्थितिविधान कर सकता है, पृथ्वी जिस प्रकारसे परिसेविता होने पर सुफल प्रदान कर सकती है, इन सबोंमे यदि बलात्कार द्वारा अप्राकृतिक अनुष्ठान किया जाय तो पञ्चतत्त्वोंमें अवश्य ही विकार उत्पन्न होकर ऋतुविपर्यय, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि दुर्लक्षण प्रकाशित करेगा जिससे समस्त जगत्की शान्ति नष्ट होकर अशान्ति और दुःखदारिद्र्य बढ जायगा। इसके सिवाय

ब्रह्माण्डको प्राणरूप वैद्युतिक शक्तिको तत्त्वोंके भीतरसे यदि खींचकर अन्यान्य कार्य्यमें लगा दिया जाय तौ भी प्राणशक्तिहीन ब्रह्माण्डशरीर मृतवत् हो जायगा, इसकी जीवनीशक्ति घट जायगी जिससे इसमें शस्योत्पादिका शक्ति, उत्तम सन्तानोत्पादिका शक्ति, ऋतुओंका क्रमविकाश आदि सभी नष्ट हो जायगा और विराट्धातुमें विकार होकर तथा वात पित्त कफका सामञ्जस्य बिगड कर देशमें महामारी दुर्भिक्ष, संग्राम, दुःख दारिद्र्य और अशान्ति फैल जायगी। आस्तिकताविहीन भौतिक विज्ञानोन्नति (Godless scientific improvement) के फलसे ब्रह्माण्डकी प्राणशक्तिकी ऐसी ही हानि और पञ्चतत्त्वोंमें ऐसा ही वैषम्य (elemental disturbance) उत्पन्न होता है जिसको सभी लोग देख सकते है। इसमें ब्रह्माण्डव्यापिनी वैद्युतिक शक्ति आकर्षित करके अन्यान्य कार्य्यमें लगाई जाती है और स्वाभाविक रूपसे प्रवाहशील तत्त्वोंपर बलात्कार करके उनको मनमाने कार्य्यमे लगाया जाता है अर्थात् उनकी प्राकृतिक गतिमे बाधा दी जाती है, जैसा कि नदनदियोंके प्रवाहको नहर आदि रूपसे इधर उधर करना, उनमेंसे बिजली खींच लेना इत्यादि भौतिक विज्ञानोन्नतिके द्वारा विराट् धातुमें विकार उत्पन्न होकर देशमे सग्राम, दुर्भिक्ष, महामारी, दारिद्र्य और अशान्ति आदिका उत्पन्न होना निश्चित है। ससारमे जिस जिस समय ऐसा संग्राम अथवा महामारी, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष आदिका प्रकोप देखा गया है, उसके मूलको अन्वेषण करनेसे अवश्य ही पता लगेगा कि, आसुरी शक्तिके अयथा प्रयोगद्वारा प्रकृतिराज्यमें वैषम्य, आसुरी अस्त्रोंके प्रयोगद्वारा पञ्चतत्त्वोंमें विकार अथवा ब्रह्माण्ड शरीरके प्राणशक्तिनाश या प्राणवैषम्यके द्वारा ही ऐसी बहुदेशव्यापी दुर्घटना हुई है। महर्षि वशिष्ठजीने कहा है—

विराट्धातुविकारेण विषमस्पन्दनादिना।
तदङ्गावयवस्यास्य जनजालस्य वैषमम्॥
दुर्भिक्षावग्रहोत्पातमानयति।

विराट् शरीरमे तत्त्वविकार, धातुविकार तथा प्राणशक्तिके विषम स्पन्दनसे विराट्के अङ्गीभूत जीवोंकी प्रकृतिमें विषमता उत्पन्न होती है, जिससे दुर्भिक्ष, अपग्रहोका उदय, उल्कापात, धूमकेतु आदिका उदय, महामारी आदि उत्पात होने लगते है। प्राचीन कालमें भौतिक विज्ञान (material science) की उन्नति विशेषरूपसे होनेपर भी महर्षियोंकी दूरदर्शिताके कारण वह इस

प्रकारसे नही अनुष्ठित होती थी, जिससे प्रकृतिपर किसी प्रकारका बलात्कार हो। अवश्य आसुरी शक्तिका अत्याचार उस समय भी था, किन्तु उसके प्रकोपको दूर करनेके लिये ऋषिगण आवश्यकतानुसार कभी यज्ञ द्वारा, कभी दैवानुष्ठान और देवपूजा द्वारा या कभी अन्य प्रकार से भी दैवीशक्ति उत्पन्न करके आसुरी शक्तिको दबाकर देशव्यापी अकल्याणको दूर कर देते थे। यही कारण है कि प्राचीनकालमे सभी प्रकारकी उन्नति होने पर भी कही पर वैषम्य नही था और सर्वत्र शान्ति ही विराजमान थी। देशसेवामे यह एक विशेष मननयोग्य तथ्य है।

आर्यजातिके इतिहासमे प्रायः यह देखा गया है कि जब कभी देश या जाति पर विदेशियोका आक्रमण हुआ है तो उसके प्रतिकारके लिये आर्यजातीय देशोद्धारक वीरोने—एकता, तपस्या, उन्नत दैवशक्तिकी सहायता-संग्रह—इन तीन उपायोंसे काम लिया है। देशसेवाका सम्बन्ध जहां पर धर्मके साथ है वहां ही इस प्रकारकी सहायता ली जाती है। क्योंकि बिना धर्माचरण किये दैवशक्तिकी सहायता मिलती नही। दशम सिखगुरु गुरुगोविन्दसिहजीने 'हिन्दुसन्तानकी जनेऊ और चोटीकी रक्षा' के लिये भवानीकी उपासना कर शक्ति प्राप्त की थी और उसी शक्तिके प्रतापसे किसी समय विधर्मियोंके प्रबल अत्याचारसे आर्यजातिको बचाया था। महावीर अर्जुनने भी कुरुक्षेत्रके रणाङ्गनमें आसुरी प्रजाके नाशके लिये श्रीभगवान्‌की आज्ञासे महाशक्तिकी ही आराधना की थी, यह बात महाभारतमे लिखी है। महाराणा प्रतापने भी एकलिङ्ग महादेवकी शक्तिसे शक्तिमान होकर असीम तपस्याके साथ अपनी जन्मभूमिकी रक्षा की थी। छत्रपति शिवाजी महाराजको भी शिव-शक्तिका विशेष सहारा था, जिससे हिन्दुस्तानमे उन्होने यवनजातिका पग जमने नही दिया था। इन सब दृष्टान्तोसे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि बड़े कामके लिये हमारे देशके धर्मवीरोने केवल अपने लौकिक बल पर पूर्ण निर्भर न करके अलौकिक दैवबलका भी सहारा लेना उचित समझा था। वे सभी हमसे अधिक मर्मज्ञ, यथार्थ देशसेवापरायण तथा सच्चे वीर थे। अतः देशसेवा कार्यमें उनका अनुकरण हमे अवश्य करना चाहिये। केवल इस लोककी ही बात क्या कही जाय, दैवजगत्‌में भी जब कभी आसुरी अत्याचारसे देवतागण पीड़ित हुए तो एकता और तपस्याके साथ कही पर देवादिदेव महादेवके अलौकिक, असीम दैवबलकी सहायता

और कहीं पर विश्वजननी महाशक्तिकी अपूर्व सहायताको पाकर ही वे स्वर्ग-राज्यका अधिकार पुनः प्राप्त कर सके हैं। महिषासुर और वृत्रासुरके द्वारा स्वर्ग-राज्य अधिकृत होजाने पर तो देवताओंने घोर तपस्या की थी और एकताका वर्णन कहां तक किया जाय महिषासुरवधके लिये तो ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र सभीको अपने हृदयकी, प्राणकी समग्रशक्तिको पुञ्जीभूत करनी पड़ी थी, जिस पुञ्जीभूत शक्तिसे 'निःशेष-देवगणशक्ति-समूहमूर्ति' रूपिणी देवी दशभुजा प्रकट होगई थीं और उन्होंने महिषासुरको मार दिया था। ब्रह्माका कार्य सृष्टिका निर्माण करना है और रुद्रका कार्य सृष्टिका नाश करना है, दोनों परस्पर विपरीत कार्यके करनेवालोंने भी अपने देश पर शत्रुका अत्याचार देखकर अपनी अपनी मर्यादाको रखते हुए एकता कर ली थी। यही एकताका मूलमन्त्र है, अन्यथा त्रिगुणवैषम्य-मय संसारमें अपने अस्तित्वको खोकर एकता करना सम्भव नहीं होता। श्रीभग-वान् शंकराचार्यने कहा है—

भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्।
अद्वैतं सर्वभूतेषु नाद्वैतं गुरुणा सह॥

अद्वैत भावमें होना चाहिये, क्रियामें नहीं। माता, कन्या, भगिनी, स्त्री सबमें एकात्माके विचारसे अद्वैतका भाव रह सकता है, किन्तु क्रियाजगत्में वर्त्तावका भेद बहुत कुछ रहता है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

उत्तम ब्राह्मण, गौ, हाथी, श्वान और चण्डाल इन सबमें एक ही आत्मा-के विचारसे पण्डितगण 'समदर्शी' तो हो सकते हैं, किन्तु 'समवर्त्ती' नहीं हो सकते। गाय, हाथी, कुत्ता तीनों के साथ एकसा वर्ताव कभी सम्भव ही नहीं है। इसका उत्तम दृष्टान्त श्रीभगवान् रामचन्द्रके जीवनमें प्राप्त होता है। श्रीभगवान् रामचन्द्रने चण्डाल, भील, निषाद, राक्षस, प्रेत, देवता, मनुष्य, वानर, रीछ, गिल्हेरी सबके साथ मैत्री की थी, किन्तु अपनी मर्यादासे कभी च्युत नहीं हुए थे। भील स्त्रीने उनको उच्छिष्ट बेर खिलाये थे, यह उक्ति केवल कविकल्पना मात्र है। हो सकता है कि एक बेर चख कर उसने देख लिया हो कि बेर कैसे हैं, किन्तु वे उन्हें उच्छिष्ट बेर देती गई और वे खाते गये, ऐसी कथा

न रामायणमे है और न महात्मा तुलसीदासजीने ही लिखा है। इस प्रकारसे एकता, तपस्या और अलौकिक दैवीशक्तिकी सहायता मिलने पर तब देशभक्त वीर देशकी पूर्ण सेवा कर सुफल लाभ कर सकते है। मायाके राज्यमे प्रत्येक कार्य-मे प्रतिमुहूर्त शक्तिका क्षय होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि वृत्तिमात्रके उदय होनेसे प्राणक्षय, आयुक्षय, शक्तिक्षय हो जाता है। इस प्रकार दैनन्दिन क्षयद्वारा उत्पन्न हानिसे बचनेका एकमात्र उपाय तपस्या, संयम और साधना है। उपासना ही मनुष्यके शक्तिभण्डारको सदा भरपूर रख सकती है। अत. कर्मवीर देशभक्तको भगवद्भक्त भी अवश्य होना चाहिये। यही देशसेवाके साथ सनातनधर्मका अच्छेद्य सम्बन्ध है, जिसको हृदयङ्गम कर कार्यक्षेत्रमे अग्र-सर होनेसे कर्मवीर देशसेवी—शरीरदेश, जन्मभूमिदेश और त्रिभुवनदेश—सभी-को योग्य सेवा कर कृतकृतार्थ हो सकते हैं, इसमे अणुमात्र सन्देह नही है।
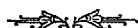
स्वराज्य और सनातनधर्म।

आधुनिक विज्ञान और देशसेवाके साथ सनातनधर्मका सम्बन्ध बता कर अब स्वराज्यके साथ इसका सम्बन्ध बताया जाता है।

आर्यशास्त्रमे आत्माको नित्यमुक्त, स्वराट् तथा स्वाराज्यमे विराजमान कहा गया है। श्रीमद्भागवतके पहले ही श्लोकमे—

'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्'

इस प्रकार कहकर श्रीभगवान् वेदव्यासने आत्माको नित्यमुक्त स्वराट् कहा है। आत्मा नित्यमुक्त है। जीव जब तक मायाकी प्रतारणा मे पड़कर आत्माके इस नित्यमुक्त स्वभावको अनुभव नहीं करता है तभी तक जीवका बन्धन तथा आवागमनचक्र बना रहता है। तभी तक जीवको परिणामशील संसारमे अनेक प्रकारके दुःख झेलने पड़ते हैं। किन्तु आत्माके नित्यमुक्त, स्वराट्, स्वराज्यमे विराजमान स्वरूपको देखते ही जीवका समस्त दुःख नष्ट हो जाता है और तभी जीव अपनेको ब्रह्म जानकर नित्यानन्दमय हो जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि स्वराज्यप्राप्तिमे आत्माका नैसर्गिक अधिकार (Natural right, birth right) है और स्वराज्यप्राप्ति तथा परतन्त्रताको दूर करना ही

सकल सुखोंका निदान है। इसीलिये श्रीभगवान् मनुने सुखदुःखका लक्षण निर्णय करते समय अपनी संहितामें कहा है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
इति विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥

सकल प्रकारकी परतन्त्रता ही दुःख है और स्वतन्त्रता एकमात्र सुख-निदान है, संक्षेपसे सुखदुःखका यही लक्षण जानना चाहिये। आत्मा नित्यस्वतन्त्र है, जीव वही आत्मास्वरूप है, अतः सुख तथा स्वतन्त्रताके लिये जीवकी इच्छा क्यों नहीं होगी? अवश्य होगी। क्योंकि जो जिसका नैसर्गिक स्वरूप है उसके लिये उसके हृदयकी आकांक्षा होनी और बनी रहनी स्वाभाविक है। जन्मसिद्ध अधिकार (Birth right) तथा स्वभावसिद्ध अधिकार (Natural right) के लिये लालसा अवश्य ही उत्पन्न होती है। इसके विना जीवका अस्तित्व ही वृथा है, क्योंकि स्वाधीन आत्माने यदि अपनी स्वाधीनताका ही अनुभव न किया तो उसके अस्तित्वका कोई भी प्रयोजन नहीं रह सकता है। यही कारण है कि सभी जीव स्वतन्त्रता अर्थात् स्वराज्यको चाहते है। अब जीवको यह स्वाराज्य, यह स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त होती है सो ही विवेच्य है। मनुसंहितामें लिखा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥

आत्माको सकल भूतोंमें और सकल भूतोंको आत्मामें देखकर आत्मयज्ञ-परायण महात्मा स्वाराज्यका लाभ करते है। यही आर्य्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार स्वाराज्यसिद्धिका लक्षण है।

क्या भूमण्डलस्थित सभी जातियोंने आर्य्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार स्वाराज्यका लाभ किया है? कभी नहीं। प्रकृति-राज्यमें उन्नतिके तारतम्यानुसार जिस जातिने 'स्व' को जितना समझा है उसने स्वका राज्य भी उतना ही लाभ किया है। जिसने स्थूलशरीर मात्रको 'स्व' समझा है उस जातिका स्वाराज्य स्थूल शरीरपर ही प्रतिष्ठित है अर्थात् स्थूल शरीरको अन्य किसी जातिके अधीन न होने देकर उसे स्वतन्त्र रखनेमें ही वह जाति अपना स्वाराज्य समझती है।

जिस जातिने सूक्ष्मशरीरको 'स्व' समझा है उसके लिये मनोराज्य तथा बुद्धि-राज्यपर आधिपत्य विस्तार करना ही स्वाराज्यसिद्धिका लक्षण है । मनको विषयोंका तथा इन्द्रियोंका अधीन न बनाना, बुद्धिपर अविद्या का आवरण आने न देना, मन बुद्धि दोनोंका इहलोक परलोकमें अभ्युदय सम्पादन करना इस स्वाराज्यसिद्धिका निदर्शनरूप है । और जिस जातिने 'स्व' का अर्थ आत्मा समझा है, वह जाति केवल स्थूलशरीरको पराधीनतासे बचानेमें ही पूर्ण स्वाराज्य नहीं समझती तथा मन बुद्धिकी उन्नतिमें ही स्वाराज्यसिद्धिको नहीं मानती, किन्तु शरीर, मन, बुद्धि तीनोंके ही साथ आत्माको भी निज नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूपमें प्रतिष्ठित करके तब पूर्ण तथा यथार्थ स्वाराज्यलाभ हुआ ऐसा विचार रखती है । समस्त पृथिवीके इतिहासका पाठ करनेसे बुद्धिमान् व्यक्तिको अवश्य ही ज्ञात होगा कि अब तक पृथिवीकी अन्य सभी जातियोंने केवल स्थूल शरीरको ही 'स्व' समझ रक्खा है और इसलिये स्थूल शरीरकी स्वतन्त्रताको ही वे स्वाराज्य समझती हैं। केवल आर्य्यजातिके पिता पितामह महर्षियोंने ही 'स्व' का यथार्थ अर्थ आत्मा है यह अनुभव किया था और तदनुसार केवल स्थूल शरीरकी स्वतन्त्रतामें ही पूर्ण स्वाराज्य न समझकर शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा सभीकी स्वतन्त्रतामें सच्चा स्वाराज्य समझा था । इसलिये आर्य्यजातिके लक्षण वर्णन करते समय यास्क आदि मुनियोंने "आर्य्यः ईश्वरपुत्रः" "आर्याश्च पृथिवीपालाः" इत्यादि लक्षण बताये हैं । अतः शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा सभीको परतन्त्रतासे बचाना—यही आर्य्यजातिके सिद्धान्तानुसार स्वाराज्यसिद्धिका लक्षण है ।

इस प्रकार चार पादोंसे पूर्ण स्वाराज्यसिद्धिका विधान महर्षियोंने क्यों किया था ? क्या पश्चिम देशियोंकी तरह केवल स्थूल शरीरमात्रकी स्वाधीनतामें ही स्वाराज्य समझना यथेष्ट नहीं है ? ऐसी शङ्काएं हो सकती हैं । और इनका समाधान भी पृथिवीके इतिहासमें जातीय उत्थान पतनके कारणान्वेषी पुरुषोंके निकट प्रच्छन्न नहीं रहेगा । गत कई सहस्र वर्षोंके भीतर जितनी जातियाँ कालसमुद्रके गर्भमें अनन्तकालके लिये एकबार ही डूब चुकी हैं उनके इतिहासों पर विचार तथा मनन करनेसे स्पष्ट सिद्धान्त होगा कि अर्थ काम तथा पशुबल (Brute force) के द्वारा कोई भी जाति अपने स्थूल शरीरको स्वतन्त्र कर सकती है किन्तु यदि मन, बुद्धिको आसुरभावसे स्वतन्त्र करनेके लिये उसके

पास धर्म्मबल न होगा तथा आत्माको अज्ञानान्धकारसे मुक्त रखनेके लिये उसके पास ज्ञानबल, यथार्थ आत्मबल (Soul force) न होगा तो अर्थकाम और पशुबलकी प्रतिक्रियामें आसुरी उन्माद तथा अनाचार-अत्याचार-दुराचार-व्यभिचारयुक्त पशुभावकी अत्यन्त वृद्धि द्वारा वह जाति थोड़े ही वर्षोंके भीतर अवश्य ही नाशको प्राप्त हो जायगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। दृष्टान्तरूपसे सोच सकते हैं कि गत कई सहस्र वर्षके भीतर बेबिलोनियन्, एसिरियन्, इजिप्सियन्, ग्रीसियन्, रोमन् आदि अनेक जातियोंका पूर्णरूपसे नाश होगया है, किन्तु सभीके नाशके मूलमे धर्म्महीन, आत्मज्ञानहीन पशुभाव-प्रधान अर्थकाम ही प्रबल था। उन जातियोंने प्रधानतः पाशविकबल (Brute force) के द्वारा अपने स्थूल शरीरको स्वतन्त्र किया था और अन्यान्य दुर्बल जातियों पर भी पशुबलके ही प्रभावसे अपना आधिपत्य जमाया था। किन्तु जैसा कि पहले कहा गया है अर्थकामके मूलमे धर्म न रहनेसे घृताहुत वह्निकी तरह अर्थलालसा और कामलालसा अत्यन्त बलवती होकर राज्याधिकारप्राप्त उन जातियोंको शीघ्र ही मनुष्यसे पशु बना दिया।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

उपभोगसे कामनाकी शान्ति नहीं होती है, किन्तु घृतपुष्ट अग्निकी तरह कामना उत्तरोत्तर बढ़ने ही लगती है यह बात निश्चित है। संसारमें धर्मकी ही शक्ति इस कामनानलको नियन्त्रित करके इसके प्रबल वेगको शान्त करती है। मेरे पास जितना धन है इससे अधिक धन यदि मैं ठगी, चोरी, डकैती आदिसे कमा सकूं तो चित्तकी इस कामनाका रोकने वाला कौन है? मेरे पास कामभोगके लिये स्त्री आदि जो कुछ सम्पत्ति है, उससे भी अधिक सामानका संग्रह व्यभिचार, बलात्कार आदि द्वारा करनेको मुझे कौन रोकता है? क्यों नहीं मैं यथाशक्ति अन्याय उपायोंके द्वारा अपनी, बलवती विषयलालसा, धनलालसा, कामलालसाको चरितार्थ करूँगा? संसारमें धर्म ही एक शक्ति है जिसने अर्थकामपरायण मनुष्यको इस युक्तिसे रोका है कि यदि वह अन्याय उपायोंसे अर्थ कामका संग्रह करेगा तो वासनाकी अग्नि बढ़ती बढ़ती प्रलयाग्नि बन कर कुछ दिनोंमें उसे ही भस्म कर देगी, उसके मनुष्यत्वका नाश कर उसको

पूरा पशु वना देगी और नाना प्रकारके रागद्वेष रोगशोक आदिके निर्यातन द्वारा थोडे ही दिनोंमें उसको मार देगी। केवल इतना ही नही, धर्मकी भविष्यद्दर्शिनी ज्ञानमयी शक्ति उसको यह भी वता देगी कि अधर्मसे, अन्याय उपायोंसे अर्जित अर्थकाम वहुत दिनों तक रहना नही है वल्कि उसकी प्रतिक्रियामें आगामी जन्ममें या अत्युत्कट होने पर इसी जन्ममें अर्थकामको ही नाश कर देता है। "अस्तेय-प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्" अस्तेय अर्थात् चोरी न करना इसकी प्रतिष्ठा जिसने शरीर, मन, वचनके द्वारा की है उसको महर्षि पतञ्जलिके कथनानुसार जिस प्रकार सकल रत्नोंकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार चोरी, ठगी, झुठाई, प्रवञ्चना आदि अन्याय उपायोंसे धनार्जन करने पर उसकी प्रतिक्रियामें इस जन्ममें या आगामी जन्ममें उस पापीको भीषण दारिद्र्य दुःख भोगना पड़ता है। उसी प्रकारसे परस्त्री-लोभी मनुष्य आगामी जन्ममें स्त्रीहीन या असती स्त्रीके द्वारा दुःख प्राप्त होता है एवं पर-पुरुष-लोभी स्त्री आगामी जन्ममें पतिहीना या कदाचारी पति को प्राप्त होती है। इसी कारण श्रीभगवान् वेदव्यासने कहा है कि—

"धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते"

धर्मसे ही चिरकालस्थायी अर्थकामकी प्राप्ति होती है, तथापि लोग धर्मसेवा क्यों नही करते ? तृतीयतः अर्थकामके मूलमे धर्म न रहनेसे लालसा-ग्रस्त अतृप्त अर्थकामपरायण मनुष्य दूसरेकी अर्थकामसामग्रीको छीनकर अपनी अर्थकामलालसाको अधिकाधिक तृप्त करना चाहता है, जिसके फलसे द्वेषानल, अन्तर्विवाद और अन्तमे घोर अन्तर्जातीय संग्राम (Revolution) होकर अर्थ-कामलोलुप जाति रसातलको चली जाती है। रोमन, ग्रीसियन, वेवीलोनियन आदि जातियाँ इसी तरहसे नाशको प्राप्त हो गई है। पशुवलके द्वारा अर्थकाम तथा स्वराज्य, परराज्यको सग्रह करके धर्मवलसे पशुवलको नियन्त्रित तथा आत्माकी ओर दृष्टि न रखने पर समस्त जाति इसी प्रकारसे मनुष्यपदसे च्युत, अनाचारी, व्यभिचारी, महापापग्रस्त तथा पशुत्वकी चरमसीमा पर पहुंच कर अन्तमे नष्ट हो जाती है। यही कारण है कि दूरदर्शी, तत्त्वदर्शी पूज्यपाद मह र्षियोंने केवल अर्थकाम तथा पशुवलके प्रभावसे स्थूल शरीरकी स्वतन्त्रताको ही स्वतन्त्रता नहीं कहा है, किन्तु अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष चारोंकी सहायतासे शरीर, मन, वुद्धि, आत्मा चारोंकी स्वतन्त्रताको ही यथार्थ स्वाराज्यसिद्धिका लक्षण कहा

है । जीवका मन या बुद्धि यदि विषयोंके परतन्त्र रहे तो केवल स्थूल शरीरकी स्वतन्त्रता अनर्गलतामात्रको उत्पन्न करके जीवको और भी दुर्दशा तथा अधोगतिमें डाल देती है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है । इसलिये अर्थकाम तथा क्षात्रशक्तिके द्वारा स्थूलशरीरका स्वाराज्य, धर्मबलसे मन बुद्धिका स्वाराज्य तथा ज्ञानबलसे आत्माका स्वाराज्य इस प्रकारसे चारोंकी स्वाराज्यसिद्धिमें ही पूर्ण स्वाराज्यसिद्धि होती है जिसका उपदेश पूज्यपाद महर्षियोंने आर्यजातिके लिये किया है ।

वह उपदेश क्या है ? अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा चारोंकी स्वाराज्यसिद्धिके लिये महर्षियोंने क्या क्या उपाय बताया है सो ही अब विचार करने योग्य विषय है । विचार करने पर पता लगेगा कि आर्यजातिकी चातुर्वर्ण्यव्यवस्थाके द्वारा अनायास ही चतुष्पादपूर्ण स्वाराज्यसिद्धि हुआ करती है और इसीलिये पूज्यपाद महर्षियोंने वर्णधर्मपर इतना जोर दिया है तथा प्राकृतिक विधिके अनुसार चार वर्ण अपने अपने कर्त्तव्यको पूर्ण रीतिसे पालन करें, इसका विशेष अनुशासन बताया है । मीमांसा शास्त्रका सिद्धान्त है कि—

कामप्रधानः शूद्रः ।
अर्थप्रधानो वैश्यः ॥
धर्मप्रधानः क्षत्रियः ।
मोक्षप्रधानो ब्राह्मणः ॥

शिल्पकला, कारीगरी, वस्त्रादिनिर्माण इत्यादि इत्यादि स्थूल कामनापूर्त्तिका सामान प्रस्तुत करके जातिकी शारीरिक सेवामें सहायता करना शूद्रवर्णका प्राकृतिक धर्म है । कृषि वाणिज्यआदि द्वारा यथेष्ट अर्थ-संग्रह करके जातिका स्थूल शरीर बहुमूल्य रत्नोंसे सुसज्जित कर देना तथा जातीय दरिद्रताका एकबार ही आमूल नाश कर देना वैश्यवर्णका प्राकृतिक धर्म है । शिल्पकला, धन, रत्न, भूसम्पत्तिको विदेशी आकर लुण्ठित तथा अधिकृत न कर सकें, इसलिये बाहुबल, अस्त्रबल, सैन्यबल, युद्धकौशल द्वारा जातिको विजातीय आक्रमणसे सुरक्षित रखना क्षत्रियवर्णका प्राकृतिक धर्म है । अनर्गल अर्थकाममें या अनर्गल क्षात्रशक्तिमें जो जातीय अवनतिकर उन्मादकी स्वाभाविक

स्थिति है, उसको धर्मवलसे रोककर समग्रजातिको आत्मा तथा मोक्षकी ओर नियोजित रखना ब्राह्मणवर्णका स्वाभाविक धर्म है। इसीसे बुद्धिमान् मनुष्य समझ सकते है कि दूरदर्शी महर्षियोने केवल चार वर्णोंकी नैसर्गिक व्यवस्थाके द्वारा ही शरीर-मन बुद्धि-आत्मामय चतुष्पाद् पूर्ण स्वराज्यसिद्धिकी पूर्ण अनुशासनविधि वता दी है। वैश्य, शूद्र, क्षत्रियके ऊपर शारीरिक स्वराज्य-प्राप्तिका भार है और क्षत्रिय ब्राह्मणके ऊपर मन-बुद्धि-आत्मा सम्बन्धीय स्वराज्य लाभका भार है। विना क्षात्रशक्ति तथा ब्राह्मणशक्तिकी समवेत सहायतासे वैश्यशक्ति और शूद्रशक्ति भी निरापद नही रह सकती है, इसलिये महर्षियोकी यह आज्ञा थी कि, क्षात्रशक्ति और ब्राह्मणशक्ति परस्पर सहायक वनकर सवकी रक्षा करें। यथा मनुसंहितामें—

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते।
ब्रह्मक्षत्रं तु संपृक्तमिह चामुत्र वर्द्धते॥

ब्राह्मणशक्तिके विना क्षात्रशक्ति उन्नतिको प्राप्त नही हो सकती है और क्षात्रशक्तिके विना ब्राह्मणशक्ति भी वृद्धिगत नही हो सकती है। दोनो शक्तियां परस्पर मिलकर ही इहलोक परलोकमें सम्यक् वर्द्धित तथा कल्याणकारिणी हो सकती हैं। जिस प्रकार किसी रोपित वृक्षको पूर्णकलेवर वनानेके लिये केवल वृक्षमूलमें जलसेचन ही यथेष्ट नहीं होता, किन्तु वृक्षके चारो ओर वेष्टनी लगाकर उसे छाग, मेष, महिष, गौ आदिके आक्रमणसे भी वचाना पडता है, ठीक उसी प्रकार जातिरूप विशाल वृक्ष क्षत्रियवर्णरूप वेष्टनी द्वारा विदेशियो तथा विधर्मियोके आक्रमणसे सुरक्षित रहता है और ब्राह्मणवर्णकृत धर्मजलसिञ्चनसे पुष्टकलेवर वनकर जातिके प्रत्येक व्यक्तिको शान्तिछाया प्रदानमे समर्थ हो सकता है।

इस प्रकारसे प्राचीनकालमें ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्तिकी समवेत सहायतासे धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूपी चतुर्वर्गकी सिद्धि तथा शरीर-मन-बुद्धि-आत्मारूपी चतुष्पादसे पूर्ण स्वाराज्यकी प्राप्ति आर्यजातिको हो सकी थी। इन दोनों शक्तियोंमें जव कही कुछ विरोध आजाता था तो श्रीभगवान् स्वयं अवतार धारण करके विपथगामी शक्तिकी निरकुशताको दवा कर पुनः दोनोंका सामञ्जस्य विधान कर दिया करते थे। त्रेतायुगमे कार्त्तवीर्यार्जुनप्रमुख क्षत्रियोंकी शक्ति निरङ्कुश तथा

अत्याचारी बनकर ब्राह्मणशक्तिके नाशका कारण हो उठी थी, इसलिये श्रीभगवान्‌को ब्राह्मणकुलमें परशुरामरूपमें अवतीर्ण होकर पापी क्षत्रियोंके नाश द्वारा दोनों शक्तियोंका सामञ्जस्य करना पड़ा। पुनः जब कुछ वर्षोंके बाद ब्राह्मणशक्ति बिगड़ गई और ब्राह्मणवंशमें रावण जैसे राक्षस उत्पन्न होकर अधर्माचरण करने लग गये तो श्रीभगवान्‌को निरङ्कुश ब्राह्मणशक्तिके दमनके लिये श्रीरामचन्द्ररूपमें क्षत्रिय कुलमें जन्म लेना पड़ा। उन्होंने रावण वंशका नाश करके ब्राह्मणशक्तिके अपलापको दूर किया और आदर्श क्षत्रिय नरपतिका धर्माचरण करके आर्य्यजातिको शान्ति प्रदान की। पुनः द्वापरयुगके अन्तमें दोनों ही शक्तियां विपथगामिनी हो गईं, जिससे देवांशोत्पन्न भीष्म कर्णादि क्षत्रिय वीरगण तथा द्रोणाचार्य्य, अश्वत्थामादि ब्राह्मणकुलभूषण पुरुषगण भी धर्म्मपक्षको छोड़कर पापपक्षानुकूल संग्राममें प्रवृत्त हो गये। अपने सामने कुलवधूको विवस्त्रा होती हुई देखकर भी किसीको विचार नहीं आया, धर्मके सिर पर पापका पदाघात देखकर भी किसीके हृदयमें आघात नहीं लगा, क्षत्रियधर्मको तिलाञ्जलि देकर निरस्त्र अभिमन्युके प्राणहननमें किसीको लज्जा नहीं आई, निद्रित कुमारोंके सिर काटनेमें ब्राह्मणधर्मका अमानुष अपलाप नहीं प्रतीत हुआ, विश्वबन्धननाशकारी श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रको बांधनेके लिये भी महापापमय स्पर्धा होने लगी, इधर कंस, शिशुपाल, अघासुर, बकासुर, जरासन्ध, दन्तवक्र, आदि आसुरीशक्ति सम्पन्न क्षत्रियोंके भीषण अत्याचारसे ससागरा धरा विकम्पित होने लगी, तब श्रीभगवान्‌को कृष्णरूपसे पूर्णकलामें अवतीर्ण होकर दोनों शक्तियोंकी ही उद्दण्डताको दबाकर दोनोंका सामञ्जस्य करना पड़ा। उन्होंने कुरुक्षेत्रादि महासमरमें पापी क्षत्रियोंका नाश कराकर धर्मराज्य स्थापन कराया और गीता आदिके उपदेश द्वारा ज्ञानमयी ब्राह्मणशक्तिकी प्रतिष्ठा की। इस प्रकारसे जब जब दोनों शक्तियोंमें असामञ्जस्य या वैमनस्य फैला तभी श्रीभगवान्‌ने कभी स्वयं आवश्यकतानुसार अंशकला या पूर्णकलामें अवतीर्ण होकर और कभी साम्प्रदायिक या राजनैतिक आचार्यादि विशिष्ट विभूतियोंके रूपमें प्रकट होकर वैमनस्यको विदूरित किया और चातुर्वर्ण्यकी धर्मानुकूल व्यवस्था विधान करके अर्थकामका पोषण, अर्थकाम तथा प्रजाकी रक्षा और अर्थकामके धर्मानुकूल विनियोग द्वारा मोक्षमार्गको निष्कंटक राजमार्गकी तरह बना रक्खा। और जबतक इस प्रकार चतुष्पादपूर्ण स्वाराज्यकी सिद्धि रही तबतक आत्मासम्बन्धीय स्वाराज्यके साथ साथ स्थूलशरीर सम्बन्धीय स्वाराज्य भी आर्य्यजातिके भाग्यसे पूर्णरूपसे

विराजमान रहा, जिससे यह जाति तथा यह भारतभूमि विजातीय आक्रमण तथा अधिकारविस्तारसे सदा सुरक्षित रही। यही सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलियुगके प्रथमचरणांश तक चतुष्पादपूर्ण स्वाराज्यका गूढ तत्त्व है।

पूज्यपाद महर्षियोकी दूरदर्शितासे प्राप्त चतुष्पादपूर्ण यह स्वाराज्य भाग्यचक्रके विपरीत परिवर्त्तनके कारण आर्यजातिके अधिकारसे कैसे निकल गया, अब यही विचारणीय विषय है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके द्वारा भूभार-हरणके बाद कुछ दिनों तक भारतवर्षमे शान्ति रही। किन्तु जो भ्रातृविद्वेषरूपी विषवृक्षका बीज भारतीय क्षत्रियभूमिमे एक बार उग चुका था, वह कदापि नष्ट नही हो सका। इसलिये पाण्डववंशीय कुछ नरपतियोके एकच्छत्र साम्राज्य चलानेके बाद भारतवर्षमे एकच्छत्र नरपति कोई भी नही रह सके। समग्र भारतमें छोटे-छोटे अनेक राजवंशियोके राज्य हो गये। इधर बौद्धविप्लवके प्रतापसे ब्राह्मणशक्तिमे बहुत ही दुर्बलता आ गई, जिस कारण परस्पर विद्वेष-भावापन्न, संग्रामनिरत उन राजवंशियोंको संग्रामनिवृत्ति, एकता तथा शान्ति-प्राप्तिके लिये धर्मानुशासन बतानेवाली ब्राह्मणशक्तिकी विशेष-सहायता नही प्राप्त हो सकी। 'सङ्घे शक्तिः कलौ युगे' एकता द्वारा ही कलियुगमे राजकीय शक्ति लाभ हो सकता है, यह श्रीभगवान् वेदव्यासकी भविष्यद्वाणी है। किन्तु भारतके भाग्यमे इसका ठीक विपरीत फल ही हुआ। एक ओर क्षुद्र-क्षुद्र राज्यके अधिपति राजागण एकताकी महिमाको भूलकर पारस्परिक अन्तर्विवाद-से दुर्बल होने लगे, दूसरी ओर अन्तःसारहीन ब्राह्मणशक्ति द्वारा यथेष्ट सहा-यता न मिलनेके कारण क्षत्रियजातिमे राजसिक शक्तिहीनता और धार्मिक दुर्बलता बढ़ती ही गई। इस प्रकारसे दोनों शक्तियोके विषमगामी होनेके कारण शिल्पकलापरायण शूद्रशक्ति तथा धनरत्नप्रसू वाणिज्यपरायण वैश्यशक्ति-का यथोचित रक्षक कोई न रहा। इस अवसरको देखकर विदेशसे भारत-वासियोंपर मुसलमानोका आक्रमण प्रारम्भ हुआ। महमूद गजनवी, महम्मद गोरी आदि अनेक मुसलमानोंने रत्नप्रसविनी भारतमाताके रत्नभण्डारको खूब लूटा और अन्तमे दुर्बल क्षात्रशक्तिको पराजित करके आर्यजातिपर अपना शासनाधिकार जमा लिया। जिस प्रकार स्वाधीनता सकल सुख तथा सकल उन्नतिका अद्वितीय निदान है, उसी प्रकार पराधीनता आत्महननका अद्वितीय अमोघ अस्त्र है। इसी अमोघ अस्त्रके निरन्तर आघातसे आर्यजाति दिन पर

दिन निर्वीर्य्य, साहसहीन, पराक्रमहीन, प्राणहीन बनने लगी। कलियुगके प्रभावसे तथा धर्मद्वेषी विजातीय अत्याचारके परिणामसे धर्मजीवनमे भी बहुत ही शिथिलता आ गई। लोग अर्थकामप्रिय होकर स्वधर्म छोड़ म्लेच्छसम्बन्ध स्थापनमे भी सङ्कोच नही करने लगे। केवल शिशोदीय, राठौर आदि दो-चार वंशके क्षत्रियोंने स्वधर्मपालन द्वारा आत्मरक्षा तथा इस अवनतिकर प्रवाहसे जातिकी कुछ रक्षा की। इधर इन्द्रियपरायणता, अत्याचार, प्रजापीड़न, परधर्मविद्वेष, परजातिविद्वेष, प्राणिहिंसा आदि अनेक दोषोंसे यवनशक्ति भी दिन पर दिन हीनबल होने लगी और नरपति औरङ्गजेबमें इन दुर्गुणोंकी पराकाष्ठा होनेके कारण उन्हीके राज्यकालसे यवनजातिका पतन प्रारम्भ हो गया। अकबर आदि मुसल्मान सम्राटोंने अपने बुद्धिबल तथा राजनैतिक कौशलसे हिन्दू मुसल्मानके भीतर जो कुछ एकतास्थापन किया था, औरङ्गजेब आदिके परधर्मविद्वेष तथा परजातिविद्वेषके प्रभावसे वह सभी एकता नष्ट हो गई, जिससे हिन्दू-मुसल्मानके भीतर निरन्तर सग्राम द्वारा दोनों जातियां और भी क्रमशः हीनबल होने लग गई। इस प्रकारसे हिन्दुशक्ति तथा मुसलमान-शक्तिका परस्पर सघर्ष और उसके परिणामरूप दोनोंकी शक्तिहीनताको देख-कर पश्चिम देशकी कुछ जातियोने वाणिज्यके ब्याजसे भारतवर्षमे प्रवेशाधिकार लाभ किया। चूँकि उन जातियोंका स्वभाव ही ऐसा है, कि वह वाणिज्य-शक्तिके साथ राजशक्तिको मिलाये रखती है (Flag follows the trade) इसलिये उन्होने हिन्दुजाति तथा मुसल्मान जातिके भीतर वाणिज्यशक्तिके साथ धीरे-धीरे राजशक्तिका भी प्रवेश कराना प्रारम्भ कर दिया, जिसका अन्तिम परिणाम यह हुआ, कि दोनो शक्तियोंकी क्रमदुर्बलताको देख कर पश्चिमीय उन जातियोंमेसे किसी एक राजनैतिक कलाकुशल जातिने भेदनीतिके अवलम्बनसे दोनों जातियोंपर अपना शासनाधिकार जमा लिया। आर्यजातिका गौरव-रवि तो पहिले ही अस्तमित हो चुका था, अब मुसलमान जातिका भी गौरवसूर्य चिर-कालके लिये कालसमुद्रमें निमग्न हो गया।

जिस जातिने हिन्दु-मुसलमान दोनो जातियोपर शासनाधिकार विस्तार किया है, उसकी राजनैतिक चतुरता बहुत ही विचित्र है। उस समुद्रके ऊपरकी लहरें ऐसी मनोमुग्धकर हैं, कि भीतर कितने मकर नक्रादि जल जन्तु है, इसका न पता लगता है और न पता लगानेकी एकाएक इच्छा ही होतीहै,

केवल लहरोंके शुभ दर्शनसे मुग्ध होकर समुद्रमें गोता लगानेकी ही तीव्र इच्छा होती है। हिन्दु-मुसलमान दोनो जातियोंने वर्षों खूब गोता लगाया, लवणाक्त कितना ही जल पेटमें जाकर पेटको विगाडा तथा शरीरको अस्वस्थ कर दिया। फिर भी जवतक वे जलमे गोता खाते रहे, तबतक उन्हें कुछ भी पता न चला। राजनीतिकुशल शासकजातिने शासितजातिको विजातीय शिक्षा द्वारा कुछसे कुछ कर दिया। सबसे पहिले उन्हें यही शिक्षा मिली, कि वह इस देशका नही है, उसका प्राचीन घर भारतवर्ष नही है, वह किसी समय मध्यएशियामे कास्पियनह्रदके पास निवास किया करता था, पीछेसे जब शासकजातिके लोग पश्चिमकी ओर चले गये, तो वह पूर्वकी ओर आकर भारतभूमिमे वस गया। अब वे भी यही आ गये हैं। अतः भारतको अपना घर कहना मिथ्या है। भारतमाता उसकी माता नहीं है। और वह जो अपने पिताको आर्य कहकर दूसरेको अनार्य कहता है, वह भी सिद्धान्त मिथ्या है। क्योंकि दोनोंका ही काकेसियन मुख होनेसे दोनो ही आर्य हैं। उसके पुराने इतिहासमें कोई वीर या उत्तम पुरुष हुए ही नही हैं। उसके राम, कृष्ण आदि असभ्य, चरित्रहीन, बुद्धिहीन लोग थे। उसके पौराणिक भीष्म, अर्जुन, भीम आदिकी कथा उपकथा मात्र है, सत्य वात नही है, क्योंकि भीम, अर्जुन आदि नामके कोई पुरुष हुए ही नही। इत्यादि-इत्यादि शिक्षाके द्वारा आर्यजाति अपने गृह तथा पिता-माता सभीको भूल गयी। किन्तु सब कुछ भूलनेपर भी जवतक जातीय भाव तथा जातीय अभिमान है, तबतक जातिका नाश कोई भी नही कर सकता है। जातीय भावके प्रकट करनेके लिये तीन वस्तु हैं, यथा—जातीय भाषा, जातीय वेश और जातीय धर्म। लौकिकजगत्में देखा जाता है, कि जिसके भीतर जो भाव होता है, उसके मुखसे शब्द भी ऐसे ही निकलते हैं, उसका रूप भी ऐसा ही वन जाता है और धर्म भी वह वैसा ही होता है। भीतर क्रोधका भाव होनेसे शब्द क्रोधके निकलते हैं, रूप क्रोधीकी तरह भीषण वन जाता है और आचरण भी क्रोधी जैसा ही होने लगता है। भीतर प्रेम या भक्तिका भाव होनेसे शब्द प्रेमभक्तिपूर्ण निकलते हैं, मधुररूप प्रेमीभक्तके वन जाते हैं और धर्माचरण भी प्रेमीभक्तका ही होने लगता है, इत्यादि इत्यादि। अतः सिद्ध हुआ, कि शब्द, रूप और धर्मके द्वारा ही भाव प्रकट होता है। इस कारण यदि किसी जातिके भावका नाश करना हो, तो उसकी भाषा, उसका वेश तथा उसके धर्मका नाश करना चाहिये। भाग्य-

चक्रसे आर्यजातिको तीनोंका ही नाश देखना पड़ा है। उसकी भाषा देववाणी मृतभाषा बनाई गई है, उसका जातीय वेश, जातीय खान-पान, जातीय रूप बिगड़कर विजातीय हो चला है और उसका अनादि प्रसिद्ध सनातनधर्म आस्तिकताहीन भौतिक विज्ञान (Godless material science) के भंवरमें पड़कर डूबता ही जा रहा है। अब जब इतना तक हो गया कि आर्यजाति गृहत्यागी, मातृत्यागी, पितृत्यागी, भावत्यागी, भाषात्यागी, वेशत्यागी, धर्म-त्यागी हो गई, तो बाकी छोटी-मोटी बातोंके त्यागनेमें क्या देर लगती है। इसलिये शूद्रोंने कर्णकी तरह वृद्धांगुलि गुरुदक्षिणामें चढ़ाकर शिल्पकलाका परित्याग किया। वैश्योंने वाणिज्यलक्ष्मीको छोड़कर मन-ही-मन सन्तोषव्रत धारण कर लिया। क्षत्रियोंने रक्षाधर्मके पालनका प्रयोजन न देखकर अस्त्र-शस्त्रों-का परित्याग कर दिया और ब्राह्मणोंने ब्रह्मपूजनको छोड़कर अर्थकाम सेवामें ही मन प्राणको सौंप दिया। इस प्रकारसे आर्यजातिको चतुष्पादपूर्ण स्वाराज्यके स्थान पर षोड़शकलासम्पूर्ण पराधीनता ही मिल गई है। इसके अतिरिक्त अपने स्वरूपको भूलकर चिर उदार आर्यजातिने स्वधर्म-विद्वेषी और स्वजाति-विद्वेषी बन अपनी पराधीनता शृङ्खलाको और भी कठिन बना लिया है।

किन्तु अन्तर्यामी विधाताके विधानको कौन रोक सकता है? गत यूरो-पीय महासमरमे पाश्चात्यसभ्यताके कुपरिणामको देखकर आर्य्यजाति तथा समस्त संसार चोंक उठा है ओर आर्य्यजातिको यह मालूम हो गया है कि, पाश्चात्यसभ्यताके ऊपरी चमत्कारमें मुग्ध होकर महर्षिप्रणीत प्राचीन आर्य्य-सभ्यताके प्रति उपेक्षा करना उसकी भूल थी। यूरोपीय महासमरमें मन प्राण शरीर आत्मीयस्वजन सभीके समर्पण करने पर भी—उसके बदले जो कुछ मिला है उससे भी आर्य्यजातिकी आंखे खुल गई हैं। यही सिद्धान्त निश्चय हो गया है कि, संसार स्वार्थपरता, नीचता, कृतघ्नता तथा पशुभावसे भरा हुआ है, यदि कोई जाति अपनी उन्नति करना चाहे तो दूसरी जातिका मुखापेक्षी न होकर स्वावलम्बनकी सहायतासे अपने ही पांवपर खड़ा होनेका पुरुषार्थ करना ही यथार्थतः उन्नतिलाभ करनेका उपाय है। वास्तवमें भिखारीको तरह दूसरेके कृपाकटाक्ष-भिक्षु होनेकी अपेक्षा अपने आत्मबलिदान द्वारा जगन्माताको प्रसन्न करके मातृभूमिसे शक्तिमान् होना ही उन्नतिका मूलमंत्र है। अब राज-नैतिक चक्रकी गति प्रजातन्त्र (Republic) की ओर प्रबलवेगसे हो रही है।

यह भी प्रत्यक्ष देखनेमें आ रहा है कि, एक दो को छोड़कर पृथ्वीके जितने महा-देश हैं वे सभी राजतन्त्रको छोड़कर प्रजातन्त्र प्रथाको ग्रहण कर रहे हैं। ऐसा अकस्मात् क्यों हुआ इसका मूलान्वेषण करनेसे अनेक हेतु देखनेमें आते हैं। उनमेंसे तीन हेतु विशेष प्रबल हैं यथा—पश्चिमी सभ्यता (Western Civilisation) का अवश्यम्भावी परिणाम, (२) राजाओंमे राजशक्तिके अप-लाप द्वारा तपस्यानाश तथा राजोचित गुणावलीका अभाव और (३) प्रजाओंमें धैर्य्य, त्याग तथा सहनशीलता द्वारा तपःसञ्चय, और भगवत्कृपालाभ। नीचे इन तीनोंका क्रमशः वर्णन किया जाता है।

(१) पश्चिमी सभ्यताका अवश्यम्भावी परिणाम—[क] पश्चिमी सभ्यताके भौतिक विज्ञान (Material Science) मूलक होनेसे उसके द्वारा संसारका सामञ्जस्य बिगडता है। संसार यदि एक ओर सौ दो सौ करोड धन-पतियोंके द्वारा और दूसरी ओर दस बीस करोड अतिदरिद्र मजदूरोंके द्वारा पूर्ण होजाय, तो, संसार कभी यथार्थ सभ्यताके शिखर पर चढ़ नहीं सकता। मध्यवित्त लोगोंके द्वारा ही संसारमें सकलप्रकारकी जातीय उन्नति प्राप्त हो सकती है, क्योंकि उनको मजदूरोंकी तरह अन्नचिन्ता भी नहीं रहती और करोड-पतियोंकी तरह धन-मद भी नहीं रहता है। वे दोनों असामञ्जस्यकी आशङ्कासे बचकर व्यक्तिगत तथा जातिगत-जीवनकी यथार्थ उन्नतिके लिये विशेष पुरुषार्थ कर सकते हैं। किन्तु भौतिक विज्ञानका जो मूलतत्त्व है उससे संसारमें मज-दूर दल (Labour Class) और धनीदल (Capitalist) ही बढ़ते हैं, मध्यवित्त-लोग (Middle Class) घट जाते हैं। किसी एक कारखाने या मिल आदिके दृष्टान्तसे इस विचारको मिलाकर देख सकते हैं। एक वस्त्रकी या आटेकी मिल चलनेपर क्या होता है ? जिस धनीकी मिल है, वही करोडपति बनता है, बाकी उसमें काम करनेवाले मजदूर लोग चिरदरिद्र ही रहते हैं। एक मिलमें अनेक वस्त्रादि प्रस्तुत होनेके कारण मध्यवित्त लोगोंके लिये श्रमविभाग (Distribution of Labour) का सिलसिला एकबार ही नष्ट हो जाता है। वे स्वतन्त्ररूपसे शिल्पकलाका अभ्यास या उन्नतिसे वञ्चित होकर केवल नौकरी करनेवाले ही रह जाते हैं। इस प्रकारसे भौतिक विज्ञान द्वारा श्रम सामञ्जस्य तथा अर्थसामञ्जस्य बिगड कर एक ओर तो मध्यवित्त श्रेणी नष्ट हो जाती है और दूसरी ओर मजदूर तथा धनियोंमें संग्राम शुरू हो जाता है। क्योंकि

परिश्रम करें मजदूर, फायदा उठावे आलसी प्रमादी धनी, इससे मजदूरोंका चित्त विगडता है, वे धनियोके प्रति द्वेष तथा ईर्ष्यापरायण होकर संग्राम करने लगते है, जिसका अवश्यम्भावी फल अन्तर्विवाद (Civil war) और एकाकारिता (Bolshevism) है जो आज संसारके सामने प्रत्यक्ष दीख रहा है। आज जो समस्त यूरोपमे मजदूरदल और धनीदलोंमें भीषण संग्राम चल रहा है और बोलशेविज्मका प्रभाव बढ़कर धनियोंके धन लूटे जा रहे हैं, प्रताप घटाये जा रहे है, इसका आदिकारण भौतिकविज्ञानप्रधान पश्चिमी सभ्यता ही है। किन्तु दुःख इस वातका है कि, इस प्रकार अशान्ति तथा जातीय संग्रामको मिटाकर शान्ति स्थापन करनेके लिये पश्चिमी सभ्यताने अभीतक कोई स्थायी उपाय नही सोचा है, उलटा संग्राम, अशान्ति, नरहत्या, जीवहत्या आदिकी पुष्टिके लिये मेशिनगन, जेप्लिन, हवाई जहाज, पनडुब्बी आदि नाशके ही सामान (Engines of destruction) तैयार किये है। इसका अन्तिम परिणाम यही होगा कि छोटे वड़ेको नही मानेंगे, प्रजा राजाको नही मानेगी, राजा-प्रजामें भीषण संग्राम छिड़ जायगा और अन्तमें राजतन्त्रके वदले प्रजातन्त्र राज्य चल जायगा और इसके परिणाममे एकाकार वोलशेविज्म फैल जानेकी आशङ्का हो जायगी। इन्ही वातों पर विचार करके पूज्यपाद दूरदर्शी महर्षिगण भौतिक विज्ञानको ही जातीय उन्नतिका एकमात्र निदान नही समझते थे और मिल आदिकी सहायतासे वाणिज्यश्रीको न वढाकर गृहशिल्प (Home Industries) की सहायतासे उसे पुष्ट करके श्रमसामञ्जस्य (Balance of labour) मध्यवित्त श्रेणीकी उन्नति तथा अर्थसामञ्जस्य विधान करते थे। अतः विचार द्वारा यही सिद्धान्त निश्चित हुआ कि पश्चिमी सभ्यताका कुपरिणाम ही राजतन्त्र नाशका एक कारण है।

[ख] पश्चिमी सभ्यता आस्तिक्यहीन भौतिकविज्ञान (Godless Material Science) मूलक होनेसे इसकी जितनी वृद्धि होती है, मनुष्यहृदयसे आस्तिकता, ईश्वरभक्ति, देवताओं पर भक्ति, सूक्ष्म जगत् पर विश्वास तथा स्थूलजगत्को ही सब कुछ न समझनेकी बुद्धि उतनी ही नष्ट हो जाती है, जिसका फल यह होता है कि, ईश्वर तथा देवताओंकी विभूतियोंपरसे भी प्रजाकी श्रद्धा भक्ति उठ जाती है। स्वधर्मसेवी यथार्थ राजामें ईश्वर तथा देवताओंकी विभूति है।

"अष्टानां लोकपालानां मात्राभिर्निर्म्मितो नृपः।"

यह आर्यशास्त्रका सिद्धान्त ही है। इसलिये राजभक्ति ईश्वरभक्तिमूलक है। ईश्वरभक्ति जितनी नष्ट होगी, राजभक्ति भी उतनी ही नष्ट होगी। अतः ईश्वरभक्तिहीन भौतिक विज्ञानके प्रभावसे संसारमेंसे राजभक्ति अवश्य ही उठ जायगी और राजतन्त्रके बदले प्रजातन्त्र प्रथा चल जायगी यह निश्चय है। इस प्रकारसे पश्चिमी सभ्यता ही राजतन्त्रका नाश करके प्रजातन्त्र राज्य स्थापनका मूल कारण हो रहा है।

[ग] पश्चिमी सभ्यता अर्थकामके ऊपर प्रतिष्ठित है, इसमे धर्ममोक्षका नाम मात्र नही है, धर्महीन अर्थकाम किस प्रकारसे वासनाको बढ़ाकर मनुष्यको उन्मत्त कर देता है, इसका वृत्तान्त पहले ही कह चुके हैं। इस कारण यह बात निश्चय है कि, जिस जातिमें धर्महीन अर्थकामकी वृद्धि होगी उसमे वासनाका अन्त न रहेगा, मनुष्य वासनाको बढ़ाता हुआ चक्रवर्ती राजाकी पदवी तक पानेको ललचायेंगे, जिसका फल यह होगा कि राजाकी राजसम्पत्तिको देख ईर्ष्या द्वेषसे जल मरेंगे और राजाको बड़ा न मान कर स्वय राजा बननेकी इच्छा करेंगे और इससे यह भी परिणाम निकलेगा कि, सावधान न होनेपर प्रजाओंमे दिन पर दिन निरङ्कुश स्वाधीनताप्रवृत्ति बलवती हो जायगी। अतः देखा गया कि धर्ममोक्षहीन पश्चिमी सभ्यताके परिणामसे राजतन्त्रकी प्रधानता नष्ट होकर प्रजातन्त्रप्रथा अवश्य ही हो जायगी।

(२) राजाओंमे राजशक्तिके अपलाप द्वारा तपोनाश—जगन्नियन्ता श्रीभगवान्‌का नियम ही यह है कि, इस संसारमे अनावश्यक कोई भी पदार्थ रहने नही पाता। प्रकृतिमाता अनावश्यक वस्तुको शीघ्र ही प्रलयके गर्भमे डुबा देती है। इस नियमके अनुसार मनुष्योंमें भी यदि भगवान्‌के द्वारा प्राप्त किसी वस्तुका उपयोग न हो या दुरुपयोग हो तो वह वस्तु पानेवालेके पास बहुत दिनों तक नही रहेगी या आगे जन्ममे वह उससे शून्य होकर उत्पन्न होगी। दृष्टान्त रूपसे समझ सकते है कि, इस जन्ममे धन पाकर जो अच्छे कार्यमें उसका उपयोग नही करेगा या पापकार्यमे उसका दुरुपयोग करेगा वह तीव्र पापसे इसी जन्ममें या साधारणतः आगामी जन्ममें निर्धनताको प्राप्त हो जायगा। चक्षुको पाकर उसका अपव्यवहार करनेवाला नेत्रशक्तिसे हीन होकर उत्पन्न होगा। बुद्धि पाकर उसका दुरुपयोग करनेवाला निर्बुद्धि होकर

जन्मेगा। यह सब क्रिया प्रतिक्रियामय प्राकृतिक नियम है। पूर्वजन्मकी सकाम तपस्याके फलसे मनुष्यको राज्य मिलता है। तपस्याके प्रभावसे अपूर्व उत्पन्न होनेके कारण राजाके शरीरमे सूर्य, चन्द्र, वरुण, यमादि आठ देवताओंकी विभूति प्रकट हुआ करती है। किन्तु, यदि राजा इन देव-विभूतियोका उपयोग न करे या दुरुपयोग करे, यथा—सूर्यका अंश पाकर भी प्रजाओंमें प्रकाश विस्तार न करके अज्ञान या अन्धकारका ही विस्तार करे; चन्द्रका अंश पाकर भी प्रजाको निजगुणसे आनन्द न देकर निज स्वार्थसिद्धिके लिये दुःख ही देवे, वरुणका अंश पाकर भी धन दानद्वारा प्रजाको पुष्ट न करके दुर्भिक्षके कराल ग्रासमे पातित करे और प्रजा शोषणसे धनोपार्जन द्वारा अपने ही ऐश्वर्य, सुख, गौरवकी वृद्धि करे अथवा राज्यमें व्ययाधिक्यनीति चलाकर राज्यको दुर्बल तथा प्रजाको दारिद्र्य दुःखसे पीड़ित करे, यमराजका अंश पाकर भी न्यायानुसार विचार न करके अन्याय तथा पक्षपातके साथ विचार करे तो इस प्रकार देवांशके दुरुपयोगके फलसे राजामेंसे दैवविभूतियां नष्ट हो जायँगी और उनमें राक्षसका अंश प्रकट होकर भीषण प्रजापीड़नका कारण हो जायगा जैसा कि शुक्रनीतिमें—

> यो हि धर्मपरो राजा देवांशोऽन्यश्च रक्षसाम्।
> अंशभूतो धर्मलोपी प्रजापीड़ाकरो भवेत्॥

धर्मानुसार प्रजापालक राजामे देवांश प्रकट होता है, अन्यथा राक्षसांश प्रकट होकर राजाको प्रजापीड़क बनाता है और इसी प्रजापीड़नरूपी पापसे राजाकी क्या दुर्गति होती है सो भी महर्षि याज्ञवल्क्यने बताया है, यथा—

> प्रजापीड़नसन्तापात् समुद्‌भूतो हुताशनः।
> राज्यं कुलं श्रियं प्राणान् नाऽदग्ध्वा विनिवर्तते॥

प्रजापीड़नजन्य सन्तापसे उत्पन्न अग्नि राजाके राज्य, यश, सम्पत्ति और प्राणके जलाये विना निवृत्त नही होती है। इतिहासकी पर्यालोचना करनेसे ऐसा ही मालूम होता है। नहुष इन्द्र बनकर भी प्रजापीड़न पापसे ही गिर गया था। वेण, दुर्योधन, कंस आदिका नाश भी इसी प्रकारसे हुआ था। वर्त्तमान समयमें भी समस्त जगत्‌के राजाओंमे दैवविभूतियौका विरल ही विकाश देखनेमें आ रहा है। उलटा आसुर या राक्षस विभूतिके

विकाश द्वारा प्रजापीड़न तथा तज्जन्य पापसे राजाओंका तपःक्षय हो रहा है। यह पूर्वजन्मकी तपस्या जब तक थोड़ी बहुत बाकी है तबतक तो उनका राज्य चलेगा, उसके बाद सम्पूर्ण तपस्याके नाश होते ही वे सब नष्ट हो जायेंगे और संसारमें राजतन्त्रके बदले प्रजातन्त्र राज्य हो जायगा, यही वर्त्तमान समयमे राजनैतिक जगत्‌के अदृष्टचक्रका परिवर्त्तन दृष्टिगोचर हो रहा है।

(३) प्रजाओंमें धैर्य्य, त्याग तथा सहनशीलता द्वारा तपःसञ्चय और भगवत्कृपा लाभ—एक ओर तो राजागण पापाचरण, प्रजापीड़न, दुर्व्यसन आदिके द्वारा पूर्वतपस्याको खोकर शक्तिहीन हो रहे हैं और दूसरी ओर प्रजा त्यागी नेताओंकी वशवर्त्तिनी होकर धैर्य्यके साथ अन्यायी राजाके अत्याचारोंको सहन करती जाती है और धैर्य्य, त्याग, सहिष्णुता आदि सद्गुणोंके प्रभावसे विशेष तपःसञ्चय तथा दैवकृपालाभ कर रही है। इसका फल क्या होगा सो अनायास ही मालूम हो सकता है। राजाकी ओरसे भगवत्कृपा हट जायगी और प्रजाके ऊपर करुणानिधान भगवान्‌की कृपादृष्टिकी वृष्टि होगी। संसारमे सहनशीलता, त्याग और आत्मबलिदानके द्वारा ही निखिल शक्ति प्राप्त होती है। वसुदेव देवकी यदि कसके अत्याचारको सहन न करते तो श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र उनके पुत्र बन, संसारमे प्रकट होकर उनका दुःखनाश व कसविनाश न करते। द्रौपदीके वस्त्रहरणके समय यदि पाण्डवगण धैर्य्य और धर्मको न रखते, तो श्रीभगवान्‌की कृपा तथा कुरुक्षेत्र युद्धमें उनको जयश्री नही प्राप्त होती। महात्मा ईसामसी यदि यहूदियोंके मरणान्त अत्याचारको सहन न करते, तो ईसाई धर्म आज समस्त ससारमे इतना विस्तृत न हो जाता। अतः सहिष्णुतासे तपोलाभ और उससे दैवकृपा, भगवत्कृपालाभ तथा अन्तमें तपस्याके फलसे राज्यलाभ विधाताका अवश्यम्भावी विधान है। इन्ही तीन विशेष कारणोसे राजनैतिक जगच्चक्रकी गति कलियुगके इस अशमे प्रजातन्त्रकी ओर चल रही है यही विचार तथा अनुभवसिद्ध सत्य जान पड़ता है।

जिस प्रकार प्रजातन्त्रकी ओर गति आजकल समस्त जगत्‌में हो रही है, यद्यपि प्राचीन हिन्दु-राज्यके समय ऐसी प्रजातन्त्रप्रथा नही थी, तथापि राज्यशासनमे प्रजामत और बहुमतका बड़ा ही सम्मान था और प्रकारान्तरसे प्रजातन्त्र ही था। इसके उदाहरणके लिये बहुत दूर तक ढूंढ़ना नही पड़ेगा। आदर्श-क्षत्रिय नरपति- रामचन्द्रके राज्यतन्त्र पर विचार करनेसे ही सिद्धान्त

निर्णय हो जायगा। श्रीरामचन्द्रके राज्याभिषेकके समय दशरथने प्रजाओंके भिन्न भिन्न पञ्चोंकी सम्मति लेकर तब गुरु वशिष्ठसे अभिषेक कार्य कराया था, ऐसा रामायणमें लिखा है। श्रीरामचन्द्र अपने राज्यकालमें प्रजामतको कितना मानते थे सो रामायणके पत्र-पत्रमे स्पष्ट है। यह उनके प्रजामतके माननेका ही पूर्ण निदर्शन था कि—बहुवार परीक्षा द्वारा ससारके सम्मुख सम्पूर्ण निर्दोषा प्रमाणित होनेपर भी—परमसती सीताका केवल प्रजा-सन्तोषके लिये ही उन्होंने वनवास कराया था। प्रजामत माननेका एतादृश दृष्टान्त जगत्के इतिहासमें अतीव दुर्लभ है। प्राचीन आर्यमतानुसार क्षत्रिय वर्णमेंसे ही नरपति हो सकते थे, अन्य वर्णमेंसे राजा नही हो सकते थे। इसका हेतु यह है कि, सत्त्वगुणमें क्रियाशक्तिका अभाव होनेसे सत्त्वगुणप्रधान ब्राह्मण वर्णमेंसे राजा नही हो सकते। तमोगुणमें प्रमाद अधिक होनेसे तमोगुणप्रधान शूद्रवर्णमेंसे भी राजा नहीं हो सकते। वैश्यवर्णमें क्रियाशक्तिमूलक रजोगुण होनेपर भी उसकी प्रवृत्ति तमोगुणकी ओर है इस कारण वैश्य वर्णमेंसे भी राजा नही हो सकते। केवल सत्त्वगुणकी ओर झुकते हुए रजोगुणसे युक्त क्षत्रिय वर्णमेंसे ही आर्यशास्त्रानुसार राजा हो सकते हैं। उनमें रजोगुणके कारण क्रियाशक्ति, युद्धशक्ति आदिका प्राचुर्य रहेगा और सत्त्वगुणके कारण धर्मभावका आधिक्य होनेसे धर्मानुसार प्रजापालन तथा राजकर्म सञ्चालन हो सकेगा। इसी प्रकारसे राजतन्त्रप्रणाली सञ्चालनका भार प्राचीनकालमें क्षत्रिय जातिपर था। किन्तु कोई भी तन्त्र स्वतन्त्र या निरंकुश नही था, दोनों ही तन्त्र धर्मतन्त्रके द्वारा नियमित था, जिससे राजतन्त्रकी स्वेच्छाचारिता तथा प्रजातन्त्रकी निरंकुशता किसीकी भी सम्भावना न थी और उस धर्मतन्त्रकी व्यवस्थाका भार सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी त्यागी प्रजा दूरदर्शी महर्षियों पर था। निर्लोभ अरण्यवासी, तपस्वी महर्षिगण समस्त प्रजाके प्रतिनिधिरूप होकर ज्ञानदृष्टि तथा धर्मशास्त्रके सिद्धान्तानुसार राज्यशासनकी प्रक्रिया क्षत्रिय नरपतिको बताया करते थे और इसी प्रकारसे धर्ममन्त्रके अधीन होकर नरपति प्रजामतके अनुसार राज्य चलाया करते थे। जहांपर कभी किसी राज्यके द्वारा धर्मतन्त्रकी अवमानना अथवा अवहेलना होती थी, प्रजामतके प्रतिनिधि महर्षिगण उसी समय निरंकुश राजाको सावधान कर दिया करते थे। धर्मतन्त्रके पूर्णनाशकी आशङ्का देखने पर अन्यायी अधार्म्मिक राजाको गद्दीसे उतारकर योग्य धार्मिक क्षत्रिय वीरको राजसिंहासनपर अभिषिक्त करते थे। यही प्राचीन प्रथानुसार धर्मतन्त्र द्वारा

राजतन्त्र और प्रजातन्त्रका सामञ्जस्य तथा क्षत्रिय नरपतिकी धर्मानुकूल राज्य-शासन व्यवस्था है। यह हम पहिले ही कह चुके हैं कि, प्राचीन कालमें राज-तन्त्र-प्रथा प्रचलित रहनेपर भी वह वस्तुतः एक प्रकारसे प्रजातन्त्र ही था, जिसके निम्नलिखित लक्षणपर विचार किये जा सकते हैं।

(क) उस समय ग्राम-ग्राम नगर-नगरमें स्वतन्त्र स्वतन्त्र पञ्चायतें थी। जिसका प्रमाण मध्ययुगके इतिहाससे भूरि भूरि मिल सकता है। (ख) धर्म परिषद्की व्यवस्थाकी दृढ़ आज्ञा स्मृतिशास्त्रमें है जिसके अनुसार उस राजकीय सभाके सभासद् प्रजाओंमेंसे चुने जाते थे। (ग) राजधर्म तथा प्रजाशासनप्रणालीके निर्णयमें राजागण निरङ्कुश होने ही नही पाते थे, क्योंकि अरण्यवासी ज्ञानी तपस्वी ब्राह्मणोंके द्वारा वे सब नियम बनाये जाते थे। ब्राह्मणगण निःस्वार्थव्रतधारी तथा तपोधन होनेके कारण और विशेषतः उनमें अन्तर्दृष्टि रहनेसे उनके सिद्धान्त दोषरहित, सर्वजीवहितकारी और दूरदर्शितासे पूर्ण होते थे। अतः उस समय नवीन प्रजातन्त्रप्रणाली न रहने पर भी वस्तुतः वह प्रजातन्त्र ही थी, केवल उसमें विलक्षणता यह थी कि, उस प्रणालीमें राजा प्रजा दोनों ही निरङ्कुश नही होने पाते थे। प्रजा राजाकी सन्तति समझी जाती थी और राजा अपनेको भगवानकी ओरसे राजसम्पत्तिके रक्षक तथा आश्रयदाता समझते थे।

कालके प्रभावसे अब इस प्रकार सर्वहितकर राजप्रणाली नष्टप्राय हो गई है। न ऐसे धर्मपरायण वीर क्षत्रिय नरपति ही रहे और न उस प्रकार धर्म-तन्त्रकी सम्भावना ही रही। अब तो सर्वत्र अर्थकामका दोर्दण्डप्रताप, स्वार्थ-परता, प्रजापीड़न, प्रजाका धनरत्नलुंठन, अविचार, अनाचार ही देखनेमे आ रहा है। आर्यजाति स्वधर्मविद्वेषवह्निसे दग्ध होकर जब भारतसाम्राज्यको खो बैठी थी तब श्रीभगवान्ने आर्यजातिको स्वधर्मप्रेमशिक्षामे सहायता देनेके लिये स्वधर्मप्रेमी मुसलमानजाति पर भारतसाम्राज्यका शासनभार सौंपा था। किन्तु कुछ वर्ष राज्य करनेके बाद औरङ्गजेबप्रमुख यवननरपतियोंने आर्यजाति-का स्वधर्मप्रेम न रखकर जब आर्यधर्मके मूलमें ही कुठाराघात करना प्रारम्भ कर दिया तो भगवद्इच्छाके विरुद्ध होनेसे भारतवर्षमेंसे मुसलमान राज्यका नाश हो गया। तदनन्तर आर्यजातिमें स्वजातिविद्वेषवह्निको प्रबल देखकर श्रीभगवान्ने आर्यजातिको स्वजातिप्रेमशिक्षामें सहायता देनेके लिये स्वजाति

प्रेमी अँगरेजजाति पर भारतका शासनभार सौंपा था। किन्तु दुर्भाग्यवश भारतवासीको स्वजातिप्रेमकी शिक्षा नहीं मिली, उलटा हिन्दुजातिमें भ्रातृविद्वेष, अनैक्य, स्वजातिविद्वेषका बीज बोना प्रारम्भ हो गया है। अतः जिस उद्देश्यसे श्रीभगवान्ने उनको यहां पर भेजा था वह पूर्ण न हो सका। इधर ऊपर कथित तीनों कारणोंसे धर्मतन्त्रका नाश, तपस्याका नाश तथा सहनशील प्रजाओंमें दिन दिन तपोवृद्धि हो रही है। अतः कालचक्रकी गति पर अनुसन्धान कर देखनेसे यही अनुभवमें आता है कि, अब कलियुगके आगामी कुछ वर्षों तक संसारमें प्रजातन्त्रका ही ज़ोर रहेगा और इस प्रकारसे नानाजाति तथा राज्यका उत्थान पतन होते होते कलियुगके अन्तकालमें वही होगा जैसा कि श्रीभगवान् वेदव्यासने श्रीमद्भागवतके १२ स्कन्धमें कहा है—

देवापिः शन्तनोर्भ्राता मरुस्त्विक्ष्वाकुवंशजः।
कलापग्राम आसाते महायोगबलान्वितौ॥
ताविहेत्य कलेरन्ते वासुदेवानुशिक्षितौ।
वर्णाश्रमयुतान् धर्मान् पूर्ववत् प्रथयिष्यतः॥

सूर्यवंशीय मरुराजा और चन्द्रवंशीय देवापि राजा अतीन्द्रिय योगशरीरमें कलापग्राममें निवास करते हुए अभीसे योग तथा तपस्या कर रहे हैं। कलियुगके अन्तमें जब श्रीभगवान् कल्किरूपमें ब्राह्मणवंशमें अवतार धारण करेंगे और पापी म्लेच्छोंका नाश करके धर्मतन्त्रकी व्यवस्था करेंगे उस समय देवापि और मरु—कल्किभगवान्की आज्ञानुसार आर्यजातिके अधिपति होकर भारतवर्षका शासनभार अपने हाथमें लेंगे और उसी समयसे पुनः वर्णाश्रमानुकूल धर्मानुकूल राजतन्त्रकी प्रतिष्ठा होगी। अतः हिन्दुजातिको वर्तमान राजनैतिक जगच्चक्रकी गतिके अनुसार आत्मरक्षा तथा चतुष्पादपूर्ण स्वाराज्यलाभके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये और श्रीभगवान् वेदव्यास कथित भावी शुभ समयकी शुभ उदय आकाङ्क्षासे आर्यशास्त्रसम्मत पवित्र वर्णाश्रम धर्मकी बीजरक्षा करनी चाहिये—यही दूरदर्शी मुनिगणका अकाट्य सिद्धान्त है।

आचारमें वैज्ञानिक चमत्कार।

'आधुनिक विज्ञान और सनातनधर्म' नामक प्रवन्धमे अध्यात्मविद्या और सायन्सके परस्पर भेद तथा प्रतिपाद्य विषय वतानेके प्रसङ्गमें यह कहा गया है कि अध्यात्मविद्या प्राकृतिक नियमोंके आदि निदान (why) को वताती है किन्तु सायन्स केवल प्राकृतिक नियम कैसे (how) कार्य करते हैं इतने ही भरको वताया करती है। पश्चिमी विद्वान् स्टैनूले रेडग्रोभ (H Stanley Redgrove) साहवने इस विषयमें स्पष्ट कहा है—"The business of Science is the generalisation of Phenomena, it is the function of philosophy to explain. Stated otherwise, the Scientist endeavours to answer ' How, ' the philosopher to answer 'why ' We must beware of the error of saying that such and such an event happens because of certain laws of nature. The laws of nature provide in themselves no real explanation of phenomena. It is simply a statement in terms as general as possible of what happens under given circumstances in the expression of an observed order or uniformity in natural phenomena Science is concerned only with phenomena as phenomena It shows us a marvellous harmony in nature. But it is a problem for philosophy to solve the 'why' of nature's harmony "

(The Purpose of philosophy—Kalpaka).

किसी प्राकृतिक व्यापारकी नियमित शृङ्खलाको वता देना सायन्सके अधिकारका काम है। किन्तु उसके निदानको ढूंढ निकालना दर्शनशास्त्र या अध्यात्मविद्याका काम है। दूसरे शब्दमें—'कैसे' का उत्तर देना सायन्सका और 'क्यो' का उत्तर देना दर्शनशास्त्रका काम है। हमें भूलसे ऐसा नही कहना चाहिये कि 'प्राकृतिक इन नियमोंके कारण ऐसी घटना होती है'। क्योंकि प्राकृतिक नियम किसी प्राकृतिक व्यापारके निदानको नही वता सकता है। उसके द्वारा केवल प्राकृतिक घटनाए कैसे घटा करती है उनके सिलसिलेवार

प्रकार ही प्रकाशित किये जाते हैं । किसी प्राकृतिक व्यापारको व्यापारके रूपमें दिखाना और प्रकृतिराज्यमें उसके सुन्दर सामञ्जस्यको प्रकट कर देना सायन्स-का काम है । किन्तु उस सामञ्जस्यके आदिकारणको अन्वेषण कर प्रकट कर देना दर्शनशास्त्र या अध्यात्मविद्याका काम है। इस प्रकारसे पश्चिम देशके विज्ञान-वित् पण्डितोंने भी—आधुनिक विज्ञान और अध्यात्मविद्याका पार्थक्यनिरूपण करना प्रारम्भ कर दिया है, जिससे इस देशके अध्यात्मशास्त्रका चमत्कार संसार-के सामने और भी उज्वल हो उठेगा इसमें सन्देह नहीं है।

वर्त्तमान प्रबन्धका विषय हिन्दु सदाचार है । धर्मानुकूल शारीरिक व्यापारको 'आचार' कहते है । प्रातःकालसे लेकर रात्रिको सोनेके समय तक किस किस प्रकार शारीरिक चेष्टाओंके करनेसे शरीरकी यथार्थ उन्नति और उसके द्वारा मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है, इन्हींका नाम सदाचार है । क्योंकि शरीररक्षाके लिये इसकी विशेष आवश्यकता है 'शरीर-माद्यं खलु धर्मसाधनम्' प्रथम धर्मसाधन शरीरकी रक्षा ही है, इसी कारण स्मृतिशास्त्रमें आचारको प्रथम धर्म कहा गया है, यथा मनु—

आचारः प्रथमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥

श्रुति स्मृतिमें कथित आचार प्रथम धर्म है । अतः द्विजगणको आचार पालन करते हुए शरीररक्षा तथा आत्माकी उन्नति करनी चाहिये । इसके करने-से क्या होता है और न करनेसे क्या होता है इस विषयमें पूर्व पश्चिम दोनों देशके विद्वानोंने नवीन नवीन बहुत कुछ आविष्कार किये हैं।

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम् ।
आचाराल्लभते कीर्त्तिं पुरुषः प्रेत्य चेह च ॥

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् भवेत् ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ (मनु)

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति ॥ (मनु)

सदाचारके पालनसे आयु तथा श्रीकी वृद्धि और इहलोक परलोकमें मनुष्यको यशोलाभ होता है। और कोई विशेष लक्षण न रहने पर भी केवल आचार और शास्त्रमें श्रद्धाके बलसे मनुष्य सौ वर्ष तक जीवित रह सकता है। आत्मोन्नतिकर शास्त्रके नियमित न पढ़नेसे, आचारहीन होनेसे, आलसी होनेसे और खराब अन्नके खानेसे मनुष्य अल्पायु हो जाता है। ठीक इसी सिद्धान्तका अनुभव करके जे. मिलट सेवर्न (J. Millott Severn) साहबने लिखा है—

That one may attain to the age of one hundred years or more is no visionary statement. According to physiological and natural laws the duration of human life should be at least five times the period necessary to reach full growth This is a prevailing law which is fully exemplified in the brute creation The horse grows five years and lives to about twenty five or thirty, the dog two and a half and lives to about twelve or fourteen, the camel grows eight years and lives forty qc. Man grows to about twenty or twenty-five years; hence if accidents could be excluded, his normal duration of life should not be less than one hundred.

A study of the skeleton shows that man is capable of increase of stature upto about the age of twenty-five years At this period the last of the growing areas of the long bones becomes calcified and further growth in a longitudinal direction ceases.

The secrets of longevity may be based chiefly upon discretion in the choice of food and drink, temperance, sobriety, chastity and a hopeful optimistic outlook on life. Neither gluttons, drunkards, the idle, dissipated or lazy can reasonably hope to attain old age. The quakers, who are

very temperate in their habits and in the exercise of control over emotional feelings, are generally a long-lived people. The French, whose social habits, appetites and passions are less restrained, are not so long-lived

There are many maxims helpful to the attainment of old age Be hopeful, active, useful, moderate in all things Avoid all excesses, passion and undue contention. Keep both mind and body reasonably employed. Cultivate tranquility of mind and self-control We must be useful if we would be healthful. Nature, like the industrious bees, refuses to tolerate drones.

(Live to be hundred, Kalpaka)

मनुष्य सौ वर्ष या उससे भी अधिक उमर पा सकता है ऐसा कहना कोई काल्पनिक वर्णन नहीं है। शरीरविज्ञान या प्राकृतिक नियमानुसार मनुष्यके अवयवकी पूर्णता जितने वर्षोंमें होती है उसकी कमसे कम पांचगुनी आयु मनुष्योंकी होनी चाहिये। पशुजगत्‌के दृष्टान्तसे भी यह सिद्धान्त सत्य प्रमाणित होता है। घोड़ा ५ वर्षमे पूर्णावयव होजाता है, इसलिये उसकी आयु भी २५।३० वर्षकी होती है। कुत्ता अढ़ाई वर्षमें होता है, इसलिये १२।१४ वर्ष तक जीवित रहता है। ऊंट आठ वर्षमें पूरा चढ़ता है इसलिये आयु भी ४० वर्षकी पाता है। मनुष्यकी वृद्धिकी उमर २०।२५ वर्ष तक है, अतः यदि कोई दैव कारण न हो, तो उसे भी सौ वर्षसे कम आयु नहीं पानी चाहिये। मनुष्यकङ्कालकी परीक्षा करके देखा गया है कि मनुष्यावयवकी वृद्धि प्रायः २५ वर्ष तक होती है। इस समय हड्डियोंका बढ़ना रुक जाता है और उसका परिणाम मज्जाके रूपको धारण कर लेता है।

दीर्घायुलाभके लिये प्रधानतः इन विषयों पर ध्यान रखना होता है, यथा—खाने तथा पीनेकी वस्तु विचारके साथ ठीक करनी चाहिये। मिताहार, संयम, सच्चरित्रता, शान्तमन और शान्तियुक्त जीवन होना चाहिये। अतिभोजी, मद्यपायी, आलस्यपरायण, अपनी प्राणशक्तिके क्षय करनेवाले दीर्घायुको नहीं पा सकते

है। कैकार नामक धर्ममतवाले जिनके अभ्यास बहुत ही नियमित और मनोवृत्ति सयत है, प्रायः विशेष दीर्घजीवी होते है। फ्रान्सदेशनिवासिगण इन विषयोंमे कम संयत होनेके कारण प्रायः अल्पायुः होते है।

दीर्घायुलाभके लिये अनेक नियम सूत्ररूपसे बताये जा सकते हैं, यथा– जीवन आशामय, कर्मठ, समाजके लिये हितकारी और सभी विषयोंमे 'अति' से वर्जित होना चाहिये। अति मानसिक वेग, अति विद्रोह तथा सभी विषयोंमें अतिको त्याग देना चाहिये। शरीर और मन दोनोको अच्छे कार्यमे लगाये रखना चाहिये। मानसिक शान्ति और आत्मसयमका अभ्यास बढ़ाते रहना चाहिये। यदि हम स्वास्थ्यको चाहते है तो हमारा शरीर मन जिससे समाजके कामका उपयोगी हो ऐसा हमे करना चाहिये। प्रकृतिमाता श्रमजीवी मधुमक्खीकी तरह आलस्यपरायण पुरुषोको पसन्द नही करती है। इन वर्णनोंसे स्पष्ट होजाता है कि सदाचारके फलाफलके विषयमे पूर्व, पश्चिम दोनों देशोके विद्वानोंका अभिन्न मत है।

आचारके अन्तर्गत समस्त शारीरिक व्यापार प्रकृतिके नियमोके पूर्ण अनुकूल है, क्योंकि प्रकृतिके नियमानुकूल चलने पर ही स्वास्थ्यकी रक्षा तथा मानसिक उन्नति होती है। प्रकृतिके नियमोंको (Laws of nature) सामञ्जस्यके साथ प्रकट कर देना सायन्सका काम है। अतः समस्त आचारके मूलमें वैज्ञानिक चमत्कार है। इसीका दिग्दर्शन प्रकृत प्रबन्ध मे कराया जायगा।

अब द्विजमात्रके सेवनीय कुछ दैनन्दिन सदाचारोंका वर्णन किया जाता है। सदाचारोंमें प्रथम कृत्य ब्राह्ममुहूर्त्तमें शय्या-त्याग है। ब्राह्ममुहूर्त्तके विषयमे शास्त्रमे निम्नलिखित वर्णन मिलते हैं—

ढाई घड़ीका एक घण्टा होता है। रात्रिके अन्तकी चार घड़ियोंमेंसे पहली दो घड़ियोंको ब्राह्ममुहूर्त्त और पिछली दो घडियोंको रौद्रमुहूर्त कहते हैं। इसी ब्राह्ममुहूर्तमें शय्या त्याग देनी चाहिये। आर्य्यशास्त्रोंमे ब्राह्ममुहूर्तमे शय्या त्याग करनेकी बड़ी प्रशसा लिखी है। इसका कारण यह है कि, ब्राह्ममुहूर्तमे श्रीसूर्य्यभगवान् समस्त रात्रिके पश्चात् अपनी ज्योति और शक्तिका विस्तार करते हैं, अतः उसी समय जागनेपर श्रीसूर्य्यभगवान्‌की शक्तिसे अपनी क्षुद्रशक्ति बहुत बढ़ जाती है और उनकी ज्योतिके प्रभावसे मन और

बुद्धि आलोकित होती है, तथा मन, बुद्धि और शरीरमें रात्रिके प्रभावसे जो कुछ जड़ता आगई थी, सूर्य्यकी शक्ति और ज्योतिके प्रभावसे वह हटकर नव-जीवन को प्राप्त होता है। ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेको उपदेश करनेमे महर्षियोंका यही अभिप्राय है। प्राणके देवता श्रीसूर्य्यभगवान् हैं। ब्राह्ममुहूर्तमें उनके महाप्राणके साथ अपने प्राणोको मिलाकर मन-ही-मन उनको प्रणाम करते हुए 'ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी' आदि स्तोत्र पाठ करना चाहिये। इन स्तोत्रोंसे सभी कार्य भगवत्कार्य हो जाता है। सूर्यकी इस असीम शक्तिके तथा इस शक्तिसे लाभ उठानेके विषयमे पश्चिमी विद्वानोंने भी बहुत कुछ कहा है। यथा—

Tyndall teaches that every mechanical action on the face of the earth, every manifestation of power, organic or inorganic, vital and physical, is produced by the sun which is the reservoir of the electrical, magnetic and vital forces required by our system, which are taken in by all men, animals, vegetables, minerals and by them translated into various life-forces.

(Artie Mae Blackburn—Kalpaka)

Get as much sunshine as possible into yourself. Sunshine contains vitality. Admit lots of sunshine into your house.

(Capt. Walter Carey—Kalpaka)

टिन्डयाल साहब कहते है कि संसारमें समस्त क्रिया तथा समस्त शक्तिकी उत्पत्ति करनेवाला सूर्य ही है। विद्युत्शक्ति, चुम्बकशक्ति और प्राणशक्ति सभीकी खान सूर्य है। मनुष्य, नीचेके सब जीव और धातु तक सभी इसी शक्तिको लेते हैं और यथाक्रम अपने शरीरोंमें भिन्न भिन्न प्राणशक्तिरूपसे प्रेरित करते रहते हैं।

जितना सम्भव होसके सूर्यकिरणको अपने भीतर ले लेना चाहिये। सूर्य-किरणमें प्राणशक्ति है। अपने घरमें भी उसका सञ्चार कराना चाहिये।

ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेसे और भी कई एक लाभ हैं । सारी रात चन्द्र और नक्षत्रोंके किरणोंके साथ जो अमृत बरसता रहता है, उषाकालमें उसीको लेकर वायु प्रवाहित होता है । इस अमृत भरे वायुको 'वीरवायु' कहते है । वीरवायु शरीरमें लगनेसे शरीरके बलकी वृद्धि होती है, मुखकी कान्ति बढती है, बुद्धि सतेज होती है, मन प्रफुल्ल और शरीर नीरोग होता है । हमारे सांसारिक पिताको छोड़कर पितृलोकमें अनेक प्रकारके पितृगण होते हैं । प्रातःकालमें पितृगण प्रसन्न होते और उनके बलकी वृद्धि होती है । यही बल वे संसारमें प्रचारित करते है। इस कारण ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेपर पितृगणका बल प्राप्त होता है, जिससे स्वास्थ्य सुरक्षित रहता है और शक्ति बढ़ती है । यही सब शीघ्र शय्यात्यागकी महिमा है।

शय्यात्याग करनेके बाद मुख धोकर मलमूत्र त्यागके लिये जाना चाहिये । प्रातःकालमें ही मलमूत्र त्याग करनेसे शरीर अधिक नीरोग रह सकता है । जीवशरीरका यह स्वभाव है कि, भीतर चेष्टा होते ही शारीरिक रसका शोषण होने लगता है । अतः यदि प्रातःकालमें पहिले शौच न होकर कोई दूसरे काममें लग जाय, तो मलका दूषित रस रक्तमें मिल जायगा, जिससे मल कठिन होकर अनेक प्रकारकी पीडाएं उत्पन्न होंगी, मलका दूषित रस रक्तमें मिलनेसे रक्तविकार होंगे, रक्त दूषित होनेसे फोड़े, खुजली आदि रोग होंगे और शरीर तथा मुख दुर्गन्धयुक्त बना रहेगा, इसलिये शय्या-त्याग करते ही मलमूत्र विसर्जन करना आवश्यक है । जो मनुष्य मलमूत्रके वेगको रोकते हैं, उनको नाना प्रकारके रोग होते है । अतः कभी मलमूत्रके वेगको रोकना न चाहिये। मलमूत्र त्यागके सम्बन्धमें हिन्दुशास्त्रों-में कुछ नियम हैं, यथाः—

(१) 'वाच्यं नियम्य यत्नेन ष्ठीवनोच्छ्वासवर्जितः' अर्थात् शौचाचारके समय बोलना, थू-थू करना अथवा हांपना न चाहिये।

(२) 'वाय्वग्निविप्रानादित्यमपः पश्यन् तथैव च' अर्थात् अग्नि, जल, सूर्य्य, वायु और पूजनीय लोगोंके आगे मलमूत्र त्याग करना निषिद्ध है।

(३) 'तिष्ठेन्नातिचिरं तस्मिन्' जहां मलमूत्र त्याग करे, वहां अधिक समय तक न ठहरे। इन नियमोंमे विज्ञान भरा हुआ है । शरीरके ऊपरी

भागमें जो स्नायु हैं उनमें यदि क्रिया उत्पन्न हो, तो शरीरके नीचेके भागके स्नायु और पेशीके कार्य भलीभांति हो नहीं सकेंगे। मलमूत्र-त्यागके समय यदि नीचेके स्नायु और पेशी अच्छा कार्य न कर सकें तो कोष्ठ किसी प्रकारसे विशुद्ध न हो सकेगा। कोठा शुद्ध न रहनेसे सब तरहके रोग शरीरपर आक्रमण करेंगे। मलमूत्र त्यागके समय बोलने, थू थू करने अथवा हांपनेसे शरीरके ऊपरिभागके स्नायु कार्य करने लगेंगे और निम्न भागकी पेशियां स्नायु आदि कार्य्यक्षम नहीं रहेंगे। कोठा शुद्ध न होनेसे अनेक प्रकारका रोग होना स्वाभाविक है। अग्नि, जल, सूर्य आदिके आगे शौच करनेसे आप ही आप शरीरके ऊपर भागके स्नायु कार्य करने लगेंगे, क्योंकि अत्युज्वल, चञ्चल अथवा सबल वस्तुके दर्शन-स्पर्शनसे स्वभावतः स्नायु उद्दीपित होते है, इससे कोष्ठशुद्धिमें बाधा होकर रोग होना स्वाभाविक है। अग्नि, सूर्य, जल आदि प्रत्यक्ष देवता है। उनके सामने मलमूत्र-त्याग जैसे घृणाजनक कार्य करनेसे तेज और शक्तिकी अवश्य ही हानि होगी। इसी विचारसे शास्त्रोंमें उक्त आज्ञाओंका उल्लेख है। इसके अतिरिक्त हिन्दुशास्त्रोंमें निवासस्थानसे कुछ दूर नगर या ग्रामके बाहर जाकर एकान्त स्थानमे मलमूत्र त्याग करना चाहिये इत्यादि अनेक आज्ञाएं मिलती हैं। श्रीभगवान् मनुने लिखा है—

न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे।
न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते॥
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन।
न ससत्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि न स्थितः॥

रास्तेके ऊपर, भस्मपर, गोचारणभूमि, कर्षितभूमि, जल, चिता, पर्वत, जीर्ण देवमन्दिर या वल्मीकके ऊपर, प्राणियुक्त गर्त्तमें, चलते चलते या खडे होकर कदापि मलमूत्रत्याग नहीं करना चाहिये।

ग्राम वा नगरके बाहर मलमूत्रादिका त्याग करनेसे देशमें रोगोत्पत्ति होनेकी सम्भावना कम रहती है। आजकल नगरोंमें इस नियमका पालन होना कठिन होगया है, ग्रामोंमें हो सकता है। इसी कारण नगर निवासियोंकी अपेक्षा ग्रामवासियोंका स्वास्थ्य अच्छा रहता है। इस प्रक्रियासे

प्रातःकालको वीरवायुका अनायास सेवन होजाता है। हिन्दुशास्त्रोंमें ओससे भीगी हुई घासपरसे खाली पैर चलनेका माहात्म्य बताया गया है, इससे स्वास्थ्य अच्छा रहकर चक्षुरोग दूर होते है और नेत्रोंकी ज्योति बढ़ती है। बाल्यावस्थामे ही चश्मा चढ़ानेकी आवश्यकता नही होती। केवल मलत्यागकी विधिमें ही इतने काम अनायास बन जाते हैं।

मलत्यागानन्तर शौचक्रियामे मिट्टी और निर्मल जलका व्यवहार करना चाहिये। मन्वादिसंहिताओंमें लिखा है:—

वसाशुक्रमसृङ्मज्जामूत्रविट्कर्णविन्नखाः।
श्लेष्माश्रुदूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः॥
आददीत मृदोऽपश्च षट्सु पूर्वेषु शुद्धये।
उत्तरेषु तु षट्स्वद्भिः केवलाभिर्विशुध्यति॥

चर्बि, शुक्र, रक्त, मज्जा, मूत्र, विष्ठा, कर्णमल, नख, श्लेष्मा, अश्रु, अक्षिमल और स्वेद—मनुष्यशरीरमें ये बारह प्रकारके मल होते है। इनमेंसे पहले छ मलोंके लिये मिट्टी तथा जल दोनोंसे ही शौच करने होते हैं, और दूसरे छः मलोंके लिये केवल जलसे ही शुद्धि हो सकती है। इसी कारण मल त्यागानन्तर मिट्टीसे हाथ धोने चाहिये।

मिट्टीसे जैसे हाथ साफ होते हैं वैसे साबुन आदि द्रव्योंसे नही होते, क्योकि पृथिवी गन्धवती है। हाथोंकी दुर्गन्धि पृथिवीकी मिट्टीसे जैसी दूर होगी, वैसी और किसी वस्तुसे नही हो सकती। पित्तके सयोगसे विष्ठामें तेलकी तरह एक प्रकारका लसीला पदार्थ रहता है, वह केवल मिट्टीसे ही छूटता है, अतः शौच कर लेनेपर हाथ मिट्टीसे ही धोने चाहिये। तीन बार मिट्टी लगाकर फिर शुद्ध जलसे हाथ पैर धो डालने चाहिये।

मूत्रत्यागके अनन्तर भी पैर धोना उचित है। इससे शरीर स्निग्ध और स्वस्थ रहता है। लघुशङ्का कर लेने पर मूत्रयन्त्रको ठण्डे जलसे धो देना चाहिये, क्योंकि मूत्र अत्यन्त पित्तप्रधान होता है और उसमें कितनी ही विषैली वस्तुएं रहती हैं। इन्द्रियमें अथवा धोतीमें मूत्र लगा रहनेसे अनेक प्रकारके रोग हो जाते है, अतः इन्द्रियको धोना आवश्यक है। उपस्थ इन्द्रिय-

में विशेषतया उसके अग्रभागमें कितने ही ऐसे स्नायु रहते हैं, जिन्हें थोडी उत्तेजना मिलते ही वे उत्तेजित हो जाते हैं। मूत्रत्यागके समयमें उष्ण और दूषित मूत्रद्रव्योंके संस्पर्शसे उन स्नायुओंमें उत्तेजना आ जाती है। शीतल जलसे धोनेसे वह भय नहीं रहता। प्रायः देखा जाता है कि, स्कूलोंमें वा अन्यत्र भी एक ही स्थानमें अनेक मनुष्य लघुशङ्का करते हैं यह ठीक नहीं, क्योंकि मूत्रत्यागके साथ दूसरोंके रोग उसी इन्द्रियके द्वारा संक्रामित हो जाते हैं। अन्ततः एक व्यक्ति जहां मूत्रत्याग करे, वही दूसरेको नहीं करना चाहिये। यदि मूत्रत्यागका एक ही स्थान बना हो, तो वहां पहिले जल छोड़कर तब लघुशङ्का करे। उपदंशादि विकार पैतृक भी होते हैं। जिस मनुष्यके माता-पिताको यह रोग हो गया हो उसने जहां लघुशङ्का की है, वहीं यदि दूसरा लघुशङ्का करे, तो पहिलेका रोग दूसरेमें संक्रामित हो जायगा। इसलिये यदि हर एक मनुष्य लघुशङ्काके समय जल लेनेका अभ्यास करे, तो आप ही इस रोगभयसे दूर रहेगा।

मिट्टीसे हाथ धोकर मुख-आंखे धोनी चाहिये। मुहमें ठण्डे पानीका कुल्ला भरकर शुद्ध जलसे आंखे धोई जायं, तो नेत्रोंकी शिराएं अधिक सतेज होंगी और आंखे शीघ्र नहीं बिगड़ेंगी। मुंह धोकर दन्तधावन करना चाहिये। दन्तधावनके लिये शास्त्रमें लिखा है कि :—

तिक्तं कषायं कटुकं सुगन्धि कण्टकान्वितम्।
क्षीरिणो वृक्षगुल्मानां भक्षयेद्दन्तधावनम्॥

तिक्त, कषाय, कटु, सुगन्धयुक्त, कण्टकयुक्त और दुग्धविशिष्ट वृक्ष तथा गुल्म आदिका काष्ठ दतून बनानेमें प्रशस्त है। तदनुसार दन्तधावनके लिये शास्त्रोंमें खैर, कदम्ब, आम, नीम, बेल, ऊमर, बकुल आदिकी टेहुनी प्रशस्त कही गई है। बकुल (मौलश्री) की दतूनका प्रभाव तो—

"दन्ता भवन्ति चपला अपि वज्रतुल्याः"

दांत वज्रके समान दृढ़ बन जाते हैं, ऐसा लिखा है। दन्तधावनके बाद स्नान करना चाहिये। इस विषयमें लिखा है :—

स्नानं पवित्रमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहम्।
शरीरबलसन्धानं केश्यमोजस्करं परम्॥

स्नानक्रिया पवित्रताजनक, आयुको बढ़ानेवाला, श्रमनाशक, स्वेद-निवारक, मलनाशक, शारीरिक बलवर्द्धक, केशवर्द्धक तथा परम तेजस्कर है। इसलिये स्नान करना चाहिये। स्नानके विषयमे निम्नलिखित नियम अवश्य पालन करने योग्य है, यथा:—

न स्नानमाचरेद् भुक्त्वा नातुरो न महानिशि।
न वासोभिः सहाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये॥

भोजनके पश्चात्, शरीरमें पीडा हो तो, रात्रिके दूसरे और तीसरे प्रहरमें तथा अधिक कपड़े पहिनकर स्नान करना उचित नहीं है। छोटे वा अपरिचित जलाशयमे स्नान न करे। नदी हो तो उसमे नहाना बहुत उत्तम है, परन्तु वर्षाकालकी बाढ़में नदीमे नहानेसे बचना चाहिये। प्रवाह-के जलमें नहाना हो, तो जिस ओरसे प्रवाह आ रहा हो, उस ओर मुंह करके और घरमे नहाना हो, तो सूर्याभिमुख होकर नहावे। स्नान करते समय बकवाद करना अथवा पहिरे हुए कपड़ोसे देह मलना अच्छा नही। शरीर अच्छा हो, तो ठण्ढे जलसे स्नान करना उत्तम है। शास्त्रोंमें समुद्र-स्नानकी बड़ी प्रशंसा की है, यथा:—

जन्मान्तरसहस्रेण यत्पापं कुरुते नरः।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः स्नात्वा क्षारार्णवे सकृत्॥

समुद्रस्नानसे जन्म जन्मान्तरके पाप नष्ट होते हैं।

Dr. C. E. Saleeby writes in the Daily Mail—Here in Switzerland there are many advantages, but the air and the lake water are very poor in iodine, whereas the sea is the natural reservoir of that precious element सलिबि साहबकी सम्मति है कि 'आयोडिन' नामक रासायनिक पदार्थकी प्रचुरताके कारण समुद्र-स्नान बड़ा ही लाभदायक है।

कुछ भी हो स्नान बड़ी ही पवित्र वस्तु है। स्नानके द्वारा अशुचि शरीर शुचि होकर भगवान्की पूजाके योग्य बनता है, इसीसे स्नान पवित्र कार्योंमें समझा

गया है। स्नानमें भी प्रातःस्नानकी बड़ी महिमा है। प्रातःस्नानका वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैः—

गुणा दश स्नानपरस्य मध्ये,
रूपञ्च तेजश्च बलञ्च शौचम्।
आयुष्यमारोग्यमलोलुपत्वं,
दुःस्वप्नघातश्च तपश्च मेधा॥

प्रातःस्नान करनेसे रूप, तेज, बल, शौच, आयु, आरोग्य, लोभहीनता, दुःस्वप्ननाश, तप और मेधा, इन दश गुणोंका लाभ होता है। इन दश गुणोके लाभ करनेमें चन्द्र और सूर्य ही कारण हैं। रात्रिभर चन्द्रामृतसे जल पुष्ट रहता है। सूर्योदयके बाद सूर्यकिरण द्वारा वह अमृत आकृष्ट हो जाता है। अतः सूर्योदयसे पहले नहा लेने पर वह अमृत स्नान करनेवालेको प्राप्त होगा। इसी प्रकार दिनभर सूर्यरश्मिके द्वारा जो शक्ति जलमें प्रवेश करती है वह रात्रिकी ठण्ढकके कारण जलमें ही रह जाती है। इसी कारण शीतकालमें प्रातःकाल जल गरम रहता है। उसी जलमें सब ऋतुमें विशेषतः शीतऋतुमें स्नान करनेसे बड़ा ही लाभ होता है। रोगके कीटाणु प्रायः जलमे ही रहते हैं। सूर्योदयसे पहिले वे गंभीर जलमे चले जाते हैं, सूर्यकिरण देखकर वे ऊपर जलमें आजाते हैं। अतः प्रातः स्नान करने पर रोगकीटाणुका सस्पर्श भी नही होता। अतः बुद्धिमान् पुरुषोंको सबेरे ही नहा लेना चाहिये।

स्नानके बाद चन्दन, भस्म, तिलक आदि धारण करना चाहिये क्योंकि जो जिस देवताके भक्त होते हैं, वे अपने उपास्यके चिह्न धारण करें, तो उनके हृदयमें भक्ति और पूजाके भाव स्वतः ही होने लगते हैं। इस प्रकार शुद्ध शरीर और पवित्र अन्तःकरण होकर, पिता, माता, गुरुजन तथा घरमें जो कुल-देवता इष्टदेवता हो, उनको भक्तिभावसे प्रणाम, सन्ध्योपासना, पुष्पचयन तथा इष्टदेवकी पूजा करनी चाहिये।

आर्य्य शास्त्रमें पिता माता ज्येष्ठ भ्राता तथा आचार्यकी सेवा और इष्ट-देवपूजाकी बड़ी महिमा बताई गई है। वेदमे तो पितृदेवो भव, मातृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, इस प्रकारके मन्त्र ही मिलते हैं। मनुसंहिताके द्वितीयाध्यायमें लिखा है—

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्त्तिरात्मनः ॥
आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ।
नार्त्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥
तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्य्यस्य च सर्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥
इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्यातु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषया त्वेव ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥
सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥

आचार्य ब्रह्मकी मूर्ति, पिता प्रजापतिकी मूर्ति, माता वसुमतीकी मूर्ति और भ्राता अपनी ही मूर्त्ति है । इसलिये इनके द्वारा पीड़ित होनेपर भी कदापि इनकी अवमानना किसीको, विशेषतः ब्राह्मणको नहीं करना चाहिये । प्रति दिन पिता माता तथा आचार्यका प्रियानुष्ठान करना चाहिये । इन तीनोंके प्रसन्न रहनेसे सकल तपस्या पूर्ण होती है । मातृभक्ति द्वारा भूर्लोक, पितृभक्ति द्वारा मध्यमलोक और गुरुभक्ति द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त होते हैं । इन तीनोंका आदर करने पर धर्मका आदर होता है । इनके अनादरसे सभी धर्म कर्म वृथा होता है । इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमे पितृमातृसेवा तथा गुरुसेवाकी महिमा बताई गई है ।

पिता-मातादिके प्रणामके अनन्तर सन्ध्योपासना, पुष्पचयन और इष्ट-देवपूजा करनी चाहिये । पुष्पचयन तथा तुलसी दूर्वादिचयनकी बड़ी महिमा शास्त्रमें कही गई है । समस्त रात्रि चन्द्रामृत पान करके कुसुमसमूह अमृतमय बने रहते हैं, इसलिये उनके स्पर्शसे भी शरीर मन दोनोंका स्वास्थ्य तथा शक्तिलाभ होता है । प्रातःकालकी हरियाली नेत्रोंको प्रफुल्लित तथा नीरोग बनाती है । मैलेरिया आदि रोगनाशिनी शक्ति तुलसी, दूर्वा, विल्वपत्र आदिमें यथेष्ट है, यह बात आधुनिक पश्चिमी विज्ञानके द्वारा भी प्रतिपादित हो चुकी है । अतः प्रातःकाल भी पुष्पचयन, तुलसीवायुसेवन, तुलसीचयन आदि शरीर मन आत्मा सभीके लिये उन्नतिप्रद है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं ।

इस प्रकारसे पुष्पचयनादिके अनन्तर इष्टदेवकी पूजा करनी चाहिये। इतनेहीमें पूर्वाह्णकृत्य समाप्त होता है।

पूर्वाह्णकृत्यके अनन्तर मध्याह्नकृत्य करनेकी विधि है। उसमें भोजन ही प्रधान कृत्य है। किन्तु सबको खिलाये बिना गृहस्थोंका स्वयं भोजन करना शास्त्रविरुद्ध है। इस कारण होम, वैश्यदेव, बलि, अतिथिसेवन, नित्य-श्राद्ध, गोग्रासदान और पञ्चमहायज्ञके बाद तब भोजन करनेकी आज्ञा आर्य-शास्त्रमें दी गई है। होमके विषयमे शास्त्रमें लिखा है—

गृहमेधिनो यदशनीयं तस्य
होमाबलयश्च स्वस्वपुष्टिसंयुक्ताः।

गृहीके जो खाद्य हैं, उन्हीसे हवन करना होता है। असमर्थपक्षमें 'जुहुयादम्बुनापि च' जलमें जलसे भी हवन हो सकता है, ऐसा शास्त्रमें कहा गया है। हवनसे देवतागण तृप्त होते हैं। वैश्यदेवके विषयमें शास्त्रमें लिखा है:—

सायं प्रातर्वैश्वदेवः कर्त्तव्यो बलिकर्म च।
अनश्नतापि कर्त्तव्यमन्यथा किल्विषी भवेत्॥

सायंकाल तथा प्रातःकाल भोजनसे पहले बलिवैश्वदेव करना चाहिये। अन्यथा गृहस्थको पाप स्पर्श करता है। वैश्वदेवकी पूजा 'सप्रणव विश्व-देवाय नमः' इतने ही मन्त्रसे की जाती है। जिस प्रकार हवनसे देवतागण प्रसन्न होते है, ऐसे ही वैश्वदेवसे श्रीभगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं। वैश्व-देवके बाद बलि दी जाती है। इसमे समस्त प्राणियोंको लक्ष्य करके अन्न दिया जाता है, यथा—

देवा मनुष्याः पशवो वयांसि सिद्धाः सयक्षोरगदैत्यसंघाः।
प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम्॥
पिपीलिकाः कीटपतङ्गकाद्या बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धबद्धाः।
प्रयान्तु ते तृप्तिमिदं मयान्नं तेभ्यो विसृष्टं सुदिता भवन्तु॥
येषां न माता न पिता न बन्धुर्नैवान्नसिद्धिर्न यथान्नमस्ति।
तत् तृप्तयेऽन्नं भुवि दत्तमेतत् प्रयान्तु तृप्तिं मुदिता भवन्तु॥

देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, सिद्ध, यक्ष, उरग, दैत्य, प्रेत, पिशाच, वृक्ष, पिपीलिका, कीट, पतङ्ग आदि सभी जो अन्न चाहते हैं, या बुभुक्षित हैं, सब मेरे प्रदत्त अन्नसे तृप्त हो जाय । जिनके पिता माता या बान्धव नहीं हैं या अन्नसंस्थान नहीं हैं उन सबकी तृप्तिके लिये यह अन्न देता हूँ । यही सब बलिप्रदानके मन्त्र हैं । इस प्रकार उदार मन्त्रका रहस्य यह है—

भुवि भूतोपकाराय गृही सर्वाश्रयो यतः ।
श्वचण्डालविहङ्गानां भुवि दद्यात् ततो नरः ॥

क्योंकि गृहस्थ ही सकल जीवोंका आश्रय है, इसलिये स्वय भोजनसे पहले सबको भोजन देकर तब गृहस्थको भोजन करना चाहिये । बलिप्रदानके बाद अतिथिसेवा गृहस्थका प्रधान कार्य है । उसके लिये शास्त्रमें लिखा है:—

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खः पण्डित एव वा ।
संप्राप्तो वैश्वदेवान्ते सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥
देशं नाम कुलं विद्यां पृष्ट्वा योऽन्नं प्रयच्छति ।
न स तत्फलमाप्नोति दत्वा स्वर्गं न गच्छति ॥

प्रिय, द्वेष्य, मूर्ख, पण्डित जो कोई हो, वैश्वदेवके अन्तमें जो गृहस्थके मकानपर आवे, वही अतिथि और उनकी सेवा स्वर्गप्रद है । अतिथिका देश, नाम, कुल, विद्या पूछ कर अन्नदान करनेसे वह सेवा स्वर्गप्रद नहीं होती है । इसलिये

'हिरण्यगर्भबुद्ध्या तं मन्येताभ्यागतं गृही ।'

अतिथिको हिरण्यगर्भ भगवानका रूप मानकर इसी भावसे उनकी सेवा करनी चाहिये । यही गृहस्थाश्रमका प्रधान कर्त्तव्य अतिथि सत्कार है । इसके अनन्तर नित्यश्राद्धविधि है । नित्य श्राद्धमे इस प्रकार विधिकी आवश्यकता नहीं होती है । इसमें केवल पितृपक्षके तीन और मातृपक्षके तीन व्यक्तियोंका स्मरण करके उनके उद्देश्यसे कुछ कुछ अन्नदान किया जाता है और अभावपक्षमे—

'अशक्तावुदकेन तु'

इस आज्ञाके अनुसार थोड़ा जल देनेपर भी नित्यश्राद्धकृत्य सम्पादित हो सकता है। इसके अनन्तर गो-ग्रास है। इसमें सकल-भूतोंसे विशेषताके कारण गो माताको ग्रास दिया जाता है। उसका मन्त्र यह है—

सौरभेय्यः सर्वहिताः पवित्राः पुण्यराशयः।
प्रतिगृह्णन्तु मे ग्रासं गावस्त्रैलोक्यमातरः॥

सकलहितकारिणी, पवित्रा, पुण्यराशिमयी, त्रैलोक्यजननी, सुरभी सन्तान गौवें मेरे दिये इस ग्रासको ग्रहण करें। यही गोग्रास है। इसके अनन्तर पञ्च महायज्ञ करके मध्याह्नकृत्य भोजन होता है। इन सबका और भी विस्तृत वैज्ञानिक रहस्य आगेके अध्यायमें बताया जायगा।

आर्यशास्त्रमें अन्यान्य यज्ञोंकी तरह भोजन व्यापारको भी एक नित्ययज्ञ कहा गया है। इस नित्ययज्ञके यज्ञेश्वर भगवान् वैश्वानर कहे गये हैं, यथा श्रीमद्भगवद्गीतामें—

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥"

श्रीभगवान् वैश्वानर (जठराग्नि) रूपसे प्रत्येक प्राणीमें बैठकर प्राण और अपान वायुकी सहकारितासे चर्व्य, चोष्य, लेह्य तथा पेय, इन चार प्रकारके भोज्य अन्नोंको भक्षण करते हैं। अन्ततः आर्यभोजनसे केवल उदर-पूर्ति ही नहीं होती, किन्तु श्रीभगवान्‌की पूजा भी होती है, इसीसे हमारे शास्त्रोंमें भोजनकी पवित्रतापर विशेष विचार किया गया है। इस सम्बन्धमें सबसे प्रथम स्थानका विचार करना चाहिये, अर्थात् चाहे जिस स्थानमें बैठकर या खड़े खड़े भोजन करना ठीक नहीं, क्योंकि अशुचि स्थानमें पूजा करनेसे कोई फल नहीं होता, भगवान् असन्तुष्ट होते हैं। भोजनका स्थान पवित्र, एकान्त और गोमय जल आदिसे शुद्ध किया हुआ होना चाहिये। द्वितीयतः स्वयं पवित्र होकर भोजन करें, क्योंकि अपवित्र शरीर और अशुचि मनसे भगवत्पूजा करनेसे कोई फल नहीं होता। तृतीयतः जिस वस्तुसे पूजा करनी हो, वह पवित्र और सात्त्विक होनी चाहिये, क्योंकि अशुद्ध और तामसिक वस्तुओंसे भगवान्‌की पूजा नहीं की जाती। उससे शरीर, मन, बुद्धि और

आत्मा का कलुषित होना सम्भव है। अन्ततः खाद्यद्रव्य शुद्ध और सात्विक होना आवश्यक है। चतुर्थतः पूजाकी वस्तु जिसमें संग्रह की जाय, वह पात्र अच्छा परिष्कृत होना चाहिये और वह किसी अपवित्र व्यक्ति अथवा जीवसे छुआ हुआ न हो, क्योंकि पूजाके फूल, नैवेद्य आदि नीच जीव या पापियोंसे छुए जानेपर पूजाके योग्य नही रहते, इसीसे पापी या नीच जीवोंका अन्न ग्रहण करना निषिद्ध है। यही नहीं, किन्तु उनका छुआ अन्न भी ग्रहण न करना चाहिये। इसी कारण हमारे प्राचीन ऋषियोंने आहारपर बहुत विचार कर आहार सम्बन्धीय नाना प्रकारके आचारोंका निर्णय किया है।

भोजनके विषयमे भगवान् मनुने लिखा है :—

'आयुष्यं प्राङ्मुखो भुंक्ते यशस्यं दक्षिणामुखः'

आयु चाहनेवालेको पूर्वमुख और यश चाहनेवालेको दक्षिणमुख हो भोजन करना चाहिये।

पूर्वदिशासे प्राण और शक्तिका उदय होता है। प्राणस्वरूप सूर्य्यदेव पूर्वसे ही उदित होते हैं, इस कारण पूर्वाभिमुख होकर भोजन करनेसे आयुका बढ़ना स्वभाविक है। इस विषयमे पश्चिमी पण्डितोंने भी अन्वेषण किया है, यथा—Dr. George Starr White of the New York Medical College discovered that a healthy person had a slight difference in sound over each organ when faced east than he had when he faced north and he deduced that the reason for this is that when a person faces north the magnetic lines of force cut through a larger surface of the sympathetic nervous chain डा० जार्जका सिद्धान्त है कि उत्तरको ओर मुँह कर खानेसे वैद्युतिक प्रवाह नसोंके द्वारा अधिक वेग तथा विस्तारके साथ चलता है, इसलिये वह आयुवृद्धिकर उतना नही है जितना कि पूर्वाभिमुख भोजन। इसी प्रकार यश देनेवाले पितरोंका सम्बन्ध दक्षिण दिशाके साथ रहनेके कारण दक्षिणमुख भोजनसे यशोलाभ होता है। स्नान, पूजादिसे शरीर और मनकी पवित्रता बढती है, इसलिये शास्त्रमें कहा है—

'अस्नात्वाशी मलं भुंक्ते अजपी पूयशोणितम्'

नीरोग शरीर होनेपर भी बिना स्नान खानेसे मलभोजन और बिना जपपूजा खानेसे पूय शोणित भोजनका दोष होता है। इसलिये स्नानके बाद भोजन करना चाहिये।

शास्त्रोंमें लिखा है:—

"पञ्चार्द्रो भोजनं कुर्यात्प्राङ्मुखो मौनमास्थितः।
हस्तौ पादौ तथैवास्यमेषा पञ्चार्द्रता मता॥"

दोनों हाथ, दोनो पाँव और मुँह धोकर, पूर्वाभिमुख हो, मौन अवलम्बन कर भोजन करे। योगशास्त्रमें मनुष्यके स्वाभाविक श्वासकी गति १२ अङ्गुल, किन्तु भोजनकालमें २० अङ्गुल बताई गई है। श्वासकी गति अधिक होने पर आयु घटती और कम होने पर बढ़ती है। लोभसे भोजन करनेमें तथा हाथ पाँव न धोकर भोजन करनेमें श्वासगति बढ़ती है। इसी कारण भगवान्को भोग लगाकर प्रसादरूपसे तथा हाथ पाँव धोकर खानेकी विधि है। मनुने कहा है कि:—

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत्।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात्॥

भींगे पैर भोजन करे, परन्तु शयन न करे। भींगे पैर भोजन करनेसे आयु बढ़ती है और शयन करनेसे घटती है। मौन होकर भोजन करनेको इसलिये कहा है कि, भोजन करते करते बकवाद करनेसे लाला (लार) कम उत्पन्न होगी, जिससे मुँह सूखकर बीच बीचमें पानी पीना पड़ेगा। लार कम उत्पन्न होने और मुँह सूखनेके कारण पानी पीनेसे पाचनक्रियामें बाधा उत्पन्न होगी। महाभारतमें लिखा है, "एकवस्त्रो न भुञ्जीत" केवल एक वस्त्र-धारण कर भोजन न करे। भोजन करते समय एक उत्तरीय (दुपट्टा) ओढ़ लेना चाहिये, वह रेशमी हो तो अधिक अच्छा है। भोजन करते हुए शरीरयन्त्रकी जो क्रियाएँ होती हैं, उनमें बाहरी वायु बाधा न पहुंचा सके, इसीलिये यह व्यवस्था है। रेशमी वस्त्र इस कारण अच्छा समझा गया है कि, रेशम भीतरी शक्तिको सुरक्षित रखकर बाहरी शक्तिका उसपर परिणाम नहीं होने देता। इस प्रकार पवित्रभावसे भोजन करना चाहिये। स्नानके पश्चात् ही भोजन

करना उचित है, क्योंकि भगवत्पूजा बिना स्नान किये नहीं की जाती और पूजा किये बिना भोजन करना निषिद्ध है। शरीर अस्वस्थ रहनेपर गीले कपड़ेसे शरीर पोंछकर वस्त्र बदल दे और भस्मस्नान अथवा मानसिक स्नान कर ले। मानसिक स्नान, श्रीविष्णु भगवान्‌का स्मरण कर 'स्वर्गसे गङ्गाकी धारा आई और उसमें स्नानकर मैं पवित्र हुआ' ऐसी दृढ़ भावना करनेसे होता है। भस्म-स्नान शिवमन्त्रसे अग्निहोत्रकी विभूतिको अभिमन्त्रित कर देहमें लगानेसे होता है।

भोजनके पहिले भोज्य पदार्थोंका भगवान्‌को नैवेद्य दिखाकर, तब प्रसाद समझकर भोजन करे। प्रसादरूपसे भोज्य पदार्थोंका सेवन करनेसे अन्नमें अनुचित आसक्ति न रहेगी। जब कि संसारकी सब वस्तुए भगवान्‌की उत्पन्न की हुई है, तब उन्हे पकाकर भगवान्‌को बिना अर्पणकर खानेसे निस्सन्देह पाप होगा। गीतामें कहा है:—

"तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः।"

देवताकी दी हुई वस्तु उन्हें बिना समर्पण किये जो खाता है, वह चोर है। अतः भगवान्‌को समर्पण करके ही अन्नग्रहण करना चाहिये।

खाद्य वस्तुए पवित्र और सात्त्विक होनी चाहिये। इसका कारण छान्दोग्य श्रुतिमें बताया गया है। यथा—६१-६—५।६

"अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्-पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः।" (६—५)

"दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत् सर्पिर्भवति। एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति, तन्मनो भवति।"

और भी—

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिशुद्धौ सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।"

खाया हुआ अन्न तीन भागमें विभक्त होजाता है—स्थूल असार अंश मल बनता है, मध्यम अंशसे मांस बनता है और सूक्ष्म अंशसे मनकी पुष्टि होती है। जिस प्रकार दधिके मथनेपर उसका सूक्ष्म अंश ऊपर आकर घृत बनता है, उसी प्रकार अन्नके सूक्ष्मांशसे मन बनता है। मन अन्नमय ही है। आहारशुद्धिसे सत्त्वशुद्धि, सत्त्वशुद्धिसे ध्रुवा स्मृति और स्मृतिशुद्धिसे संसार-ग्रन्थियोंका मोचन होता है। अतः सिद्ध हुआ कि, अन्नके सात्त्विकादि गुणानुसार मन भी सात्त्विकादि भावापन्न होगा। साधारणतः देखा जाता है कि, अन्न न खानेसे मन दुर्बल हो जाता है, चिन्ताशक्ति नष्ट होने लगती है, और अन्न खानेसे मन सबल तथा चिन्ताशक्ति बढ़ने लगती है। अतः यदि अन्न तामसिक हो, तो मन, बुद्धि, प्राण और शरीर तामसिक होगा, जिससे ब्रह्मचर्य्यधारण और साधना आदि असम्भव हो जायगी। इसी तरह राजसिक अन्नसे भी मन और बुद्धि चञ्चल होती है, अतः पवित्र और सात्त्विक अन्न ही ग्रहण करना चाहिये। खाद्याखाद्यके सम्बन्धमें पश्चिमी देशोंमें जिस प्रणालीसे विचार किया है, वह सर्वाङ्गदृष्टिपूर्ण नहीं है। उन्होंने केवल इतना ही विचार किया है कि, किस वस्तुमें कौनसा रासायनिक द्रव्य कितना है। कैलसियम, प्रोटिड, भिटामिन, अथवा अम्लजान, यवक्षारजान जिसमें न्यून हो, वह अखाद्य और जिसमें अधिक हो, वह खाद्य, इतना ही मोटा सिद्धान्त उन्होंने बना लिया है। कौन सी वस्तु, किस ऋतुमें, किस प्रकारके शरीरके लिये, किस प्रकारसे सेवन की जाय, जिससे शरीर और मनका स्वास्थ्य परिवर्धित हो, इसकी विधि पश्चिमी चिकित्साशास्त्रकी पोथियोंमें नहीं मिलती। उन देशोंमें शीत अधिक है, अतः एकसी ही वस्तुओंके बारहो मास सेवन करनेसे तद्देशवासियोंका काम बन जाता है, परन्तु इस देशमें छहो ऋतु एकसे ही बलवान् हैं। ऋतुभेदसे वात, पित्त और कफकी न्यूनाधिकता होनेके कारण शारीरिक तथा मानसिक अवस्थामें कितना परिवर्तन होता है, यह जाननेकी वे अबतक चेष्टा नहीं करते। द्वितीयतः पश्चिमी देशोंकी यह निर्णयविधि बड़ी ही जटिल है। वहांके प्रसिद्ध विद्वान् भी खाद्याखाद्यके सम्बन्धमें अभी एकमत नहीं हैं। तृतीयतः उदरमें जाकर इन सब खाद्य द्रव्योंका किस प्रकार विश्लेषण होता है, और उससे शरीर पोषणकारी कौनसे गुण उत्पन्न होते हैं, साधारण रासायनिक विश्लेषण द्वारा उसका निरूपण नहीं हो सकता। चतुर्थतः इस देशके खाद्यद्रव्योंके साथ उस

देशके खाद्यद्रव्योंके गुणावगुणका निर्णय नहीं हो सकता। सबसे बढ़कर बात यह है कि, खाद्यद्रव्योंके साथ मनका क्या सम्बन्ध है, सो पश्चिमी लोग नहीं जानते। अतः हमारे देशके खाद्याखाद्यका विचार हमारे शास्त्रीय विधियोंके अनुसार ही होना चाहिये। उसमें किसी खाद्य वस्तुमें चाहे कितना ही भिटामिन हो यदि उसके परिणामद्वारा शरीरमें या मनमें विषयभाव, तमोगुण आदि बढ़ेंगे तो वह अवश्य ही वर्जित माना जायगा। श्रीभगवान् कृष्णने सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे खाद्यद्रव्योंको तीन भागोंमें विभक्त किया है। यथा—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितञ्च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

सरस, स्निग्ध, सारवान् और हृदय-ग्राही आहार सात्त्विक होता है। अधिक कटु, अम्ल, लवण, उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष और उग्र आहार राजसिक है, और बासी, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, जूठा और अपवित्र आहार तामसिक है। सात्त्विक आहारसे आयु, बल, उत्साह, आरोग्य, सुख और प्रीतिकी वृद्धि होती है। और चित्तमें सत्त्वगुणवृद्धि तथा आध्यात्मिक उन्नति भी होती है। राजसिक आहारसे दुःख, शोक और रोग उत्पन्न होते हैं, और तामसिक आहारसे जड़ता, अज्ञान, कुरोग और पशुभाव बढ़ता है। अतः राजसिक और तामसिक खाद्यद्रव्योंका परित्याग कर सात्त्विक आहार करना चाहिये। इसी कारण आर्य्यशास्त्रमें पियाज, लहसुन आदि राजसिक तामसिक वस्तुओंका भोजन निषिद्ध है, यथा—

लशुनं गृञ्जनञ्चैव पलाण्डु करकानि च।
अभक्ष्याणि द्विजातीनां अमेध्यप्रभवानि च॥

लहसुन, गाजर, पियाज, छत्ता आदि तथा विष्ठादि अपवित्र वस्तुसे उत्पन्न शाकादि द्विजातियोंको सर्वथा अभक्ष्य है। इन वस्तुओंके खानेसे मन, बुद्धि,

शरीर, प्राण, आत्मा सभी मलिन होजाते हैं, और ब्रह्मचर्य्यनाश, पशुभाववृद्धि, कामवृद्धि, चित्तचाञ्चल्य आदि उत्पन्न होकर आध्यात्मिक उन्नतिका मार्ग एक बार ही बन्द हो जाता है।

यह डाक्टरी विज्ञान सम्मत है कि स्पर्शसे एकके शरीरसे दूसरेके शरीरमें रोग संक्रामित होते हैं। Miss Helen M Mathews of the University of British Columbia demonstrated that bacili were readily transferred from one to another by even hand-shaking or shake-hand अर्थात् मिस हेलेनने यन्त्रके द्वारा स्पष्ट प्रमाणित कर दिखाया है कि हाथके साथ हाथका स्पर्श होने पर भी रोगके बीज एकसे दूसरेमें चले जाते हैं। केवल रोग ही नही किन्तु स्पर्शसे शारीरिक और मानसिक वृत्तियोमें हेरफेर हो जाता है। प्रत्येक मनुष्यमें एक प्रकारकी विद्युत्शक्ति रहती है, जो मनुष्यकी प्रकृति और चरित्रके भेदसे प्रत्येकमे विभिन्न जातीय होकर स्थित है। तामसिकोंमें तमोमयी, राजसिकोमे रजोमयी और सात्त्विकोंमे सत्त्वमयी विद्युत् विराजमान है। अन्ततः जिस वृत्तिके लोगोंके साथ रहा जाय, जिस वृत्तिके लोगोका छुआ या दिया अन्न सेवन किया जाय उसी प्रकारकी वृत्ति सहवासियो अथवा अन्न ग्रहण करनेवालोमें संक्रामित होगी। भिन्न भिन्न प्रकारकी विद्युत्का प्रकृतिपरिणाम एक दूसरेपर हुए विना न रहेगा। अतः चाहे जिसका भी हो, छुआ या दिया हुआ अन्न ग्रहण न करना चाहिये। हिन्दुशास्त्रोंमें नीच, अपवित्र, पापी और चाण्डालादिका छुआ अन्न ग्रहण करनेका जो निषेध है, और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रको अलग अलग पंक्तियोंमें बैठकर भोजन करनेकी जो आज्ञा है, इसका कारण भी यही है कि प्रत्येक वर्णकी विद्युत् (प्रकृति) जन्मसे ही विभिन्न प्रकारकी होती है, और उसका अन्य प्रकृतिमें सङ्क्रमण होना स्वाभाविक है। अपनेसे निम्न श्रेणीके लोगोंके साथ बैठकर भोजन करनेसे अपनी उच्चगुणविशिष्ट विद्युत् मलिन हो जाती है। अथवा नाना जातिकी बिजलीके विपरीत संघर्षसे किसीका भी भोजन परिपक्व नही होता है।

भोजनके समय इन नियमोंका पालन करना आवश्यक है। एक वर्णमें पंक्तिभोजनके समय यह भी नियम अवश्य रखना चाहिये कि, जितने एक साथ बैठें, सब भोजनका प्रारम्भ तथा समाप्ति एक ही साथ करके उठें। क्योंकि पंक्तिभोजनके समय सबके शारीरिक यन्त्रमें क्रियाविशेष होनेसे तथा एक साथ

बैठनेके कारण सभोंके भीतर एक वैद्युतिक श्रृङ्खला (Electric line or circle) बन जाती है। उसीमेंसे जो आगे उठ जायगा, वह यदि दुर्बल है, तो उसकी वैद्युतिक शक्तिको बाकी बैठनेवाले खीच लेंगे, जिससे उस पहले उठनेवालेके पेटमें भोजन पचेगा नही वह और दुर्बल हो जायगा। द्वितीयतः उठनेवाला यदि अधिक शक्तिशाली है, तो सारे बैठनेवालोंकी विद्युत्शक्तिको वह खीचकर उठेगा, जिससे बाकी सबके पेटमें विकार हो सकता है। अतः पंक्ति-भोजनमें साथ ही बैठने उठनेका नियम अवश्य पालना चाहिए। द्वितीयतः यदि किसीसे अन्न लेना हो, तो सत्पात्र देखकर उससे लेना चाहिये, क्योंकि पापियोंका अन्न ग्रहण करनेसे उसका पाप अपनेमें भी संक्रमित होगा। भीष्मपितामहने दुर्योधनका पापान्न ग्रहण किया था, इसीसे उनका ज्ञान लुप्त हो गया था और द्रौपदीके वस्त्रहरणके समय वे द्रौपदीकी रक्षा नही कर सके थे। जब इतने बड़े महात्माकी भी पापान्नके ग्रहण करनेसे बुद्धि पलटती है, तो साधारण जीवोंकी कथा ही क्या है ? सारांश यह है कि, सत्पात्रके यहांका भोजनार्थ निमन्त्रण स्वीकार करना और सत्पात्रका ही अन्न ग्रहण करना चाहिये, इन विषयोंपर वर्णविवेक प्रकरणमें और भी अधिक प्रकाश डाला जायगा।

भोजनमें स्पर्शदोषकी तरह दृष्टिदोषगुणका भी विचार आर्यशास्त्रमें किया गया है। केवल आर्यशास्त्रमें ही नही अपितु पश्चिमी विद्वानोंने भी स्पर्शदोषके साथ दृष्टिदोषके विषयमे बहुत कुछ विचार किया है। प्रसिद्ध विज्ञानवित् फ्लामेरियन (Flammarion) साहब कहते है —

What is this mysterious force, this something which flows through the nerves of the hand, to the finger tips ? This mysterious force by some scientists called 'Ethereal Fluid,' by others 'Fuid Force' starts from the brain, unites itself with the impulses, thoughts and acts, flows through the nerves, the same as the nervous fluid to each one of its three centres of radiation viz the hand, the eyes and the soles of the feet. From each one of these respective centres, this invisible recorder registers its particular results, but

it is through the hand, where this emotional wireless, reveals its greatest power.

(The mysterious power which operates through
the hand—Kalpaka)

वह कौन शक्ति है जो हाथकी नसौंके द्वारा अङ्गुलियौंके अन्त तक चली जाती है ? इसीको वैज्ञानिकगण 'आकाशी शक्ति' कहते हैं। यह मस्तिष्कसे प्रारम्भ होती है, मनोवृत्तियोंके साथ जा मिलती है और स्नायुपथसे प्रवाहित होकर हाथ, आंख और पांवकी एड़ी तक पहुँचती है। इन तीनौंके ही द्वारा दूसरों पर यह अपना प्रभाव दिखाती है, किन्तु इसका सबसे अधिक प्रभाव हाथकी अङ्गुलियों द्वारा ही प्रकट होता है। अब आर्यशास्त्रीय विचार कहते हैं। यथा—

पितृमातृसुहृद्वैद्यपुण्यकृद्धंसबर्हिणाम् ।
सारसस्य चकोरस्य भोजने दृष्टिरुत्तमा ॥

पिता, माता, बन्धु, वैद्य, पुण्यात्मा, हंस, मयूर, सारस और चकवेकी दृष्टि भोजनमें उत्तम है। इनकी दृष्टिसे अन्नका दोष दूर होता है। चकवेके विषयमें मत्स्यपुराणमें लिखा है कि, 'चकोरस्य विरज्येते नयने विषदर्शनात् ।' अन्नमें विष आदि दोष रहनेपर चकवे आंखे मूंद लेते हैं जिससे विषाक्त अन्नका पता लग जाता है। दृष्टिदोषके विषयमें लिखा है—

हीनदीनक्षुधार्त्तानां पाषण्डस्त्रैणरोगिणाम् ।
कुकुटाहिशुनां दृष्टिर्भोजने नैव शोभना ॥

नीच, दरिद्र, भूखे, पाषण्ड, स्त्रैण, रोगी, मुर्गे, सर्प और कुत्तेकी दृष्टि भोजनमें ठीक नहीं होती है। उनकी विषदृष्टि अन्नमें संक्रमित होनेसे अजीर्ण रोग उत्पन्न होते हैं। अच्छी या बुरी दृष्टिमें कितनी शक्ति है सो आजकल मेस्मेरिज़म, हिप्नटिज़्म आदि विद्याओंके द्वारा स्पष्ट प्रमाणित होचुका है। यदि कभी इनमेंसे किसीकी दृष्टि अन्नमें पड़ जाय तो निम्नलिखित मन्त्र पढ़ कर उसकी अर्थ चिन्ता करते करते भोजन करना चाहिये, यथा—

अन्नं ब्रह्म रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः ।
इति सञ्चिन्त्य भुञ्जानं दृष्टिदोषो न बाधते ॥

अञ्जनीगर्भसम्भूतं कुमारं ब्रह्मचारिणम्।
दृष्टिदोषविनाशाय हनुमन्तं स्मराम्यहम्॥

अन्न ब्रह्मरूप है। अन्नरस विष्णुरूप है, भोक्ता महेश्वर है, ऐसी चिन्ता करते करते भोजन करनेपर दृष्टिदोष नहीं होता। अञ्जनीकुमार ब्रह्मचारी-हनुमानको दृष्टिदोषनाशार्थ मैं स्मरण करता हूं, यही सब भोजनके विषयके नियम हैं।

दिनमें एकवार ही भोजन करना चाहिये। यथा आपस्तम्बमें 'दिवा पुनर्न भुञ्जीत नान्यत्र फलमूलयोः' दिनमें एकवार ही भोजन करना चाहिये। क्षुधाबोध होनेपर फलमूलादि आहार कर सकते हैं।

माथा लपेट कर या जूता पहिनकर खाना उचित नहीं है।

यो भुङ्क्ते वेष्टितशिरा यश्च भुङ्क्ते विदिङ्मुखः।
सोपानत्कश्च यो भुङ्क्ते सर्वं विद्यात्तदासुरम्॥

माथा लपेट कर, निषिद्धमुख होकर या जूता पहन कर खाना आसुरी प्रकृतिका लक्षण है। रात्रिमे लघु (हलका) भोजन करना चाहिये। क्योंकि निद्रावस्थामें स्नायुशक्ति दुर्बल रहती है, उस समय गुरु (भारी) भोजनका ठीक परिपाक (पचन) नहीं होता। दिन या रात्रिका भोजन ऐसा न हो, जिसमें खूब चरपरे मसाले पड़े हों और जो पचनेमें जड़ हो। जड़ भोजनसे शरीर और मन दोनों बिगड़ते है। अतः सहजमें पचनेवाले हलके पदार्थ ही भोजनार्थ प्रस्तुत किये जायँ। सन्ध्याके समय भोजन न करे, क्योंकि सन्ध्याके समय भूत-प्रेतोंकी दृष्टि अन्नपर रहती है। उनकी अन्नपर आसक्ति रहनेसे उस समय अन्न ग्रहण करनेवालोंके अन्नपरिपाकमें सन्देह रहेगा। इसी तरह अधिक रात बीत जानेपर भी भोजन न करे, क्योंकि भोजनोत्तर कमसे कम दो घण्टे जागकर तब सोना चाहिये। ऐसा न करनेसे अन्न नहीं पचेगा। अन्नके न पचनेसे गाढ़ निद्रा नहीं लगेगी। अच्छी नींद न होनेसे नाना प्रकारके स्वप्न देख पड़ेंगे और निद्राभङ्ग होगा, जिससे स्वास्थ्य ठीक नहीं रहेगा। भोजन करलेनेके कुछ समयके पश्चात् जलपान करना चाहिये। पीनेके जलमे सात गुण अवश्य हों। वह स्वच्छ, लघु, शीतल, सुगन्धित, स्वयं स्वादहीन, हृद्य और तृष्णानिवारक हो। जलके विषयमें महर्षि यमने कहा है—

दिवार्करश्मिसंस्पृष्टं रात्रौ नक्षत्रभासितैः ।
सन्ध्ययोश्च तथोभाभ्यां पवित्रं जलमुच्यते ॥

दिनमें सूर्यकिरण, रात्रिको चन्द्र नक्षत्र किरण और सन्ध्याओंमें दोनों किरणोंसे युक्त, वायुप्रवाहमय जल ही उत्तम है। जिस जलपर सूर्यकिरण नहीं पड़ते अथवा जिस जलको वायु नही सोखती, वह अति स्वच्छ रहनेपर भी कफ उत्पन्न करता है। उस जलको गरम करके ठंढा होनेपर पिये। ऐसा जल काश, श्वास, ज्वर, कफ, वात, आम और अजीर्णका नाश करता है। नारियलका जल मधुर, पाचक और पित्तशामक होता है । लाल नारियलके जलमें केवल पित्तशमनका ही गुण है। सोडावाटर, लेमनेड आदि क्षारयुक्त जल इस देशके आहार विहार और जल वायुके लिये सर्वथा अनुपयुक्त और अपथ्यकर है।

जल पीनेके विषयमें ऐसा भी भावप्रकाशमें लिखा है—

अत्यम्बुपानाच्च विपच्यतेऽन्नं, अनम्बुपानाच्च स एव दोषः ।
तस्मान्नरो वह्निविवर्द्धनाय मुहुर्मुहुर्वारि पिवेदभूरि ॥

बहुत जल पीनेसे या बिलकुल ही न पीनेसे अन्नका परिपाक नही होता है। इसलिये पाकाग्निके बढ़ानेके लिये वार वार थोड़ा थोडा जल पीना चाहिये।

आर्य्यशास्त्रमें मिताहारकी बड़ी प्रशसा लिखी है । मिताहारके लक्षणके विषयमें लिखा है—

द्वौ भागौ पूरयेदन्नैर्भागमेकं जलेन तु ।
वायोः सञ्चरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥

उदरका दो भाग अन्नसे पूर्ण किया जाय, एक भाग जलसे पूर्ण किया जाय और वायु सञ्चारके लिये एक भाग खाली रक्खा जाय, यही मिताहारका लक्षण है। इससे आयु बढ़ती है, रोगनाश, बल और सुख लाभ होता है।

भुक्त्वा पाणितले घृष्ट्वा चक्षुषोर्दीयते यदि ।
अचिरेणैव तद्वारि तिमिराणि व्यपोहति ॥
स्वर्यातिश्च सुकन्याञ्च च्यवनं शक्रमश्विनौ ।
भोजनान्ते स्मरेद् यस्तु तस्य चक्षुर्न हीयते ॥

भोजनके बाद मुखप्रक्षालन करना चाहिये, जिससे मुखमें उच्छिष्ट न रहे। तदनन्तर 'स्वर्यातिं' आदि मन्त्रपाठ करते हुए आर्द्र हस्तद्वय घर्षणपूर्वक दोनो चक्षुओंमें तीन बार लगानेपर दृष्टिशक्ति अच्छी होती है। तदनन्तर क्या करना चाहिये, उसके लिये लिखा है—

भुक्त्वा राजवदासीत यावन्न विकृतिं गतः।
ततः शतपदं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत्॥
एवञ्चाधोगतश्चान्नं सुखं तिष्ठति जीर्यति॥

भोजनके बाद प्रथमतः वीरासनमें बैठना चाहिये, पश्चात् शतपद घूम कर वामपार्श्वमें सोना चाहिये। यथा—भावप्रकाशमें—

वामदिशायामनलो नाभेरूर्द्ध्वेऽस्ति जन्तूनाम्।
तस्मात्तु वामपार्श्वे शयीत भुक्तप्रपाकार्थम्॥

नाभिके ऊपर वामपार्श्वमें अग्नि रहती है, इसलिये वामपार्श्वमें सोनेपर अन्नपरिपाक अच्छा होता है।

भोजनके बाद कठिन परिश्रम कदापि नहीं करना चाहिये, उससे रक्त सञ्चालन अधिक होनेपर पाकक्रियामें बाधा होती है। इसलिये लिखा है—

'अनायासप्रदायीनि कुर्यात् कर्माण्यतन्द्रितः'

जिससे परिश्रम न हो, इस प्रकारके हलके काम कर सकते हैं। और भी वैद्यशास्त्रमें लिखा है—

भुक्तोपविशतस्तुन्दं शयानस्य वपुर्महत्।
आयुश्चंक्रममाणस्य मृत्युर्धावति धावतः॥

भोजनके बाद बैठे रहनेसे पेट बढ़ जाता है, सोये रहनेसे शरीर अच्छा रहता है, थोडी देर पादचारण करनेसे आयु बढती है, और खाते ही दौडनेसे मृत्यु भी पीछे पीछे जाती है। येही सब आहारके नियम हैं।

शास्त्रमें गोदुग्धकी बड़ी प्रशंसा लिखी है। यह प्राण देनेवाला, रक्तपित्त-नाशक, पौष्टिक रसायन है। इसमें भी काली गायका दूध त्रिदोषनाशक, परम-शक्तिवर्द्धक सर्वोत्तम कहा गया है। इसका क्या कारण है सो विचार करने योग्य है। पशुओंमें गऊ सबसे अधिक सात्त्विक होनेसे उसके शरीरमें दैवशक्तिके

अनेक केन्द्रस्थान हैं। 'पृष्ठे ब्रह्मा, गले विष्णुः' इत्यादि शास्त्रमें इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। दैवशक्तिके साथ इस प्रकार सम्बन्ध रहनेसे ही गोदुग्धमे इतना सात्त्विक बल है। अब काले रङ्गसे क्या विशेषता दूधमें आ जाती है सो ही विचारना चाहिये। रङ्ग क्या वस्तु है, सूर्यके साथ रङ्गका क्या सम्बन्ध है इस विषयमें वैज्ञानिक पण्डित मिलरने कहा है—

The objects are themselves devoid of colour, but when placed in white light they absorb the rays of one or more colours and reflect the rest. the object therefore, appears to be of the colours that would be produced by the ray or mixture of rays which it reflects, green objects, for example, absorb the red rays and reflect the yellow and blue. The rays thus absorbed are said to be complementary to those that are reflected, a complementary colour being always that tint which when added to the primary colour upon the eye would constitute white light

(Miller's Chemical Physics p. 157)

किसी पदार्थका अपना रङ्ग नहीं होता है, सूर्यके शुभ्र किरणोंमेंसे कुछ रङ्गका किरण पदार्थ हजम कर जाता है, बाकी रङ्गको प्रकाशित कर देता है। जो रङ्ग प्रकाशित कर देता है, वही उस पदार्थका रङ्ग हो जाता है। जो पदार्थ सब रङ्ग प्रकाशित करता है वह श्वेत रङ्गका होता है, जो पदार्थ सब रङ्गको हजम कर लेता है वह कृष्णवर्ण होता है। अतः काले रङ्गमें सब रङ्ग छिपा हुआ है, यह प्रमाणित हुआ। इसलिये काली गाय अपने शरीरमें सूर्यके सात रङ्गको पचा लेती है और रङ्गके साथ सूर्यकी शक्तिको भी आकर्षण कर लेती है यह निश्चय है। इसी कारण काली गायके दूधमें इतनी शक्ति है। भैंस काली होने पर भी तामसिक पशु होनेके कारण सूर्यशक्तिको पाकर वह अति उष्णवीर्य, तामसी दूध-ही देती है यह विज्ञानसिद्ध है। वैद्यशास्त्रमे अनिद्रारोगमे भैंसके दूधका सेवन बताया गया है। यह पशु मृत्यु अर्थात् यमराजका वाहन है। जो ब्रह्मचर्य रख-कर परमात्माकी साधना करना चाहे उसको भैंसका दूध कभी न पीना चाहिये। गोदुग्धकी तरह गोघृत और गोदधिकी भी शास्त्रोंमे बड़ी प्रशंसा की गई है।

गोघृत नेत्रोंका तेज बढ़ानेवाला, बलप्रद, मधुर, शीतल, वातपित्तनाशक है। 'आयुर्वै घृतम्' इसमें गोघृत ही शास्त्रमें कहा गया है। दही वातनाशक, स्निग्ध, दीपक और बलवर्द्धक है। उसका मट्ठा लघु, कषाय, दीपक है। उसमें सैन्धव मिलानेसे वातनाशक, शर्करा मिलानेसे पित्तनाशक और सोंठ मिलानेसे कफ नाशक होजाता है। यही सब गव्यामृतकी उपकारिता है।

घी, शहद और मूली एक साथ न खाय। ठण्डा भात पुनः गरम करके खाना वर्जित है। अमडा, निम्बू, केलेका फूल, अमरूद, नारियल, अनार, आंवला या और कोई वस्तु दूधमें मिलाकर न खानी चाहिये। शहदको गरम करके न खाय, कांसेके पात्रमें दश दिन घी रक्खा रहे तो वह न खाना चाहिये, जो मिठाई कुछ दिन पड़ी रहनेसे खट्टी हो जाय वह खाना अनुचित है। कुआं आदि घृणित कृमि-संसृष्ट, व्यभिचारिणी स्त्री या स्त्रैण पुरुषका, पैरोंसे कुचला या जूठा, चोरका, वेश्याका या सूतक लगा हो उस व्यक्तिका अन्न ग्रहण न करे। बेर कुपथ्यकी वस्तु है, उसे न खाना ही अच्छा है। लहसुन, प्याज, गाजर और कोबी नितान्त अखाद्य हैं। इन तामसिक चीजोंको कभी न खाना चाहिये। इनसे इन्द्रियकी उत्तेजना अत्यन्त बढ़ती है, मन चञ्चल और काम-परायण होता है तथा अन्तःकरण श्रीभगवान्‌की ओरसे हटकर विषयकी ओर आकृष्ट होता है। प्याजकी उत्पत्ति पुराणोंमें गोमांससे बताई गई है। इसी कारण वैद्यशास्त्रमें उसे यवनेष्ट अर्थात् यवनजातिका खाद्य बताया गया है। लहसुन, प्याज आदिकी तरह मांस, मछली, अण्डे आदिके भक्षणसे भी सत्त्वगुण नष्ट होकर रजोगुण और तमोगुण बढ़ता है तथा बुद्धि विषयासक्त, अन्ततः भ्रष्ट हो जाती है। मांसभोजी कभी सत्त्वगुणी नहीं देख पड़ेगा। मांसखानेवाले व्याघ्र आदि और तृणभोजी गौ आदि पशु इसके प्रमाण हैं। मांसाशी पशु-पक्षियोंकी जैसी प्रकृति और प्रवृत्ति होती है, मांसभोजी मनुष्योंकी वैसी ही प्रकृति और प्रवृत्ति बन जाती है। श्वान आदि मांसभोजी हैं, इसीसे अतिकामुक और अस्पृश्य हैं। जैसा भक्ष्य रहेगा, वैसी बुद्धि होगी। पशु-पक्षियोंमें देख पड़ता है कि, जिनका आहार सात्त्विक, वे शान्त, जिनका राजस, वे विलासी और जिनका तामस, वे क्रूर होते हैं। मनुष्योंको भी इन ईश्वरीय उदाहरणोंको देख अपना आहार सात्त्विक रखना उचित है। मांस खानेसे कुष्ठ, कैनसर (गलेके घाव) आदि रोग होते हैं, अतः मांस

न खाना ही उचित है । मांसकी तरह मछली भी दुर्गुणकारी है । यद्यपि मछली राजसिक है, तथापि उसके खानेसे सात्त्विकताका नाश होता है । सारांश यह कि, किसी सजीव और सुख दुःखका अनुभव करनेवाले प्राणीको मारकर खानेकी इच्छा ही मनुष्यमें हिंसावृत्ति और पाशविकभाव उत्पन्न करती है, अतः जो जीवनमें आध्यात्मिक उन्नति करना चाहते हों, उन्हें मांस मछली आदिका त्याग कर ही देना चाहिये । कितने लोग यह समझ बैठे हैं कि, मत्स्य मांस न खानेसे आयु घटती है, आंखें विगड़ती हैं और अम्ल पित्तादि रोग होते हैं । उनकी यह समझ निरी भ्रममूलक है । निरामिषाहारी पञ्चद्राविड़ और वङ्ग या अन्य प्रान्तोंकी विधवायें—जो मत्स्य मांस खाना छोड़ देती है देखिये कैसी नीरोग, दीर्घायु और सशक्त हुआ करती हैं । खानेके पदार्थोंमें अधिक मिर्चा झोंक देना उचित नहीं है । मिर्चा अत्यन्त उष्ण, गुरु और वीर्यनाशक वस्तु है । मिर्चाकी जगह काली मिरच छोड़ना उपकारी होगा ।

इन बातोंके अतिरिक्त हमारे शास्त्रोंमें वार और तिथिभेदके अनुसार भी खाद्याखाद्यका विचार किया गया है । सूर्य, चन्द्र, मंगल, शनि आदिका आकर्षण तारतम्य ही इस विचारके मूलमें है । अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमाको पृथ्वीपर चन्द्रके आकर्षणका प्रभाव बहुत होता है । जल तरल पदार्थ है, इस कारण उक्त तिथियोंमें समुद्रका जल उछलने लगता है, जिससे ज्वार-भाटा होता है । शरीरमे भी कफ, रक्त, मस्तिष्क आदि जो जलीय पदार्थ हैं, उक्त तिथियोंमें उनका उछलना भी स्वाभाविक है । चन्द्रके इस प्रकारके आकर्षणसे ही अमावस्या और पूर्णिमाको वातरोग और कफादिकी वृद्धि होती है, अतः इन तिथियोंमें कम खाना, नीरस शुष्क वस्तु खाना या दिन रात न खाना, कमसे कम रातको न खाना अच्छा है । उपवाससे देहका रस शुष्क होकर उसपर चन्द्रके आकर्षणका परिणाम नहीं होता और उससे रसाधिक्यसे होनेवाले कोई रोग शरीरमें उत्पन्न नहीं होते । चन्द्रमा मनका देवता होनेसे इन तिथियोंमें उसके आकर्षणका प्रभाव मनपर पड़कर वह चञ्चल हो उठता है । उक्त तिथियोंमें उपवास कर अथवा एकभुक्त रहकर भगवान्में ध्यान लगानेका अभ्यास करना चाहिये । ऐसा करनेसे मन शान्त रहेगा और आहार कम करनेसे विषयवासनायें कम होगी ।

अतः हिन्दुशास्त्रोक्त तिथियोंमें उपवास और उपासना करनेसे उन तिथियोंमें जो वातादि रोग, चित्तकी चञ्चलता आदि दोषोंके होनेका भय है

वह मिट जायगा। उपर्युक्त ग्रह-विज्ञानके विचारसे ही भिन्न भिन्न तिथियोंमें विभिन्न खाद्याखाद्यका निर्णय ऋषियोंने किया है, यथा—चातुर्मास्यमें श्वेत सेम, परवल, नारीका शाक, बैंगन, माघमे मूली, रविवारको लौकी, मसूर, नीम, आदी, मङ्गलवारको उर्द तथा एकादशीको भात न खाना चाहिये, इत्यादि। यही संक्षेपसे शास्त्रसम्मत खाद्याखाद्यका नियम है।

मध्याह्नकृत्यके बाद अपराह्नकृत्य प्रारम्भ होता है, उसके विषयमे शास्त्रमें लिखा है—

इतिहासपुराणानि धर्मशास्त्राणि चाभ्यसेत्।
वृथा विवादवाक्यानि परीवादश्च वर्जयेत्॥

इतिहास पुराण तथा धर्म्मशास्त्रचर्चा द्वारा मध्याह्नोत्तर कर्म्म करना चाहिये। वृथा-कलह या परनिन्दादिमें रत नहीं होना चाहिये। और भी—

इतिहासपुराणाद्यैः षष्ठसप्तमकौ नयेत्।
अष्टमे लोकयात्रा च बहिः सन्ध्या ततःपरम्॥

दिनका षष्ठ तथा सप्तम भाग इतिहास पुराणादिकी चर्चामें बिता कर अष्टम भागको बाहर भ्रमण लौकिक व्यवहार आदिमें वितावे और तदनन्तर सायं सन्ध्या करें। आर्य्यशास्त्रमे मध्याह्नभोजनके बाद दिवानिद्राका निषेध किया गया है। यथा—

दिवा स्वप्नं न कुर्वीत स्त्रियञ्चैव परित्यजेत्।
आयुःक्षीणा दिवा निद्रा दिवा स्त्री पुण्यनाशिनी।

दिवा निद्रा और दिनमें स्त्रीसम्बन्ध वर्जनीय है। दिवा निद्रासे आयु क्षीण होती है और दिवा रतिसे पुण्यनाश होता है। भोजनोत्तर वामपार्श्वमे विश्रामार्थ सोनेके विषयमें लिखा है—

'निद्रायां ये गुणाः प्रोक्तास्ते गुणा नेत्रमीलने'

भोजनोत्तर निद्रा न लेकर केवल आंखे बन्दकर विश्राम करनेसे परिपाकादिमें सुविधा हो सकती है। इस प्रकारसे मध्याह्नोत्तरकाल बिताकर—

'अहःशेषं समासीत शिष्टैरिष्टैश्च बन्धुभिः'

सन्ध्यासे कुछ पहिले भ्रमण तथा आत्मीय जनोंसे सद्रालाप करके सायं-काल सायंसन्ध्यादिकृत्य करना चाहिये। यही सब संक्षेपसे वर्णित मध्याह्नोत्तर कृत्य है। तदनन्तर सायंकृत्यमें सायं संध्या, इष्टोपासनादि विहित है। सन्ध्या समय निषिद्ध चार कर्म हैं, यथा मनुसंहितामें—

चत्वारि खलु कर्माणि सन्ध्याकाले विवर्जयेत्।
आहारं मैथुनं निद्रां स्वाध्यायञ्च चतुर्थकम्॥

सन्ध्याकालमें भोजन, रतिक्रिया, निद्रा और स्वाध्याय निषिद्ध है। साय कृत्यके बाद रात्रि कृत्यमें रात्रिभोजन मुख्य है। गृहस्थको रात्रिभोजन अवश्य करना चाहिये यथा—

'रात्रावभोजनं यस्य क्षीयन्ते तस्य धातवः'

रात्रिमें भोजन न करनेसे मांसादि सप्त धातु क्षीण होते हैं। रात्रि-भोजनका काल चार दण्ड रात्रिके बाद तथा एक प्रहर रात्रिके भीतर है। तद्-नन्तर शयनादि कृत्य हैं।

अब शयन तथा निद्रादि कृत्यपर विचार किया जाता है।

शरीरके अङ्ग प्रत्यङ्ग और स्नायुओंको विश्रान्ति न देनेसे वह चल नहीं सकता। निद्रावस्थामें उन्हें वैसी विश्रान्ति मिल जाती है, अतः निद्रा प्राणि मात्रके लिये आवश्यक है। पशुपक्षी भी सो जाते हैं। मनुष्योंमें भी परिश्रमके तारतम्यानुसार निद्रामें न्यूनाधिक्य हुआ करता है। बच्चे दिनभर खेला कूदा करते हैं, इस कारण उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग और स्नायु बहुत थक जाते हैं। उन्हें अधिक निद्रा लगना स्वाभाविक है। वृद्धावस्थामें दौड़ धूप, परिश्रम और मस्तिष्कके कार्य थोड़े होते है, इस कारण वृद्धोंको नींद कम आती है। विद्यार्थी और युवक जैसे परिश्रम करते है, वैसी उनको निद्रा भी आती है। साधारणतः छः घण्टा सोनेसे शरीरकी थकावट मिट जाती है। आवश्यकता-से अधिक सोनेसे अधिक निःश्वास व्यर्थ निकल जाते है जिससे आयु क्षीण होती है। अतिनिद्रा भी एक रोग है।

किस प्रकार तथा किस समय सोना चाहिये, इसका भी हमारे शास्त्रोंमें विचार किया गया है। हिन्दुशास्त्रकारोंने दिनमें सोनेका बड़ा निषेध किया है। वेदोंमें भी लिखा है:—"मा दिवा स्वाप्सीः" अर्थात् दिनमें नींद न लो,

दिनमें सोनेसे कफ, आलस्य और जड़ता बढ़ती है, एवं आयु क्षीण होती है। पहिले कहा गया है कि, समस्त ब्रह्माण्डमे सूर्य्य ही प्राणस्वरूप और शक्तिका निधान है इसलिये ब्राह्ममुहूर्तसे लेकर सन्ध्या समय पर्य्यन्त जबतक सूर्य्यशक्ति पृथ्वीपर फैली हो, तबतक निद्रावस्थामे न रहकर जाग्रतभावसे सूर्य्यके साथ सम्पर्क रखना चाहिये। ऐसा करनेसे जीवके क्षुद्र प्राणमे सूर्य्यका महाप्राण सञ्चरित होकर जीव पुष्टप्राण और दीर्घायु हो सकेगा। शास्त्रकारोंने दिनमे और सन्ध्या समयमे सोना इसी विचारसे निषिद्ध माना है। ग्रीष्म ऋतुमें उष्णताधिक्यसे रातभर नींद नहीं आती और दिनमें भी बेचैनी बनी रहती है, इस कारण शास्त्रोंमे आवश्यकतानुसार कभी दिनमें थोड़ा सो ले, तो उसका निषेध नहीं किया है। अन्य ऋतुओंमे तो दिवानिद्रा सर्वथा त्याज्य है।

किस दिशाकी ओर सिर करके निद्रा करनी चाहिये, इसका विचार करते हुए शास्त्र कहते हैं,—पूर्व अथवा दक्षिणकी ओर सिर करके सोना प्रशस्त है। इस शास्त्रीय आज्ञामें वैज्ञानिक रहस्य है। समस्त ब्रह्माण्डकी गति ध्रुवकी ओर होनेके कारण और ध्रुवकी स्थिति उत्तर दिशामें होनेके कारण ब्रह्माण्डान्तर्गत पृथिवी ग्रहके भीतर जो विद्युत्-धारा प्रवाहित हो रही है, उसकी भी गति दक्षिण दिशासे उत्तरकी ओर है। इसी कारण जहाजके कम्पासके बीचका चुम्बकका कांटा सदा उत्तरकी ओर ही रहता है। समुद्रमें दिग्ज्ञानका यही कांटा एक मात्र साधन है। यदि हम उत्तरकी ओर सिर करके सो जायं, तो वह पार्थिव विद्युत् हमारे पैरों से होकर सिरकी ओर प्रवाहित होगी, जिससे शिरोव्यथा या ऐसे ही सिरके अन्य रोग उत्पन्न होंगे और स्नायुपुञ्जोंमे अस्वाभाविक उत्तेजना बढ़कर प्रकृति अस्वस्थ हो रहेगी। सब दिन परिश्रम करनेसे स्नायु और मस्तिष्क आप ही दुर्बल हो जाते है, तिसपर निद्रावस्थामे विद्युत्तेज यदि उलटा ग्रहण किया जाय तो शरीर अधिक अस्वस्थ होगा इसमें सन्देह ही क्या है? यदि दक्षिणकी ओर सिर करके सोवे, तो विद्युत् सिरसे पैरोंकी ओर जायगी, जो स्वाभाविक है। इससे किसी प्रकारकी पीड़ा होनेकी सम्भावना नहीं है। पश्चिमकी ओर सिर करके सोनेसे भी वही हानि है जो उत्तरकी ओर सिर करके सोनेसे, क्योंकि जिस प्रकार पार्थिव विद्युत् दक्षिणसे उत्तरकी ओर प्रवाहित होती है, उसी प्रकार

सूर्यदेवकी प्राणमयी विद्युत् शक्ति भी पूर्वसे पश्चिमकी ओर प्रवाहित होती है। उपर्युक्त विज्ञानानुसार पश्चिमकी ओर सिर करके सोनेसे भी मस्तिष्क और स्नायुमण्डलमें पीड़ा उत्पन्न होगी, अतः पूर्व या दक्षिण सिर सोना ही उचित है। आर्यशास्त्रोंमे उत्तर अथवा पूर्वाभिमुख बैठकर पूजा पाठ, ध्यानधारणा आदि दैवकार्य करनेका आदेश है, इसका कारण भी यही है कि, सौर और पार्थिव विद्युत् शक्तिका सम्बन्ध शरीरके साथ बना रहे जिससे शरीर शक्ति-सम्पन्न हो।

शयनके पहिले श्रीभगवान्‌का स्मरणकर उन्हीका गुणानुवाद करते हुए सोना चाहिये । इससे सुनिद्रा होती है और उत्तम स्वप्न होते हैं । यही सब आर्यशास्त्रसम्मत सदाचार और उसके मूलमें वैज्ञानिक चमत्कार है।
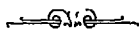
नित्यकर्म्म ।

ग्रीसदेशके प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् प्लेटो (Plato) ने संसारमें परम मङ्गल क्या है इसका लक्षण बतानेके लिये कहा है :—

"The highest good is not pleasure, not knowledge alone, but the greatest possible likeness to God, as the absolutely good."

(I bid p 128)

केवल सुख या ज्ञान मनुष्योंका परम मङ्गल नहीं है, किन्तु पूर्णमङ्गलमय परमात्माके साथ सबसे अधिक सारूप्यलाभ ही परममङ्गल है। इसीको और भी स्पष्ट रूपसे कहा गया है, यथा—

The supreme end of life or the highest good is virtue i.e. a life conformed to nature, the agreement of human conduct with the all-controlling law of nature, or of the human with the Divine will.

(I bid p 197–198)

जीवनका सर्वोत्तम लक्ष्य या परममङ्गल वही धर्म है, जिसके द्वारा मानवीय सत्ता व्यापक भगवत्सत्ताके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाय। 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' समस्त जीव परमात्माके अंशरूप हैं ऐसा गीतामें भी उपदेश है। अतः अंश और अंशीका natural affinity अर्थात् प्राकृतिक सम्बन्ध रहनेके कारण, अंशकी गति अंशीकी ओर स्वाभाविकरूपसे होती है। और इस गतिको अंश जितना बनाये रखेगा, उतनी ही उसकी स्थूल, सूक्ष्म सत्ता अक्षुण्ण रहेगी यह भी निश्चित है। जल समुद्रका अंश है, अतः उसकी गति नीचेकी ओर है, प्रकाश सूर्यका अंश है, अतः प्रदीपशिखा ऊपरकी ओर ही चलती है। जिस प्रकार natural affinity या प्राकृतिक मेल होनेके कारण जलके लिये नीचेकी ओर जाना और प्रदीपशिखाके लिये ऊपरकी ओर जाना उन वस्तुओंका नित्यकर्त्तव्य है, ऐसा ही मनुष्यके लिये भी जिसका वह अंश है उस परमात्माके साथ नित्यसम्बन्ध बनाये रखना और कदापि उस सम्बन्धको टूटने न देना नित्यकर्त्तव्य या नित्यकर्म है। इसके 'अकरणात् प्रत्यवायः' न करनेसे मनुष्य अपनी स्थितिसे अवश्य ही गिर जायगा। यही नित्यकर्मके मूलमें गूढ़ विज्ञान है जिसको इस देशके विद्वानोंकी तरह पश्चिम देशके विद्वानोंने भी अनुभव किया है जैसा कि ऊपर बताया गया।

परमात्मा निराकार है इसलिये उनसे मिलनेका सीधा उपाय उनकी शक्ति तथा उनकी विभूतियोंके साथ मिलना है। इसी कारण नित्यकर्ममें इसीकी विधियां बताई गई हैं। सन्ध्या और पञ्चमहायज्ञको नित्यकर्म कहते हैं। सन्ध्यामें परमात्माकी सृष्टिकारिणी ब्राह्मीशक्ति, स्थितिकारिणी वैष्णवीशक्ति और संहारकारिणी रौद्रीशक्तिके साथ दिवारात्रिकी तीन सन्धियोंमें मिलनेकी विधि है। इसके अतिरिक्त त्रिशक्तिसमन्वयरूपिणी गायत्री, शक्तिके परम आकर सूर्यदेव तथा पृथिवी, जल, अग्नि आदि सभीकी अधिष्ठात्री देवताओंके साथ मिलनेकी और उनकी कृपासे ज्ञान-अज्ञानकृत नित्यपापोंके दूर करनेकी विधि भी सन्ध्योपासनामें दी गई है। इसी प्रकार पञ्चमहायज्ञमें भी पञ्चसूनाजन्य पापनिवृत्तिके साथही साथ परमात्माकी पांच विभूतियोंके साथ मिलनेकी विधि है। सो किस प्रकारसे है यह सब सन्ध्या और पञ्चमहायज्ञके वर्णन प्रसङ्गमें क्रमशः बताया जायगा।

आर्यशास्त्रमें सन्ध्योपासनाकी विशेष महिमा वर्णित की गई है। वेदमें लिखा है—"अहरहः सन्ध्यामुपासीत" प्रतिदिन सन्ध्योपासना करनी चाहिये। मनुसंहितामे लिखा है—"ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुवन्" दीर्घकालतक सन्ध्योपासना करके महर्षियोंने दीर्घायु लाभ किया था और भी—"सन्ध्या उपासिता येन ब्रह्म तेन उपासितम्" सन्ध्योपासनाके द्वारा ब्रह्मकी उपासना होती है। इसका फल क्या होता है इस विषयमें यमस्मृतिमे कहा है—

सन्ध्या।

सन्ध्यामुपासते ये तु सततं संयतव्रताः।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम्॥

जो लोग संयमके साथ सन्ध्योपासना करते हैं वे पापरहित होकर अनामय ब्रह्मलोकको प्राप्त होजाते हैं। इन सब शास्त्रप्रमाणोंके द्वारा सन्ध्यावन्दनकी अतीव उपकारिता बताई गई है।

प्रातः सन्ध्यारूपी नित्यकर्मके उद्देश्यके विषयमें पुराणोंमें निम्नलिखित वचन मिलते हैं—

नत्वा तु पुण्डरीकाक्षं उपात्ताघप्रशान्तये।
ब्रह्मवर्चसकामार्थं प्रातः सन्ध्यामुपास्महे॥

कमलनयन श्रीभगवान् विष्णुको प्रणाम करके सञ्चित पापकी निवृत्ति तथा ब्रह्मतेजकी प्राप्तिके लिये हम प्रातः सन्ध्याकी उपासना करते हैं। इस श्लोकके द्वारा नित्यकर्मरूपी सन्ध्योपासनाके दो उद्देश्य वर्णित किये गये, एक नित्यकृत पापनाश और दूसरा ब्रह्मतेजकी प्राप्ति। अतः त्रैकालिक सन्ध्या तथा त्रिवेदीय सन्ध्या सभीके यथाविधि अनुष्ठान द्वारा सन्ध्याके दो उद्देश्य—पापनिवृत्ति और ब्रह्मतेजलाभ अवश्य ही सिद्ध होंगे इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। अब नीचे सन्ध्याके अन्तर्गत क्रियाओंका संक्षेप वर्णन किया जाता है।

१—सन्ध्योपासनाके अन्तर्गत प्रथम क्रियाका नाम मार्जन है। इसमें 'ॐ शन्न आपो' इत्यादि मन्त्रोंका उच्चारण करते करते कुशा अथवा इसके अभावमें कनिष्ठा, अनामिका और अंगुष्ठ द्वारा मस्तक, भूमि और ऊपरकी

और जलसिञ्चनकी विधि है। यह एक प्रकारका मन्त्रस्नान है जिससे बहिः शुद्धि तथा अन्तः शुद्धि दोनों ही होती है। शुद्धिके विना उपासना नहीं होती है, इसलिये सन्ध्योपासनाका प्रथम अङ्ग यह शुद्धि है। इस मार्जनके मन्त्रमें परमपावन ब्रह्मविभूतिस्वरूप जलके समीप बाह्यमल तथा अन्तर्मल दूर करनेके लिये प्रार्थना की जाती है। सृष्टिकार्य्यमे जल ही प्रथम वस्तु है, वह परम शिवतम रसका प्रतिरूप है, इसलिये जलमे जिस प्रकार शारीरिक मल दूर करनेकी शक्ति है ऐसी ही स्नेहमयी जननीकी तरह शरीरपोषण करनेकी शक्ति तथा परमकल्याणमय सब रसोंके मूलरूप ब्रह्ममे संयुक्त कर देनेकी शक्ति है। इसी लिये मार्जनमे जलके निकट इस प्रकारसे प्रार्थना है जिससे सन्ध्योपासकको अवश्य ही अन्तर्बहिःशुद्धि तथा ब्रह्मतेजकी प्राप्ति होती है। अर्वाचीन पुरुषोंने जो मार्जनका उद्देश्य आलस्य दूर करना लिखा है यह उनकी भूल है क्योंकि प्रातःकाल, सन्ध्याकाल आलस्यका समय नहीं होता है।

२—सन्ध्योपासनाकी द्वितीय प्रक्रियाका नाम प्राणायाम है। इसमें पूरक द्वारा वायु आकर्षण, कुम्भक द्वारा वायुधारण और रेचक द्वारा वायुरेचन किया जाता है। इन प्रक्रियाओंके क्रमानुसार नाभिदेशमे सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माका ध्यान, हृदयमे पालनकर्त्ता विष्णुका ध्यान और ललाटमे संहारकर्त्ता रुद्रका ध्यान किया जाता है। और साथ ही साथ ऐसी भी धारणा की जाती है कि मैं सूर्य्यमण्डलान्तर्गत तेजःस्वरूप परब्रह्मका चिन्तन करता हूँ जो संसार-दुःखनाशक तथा हमारी बुद्धिवृत्तिके प्रेरक है। समस्त विश्व उन्हींके तेजसे प्रकाशित हो रहा है। इस प्रकारसे प्राणायामक्रिया द्वारा व्यापक सत्तासे सम्बन्ध स्थापित होकर ब्रह्मतेजप्राप्ति तथा पापनाश होता है। इसीलिये मनु-संहितामें लिखा है—

यथा पर्वतधातूनां दोषान् दहति पावकः।
एवमन्तर्गतं चैनः प्राणायामेन दह्यते ॥

जिस प्रकार अग्निके द्वारा पार्वत्य धातुओंका मल दूर होता है उसी प्रकार प्राणायामके द्वारा हृदयस्थित पापका नाश होता है।

३—सन्ध्योपासनाकी तीसरी प्रक्रियाका नाम आचमन है। इसमे हाथमें जल लेकर उसके कुछ अंशको कण्ठके नीचे उतारकर अवशिष्ट अंशको

मस्तकपर छिड़क देना होता है। तदनन्तर पूर्वकृत सन्ध्योपासनाके समयसे लेकर वर्त्तमान सन्ध्योपासनाके समयपर्यन्त शरीर और मनके द्वारा यदि कोई पापकार्य हुआ हो तो उसके सम्पूर्ण विनाशके लिये मन्त्र द्वारा तीव्र इच्छा प्रकट की जाती है। इसमें प्रातःकाल वाह्यजगत्के सूर्य्यरूपी हृदयस्थित अन्तर्ज्योतिमें, मध्याह्नके समय देह तथा देहीके अतिघनिष्ट सम्बन्धकी धारणा करके जलमें और सायंकालके समय परमात्माके सत्त्वज्योतिःस्वरूप अग्निमें पापकी आहुति देनी होती है। इस प्रकार आचमन क्रियासे अहोरात्रकृत पापोंको दग्ध करके सूर्यास्तमें जीवात्माकी शुद्धि सम्पादन द्वारा ज्ञानशक्ति तथा ब्रह्मतेजका लाभ किया जाता है। अर्वाचीन पुरुषोंने जो आचमनमें जल लेनेका उद्देश्य कफ पित्तकी निवृत्ति करना बताया है यह उनका मिथ्या प्रलाप है। क्योंकि जलसे कफ बढ़ता है घटता नहीं और सायं प्रातःकालमें पित्त वृद्धि नहीं होती है। मध्याह्नमें पित्तवृद्धि और सायंकालमें वायुवृद्धि होती है।

४—सन्ध्योपासनाके अन्तर्गत चतुर्थ क्रियाका नाम पुनर्मार्ज्जन है। यह क्रिया पूर्वकथित मार्जनक्रियाके अनुरूप ही है। केवल ऋष्यादि स्मरण पूर्वक देह तथा जीवात्माको और भी विशेषरूपसे पवित्र करना ही इसका मुख्य उद्देश्य है।

५—सन्ध्योपासनाकी पञ्चम क्रियाका नाम अघमर्षण है। अघमर्षण शब्दका अर्थ पापनाशन है। इसमें नासिकारन्ध्रके निकट एक गण्डूष जल रखकर मन्त्रोच्चारण करते करते ऐसी चिन्ता करनी होती है कि देहस्थित पाप-राशि कृष्णवर्ण पापपुरुषके रूपमें इस जलमें मिल गया है और इसीलिये यह जल काला होगया है। इस प्रकार चिन्ता करनेके बाद उस जलको दक्षिण हस्तसे वामपार्श्वमें बलपूर्वक फेंक देना चाहिये और चिन्ता करनी चाहिये कि वह पापपुरुष विनष्ट होगया। यही अघमर्षण क्रिया है।

६—सन्ध्योपासनाकी षष्ठ क्रियाका नाम सूर्योपस्थान है। इसमें परमात्माके साक्षात् विभूतिरूप सूर्यदेवके उपस्थान द्वारा ब्रह्मतेजकी प्राप्ति तथा ज्ञानका उन्मेष होता है। सन्ध्यामें सूर्यके उपस्थानकी जो ऋचाएं हैं उनमेंसे पहला मन्त्र उदय होनेवाले सूर्यके दर्शनसे जीवजगत्मे आनन्दोच्छ्वासका अपूर्व प्रकाशक है। यथा—"विश्वप्रकाशके लिये रश्मिगण सूर्यको वहन किये आती है। सूर्यदेव अन्तरिक्ष और पृथिवीके नेत्रस्वरूप तथा चराचर जगत्के आत्मास्वरूप हैं।"

सूर्योपस्थानके समय जिस प्रकारकी मुद्राका प्रयोग किया जाता है उससे ज्ञान पड़ता है कि उपासक सूर्यके साथ मिलनेके लिये प्रस्तुत है। इससे उपासकको तेजोलाभ, ज्ञानलाभ तथा पवित्रतालाभ होता है। इसके उपरान्त सूर्यमण्डलके मध्यमें प्रातःकाल गायत्री, मध्याह्नकाल सावित्री और सायंकाल सरस्वती नामसे एक ही महादेवीके त्रिविध रूपोंका जो ध्यान बताया गया है उससे भी ब्रह्मतेजप्राप्ति तथा तत्त्वज्ञानका उन्मेष होता है। इस प्रकारसे पूर्व पूर्व क्रियाओंके द्वारा पापनाशके बाद सूर्योपस्थान क्रियाके द्वारा ब्रह्मतेजप्राप्ति तथा ज्ञानका विकाश होता है।

सूर्यदेवकी इस असीम शक्तिको जानकर कितने ही पश्चिमी विद्वानोंने उन्हे ज्योतिः पिण्ड न कहकर देवता कहा है और उसकी किरणोंको आत्माका प्रकाश करके बताया है, यथा—

Since the sun is the first cause of life on our globe, since he is as we have proved, the origin of life, feeling and thought, since he is the determining cause of the existence of every thing possessing organisation upon the earth, why may we not hold that the rays which the sun pours upon the earth and the other planets are nothing else but the emanations from these souls? That they are emissions from pure spirit dwelling in the Central Star, directed towards us adn the other planets, under the visible form of rays?

(The day after Death p 105-106)

जब यह बात सिद्ध है कि पृथिवीमें प्राणविकाशका प्रथम कारण सूर्य ही है, मनुष्योंमें प्राणशक्ति, चिन्ताशक्ति तथा अनुभवशक्तिका आदिनिदान सूर्य ही है, और जो कुछ व्यवस्थित सत्ता ससारमे है उसकी भी व्यवस्थाके मूलमे सूर्य ही है, तो ऐसा सिद्धान्त करना अनुचित न होगा कि सूर्यकिरण सामान्यकिरण नही है, किन्तु सवितृमण्डलमध्यवर्ती महान् आत्माका स्थूल विकाश है, जो रश्मिके रूपमें हमें तथा अन्यान्य ग्रहगणको प्राप्त होते है। इस प्रकारसे सूर्योपस्थानकी महिमाको पश्चिमी विद्वानोंने भी स्वीकार किया है।

७—सन्ध्याकी सप्तम क्रियामे गायत्रीका आवाहन, ध्यान और जपकी विधि है। त्रिकालके भेदसे गायत्रीके अधिष्ठात्री देवता भी तीन है, यथा—

ब्राह्मी, वैष्णवी और माहेश्वरी देवी। इनके पृथक् पृथक् रूप तथा भावके अनुसार ध्यान भी पृथक् पृथक् हैं। उनको अक्षरत्रयमयी, ब्रह्मवादिनी, सनातनी वेदमातृरूपसे आवाहन करके उनकी उपासना तथा उनसे शक्ति मांगी जाती है जिससे सन्ध्योपासकको शक्तिलाभ, ब्रह्मतेजलाभ तथा ज्ञानलाभ होता है। यही सन्ध्यान्तर्गत सप्तम प्रक्रिया है।

८—सन्ध्याकी अष्टम क्रियामें आत्मरक्षा, नवम क्रियामे रुद्रोपस्थान और दशम क्रियामें सूर्यार्घ्यका विधान किया गया है। आत्मरक्षा द्वारा आत्माकी उन्नत स्थितिका लाभ, रुद्रोपस्थान द्वारा तेजोलाभ और सूर्यार्घ्य द्वारा सूर्य देवताका अन्तिम अभिनन्दन होता है। इस प्रकारसे सन्ध्योपासनारूपी नित्यकर्मके त्रिकालानुष्ठान द्वारा नित्यकृत पापनाश तथा ब्रह्मतेजका क्रमविकाश होता है।

सन्ध्योपासनाके अन्तर्गत अघमर्षण, आचमन, उपस्थान आदि अनेक क्रियाओंमें इच्छाशक्तिका प्रयोग (auto-suggestion) करके तदनुरूप फलकी जो आकांक्षा की जाती है, उसके विषयमे वर्त्तमान वैज्ञानिकजगत्मे भी वहुत कुछ चिन्ता की गई है। जार्ज एल. डेभिस (George L. Davis) साहबने इस विषयमें कहा है—

If we are observant and experimental, like a great scientist, we soon learn what thoughts and how we hold them, bring good results and what thoughts or the misapplication of them, produce bad results. And that by always holding certain beautiful, good, true and loving thoughts, positively registered in our sub-consciousness there is always reproduced in our lives and circumstances the exact results of health, happiness and prosperity that we expect. Create your variant thought images or ideal desires in the same serene faith that you have in the multiplication rule and by the inevitable law of life you get the inevitable result. 'Whatsoever a man thinketh in his own heart so is he.'

(The Logic of Right Thought—Kalpaka)

यदि यथार्थ वैज्ञानिककी दृष्टिसे हम देखना आरम्भ करेंगे तो हमें मालूम हो जायगा कि चिन्ताशक्तिके प्रयोगसे किसप्रकारसे अच्छे बुरे फल उत्पन्न होते हैं और अच्छी चिन्ताका संस्कार अन्तरात्मा पर खचित होकर स्वास्थ्य, सुख, सम्पत्तिरूपी फलको किसप्रकारसे उत्पन्न किया करता है। सच्चे विश्वासके साथ चिन्ताकी प्रतिमाको प्रस्तुत करो, जीवनके अवश्यम्भावी नियमानुसार फल भी अवश्य ही होगा, मनुष्य वैसा ही है जैसा कि उसके हृदयमें मार्मिक चिन्ता है। सन्ध्योपासनमें भी ऐसी ही चिन्ताशक्तिसे कितना ही काम लिया जाता है। यही सन्ध्योपासनाका शास्त्रवर्णित वैज्ञानिक रहस्य है।

नित्यकर्मके लक्षण वर्णन प्रसङ्गमें यह बात पहिले ही कही गई है कि नित्यकर्मके अनुष्ठान द्वारा जीव नित्यकृत पापसे बचकर अपनी प्राक्तनानुकूल उन्नत स्थितिमें दृढ़ रह सकता है और नित्यकर्मरूपसे अनुष्ठेय उपासनादिके द्वारा व्यापक सत्तासे सम्बन्ध बांधकर स्वतः ही आध्यात्मिक उन्नति तथा पूर्णताके पथपर चल सकता है। इसलिये नित्यकर्मके द्वारा यद्यपि किसी प्रकारके संकल्पित फलकी प्राप्ति नहीं होती है तथापि स्वाभाविक रूपसे आध्यात्मिक उन्नति लाभ अवश्य ही होता है। जीवसत्ता सदा ही परिच्छिन्न तथा अनुदार है इस कारण यदि जीव व्यापक सत्ताके साथ अपना तादात्म्य सम्बन्ध स्थापन नहीं करेगा तो कदापि अपनी परिच्छिन्नता और अनुदारताको काटकर ब्रह्मभावका लाभ नहीं कर सकेगा। इसलिये पूज्यपाद महर्षियोंने सन्ध्या तथा पञ्च महायज्ञरूपी नित्यकर्मके द्वारा प्रत्येक गृहस्थके लिये व्यापक सत्ताके साथ सम्बन्ध-स्थापन पूर्वक आध्यात्मिक उन्नति करनेकी विधि बताई है। सन्ध्याविधिके अन्तर्गत जो क्रियाएं हैं उनपर मनन करनेसे स्पष्ट ही विदित होता है कि उन क्रियाओंके द्वारा द्विजगण प्रकारान्तरसे व्यापक ब्रह्मकी ही उपासना करते हैं। जलाधिष्ठात्री देवता, सूर्यात्मा, ब्रह्मशक्तिरूपिणी गायत्री आदिकी उपासना ब्रह्मोपासनाका ही रूपान्तरमात्र है। इस प्रकारसे सन्ध्योपासनाके द्वारा कारण ब्रह्मके साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापन होता है। सन्ध्या तीन ही हैं दो नहीं, जैसा कि अर्वाचीन लोग कहते हैं। वल्कि तन्त्रशास्त्रमें तो महानिशा सन्ध्या नामक चौथी सन्ध्या भी लिखी है। तैत्तिरीयारण्यकमें अनु० २३ में 'ॐ आपः पुनन्तु पृथिवीम्' इत्यादि मध्याह्न सन्ध्याका आचमन भी लिखा गया है। महाभारत वनपर्व अ० २६३ श्लो० २८ में 'ते चावतीर्णा सलिले कृतवन्तोऽघम-

षणम्' ऐसा कहकर महर्षि दुर्वासाकी मध्याह्न सन्ध्या लिखी है। महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—'सन्ध्यात्रय तु कर्त्तव्यं द्विजेनात्मविदा सदा' इत्यादि तीन सन्ध्याके अनेक प्रमाण मिलते हैं।

पञ्चमहायज्ञ।

जिस प्रकार सन्ध्योपासनाके द्वारा कारणब्रह्मके साथ तादात्म्य संबन्ध स्थापन होता है उसी प्रकार पञ्चमहायज्ञके द्वारा कार्यब्रह्मके समस्त अङ्गोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। कार्यब्रह्मके सकल अङ्गोंके अनुसन्धान करनेसे यही देखा जाता है कि कारणब्रह्मकी आध्यात्मिक विभूतिका विकाश ऋषियोंके द्वारा, आधिदैविक विभूतिका विकाश देवताओंके द्वारा, आधिभौतिक विभूतिका विकाश पितरोंके द्वारा, विशेष कलाका विकाश मनुष्योंके द्वारा और साधारण कलाका विकाश जड़ जीवोंके द्वारा होता है। अतः कार्यब्रह्मके साथ तादात्म्य भाव स्थापनके लिये इन पांचोंकी नित्यसेवा सर्वथा कर्तव्य है। इसी आशयकी चिन्ता हेनरी ड्रमण्ड साहबने भी की है, यथा—

Uninterrupted correspondence with a perfect environment is eternal life according to science. Life eternal is to know God. To Know God is to correspond with God. To correspond with God is to correspond with perfect environment. And the organism which attains to this in the nature of things must live for ever. Here is eternal existence and eternal knowledge.

·(Natural Law in the spiritual World p 215)

विज्ञानके अनुसार अनन्त, शाश्वत जीवन वही है जिसमें सर्वतोव्यापी पूर्ण सत्ताके साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध बना रहे। यही शाश्वत जीवन परमात्माके अनुभवका जीवन है। परमात्माके अनुभवका यही तत्त्व है कि उनके साथ सदैव सम्बन्ध कायम रहे। उनके साथ सम्बन्ध कायम रहनेसे उनकी चारों ओर स्थित विभूतियों तथा शक्तियोंके साथ भी सम्बन्ध कायम रहता है। और जिस सत्ताकी पहुंच यहां तक हो चुकी है वह स्वतः ही चिरस्थायी रहेगी। यही नित्य स्थिति और नित्य ज्ञानका तत्त्व है। अब पञ्चमहायज्ञके रहस्य वर्णन द्वारा नीचे क्रमशः इसका रहस्य बताया जाता है।

यज्ञ और महायज्ञ दोनोका एक ही अनुष्ठान होनेपर भी साधारणतः यह भेद बताया जा सकता है कि यज्ञफलरूप आत्मोन्नतिके साथ व्यष्टिका सम्बन्ध प्रधान होनेसे इसमें स्वार्थ सम्बन्ध अधिक रहता है, परन्तु महायज्ञका यह महत्त्व है कि इसमें समष्टि-सम्बन्ध प्रधान रहनेसे इसका फल जगत्-कल्याणके साथ आत्माका कल्याण है। इसलिये महायज्ञमें निःस्वार्थता, निष्कामभाव और हृदयकी उदारताका सम्बन्ध अधिक रहता है।

अविद्याग्रसित जीवभावको त्याग करके ब्रह्मभावकी उपलब्धि करना जब मनुष्यजन्मका लक्ष्य है तो जिस कार्य्यके द्वारा यह लक्ष्य सिद्ध होगा उसीकी महिमा सर्व्वोपरि होगी इसमें सन्देह नहीं है। जीवभावके साथ ईश्वरभावका यही भेद है कि जीव अल्पज्ञ है और ईश्वर सर्व्वज्ञ है, जीव देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न है और ईश्वर इनसे अपरिच्छिन्न होनेके कारण विभु नित्य एव पूर्ण है, जीव अविद्याके अधीन है और ईश्वर मायाके अधीश्वर है, जीवभाव स्वार्थपर एवं साहङ्कार है और ईश्वरभाव परार्थपर एवं निरहङ्कार है, जीवकी सत्सत्ता क्षुद्र है, चित्सत्ता भ्रमजालयुक्त है एवं आनन्दसत्ता माया-की छायाके कारण अनित्य सुखरूपमें परिणत है, परन्तु ब्रह्मकी सत्सत्ता अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डमें परिव्याप्त है, उनकी चित्सत्ता अनन्त ज्ञानमय है और उनकी आनन्दसत्ता मायासे परे, सुख दुःखसे बाहर नित्यानन्दमय है। इसलिये जिस अनुष्ठानके द्वारा जीवभावकी ऊपर लिखी हुई समस्त क्षुद्रता नष्ट होकर विराट्, उदार, पूर्ण, ज्ञानमय, आनन्दमय, निःस्वार्थ, निरहङ्कार, सर्व्वतोव्याप्त ब्रह्मभावके साथ एकता प्राप्ति हो, वह अनुष्ठान सबसे महान्, महत्तर और महत्तम होगा, इसमें सन्देह ही क्या है, प्रस्तावित विषय महायज्ञ इसी परम महिमासे पूर्ण है, इसलिये ही महायज्ञ महान् है। यज्ञके द्वारा सकाम साधकको बहुधा ऐहिक और पारत्रिक सुखलाभ होनेपर भी महायज्ञके द्वारा आत्माकी शुद्धि और मुक्ति होती है, एव सब वर्ण और सब आश्रमके लोग इसका अनुष्ठान करके अपवर्ग लाभ कर सकते हैं, जैसा कि नीचे वर्णन किया जाता है।

श्रीभगवान् मनुने कहा है कि :—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

अध्ययन अध्यापनका नाम ब्रह्मयज्ञ, अन्न अथवा जलके द्वारा नित्य नैमित्तिक पितरोंके तर्पण करनेका नाम पितृयज्ञ, देवताओंको लक्ष्य करके होम करनेका नाम देवयज्ञ, पशु पक्षी आदिको अन्नादि दान करनेका नाम भूतयज्ञ और अतिथिसेवाका नाम नृयज्ञ है। जो गृहस्थ यथाशक्ति इस पञ्चमहायज्ञका अनुष्ठान करते हैं उनको गृहस्थमें रहनेपर भी पञ्चसूना दोष अर्थात् चूल्हा, चक्की, सिल-वट्टा, पानीका घड़ा आदिमें जीवहत्याका दोष स्पर्श नहीं करता।

अब नीचे इन यज्ञों द्वारा अपना तथा विश्वका कल्याण कैसे होता है सो बताया जाता है।

वेद और शास्त्रसम्मत सकल शास्त्रोंका अध्ययन करना ब्रह्मयज्ञ कहाता है। पञ्चमहायज्ञोंमें यह यज्ञ सर्वप्रथम है। पूज्यपाद महर्षिगण आध्यात्मिक ज्ञान विस्तारके कर्त्ता होनेके कारण सर्व्वदा पूजनीय है। ज्ञान ही सब सुखोंका मूल है और ज्ञान ही मुक्ति-पद लाभका कारण है। ऐसे ज्ञानके प्रवर्त्तक पूज्यपाद महर्षिगणसे कौन मनुष्यगण उत्तीर्ण हो सकते हैं? कोई भी नहीं। केवल उन महर्षियोंके निकट कृतज्ञता दिखानेके लिये, उनके सम्वर्द्धनके लिये और यथा कथञ्चित् ऋषिगणके ऋणसे उऋण होनेके लिये ब्रह्मयज्ञ किया जाता है। वे सम्वर्द्धित और प्रसन्न होकर उस देशकी मनुष्यजातिमें आध्यात्मिक ज्योतिरूप ज्ञानका विस्तार किया करते है, क्योंकि उनकी प्रसन्नताका फल यही है। इस प्रकारसे ब्रह्मयज्ञ द्वारा अपना कल्याण, जगत्कल्याण तथा ऋषिशक्तिके साथ तादात्म्य स्थापन होता है।

इष्ट उपासनाके अर्थ भगवत्पूजारूपसे परमात्मा और उनकी शक्तियोंके लक्ष्यसे अग्निमें आहुति प्रदान करनेपर देवयज्ञका साधन हुआ करता है पञ्चमहायज्ञोंमें यह यज्ञ द्वितीयस्थानीय है। श्रीभगवान्‌की अधिदैव शक्तिके सम्वर्द्धनार्थ इस यज्ञका साधन किया जाता है।

जिस प्रकार श्रीभगवान्‌की आध्यात्मिक शक्तिके अधिष्ठाता ऋषि हैं, उसी प्रकार उनकी अधिदैव शक्तिके अधिष्ठाता और अधिष्ठात्री देव देविगण है। देवता बहुत है और वे नित्य नैमित्तिक भेदमें विभक्त हैं। रुद्रगण, वसुगण और इन्द्रादिक नित्यदेवता है और ग्रामदेवता, गृहदेवता, वनदेवता आदि नैमित्तिक है। वस्तुतस्तु अधिदैव शक्तिकी पूजा ही इस यज्ञके द्वारा होती है। देवता प्रसन्न

होने पर यावत् सुख दान करते है। जिन देवताओंकी कृपासे जड़भावापन्न कर्म्मसे फलकी उत्पत्ति होती है, जिन देवताओंकी कृपासे यावत् सुख और शान्ति प्राप्त होती है, जिन देवताओंकी कृपासे मनुष्य अपने भोगोंको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है, और जो देवतागण सदा ब्रह्माण्डकी यावत् क्रियाओंको यथा समय सुसम्पन्न करके उसकी सुरक्षा करते है, ऐसे देवताओंके ऋणसे कौन उऋण हो सकता है? कोई नही। श्रीभगवान्‌की आध्यात्मिक शक्तिके परिचालक ऋषिगण और अधिदैव शक्तिके परिचालक देव-देविगणके सृष्टिके रक्षणार्थ अवतार भी होते है। भगवदवतारकी नाईं ऋषि और देवताओंके अवतार भी पूजनीय है। देवता और उनके अवतारोंकी पूजा करनेसे वे सन्तुष्ट होकर समष्टि जगत्मे शक्ति और सुखका विस्तार करेंगे। देवयज्ञका साधक इस रीति पर देवयज्ञके द्वारा समष्टि जगत्मे शक्ति और सुखविस्तारका कारण हो सकता है। यही देवयज्ञ साधनका विश्वजनीन भाव है।

कीट, पक्षी, पशु आदिकी सेवारूप यज्ञका नाम भूतयज्ञ है। भूतयज्ञ पञ्चमहायज्ञमें तृतीय स्थानीय है, अर्थात् देवयज्ञ साधनके अनन्तर भूतयज्ञ साधन करनेकी विधि है। एव ऐसी आज्ञा है कि देवयज्ञसे बचे हुए अन्नादिके द्वारा पृथिवीपर भूतयज्ञका अनुष्ठान किया जाय और तदनन्तर वह अन्न पशुपक्षी आदिको अथवा गायको खिला दिया जाय।

उद्भिज्ज जातीय औषधि, लता, गुल्म और वृक्षसे लेकर स्वेदज अण्डज जरायुज जातीय सकल प्रकारके प्राणियोंके साथ जब इस ब्रह्माण्डका समष्टि व्यष्टि सम्बन्ध है तो यह मानना ही पड़ेगा कि उनके सम्वर्द्धनसे ब्रह्माण्डका सम्वर्द्धन होता है। सृष्टिके कोई अङ्ग भी उपेक्षा करने योग्य नही हैं, उसके एक अङ्गकी सहायतासे सब अङ्गोकी सहायता मानी जा सकती है, इस विचारसे भूतयज्ञ परम धर्म्म है। दूसरा विचार यह है कि मनुष्य अपने सुखके लिये अनेक जीवोंको कष्ट दिया करता है जैसा कि पञ्चसूनामे वर्णन है। मनुष्योंके प्रत्येक निःश्वासमे कितने लक्ष जीव आत्मबलि देते है। मनुष्यकी तृष्णाकी शान्तिके लिये जलान्तर्गत कितने जीव आत्मोत्सर्ग किया करते हैं। यदि मनुष्य निरामिषभोजी भी हो तौ भी उसके खाद्य पदार्थके प्रत्येक ग्रासमे कितने जीवोंका नाश होता है। अपि च मनुष्योंके सुख-सम्पादनके अर्थ भूतोंको क्लेश दिये बिना तो कोई काम ही नही चलता, अब थोड़े ही विचारसे समझमे

आ सकेगा कि भूतोंके ऋणसे मनुष्य कदापि उऋण नहीं हो सकता है । अस्तु भूतयज्ञ द्वारा मनुष्य तत्तद्भूतरक्षक देवताओंकी सहायतासे उनके सम्वर्द्धनार्थ जो कुछ पुरुषार्थ करेगा सो अवश्य महायज्ञकहाने योग्य है।

मनुष्यके नीचे जितने जीव हैं उनमेंसे प्रत्येक श्रेणीके जीवोंपर एक एक अधिष्ठात्री देवता है। जैसा कि समस्त श्वानों पर एक देवता, समस्त अश्वों पर एक देवता, समस्त हाथियों पर एक देवता, इस तरहसे प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागोंमें अलग अलग पशुजाति, पक्षिजाति और कीट पतङ्ग उद्भिज्जादि जातिपर एक एक देवता है । भूतयज्ञमें उन सब देवताओंके नामपर बलि दी जाती है जिससे उन सब देवता या दैवी शक्तियोंके अधीन समस्त पशु पक्षी आदिकी तृप्ति होती है यही भूतयज्ञका गूढ़ रहस्य है।

पञ्चमहायज्ञोंमें पितृयज्ञ चतुर्थस्थानीय है । अर्य्यमादि नित्य पितर और परलोकगामी नैमित्तिक पितरोंको तर्पण, पिण्डप्रदानादि द्वारा संवर्द्धित करनेसे पितृयज्ञ होता है।

पितृयज्ञादिके द्वारा पितृगण सम्वर्द्धित होकर संसारमें स्वास्थ्य और बल आदिका सम्वर्द्धन किया करते हैं।

तर्पण विधिमें लिखा है—

> आब्रह्मभुवनाल्लोका देवर्षिपितृमानवाः।
> तृप्यन्तु पितरः सर्व्वे मातृमातामहादयः॥
> नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः।
> तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया॥

ब्रह्मलोकसे लेकर समस्त संसार, देवता, ऋषि, पितर, मानव, माता और मातामहादि पितर हमारे किये हुए अनुष्ठानके द्वारा तृप्त हों । समस्त नरकमें यातनायुक्त जितने जीव हैं उनके उद्धारके लिये मैं यह जल प्रदान करता हूँ । अतः केवल अपने आत्मीय सम्बन्धयुक्त पितरोंकी ही पूजा करनेकी विधि नहीं है, परन्तु परलोक सम्बन्धसे महर्षिगणसे लेकर सब प्रकारके आत्माकी तृप्तिके अर्थ ही इस यज्ञका विधान किया गया है। ज्ञानराज्यके चालक ऋषि, कर्मराज्यके चालक देवता और आधिभौतिक राज्यके चालक

पितृगण है। अपना शरीर स्वस्थ रहना, आत्मीयोंका शरीर स्वस्थ रहना, देशवासियोंका शरीर स्वस्थ रहना, जगत्‌के प्राणिमात्रकी आधिभौतिक स्वस्थता, ऋतुओंका ठीक समय पर होना इत्यादि सब नित्य पितरोंका कार्य्य है। अर्य्यमादि नित्यपितर कहाते हैं और पितृलोकमें गये हुए हमारे पूर्व्वज नैमित्तिक पितर कहाते हैं। इस प्रकारके पितृगणकी तृप्तिके अर्थ जगत्कल्याण बुद्धिसे जो क्रिया की जायगी वह क्रिया अवश्य महाफल होगी, इसमें सन्देह ही क्या है।

विचारशील मनुष्यगण तर्पण और पितृयज्ञके मन्त्रोंपर निरपेक्षरूपसे जितना मनन करेंगे उतना ही जान सकेंगे कि केवल सार्व्वभौम मतयुक्त परार्थभाव, जगत्‌की सेवा और तृप्ति एवं उसके साथ ही साथ विश्वजीवनके साथ ऐक्य सम्पादन करनेके अर्थ यह यज्ञ किया जाता है। यही पितृयज्ञकी परम महिमा है।

मनुष्यजीवनके विचारसे जिस प्रकार एक मनुष्य समस्त मनुष्यसमाजका एक अङ्ग होता है उसी प्रकार यह स्थिर निश्चय है कि मनुष्यजीवन विश्वजीवनका एक अङ्ग है। इसी विश्वजीवनसे मनुष्यजीवनका तादात्म्य सम्बन्ध स्थिर रखनेके अर्थ अतिथिसेवारूप नृयज्ञका साधन करना प्रथम कर्त्तव्य कर्म्म है।

अथर्ववेदके अतिथिसूक्त ६।४।८ में लिखा है—

एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्च स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः।
सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति॥

अतिथि प्रिय हो या अप्रिय भोजन करानेपर वह यजमानको स्वर्ग पहुंचा देता है और पाप नाश करता है।

यह संसार अधिभूतप्रधान होनेके कारण अपने शास्त्रोंमें इसी यज्ञकी सर्व्वोपरि आवश्यकता मानी गई है। यदि गृहस्थ दरिद्रसे भी अति दरिद्र होवे तो भी कदापि अतिथिसेवासे उसे विरत होना उचित नहीं है। शास्त्रोंमें कहा है कि :—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्त्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति॥

अतिथि असत्कृत होकर गृहस्थके घरसे लौट जानेपर उसे अपना पाप देकर उसका पुण्य अपने साथ ले जाया करते हैं । अतिथिके प्रसन्न होनेपर गृहस्थको धन, आयु, यश और स्वर्गकी प्राप्ति हुआ करती है । विश्वजीवनके साथ अपने आत्माका एकत्व सम्बन्ध स्थापन करनेसे मनुष्य मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है । किन्तु इस भावको कार्यरूपमें परिणत करनेमें कठिनता यह है कि एक मनुष्य कदापि संसारभरके सब मनुष्योंकी सेवा नहीं कर सकता । इसी कठिनताको सुसाध्य करनेके लिये विशेष देश तथा विशेष कालमें मनुष्यकी पूजा करनेको नृयज्ञ कहते है ; अर्थात् भोजनकाल तक घरपर चाहे किसी जाति वा किसी धर्म्मका मनुष्य क्यों न आवे, उसे नारायण समझकर उसका सत्कार करना नृयज्ञ है । इस प्रकार नित्यकर्मरूपसे पञ्चमहायज्ञका अनुष्ठान होता है ।

अर्वाचीन पुरुषोंने विचित्र युक्तियों द्वारा देवयज्ञमें हवनका उद्देश्य केवल वायुशुद्ध करना बताया है । यह उनकी सम्पूर्ण भूल है । वायुशुद्धि और भी सस्ती चीजोंसे और भी अधिक हो सकती है इसके लिये कीमती घी खर्च करनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है । वायुशुद्धिमें 'मन्त्र' पढ़नेकी और 'स्वाहा स्वाहा' कहनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है । 'मन्त्र पढ़नेसे होमके लाभ विदित होते हैं' यह भी उनका कहना मिथ्या है, क्योंकि 'विश्वानि देव' आदि मन्त्रोंमें कहीं होमका लाभ नहीं बताया गया है । हवनसे दैवजगत्के साथ कैसा सम्बन्ध होता है इस विषयमें यजु० अ० ११ मं० ३५ में वर्णन है—

सीद होतः स्वउ लोके चिकित्वान्त्सादया यज्ञ ᳪ सुकृतस्य योनौ ।
देवावीर्देवान् हविषा यजास्यग्ने बृहद् यजमाने वयोधाः ॥

हे देवताओंके आह्वान करनेवाले अग्निदेवता, सर्वज्ञ तुम अपने लोकमें ठहरो और श्रेष्ठकर्म यज्ञके स्थान कृष्णाजिनपर ही यज्ञको स्थापन करो । हे अग्ने ! जिस कारण देवताओंकी तृप्ति करनेवाले तुम हव्यसे देवताओंको पूजते हो, इसी कारण यजमानमें बड़ी आयु और अन्नको धारण करो । और भी मनु० अ० ३, श्लोक ७६ में—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

अग्निमें डाली हुई आहुति सूर्यदेवताको प्राप्त होती है । सूर्यसे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और उससे वीर्यादि द्वारा प्रजाकी उत्पत्ति होती है । 'इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः' देवतागण हवनसे तृप्त होकर उत्तम भोग जीवको देते हैं । इत्यादि सहस्र सहस्र प्रमाण केवल वायुशुद्धिके विरुद्ध तथा हवन द्वारा दैवजगत्से सम्बन्धके विषयमें आर्यशास्त्रमें पाये जाते हैं । अतः अर्वाचीन पुरुषोंका यह सब मिथ्या प्रलापमात्र है । इसके सिवाय दैवजगत्का रहस्य न समझकर उन्होंने चार वेदके ज्ञाता मनुष्यको ब्रह्मा, विद्वान्को देवता और जीवित पिता माताओंको जो तर्पण करने योग्य पितर कह दिया है, यह सब उनकी प्रचण्ड भूल है । इन सब भ्रान्तियोंका निराकरण आगेके अध्यायोंमें प्रकरणानुसार किया जायगा । अब नीचे सन्ध्योपासनामें विहित गायत्रीका रहस्य बताया जाता है ।

गायत्री महिमा

आर्यशास्त्रमें कहा है कि,—'या सन्ध्या सा तु गायत्री द्विधाभूता प्रतिष्ठिता' अर्थात् जिस प्रकार सन्ध्योपासना ब्रह्मोपासना है, उसी प्रकार गायत्री-उपासना भी ब्रह्मोपासना है, क्योंकि दोनों ही उपासनाओंमें ब्राह्मी, वैष्णवी, रौद्री—रूपिणी त्रिधाविभक्त ब्रह्मशक्तिकी उपासना होती है । त्रिसन्ध्याओंमें ये तीन शक्तियां पृथक् पृथक् उपस्थित होती हैं और गायत्रीदेवीमें ये तीन शक्तियां एकाधारमें सन्निविष्ट हैं । प्रलयानन्तर सृष्टिके समय परमात्मामें प्रथमतः इच्छाशक्तिका विकाश होता है और तदनन्तर क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्तिके विकाशके साथ ही साथ उनके देवता ब्रह्मा, विष्णु, महेश, उनकी ब्राह्मी, वैष्णवी, रौद्री नाम्नी तीन शक्तियां, तीनोंकी समन्वयरूपिणी त्रिपदा गायत्री, त्रिदेव समन्वयरूप ओंकार, ज्ञानाधार त्रिवेद तथा कार्यब्रह्मके अन्तर्गत भूर्भुवःस्वःरूप व्याहृतित्रयका विकाश हो जाता है। प्रथम तीन शक्तियोंका विकाश होकर पश्चात् वेदोंका आविर्भाव होता है, इस कारण त्रिशक्तिसमन्वय-रूपिणी गायत्रीदेवीको वेदजननी कहा गया है।

गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी ।
गायत्र्यास्तु परं नास्ति दिवि चेह च पावनम् ॥

गायत्री वेदमाता है, गायत्री पापनाशकारिणी है, गायत्री जैसी पवित्र वस्तु, मर्त्यलोक या द्युलोकमें कहीं भी नहीं है । अब नीचे नाना शास्त्रोंसे

गायत्रीके भावार्थ, रहस्य तथा महिमाके विषयमें वर्णन किये जाते हैं। गायत्रीका पूरा मन्त्र यह है—

'ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्' ।

इसी मन्त्रका जप या चिन्तन करना चाहिये। यथा कूर्मपुराणमें :—

ओंकारमादितः कृत्वा व्याहृतीस्तदनन्तरम् ।
ततोऽधीयीत सावित्रीमेकाग्रः श्रद्धयान्वितः ॥

एकाग्रचित्तसे श्रद्धायुक्त होकर प्रथम ओंकार तदनन्तर भूर्भुवः स्वः नामक व्याहृतित्रय और तत्पश्चात् गायत्रीका उच्चारण करना चाहिये। महर्षि व्यासने भी कहा है—

प्रणवव्याहृतियुतां गायत्रीञ्च जपेत्ततः ।
समाहितमनास्तूष्णीं मनसा वापि चिन्तयेत् ॥

एकाग्रचित्त तथा मौन होकर प्रणव और व्याहृतिसे युक्त गायत्रीका जप अथवा मनमें चिन्तन करना चाहिये। समग्र मन्त्रका अन्वय तथा अर्थ निम्नलिखित रूपसे है—

ॐ भूःभुवःस्वः तस्य सवितुर्देवस्य (तं) वरेण्यं भर्गः धीमहि, यः (भर्गः) नः धियः प्रचोदयात् ।

सवितृमण्डलमध्यवर्ती दीप्तिमान् परमात्मा निमित्तकारणरूपसे भूः भुवः स्वः नामक महाव्याहृतित्रयको (तथा उपलक्षणरूपसे सप्तलोकरूपी सप्त-व्याहृतियोंको) उत्पन्न तथा प्रकाशित करके उपादान कारणरूपसे तद्रूप बना हुआ है, उसके उस वरणीय तेजका मैं चिन्तन करता हूँ, जो तेज हमारी बुद्धिको धर्मार्थकाममोक्षमें नियोजित करता है। अब नीचे इस अर्थानुकूल प्रत्येक मन्त्र शब्दका पृथक् पृथक् विवेचन किया जाता है।

'मन्त्राणां प्रणवः सेतुः'

ओंकार समस्त मन्त्रोंका सेतु अर्थात् यथास्थान पहुँचानेवाला है, इस सिद्धान्तके अनुसार गायत्रीके प्रथम तथा अन्तमें प्रणवोच्चारण करना आवश्यकीय है। श्रीभगवान् मनुने भी कहा है :—

ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
क्षरत्यनोङ्कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्य्यते ॥

मन्त्रके आदि तथा अन्तमे प्रणवका उच्चारण करना चाहिये । अन्यथा आदि अन्त दोनों ही ओर प्रत्यवाय होता है। यही कारण है कि गायत्रीके आदिमे 'ॐ' कहा जाता है। तदनन्तर 'भूः भुवः स्वः' रूपी व्याहृतित्रयका उच्चारण किया जाता है। व्याहृति किसको कहते हैं इस विषयमें योगियाज्ञवल्क्यमे कहा है—

भूराद्याश्चैव सत्यान्ताः सप्तव्याहृतयस्तु याः ।
लोकास्त एव सप्तैते उपर्य्युपरि संस्थिताः ॥
सप्त व्याहृतयः प्रोक्ताः पुराकल्पे स्वयम्भुवा ।
ता एव सप्त छन्दांसि लोकाः सप्त प्रकीर्त्तिताः ॥

भूलोकसे सत्यलोक पर्यन्त ऊपर ऊपर सन्निविष्ट सात लोक सप्तव्याहृति कहलाते हैं। पूर्वकल्पमें ब्रह्माने इन्हें सप्त व्याहृति कहा है और ये ही सप्त छन्द भी कहलाते हैं। इनमेंसे सत्त्वरजस्तमोमय तथा ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वरमय प्रथम तीन महाव्याहृति कहे जाते हैं। यथा कूर्मपुराणमें—

पुराकल्पे समुत्पन्ना भूर्भुवः स्वः सनातनाः ।
महाव्याहृतयस्तिस्रः सर्वाशुभनिवर्हणाः ॥
प्रधानं पुरुषः कालो ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
सत्त्वं रजस्तमस्तिस्रः क्रमाद् व्याहृतयः स्मृताः ॥

पूर्वकल्पमें भूः भुवः स्वः ये तीन दिव्यतेजपूर्ण महाव्याहृतियां उत्पन्न हुई थी, जो सत्त्वरजस्तम तथा ब्रह्मविष्णुरुद्रात्मक हैं । यही कारण है कि ये तीन महाव्याहृति कहलाते हैं और विश्वरूप परमात्मा भी इनके रूप तथा इनके उत्पादक और प्रकाशक हैं । इस प्रकारसे प्रणव और व्याहृतिका उच्चारण करके पश्चात् गायत्रीका उच्चारण किया जाता है । उसमें प्रथम 'तत् सवितुः' यह वाक्य आता है। 'तत्' का 'तस्य' अर्थ है । 'सवितुः' का 'सर्वभूतानां प्रसवितुः' या 'सर्वभावानां प्रसवितुः' यह तात्पर्य है। योगियाज्ञवल्क्यमें लिखा है:—

सविता सर्वभूतानां सर्वभावान् प्रसूयते।
सवनात् पावनाच्चैव सविता तेन चोच्यते॥

सकल भूतोंके उत्पादक तथा पावनकर्त्ता होनेसे परमात्मा सविता कहलाते है, 'सविता' शब्दका अर्थ सूर्य्य भी है और गायत्रीमें तेजकी उपासना होती है, इस कारण 'सविता' शब्दसे सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती परमपुरुष परमात्मा जानना चाहिये। अतः 'तत्सवितुः' या 'तस्य सवितुः' का यह तात्पर्य्य निकला कि,—जिस परमात्माने तीन महाव्याहृतियोंको उत्पन्न किया है, जो इन्हें प्रकाशित करते है और स्वय इनके रूप है उनका। वह सविता कैसे है? इसके उत्तरमें उनको 'देवस्य' कहा गया है। योगियाज्ञवल्क्यमें लिखा है :—

दीव्यते क्रीडते यस्मादुच्यते द्योतते दिवि।
तस्माद्देव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्वदैवतैः॥

परमात्मा मायाके आश्रयसे लीला करते है और दीप्तिमान् हैं, इस कारण 'देव' कहलाते है। ऐसे दीप्तिमान् सविताके तेजका चिन्तन किया जाता है। मन्त्रमें 'तं वरेण्यं भर्गः' कहकर जो 'तं' पदका अध्याहार किया गया है उसके विषयमें योगियाज्ञवल्क्यमें कहा है :—

तच्छब्देन तु यच्छब्दो बोद्धव्यः सततं बुधैः।
उदाहृते तु यच्छब्दे तच्छब्दः स्यादुदाहृतः॥

मन्त्रमे 'यः भर्गः' अर्थात् 'जो भर्ग' कहकर जब भर्गका निर्देश किया है, तो उस भर्गका चिन्तन करता हूं ऐसा बतानेके लिये 'उस' अर्थमें 'तं' पदका अध्याहार करना पड़ा है। वह भर्ग कैसा है? इसके उत्तरमें 'वरेण्यं' शब्दका प्रयोग हुआ है। योगियाज्ञवल्क्यमें कहा है :—

वरेण्यं वरणीयञ्च जन्मसंसारभीरुभिः।
आदित्यान्तर्गतं यच्च भर्गाख्यं वै मुमुक्षुभिः॥
जन्ममृत्युविनाशाय दुःखस्य त्रिविधस्य च।
ध्यानेन पुरुषो यस्तु द्रष्टव्यः सूर्यमण्डले॥

जन्म तथा संसारभयसे भीत मुमुक्षुजनोंके लिये सूर्य्यमण्डलस्थ परमपुरुष परमात्मा वरेण्य अर्थात् वरणीय होते हैं। जनन-मरणनिवारण तथा

त्रिताप निवारणार्थ ध्यानयोगसे ये ही पुरुष द्रष्टव्य हैं । अब 'भर्ग' शब्दका अर्थ बताया जाता है । सवितृमण्डलमें जो परमात्माका दिव्यतेज है, सूर्यका प्रकाश जिस दिव्यतेजका आधिभौतिक विकाशमात्र है, उसी दिव्यतेजको भर्ग कहते हैं । यथा योगियाज्ञवल्क्यमें—

भृजिः पाके भवेद्धातुर्यस्मात् पाचयते ह्यसौ ।
भ्राजते दीप्यते यस्माज्जगच्चान्ते हरत्यपि ॥
कालाग्निरूपमास्थाय सप्तार्चिः सप्तरश्मिभिः ।
भ्राजते तत् स्वरूपेण तस्माद् भर्गः स उच्यते ॥
भेति भाजयते लोकान् रेति रञ्जयते प्रजाः ।
गइत्यागच्छतेऽजस्रं भरगो भर्ग उच्यते ॥

परमात्माका दिव्यतेज स्वयं प्रकाशमान् होकर समस्त विश्वजीवको प्रकाशित करता है, परिपाक करता है, सप्तरश्मि सूर्यरूप धारण करके अन्तमें विश्वको लय भी करता है इसलिये इसका नाम भर्ग है । 'भर्ग' में भ, र और ग ये तीन अक्षर हैं । भ के द्वारा सप्त लोकोंका विभाग करना, र के द्वारा प्रजाओंका रञ्जन करना और ग के द्वारा प्रचुर प्रकाशमान होना, इस तरहसे भी भरग अर्थात् भर्ग कहला सकता है । गायत्री उपासनामें उसी दिव्यतेजका चिन्तन तथा ध्यान होता है, जो तेज जीवोंकी बुद्धिको धर्म अर्थ काम मोक्षके भिन्न भिन्न मार्गमे प्रेरित करता है । यथा योगियाज्ञवल्क्यमे—

चिन्तयामो वयं भर्गं धियो यो नः प्रचोदयात् ।
धर्मार्थकाममोक्षेषु बुद्धिवृत्तीः पुनः पुनः ॥

हम उसी भर्गका चिन्तन करते हैं जो धर्मार्थकाममोक्षमे हमारी बुद्धिवृत्तिको पुनः पुनः प्रेरित करता है । यही आर्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार गायत्रीके प्रत्येक शब्दका तथा समग्र गायत्रीका अर्थ है ।

गायत्रीकी महिमाके विषयमें मनुसंहिताके द्वितीयाध्यायमें लिखा है—

एतदक्षरमेताञ्च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम् ।
सन्ध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥
ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्॥
योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः स्वमूर्त्तिमान्॥
एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात् सत्यं विशिष्यते॥

जो वेदज्ञ विप्र दोनो सन्ध्याओमें प्रणव तथा व्याहृतिसहित गायत्रीका जप करते है उनको समग्र वेदपुण्य लाभ होता है। इस प्रकार सन्ध्यातिरिक्त अन्य समयमें प्रतिदिन गायत्रीका सहस्र जप एक महीने तक करनेपर, कञ्चुकमुक्त सर्पकी तरह द्विज महान् पापसे मुक्त हो सकता है। प्रणवपूर्विका तीन महाव्याहृति और त्रिपदा गायत्री ब्रह्मप्राप्तिकी द्वारस्वरूपा तथा वेदकी मुखरूपा है। अनलस होकर तीन वर्ष तक प्रतिदिन प्रणवव्याहृति सहित गायत्री जप करनेसे परब्रह्मलाभ, वायुकी तरह यथेच्छ गति तथा आकाशकी तरह निर्लिप्तता प्राप्त हो जाती है। एकाक्षर प्रणव ही परमब्रह्म और प्राणायाम ही परमतप है, गायत्रीसे उत्तम कोई मन्त्र नही है और मौनसे सत्य ही विशिष्टतर है। यही आर्यशास्त्रमें वर्णित गायत्री की महिमा है।

अब प्रणव अर्थात् ॐकारकी महिमा बताई जाती है।

ॐकार-महिमा। वेदमें संक्षेपसे ब्रह्मपद वर्णन करते समय 'ॐ' रूपसे ही उस पदका वर्णन किया गया है, यथा कठोपनिषद्में—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति,
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति,
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि॥
ॐ इत्येतत्।

सकल वेद तथा सकल तपस्यामें लक्ष्यरूपसे जिस पदका वर्णन है और जिस पदकी इच्छा करके मुमुक्षुगण ब्रह्मचर्य अवलम्बन करते है उस पदका संक्षिप्त नाम 'ॐ' है। इसी प्रकार गीतामे भी वर्णन है—

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

एकाक्षर ब्रह्मरूप 'ॐ' का उच्चारण तथा परमात्माका चिन्तन करता हुआ जो शरीरत्याग करता है उसे परमगति प्राप्त होती है।

तन्त्रोंमें वर्णन है कि,—

अकारो विष्णुरुद्दिष्ट उकारस्तु महेश्वरः।
मकारेणोच्यते ब्रह्मा प्रणवेन त्रयो मताः॥
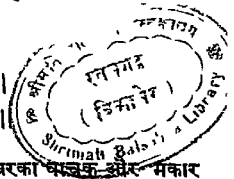
अर्थात् अकार विष्णुका वाचक, उकार महेश्वरका वाचक और मकार ब्रह्माका वाचक है। फलतः त्रि अक्षरमय ओंकार साक्षात् परमात्मा ब्रह्मका वाचक है। इसी कारण पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें आज्ञा की है कि "तज्जपस्तदर्थभावनम्" अर्थात् श्रीभगवान्मे और प्रणवमें तादात्म्य सम्बन्ध रहनेके कारण प्रणवका जप और उसके अर्थका विचार करते करते साधक मुक्तिपदको प्राप्त कर सकता है। महर्षियोंने वेदाङ्गरूपी शिक्षाशास्त्र द्वारा यह भलीभांति सिद्ध कर दिया है कि प्रणवमे तीनो गुणोंकी तीनों शक्तियां भरी हुई हैं, इसी कारण प्रणव ह्रस्व दीर्घ प्लुत तीनों स्वरोंकी सहायता विना उच्चारण नही किया जा सकता। पुनः गान्धर्व उपवेदसम्बन्धी शिक्षाओमे भलीभांति वर्णित है कि षड्ज आदि सातों स्वर एकमात्र ओंकारके ही अन्तर्विभाग हैं। जिस प्रकार बहिः सृष्टिमें सात दिन, सात रङ्ग, सात धातु आदि सप्त विभाग पाये जाते हैं और जिस प्रकार अन्तर राज्यमे सप्त ज्ञान-भूमिका आदि सप्त विभागों-का प्रमाण मिलता है, उसी शैलीके अनुसार एकमात्र अद्वितीय शब्दब्रह्मरूपी ओंकार षड्ज आदि सप्तस्वर विभागमे विभक्त होकर नाना शब्दराज्यकी सृष्टि किया करते हैं। इसी कारण शब्दब्रह्मरूपी ओंकार सब मन्त्रोंका चालक है। तन्त्रों में लेख है कि "मन्त्राणां प्रणवः सेतुः" अर्थात् सब मन्त्रोंका एकमात्र प्रणव ही सेतु है, जिस प्रकार विना सेतु (पुल) के पथ अविरोधी नही हो सकता उसी प्रकार विना ओंकारकी सहायता लिये न तो मन्त्र-समूह पूर्ण बलको

प्राप्त होते हैं और न वे लक्ष्यके अनुसार यथावत् काम करनेमें उपयोगी हो सकते हैं। फलतः एकमात्र प्रणव ही शब्दमय साक्षात् शब्दब्रह्म है, इसमें सन्देह नहीं। मुखसे उच्चारण होने योग्य प्रणव यदि च अलौकिक प्रणवनादका प्रतिशब्द है तथापि वह केवल लौकिकसम्बन्धसे आविष्कृत नहीं हुआ है। तन्त्रोंमें यह निश्चय कर दिया गया है कि मुखसे उच्चारण होने योग्य ओंकारध्वनि भी अपूर्व रीतिसे आधार पद्मसे उठकर सहस्रदलस्थित पुरुषमें लय हुआ करती है।

प्रणवकी महिमाके विषयमें पश्चिमी वैज्ञानिकोंने भी थोड़ा बहुत अनुमान किया है, यथा—

The pronunciation of sacred word ॐ is one which has engaged the attention of all Europeans devoted to Eastern studies. The vibrations set up by the same word are so powerful that if persisted in, they would bring the largest building to the ground. This seems difficult to believe until one has tried the practice ; but once having tried it one can easily understand how the above statement may be true and correct perfectly. I have tested the power of the vibrations and can quite believe that the effect would be as stated. Pronounced as spelt, it will have a certain effect upon the student, but pronounced in its correct method, it arouses and transforms every atom in his physical body, setting up new vibrations and conditions and awakening the sleeping power of the body.

(The Practical Yoga L. N. Fowler & Co. London)

आजकल आर्यशास्त्रकी चर्चा करनेवाले पश्चिमी विद्वानोंकी दृष्टि प्रणव उच्चारणकी ओर विशेषरूपसे पड़ी है। इस शब्दके उच्चारणसे जो स्पन्दन उत्पन्न होता है वह इतना तीव्र तथा बलवान है कि लगातार ऐसा स्पन्दन होते रहने पर बड़े बड़े मकान तक गिरा दिये जा सकते है। यद्यपि बिना परीक्षा किये इस बात पर विश्वास करना कठिन है, तथापि एकबार परीक्षा करनेसे

ही इसकी सत्यताके विषयमें निश्चय हो जाता है । मैंने इस स्पन्दन शक्तिकी परीक्षा की है और मुझे इस विषयमें स्थिर विश्वास है । सामान्यरूपसे उच्चारण करने पर भी छात्र पर इसका कुछ प्रभाव होता है, किन्तु यथार्थ रीतिसे यदि प्रणवका उच्चारण किया जाय तो शरीरके प्रत्येक परमाणुमें परिवर्त्तन हो जाता है । उसमें नवीन स्पन्दनसे नवीन दशा हो जाती है और देहस्थित अनेक निद्रित शक्तियां जाग उठती हैं ।

योगशास्त्रमें लेख है कि,—

कार्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत् स्पंदेन सव्यापकम्,
स्पन्दश्चापि तथा जगत्सु विदितः शब्दान्वयी सर्व्वदा ।
सृष्टिश्चैव तथादिमाकृतिविशेषत्वादभूत् स्पन्दिनी,
शब्दश्चोदभवत्तदा प्रणव इत्योङ्काररूपः शिवः ॥

अर्थात् जहां कुछ कार्य है वहां अवश्य कम्पन होना सम्भव है, जहां कम्पन है वहां अवश्य शब्द होना भी सम्भव है, फलतः सृष्टिरूपी कार्य्यमें साम्यावस्था प्रकृतिके सबसे प्रथम हिल्लोलकी ध्वनिका नाम शिवरूपी ओंकार है । अर्थात् प्रलयके बाद जब ईश्वरमें 'एकोऽहं बहुस्याम् प्रजायेय' मैं एकसे बहुत होजाऊं, सृष्टि करूं यह संकल्प होता है तभी ब्रह्माण्डप्रकृतिमें कम्पन होता है और समस्त ब्रह्माण्डप्रकृतिको कंपाकर जो प्रथम शब्द निकलता है वही प्रणव नाद है । यह ध्वनि कैसी है इस विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है—

"तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघंटानिनादवत् ।"

अर्थात् यह प्रणव तैलधाराके समान अविच्छिन्न और दीर्घघण्टाके शब्दकी नाईं श्रुतिमधुर है एवं उसका कोई भी अङ्ग मुखसे उच्चारण नहीं किया जाता । वास्तवमें ईश्वरवाचक आदि-शब्द ओंकार योगिगणको तभी सुनाई दे सकता है कि जब वे योगयुक्त होकर साम्यावस्था प्रकृतिमें मन स्थिर कर सकें । वह ओंकारध्वनि वाच्यवाचक सम्बन्धसे अनादि और अनन्त है एवं प्रणव जो अक्षरोंसे लिखनेमें अथवा मुख द्वारा उच्चारण करनेमें आता है वह उसका प्रतिशब्द है, जिसको पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षिगणने अपनी योगयुक्त समाधिबुद्धि द्वारा वेदके आविर्भाव करनेके आदिमें संसारमें प्रकट किया है । यही ओंकारके विज्ञानका रहस्य है ।

श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्में आज्ञा है कि,—

"ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा" ॥

अर्थात् ॐतत्सत् ये तीन शब्द परमात्मा ब्रह्मके निर्देशक हैं। इन तीनोंके द्वारा ब्राह्मण, वेद और यज्ञ पुराकालमें विहित हुए हैं। यहां यह वैज्ञानिक रहस्य है कि ॐ, तत् और सत् ये तीनो मन्त्र ही स्वतन्त्र स्वतन्त्र भावयुक्त होकर एकमात्र परमात्मा ब्रह्मके वाचक रूपसे नियत हुए हैं। पुनः वर्णन है कि—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥

अर्थात् ओंकाररूपी मंत्रके द्वारा ब्रह्मवादिगणका यज्ञ, दान और तप क्रिया सर्वदा प्रवर्त्तित हुआ करती है।

इत्यादिरूपसे गीताशास्त्रमें प्रणवकी महिमा बताई गई है।

वेदमें प्रणवको 'उद्गीथ' कहा गया है, यथा छान्दोग्यमें—ॐ इत्येतद्-क्षरमुद्गीथमुपासीत, ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्।' इसके भाष्यमें श्रीभगवान् शंकराचार्यने कहा है—

'ॐ इत्यारभ्य हि यस्माद् उद्गायति अतः उद्गीथ ओंकार इत्यर्थः,' प्रणवमन्त्रसे आरम्भ करके उद्गीथ गान होता है, इसलिये प्रणवको उद्गीथ कहा गया है। प्रणवगान ही भगवान्का गान है, प्रणव नाम ही भगवान्का नाम है। इसी कारण योगदर्शनमें 'तस्य वाचकः प्रणवः' इस सूत्रके द्वारा ओंकारको श्रीभगवान्का वाचक अर्थात् नाम कहा गया है। श्रीभगवान् भाष्यकारने लिखा है—'तस्मिन् हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति, प्रियनामग्रहण इव लोकः' जिस प्रकार प्रियनाम धरकर पुकारनेसे मनुष्य प्रसन्न होकर उत्तर देता है, उसी प्रकार 'ॐ' नाम धरकर पुकारनेसे श्रीभगवान् प्रसन्न होकर उत्तर देते हैं। जहां प्रकृतिकी लयावस्था है वहां ओंकार ब्रह्ममें विलीन है, जहां निर्गुण सत्तामें सङ्कल्पानुसार सगुण ईश्वरभावकी सूचना है वहीं प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन रूपसे ओंकारका आविर्भाव है, अतः ईश्वरभाव, ईश्वरका सङ्कल्प, प्रकृतिकी प्रवृत्ति और प्रणव विकाश ये सब समसामयिक है। इसी कारण वाच्य वाचक या

अभिधान अभिधेय रूपसे ओंकारके साथ ईश्वरभावका विशेष सम्बन्ध है। यही कारण है कि, आर्यशास्त्रमे ओंकारको ईश्वरका वाचक तथा वाच्य वाचककी एकताके विचारसे दोनोंमें एकता बताई गई है।

ओंकारमें इतनी शक्ति निहित रहनेसे ही वेदादि समस्त शास्त्रोंमें ओंकारकी इतनी महिमा गाई गई है, यथा—

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसः अपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रसः ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः। स एष रसानां रसतमः परमः परार्घ्यः आत्मा यदुद्गीथः।

तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृणान्येवमोंकारेण सर्वा वाक् सन्तृणा ओंकार एवेदं सर्वम्। (छान्दोग्योपनिषत्)

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ (कठोपनिषत्)
ॐकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ॥ (स्मृति)
ओंकारं पितृरूपेण गायत्रीं मातरं तथा।
पितरौ यो न जानाति स विप्रस्त्वन्यरेतजः॥ (देवी भागवत)
आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवञ्चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढ़वत्॥
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ (श्रुति)

सकल भूतोंका सार पृथिवी है, पृथिवीका सार जल है, जलका सार ओषधि है, ओषधिका सार पुरुष है, पुरुषका सार वाक् है, वाक्का सार ऋक् है, ऋक्का सार साम है, सामका सार ॐ है। वह सारोंका सार, परम वस्तु तथा परम मूल्यवान् है।

जिस प्रकार डराठीमें सब पत्र लगे रहते हैं, ऐसे ही प्रणवमें समस्त वाक् सम्बद्ध हैं, प्रणव ही सब कुछ है।

प्रणव ही अक्षर ब्रह्म है, प्रणव ही अक्षर परमात्मा है, इसी अक्षरके ज्ञानसे सकल अभिलाषा पूर्ण हो सकती है। यही श्रेष्ठ अवलम्बन है, यही परम अवलम्बन है, इसी अवलम्बनको जानकर साधक ब्रह्मलोकमें पूजित हो सकता है।

पुराकालमें ओंकार और अथ ये दो शब्द ब्रह्माका कण्ठ भेद करके निकले थे, इस कारण वे मङ्गलार्थक हैं।

जो ब्राह्मण ओंकारको पितृरूपसे और गायत्रीको मातृरूपसे नहीं जानता है उसका हीनजन्म समझना चाहिये।

देही आत्माको पूर्वारणि और प्रणवको उत्तरारणि करके ध्यानरूप मथनीके अभ्याससे गूढ़ पुरुष परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। प्रणव धनु है, जीवात्मा शर है, परमात्मा लक्ष्य है, शरकी तरह तन्मय होकर अप्रमत्तचित्तसे लक्ष्यभेद करना चाहिये।

इस प्रकारसे ओंकारकी अलौकिक महिमा होनेके कारण प्रणव, अनन्त, तार आदि विशेष संज्ञा ओंकारको दी जाती है यथा शिवाथर्वशीर्षोपनिषद्में—

अथ कस्मादुच्यते ओंकारः यस्मादुच्चार्यमाण एव प्राणानूर्ध्वमुत्क्रामयति तस्मादुच्यते ओंकारः।

अथ कस्मादुच्यते प्रणवः यस्मादुच्चार्यमाण एव ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसं ब्रह्म ब्राह्मणेभ्य प्रणमयति नामयति च तस्मादुच्यते प्रणवः।

अथ कस्मादुच्यते सर्वव्यापी यस्मादुच्चार्यमाण एव यथा स्नेहेन पललपिण्डमिव शांतरूपमोतप्रोतमनुप्राप्तो व्यतिषक्तश्च तस्मादुच्यते सर्वव्यापी।

अथ कस्मादुच्यतेऽनन्तः यस्मादुच्चार्यमाण एव तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्चास्यान्तो नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽनन्तः।

अथ कस्मादुच्यते तारं यस्मादुच्चार्यमाण एव गर्भजन्मव्याधिजरामरणसंसारमहाभयात्तारयति त्रायते च तस्मादुच्यते तारम्।

अथ कस्मादुच्यते शुक्लं यस्मादुच्चार्यमाण एव क्रन्दते क्लामयति च तस्मादुच्यते शुक्लम् ।

अथ कस्मादुच्यते सूक्ष्मं यस्मादुच्चार्यमाण एव सूक्ष्मो भूत्वा शरीराण्यधितिष्ठति सर्वाणि चाङ्गान्यभिमृश्यति तस्मादुच्यते सूक्ष्मम् ।

अथ कस्मादुच्यते वैद्युतं यस्मादुच्चार्यमाण एव व्यक्ते महति तमसि द्योतयति तस्मादुच्यते वैद्युतम् ।

अथ कस्मादुच्यते परं ब्रह्म यस्मात् परमपरं परायणं च बृहद् बृहत्या बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म ।

ओंकार क्यो कहते हैं ? उच्चारणमात्रसे ही प्राणोंको ऊपरकी ओर आकर्षण करता है इसलिये ओंकार कहते है ।

प्रणव क्यों कहते हैं ? उच्चारणमात्रसे ही ऋग्यजुरादि वेद ब्राह्मणोंसे प्रणाम तथा स्वीकारको प्राप्त होता है इसलिये प्रणव कहते है ।

सर्वव्यापी क्यों कहते है ? उच्चारणमात्रसे ही तिलचर्णमें तेलकी तरह शान्तरूप होकर जगत्में ओतप्रोत तथा परिव्याप्त हो जाता है इसलिये सर्वव्यापी कहते हैं ।

अनन्त क्यों कहते हैं ? उच्चारणमात्रसे ही उद्ध्र्व अध आस पास कहीं अन्त नहीं मिलता है इसलिये अनन्त कहते है ।

तार क्यों कहते हैं ? उच्चारणमात्रसे ही गर्भ, जन्म, व्याधि, जरा, मृत्यु आदि संसारसागरके महाभयसे तारता है इसलिये तार कहते हैं ।

शुक्ल क्यों कहते हैं ? उच्चारणमात्रसे ही हृदयको आर्द्र करके संसारके प्रति ग्लानि उत्पन्न करता है और शुद्ध पवित्र निर्विकार स्वरूप बना देता है इसलिये शुक्ल कहते हैं ।

सूक्ष्म क्यों कहते हैं ? उच्चारणमात्रसे ही सूक्ष्मरूप होकर शरीरमें स्थित हो जाता है और सकल अङ्गोंका स्पर्श करता है इसलिये सूक्ष्म कहते हैं ।

वैद्युत क्यों कहते हैं ? उच्चारणमात्रसे ही व्यक्त महान् अन्धकारमें बिजलीके समान प्रकाश करता है इसलिये वैद्युत कहते हैं ।

परब्रह्म क्यों कहते है ? उच्चारणमात्रसे अपनी महत्ताके द्वारा पर अपर ब्रह्मभावको परिपुष्ट कर देता है इसलिये परब्रह्म कहते हैं।

इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें महान् ओंकारके विविध नामोंकी अति गूढ़ रहस्यमय अलौकिक सार्थकता बताई गई है, जिसपर विचार तथा मनन करनेसे और उपासना द्वारा जिसका अनुभव करनेसे साधक निःसन्देह संसारसिन्धु सन्तरण कर सकता है।

श्राद्धतर्पण।

नित्यकर्मके अङ्गरूपसे श्राद्धतर्पण भी किया जाता है, इसलिये नित्यकर्मका वर्णन करके अब श्राद्धतर्पणका रहस्य बताया जायगा। श्राद्ध किसको कहते है इस विषयमें महर्षि पराशरने कहा है—

देशे काले च पात्रे च विधिना हविषा च यत्।
तिलैर्दर्भैश्च मन्त्रैश्च श्राद्धं स्याच्छ्रद्धया युतम्॥

देश काल पात्र विचारसे हविष्यादि विधिके साथ श्रद्धायुक्त होकर तिल, दर्भ, मन्त्रोकी सहायतासे जो कृत्य किया जाता है, उसका नाम श्राद्ध है। मरीचि ऋषिने भी कहा है—

प्रेतान् पितॄंश्च निर्दिश्य भोज्यं यत् प्रियमात्मनः।
श्रद्धया दीयते यत्र तच्छ्राद्धं परिकीर्त्तितम्॥

प्रेत तथा पितरोंके निमित्त अपना प्रिय भोजन श्रद्धाके साथ जिस कर्ममें दिया जाता है उसे श्राद्ध कहते हैं। इस प्रकार कृत्यका फल क्या होता है इस विषयमें मनुसंहिताके तृतीयाध्यायमे लिखा है—

यद् यद् ददाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः।
तत्तत् पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम्॥

विशेष श्रद्धासे युक्त होकर विधिके साथ नित्यनैमित्तिक पितरोंको जो कुछ दिया जाता है उससे परलोकमें उनकी अक्षय तृप्ति होती है। श्राद्ध कृत्यके मूलमे श्रद्धा और कृतज्ञताका ही मधुर भाव है। जिन पितरोंकी कृपासे दुर्लभ मुक्तिप्रद मनुष्य देह मिला, जिनके हृदयके अमृतसे हमारा पालन पोषण हुआ, संसारका सुन्दर मुख देखनेको मिला, जिनने स्वय कितना ही कष्ट सहकर हमे नरलोकमें उन्नत किया, उनके प्रति कृतज्ञ न होना, परलोकमें उनकी प्रसन्नता, तृप्ति, शान्ति तथा आध्यात्मिक उन्नतिके लिये यथाशक्ति अनुष्ठान न करना, कमसे कम उनके आत्माको स्मरण करके एक विन्दु अश्रुपात भी न करना केवल मनुष्यभावसे अधम नहीं, बल्कि पशुभावसे भी अधमाधम महापराध है, इसमें अणुमात्र सशय नहीं है। इसीलिये आर्यशास्त्रमें सकल पापोंसे कृतघ्नताको अति अधम पाप कहा गया है। यथा—

नास्तिकस्य कृतघ्नस्य धर्मोपेक्षारतस्य च।
विश्वासघातकस्यापि निष्कृतिर्नैव सुव्रते ॥

नास्तिक, कृतघ्न, धर्मके प्रति सदा उपेक्षापरायण और विश्वासघातक—इनके पापकी निष्कृति नहीं है। यही कारण है कि, अपनी अपनी धार्मिक स्थिति तथा अधिकार तारतम्यानुसार अन्य धर्मावलम्बियोंके भीतर भी किसी न किसी प्रकारसे श्राद्धकृत्यकी तरह अनेक कृत्य किये जाते हैं। खीष्ट धर्मावलम्बी,—विशेष कर कैथलिक सम्प्रदायके लोग अपने पिता, माता, भ्राता, पत्नी, पति और पुत्र कन्या आदिके समाधिस्थानमें जाते हैं और कब्र या समाधिके ऊपर फूल बरसाते हैं, शोक करते हैं तथा ईश्वरके निकट मृत-व्यक्तियोंके लिये अक्षय स्वर्गकी प्रार्थना करते हैं। मुसलमानोंमें भी मृत-व्यक्तिकी समाधिके समीप ईश्वरसे प्रार्थना करना तथा कुरान पढ़ना विशेष सत्कार्य कहकर प्रशंसित है और ऐसा करना मृत-व्यक्तिकी भी सद्गतिके लिये सहायक समझा जाता है, इसी भावके आधार पर ही मुसलमान लोग कबरपर बड़े बड़े मकान बनाते हैं। बौद्धलोगोंमें चीन, जापान, ब्रह्मादि देशोंमें अत्यन्त अधिकताके साथ श्राद्धकृत्य किया जाता है। उनमें आद्यश्राद्ध, नवमासिक श्राद्ध, वार्षिक श्राद्ध आदि अनेक प्रकारके श्राद्ध प्रचलित हैं और उनमें भूरिदान, गाना–बजाना–नाचना, विलाप कीर्त्तन आदि यथेष्टरूपसे किया जाता है।

बौद्ध देशमें पितृपुरुषोंके नामपर स्थापित भवनोंकी कीर्त्तिका अभाव नहीं है। किन्तु बौद्धजातीय लोगोंमें कोई भी अन्य किसीको मृत-व्यक्तिका प्रतिनिधि नही कल्पित करता । वे जो कुछ भोजन वस्त्र आदि देते हैं, सो साक्षात् पितृपुरुषके जीवात्माको ही देते हैं । ऐसा समझकर देते है, जैसे वही मृत व्यक्ति साक्षात् प्रत्यक्ष हुआ है और वह जैसे कोई आज्ञा या उपदेश देगा—श्राद्धकर्त्ताको अपने मुख और नेत्रोंकी ऐसी ही भावभंगी कर अत्यन्त नम्र तथा संयत रहना होता है।

इस प्रकार अन्यान्य धर्मोंके माननेवालोंके भीतर भी अपने अपने अधिकारके अनुसार कृतज्ञतासूचक श्राद्धकृत्य जैसे कृत्योंके द्वारा पितृगणके प्रसन्नता विधानकी विधियां देखी जाती है। आर्य्यजाति तथा आर्य्यशास्त्रमें अन्तर्दृष्टि और दैवदृष्टिकी अधिकताके कारण श्राद्धविधिमें भी व्यापकताका विशेष अवकाश रक्खा गया है । तदनुसार आर्य्यशास्त्रसम्मत श्राद्धतर्पणकृत्यमें पितरोंके तृप्तिसाधनके अतिरिक्त व्यष्टिसत्ताके साथ समष्टि सत्ताके एकीकरण विषयक अनेक विधान देखनेमें आते हैं। 'जब मृत्युलोक ऊपर नीचेके समस्त लोकोंके बीचमें है और कर्मकेन्द्रस्वरूप होनेसे इसीमें अनुष्ठित उत्तमाधम कर्मोंके फलसे स्थूल सूक्ष्म समस्त लोकोंमें जीवोंका आवागमन बना रहता है, तो स्वभावतः समस्त लोकवासी जीवोंके साथ तथा ऋषिदेवपितरोंके साथ प्रत्येक मनुष्यका आदानप्रदान सम्बन्ध है। इसी आदानप्रदान सम्बन्धको

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'

इस गीतोक्त सिद्धान्तके अनुसार मनुष्य जितना बनाये रक्खेगा, उतना ही वह इहपारलौकिक कल्याणका अधिकारी, निरामय, स्वास्थ्यवीर्यवान्, दीर्घायु, सुखी, देवकृपासम्पन्न तथा आध्यात्मिक उन्नतिपथमें अग्रसर होता रहेगा, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है । इसी कारण ज्ञानदृष्टिसम्पन्न पूर्णप्रज्ञ महर्षियोंने श्राद्ध, तर्पण तथा पञ्चमहायज्ञादि नित्यकृत्योंमें व्यष्टि समष्टिकी एकताविधायिनी विविध विधियोंका अवश्य कर्त्तव्यरूपसे निर्देश किया है । यही कारण है कि, श्राद्ध तथा तर्पणमें नित्य नैमित्तिक पितरोंके तृप्तिसाधनके अतिरिक्त अनेक देवता, यज्ञेश्वर विष्णु, ऋषिगण, वास्तु देवता गंगा तथा अन्यान्य भूतोंकी तृप्तिके अर्थ भी अन्नजलादि प्रदानकी विधि है । सो कैसे है, यह क्रमशः आगे बताया जाता है।

वेदमें परलोकगत नैमित्तिक पितर तथा नित्य पितरोंका आवाहन, श्राद्धादि द्वारा उनकी सम्वर्द्धना आदिके विषयमें अनेक प्रमाण मिलते है। कठोपनिषद्में नाचिकेत उपाख्यान वर्णनके अनन्तर कहा गया है:—

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते॥

अति गूढ़ नाचिकेत उपाख्यानको ब्रह्मनिरत पुरुषोंकी सभामें तथा श्राद्ध समयमें संयत होकर सुनानेसे अनन्त फलकी प्राप्ति होती है। पिण्डोपनिषद्में लिखा है:—

देवता ऋषयः सर्वे ब्रह्माणमिदमब्रुवन्।
मृतस्य दीयते पिण्डः कथं गृह्णन्त्यचेतसः॥
भिन्ने पञ्चात्मके देहे गते पञ्चसु पञ्चधा।
हंसस्त्यक्त्वा गतो देहं कस्मिन् स्थाने व्यवस्थितः॥

देवता तथा ऋषियोंने भगवान् ब्रह्मासे पूछा कि, मृतपितरोंको जो श्राद्धमें पिण्ड दिया जाता है, वे कैसे उसको ले सकते हैं और पञ्चभूतात्मक देह जब भूतपञ्चकमें मिल जाता है, तो जीवात्मा और सूक्ष्मशरीरका निवास कहां होता है। इन सब प्रमाणोंके द्वारा सिद्ध होता है कि श्राद्धकृत्य वेदानुमोदित वैदिक कृत्य है और मृत पितरोके ही श्राद्ध होते हैं, जीवित पितरोंके नही, जैसा कि, कही कही भ्रान्तिसे कल्पना की जाती है। श्राद्धके लक्षणके विषयमें महर्षि पराशर तथा मरीचिके जो वचन उद्धृत किये गये हैं, उनसे भी श्राद्धकृत्यके साथ मृत पितरोका ही स्पष्ट सम्बन्ध प्रमाणित होता है। अथर्ववेदमें लिखा है:—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन्हविषे अत्तवे॥ (१-३४)

हे अग्ने! जो पितर गाड़े गये, जो पड़े रह गये, जो अग्नि में जला दिये गये और जो फेंके गये, उन सबको हविर्भक्षणके लिये बुला लाओ। यजुर्वेदके १९-६७ में लिखा है:—

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्मयां २।
उ च न प्रविद्म त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः
स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥

जो पितर इस लोकमें है, जो इस लोक में नही हैं, जिनको हम जानते हैं और जिनको नहीं जानते, हे सर्वज्ञ अग्ने! उनको तुम जानते हो, सो आप पितरोंके अन्नसे शुभ यज्ञको सेवन करो। उसी वेदके १६-५८ में लिखा है:—

आयन्तु नः पितरस्सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥

हमारे पितर देवताओंके गमनयोग्य मार्गसे आवें, इस यज्ञमें अन्नसे प्रसन्न होकर बोलें और हमारी रक्षा करें। अथर्ववेदके १८।४।८०।७६ में लिखा है:—

स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्यः स्वधा पितृभ्यः।
अन्तरिक्षषद्भ्यः स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥

जो पितर पृथिवीमें है उनके लिये, जो अन्तरिक्ष में हैं उनके लिये और जो स्वर्गमें है उनके लिये स्वधा कव्य देता हूं। और भी अथर्ववेदमें:—

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
त्वं तान् वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम् ॥

जो अग्निमें दग्ध हुए और अग्निमें दग्ध नही हुए द्युलोकके मध्यमें अमृतरूप अन्नसे प्रसन्न है, हे अग्ने! तुम उनको जानते हो, वे तुम्हारे द्वारा अन्न सेवन करें। इस प्रकारसे वेदमें पितरोंके बुलानेके प्रमाण मिलते है।

परलोकगत आत्माको बुलाकर उनके साथ बातचीत, उन्हें भोजनादिसे प्रसन्न करना, उनसे परलोकके विषयमें अनेक प्रश्न करना, इत्यादि विषयोंमें आजकल पश्चिम देशमें भी बहुत कुछ अन्वेषण तथा उपाय उद्भावन हो चुके हैं। भिक्टर ई. क्रोमर (Victor E. Cromer) साहबने भ्रिल (vril) नामक एक ओजः शक्तिका आविष्कार किया है जिसके अनेक गुणों-मेंसे यह भी एक गुण है कि—'We could get in touch with the

disembodied spirits. It is possible to direct a ray of vrilic power in a concentrated form A little time spent in concentration on the name of a deceased individual would bring him or her, into touch with us. (Kalpaka) अर्थात् ओजः शक्तिके द्वारा परलोकगत आत्माओंके साथ सम्बन्ध स्थापन किया जा सकता है। इसमें केवल एकाग्र होनेकी आवश्यकता होती है। एकाग्रताके साथ किसी मृत आत्माके ऊपर इस शक्तिका प्रयोग करते ही उसके साथ सम्बन्ध हो जाता है। इसी प्रकार Flammarion, the eminent scientist, is quoted as saying, Each of us possesses a fluid force, which I call 'psychic' and adds; 'this force survives us and when we are dead, we are able through its agency to communicate with the living' (Kalpaka) फ्लेमारियन नामक प्रसिद्ध सायन्सवेत्ताका कहना है कि हम सबके भीतर एक सूक्ष्म अतीन्द्रिय शक्ति है, जो मृत्युके वाद भी हमारे साथ रहती है और इसी शक्तिकी सहायतासे मृत आत्माएं इस लोकके जीवोंके साथ बात चीत कर सकती हैं। प्रसिद्ध परलोकवादी कोनन डायल (Sir Arthur Conan Doyle) साहवने एक स्थान पर कहा है—"As for myself I have not a doubt I have talked with several of my friends and relatives who have passed from this earthly world and I have seen, as clearly as in the life, the materialisation of my mother and my nephew. For me it is no question of opinion that we live after death. I know it and I know also that in making this discovery we have made the greatest step forward in the history of the human race" मेरा तो इस विषयमे कोई सन्देह ही नहीं है। मैने इहलोक छोड कर परलोकवासी अपने कितने ही मित्र तथा आदमियोंके साथ बातचीत की है और अपनी मृत माता तथा भतीजेको स्थूल शरीर धारण कर आते हुए देखा है। मृत्युके वाद आत्मा परलोकमे रहता है इसको मै निश्चित रूपसे जानता हूं और इस अपूर्व आविष्कारके द्वारा मानवजगतके इतिहासमें हम लोग वहुत कुछ आगे बढ़ गये हैं यह भी मेरा निश्चय है।

श्राद्धप्रकरणमें मनुसंहिताके तृतीयाध्यायमें लिखा है :—

ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत् ।
विप्रवद्वापि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत् ॥
पिता यस्य तु वृत्तः स्याज्जीवेद्वापि पितामहः ।
पितुः स नाम सङ्कीर्त्य कीर्त्तयेत् प्रपितामहम् ॥
पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः ।
कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत् ॥
तेषां दत्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम् ।
तत् पिण्डाग्रं प्रयच्छेत स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन् ॥
पाणिभ्यान्तूपसंगृह्य स्वयमन्नस्य वर्द्धितम् ।
विप्रान्तिके पितॄन् ध्यायञ्छनकैरुपनिक्षिपेत् ॥
अक्रोधनान् सुप्रसादान् वदन्त्येतान् पुरातनान् ।
लोकस्याप्यायने युक्तान् श्राद्धदेवान् द्विजोत्तमान् ॥
यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः ।
पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ॥

पिताके जीवित रहनेपर पितामहादि तीन पुरुषोंका श्राद्ध करना चाहिये, अथवा पितृब्राह्मणरूपसे अपने पिताको भोजनदान और पितामह प्रपितामहको पिण्डदान कर सकते हैं। यदि पिता मृत हो और पितामह जीवित हो, तो पिताका श्राद्ध करके पश्चात् प्रपितामहका श्राद्ध करना चाहिये। इसमें जीवित पितामह, प्रपितामह ब्राह्मणरूपसे भोजन करेंगे, अथवा आज्ञा लेकर पौत्र स्वयं श्राद्धकर्मको करेंगे। तदनन्तर ब्राह्मणोंके हाथमें दर्भ और तिलयुक्त जल देकर पूर्वोक्त पिण्डाग्रको 'पित्रे स्वधास्तु' कहकर उन्हें समर्पण करना चाहिये। उसके बाद दोनों हाथोंसे अन्नपूर्ण पात्रको ग्रहण करके पितरोंका ध्यान करते हुए ब्राह्मणोंके समीप भोजनार्थ उस अन्नको रखना चाहिये। महर्षियोंने क्रोधहीन, सुप्रसन्न, 'सृष्टिप्रवाहमें पुरातन लोककल्याणनिरत द्विजोत्तम ब्राह्मणोंको ही श्राद्धकृत्यके पात्रभूत देवता करके निर्देश किया है। जबतक अन्न उष्ण रहता है,

ब्राह्मणगण संयतवाक् होकर भोजन करते हैं, और अन्नका गुणावगुण नही कहा जाता है, तवतक पितृगण ब्राह्मणमुखसे अन्नभोजन करते है। इन सब प्रमाणोंके द्वारा स्पष्ट सिद्ध होता है कि, मृत पितरोंके निमित्त ही श्राद्ध किया जाता है, जीवित पितरोके निमित्त नही, और श्राद्धमें ब्राह्मणभोजन मुख्य कार्य है, क्योंकि ब्राह्मणोंके द्वारा ही पितृगण श्राद्धान्न ग्रहण करते है।

श्राद्धकृत्यके अनेक अग होते है। यथा—पार्वण श्राद्ध, एकोद्दिष्ट श्राद्ध, इष्टि श्राद्ध, अष्टका श्राद्ध इत्यादि।

एकोद्दिष्ट श्राद्धके विषयमे श्रीमनुजीने कहा है :—

एकमुद्दिश्य यच्छ्राद्धमेकोद्दिष्टं प्रकीर्त्तितम्।

एक पितृके उद्देश्यसे किया हुआ श्राद्ध एकोद्दिष्ट कहलाता है। पार्वण श्राद्धमें तीन पितरोके अर्थात् पिता, पितामह, प्रपितामहके श्राद्ध होते हैं। यथा :—

"त्रीनुद्दिश्य तु यच्छ्राद्धं पार्वणं मुनयो विदुः"

यज्ञारम्भमे करणीय श्राद्ध इष्टिश्राद्ध कहलाता है। पौष वदी अष्टमी, माघ वदी अष्टमी और फाल्गुन वदी अष्टमीमे करणीय श्राद्धको अष्टकाश्राद्ध कहते है।

शास्त्रमे श्राद्धकालके विषयमें बहुत कुछ विचार किया गया है। इसमें पितरोंका निवासस्थान तथा पितृलोकका कालप्रमाण ही मुख्य कारण है। शास्त्रमे लिखा है—'विधूदूर्ध्वलोके पितरो वसन्ति' पितृगण चन्द्रमण्डलके ऊर्द्ध्वभागमें वसते है। चन्द्रलोक जलमय है, इस कारण पितृगणके निवासस्थानके विषयमे श्रीमद्भागवतके ५म स्कन्धमें कहा है:—

'उपरिष्टाच्च जलाद्‌ यस्यामग्निष्वात्तादयः पितृगणा निवसन्ति।'

जलमय लोकके ऊर्द्ध्वदेशमे अग्निष्वात्तादि पितृगण निवास करते हैं। अथर्ववेदके १८।२।४८ में लिखा है:—

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा तृतीयाह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते।

आकाशकी पहिली कक्षा अवमा है, वह उदन्वती अर्थात् उदकवाली है । मध्यमकक्षा पीलुमती अर्थात् परमाणुवाली है । तृतीय कक्षा प्रद्यौ अर्थात् प्रकाशवाली है, जिसमें पितर लोग रहते हैं ।

चन्द्रमण्डलमें रहनेके कारण हमारा एक महीना पितृलोकका एक दिन है। इसी विचारके अनुसार हम लोगोंकी अमावस्या पितृलोका मध्याह्न है और इसी कारण अमावस्या तिथि, उसके आसपासकी तिथियां तथा अपराह्न-काल ही पितृभोजन देनेका अर्थात् श्राद्ध करनेका मुख्यकालरूपसे निर्दिष्ट हुआ है । यथा मनुसंहितामें :—

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम् ।
श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः ॥
युक्षु कुर्वन् दिनर्क्षेषु सर्वान् कामान् समश्नुते ।
अयुक्षु तु पितॄन् सर्वान् प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम् ॥
यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद् विशिष्यते ।
तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्लादपराह्णो विशिष्यते ॥

चतुर्दशीको छोड़कर कृष्णपक्षकी दशमीसे अमावस्यापर्यन्त तिथियां श्राद्धकार्यमें जितनी प्रशस्त हैं, इतनी प्रतिपदादि तिथियां नहीं हैं। द्वितीया चतुर्थी आदि युग्मतिथि तथा भरणी रोहिणी आदि युग्मनक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे सब कामना सिद्ध होती है और तृतीया पञ्चमी आदि अयुग्मतिथि तथा अश्विनी कृत्तिकादि अयुग्म नक्षत्रमें श्राद्ध करनेसे उत्तम सन्तति प्राप्त होती है। श्राद्धके लिये शुक्लपक्षसे कृष्णपक्ष जिस प्रकार विशेष फलदायक है, उसी प्रकार पूर्वाह्नसे अपराह्न भी विशेष फलदायक है । शतपथ २।४।२८ में :—

पूर्वाह्णो वै देवानां मध्यंदिनो मनुष्याणाम् ।
अपराह्णः पितॄणां तस्मादपराह्णे ददति ॥

देवताओंका पूर्वाह्न, मनुष्योंका मध्याह्न और पितरोंका अपराह्न है, इसलिये अपराह्नमें श्राद्ध करना चाहिये । गरुड़ पुराणमें भी लिखा है :—

अमावास्यादिने मासे गृहद्वारे समाश्रिताः ।
वायुभूताः प्रवाञ्छन्ति श्राद्धं पितृगणा नृणाम् ॥

यावदस्तगतं भानोः क्षुत्पिपासासमाकुलाः ।
ततश्चास्तं गते सूर्ये निराशा दुःखसंयुताः ॥
निःश्वसंतश्चिरं यान्ति गर्हयन्तः स्ववंशजम् ।
तस्माच्छ्राद्धं प्रयत्नेन अमायां कर्त्तुमर्हति ॥

अमावस्याके प्राप्त होनेपर पितर वायुरूप होकर श्राद्धकी अभिलाषासे घरके द्वारपर रहते हैं। जबतक सूर्य्य अस्त नहीं होता, तबतक क्षुत्पिपासासे व्याकुल होकर ठहरते हैं। परन्तु सूर्यास्त हो जानेपर निराशासे दुःखी होकर और अपने वंशजोंको शाप देते हुए पीछे चले जाते हैं। इसीलिये अमावस्यामें अवश्यमेव श्राद्ध करना चाहिये।

ऊपर वर्णित नित्य नैमित्तिक पितरोंकी सम्वर्द्धनाके अतिरिक्त श्राद्ध-कृत्यका एक विशेष फल यह है कि, इसके द्वारा प्रेतयोनिप्राप्त जीवोंका प्रेतत्व नाश होता है। मृत्युके समय किस प्रकारसे काममोहादि भावके द्वारा सूक्ष्म शरीरके आच्छन्न होनेसे अथवा अपघातमृत्यु या अकस्मात् मृत्यु आदिके द्वारा जीवको प्रेतयोनि प्राप्त होती है और उस योनिमें क्या क्या क्लेश जीवको भोगना पड़ता है, इसका प्रचुर वर्णन 'परलोक और पुनर्जन्म' नामक प्रबन्धमें किया जायगा। प्रेतत्व प्राप्ति सूक्ष्मशरीरका एक प्रकार मूर्च्छावस्था होनेके कारण जिस प्रकार किसी मूर्छित व्यक्तिका मूर्छाभंग औषधि आदिकी शक्तिके द्वारा किया जाता है, उसी प्रकार प्रेतका भी प्रेतत्व नाश मनः-शक्ति, मन्त्रशक्ति और द्रव्यशक्ति नामक त्रिविध शक्तियोंके यथाविधि प्रयोग द्वारा ही किया जाता है, सो किस प्रकारसे, यह क्रमशः नीचे बताया जायगा।

मृत्युके समय सूक्ष्म शरीरके विशेष दुर्बल तथा मूर्छाभावापन्न हो जानेके कारण मृत्युके अनन्तर समस्त अवयवोंमें परलोकगत आत्माका सहसा क्रिया-शक्तिका उदय नहीं होता है और अङ्ग प्रत्यङ्गकी पूर्ति भी शीघ्र नहीं हुआ करती है। इसलिये विशेष श्राद्धकृत्यसे पहिले दश दिनोंतक अङ्ग प्रत्यङ्गपूर्तिरूपसे दश पूरकपिण्ड देनेकी विधि है, यथा अथर्ववेदीय पिण्डोपनिषद्में :—

प्रथमेन तु पिण्डेन कलानां तस्य सम्भवः ।
द्वितीयेन तु पिण्डेन मांसत्वक्शोणितोद्भवः ।

तृतीयेन तु पिण्डेन मतिस्तस्याभिजायते।
चतुर्थेन तु पिण्डेन अस्थिमज्जा प्रजायते।
पञ्चमेन तु पिण्डेन हस्तांगुल्यः शिरोमुखम्।
षष्ठेन तु पिण्डेन हृत्कण्ठं तालु जायते।
सप्तमेन तु पिण्डेन दीर्घमायुः प्रजायते।
अष्टमेन तु पिण्डेन वाचं पुष्यति वीर्यवान्।
नवमेन तु पिण्डेन सर्वेन्द्रियसमाहृतिः।
दशमेन तु पिण्डेन भावानां सवनं तथा।
पिण्डे पिण्डे शरीरस्य पिण्डदानेन सम्भवः।

प्रथम पिण्डसे कलाविकाश, द्वितीय पिण्डसे मांस त्वचा शोणितकी उत्पत्ति, तृतीय पिण्डसे मति, चतुर्थ पिण्डसे अस्थिमज्जा, पञ्चम पिण्डसे हस्त, अंगुलि, शिर और मुख, षष्ठ पिण्डसे हृदय, कण्ठ तालु, सप्तम पिण्डसे आयु, अष्टम पिण्डसे वाक्, नवम पिण्डसे समस्त इन्द्रियां और दशम पिण्डसे नाना भावोंका विकाश होता है। इस प्रकारसे प्रत्येक पूरक पिण्डदान द्वारा अङ्ग प्रत्यङ्गकी पूर्ति तथा श्राद्धकृत्यमें मन, मन्त्र द्रव्यके साथ अधिदैव सम्बन्ध करनेकी योग्यता परलोकगत आत्माकी हो जाती है। इसीके बाद मनःशक्ति मन्त्रशक्ति और द्रव्यशक्तिके प्रयोगात्मक क्रियाओंका विधान किया गया है।

शास्त्रमें मनकी शक्ति अति असाधारण करके वर्णित की गई है। मन ही समस्त संसारका उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयकर्त्ता है।

उपनिषद्में कहा है:—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥

मन ही मनुष्योंके बन्धन तथा मोक्षका कारण है। विषयासक्त मनसे बन्धन तथा निर्विषय मनसे मोक्षलाभ होता है। मनके ही बलसे भक्तगण भगवान् तकके दर्शन कर लेते हैं। योगी मनके ही बलसे दूसरेको वशीभूत तथा कठिन कठिन रोगोंको भी आराम कर देते हैं। मनुष्यकी बात ही क्या,

जङ्गलके वृहदाकार अजगर सर्पको चलनेकी शक्तिसे रहित होने पर भी मनके ही बलसे निरन्तर चिन्ता द्वारा मृग आदि आहार्य वस्तुओंको आकर्षण करते हुए देखा गया है। श्राद्धमें प्रेतात्मापर इसी मनःशक्तिका प्रयोग होता है। प्रथमतः अशौचके दिनोंमें संयम, ब्रह्मचर्य्यरक्षा, स्पृश्यास्पृश्यविचार, सदाचारपालन आदिके द्वारा मनमें यथेष्ट बल संचय किया जाता है। तदनन्तर चिन्ताशक्तिके द्वारा—'आयन्तु नः पितरः' इत्यादि भावसे परलोकगत आत्मीयजनोंको श्राद्धस्थानमें बुलाया जाता है। यह बात विज्ञानसिद्ध है कि, जहांपर आत्मा तथा मनका स्वाभाविक मेल है, वहां एक मनकी चिन्ताका तरङ्ग अनायास ही अन्य मनपर घात प्रतिघात उत्पन्न कर सकता है। एक घरमें पांच सितार एक सुर मिलाकर रख दीजिये, एकके बजानेसे शेष चार बिना बजाये स्वयं ही बजने लगते हैं। क्योंकि सुर मिले रहनेसे एकका कम्पन वायुतरंग द्वारा वाहित होकर अन्य यन्त्रोंपर भी प्रभाव विस्तार कर देता है। जब जड़ यन्त्रोंमें इतनी शक्ति है, तो चेतन मनकी बात ही क्या है। इस विषयमें मिष्टर डुबो (Victor Du Bois) साहबने बड़ा अच्छा कहा है, यथा—Mental suggestions are reproduced in the ether, like wireless messages They occasionally reach other mind and influence them, when the voice cannot be heard and the external organs fail to receive verbal suggestions from any causes such as inattention, deafness or blindness Distance is no barrier, if one soul is attuned to another One need not be in the presence of a person to use suggestion in this way

(The Law of Suggestion—Kalpaka)

मानसिक प्रेरणा बेतार खबरकी तरह 'इथर' मार्गसे दूसरेके मनपर प्रभाव डालती है। जहां पर शब्दकी सुनाई न हो, अमनोयोग, बहरापन, या अन्धेपनके कारण बाहिरी इन्द्रियोंकी भी सहायता प्राप्त न हो, वहां भी इसका प्रभाव टूटता नहीं है। यदि आत्माका मेल रहे तो स्थान कितनी ही दूर हो उससे बाधा नहीं होती है। और इस प्रकार प्रेरणाके लिये जिस पर प्रेरणा की जाय, उसके पास रहनेकी भी आवश्यकता नहीं होती है। शास्त्रमें 'आत्मा वै जायते पुत्रः' 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इत्यादि प्रमाणोंके द्वारा पुत्रको पिताका

आत्मा ही कहा गया है। उसमें भी ज्येष्ठ पुत्र धर्मज पुत्र होनेसे पिता माताके साथ उसका विशेष स्वाभाविक सम्बन्ध है। इस प्रकार पुत्र जब अशौचावस्थामें मनःशक्ति विशेषरूपसे सम्पादन करके परलोकगत पिता-मातादिका चिन्तन तथा आवाहन करेगा, तो उससे परलोकगत आत्माको अवश्य ही विशेष लाभ पहुँचेगा, इसमे अणुमात्र सन्देह नहीं है। इस विषयमें भी पश्चिमी पण्डितोंने अनुकूल अनुभव किया है यथा—Asked as to how a real scientist like him could believe in ghosts Sir Oliver Lodge pointed out that mental force can make dead matter move as it directs and can also work upon the mental force of another, living or dead and one mind can send thought waves to another no matter how many miles separate the two. And thus it is also, that a mind—without any material body, such as the surviving spirit of a dead person, can talk to the mind of a person who still has a living body. (Kalpaka). इतने बडे सायन्सके जाननेवाले होकर प्रेतयोनिपर कैसे विश्वास करते है, अलिभार लजको ऐसा पूछनेपर उन्होंने उत्तर दिया कि मनकी शक्तिसे जड़वस्तु भी हिलायी जा सकती है। और मृत या जीवित किसी भी मनुष्यके मन पर प्रभाव डाला जा सकता है। चाहे कितनी ही दूरपर हो चिन्ताका तरङ्ग एक मनसे दूसरे मनपर जा सकता है और इसी प्रकारसे एक मृतव्यक्तिका मन एक जीवित व्यक्तिके मनके साथ सम्बन्ध स्थापन, वार्त्तालाप आदि कर सकता है। यही कारण है कि, श्राद्धमे कुटुम्बभोजन तथा निकटस्थ सद्ब्राह्मण-भोजनकी विधि है। यथा—

सम्बन्धिनस्तथा सर्वान् दौहित्रं विट्पतिन्तथा।
भागिनेयं विशेषेण तथा बन्धून् गृहाधिपान्॥
यस्त्वासन्नमतिक्रम्य ब्राह्मणं पतितादृते।
दूरस्थं भोजयेन्मूढो गुणाढ्यं नरकं व्रजेत्॥

सब कुटुम्बी विशेषकर दौहित्र, भगिनीपति, भागिनेय और गृहस्वामीके बन्धुवर्ग—ये ही सब श्राद्धभोजनमे निमन्त्रण देनेके लिये प्रशस्त है। जो

निकटस्थ उत्तम ब्राह्मणको छोड़कर दूरस्थ ब्राह्मणको भोजन कराता है, वह नरकगामी होता है। इसी कारण मनुने भी अपनी संहिताके तृतीयाध्यायमें कहा है—

कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वरिम्।
द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम्॥

श्राद्धमें प्रयोजन होनेपर मित्रभोजन भी अच्छा है, किन्तु विद्वान होनेपर भी शत्रुभोजन श्राद्धमें कभी नहीं कराना चाहिये, क्योंकि शत्रुके साथ मानसिक मेल न होनेके कारण उससे परलोकगत आत्माका कोई कल्याण नहीं होता है।

कुटुम्बभोजनकी तरह ब्राह्मण-भोजनकी जो बड़ी महिमा श्राद्धकृत्यके अङ्गरूपसे आर्यशास्त्रमे बताई गई है, उसके भी मूलमे मनःशक्ति प्रदानका ही रहस्य भरा हुआ है। मनुसंहिताके तृतीयाध्यायमे लिखा है—

निमन्त्रितान् तु पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान्।
वायुवच्चानुगच्छन्ति तथाऽऽसीनानुपासते॥

परलोकगत पितर या आत्मा निमन्त्रित ब्राह्मणोंके शरीरोंमे वायुशरीर धारण करके समाविष्ट होते हैं, इनका अनुगमन करते हैं तथा इनके बैठनेपर बैठते हैं। इस प्रकारसे ब्राह्मणोंके साथ ब्राह्मणोंके द्वारा परलोकगत आत्माका श्राद्धकालमें भोजन भी मनुने बताया है। वेदमे भी—

इदमोदनं निदधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम्।
स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु॥ ४-३४-८

इस अन्नको मैं ब्राह्मणोंके समीप रखता हूँ, यह विस्तृत है, लोकजित् है, स्वर्गमें पहुंचनेवाला है। जलके द्वारा वृद्धिगत यह अन्न मुझे कामधेनु-तुल्य फल दे। पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अ० ३३ मे स्पष्ट ही लिखा है कि, भगवान् रामचन्द्र जब पिता दशरथका श्राद्ध करके ब्राह्मणभोजन करा रहे थे, तो सीतामाता ब्राह्मणोंके साथ श्वशुर दशरथको देखकर लज्जिता हो छिप गई थीं।

'पिता तव मया दृष्टो ब्राह्मणाङ्गेषु राघव।'

इसलिये यह बात निश्चय है कि, श्राद्धभोजी ब्राह्मण यदि तपस्वी और संयमी होंगे तभी प्रेतसमाविष्ट श्राद्धान्नको पचा सकेंगे और भोजनपरितृप्त होकर आशीर्वाद तथा मन्त्रशक्ति और तपःशक्ति प्रदान द्वारा परलोकगत आत्माका कल्याण कर सकेंगे। अन्यथा असयमी ब्राह्मणको श्राद्धमें भोजन देनेसे पितर या प्रेतका तो कोई कल्याण होता ही नहीं, अधिकन्तु प्रेतसमावेश द्वारा श्राद्धभोजी अधम ब्राह्मणकी और भी अधोगति होती है। इसी कारण श्रीभगवान् मनुने बार बार अपनी संहिताके तृतीयाध्यायमें लिखा है। यथा—

श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः।
अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम्॥
एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत्।
पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान् बहूनपि॥
सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते।
एकस्तान् मन्त्रवित् प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः॥

पूज्यतम श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको ही हव्यकव्य प्रदान करना चाहिये। क्योंकि इनको देनेसे ही महाफललाभ होता है। दैव या पितृकर्ममें इस प्रकार एक विद्वान्को भोजन करानेपर भी यथेष्ट फल लाभ होता है, किन्तु वेदज्ञानहीन अनेक ब्राह्मणोंको भोजन करानेपर भी कुछ फल नहीं मिलता है। वेदज्ञानहीन दश लक्ष ब्राह्मण जिस श्राद्धमें भोजन करें वहां यदि वेदज्ञ एक ब्राह्मण भी भोजन द्वारा तृप्त किया जाय तो धर्मतः एकसे दश लक्षका काम हो जाता है। चन्द्रलोकवासी पितरोंके साथ मानसिक क्रियाओंका विशेष सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है। वेदमें भी 'चन्द्रमा मनसो जातः' इस मन्त्रके द्वारा विराट् मनके साथ चन्द्रलोकका नैसर्गिक सम्बन्ध बताया गया है। समस्त व्यष्टि मन समष्टि मनका ही अंशरूप होनेसे श्राद्धकालमे व्यष्टि मनमें उत्पन्न भावतरङ्ग समष्टि मनःसमुद्रमें भी हिल्लोल उत्पन्न करके सुदूर सूक्ष्मलोकमें पितरोंके मनपर प्रभाव विस्तार कर सकेगा, इसमें वैज्ञानिक दृष्टिसे कुछ भी सन्देह नहीं रह सकता है। अतः श्राद्धकृत्यमें मनःशक्ति प्रयोग विज्ञानसिद्ध है। गृहस्थों-की तरह संसारत्यागी सन्यासी भी मनोबल तथा आत्मबल द्वारा अपने वंशज पितरोंका कल्याण करते हैं और उनकी आध्यात्मिक उन्नतिमें विशेष सहायता

करते है। किन्तु उनके मन तथा आत्मामें विशेष शक्ति होनेके कारण उन्हें गृहस्थोंकी तरह स्थूल श्राद्धविधियोका आश्रय लेना नहीं पड़ता है। वे मृत पितरोको स्मरण करके मनोबल तथा आत्मबल द्वारा सूक्ष्मरूपसे ही सब कुछ कर देते हैं। यही कारण है कि, शास्त्रमे वर्णन देखनेमें आता है कि, जिस वंशमे एक साधुपुत्र उत्पन्न होता है, उसके आगे पीछे चतुर्दश पुरुष या इक्कीस पुरुष उद्धारको पा जाते हैं। यथा—श्रीमद्भागवतमे प्रह्लादके प्रति नृसिंह भगवान्‌का वाक्य है:—

त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ।
यत् साधोऽस्य कुले जातो भवान् वै कुलपावनः॥

हे प्रह्लाद! केवल तुम्हारा पिता ही नहीं, किन्तु इक्कीस पुरुषतक तुम्हारे वंशके पितृगणका उद्धार हो जायगा, जहांपर तुम जैसे साधुपुत्र उत्पन्न हुए हो। यही सब श्राद्धमे मनःशक्तिका प्रभाव है।

मनःशक्तिकी तरह मन्त्रशक्तिके द्वारा भी परलोकगत आत्माओंको विशेष शान्ति तथा उन्नतिमें सहायता मिलती है और प्रेतोंका प्रेतत्वनाश भी मन्त्रबलसे विशेषरूपसे होता है। मन्त्र क्या वस्तु है, देवराज्यके साथ मन्त्रोंका क्या सम्बन्ध है, आदिमन्त्र प्रणवसे प्राकृतिक क्रमस्पन्दन द्वारा अन्यान्य समस्त मन्त्रोंका किस प्रकारसे विकाश होता है, इसका यथेष्ट वर्णन और किसी प्रबन्धमें किया जायगा। संसारमें शब्दकी महिमा अपार है। शब्दहीके उपयोग-तारतम्यसे शत्रु भी मित्र होते हैं और मित्र भी शत्रु हो जाते हैं, लक्षलक्ष मनुष्योंपर बिजलीकी तरह शक्तिसञ्चार तथा प्रभावविस्तार हो जाता है, मनुष्य प्राण देनेके लिये तैयार हो जाते हैं, और प्राण लेनेके लिये भी तैयार हो जाते हैं, वनके मृग भी व्याधकी वीणाके शब्दके द्वारा वशीभूत होकर प्राण दे देते हैं और कालसर्प भी डमरूके शब्द प्रभावसे ही वशीभूत हो जाता है। अतः जब स्थूल शब्दका ही इतना प्रत्यक्ष प्रभाव है तो सूक्ष्म दिव्यशब्दरूप मन्त्रोंका असाधारण प्रभाव होगा, इसमें सन्देह ही क्या हो सकता है, क्योंकि वस्तु जितनी सूक्ष्म होती है, उसकी शक्ति भी उतनी ही बढ़ जाया करती है। स्थूल वस्तु पाञ्चभौतिक स्थूल शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्मतत्त्वके परि-

णामरूप सूक्ष्म शरीर तथा मनका विलक्षण ही प्रभाव है । इसी विज्ञानपर ही प्रतिष्ठित होकर अणुविश्लेषण (dilution) द्वारा होमियोपैथिक चिकित्सा-शास्त्रमें भिन्न भिन्न शक्तिकी ओषधि बनाई जाती है और यह भी विज्ञान जगत्‌ने आजकल प्रमाणित कर दिखाया है कि, जबतक अणु अणुसे मिला रहता है, तभीतक उनमे स्वाभाविक शक्तिका ठीक विकाश नहीं होता है, नहीं तो पृथक् पृथक् एक एक अणुमे समस्त संसारके भीतर प्रलय मचा देनेकी शक्ति विद्यमान है । अतः विचार द्वारा सिद्धान्त हुआ कि, स्थूल शब्दकी अपेक्षा दिव्य शब्द मन्त्रोंके भीतर अधिक तथा असाधारण शक्ति' विद्यमान है। इस कारण श्राद्धमे इन मन्त्रोंको श्राद्धकर्त्ता संयत होकर परलोकगत आत्माओंपर जितना ही प्रयोग करेंगे उतना ही उनकी प्रेतत्वमुक्ति अथवा आध्यात्मिक उन्नति या शान्तिके लाभमे सुविधा होगी—इसमे अणुमात्र सन्देह नहीं । शास्त्रमे 'मन्त्राणां प्रणवः सेतुः' अर्थात् प्रणवको सब मन्त्रोंका चालक कहा गया है। इसलिये प्रणवके साथ अन्यान्य मन्त्रोका उच्चारण करनेसे प्रणव उन मन्त्रो-को चालित करके जहांपर जिस लोकमे परलोकगत आत्मा विराजमान है वहीं ले जाकर अभीष्ट फल प्रदान करानेमे सहायता कर देगा, इसमें भी संशय नहीं है। यही श्राद्धमे मन्त्रशक्ति प्रयोगका उपयोग तथा रहस्य है । इस प्रकारसे मन्त्रकी दिव्यशक्तिके प्रयोगके साथ साथ और भी अनेक दिव्य शक्तिकी सहायता श्राद्धकृत्यमे परलोकगत आत्माको पहुचाई जाती है । मनुसंहिताके तृतीयाध्यायमे लिखा है—

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ॥

अर्थात् श्राद्धकालमे ब्राह्मणोको वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण तथा श्रीसूक्तादि सुनाने चाहियें। और भी—

'ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात् पितॄणामेतदीप्सितम्'

ब्राह्मणभोजनके समय आध्यात्मिक आलाप पितरोको प्रीतिप्रद होता है। इसके सिवाय कठोपनिषद्‌का प्रमाण पहिले ही दिया जा चुका है कि, नचि-केताकी कथा श्राद्धकालमे सुनानेसे परलोकगत आत्माकी उन्नति होती है। यही सब श्राद्धकृत्यमें दिव्य शक्ति तथा आध्यात्मिक शक्तिके द्वारा पितर तथा

प्रेतात्माको सहायता पहुँचानेके उपाय है। श्राद्धमें तीर्थ, गया, गङ्गा और गदाधरकी बड़ी महिमा बताई गई है। काशीखण्डमे लिखा है—

अकालेऽप्यथवा काले तीर्थे श्राद्धं च तर्पणम्।
अविलम्बेन कर्त्तव्यं नैव विघ्नं समाचरेत्॥

कालका विचार कुछ भी न करके तीर्थमें श्राद्ध तर्पण करना चाहिये। महर्षि हारीतने कहा है—

दिवायां यदि वा रात्रो भुङ्क्ते चोपोषितोऽपि वा।
न कालनियमस्तत्र गङ्गां प्राप्य सरिद्वराम्॥

दिन हो या रात्रि हो, भोजन किये हुए हो या उपवासी हो, प्रधान नदी गङ्गाको पानेसे कोई भी कालनियम नहीं रखना चाहिये। और भी—

'गयां प्रसंगतो गत्वा मातुः श्राद्धं समाचरेत्'

गया जानेपर अन्यान्य श्राद्धके अतिरिक्त मातृश्राद्धको अवश्य ही करना चाहिये। मत्स्यपुराणमे लिखा है—

एषु तीर्थेषु यच्छ्राद्धं तत् कोटिगुणमिष्यते।
यस्मात्तस्मात् प्रयत्नेन तीर्थे श्राद्धं समाचरेत्॥

तीर्थोंमें श्राद्ध करनेसे कोटिगुण फल लाभ होता है। इस कारण यत्नके साथ तीर्थमें श्राद्ध अवश्य ही करना चाहिये। नित्य तीर्थमे दिव्यशक्तिका नित्य विकाश है, नैमित्तिक तीर्थोंमें देवशक्तिका नैमित्तिक विकाश है, गया धाममें पौराणिक प्रमाणके अनुसार गयासुरके सम्बन्धसे प्रेतादिकल्याणकारी अति दिव्य शक्तिका सदैव विकाश है, गङ्गा माता अलौकिक ज्ञानशक्ति तथा दिव्य शक्तिधारिणी है, विष्णु भगवान् यज्ञेश्वर होनेसे सकल दैव कर्मोंमे सफलता देनेवाले है। यही कारण है, कि शास्त्रोंमें परलोकगत पितरोंको शान्ति, उन्नति तथा दिव्य शक्ति और आध्यात्मिक शक्ति प्रदानके लिये तीर्थ, गया, गंगा और गदाधरकी विशेष शरण लेनेकी आज्ञा की गई है। यही सब श्राद्धकृत्यमें मन्त्रशक्ति तथा दिव्यशक्ति द्वारा सहायता देनेके दृष्टान्त है।

तृतीयतः द्रव्यशक्ति द्वारा भी प्रेतात्मा तथा पितरोंको बहुत कुछ सहायता मिलती है। संसारमे द्रव्यशक्तिकी भी महिमा मन्त्रशक्तिकी तरह अपूर्व है।

प्रत्येक द्रव्यके ही भीतर जीवनदानकारी अथवा प्राणस्पन्दनकारी कुछ न कुछ वैद्युतिक शक्ति देखी जाती है । उन सब द्रव्योंके रासायनिक संमिश्रण द्वारा वैद्युतिकशक्तिको प्रकट करके तार द्वारा संवाद भेजना, पंखा चलाना, प्रकाश कर देना, गाड़ी चलाना आदि प्रक्रिया तो आजकल वैज्ञानिक जगत्की विशेष सम्पत्ति ही बन बैठी है । किन्तु पूज्यपाद महर्षियोंने अपनी ज्ञानशक्ति द्वारा विशेष विशेष द्रव्योंके भीतर स्थूल शक्तिके अतिरिक्त कुछ सूक्ष्मशक्तिका भी अनुभव किया था और तदनुसार उन शक्तियोंकी सहायतासे पितृलोक, प्रेत-लोक और देवलोकसे दैवसम्बन्ध स्थापन कैसे कैसे हो सकता है सो भी बताया था। इस प्रकार द्रव्यान्तर्गत सूक्ष्मशक्तिके प्रभावसे परलोकगत आत्मा-ओंको श्राद्धस्थानमें आकर्षण, उन्हें तृप्ति प्रदान, सहायता प्रदान, प्रेतयोनि प्राप्त जीवोंका प्रेतत्वनाश आदि अनायास ही हो सकता है। और इसी कारण मन्वादि धर्मशास्त्रोंमें इनके प्रयोगका तथा विशेष विधियों द्वारा इनके परस्पर संमिश्रण-का प्रकार बताया गया है। श्राद्धमें कुश, तिल, आदिकी विशेष महिमा तो पहिले ही बताई गई है । इसके सिवाय ताम्र, रौप्य आदि विद्युत् शक्तिमय धातुओंकी भी विशेष प्रशसा की गई है। यथा मनुसंहिताके तृतीयाध्यायमें—

राजतैर्भाजनैरेषामथवा राजतान्वितैः ।
वार्य्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ॥

रौप्यमय पात्र अथवा रौप्ययुक्त ताम्रादि पात्रमे पितरोंको श्रद्धापूर्वक जलदान करने पर भी वह उनकी अक्षयतृप्तिका कारण होता है। द्रव्यशक्ति तथा मन्त्रशक्तिके विषयमें भी पश्चिमियोंने आजकल बहुत कुछ अन्वेषण करना प्रारम्भ कर दिया है । आर्टि मे ब्लाकबर्न (Artie Mae Blackburn) साहबने इस विषयमें निम्न लिखित बातें कही हैं । "Each of the seven metals is the imprisoned or precipitated force or quality which emanates from one of the seven planets"

" Through the living force of the nature elementals associated with them, there are innumerable occult uses to which the seven metals may be put Cures may be effected and disease created by the use or misuse of metals which possess at once life-giving or death-dealing qualities "

"Jewels are positive in force and have inherent qualities of their own Metals, on the other hand, are more or less negative. Silver, particularly coming under the rulership of Luna is passive and therefore becomes a perfect medium for the transmission of influence with which it may be associated by chance or intentionally charged"

"Students of occultism can thus readily see how a water elemental by natural sympathy may be attracted and attached to silver and by inherent antipathy made to repel fire elementals, depending upon the strength of the thought-forms attached to the Talisman"

"Talismans, amulets, colors, numbers and harmonious name vibrations are legitimate weapons of defence, forces of protection and power and are rendered well-nigh irresistible when reinforced by a life of rectitude and selflessness, devoted to the advancement of the race and attuned to the key note of universal Love"

(The Alchemy of Precious Stones—Kalpaka)

सात धातुओंमेंसे प्रत्येकमें ही ग्रहोंसे प्राप्त विशेष शक्ति निहित है। प्राकृतिक पञ्चभूतोंको शक्तिका सहारा मिलनेपर इन धातुओंके द्वारा सूक्ष्म जगत्के अनेक काम लिये जा सकते हैं। इनमें जीवन देने तथा जीवन लेनेकी भी शक्ति है, इसलिये इनके यथार्थ प्रयोगसे रोग आराम हो सकता है और खराब प्रयोगसे जीवोंमें रोग उत्पन्न भी कर दिया जा सकता है। रत्नोंमें पजिटिभ अर्थात् समशक्ति होती है और इनके प्रत्येकमें अपनी अपनी शक्तियां होती हैं। धातुओंमें कम या अधिक नेगेटिभ अर्थात् विषमशक्ति है। चन्द्रग्रहके अधीन होनेसे चांदी निष्क्रिय अर्थात् पैसिभ होती है, इस कारण कहीं शक्ति पहुंचाना हो तो चांदीके द्वारा उत्तम रीतिसे हो सकता है। परलोकविद्या या सूक्ष्मविद्या के जाननेवाले इसीसे विचार कर सकते हैं कि जल और चांदीकी शक्ति एक

साथ मिलाई जाय और उसमें इच्छा शक्तिकी प्रेरणा की जाय तो वह अग्नि-की शक्तिको हटा सकती है। यन्त्र, वर्ण, संख्या, मन्त्र इन सबका प्रयोग रक्षाके लिये किया जाता है और निःस्वार्थ तथा उत्तम मनुष्यके द्वारा प्रयोग किये जानेपर इनकी शक्तिसे अवश्य ही उत्तम कार्य हो जाते हैं। खाद्य पदार्थोंके विषयमे देशकाल पात्र भेदसे आमिषका भी कहीं कहीं प्रयोग देखा जाता है।

यथा अथर्ववेद १८। ४। ४२ में—

यं ते मंथं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतच्युतः॥

इस मन्त्रमें फल, अन्न और मांस किसी एकके द्वारा अपनी रुचि अनुसार श्राद्ध करना बताया है। 'यदन्नः पुरुषो लोके तदन्नास्तस्य देवताः' इसी कारण वेद तथा मनुमें ऐसा विधान है। तथापि निरामिषकी ही सबसे अधिक महिमा बताई गई है। यथा—

यत् किञ्चिन्मधुना मिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम्।
तदप्यक्षयमव स्याद् वर्षासु च मघासु च॥
अपि नः स कुले जायाद् यो नो दद्यात् त्रयोदशीम्।
पायसं मधुसर्पिर्भ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च॥

वर्षाकालमें जब मघानक्षत्रके साथ एकादशीका योग हो, उस दिन पितरोंको मधुमिश्रित अन्न प्रदान करनेपर वह उनकी अक्षय तृप्तिका कारण होता है। पितृगण प्रार्थना करते हैं कि उनके वंशमें कौन ऐसा कुलभूषण उत्पन्न होगा, जो मघात्रयोदशीको या जिस समय हस्तीकी छाया पूर्व दिशाको आवे, उस समय उनको घृत मधु मिश्रित पायसान्न द्वारा परितृप्त करें। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें द्रव्यशक्तिकी पितृलोकतृप्तिकारिणी परममहिमा बताई गई है। यही आर्य्यशास्त्रानुसार प्रेतत्वनाश तथा पितरोंकी तृप्ति और उन्नतिके अर्थ मनःशक्ति, मन्त्रशक्ति और द्रव्यशक्तिका विविध विधिके अनुसार प्रयोग-रहस्य है।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि, इस प्रकार श्राद्धान्न दानका उपयोग तभी तक होना चाहिये, जब तक परलोकगत आत्माका मृत्युलोकमें पुनर्जन्म

न हो गया हो। किन्तु जन्म हो जानेपर इन अन्नोंका क्या उपयोग है और ये सब अन्न उनको प्राप्त भी कैसे हो सकते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि, श्राद्ध सङ्कल्प-प्रधान तथा मनःशक्ति-प्रधान होनेसे सूक्ष्मजगत्‌में सङ्कल्पशक्ति द्वारा पितरोंकी तृप्ति और जन्म हो जानेपर भी उसी जन्ममें आध्यात्मिकादि उन्नतिका कारण बनता है। इस विषयमें हेमाद्रिमें उत्तम प्रमाण मिलता है। यथा—

> देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः।
> तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति॥
> गान्धर्वे भोगरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत्।
> श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्यनुगच्छति॥
> पानं भवति यक्षत्वे राक्षसत्वे तथामिषम्।
> दानवत्वे तथा मांसं प्रेतत्वे रुधिरोदकम्॥
> मानुषत्वेऽन्नपानादिनानाभोगरसो भवेत्॥

पिताने यदि शुभकर्मके द्वारा देवयोनिको प्राप्त किया है, तो उनके निमित्त दिया हुआ श्राद्धान्न अमृतरूप होकर उन्हें मिलेगा। इसी प्रकार गन्धर्वयोनिमें भोगरूपसे, पशुयोनिमें तृणरूपसे, नागयोनिमें वायुरूपसे, यक्षयोनिमें मद्यरूपसे, राक्षसयोनिमें आमिषरूपसे, दानवयोनिमें मांसरूपसे, प्रेतयोनिमें रुधिररूपसे और मनुष्ययोनिमें अन्नादि विविध भोज्यरूपसे श्राद्धान्न प्राप्त होता है। इन प्रमाणोंसे सिद्ध हुआ कि, सङ्कल्पित पदार्थ तथा सङ्कल्पशक्तिके द्वारा सभी योनियोंमें जीवोंको शान्ति तथा उन्नति मिल सकती है। वास्तवमें प्रत्येक जन्मकी उन्नति या अवनतिके साथ निजकृत कर्मसम्बन्धके अतिरिक्त जन्मजन्मान्तरलब्ध आत्मीय जनोंकी सङ्कल्पशक्ति, आशीर्वादशक्ति तथा क्रियाशक्तिका भी बहुत कुछ सम्बन्ध विद्यमान है, जिसको सूक्ष्मदर्शी महात्मागण ही जानकर तत्त्वनिर्णय कर सकते हैं। अतः इन सब रहस्यपूर्ण विषयोंमें शंका करना निरर्थक है।

पहिले ही कहा गया है कि, श्राद्धकृत्यमें नित्य नैमित्तिक पितरोंकी तृप्तिसाधनके अतिरिक्त समस्त संसारकी तृप्तिसाधन द्वारा व्यष्टि समष्टि सत्ताके एकीकरणके लिये भी अनेक अनुष्ठान किये जाते हैं। अब उपसंहारमें उन्हीं

सब अनुष्ठानोंके प्रमाणभूत कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं। पिण्डदान-प्रकरणके अन्तर्गत षोड़श पिण्डदान प्रयोगमें जो जो मन्त्र पितरोंके आवाहन तथा सम्वर्धनके लिये कहे जाते हैं, उन सभीमें यह उदार व्यापक भाव भरा हुआ है। इसमें प्रथमतः बिछाये हुए कुशाके ऊपर तिलयुक्त जलके द्वारा पितरोंका आवाहन किया जाता है। यथा :—

ॐ अस्मत्कुले मृता ये च गतिर्येषां न विद्यते।
आवाहयिष्ये तान् सर्वान् दर्भपृष्ठे तिलोदकैः॥
ॐ मातामहकुले ये च गतिर्येषां न विद्यते।
आवाहयिष्ये तान् सर्वान् दर्भपृष्ठे तिलोदकैः॥
ॐ बन्धुवर्गकुले ये च गतिर्येषां न विद्यते।
आवाहयिष्ये तान् सर्वान् दर्भपृष्ठे तिलोदकैः॥

इस प्रकारसे अपने कुल, मातामह कुल और बन्धुवर्गके कुलमें जिनकी सद्गति नहीं हुई है, उन पितरोंका आवाहन किया जाता है। तदनन्तर तिल-सहित जलाञ्जलि लेकर नीचेके मन्त्रसे कुशापर देना होता है। यथा :—

ओं आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः।
तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृ-मातामहादयः॥
अतीतकुलकोटीनां सप्तद्वीपनिवासिनाम्।
आब्रह्मभुवनाल्लोकादिदमस्तु तिलोदकम्॥

इन मन्त्रोंमें समस्त विश्व तथा उसमें अवस्थित देव, मानवादि सकल योनियोंके जीवोंकी तृप्तिके अर्थ प्रार्थना की गई है।

अतः आर्यशास्त्रविहित श्राद्धकृत्य एक सर्वाङ्गीण मंगलमय अति पवित्र तथा महान् कृत्य है इसमें अणुमात्र भी सन्देह नही रहा। इस कृत्यके द्वारा नियमितरूपसे सम्वर्द्धित होनेपर पितृगण प्रसन्न होकर गृहस्थोंको क्या क्या देते हैं, इस विषयमें मार्कण्डेयपुराणमें लिखा है, यथा :—

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं पितरः श्राद्धतर्पिताः॥ (३२।३८)

श्राद्धतृप्त पितृगण श्राद्धकर्ताको दीर्घायु, सन्तति, धन, विद्या, सुख, राज्य, स्वर्ग और मोक्षप्रदान करते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्यने भी कहा है :—

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं नृणां प्रीताः पितामहाः॥ (२७०)

अतः गृहस्थमात्रको इस प्रकार अभ्युदयनिःश्रेयस सहायक पवित्र-कृत्यका नियमित अनुष्ठान करना अवश्य कर्तव्य है। यही आर्यशास्त्रविहित श्राद्धकृत्यका संक्षिप्त रहस्यवर्णन है। अतःपर नीचे तर्पणकी संक्षिप्त विधि बताई जायगी।

'पितृयज्ञस्तु तर्पणम्'

ऐसा कहकर श्रीभगवान् मनुने पितरोंकी तृप्तिके अर्थ मन्त्रसहित जलादि प्रदानको ही तर्पण कहा है। तथापि जिस प्रकार श्राद्धमें भी देवताओंका आवाहन पूजन होता है, उसी प्रकार तर्पणमें भी देवता ऋषि और पितर तीनोंके ही निमित्त तर्पण किये जाते हैं। यथा शातातपः—

तर्पणन्तु शुचिः कुर्यात् प्रत्यहं स्नातको द्विजः।
देवेभ्यश्च ऋषिभ्यश्च पितृभ्यश्च यथाक्रमम्॥

शुचिताके साथ प्रत्यह स्नातक द्विजको यथाक्रम देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण करना चाहिये।

विशेषतस्तु जाह्नव्यां सर्वदा तर्पयेत् पितृन्।
न कालनियमस्तत्र क्रियते सर्वकर्मसु॥
तिथितीर्थविशेषे च गयायां पितृपक्षके।
निषिद्धेऽपि दिने कुर्यात्तर्पणं तिलमिश्रितम्॥

विशेषतः गङ्गामें सर्वदा पितरोंका तर्पण करना चाहिये। उसमें कालका नियम नहीं है। विशेष तिथिमें, विशेष तीर्थमें, पितृपक्ष आनेपर गयामें निषिद्ध दिनमें भी तिलमिश्रित तर्पण करना चाहिये। अब आगे संक्षेपसे तर्पणोंकी विधियां बताई जाती हैं।

तर्पण करनेवाला स्नान संध्या आदिसे निवृत्त हो, दो वस्त्र धारणकर, मृत्तिका या भस्म लगा तीन आचमन या प्राणायामके अनन्तर कुश तथा जल लेकर—

अमुकगोत्रोऽमुकशर्माहं वेदबोधितपञ्चमहायज्ञान्तर्गत
देवर्षिपितृतर्पणं करिष्ये।

इस प्रकारसे संकल्प करे। फिर पवित्र मोटक हाथमें लेकर हाथ जोड़ नीचे लिखे मन्त्रसे देवताओंका आवाहन करे। यथा—

ॐ विश्वेदेवास आगत शृणुता म इमं हवम्। इदं बर्हिर्निषीदत।

अनन्तर एक तांबेके पात्रमें पूर्वाग्र कुश धर, पूर्वाभिमुख हो देवतीर्थसे चावलसहित जलकी प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें एक एक अंजलि छोड़ता जाय।

ॐ ब्रह्मा तृप्यताम्, ॐ विष्णुस्तृप्यताम्, ॐ रुद्रस्तृप्यताम्, ॐ प्रजापतिस्तृप्यताम्, ॐ देवास्तृप्यन्ताम्, ॐ छन्दांसि तृप्यन्ताम्, ॐ वेदास्तृप्यन्ताम्, ... ॐ पर्वतास्तृप्यन्ताम्, ... ॐ ओषधयस्तृप्यन्ताम्, ॐ भूतग्रामश्चतुर्विधस्तृप्यताम्।

अनन्तर हाथ जोड़ कर उत्तराभिमुख बैठ नीचे लिखे मन्त्रसे ऋषियोंका आवाहन करे।

ॐ सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतोलोकमीयु तत्र जाग्रतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥

फिर यज्ञोपवीतको कण्ठमें कर जलमें यव मिला एक एक ऋषिको दो दो अंजलि अगले मन्त्रोंसे उत्तरको मुख कर देवे। यथाः—

ॐ सनकस्तृप्यताम्, ॐ सनन्दनस्तृप्यताम्, ॐ सनातनस्तृप्यताम्, ॐ कपिलस्तृप्यताम्, ॐ आसुरिस्तृप्यताम्, ॐ वोढुस्तृप्यताम्, ॐ पञ्चशिखस्तृप्यताम्।

फिर अपसव्य हो अर्थात् यज्ञोपवीतको दक्षिण स्कन्धके ऊपर तथा वाम बाहुके नीचे करके दक्षिणाभिमुख हो निम्नलिखित मन्त्रसे पितरोंका आवाहन करे। यथाः—

आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥

तदनन्तर जलमें तिल मिला पितरोंको तीन तीन अञ्जलि देवे। यथा:—

ॐ कव्यवाडनलस्तृप्यताम्, ॐ सोमपास्तृप्यन्ताम्, ॐ यमस्तृप्यताम्, ॐ अर्यमा तृप्यताम्, ॐ अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम्, ॐ सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम्, ॐ बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम्, ॐ यमाय नमः, ॐ धर्मराजाय नमः, ॐ मृत्यवे नमः, ॐ अन्तकाय नमः, ॐ वैवस्वताय नमः, ॐ कालाय नमः, ॐ सर्वभूतक्षयाय नमः, ॐ औदुम्बराय नमः, ॐ दध्नाय नमः, ॐ नीलाय नमः, ॐ परमेष्ठिने नमः, ॐ वृकोदराय नमः, ॐ चित्राय नमः, ॐ चित्रगुप्ताय नमः।

ॐ अद्य अमुकगोत्रः अमुकशर्मा पिता तृप्यतामिदं जलं सतिलं तस्मै स्वधा नमः।

ॐ अद्य अमुकगोत्रः अमुकशर्मा पितामहस्तृप्यतामिदं जलं सतिलं तस्मै स्वधा नमः।

ॐ अद्य अमुकगोत्रः अमुकशर्मा प्रपितामहः तृप्यतामिदं जलं सतिलं तस्मै स्वधा नमः।

अनन्तर ऊपर लिखित रीतिके अनुसार माता, पितामही और प्रपितामहीको तीन तीन अञ्जलि देवे।

अनन्तर तीन तीन अञ्जलि मातामह, प्रमातामह, तथा वृद्ध प्रमातामहको देवे और मातामही, प्रमातामही, वृद्धप्रमातामहीको एक एक अञ्जलि देवे, उसमें मातामह, प्रमातामह, वृद्धप्रमातामहके अञ्जलिदानमें एक वार मन्त्र पढ़े दो वार वाक्यमात्र पढे।

इसके अनन्तर और सम्बन्धियोंको जिनको जलदान करना उचित हो, उनका गोत्र और नाम लेकर एक एक अञ्जलि देनी चाहिए। यह सब कृत्य हो

जानेपर स्नानवस्त्रको वाम भागमें—

ये के चास्मत् कुले जाता अपुत्रा गोत्रिणो मृताः ।
ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीड़नोदकम् ॥

इस मन्त्रसे निचोड़ कर, सव्य हो, आचमन करके, चन्दन अक्षत पुष्प जलमें मिलाकर अर्घपात्रमें या अञ्जलिमें ले:—

ॐ नमो विवस्वते ब्रह्मन् भास्वते विष्णुतेजसे ।
जगत्सवित्रे शुचये सवित्रे कर्मदायिने ॥

इस मन्त्रसे सूर्य्यनारायणको अर्घ देकर तीन प्रदक्षिणा और नमस्कार करके:—

'ॐ देवा गातु विदो गातुं वित्वा गातुमितः'

इस मन्त्रसे विसर्जन करना होता है। यही कात्यायनप्रोक्त तर्पण विधि है।

जिस प्रकार श्राद्धकृत्यके भीतर व्यापक भाव भरा हुआ है, उसी प्रकार तर्पणमें विश्वतृप्तिका अमोघ सम्बन्ध देखने में आता है। इस कारण अपने निकटस्थ तथा दूरस्थ आत्मीयोंके तर्पणके अनन्तर निम्नलिखित नामसे भी तर्पण किये जाते हैं। यथा:—

देवाः सुरास्तथा यक्षा नागा गन्धर्वराक्षसाः ।
पिशाचा गुह्यकाः सिद्धा कुष्माण्डास्तरवः खगाः ॥
जलेचरा भूमिलया वायुधाराश्च जन्तवः ।
प्रीतिमेते प्रयान्त्वाशु मद्दत्तेनाम्बुनाखिलाः ॥

इस मन्त्रके द्वारा पूर्वमुख होकर देवता, यक्ष, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, कुष्माण्ड, तरु, पक्षी तथा जलचर, स्थलचर, व्योमचर सभी जीवोंकी तृप्तिके लिये एक एक अञ्जलि जल देनेकी आज्ञा की गई है। तदनन्तर—

नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः ।
तेषामाप्यायनायैतद् दीयते सलिलं मया ॥

इस मन्त्रसे दक्षिणाभिमुख होकर नरकस्थ समस्त जीवोंकी तृप्तिके लिये एक एक अञ्जलि जल दिया जाता है। तदनन्तर—

येऽबान्धवा बान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः।
ते तृप्तिमखिलं यान्तु यश्चास्मत्तोऽम्बु वाञ्छति॥

इस मन्त्रसे अबान्धव, बान्धव, जन्मान्तरके बान्धव तथा हरएक जल चाहनेवालेकी तृप्तिके लिये एक एक अञ्जलि जल दिया जाता है। तदनन्तर आदित्यपुराणमें अवसानाञ्जलिरूपसे भी दो मन्त्र कहे गये हैं। यथा—

यत्र क्वचन संस्थानां क्षुत्तृष्णोपहतात्मनाम्।
तेषां हि दत्तमक्षय्यमिदमस्तु तिलोदकम्॥
ये मे कुले लुप्तपिण्डाः पुत्रदारविवर्जिताः।
तेषां तु दत्तमक्षय्यमिदमस्तु तिलोदकम्॥

यह अञ्जलि जहां कहीं कोई क्षुधा तृष्णासे पीड़ित जीव हो तथा अपने ही कुलमें लुप्तपिण्ड पुत्रदारवर्जित हो उसकी अक्षय तृप्तिके लिये दी जाती है। अवसानाञ्जलिके अन्तमें पितामह भीष्मदेवके लिये भी तर्पण किया जाता है। यथाः—

वैयाघ्रपादगोत्राय सांकृत्यप्रवराय च।
गङ्गापुत्राय भीष्माय प्रदास्येऽहं तिलोदकम्॥
अपुत्राय ददाम्येतज्जलं भीष्माय वर्मणे॥

भीष्मदेवने नैष्ठिक ब्रह्मचारी होनेके कारण प्रजातन्तुका विस्तार नहीं किया था, इस कारण उनके नप्तारूप संसारके सभी जीव उनकी तृप्तिके लिये तर्पण करते हैं, यही सब विस्तारित तर्पणविधि है। जो इसके करनेमें असमर्थ हो, उसके लिये निम्नलिखित मन्त्रोंसे संक्षिप्त तर्पणविधि भी आर्यशास्त्रमें बताई गई है। यथा :—

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः।
तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृमातामहादयः॥

अतीतकुलकोटीनां सप्तद्वीपनिवासिनाम्।
आब्रह्मभुवनाल्लोकादिदमस्तु तिलोदकम्॥
एकं जलाञ्जलिं दद्यात्कुर्यात् संक्षिप्ततर्पणम्॥

और भी विष्णुपुराणमें :—

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत्तृप्यत्विति ब्रुवन्।
क्षिपेत्पयोञ्जलीं स्त्रींस्तु कुर्यात् संक्षिप्ततर्पणम्॥

इस मन्त्रसे आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समस्त विश्वके निखिल प्राणियोंकी तृप्तिके लिये एक अञ्जलि या तीन अञ्जलि जल देनेकी आज्ञा की गई है। यही संक्षिप्त तर्पण है। इन सब तर्पणोंका फल क्या है सो भी शास्त्रमे लिखा है। यथा :—

एवं यः सर्वभूतानि तर्पयेदन्वहं द्विजः।
स गच्छेत्परमं स्थानं तेजोमूर्तिमनामयम्॥

सकल जीवोंकी तृप्तिके लिये नित्य नियमितरूपसे जो तर्पण करते हैं उनको अनामय, तेजोमय, परमधाम प्राप्त होता है। यही आर्यशास्त्रविहित श्राद्ध तथा तर्पणका वैज्ञानिक रहस्य वर्णन है।

षोड़श संस्कार।

पश्चिम देशके प्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा दार्शनिक विद्वान् हर्बर्ट स्पेन्सर साहबने अङ्गरेजी chance (चान्स=विना कारण अकस्मात् होना) शब्दके विषयमे कहा है:—

"Chance cannot be the subject of the theory, because there is really no such thing as chance regarded as producing and governing events. The word chance signifies falling (Latin cado to fall). Chance then exists not in nature and cannot co-exist with knowledge; it is merely an expression

as Laplace remarked, for our ignorance of the causes in action and our consequent inability to predict the result or to bring it about infallibly. In nature the happening of an event has been predetermined from the first fashioning of the universe."

(The Principles of Science p. 198)

आकस्मिकता विचारका विषय नही हो सकता है क्योंकि किसी घटनाकी उत्पत्ति या सञ्चालनके मूलमें आकस्मिकताका कोई स्थान नही है। लाटिन भाषाके अनुसार चान्स या आकस्मिकता का अर्थ 'पतन' है। प्रकृति राज्यमें चान्सका कोई अस्तित्व नहीं है, ज्ञान और चान्स यह दोनों एक साथ रह भी नही सकते। जैसा कि लैपलेस साहवने कहा है हम 'चान्स' शब्दका प्रयोग तभी करते हैं जब कि किसी कार्यके कारणके विषयमें हमें अज्ञता रहती है और इसीसे उसके फलके विषयमें भी हम अनुमान नहीं कर सकते। अन्यथा विश्वरचनाके प्रारम्भसे ही प्रकृतिराज्यमें घटना घटनेके कारण निर्दिष्ट हो चुकते हैं। आर्य शास्त्रका ठीक यही सिद्धान्त है। हम विना कारण किसी कार्यका होना नहीं मानते। बल्कि कैसे उत्तम कारणका आश्रय लेनेपर अत्युत्तम कार्य हो सकता है यह हम सर्वथा सिद्ध कर देनेको तैयार हैं। संसारमे शिल्पकलाकी सहायतासे जिस प्रकार भिन्न भिन्न जातियां अत्युत्तम सामग्री तैयार कर लेती हैं, उसी प्रकार वैदिक प्रक्रियाओंके द्वारा मनुष्यको पूर्ण मनुष्य, उत्तम मनुष्य, उत्तम विभूति सम्पन्न स्त्री पुरुष बना देनेका अधिकार आर्यशास्त्र रखता है। इन्ही अधिकारोंमेंसे एक अधिकारका नाम षोड़श संस्कार है।

आर्यशास्त्रमे संस्कारोंकी बड़ी महिमा बताई गई है। षोड़श कला-पुष्ट चन्द्रदेवकी पूर्णताके सदृश षोड़श संस्कार द्वारा पूर्णता लाभ करके जीव जीवत्व छोड़ ब्रह्मत्व पदपर प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। शास्त्रमें लिखा है:—

चित्रं क्रमाद् यथानेकैरंगैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः॥

लेखनीके वार वार फेरनेसे जिस प्रकार चित्र सर्वाङ्ग सम्पूर्ण होता है,

उसी प्रकार विधिपूर्वक संस्कारोंके अनुष्ठान द्वारा ब्राह्मणगुण विकसित होता है। श्रीभगवान् मनुने कहा है:—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥
गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौड़मौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ (२ य अध्याय)

वेदोक्त गर्भाधानादि पुण्यकर्म द्वारा द्विजगणका शरीरसंस्कार करना चाहिये, जो कि इहलोक तथा परलोकमें पवित्रकारी है। गर्भसमयके तीनों संस्कारोंमें तथा जातकर्म, चूड़ाकर्म और उपनयनादि संस्कारोंमें अनुष्ठित होमोंसे बीज तथा गर्भवासजन्य प्राप्त अपवित्रता नष्ट हो जाती है और वेद-मन्त्रोंके प्रभावसे अन्तःकरणमें शुभ संस्कारोंका उदय होता है। वेदारम्भ संस्कार द्वारा प्राप्त वेदोंके स्वाध्याय, व्रत तथा होमोंसे, त्रयी विद्याके ज्ञानसे, योगानुष्ठानसे, विवाह द्वारा सन्तानोत्पत्तिसे और पञ्च महायज्ञ तथा अग्निष्टोमादि यज्ञोंसे द्विजशरीर ब्रह्मप्राप्तियोग्य बनाया जाता है। इस प्रकारके संस्कारोंका साधारण फल मन्वादि स्मृतिकारोंने बताया है। इनके पृथक् पृथक् फल स्मृतिसंग्रहमें विशेष रूपसे बताये गये हैं। यथा—

निषेकाद् बैजिकं चैनो गार्भिकञ्चापमृज्यते ।
क्षेत्रसंस्कारसिद्धिश्च गर्भाधानफलं स्मृतम् ॥
गर्भाद् भवेच्च पुंसूतेः पुंस्त्वस्य प्रतिपादनम् ।
निषेकफलवज्ज्ञेयं फलं सीमन्तकर्मणः ॥
गर्भाम्बुपानजो दोषो जातात् सर्वोऽपि नश्यति ।
आयुर्वर्चोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवहृतेस्तथा ॥
नामकर्मफलं त्वेतत् समुद्दिष्टं मनीषिभिः ।
सूर्यावलोकनादायुरभिवृद्धिर्भवेद् ध्रुवा ॥

निष्क्रमादायुः श्रीवृद्धिरप्युद्दिष्टा मनीषिभिः ।
अन्नाशनान्मातृगर्भमलाशादपि शुध्यति ॥
बलायुर्वर्चोवृद्धिश्च चूड़ाकर्मफलं स्मृतम् ।
उपनीतेः फलं त्वेतद् द्विजतासिद्धिपूर्विका ॥
वेदाधीत्यधिकारस्य सिद्धिः ऋषिभिरीरिता ।
पत्न्या सहाग्निहोत्रादि तस्य स्वर्गः फलं स्फुटम् ॥
ब्राह्माद्युद्वाहसम्भूतः पितॄणां तारकः सुतः ।
विवाहस्य फलं त्वेतद् व्याख्यातं परमर्षिभिः ॥

गर्भाधान संस्कारसे बीज तथा गर्भ सम्बन्धीय समस्त मलिनता नष्ट हो जाती है और क्षेत्ररूपी स्त्रीका संस्कार भी इसका फल है । गर्भके अनन्तर कन्याशरीर न बनकर पुत्र शरीर बनना पुंसवन संस्कारका फल है। सीमन्तोन्नयन और गर्भाधानका फल एक ही प्रकार है । गर्भमे माताके आहार रसके पीनेका सब दोष जातकर्म संस्कारसे नष्ट हो जाता है । आयु तथा तेजकी वृद्धि और नाम व्यवहारकी सिद्धि नामकरण संस्कारका फल है । निष्क्रमणमे सूर्यनारायणका समन्त्रक दर्शन करानेसे आयुकी वृद्धि होती है और इस संस्कार द्वारा आयु तथा लक्ष्मीकी भी वृद्धि मानी गई है। माताके गर्भमें मलिनताभक्षणका जो दोष लगता है वह अन्नप्राशनद्वारा शुद्ध हो जाता है । बल, आयु और तेजकी वृद्धि होना चूड़ाकर्म संस्कारका फल है । द्विजत्वसिद्धिपूर्वक वेदाध्ययनका अधिकारी होना उपनयनका फल है । विवाहके अनन्तर सपत्नीक अग्निहोत्रादि अनुष्ठान द्वारा स्वर्गलाभ होता है और ब्राह्मादि उत्तम विवाहके फलसे सुपुत्र उत्पन्न होकर पितरोंका त्राण करता है, यह सब विवाहका फल है । इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमे संस्कारोंकी परम-महिमा बताई गई है ।

संस्कारोंके इन सब फलोंको प्रधानतः तीन भागोंमे विभक्त कर सकते हैं यथा—दोषमार्जन, अतिशयाधान और हीनाङ्गपूर्त्ति। किसी मलिन प्राकृतिक वस्तुको संस्कृत करनेके लिये इन तीन उपायोंकी आवश्यकता होती है। दृष्टान्तरूपसे खानसे निकले हुए लोहे पर विचार किया जा सकता है। खानसे निकला

हुआ लोहा अति मलिन होता है। यदि उससे तलवार बनानी हो तो प्रथमतः उसका 'दोषमार्जन' अर्थात् उसे साफ करना होता है। तदनन्तर उसको आगमें नियमित तपाकर उससे इस्पात बनाना और उस इस्पातको तलवारके रूपमें बना लेना 'अतिशयाधान' कहलावेगा। इस तरहसे अतिशयाधान द्वारा तलवार बन जाने पर इसे लकड़ी, सोने या चांदीसे जड़ना या मूठ बनाना 'हीनाङ्गपूर्त्ति' कही जाती है। इसी प्रकार कपासके वृक्षसे प्राप्त मलिन कपासको साफ करना दोषमार्जन है, उससे कपड़ा कुर्त्ता बना लेना अतिशयाधान है और 'बटन' आदि लगाकर उसे पहिनने लायक बना लेना हीनाङ्गपूर्त्ति है। इसी दृष्टान्त पर संस्कारों-के विषयमें भी समझा जा सकता है कि गर्भाधान, जातकर्म, अन्नप्राशन आदि संस्कारोंके द्वारा दोषमार्जन होता है, चूड़ाकर्म, उपनयन आदि संस्कारोंके द्वारा अतिशयाधान होता है और विवाह, अग्न्याधान आदि संस्कारोंके द्वारा हीनाङ्ग-पूर्त्ति होती है। इस प्रकारसे संस्कारके अन्तर्गत विविध विधियोंके द्वारा जीव शिवत्व पदवी तक पहुँच सकता है।

संस्कारकार्यमें अधिकार किसका है? इस प्रश्नके उत्तरमें महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है:—

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।
निषेकादिश्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः॥

चार वर्णोंमेंसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन द्विज कहलाते हैं। गर्भा-धानसे लेकर मृत्युपर्यन्त समस्त क्रिया इनकी वैदिकविधिसे समन्त्रक होती है। शूद्रवर्णकी समस्त क्रिया अमन्त्रक होती है। यथा यमसंहितामें—

'शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः।

शूद्रवर्णके भी ये सब संस्कार बिना वैदिक मन्त्रके होने चाहिये। वेदमें अधिकार न होनेके कारण उनके लिये केवल उपनयन संस्कारका निषेध है।

संस्कार कितने हैं, इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें मतभेद पाये जाते हैं। कहींपर ४० संस्कार, कहींपर २५ और कहीं १६ संस्कार बताये गये हैं। गौतम-स्मृतिमें ४० संस्कारोंका वर्णन है, यथा,—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, विवाह, पञ्चमहायज्ञ, अष्टकाश्राद्ध, पार्वणश्राद्ध इत्यादि। महर्षि अङ्गिराने २५ संस्कार बताये हैं।

इसी प्रकार व्यास स्मृतिमें १६ संस्कार कहे गये है। यथा—

गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण इत्यादि। इस प्रकार षोडश संस्कारके विषयमें महर्षियोंके मतभेद रहनेपर भी निम्नलिखित सोलह संस्कारोंमे सभीका अन्तर्निवेश हो जाता है। यथा—

आधानम्, पुंसवनम्, सीमन्तोन्नयनम्।
जातकर्म, नामकरणम्, अन्नप्राशनम्, चौलम्, उपनयनम्॥
ब्रह्मव्रतम्, वेदव्रतम्, समावर्त्तनम्, उद्वाहः।
अग्न्याधानम्, दीक्षा, महाव्रतम्, संन्यासः॥

ये ही मीमांसादर्शनके अनुसार षोडश संस्कार हैं। इनमेसे प्रथम ८ संस्कार प्रवृत्ति सम्बन्धीय और दूसरे ८ संस्कार निवृत्ति सम्बन्धीय हैं। क्योंकि श्रीभगवान् मनुने 'ब्राह्मीय क्रियते तनुः' इत्यादि शब्दोंके द्वारा संस्कारका लक्ष्य जीवशरीरको ब्रह्मत्वलाभ योग्य बनाना कहा है और यह ब्रह्मत्वप्राप्ति 'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' इत्यादि वेदमन्त्रोंके द्वारा निवृत्तिकी पराकाष्ठामें ही होना सम्भव है, इस कारण मीमांसादर्शनोक्त षोड़श संस्कारविभाग जो कि प्रवृत्तिनिरोध और निवृत्ति पोषणके विचारसे किया गया है वही जीवात्माकी पूर्णता प्राप्तिके लिये समीचीन जान पड़ता है।

अब नीचे षोड़श संस्कारोंका क्रमशः वर्णन किया जाता है:—

(१) प्रथम संस्कारका नाम गर्भाधान है। पहिले ही कहा गया है कि संस्कारका लक्ष्य ब्राह्मण्यगुणका क्रमविकाश है। गर्भाधान संस्कार इस लक्ष्यकी सिद्धिमें सहायक होता है। सन्तान पितामाताके आत्मा, हृदय तथा शरीरसे उत्पन्न होती है इस कारण पितामाताके स्थूल शरीर अथवा सूक्ष्म शरीरमें जो दोष रहेंगे, सन्तानमें भी वे दोष संक्रामित होंगे। इसी तथ्यको निश्चित करके गर्भग्रहणयोग्यता तथा उपयुक्त कालका निर्णय पूर्वक सन्तानके जन्मके समय जिसमें पितामाताका मन या शरीर पशुभावयुक्त न होकर सात्त्विक देवभावमें भावित हो इस लिये ही गर्भाधान संस्कारका विधान है। श्रीभगवान्ने गीतामें लिखा है:—

"धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

मनुष्यमें धर्मसे अविरुद्ध काम भगवान्‌की विभूति है। पितामाता यदि धर्मभावसे भावित होकर केवल धार्मिक प्रजोत्पत्तिके लक्ष्यसे कामक्रियाका अनुष्ठान करेंगे, तभी वह काम धर्माविरुद्ध होगा और उससे संसारका कल्याण होगा। सन्तानोत्पत्तिके समय मातापिताके चित्तमें जिस प्रकार भावका उदय होता है सन्तानका शरीर तथा मन उस भावसे गठित हो जाता है। कामभावके द्वारा कामुक सन्तान उत्पन्न होती है, वीरभाव तथा वीर पुरुषोंके स्मरण या वीरताकी अधिष्ठात्री देवताके चिन्तन द्वारा वीर सन्तान उत्पन्न होती है, धर्माधिष्ठात्री देवताके चिन्तन द्वारा धार्मिक सन्तान उत्पन्न होती है इत्यादि। इसलिये आर्यशास्त्रका सिद्धान्त है कि पितामाता गर्भाधानके समय अपनेको देवभावमें भावित करें, पति अपनेको प्रजापतिका अंश समझें, पत्नी अपनेको वसुमतीका रूप समझे और देवताओंका चिन्तन पूर्वक गर्भाधान कर्मको सम्पादित करें। गर्भाधानके समय इस प्रकारके मन्त्र आते हैं। यथा—

ॐ पूषा भगं सविता मे ददातु रुद्रः कल्पयतु ललामगुम्। ॐ विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते।

(ऋ. अ. ८. अ. २. व ४२)

अर्थात् पोषणकारी सूर्य और रुद्र योनियोंकी कल्पना करें। व्यापक विष्णु गर्भग्रहणका स्थान दें, देवशिल्पी त्वष्टा रूपका मिश्रण करें, प्रजापति सिञ्चन करे, सृष्टिकर्ता गर्भका संगठन करें। और भी चन्द्रकलाकी देवी गर्भाधान करें, सरस्वती देवी गर्भाधान करें, अश्विनीकुमारगण जिनके अधिष्ठान द्वारा सन्तान आयुः प्राप्त, विनयशील सत्त्वगुणसम्पन्न होती है, वे गर्भाधान करें। इस प्रकारसे देवभाव युक्त होने पर सन्तान अवश्य ही सुलक्षणयुक्त तथा धार्मिक होगी इसमें अणुमात्र सन्देह नही है। यही गर्भाधान संस्कारका संक्षिप्त रहस्य है। कालके कुटिल प्रभावसे इस उत्तम संस्कारका अब नामशेष रह गया है। इस संस्कारमें पशुभावका ही प्रादुर्भाव देखा जाता है।

(२) द्वितीय संस्कारका नाम पुंसवन है। यह संस्कार तथा परवर्ती सीमन्तोन्नयन संस्कार गर्भरक्षा के लिये उपयोगी है। इसलिये गर्भावस्थामें ही ये दो संस्कार किये जाते है। मानवी गर्भके विनष्ट होनेके दो समय अति प्रबल होते हैं, यथा—गर्भधारणके अनन्तर तीसरे महीनेसे लेकर चौथे महीनेके

बीचमें और दूसरा छठें महीनेसे लेकर आठवें महीनेके बीच में। अतः इन दोनों समयोंमे विशेष सावधानताके साथ गर्भिणीके गर्भरक्षाकी आवश्यकता होती है। इसीलिये शिशुके गर्भमें रहते समय इन दोनों संस्कारोंका विधान है।

पुंसवन संस्कार सीमन्तोन्नयनसे पहिले किया जाता है। इसका समय गर्भग्रहणसे तीसरे महीनेके दस दिनके भीतर है। पुंसवनका अर्थ है, पुरुषसन्तानको उत्पन्न करना। गर्भाशयमें स्थित गर्भसे पुत्र होगा या कन्या होगी, इसका निश्चय चौथे महीने तक नही होगा, क्योंकि साधारणतः चौथे महीनेके पहले स्त्री या पुरुषका चिह्न नही होता इस कारण स्त्री या पुरुषका चिह्न प्रकट होनेके पहले पुंसवन संस्कारका विधान है। साधारणतः सभी देशकी स्त्रियाँ कन्याकी अपेक्षा पुत्रका अधिक गौरव करती हैं, विशेषतः भारतकी स्त्रियाँ पुत्र सन्तानकी बहुत ही इच्छा करती है, इसलिये पितरोंके तृप्त्यर्थ वृद्धिश्राद्ध तथा माङ्गलिक हवनादि समाप्त करके जब पति मन्त्रपाठ पूर्वक गर्भिणीसे कहता है कि—"मित्रावरुण नामक दोनों देवता पुरुष हैं, अश्विनीकुमार नामक दोनों देवता पुरुष हैं और अग्नि वायु ये भी दोनों पुरुष हैं। तुम्हारे गर्भमें भी पुरुषका आविर्भाव हुआ है।" तब गर्भिणीका हृदय आनन्दसे प्रफुल्लित हो उठता है। इस आनन्दसे उस समयका अत्यन्त वमन आदिसे उत्पन्न अवसाद एव भीति और आलस्य आदिसे उत्पन्न विषाद मिट जाता है और गर्भपोषणका बल फिरसे आ जाता है। पुंसवनमे दो वटके फलोंको उर्द और यवके साथ गर्भिणीकी नासिकामें लगाकर सुंघानेकी व्यवस्था है। सुश्रुतादि आयुर्वेद शास्त्रमे उसमें योनिदोषनाश तथा गर्भरक्षाकी शक्ति बताई गई है। मोक्षोपयोगी उत्तम स्थूल शरीर प्रदान करना इस संस्कारका लक्ष्य है, यही इसकी विशेषता जाननी चाहिये।

(३) तीसरे संस्कारका नाम सीमन्तोन्नयन है। इसका भी प्रयोजन गर्भ रक्षा करना है। गर्भग्रहणके बाद छठे या आठवे महीनेमे यह संस्कार किया जाता है। इसका मुख्यकर्म गर्भिणीके सीमन्तको उखाड देना है। सीमन्तके कुछ केश उखाड़ देनेके बाद गर्भिणी स्त्रीको श्रृङ्गार या सुगन्धादि सेवन नहीं करना चाहिये और पुष्पमाला आदिका धारण तथा पतिसहवास नहीं करना चाहिये।

इस संस्कारमें पति वृद्धिश्राद्ध, चरुपाक आदि कर चुकनेपर एकवृन्त

स्थित दो पके हुए उदुम्बरके फल तथा अन्यान्य कई एक मांगलिक पदार्थोंको रेशमी वस्त्रसे गर्भिणीके गलेमें बाँधकर पहले यह मन्त्र सुनाते हैं—'तुम इस ऊर्जस्वल उदुम्बर वृक्षसे ऊर्जस्वला बनो। हे वनस्पते! जैसे पत्तेकी उत्पत्तिसे तुम्हारी समृद्धि होती है, वैसेही इसमें पुत्ररूप परम धन उत्पन्न हो।" तदनन्तर कुशगुच्छ द्वारा गर्भिणीके सीमन्तभागके केश उखाड़ते समय पति कहते हैं—"जिस प्रकार प्रजापतिने देवमाता अदितिका सीमन्तोन्नयन किया था, उसी प्रकार इस गर्भिणीका सीमन्तोन्नयन कर इसके पुत्र पौत्रादिकोंको मैं जरावस्था पर्यन्त दीर्घजीवी करता हूँ।" तदनन्तर पौर्णमासी देवता आदिसे भी इसी प्रकार प्रार्थना, सघृत चरु प्रदर्शन आदि कई एक क्रियायें हैं जिनसे गर्भपोषण, भावी सन्तानका कल्याण तथा गर्भदोष नाश होता है। गर्भावस्थामें स्त्रीके प्रसन्न तथा कामादिवेगशून्य रहने पर सन्तान अच्छी, धार्मिक और दीर्घायु होती है, इसी लिये सीमन्तोन्नयनमें ऐसी विधियां हैं।

(४) चतुर्थ संस्कारका नाम जातकर्म है। यह सन्तानके भूमिष्ठ होते ही किया जाता है। इसका कार्य यह है कि पिता पहले यव और चावलके चूर्ण द्वारा और तत्पश्चात् सुवर्ण द्वारा घिसे हुए मधु और घृतको लेकर सद्योजात सन्तानकी जिह्वामें लगाता है। इस समय पढ़नेका मन्त्र यह है—"यह अन्न ही प्रज्ञा है, यही आयु है, यही अमृत है, तुमको ये सब प्राप्त हों। मित्रावरुण तुम्हे मेधा दें। अश्विनीकुमार तुम्हें मेधा दें। बृहस्पति तुम्हे मेधा दें"।

इस मन्त्रमें अन्नके लिये एक बार प्रार्थना है और उसीका सूचक चावल और यवका चूर्ण चखाना है, क्योंकि अन्नके द्वारा ही शरीरकी रक्षा होती है और शरीर रक्षा ही प्रथम धर्मसाधन है। तदनन्तर मेधाके लिये देवताओंसे बार बार प्रार्थना है क्योंकि इसीसे जीव आगेके जीवनमें सब प्रकारकी उन्नतिका अधिकारी हो सकता है। गर्भसे निकलते समय अत्यन्त कष्ट होनेसे और महामायाके मोहके कारण भूमिष्ठ शिशुकी गर्भस्थ स्मृति लुप्त हो जाती है। उसी स्मृतिको पुनः लानेके लिये यह मेधा-जननप्रक्रिया की जाती है।

सुवर्णसे घिसे हुए घृत और मधुको सन्तानकी जिह्वापर लगानेमें अनेक गुण हैं। सुवर्ण वायुदोषको शान्त करता है, मूत्रको साफ करता है और रक्तकी ऊर्द्धगतिके दोषको शान्त करता है। घृत शरीरमें तापको बढ़ाता है, बलकी रक्षा करता है और खुलासा दस्त लाता है। मधु मुखमें 'लार' का सञ्चार

करता है, पित्तकोषकी क्रियाको बढ़ाता है और कफदोषको दूर करता है, अर्थात् यह क्रिया वायुदोषकी शान्तिका, गलनालिका, उदर और आँतोंको सरस बनानेका तथा मलमूत्र निकलने और कफके कम करनेकी क्रिया है। प्रसवकी यन्त्रणाके कारण सद्योजात शिशुके रक्तकी गति ऊपरको जाती है, उसके शरीरमें कफका दोष अधिक हो जाता है और उसकी आँतोंमे एक प्रकारका काला काला मल सञ्चित रहता है, उसी मलके न निकलनेसे अनेक प्रकारकी पीड़ाएँ उपजती है। इसलिये डाक्टर लोग भी सद्योजात शिशुके लिये मधुमिश्रित रेंड़ीके तेलकी व्यवस्था करते हैं। किन्तु सुवर्णसे मधुमिश्रित घृत एरण्डतेलकी अपेक्षा अधिक उपकारी होता है। इसी लिये आर्यशास्त्रमे ऐसी व्यवस्था है। इस संस्कारके द्वारा उपपातक अर्थात् पितृ-मातृ-शरीरज कई एक दोषोका भी नाश होता है, ऐसा आर्यशास्त्रका सिद्धान्त है।

(५) पञ्चम संस्कारका नाम नामकरण है। सन्तानके उत्पन्न होनेके अनन्तर दस रात्रियां बीतनेपर उसका नाम रखना होता है। दस रात्रि छोड़ कर नामकरणका तात्पर्य यह है कि सूतिकागृहमे जितने लड़की लड़के मरते हैं उनमेसे लगभग तीन भाग प्रथम दस रात्रियोमे ही मर जाते है। इसी लिये प्रथम दस रात्रि छोड़ दी गई हैं। नामकरण सस्कारमे शिशुके जन्मग्रह, नक्षत्र तथा अन्यान्य देवताओंके उद्देश्यसे हवनकर पिताको बालक का नाम कह देना चाहिये। उसमे निम्न लिखित अर्थका मन्त्र है—"तुम कौन हो ? तुम्हारी क्या जाति है ? तुम अमृत हो। हे अमृत! तुम सूर्य्य सम्बन्धीय मासमे प्रवेश करो। हे अमृत! सूर्य तुमको दिनसे दिनमे प्राप्त करावें। दिन, रात्रिमें प्राप्त करावे। दिन और रात्रि, पक्षमे प्राप्त करावे। पक्ष, पूर्णमाससे प्रवेश करावें। मास, ऋतुमें प्रवेश करावे। ऋतु सम्वत्सरमें और सम्वत्सर शतवर्षकी सीमा तक पहुँचावे।" इस प्रकारसे दृढ़ मंत्रद्वारा आत्माका अमृतत्व प्रतिपादन करके सन्तानके लिये अति दीर्घजीवनकी आशा तथा प्रार्थना की गई है। नामकरण संस्कार द्वारा नामकी भिन्नताके अनुसार जातिका भी निर्णय हो जाता है। नामके साथ भावका सम्बन्ध है, इसी लिये वर्णभेदसे नामभेद होने पर उसके द्वारा नामी अपने वर्णानुसार उन्नत भावको लाभ करते है। नामके द्वारा अमृत ब्रह्मके साथ सम्बन्ध मिलाना और शतायुके लिये प्रार्थना भी अन्तःकरणमें बलवृद्धि तथा आयुवृद्धिका कारण बनता है।

(६) षष्ठ संस्कारका नाम अन्नप्राशन है। पुत्र हो तो छठे या आठवें महीने और कन्या हो तो पांचवे या सातवें महीने यह संस्कार करना चाहिये। इसके द्वारा खाद्यपदार्थके निर्दिष्ट हो जानेसे अन्नसङ्करता दोषका निराकरण होता है। अन्नप्राशनके लिये शुभ दिन देखना होता है। वृद्धिश्राद्ध कर चुकनेपर पिता सन्तानको गोदमें लेकर बैठे और माता वाम भागमें बैठे। तब पिता मन्त्र पढ़ता हुआ हवन करे और फिर सन्तानके मुखमें अन्नका ग्रास दे। "अन्न ही सकल जीवों का रक्षक है, अन्नपति सूर्यदेव अन्नदान तथा मङ्गलदान करें।" इत्यादि इत्यादि भावार्थबोधक मन्त्र इसमें पढ़े जाते है। माताके गर्भमें मलिनता भक्षणका जो दोष लगता है वह अन्नप्राशनसे शुद्ध हो जाता है। अन्नको उपनिषद्मे ब्रह्म कहा गया है, इसलिये प्रथम अन्नग्रहणमें ब्रह्मचर्य, बल, आयु, अन्तःकरणकी शुद्धिका सम्बन्ध स्थापन होकर ब्रह्मभावका उद्बोधन हो यह भी इस संस्कारका लक्ष्य है।

(७) सप्तम संस्कारका नाम चूड़ाकरण है। इसका मुख्य समय शिशुका तीसरा वर्ष है और इसमें प्रधान कार्य केशमुण्डन है। गर्भावस्थामे जो केश उत्पन्न होते है उन सबको दूर कर चूडाकरणके द्वारा शिशुको शिक्षा तथा संस्कारका पात्र बनाया जाता है। इसीलिये कहा गया है कि चूड़ाकरण द्वारा अपात्रीकरण दोषका निराकरण होता है।

श्राद्ध, हवनादि करनेके बाद सूर्यका ध्यान करते हुए निम्न लिखित भावके मंत्र इस संस्कारमें पढ़ने होते है, यथा—"जिस सुधिति अर्थात् छुरेके द्वारा सूर्यने बृहस्पतिका केशमुण्डन किया था, वायुने इन्द्रका मुण्डन किया था उसी ब्रह्मरूपी सुधिति द्वारा मै तुम्हारा केशमुण्डन करता हू। तुम्हे आयु, तेज, बल आदि प्राप्त हो। इत्यादि।

चूड़ाकरण संस्कारमे शिखा रखकर बाकी केश काट दिये जाते हैं और इससे आयु, तेज, बल, ओज आदिकी प्राप्ति होती है जैसा कि दीर्घायुष्ट्वाय बलाय वर्चसे' 'शक्त्यै शिखायै वषट्' इत्यादि वेद मन्त्रोके द्वारा प्रमाणित होता है। अब शिखा रखनेके साथ इस प्रकार नामका क्या सम्बन्ध है सो ही वैज्ञानिकरूपसे विचार करने योग्य है।

शिखा रखनेकी प्रथा और शिखाहीन सिरकी निन्दा केवल आर्यशास्त्रमें ही नही है, अधिकन्तु अति प्राचीन कालसे अन्यान्य जातियोंमें भी प्रचलित थी।

Strength was supposed to be in the hair and the cutting of it off brought weakness to the body Criminals who refused to confess even under torture, have done so when their hair was cut off So Sampson was powerless when his locks were cut off. In ancient Israel mourners cut off their hair to make the head bald. Amos, in pronouncing a doom on Israel, says 'baldness shall be on every head' and Ezekiel also speaks of the time when baldness shall be on all heads.' You shall not cut yourselves nor make any baldness between your eyes for the dead (Dent XIV. I.) केशमें बल है और शिरोमुण्डनसे दुर्बलता आवेगी, ऐसी धारणा प्राचीन लोगोंमें थी। अपराधी लोगौने बहुत क्लेश देने पर भी अपराध स्वीकार नहीं किया, किन्तु सिर मुड़ा देने पर कर डाला ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। सैम्प्सनकी जब शिखा काट दी गई तो वह शक्तिहीन होगया था। प्राचीन इस्रेलमें शोक मनानेवाले लोग केश मुडा देते थे। एमस्ने इस्रेल पर अभिसम्पात करते समय कहा था कि 'सबके सिर मुड़ जायेंगे।' और इज़ेकैलने भी कहा है कि वह समय आवेगा जब सब लोग सिर मुडा कर कमजोर हो जायेंगे। लोगौको केश मुड़ाकर दुर्बल नही होना चाहिये और मृत व्यक्तिके लिये भी ऐसा नहीं करना चाहिये। इत्यादि प्राचीन प्रमाणोंसे यही सिद्ध होता है कि किसी समय पृथ्वीकी अनेक जातियोंमे शिखा रखनेकी रीति प्रचलित थी। और शिखाके साथ बल रक्षाका सम्बन्ध लोग मानते थे। अब इसके वैज्ञानिक रहस्यपर विचार किया जाता है।

केश क्या वस्तु है, पुरुषोंमें अधिक केश और स्त्रियोंमें कम केश क्यों उपजता है, इस विषयमे स्त्रीप्रकृति और पुरुषप्रकृतिके भेद बताते हुए पश्चिमी विद्वानोंने कहा है.—

In the metabolic rhythm of life, Katabolic surplus of men leads to its corresponding secondary sex-expressions, primarily in the growth of hair on the cheeks and the breast, while the anabolic surplus of the women does not put on similar expressions but expends itself as periodic menstrual discharge

or the feeding of the foctal growth or her lactation. Preponderant Katabolic organism can be distinguished from the preponderant anabolic one from the biological evidence that while the former is "active and roaming, is a hunter for his partner and is an expender of energy, the latter is passive and sedentary, one who waits for her partner and is a consumer of energy. The masculine activity tends to a greater power of maximum effort, of scientific insight, of cerebral experiment with impressions and is associated with an unobservant or impatient disregard of minute details, but with a stranger grasp of generalaties. The feminine passivity is expressed in greater patience, more open-mindedness, greater appreciation of subtle details and consequently what we call more rapid intention. (Sex, Home University Series P.)

स्त्री और पुरुषके जीवनमें यौवनके आते समय पुरुषशक्तिका विकाश मुख, छाती आदि स्थानों में केशनिर्गमके द्वारा होता है, किन्तु स्त्रियोंमें ऐसा न होकर उनकी शक्तिका विकाश मासिक ऋतुधर्म, स्तनोंमें दूध तथा जरायुकी वृद्धि द्वारा होता है। पहिलीको अङ्गरेजीमें 'कैटाबलिक' और दूसरीको 'एनाबलिक' कहते है। इन दोनोंके भेदसे स्त्रीपुरुषोंकी प्रकृतिमें भी बहुत कुछ भेद पाया जाता है यथा—पुरुष स्वयं क्रियाशील, अपनी अर्द्धाङ्गिनीका ढूढ़ने वाला और अपनी शक्तिका व्यय दूसरेके लिये करनेवाला है, स्त्रीमें स्वयं क्रियाशीलता नहीं है, वह अपने सहचरके लिये निश्चेष्ट होकर प्रतीक्षा करनेवाली है और शक्तिको अपने भीतर जमाये रखती है। पुरुषमें स्वयं क्रियाशीलता होनेसे ज्ञानविज्ञानराज्यमें उसका अधिक प्रवेश रहता है, उसके मस्तिष्कमें बाहिरी वस्तुका संस्कार अधिक जमता है, और वह किसी विचारके मामूली पर्देमें न घुसकर, विचार श्रृङ्खलाको पकड़ता हुआ साधारण सिद्धान्त पर पहुंचता है। स्त्रीजातिमें स्वयं कर्त्तृत्व न होनेसे अधिक धैर्य्य होता है, वह अपने विश्वासपात्रके समीप अधिक खुले-दिल बन जाती है, किसी भी विचारके मामूली तह तक पहुँचती है, और इसी कारण प्राकृतिक मनोवेग, प्राकृतिक प्रेरणा आदि उसमें पुरुषसे अधिक होती है। इस

प्रकारसे स्त्री-पुरुषोंके स्वभावमें भेद् पाये जाते हैं । प्रकृत विषय केश निर्गमके सम्बन्धका है। जब यौवन विकाशके साथ केश निर्गमका सम्बन्ध है तो जिस प्रकार किसी वृत्तकी शाखा काटनेसे उसमें नवीन शाखा निकलनेका वेग बढता है उसी प्रकार प्रतिदिन या प्रायः केश काटते या हजामत बनाते रहनेसे भीतरी कामशक्ति स्नायुओंमें अधिक प्रकट होती है । यही कारण है कि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, संन्यासी आदियोंके लिये केश धारणकी विधि शास्त्रमे बनाई गई है। केश धारण करनेसे कामसम्बन्धी नसोंका वेग स्वभावतः घट जाया करता है ओर मनुष्य सहज ही सयमी बन सकता है। संन्यासी कुटीचक, बहूदक अवस्थाको अतिक्रम करके जब 'हस' अवस्थाको पाता है तो सोऽहं भावमें कामकी चिन्ता ही नही रहती है, इसी कारण दण्डीस्वामी केश मुण्डन कराते है। गृहस्थ दशामें समस्त केश रखना असुविधाजनक है इसलिये 'गोक्षुर' की तरह सिरके ऊपर भागमें केश रखकर बाकी मुड़ा देनेकी विधि शास्त्रोंमें पाई जाती है । इसमें कई एक लाभ हैं। गोक्षुरमें सिरके सामनेका कुछ अंश और पीछे का कुछ अंश ढक जाता है और वही शिखाके रूपमें सिरके ऊपर रहता है। योगशास्त्रके सिद्धान्तानुसार सिरके सामनेके उस अशके नीचे ब्रह्मरन्ध्र और ब्रह्मरन्ध्रके ठीक ऊपर सहस्रदलकमलमें परमात्माका केन्द्रस्थान है । और डाक्टरी सायन्सके सिद्धान्तानुसार सिरके पीछेके उस अंशमें अर्थात् ठीक उसके नीचेके brain cell या मस्तिष्क भागमें कामका केन्द्रस्थान है । अतः इन दोनों अशोंमे शिखास्थानमें केशके रहनेसे पूर्ववर्णनानुसार आत्मिक शक्ति बनी रहेगी और चिन्ताशक्ति दबी रहेगी, यह निश्चय है। यही कारण है कि भिन्न भिन्न जातियोंमे और विशेषतः आर्यजातिमें शिखाके साथ बल, ब्रह्मचर्य, आयु, तेज रक्षाका सम्बन्ध बताया गया है। केवल इतना ही नहीं गोक्षुर शिखा रखनेसे व्यापक ब्रह्मके केशद्वारा शक्तिका यथेष्ट आकर्षण भी होता है। पश्चिमी पण्डित भिक्टर ई क्रोमर (Victor E. Cromer) ने जो भ्रिल् नामक ओजः शक्तिका आविष्कार किया है उसके विषयमें वर्णन करते करते एक स्थान पर उन्होंने यह लिखा है—

"In meditation one receives the vrillic influx While concentrating one pours it out. If one, however, concentrates one's mind upon God there is an outgoing and an inflowing process set up. The concentration of the mind upwards sends

a rush of this force through the top of the head and the respone comes as a fine rain of soft magnetism. These two forces cause a beautiful display of color to the higher vision. The out pouring from above is beautiful beyond description"

(Vril—Kalpaka)

ध्यानके समय ओजः शक्ति प्रकट होती है। किसी वस्तु पर चित्त एकाग्र करनेसे ओजः शक्ति उसकी ओर दौड़ती है। यदि परमात्मा पर चित्त एकाग्र किया जाय तो मस्तकके ऊपर शिखाके रास्तेसे ओजः शक्ति प्रकट होती है और परमात्माकी शक्ति उसी पथसे अपने भीतर आया करती है। सूक्ष्म-दृष्टिसम्पन्न योगी इन दोनों शक्तियोंके सुन्दर रङ्गको देख भी लेते हैं। जो शक्ति परमात्मासे अपने भीतर आती है उसकी सुन्दरताकी तुलना नहीं की जा सकती है। अतः आधुनिक विज्ञानद्वारा भी सिद्ध होगया कि शिखाके द्वारा ऊपरसे शक्ति मिलती है। यही ब्रह्मचर्य, बल, तेज, आयु बढानेका कारण है। परमहंस संन्यासी सदा ही ब्रह्मसे मिले रहते हैं इसलिये उन्हें पृथक्रूपसे शिखा द्वारा शक्ति खींचनेकी आवश्यकता नहीं होती है। ब्रह्मचारी और वानप्रस्थी जटा और शिखा द्वारा और गृहस्थगण गोक्षुर शिखा द्वारा इस शक्तिका ग्रहण करते और अपनी आध्यात्मिक तथा आधिदैविक उन्नति प्राप्त करते हैं। इसके सिवाय शिखा-धारण, शिखामार्जन, शिखास्पर्श, शिखाबन्धन इत्यादि प्रक्रियाद्वारा हर समय सहस्रदलकमलकी ओर ध्यान लगा रहनेसे आत्मा सम्बन्धीय दृष्टि मनुष्यमें अवश्य बढ़ा करती है। यही सब चूडाकरण संस्कारमें शिखा रखनेका फल है।

पहिले ही कहा गया है कि बार बार बाल छांटते या डाढ़ी मूंछ मुड़ाते रहनेसे 'कैटावलिक' उत्तेजना द्वारा काम सम्बन्धी नसोंमे उत्तेजना फैलती है। इसलिये ऐसे मनुष्य प्रायः विषयी हुआ करते हैं। इसके अतिरिक्त स्थूल शरीरके सुन्दर बनानेमें मन लगा रहनेसे मनुष्य आत्मोन्नतिको खोकर विषयविलासी ही बने रहते हैं। इसी कारण जब चाहे केश न कटवाकर किसी विशेष तिथिमें मुण्डनकी विधि आर्यशास्त्रमें लिखी है। इन तिथियोंके विषयमें लिखा है—
"The removal of hair and nails at the prescribed times helps the conservation and absorption of powers shed by the stars and the heavenly aspects of the days and the hours. The

ancient Munis have also thought that at the prescribed times of shaving the hair and nails are lifeless, their psychic connection with the individual is not active, but is dormant; if they even fall into the hands of evil workers, they are useless with them But if at forbidden times we do shaving, it acts contrariwise" (The Science and Religion of shaving—Sanatanist) ठीक तिथि पर केश या नख काटे जांय तो उस समयके तारे तथा दिनाभिमानी देवतासे शक्ति प्राप्त होती है। इसके सिवाय उक्त तिथि या समय पर नख केशमे जीवन नही रहता है अर्थात् मनुष्यशरीरके साथ उनका सूक्ष्म चेतन सम्बन्ध नही रहता है। इस कारण ऐसे समयपर केशमुण्डनद्वारा 'कैटावलिक' नसोंकी उत्तेजना भी नही होती है और यदि ऐसे नख या केश किसी जादूगरके हाथमें पड़ जांय तौभी उसका दुरुपयोग वह नहीं कर सकता है। किन्तु विना वार, तिथि, नक्षत्रके विचारे जब चाहे केश नख काटते रहनेसे यह सभी विपत्तियां हो सकती है। यही सब शिखा तथा केशके विषयमें रहस्यपूर्ण विज्ञान है।

स्त्रियोंके लिये केश काटनेकी विधि नही हो सकती है, क्योंकि उनका स्त्रीशक्तिविकाश ऋतुधर्म, दूध, जरायु आदि द्वारा होता है। इसलिये यदि स्त्रियां अपने प्राकृतिक धर्मको छोड़कर, पुरुषोंकी तरह केश कटवाना प्रारम्भ करेगी जैसा कि आजकल पश्चिमी विलासिनियोंमें कही कहीं देखा जाता है, तो प्रकृति-विरुद्ध आचरणका यह फल होगा कि 'कैटावलिक' प्रेरणा उनमें जबरदस्ती बढ़ानेपर उनको 'एनावलिक' प्रेरणा अर्थात् स्त्रीसुलभ शक्ति घट जायगी और उसके प्राकृतिक विकाशमे वाधा पहुंचेगी, जिससे ऋतुधर्म, दूध आदि सभीमे वाधा होकर यह यथार्थ 'मां' बननेसे ही रह जायगी। इनमें मातृभाव नष्ट होकर पुरुषभाव आने लग जायगा और जरायु, प्रसव, मासिकधर्म आदिके विषयमें अनेक प्रकारके रोग इनमें उत्पन्न होने लगेंगे। जैसा कि कितने ही पश्चिमी डाक्टरोंने दुःखके साथ लिखा है :—

Dr. Gillard Thomas, the American Gynaecologist, says that only about 4 per cent of American women proper are physically fitted to become wives and mothers. Dr. Stanlay

Hell gives a large body of statistics showing the alarming unfitness of the Anglo-Saxon women for maternity. अमेरिकाके डाक्टर गिलार्ड टोमस्‌को सम्मतिमें वहांकी स्त्रियां जो पुरुषकी तरह बाल कटवाकर स्थूल व्यायाम करती रहती हैं उनमें केवल ४ फीसदीमें सन्तान पैदा करनेकी और मां बननेकी शक्ति रह जाती है । इङ्गलैण्डके डाक्टर ष्टैनुले हाल साहबने बड़ा भारी हिसाब बताकर दिखाया और दुःख प्रकाश किया है कि वहांकी स्त्रियां पुरुषभावापन्न होकर 'मां' बननेकी अयोग्य हो रही हैं । इन्हीं सब कारणोंसे आर्यशास्त्रमें स्त्रियोंके लिये पुरुषकी तरह केश काटना, व्यायाम करना आदिका निषेध बताया गया है । इतना तक कि प्रायश्चित्तमें भी उनका केवल ४ अङ्गुल केश काट लेनेकी विधि है, पूरा शिरोमुण्डन नहीं किया जाता है। यद्यपि केश स्त्रियोंके लिये विलासिताकी वस्तु है परन्तु निवृत्तिके आश्रममें 'एनावलिक' उत्तेजनाकी आवश्यकता नहीं रहती है इसी कारण वैधव्य दशामें उनके केश पूरा काट देनेकी आज्ञा आर्यशास्त्रमें दी गई है यथा 'विधवा-कवरी-बन्धो भर्तृबन्धाय जायते' इत्यादि ।

पहिले ही कहा गया है कि शिखा रखनेकी रीति प्राचीन कालमें और भी अनेक जातियोंमें प्रचलित थी । हिब्रुजातिके तल्मड् (Talmud) नामक शास्त्रग्रन्थमें शिखा रखनेके विषयमें बहुत कुछ वर्णन है, जिससे यही प्रमाणित होता है कि हिब्रुजाति भी शिखा रखती थी । बाईबलमें साम्सन एगोनस्टिस् (Samson Agonostis) के विषयमें यह कथा लिखी है कि उनके प्रतापसे और राजागण कांपते थे । इनके मारनेके लिये उन लोगोंने बहुत कुछ प्रयत्न किया किन्तु सभी प्रयत्न व्यर्थ हुए । अन्तमें उन लोगोंको यह पता लगा कि उनके सिरके ऊपर शिखा है (At last they discovered that all his power lay on account of the tuft on his head) उसीसे उनमें इतनी शक्ति है । नव कौशल करके निद्राकी हालतमें उन लोगोंने उनकी शिखा कटवा दी । प्रातःकाल नींद टूटनेपर उन्होंने देखा कि शिखा कट गई और सभी शक्ति नष्ट होगई । वे शत्रुओंसे भी परास्त हो गये । इसी प्रकार हरिवंश पुराणमें भी एक कथा मिलती है । यथा—गुरु वशिष्ठके एक विश्वविजयी क्षत्रिय शिष्य थे । उनके पितृहन्ता पश्चिम देशके कुछ राजा उनसे अत्यन्त घबड़ाकर वशिष्ठकी शरणमें आये और अपने अपने प्राण बचानेके लिये

वशिष्ठजीसे प्रार्थना की। महर्षिजीने करुणापरायण होकर उन्हे प्राणरक्षाका वचन दिया। किन्तु जब उन्हें मालूम पड़ा कि उनका विजेता अपना शिष्य ही है तो दोनों ओरकी प्रतिज्ञारक्षाके लिये वशिष्ठजीने अपने शिष्यसे आज्ञा दी कि इन लोगोंका प्राणघात न करो, किन्तु इनकी शिखा काट लो, जिससे वे सब शक्तिहीन होकर मृतवत् हो जायेंगे। क्षत्रियवीरने गुरु वशिष्ठकी आज्ञा मानकर ऐसाही किया। शिखाके साथ बल, वीर्य, स्वास्थ्य तथा आध्यात्मिक उन्नतिका इतना प्रबल सम्बन्ध होनेके कारण ही शिखा धारण हिन्दुका एक उत्तम जातीय चिह्न है। चूड़ाकरण संस्कारमें इस जातीय चिह्नका प्रथम सन्निवेश होता है।

(८) अष्टम संस्कारका नाम उपनयन है। द्विजातिके बालक इसी संस्कार-के द्वारा ज्ञानशिक्षाके लिये शिक्षक आचार्यके समीप उपनीत होते हैं, इसी कारण इसका नाम उपनयन है। द्विजगण इसीके द्वारा द्विजत्वलाभ करते हैं, यथा याज्ञवल्क्यस्मृतिमें :—

मातुरग्रे विजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात्।
ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंका प्रथम जन्म मातृगर्भसे और द्वितीय जन्म उपनयन संस्कार द्वारा होता है, इसलिये वे द्विज कहलाते है। उपनयन कालके विषयमें गृह्यसूत्र और धर्मसूत्रमें लिखा है:—

वसन्ते ब्राह्मणं ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यं,
गर्भाष्टमेब्दे ब्राह्मणं गर्भैकादशे राजन्यं गर्भद्वादशे वैश्यम्।

वसन्त ऋतुमे ब्राह्मण बालकका, ग्रीष्ममें क्षत्रिय बालकका और शरत् कालमें वैश्य बालकका उपनयन कराना चाहिये। गर्भसे आठवें वर्षमे ब्राह्मण बालकका, ग्यारहवें वर्षमे क्षत्रिय बालकका और बारहवे वर्षमे वैश्य बालकका उपनयन होना चाहिये। उपनयनमें ऋतुका विचार वर्णोंके प्रकृति विचारसे ही किया गया है। 'ऋतूनां कुसुमाकरः' कह कर श्रीभगवान्ने वसन्तमें अपनी दैवी विभूति बताई है, अतः ब्राह्मण बालकके लिये यही ऋतु ठीक है। निदाघका उत्ताप, सूर्यकी शक्ति क्षत्रिय प्रकृतिके अनुकूल है और शरत्कालकी पोषण शक्ति वैश्य प्रकृतिके अनुकूल है। अष्ट वसुओंके साथ दैवराज्यमें ब्राह्मण वर्णका मेल है

अतः आठवेंवर्षमें ब्राह्मण बालकका उपनयन ठीक है। रुद्रप्रकृतिके साथ क्षत्रिय प्रकृतिका मेल है और पोषणशक्तिसम्पन्न सविताके साथ वैश्य प्रकृतिका मेल है। अतः ११वें वर्षमें क्षत्रियका और १२वें वर्षमे वैश्यका उपनयन होता है।

शूद्र वर्णका वेद मन्त्रमे अधिकार नही है अतः उपनयन संस्कारमें भी अधिकार नही रक्खा गया है। वेद मन्त्रके विषयमे यह तथ्य है कि उदात्त, अनुदात्त, स्वरित् आदि भेदसे मन्त्रोंका उच्चारण वही मनुष्य कर सकता है जिसमे कोई शारीरिक असम्पूर्णता या कण्ठकी असम्पूर्णता न हो। नही तो महाभाष्यके प्रमाणानुसार अशुद्ध या स्वरवर्णहीन उच्चारणसे उच्चारण करनेवालेका लाभ न होकर उलटा हानि होती है। प्राकृतिक जिस भूमिमें शूद्रवर्णका जन्म होता है उसमे शारीरिक असम्पूर्णता निश्चित है अतः वेदमन्त्रोंका स्वर तथा वर्ण युक्त ठीक ठीक उच्चारण उनके द्वारा होना सम्भव नही है। और प्रकृति विरुद्ध कार्य करनेसे उनकी हानि होगी। यही कारण है कि पूज्यपाद दूरदर्शी महर्षियोंने उनके लिये वैदिकी व्यवस्था न बताकर पौराणिकी उपासना आदि बताई है। इस विषयमें और भी विचार आगेके किसी प्रवन्धमें किया जायगा।

उपनयन अच्छे आचार्यके द्वारा कराना होता है, उसका लक्षण यथा धर्मसूत्रमे—

'यस्माद् धर्मानाचिनोति स आचार्यः।

जिनसे यथाशास्त्र धर्मोपदेश प्राप्त हो वे ही आचार्य है। महर्षि बृहस्पतिने भी कहा है:—

आचिनोति च शास्त्राणि आचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्तु तमाचार्यं प्रचक्षते॥

जो वेदादि शास्त्रोंका स्वयं सग्रह करें, शिष्यको आचारवान् वनावें, और स्वय आचारशील हों उन्हें आचार्य कहते है। महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है:—

'उपनीय ददद् वेदमाचार्यः स उदाहृतः'

द्विजबालकका उपनयन कराकर वेदकी शिक्षा देनेवाले आचार्य कहलाते हैं।

पिता, पितामह, पितृव्य, ज्ञाति या ज्येष्ठभ्राता ये सब श्रेष्ठानुक्रमसे पर पर उपनेता हो सकते हैं। पिताकोही पुत्रका उपनयन करना चाहिये, उनकी

अयोग्यता या अभावमें पितामह कर सकते हैं, उनके अभावमें पितृव्य और उनके भी अभावमें सहोदर ज्येष्ठ भ्राता कर सकते हैं। यदि इनमेसे कोई भी आचार्य बननेकी योग्यता न रखता हो, तो महर्षि शौनक कहते हैं :—

कुमारस्योपनयनं श्रुताभिजनवृत्तवान्।
तपसा धूतनिःशेषपाप्मा कुर्याद्द्विजोत्तमः ॥

कुलीन, श्रुतिशास्त्रज्ञ, सदाचारसम्पन्न, तपःप्रभावसे निष्पाप ब्राह्मण द्विजकुमारका उपनयन करा सकते हैं। अब इस प्रकार योग्य ब्राह्मण आचार्य द्वारा उपनयन संस्कार कार्य कैसे अनुष्ठित होना चाहिये उसकी संक्षेप-विधि क्रमशः नीचे बताई जाती है।

उपनयनके पूर्व दिन यजमान तथा यजमान पत्नी बालकके साथ मंगल स्नान करके प्रथमतः संकल्प, गोदान और ब्राह्मण द्वारा गायत्री जप करावे, तदनन्तर गणपतिपूजन, स्वस्तिपुण्याहवाचन, मातृकापूजन और नान्दीश्राद्धादि विधिपूर्वक करने होते हैं। उसके बाद उपनयनके दिन प्रथमतः बालकका क्षौर कर्म कराकर स्नानानन्तर आचार्यके पास लाना होता है। वहांपर ब्राह्मणोंके द्वारा 'आब्रह्मन्' इत्यादि मन्त्रोंसे आशीर्वाद हो जानेके बाद आचार्य अपनी दक्षिण दिशामें स्थित बालकसे 'ब्रह्मचार्यसानि' इस वाक्यको कहलावे और स्वयं 'ॐ येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम्। तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुष्ट्वाय बलाय वर्चसे।' इस मन्त्रको पढ़कर बालकको कटिसूत्र तथा कौपिन वस्त्र पहनावे, ब्राह्मण ब्रह्मचारीको शणके, क्षत्रियको अतसीके और वैश्यको ऊनके वस्त्र देने होते हैं और वेही वस्त्र ब्रह्मचर्याश्रममें रहते हैं। तदनन्तर आचमन कराके आचार्य—ॐ-इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनतीम आगात्। इत्यादि मन्त्रसे ब्रह्मचारीके जितने प्रवर हों उतनी गांठवाली मूंज आदिकी मेखलाको ब्रह्मचारीके कटि भागमें प्रदक्षिण क्रमसे तीन बार लपेटकर बांधे और तत्पश्चात् देशाचारानुकूल यज्ञोपवीतका एक एक जोड़ा और अन्नादि दक्षिणा सहित चौबीस जलपात्र संकल्प करके ब्राह्मणोंको देवे। इसके बाद निम्नलिखित प्रकारसे यज्ञोपवीतका संस्कार करे। प्रथम 'आपोहिष्ठा' आदि तीन मन्त्रोंसे उपवीत पर जलसेचन करके 'ब्रह्मजज्ञानं' इत्यादि तीन मन्त्र पढ़ता हुआ उस पर अंगुष्ठ घुमावे, पुनः नौ तन्तुओंमें ॐकारादि नौ देवताओंका विन्यास करके यज्ञोपवीतको देखता हुआ दस बार 'तत्सवितुः' आदि गायत्री

मन्त्र पढ़े, और उपयाम मन्त्र पढ़कर सूर्यनारायणको उपवीत दिखावे । तब आचार्य अपने हाथसे ब्रह्मचारीको यज्ञोपवीत देवे और बालक यज्ञोपवीतको अपने हाथ में लेकर—

ॐ—यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥
यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनेह्यामि ।

इस मन्त्रको पढ़कर यज्ञोपवीतको पहने । तत्पश्चात् चौरेदार कपासका वस्त्र 'ॐ युवा सुवासाः' आदि मन्त्र पढ़ते हुए यज्ञोपवीतके तुल्य ब्रह्मचारीको धारण कराना होता है । तदनन्तर आचार्य ब्रह्मचारीको ऊपरसे ओढ़नेके लिये मृगचर्म देवे और—

'ॐ मित्रस्य चक्षुर्वरुणं बलीयस्तेजो यशस्विस्थविरं समिद्धम् अनाहतस्यं वसनं जरिष्णु परीदं वाह्यजिनं दधेऽहम् ॥'

इस मन्त्रसे ब्राह्मणादिके बालक मृग आदिके चर्मको धारण करें । तदनन्तर आचार्य ब्रह्मचारीको विल्व या पलाशादिका दण्ड देवे और वह ब्रह्मचारी 'ॐ यो मे दण्डः' इत्यादि मन्त्रको पढ़कर आचार्यके हाथसे दण्डको लेवे । दण्ड लेनेके बाद आचार्य अपनी अञ्जलिको जलसे भरकर ब्रह्मचारीकी अञ्जलिको उसी जलसे 'आपोहिष्ठा' आदि तीन मन्त्रोंसे तीन बार भरे और आचार्यके पठित प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें शिष्य सूर्यनारायणको अपने अञ्जलिजलसे तीन बार अर्घ्य देवे । तदनन्तर 'सूर्यमुदीक्षस्व' कहकर आचार्य ब्रह्मचारीको सूर्य देखने कहे और ब्रह्मचारी—

'ॐ—तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात्' इत्यादि मन्त्र पढ़ता हुआ सूर्यनारायणका दर्शन करे । तब आचार्य बालकके दहिने कन्धेके ऊपरसे हाथ ले जाकर—

'ॐ—मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु ।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥'

इस मन्त्रसे उसके हृदयका स्पर्श करे । फिर आचार्य बालकके दहिने हाथको अंगुष्ठसहित पकड़कर कहे—को नामासि—और ब्रह्मचारी—अमुकशर्माऽहं भोः—ऐसा प्रत्युत्तर देवे । इसी प्रकार तीन बार दोनों उक्त प्रकारसे कहें । फिर ब्रह्मचारीसे आचार्य कहे—'कस्य ब्रह्मचार्य्यसि' उसपर 'भवतः'

ऐसा उत्तर बालक कहे। तब आचार्य—'ॐ इन्द्रस्य ब्रह्मचार्य्यस्यग्निराचार्यं-स्तवाहमाचार्यस्तवासौ' इस मन्त्रको पढे। मन्त्रके अन्तमें 'आचार्यस्तव देवशर्मन्' इत्यादि प्रकार असौके स्थानमें शर्मान्त ब्रह्मचारीका नाम लेवे। तदनन्तर आचार्य—

ॐ प्रजापतये त्वा परिददामि। ॐ देवाय त्वा सवित्रे परिददामि।

इत्यादि मन्त्रोंसे हाथ जोड़े हुए बालकको पूर्वादि दिशाओंमें उपस्थान करावें, मन्त्रोंको आचार्य स्वय पढ़ें। पश्चात् कुमार बालक अग्निकी प्रदक्षिणा क्रमसे पर्युक्षण करके आचार्यसे उत्तरमें बैठकर पुष्प चन्दन ताम्बूल और वस्त्रोंको लेकर 'ॐ अद्य' इत्यादि मन्त्रसे ब्रह्माका वरण करे और पुष्पादि ब्रह्माके हाथमें देवे। ब्रह्मा पुष्पादिको लेकर 'वृतोऽस्मि' कहे। इसके बाद उपनयन संस्कारमें अनेक कृत्य किये जाते हैं, जो विस्तारभयसे यहांपर नही दिया गया, वे सब संस्कारसम्बन्धीय ग्रन्थोंमें द्रष्टव्य हैं। संस्कारकी समाप्ति होनेपर आचार्यके लिये ब्रह्मचारीको—तुम ब्रह्मचारी हो, अबसे तुम वेदोक्त कर्म करनेके अधिकारी हुए हो, तुम स्नान, सन्ध्योपासन, वेदाध्ययन, भिक्षा-चर्यादि अपने शास्त्रोक्त कर्म करोगे, तुम दिनमें नहीं सोया करोगे इत्यादि इत्यादि उपदेश देनेका और ब्रह्मचारीके लिये प्रतिज्ञापूर्वक उन सबको स्वीकार करनेका नियम है। इसके बाद आचार्य ब्रह्मचारीको सावित्री मन्त्रका उप-देश देते हैं। इसमें आचार्य प्रथमावृत्तिमें प्रणव और व्याहृतियों सहित एक एक पादका उपदेश करते हैं। द्वितीयावृत्तिमें ऊपर लिखे अनुसार प्रथम आधी ऋचाके साथ प्रणव व्याहृति लगाकर कहलावे, द्वितीयतः ऐसे ही तृतीय पादका उच्चारण करावे और तृतीयावृत्तिमें प्रणव व्याहृतियों सहित पूरे मन्त्र-का उच्चारण आचार्य करावे, शिष्य साथ साथ कहता जावे। ऐसा तीन वार कहलाकर आचार्य और शिष्य दोनों 'ॐ स्वस्ति' कहे। इसके अनन्तर कुछ हवनादि कृत्य किये जाते हैं और सबके अन्तमें प्रथमतः ईश्वर, देवता, वैश्वानर तथा सूर्यनारायणको अभिवादन करके पश्चात् आचार्यको और तद-नन्तर क्रमशः माता-पिता तथा अन्यान्य मान्य स्त्री-पुरुषोंको अभिवादन करने-की विधि है। इसके पश्चात् भिक्षापात्र लेकर ब्रह्मचारी ब्राह्मण हो तो 'भवति! भिक्षां देहि' क्षत्रिय हो तो 'भिक्षां भवति! देहि' और वैश्य हो तो 'भिक्षां देहि भवति!' ऐसा कहकर गृहस्थ स्त्रियोंसे भिक्षा मांग लावे और आचार्यके आगे

उस भिक्षान्नको धरकर उनकी आज्ञानुसार भोजन करे। भोजनकालसे लेकर सूर्यास्त होनेतक मौन रहे, उपनयन संस्कार समयके अग्निको ब्रह्मचारी तीन दिन अवश्य रक्खें, बुतने न देवें। यही सब संक्षिप्त उपनयन विधि है।

उपनयन संस्कार बहुत ही गूढ़ रहस्यमय है। इसमें ब्रह्मज्ञानके मूल-स्वरूप ब्रह्मचर्यलाभ, सत्यज्ञान तथा सदाचारलाभ, सत्शिक्षालाभ और आध्यात्मिक उन्नतिका सारा तत्त्व भरा हुआ है। नीचे संक्षेपसे इस तत्त्वका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

प्रथम अग्निदेवता, वायुदेवता, सूर्यदेवता, चन्द्रदेवता और इन्द्रदेवतासे सत्य वचन, सत्य सिद्धि, अध्ययन समृद्धि तथा सदाचार लाभके लिये प्रार्थना और प्रतिज्ञा की जाती है। तदनन्तर आचार्य शिष्यके प्रति दृष्टिपात करते हुए कहते हैं—हे पञ्चदेव! तुम इस सुन्दर माणवकको मुझसे मिला दो। हम दोनो विना किसी विघ्नके परस्पर मिल सकें। गुरु-शिष्यका सम्मिलित होना ही शिक्षाका प्रथम तथा प्रधान अनुष्ठान है, इस कारण ऐसा विधान है। तदनन्तर माणवक आचार्यसे कहता है—'मैं ब्रह्मचारी–अर्थात् मैथुनरहित हुआ हूं। मुझे उपनीत कीजिये, अपने समीप ग्रहण कीजिये'। तदनन्तर दोनों अपने अपने हाथोमें तृप्तिसूचक जलाञ्जलि भरकर और आचार्य शिष्यको अपने साथ मिलानेके लिये प्रार्थना कर दोनों ही अञ्जलिके जलको एक ही स्थानमे छोड़ देते हैं। जल जैसे जलके साथ मिल जाता है ऐसा ही मानों गुरु-शिष्यका मिलन हो गया। फिर आचार्य अपने दहिने हाथ से शिष्यके दाहिने हाथको पकड़ते हैं। शिष्य समझता है उसके हाथको जगत प्रसविता सूर्य, स्वास्थ्य विधायक अश्विनीकुमार और पोषणकारी पूषण देवताने ही अपने हाथमे लिया है। ऐसी दशामे आचार्य ही उसके लिये जनक, स्वास्थ्य-विधायक और पोषक है यह स्पष्ट होगा। फिर आचार्य कहते हैं–'अग्नि, सविता और अर्यमाने पहले ही हस्तधारण कर तुम्हे ग्रहण किया है। अग्नि-देव ही तुम्हारे आचार्य हैं, तुम मेरे अति प्रियकारी मित्र हो। इस समय सूर्यके आवर्तनके अनुरूप तुम मेरी प्रदक्षिणा करते हो'। शिष्य जब आचार्यकी प्रदक्षिणा करके उपस्थित होता है, तब आचार्य उसकी नाभिको स्पर्श कर कहता है—'हे नाभि! तू विस्रष्ट न होना अर्थात् स्थिर रहना। हे अन्तक! इस ब्रह्मचारीको मैंने तुमको सौंपा है। (नाभिके ऊपरी भागको छूकर) हे

वाया ! (वाम भागको छूकर) हे सूर्य ! (वक्षःस्थलको छूकर) हे अग्नि ! (दक्षिण अङ्गको छूकर) हे प्रजापति ! यह मेरा मैं तुमको सौंपता हू, यह जरा-मरणादि किसी दोषको न प्राप्त हो । फिर आचार्य कहते है—तुम ब्रह्मचारी हुए हो, हवनके लिये लकडी लाओगे, मन्त्रोच्चारणपूर्वक जलपान करोगे, गुरु शुश्रूषा करोगे, दिनमें शयन न करोगे इत्यादि इत्यादि । ब्रह्मचारीको इन सबके पालनका स्वीकार करना होता है । तदनन्तर ब्रह्मचारी यथार्थ-ब्रह्मचारी का वेष धारण करता है अर्थात् अङ्गोंके वलय आदि अलङ्कारोंको त्यागकर मेखला, यज्ञोपवीत, अजिन धारण करके गायत्री पाठको ग्रहण करता है । गायत्री पाठके उपरान्त भिक्षाचर्या, गुरुको भिक्षान्न समर्पण और गुरु आज्ञासे स्वयं भोजन आदि कर्तव्य विहित है ।

ऊपरके सभी कृत्य गूढरहस्यमय है । (१) जलमें जल मिलनेकी तरह गुरु-शिष्यका मधुमय सम्मिलन कैसा मधुर तथा शिष्यके लिये सर्वोन्नति-प्रद है । (२) गुरुने शिष्यका हाथ पकडकर कैसे सुन्दररूपसे जनकत्व, स्वास्थ्यविधायकत्व तथा पोषकत्वका परिचय दिया । (३) किन्तु गुरु अपनेमें इन सब अधिकारोंको स्वीकार करने पर भी स्वयं अभिमानी नही हुए, शिष्यके यथार्थ गुरु अग्निदेव है, सो स्पष्ट कह दिया और शिष्यको अपना प्रियकारी मित्र समझा । गुरुका हृदय शिष्यके प्रति जैसा होना चाहिये अर्थात् मिलन-सार, पितृतुल्य तथा निरभिमान मित्रभावापन्न, सो ही प्रकट हुआ । तदनन्तर शिष्यका कर्त्तव्य जो गुरुका ही आवर्त्तन अथवा अनुवर्त्तन करते रहना है, सो तत्कर्तृक सूर्यावर्त्तन द्वारा प्रकाशित हुआ । और यह भी प्रकाशित हुआ कि, शिष्य जैसे वेदोदय सूर्यके स्थानापन्न है वैसे ही गुरु भी सूर्यके आवर्त्तनीय विश्वमूर्त्ति परमेश्वरके रूप हैं । उसी विश्वरूप गुरुने शिष्यके शरीरमें विश्वके स्थापनमें प्रवृत्त होकर नाभिदेशमें यमको, नाभिके ऊर्द्ध्वभागमें वायुको, वाम-भागमें सूर्यको, मध्यभागमें अग्निको और दक्षिण भागमे प्रजापतिको स्थापन किया अर्थात् शिष्यका देह ही समस्त ब्रह्मदेह हुआ और ऐसा होनेसे ही उपनयन संस्कार पूर्ण हो गया । उसी समय माणवक पूर्ण ब्रह्मचारी हुआ और ब्रह्मचारीका वेष धारण कर शास्त्रविहित अनुष्ठानमें प्रवृत्त हो गया । जो संस्कार क्षुद्रदेहको विश्वदेह बनाकर जीवत्वको शिवत्वकी ओर ले जानेमें परम सहायक बनता है, वह कितना महान् तथा रहस्यमय है, सो बुद्धिमान्गण अवश्य ही समझ सकेंगे ।

यज्ञोपवीतमें जो नव तन्तु और तीन दण्ड होते हैं, उनके भी अतिगूढ़ तात्पर्य है। यथा—

ॐकारः प्रथमे तन्तौ द्वितीयेऽग्निस्तथैव च।
तृतीये नागदैवत्यं चतुर्थे सोमदेवता॥
पञ्चमे पितृदैवत्यं षष्ठे चैव प्रजापतिः।
सप्तमे मारुतश्चैव अष्टमे सूर्य एव च॥
सर्वे देवास्तु नवमे इत्येतास्तन्तुदेवताः।
ब्रह्मणोत्पादितं सूत्रं विष्णुना त्रिगुणीकृतम्॥
रुद्रेण दत्तो ग्रन्थिर्वै सावित्र्या चाभिमन्त्रितम्॥

यज्ञोपवीतके नौ तन्तुओंमें नौ देवताओंका अधिष्ठान है। उनके नौ पृथक् पृथक् गुणोंके साथ यज्ञोपवीत धारण द्वारा द्विजबालक भूषित हो सकते हैं। प्रथम देवता ॐकार–गुण ब्रह्मज्ञान, द्वितीय देवता अग्नि–गुण तेज, तृतीय देवता अनन्त–गुण धैर्य्य, चतुर्थ देवता चन्द्र–गुण सर्वप्रियता, पञ्चम देवता पितृगण–गुण स्नेहशीलता, षष्ठ देवता प्रजापति–गुण प्रजापालन, सप्तम देवता वायु–गुण बलशालिता, अष्टम देवता सूर्य–गुण प्रकाश और नवम देवता सर्व-देवता–गुण सात्त्विकता। नवतन्तुयुक्त यज्ञोपवीत धारण द्वारा इन देवताओंका नित्य स्मरण तथा हृदयमें गुणाधान होता है। इसी कारण नवतन्तु धारण विधि है। ब्रह्माने यज्ञसूत्रको बनाया है, विष्णुने त्रिगुणित किया है, रुद्रने ग्रन्थि दी है और सावित्री देवीने अभिमन्त्रित किया है। ग्रन्थि देते समय इनके स्मरण द्वारा भी शक्तिलाभ तथा ज्ञानलाभ होता है। यज्ञोपवीतका परिमाण ९६ अंगुल होता है, इसका अर्थ यह है कि मानवमान ८४ अंगुलका और देवमान ९६ अंगुल-का होता है। यज्ञोपवीत पहिन कर वेदव्रत, ब्रह्मव्रत आदिके अनुष्ठान द्वारा मनुष्यको देवत्व और अन्तमें ब्रह्मत्व प्राप्त हो। इसी भावको लक्ष्यमें रखकर देवमानका यज्ञोपवीत बनाया जाता है। इसके सिवाय तीन दण्डके द्वारा काय-दण्ड, वाग्दण्ड और मनोदण्ड, इन तीनों दण्ड अर्थात् संयमकी विधि बताई गई है। काय-संयमके द्वारा ब्रह्मचर्य्यधारण, तपस्यादि, वाक्संयम द्वारा वृथा-वाक्य या मिथ्यावाक्यपरिहार और मनःसंयम द्वारा विषयोंसे मनको हटाना

यही सब यज्ञोपवीतधारी द्विजमात्रका कर्तव्य है। इस प्रकार उपनयनसस्कार द्वारा द्विजगणको महान् लाभ होते है।

(६) उपनयनके बाद नवम संस्कार ब्रह्मव्रत कहलाता है। इसमें उपनीत अर्थात् आचार्य्यगृहमें आचार्यान्तेवासी द्विज ब्रह्मचर्यव्रतको ग्रहण करके ब्रह्म अर्थात् परमात्माके पथमें अग्रसर होनेके लिये प्रतिज्ञा तथा पुरुषार्थ करते है, इसी लिये इस संस्कारका नाम ब्रह्मव्रत है। इसमे ब्रह्मचारीका प्रधान कर्तव्य आचार्य्य-सेवा तथा ब्रह्मचर्य्य-धारण है। बिना गुरुसेवाके कोई भी विद्या फलीभूत नही होती है, इसलिये आर्य्यशास्त्रमे गुरुसेवाकी इतनी महिमा बताई गई है, यथा सनत्सुजात में—

आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य,
भूत्वा गर्भं ब्रह्मचर्यं चरन्ति ।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति,
विहाय देहं परमं यान्ति सत्यम् ॥

आचार्य के समीप जाकर उनकी सेवा द्वारा जो ब्रह्मचर्य पालन करते है, वे इहलोकमें सुपण्डित तथा मरणान्तर परमपदको प्राप्त होते है। और भी—

शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत।
आचार्यतस्तु यज्जन्म तत्सत्यं वै तथामृतम् ॥

पिता माता केवल स्थूल शरीरको उत्पन्न करते है, किन्तु आचार्यके द्वारा जो आध्यात्मिक देह उत्पन्न होता है, वही सत्य तथा अमृत है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में भी कहा है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

परमात्मा तथा गुरुमें जिसकी पूरी भक्ति है, उसीके हृदयमें तत्त्वज्ञानका स्फुरण हो सकता है। इस प्रकार आचार्यके चरणोंमें रहकर जो ब्रह्मव्रत पालन किया जाता है, शास्त्रमें उसके चार पाद कहे गये है। यथा सनत्सुजातमें—

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते ॥

भीतर बाहर शुचिता अवलम्बन करके शिष्यवृत्ति द्वारा आचार्यसे जो विद्यार्जन करना है वही ब्रह्मव्रतका प्रथम पाद है।

यथा नित्यं गुरौ वृत्तिर्गुरुपत्न्यां तथा चरेत्।
तत् पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते॥

गुरुके समान गुरुपत्नी तथा गुरुपुत्रमें भी सद्वृत्तिका पालन करना ब्रह्मव्रतका द्वितीय पाद है।

आचार्येणात्मकृतं विजानन्,
ज्ञात्वा चार्थं भावितोऽस्मीत्यनेन।
यन्मन्यते तं प्रति हृष्टबुद्धिः,
स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः॥

आचार्यके द्वारा अपने प्रति उपकारको समझकर तथा उनके द्वारा प्राप्त वेदविद्यासे अपनेको सम्भावित जानकर, जो हृदयकी हृष्टता और कृतार्थता है, वही ब्रह्मव्रतका तृतीय पाद है।

आचार्याय प्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि।
कर्मणा मनसा वाचा चतुर्थः पाद उच्यते॥

प्राण, धन, मन, वाणी तथा कर्मके द्वारा आचार्यका प्रियानुष्ठान ही ब्रह्मव्रतका चतुर्थ पाद है। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें ब्रह्मव्रतके चार पाद बताये गये हैं।

ऊपर कथित चार पादोंकी पूर्त्तिके लिये आर्यशास्त्रमें ब्रह्मव्रत संस्कारके भीतर उपनीत ब्रह्मचारीके कर्त्तव्यरूपसे अनेक उपदेश किये गये हैं। अब नीचे उनमेंसे कुछ उपदेश उद्धृत किये जाते हैं। महर्षि यमने कहा है—

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं च सर्वदा।
कौपीनं कटिसूत्रं च ब्रह्मचारी तु धारयेत्॥
अग्नीन्धनं भैक्षचर्य्यामधःशय्यां गुरोर्हितम्।
आसमावर्त्तनात् कुर्यात् कृतोपनयनो द्विजः॥

उपवीत ब्रह्मचारी मेखला, मृगचर्म, दण्ड, यज्ञोपवीत, कौपीन और कटिसूत्र सदा धारण करें और इस प्रकारसे समावर्त्तनकालपर्यन्त, अग्निसेवा,

भिक्षाचर्या, भूमिशय्या और गुरुका हितानुष्ठान करे। मेखला, कौपीन आदिसे ब्रह्मचर्यरक्षा होती है।

श्रीभगवान् मनुने कहा है—

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम्॥

वेदयज्ञशील तथा वर्णाश्रमोचित कर्ममें निष्ठावान् सदाचारसम्पन्न द्विजगणके गृहमे ही ब्रह्मचारी भिक्षाटन करे। महर्षि यमने कहा है—

आहारमात्रादधिकं न क्वचिद्भैक्षमाहरेत्।
युज्यते स हि दोषेण कामतोऽधिकमाहरन्॥

आहारके लिये जितना प्रयोजन हो उससे अधिक भिक्षान्न सग्रह नही करना चाहिये। इच्छाके वशवर्त्ती होकर अधिक संग्रहकारी ब्रह्मचारीको दोष लगता है। महर्षि दक्षने कहा है—

न ध्यातव्यं न वक्तव्यं न श्रोतव्यं कथंचन।
एतैः सर्वैः सुनिष्णातो यतिर्भवति नान्यथा॥

ब्रह्मचारीको स्त्रियोंके विषयमे न चिन्ता करनी चाहिये, न बोलना चाहिये और न सुनना चाहिये। ऐसा होनेसे ही यति हो सकता है, अन्यथा नही।

यही सब सक्षेपसे वर्णित ब्रह्मव्रतकी विधियां है। इसका विस्तारित वर्णन किसी दूसरे प्रबन्धमे किया जायगा।

(१०) षोड़श संस्कारोंमें दशम संस्कारका नाम वेदव्रत है। इसको वेदारम्भ संस्कार भी कहते है। ज्योतिषोक्त शुभ दिनमे अपनी शाखाका आरम्भ करके इस सस्कारका अनुष्ठान होता है। महर्षि वशिष्ठने कहा है—

पारम्पर्यागतो येषां वेदः सपरिबृंहणः।
यच्छाखाकर्म कुर्वीत तच्छाखाध्ययनं तथा॥

जिस कुलमें जो शाखा तथा गृह्यसूत्र व्यवहारपरम्परासे चला आता है, उस कुलमें उसी शाखासे वेदारम्भ होना चाहिये। महर्षि पराशरने कहा है—

वेदस्याध्ययनं सर्वं धर्मशास्त्रस्य चैव हि।
अजानतोऽर्थं तद्व्यर्थं तुषाणां कण्डनं यथा॥

साङ्गवेद तथा धर्मशास्त्रोंको अर्थसहित पढ़ना चाहिये। अर्थ न समझकर पाठमात्र पढ़ना भूसी कूटनेके समान निष्फल है।

अब वेदव्रतकालीन शास्त्रोल्लिखित कुछ कर्त्तव्योंके निर्देश किये जाते हैं। शास्त्रमें वेदपाठ तथा अर्थसहित वेदाभ्यासकी भूरि भूरि प्रशंसा पाई जाती है। महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—

वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः।
यं यं क्रतुमधीयीत तस्य तस्याऽऽप्नुयात् फलम्॥

वेद ही द्विजातिका परम मुक्तिदायक शास्त्र है। प्रतिशाखाके पाठसे अमोघ फलकी उत्पत्ति होती है। स्मृतिसारसमुच्चयमें लिखा है—

वेदो यस्य शरीरस्थो न स पापेन लिप्यते।
वेदात्मा स तु विज्ञेयः शरीरैः किं प्रयोजनम्॥
वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजातिभिः।
तावन्ति हरिनामानि कीर्तितानि न संशयः॥
यस्य वेदश्च वेदी च विच्छिद्येते त्रिपूरुषम्।
स वै दुर्ब्राह्मणो नाम सर्वकर्मबहिष्कृतः॥
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं यच्चान्यत्कर्म वैदिकम्।
अनधीतस्य विप्रस्य सर्वं भवति निष्फलम्॥
अनधीतो द्विजो यस्तु शास्त्राणि तु बहून्यपि।
शृणोत्याब्रह्मणो नाशं नरकं स प्रपद्यते॥
नाधीतवेदो यो विप्र आचारेभ्यः प्रवर्त्तते।
नाऽऽचारफलमाप्नोति यथा शूद्रस्तथैव सः॥

जिसके शरीरमें वेद है वह पापसे लिप्त नहीं होता है, वह वेदात्मा है, उसके शरीरका क्या प्रयोजन है? वेदके जितने अक्षर द्विज पढ़े, उतना हरिनाम ही उसने कीर्त्तन किया इसमें सन्देह नहीं। जिस कुलमें तीन पुरुषतक

वेदपाठ नहीं हुआ या कोई वेदज्ञ उत्पन्न नहीं हुए, उसको कर्महीन कुब्राह्मण कुल जानना चाहिये । वेदस्वाध्यायविहीन ब्राह्मणका नित्य, नैमित्तिक, काम्य सभी कर्म्म निष्फल होता है । जो द्विज अन्यान्य अनेक शास्त्र पढ़नेपर भी वेदका स्वाध्याय नहीं करता है, उसको अधोगति मिलती है । वेदपाठ न करके जो विप्र आचारका अनुष्ठान करता है, उसको उस अनुष्ठानका फल नही मिलता है, वह शूद्रतुल्य ही है । इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमे वेदपाठकी परम-महिमा वर्णित की गई है ।

मनुसंहिताके चौथे अध्याय तथा अन्यान्य संहिताओंमें वेदपाठमें अनध्यायके दिन बताये गये हैं ।

प्रतिपत्सु चतुर्दश्यामष्टम्यां पर्वणोर्द्वयोः ।
श्वोऽनध्यायेऽद्य शर्वर्यां नाधीयीत कदाचन ॥

दोनों प्रतिपदा, चतुर्दशी तथा अष्टमीमें कदापि वेदपाठ नही करना चाहिये । जिस दिन अनध्याय होने वाला है, उसके पूर्वदिन रात्रिकालमें कदापि वेदपाठ नही करना चाहिये ।

इन विधियोंके साथ कुछ अपवादविधि भी है, यथा कूर्मपुराणमें—

नैत्यके नास्त्यनध्यायः सन्ध्योपासन एव च ।
उपाकर्मणि कर्मान्ते होममन्त्रेषु चैव हि ॥
अनध्यायस्तु नाङ्गेषु नेतिहासपुराणयोः ।
न धर्मशास्त्रेष्वन्येषु पर्वाण्येतानि वर्जयेत् ॥
अधीयीत सदा सर्वां ब्रह्मविद्यां समाहितः ।
सावित्रीं शतरुद्रीयं वेदान्तांश्च विशेषतः ॥

नित्यकर्ममें अनध्याय नही है, सन्ध्योपासन, उपाकर्म या होममन्त्रपाठमें भी अनध्याय नही माना जाता है । वेदाङ्ग, इतिहास, पुराण या धर्मशास्त्र-पाठमें भी अनध्याय नहीं है । अन्यत्र इन पर्वों का वर्जन होना चाहिये । ब्रह्मविद्या, वेदान्त, गायत्री तथा शतरुद्रीपाठमें कदापि अनध्याय नही होता है । यही सब अनध्याय प्रकरणमें अपवादविधि है । इस प्रकारसे वेदादि शास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार वेदव्रत संस्कारका पूर्ण परिपालन होनेपर ब्रह्मचारी

वेदव्रती, अखिलशास्त्रपारंगत तथा इहलोक परलोकमें परम कल्याणका अधिकारी हो सकता है।

शास्त्रमें वेदपाठके विषयमें इतने अनध्याय क्यों माने गये हैं, इसके वैज्ञानिक तथ्यपर विचार करनेसे साधारणतः तीन मुख्य हेतु जान पड़ते हैं। यथा—चन्द्रादि ग्रहोपग्रहोंका आकर्षण, उत्तम या अधम शकुन तथा शारीरिक या मानसिक अशुचिता। वेद श्रीभगवान्‌का वाक्य है, इस कारण आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक त्रिविध शक्ति वैदिक मन्त्रोंमें पूर्णरूपसे विद्यमान है। अतः देशकाल या स्वाध्यायकारी छात्रकी शारीरिक मानसिक स्थिति अबतक उसके अनुकूल न हो तबतक वेदपाठ, और स्वरादि हस्तचालनादिके साथ वेदमन्त्रोच्चारण करनेसे नाना प्रकार आधि व्याधि या दैवी विपत्तियां हो सकती है। इसी कारण आर्य्यशास्त्रमें ऊपर लिखित निषेध बताये गये हैं। अष्टमी, पूर्णिमा, अमावस्या या उसके आसपासकी तिथियोंमें सूर्य्य चन्द्रादि ग्रहोंका आकर्षण और तज्जन्य शारीरिक मानसिक प्रतिकूलता प्रत्यक्ष सिद्ध है। श्वान, शृगाल, गर्दभ, हस्ती आदि जन्तुओंके साथ अपशकुनका विशेष सम्बन्ध शकुनशास्त्रसे स्पष्ट है और तज्जन्य दैवी असुविधायें सभी मनुष्यों पर होनी भी शास्त्रसिद्ध हैं। राहुग्रासादिर्जन्य सूतक, प्रेतश्राद्ध आदि भोजनजन्य तपोनाश और अशुचिता, कृतघ्न, पापी आदि के सान्निध्यजन्य अपवित्रता इत्यादि इत्यादि सब शारीरिक मानसिक अशुचिताके दृष्टान्त हैं। अतः इन सब आधिभौतिक तथा आधिदैविक बाधाओंके भयसे त्रिविध शक्तिपूर्ण वैदिक मन्त्रोंका उच्चारण करना हानिजनक होनेसे शास्त्रोंमें अनध्यायका निर्देश किया गया है। वेदान्तादि शास्त्रोंके साथ आध्यात्मिक सम्बन्धकी प्रधानता और दैवीशक्ति सम्पर्ककी न्यूनता रहनेसे उनके स्वाध्याय अनध्यायमें विधिनिषेधका इतना प्राबल्य नहीं माना गया है। यही अनध्यायनिर्देशके मूलमें वैज्ञानिक तथ्य है।

(११) ग्यारहवें संस्कारका नाम समावर्त्तन है। आचार्य्यगृहमें विद्या समाप्त करके गृहस्थाश्रममें प्रवेशार्थ गृहप्रत्यागमनके समय समावर्त्तन संस्कारका अनुष्ठान होता है। श्रुतिमें लिखा है—

'आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'

आचार्य्यको दक्षिणारूपसे यथेप्सित धन देकर प्रजातन्तुकी रक्षाके लिये स्नातक द्विजको गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहिये। जो विद्या आचार्य्यसे मिलती है, धन द्वारा उसका परिशोध तो हो नहीं सकता है जैसा कि महर्षि हारीतने लिखा है—

एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये नियोजयेत् ।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्वाऽप्यनृणी भवेत् ॥

जो एक भी अक्षर गुरु शिष्यको प्रदान करते है, पृथ्वीमें ऐसा कोई धन नहीं है, जिसको देकर शिष्य उस ऋणसे उऋण हो सकता हो। तथापि लौकिक विधिके अनुसार व्रतसमाप्तिरूपसे गुरुदक्षिणा देनेकी आज्ञा है। कूर्मपुराणमें भी लिखा है:—

वेदान् वेदांस्तथा वेदौ वेदं वाऽपि समाहितः ।
अधीत्य चाधिगम्यार्थं ततः स्नायाद्द्विजोत्तमः ॥

समाहितचित्त होकर चार वेद, तीन वेद, दो या एक वेद पढ़कर तथा उसमें जानने योग्य विषयोंको जानकर पश्चात् द्विजको समावर्त्तन स्नान करना चाहिये। महर्षि याज्ञवल्क्यने लिखा है:—

वेदव्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् ॥

(१२) बारहवें संस्कारका नाम विवाह है। इसके विषयमें आगेके अध्यायोंमें बहुत कुछ कहा जायगा। तथापि प्रसङ्गानुरोधसे संक्षेपमें कुछ कहा जाता है। उद्वाहसंस्कारमें जो कुछ वैदिक कृत्य किये जाते हैं उनका विस्तारित वर्णन यहां पर करना निष्प्रयोजन प्रतीत होता है। इस कारण समस्त विधियोंका वर्णन न करके उनमें अन्तर्निहित भावोंका वर्णन किया जाता है। उन भावोंपर मनन करनेसे विचारवान् मनुष्यमात्र ही समझ सकेंगे कि, अन्यदेशीय विवाह-पद्धतिके साथ आर्यजातीय विवाहपद्धतिका आकाश पाताल जैसा अन्तर है। अर्थात् अन्यदेशीय विवाह केवल स्थूल इन्द्रियसेवाके लिये स्त्रीपुरुषका स्वल्पकाल स्थायी लौकिक सम्बन्ध मात्र है, किन्तु आर्यजातीय विवाह दम्पतिके आत्मा, मन, प्राण, शरीर सभीके पारस्परिक प्रगाढ़ आध्यात्मिक सम्बन्ध द्वारा दोनोंहीके मोक्षलाभार्थ चिरस्थायी प्रयत्न है। दृष्टान्तरूपसे अन्यदेशीय विवाह रीतिके कुछ दिग्दर्शन कराये जाते हैं।

[१] एक आसनपर बैठकर एक पात्रसे स्त्रीपुरुष दोनोंके भोजन करनेसेही ब्रह्मदेशीय लोग उनके पतिपत्नीभावको स्वीकृत करते हैं, एक नीबू या अन्य किसी फलको काटकर उसका आधा भाग पति पत्नीके मुखमें और दूसरा आधा भाग पत्नी पतिके मुखमें खिलानेके लिये देनेसे ही चीन और जापानके लोग उनका विवाह हो जाना स्वीकृत करते हैं।

[२] मुसलमानोंमे भी एक आसनपर बैठकर एक पात्रसे पति और पत्नी परस्पर एक दूसरेको खानेकी सामग्री खिलाते हैं और तभी विवाहकार्य सम्पन्न समझा जाता है। किन्तु मुसलमानोंमे कन्याकी स्वीकृति ही विवाहका मूलमन्त्र है।

[३] खीष्टानोंमें भी स्वीकृति, पुरोहितका मन्त्र पढ़ना और मुखमें मुख लगाना—इन्हीके द्वारा वैवाहिक सम्बन्धका प्रकाश होता है। अतः स्त्रीपुरुषका परस्पर उच्छिष्ट भोजनरूप एक अति क्षुद्र व्यापार ही अन्य जातियोंमें विवाहका प्रधान अङ्ग समझा जाता है, ऐसा सिद्ध हुआ। इसके साथ आर्यजातीय शुभ विवाहका धर्मजगत्में कैसा महान् प्रभेद है, सो निम्नलिखित दिग्दर्शनसे अनायास ही मालूम हो जायगा।

आर्यविवाहमें जल और अग्निका सम्बन्ध विशेष रहता है। प्रथमतः वर वधूका हाथ मिलाकर शङ्खसे अविच्छिन्न जलकी धारा डालनेकी विधि है। हाथके द्वारा विद्युत्प्रवाह चलता है इसका प्रमाण पहिले ही दिया जा चुका है। जल विद्युत्का बड़ा भारी संचालक है यहभी विज्ञानजगत्में सिद्ध हो चुका है। शङ्खके साथ नाद और मोक्षका सम्बन्ध है यहभी पहिले बताया जा चुका है। अतः इस जलधारा डालनेमें पतिपत्नीकी प्रेमधारा-विनिमय और प्रेमकी विद्युत्-शक्तिके दृढ़ होनेमें बड़ी सहायता मिली। और शङ्खरूपी–मोक्षका सम्बन्ध रहनेसे दाम्पत्यप्रेम विषय विलासमें परिणत न होकर अन्तमें भगवत्प्रेमको ही उत्पन्न करेगा और स्त्री-पुरुष गृहस्थधर्मको पालते हुए अन्तमें मोक्षप्रद निवृत्ति मार्गके अधिकारी बन सकेंगे यही इसमे तथ्य निकलता है। किसी आकारहीन कमजोर चीजको ठीक आकार देकर मजबूत बनानेके लिये जल और अग्निकी सहायता ली जाती है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते है कि मिट्टीसे घड़ा मजबूत तभी बनता है जब मिट्टीके परमाणुओंको जलसे भिगोकर पहिले घड़ेका आकार दिया जाय और कच्चे घड़ेको आगमें तपाकर दृढ़ किया जाय। कमजोर मिट्टीसे

मजवूत ईंटें वनानेकी, कितनेही वर्तन तथा जलपात्र आदि वनानेकी यही विधि है। अतः विछुडी वस्तुओंका सम्वन्ध मिलाना और उस सम्वन्धको वलवान् तथा स्थायी वनाना जल और अग्निकी सहायतासे उत्तम रूपसे हो सकता है। विवाहविज्ञानमे भी पतिपत्नीके सम्वन्धको अति दृढ तथा जन्मजन्मान्तर स्थायी वनानेके लिये इसी कारण जल और अग्निका इतना सम्वन्ध माना गया है। इसके सिवाय देवताओंमें ब्राह्मण अग्निदेवके पास साक्षीरूपसे सकल्प आदि करानेका तथा वरुणदेवसे कृपालाभ करनेका भी वहुत कुछ अदृष्ट फल है।

उद्वाह सस्कारमें अन्यान्य कृत्योंके अनन्तर कन्यादान सङ्कल्पके समय समस्त देवताओंसे आशीर्वाद लेकर विवाहकार्यको शुभभावमय वनाया जाता है, यथा—

ब्रह्मा वेदपतिः शिवः पशुपतिः सूर्यो ग्रहाणां पतिः।
शक्रो देवपतिर्हविर्हुतपतिः स्कन्दश्च सेनापतिः॥
विष्णुर्यज्ञपतिर्यमः पितृपतिः शक्तिः पतीनां पतिः।
सर्वे ते पतयः सुमेरु सहिताः कुर्वन्तु वो मङ्गलम्॥

इस प्रकार मङ्गलसूचक ब्रह्मादि देवताओंके नामोच्चारणके बाद दश महादान किये जाते हैं, जिनके भीतर भी विशेष पवित्रता तथा आस्तिकता पाई जाती है, यथा सुवर्णदानमे—

हिरण्यगर्भसंभूतं सौवर्णं चांगुलीयकम्।
सर्वप्रदं प्रयच्छामि प्रीणातु कमलापतिः॥

यह कमलापति विष्णुके प्रीत्यर्थ स्वर्णदान है। तदनन्तर धेनुदानमे—

यज्ञसाधनभूता या विश्वस्याघौघनाशिनी।
विश्वरूपधरो देवः प्रीयतामनया गवा॥

गोमाता यज्ञकी साधनरूपिणी तथा ससारकी पापनाशिनी है। विश्व-रूपधारी देवताके प्रीत्यर्थ इनका दान होता है। तदनन्तर पृथिवीदानमें—

सर्वेषामाश्रया देवी वराहेण समुद्धृता।
अनन्तशस्यफलदा अतः शान्ति प्रयच्छ मे॥

वसुमती देवी वराह भगवान्के द्वारा उद्धृता, सकलजीवो की आश्रय-

दात्री तथा अनन्तशस्यफलदायिनी है। उनके दान द्वारा देवीसे शान्ति मांगी जाती है, यही सब विवाहविधिमें दान माहात्म्य है। तदनन्तर वर कन्या दोनोंके एक आसनपर बैठकर एक साथ आज्याहुति देते समय जो मन्त्र पढ़े जाते हैं, उनके भी बड़े ही पवित्र तथा महान् भाव हैं।

[१] देवताओंमें श्रेष्ठ अग्नि यहां आगमन करे। वह इस कन्याके भविष्यत् सन्तानोंको मृत्युभयसे बचावे और आवरण देवता ऐसी आज्ञा करें कि, यह स्त्री पुत्रसम्बन्धीय व्यसनसे पीड़ित न हो।

[२] गार्हपत्य अग्नि इसकी रक्षा करते रहें, इसके पुत्र वृद्धावस्था पर्यन्त जीवित रहें, यह जीवित पुत्रवती होकर पतिके साथ निवास करे, और सत्पुत्रजनित आनन्दका उपभोग करे।

[३] हे कन्ये! द्युलोक तेरे पृष्ठ देशकी रक्षा करें, वायु और अश्विनी-कुमार दोनों ऊरुओंकी रक्षा करे, सूर्यदेव तेरे दुधमुंहे पुत्रोंकी रक्षा करें, इत्यादि।

इस प्रकार आज्याहुतिके बाद लाजाहुति दी जाती है, जिसमें पत्नीकी ओरसे पतिके शतायु होनेकी प्रार्थना और पतिकी ओरसे अभिन्न दाम्पत्य प्रेमकी प्रार्थना है। लाजाहुतिके साथ साथ जो लौकिक गाथा कहनेकी विधि है, वह भी अपूर्व रसपूर्ण है। यथा—

राघवेन्द्रे यथा सीता विनता कश्यपे यथा।
पावके च यथा स्वाहा तथा त्वं मयि भर्त्तरि॥
सुदक्षिणा दिलीपेषु वसुदेवे च देवकी।
लोपामुद्रा यथाऽगस्त्ये तथा त्वं मयि भर्त्तरि॥
अत्रौ यथाऽनसूया च यमदग्नौ च रेणुका।
श्रीकृष्णे रुक्मिणी यद्वत्तथा त्वं मयि भर्त्तरि॥ इत्यादि॥

जिस प्रकार रामके प्रति सीताका, कश्यपके प्रति विनताका, अग्निके प्रति स्वाहाका, दिलीपके प्रति सुदक्षिणाका, वसुदेवके प्रति देवकीका, अगस्त्यके प्रति लोपामुद्राका, अत्रिके प्रति अनुसूयाका, यमदग्निके प्रति रेणुकाका और श्रीकृष्णके प्रति रुक्मिणीका पवित्र भाव है, ऐसा ही वरकन्यामें मधुर पवित्र दाम्पत्य भावके लिये यह प्रार्थना है।

लाजाहुतिके समाप्त होनेपर सप्तपदी गमन होता है। पति एक एक वाक्य कहता है और कन्या एक एक वार पदनिक्षेप करती हुई कुछ कहती है। ये सब वाक्य निम्नलिखित है। वरके कहने योग्य वाक्य, यथा—ॐ एकमिषे विष्णुस्त्वा नयतु। ॐ द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वा नयतु। ॐ त्रीणि रायस्पोषाय विष्णुस्त्वा नयतु। ॐ चत्वारि मायो भवाय विष्णुस्त्वा नयतु। ॐ पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु। ॐ षड् ऋतुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु। ॐ सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु।

हे कन्ये! विष्णुने अन्नलाभके लिये एक पद, बललाभके लिये द्वितीय पद, पञ्चमहायज्ञादि नित्यकर्मके लिये तृतीय पद, सौख्यके लिये चतुर्थ पद, पशुलाभके लिये पञ्चम पद, धनरक्षाके लिये षष्ठ पद और ऋत्विक्लाभके लिये सप्तम पदका अतिक्रमण कराया। इस समय प्रति पदक्षेपमे कन्या एक एक श्लोक कहती है, यथा—

धनं धान्यं च मिष्ठान्नं व्यञ्जनाद्यं च यद्गृहे।
मदधीनं च कर्त्तव्यं वधूराद्ये पदे वदेत्॥
कुटुम्बं रक्षयिष्यामि सदा ते मञ्जुभाषिणी।
दुःखे धीरा सुखे हृष्टा द्वितीये साऽब्रवीद् वचः॥
पतिभक्तिरता नित्यं क्रीडिष्यामि त्वया सह।
त्वदन्यं न नरं मंस्ये तृतीये साऽब्रवीदिदम्॥
लालयामि च केशान्त गन्धमाल्यानुलेपनैः।
काञ्चनैर्भूषणैस्तुभ्यं तुरीये सा पदे वदेत्॥
आर्ते आर्ता भविष्यामि सुखदुःखविभागिनी।
तवाज्ञां पालयिष्यामि पञ्चमे सा पदे वदेत्॥
यज्ञे होमे च दानादौ भविष्यामि त्वया सह।
धर्मार्थकामकार्येषु वधूः षष्ठे पदे वदेत्॥
अत्रांशे साक्षिणो देवा मनोभावप्रबोधिनः।
वञ्चनं न करिष्यामि सप्तमे सा पदे वदेत्॥

धन धान्य मिष्टान्न व्यञ्जन आदि जो कुछ घरमें है सो सब मेरे अधीन रहेगा। मै मिष्टभाषिणी, कुटुम्बियोंकी रक्षिका, दुःखमें धीर तथा सुखमे हृष्ट रहूंगी। पतिपरायणा होकर तुम्हारे साथ विहार करूंगी, अन्य किसी पुरुषका मनसे भी चिन्तन न करूंगी। गन्ध, माल्य, लेपन, भूषण आदिके द्वारा तुम्हारा सदा आदर सत्कार करूंगी। मै तुम्हारे दुःखमें दुःखिनी तथा सुखदुःखकी अंशभागिनी होकर सदा तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगी। यज्ञ होम दानादिमें तथा सकल प्रकार धर्मार्थकामकार्यमें तुम्हारी साथिनी बनूंगी। मेरी इन प्रतिज्ञाओंमें अन्तर्यामी देवतागण साक्षी रहें, मैं कभी तुम्हें वञ्चना नहीं करूंगी। यही सब सप्तपदीगमनकालमें स्त्रीकी ओरकी प्रतिज्ञा है, जिसके द्वारा स्त्री अपना गोत्र बदलकर पतिकी ही हो जाती है और विवाहसम्बन्ध दृढ़बद्ध हो जाता है। केवल गोत्र ही नही बदलता है, डाक्टरोंने परीक्षाकर देखा है कि स्त्रीशरीरके खूनमें भी भावके अनुसार परिवर्त्तन होकर वह पतिके खूनके अनुरूप बन जाता है। इसके अनन्तर वरके द्वारा वधूके सिरपर अभिषेक और वधूके द्वारा ध्रुवदर्शनके बाद वर वधूके दहिने कन्धेपरसे हाथ ले जाकरः—

ॐ मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

अर्थात् अपना हृदय मेरे काममे लगाओ, अपना चित्त मेरे चित्तके अनुरूप करो। तुम मेरे मनमें अपना मन मिलाकर मेरे वचनकी सेवा करो। बृहस्पति तुमको मुझे प्रसन्न करनेमे प्रवृत्त करें, इस मन्त्रको पढ़कर वधूके हृदयका स्पर्श करे। तदनन्तर वधूकी ओर देखता हुआः—

ॐ सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतन॥

इस मन्त्रको पढे। तदनन्तर देशाचारानुसार वधूको वरके वामाङ्गमें बैठाना होता है। तदनन्तर वरके वामाङ्ग हुई वधू सात श्लोकोंके द्वारा प्रतिज्ञा वचन कहती है। यथाः—

तीर्थव्रतोद्यापनयज्ञदानं मया सह त्वं यदि किन्न कुर्य्याः।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं जगाद वाक्यं प्रथमं कुमारी॥

हव्यप्रदानैरमरान्पितॄंश्च कव्यप्रदानैर्यदिपूजयेथाः ।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं जगाद कन्या वचनं द्वितीयम् ॥
कुटुम्बरक्षाभरणे यदि त्वं कुर्याः पशूनां परिपालनं च ।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं जगाद कन्या वचनं तृतीयम् ॥

इत्यादि ।

मै तीर्थ व्रत उद्यापन यज्ञ दान आदि सभी धर्मकार्योंमे तुम्हारी वामाङ्ग-रूपिणी रहूँगी । हव्यदान द्वारा देवपूजन अथवा कव्यदान द्वारा पितृपूजनमे तुम्हारी वामाङ्गिनी रहूगी। कुटुम्ब रक्षा, पशुपालन आदि सभी कार्योंमे तुम्हारी वामाङ्गरूपिणी रहूँगी। इत्यादि इत्यादि प्रतिज्ञा करनेपर वर उन प्रतिज्ञाओंके स्वीकाररूपसे कहे :—

मदीयचित्तानुगतं च चित्तं सदा मदाज्ञापरिपालनञ्च ।
पतिव्रता धर्मपरायणा त्वं कुर्याः सदा सर्वमिमं प्रयत्नम् ॥

तुम पातिव्रत्यधर्मपरायणा होकर सदा मद्गतचित्ता, मदाज्ञाकारिणी और प्रतिज्ञानुरूप कार्य करनेमें तत्पर रहो। इस प्रकारसे परस्पर प्रतिज्ञा होनेके बाद 'ॐ वामसुष सवितर्व्वामिमश्वो' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए वर वधूके सीमन्तमें सिन्दूर लगावे। इसके अनन्तर और कुछ माङ्गलिक कृत्य होनेके बाद उद्वाह संस्कार समाप्त हो जाता है। यही सब इहलोक परलोकमें तथा निःश्रेयस लाभपर्यन्त धर्मजीवनलाभके श्रेष्ठकारणरूप उद्वाहसंस्कारका परमपवित्रतामय निगूढ़ रहस्य है, जिसके ऊपर सामान्य चिन्तासे ही विचारवान् पुरुष समझ सकेंगे कि, आर्यजातीय विवाहविधिके साथ अन्यजातीय विवाहविधिका कितना अन्तर है और किस महान् लक्ष्यको सामने रखकर पूज्यपाद महर्षियोंने विवाहविधिका प्रवर्त्तन किया है।

मन्वादि स्मृतिकारोंने ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच ये आठ प्रकारके विवाह बताकर प्रथम चार विवाहोंकी प्रशंसा और अन्तिम चार विवाहोंकी निन्दा की है। ब्राह्मविवाहमें वस्त्रालंकारभूषित कन्याका वरको बुलाकर दान, दैवविवाहमें ऋत्विकको कन्यादान, आर्षविवाहमें वरपक्षसे गो मिथुन लेकर कन्यादान, आसुर विवाहमें धन लेकर

कन्यादान, गान्धर्व विवाहमें परस्पर प्रणय द्वारा परिणय, राक्षस विवाहमें हनन आघात आदिके बीचमेंसे कन्याग्रहण इत्यादि इत्यादि सब बताये गये हैं। अब कालप्रभावसे अन्य सब विवाहप्रथा नष्ट होकर केवल ब्राह्मविवाह की रीति ही अधिक प्रचलित देखनेमें आती है और कहीं कहीं आसुर विवाहकी रीति रहनेपर भी उसकी प्रशंसा न होकर निन्दा ही होती है। मनु कश्यपादि ऋषियोंने तो आसुर विवाहको बहुत ही निन्दा की है, यथा :—

क्रयक्रीता तु या नारी न सा पत्न्यभिधीयते।
न सा दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां कवयो विदुः॥

(कश्यप)

मूल्य देकर जो स्त्री लाई जाती है उसको पत्नी नहीं कहा जा सकता है। उसके द्वारा दैवकार्य या पितृकार्य कुछ भी नहीं हो सकता है। उसको विद्वान्गण पत्नी न कहकर दासी ही कहते हैं। और भी :—

कन्याविक्रयिणो मूर्खा रहः किल्विषकारिणः।
पतन्ति नरके घोरे दहन्त्यासप्तमं कुलम्॥

कन्याविक्रयकारी लोग मूर्ख तथा प्रच्छन्न पापकारी हैं उनको घोर नरक तथा सात कुल दग्ध होता है। इस प्रकारसे आर्य्यशास्त्रमें आसुर विवाहकी निन्दा की गई है। राक्षस, पैशाच आदि विवाहकी निन्दा तो शास्त्रमें है ही। किन्तु इतना होनेपर भी 'नाभावो विद्यते सतः' वस्तुसत्ताका नाश न होकर केवल रूपान्तरमात्र होता है, इस सिद्धान्तके अनुसार गौणरूपसे ब्राह्मविवाहके भीतर भी देशाचार लोकाचार आदि परम्परासे अन्य सब विवाहके भी कुछ कुछ लक्षण देखनेमें आते हैं। आजकल विवाहकालमें ऋत्विकके समान जो वरपूजाकी विधि प्रचलित है, उसे ब्राह्मविवाहमें दैव-विवाहका अन्तर्निवेश कह सकते हैं। ब्राह्मविवाहके अहंग्रभागमें विवाहके स्थानमें जो एक गऊ बांध रखनेकी आज्ञा है, उसे आर्ष विवाहका अन्तर्निवेश जानना चाहिये। इसी प्रकार स्थूल उपहास, गाली देना, पत्थर मारना आदि रीति राक्षसविवाहका ही कंकालमात्र है। शुभदृष्टि, स्त्री-आचार, वासर-जागरण, आमोद प्रमोद आदि गान्धर्वविवाहका लक्षण है और पितृपक्षसे कन्याके लिये आभूषणादि लेनेकी चेष्टा आसुरविवाहका लक्षण है। इत्यादि

रूपसे अष्ट विवाहविधि किसी न किसी प्रकारसे अनुष्ठित हुआ करती है और ब्राह्मविवाहविधि ही सर्वोत्तम है, जिसके लिये उद्वाहसंस्कारके अपूर्व रहस्यका दिग्दर्शन ऊपर कराया गया।

(१३) तेरहवें संस्कारका नाम अग्न्याधान है। इसमें सस्त्रीक सायं प्रातः श्रौताग्नि या स्मार्त्ताग्निमें हवनादि करनेकी विधि है। पहिले ही कहा है कि, हवन, संस्कार, यज्ञ आदिके नित्यानुष्ठान द्वारा 'ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' अर्थात् यह शरीर ब्रह्मबोधानुकूल गुणयुक्त हो जाता है। अग्नि परमपवित्र ऊर्द्ध्वशिखायुक्त तथा देवताओंमें ब्राह्मण है। अतः इसी अग्निकी सेवा करनेसे 'ब्राह्मीतनु' प्राप्तिकी विशेष सम्भावना रहनेके कारण आर्यशास्त्रमें द्विजोंके लिये सस्त्रीक अग्निपरिचर्याका विधान किया गया है। अग्नि परम-पवित्र तथा तेजोमय है। इधर विवाहके अनन्तर कामिनीसंसर्गसे विषयवृत्ति बलवती होकर आध्यात्मिक अधोगतिकी सम्भावना भी बलवती हो सकती है। इसी कारण उसी कामिनीके साथ तेजोमय भगवान् पावककी सेवा, सङ्ग तथा आराधनाकी आज्ञा आर्य्यशास्त्रमें दी गई है, जिससे विषयसङ्ग द्वारा विषयस्पृहा बलवती न होकर प्रवृत्तिक्षय द्वारा दिन पर दिन निवृत्ति संस्कारकी ही पुष्टि हो सके। प्रवृत्ति मार्गमें धनसम्पत्ति, अन्न, सन्तान, शक्ति, सुख, स्वास्थ्य, वीर्य आदिकी विशेष आवश्यकता रहती है। इन सब वस्तुओंकी प्राप्तिमें देवताओंकी कृपा सापेक्ष है। यथा गीता में—

'इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।

यज्ञके द्वारा सम्वर्द्धित होकर देवतागण प्रार्थित भोगोंको प्रदान करते हैं, जिनसे गृहस्थाश्रमका अनायास निर्वाह होता है। शास्त्रमें 'अग्निमुखा वै देवाः' अर्थात् अग्नि ही देवताओंके मुख है, अग्निमें आहुति देनेसे ही वह आहुति देवताओंको पहुंच कर मेघ, वृष्टि, अन्न, प्रजा आदि सम्पत्तियों की उत्पत्तिका कारण बनती है, ऐसा कहा गया है। श्रीभगवान् मनुने भी—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

अर्थात् अग्निमें दी हुई आहुति सूर्यदेवको प्राप्त होती है और उससे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न तथा अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है, ऐसा कहकर 'अग्नि-

मुखा वै देवाः' इस सिद्धान्तकी ही पुष्टि की है। अतः अग्न्याधान संस्कारके साथ प्रवृत्तिमार्गमें सुविधा, निवृत्तिमार्गकी पोषकता तथा निःश्रेयसका परम्परा सम्बन्ध रहनेके कारण विवाहके अनन्तर ही इस संस्कारका विधान किया गया है।

(१४-१५) षोडश संस्कारान्तर्गत चौदहवें तथा पन्द्रहवें सस्कारोंके नाम दीक्षा और महाव्रत हैं। गृहस्थाश्रमके नित्य नैमित्तिक कर्म, भावशुद्धिपूर्वक विषयसेवा तथा सस्त्रीक अग्निपरिचर्य्याके द्वारा प्रवृत्तिसंस्कार जितना जितना समाप्त होता जाता है, उतना ही गृहस्थाश्रमीके चित्तमें मुमुक्षुताका उदय, निवृत्तिमार्गके प्रति स्पृहा तथा परमात्मभावकी प्रबलता होने लगती है। उस समय यही आवश्यकता होती है कि, कोई सद्गुरु प्रकृति, प्रवृत्ति तथा अधिकारको समझकर दीक्षा प्रदान करें, जिससे साधक क्रमशः निवृत्तिपथका पथिक बनकर नित्यानन्दमय ब्रह्मराज्यमें प्रवेश कर सके। इसी कारण अग्न्याधानके अनन्तर प्रथमतः दीक्षा नामक संस्कारका विधान आर्यशास्त्रमें किया गया है। जब गुरुदेव कृपा करके शिष्यको देवता तथा मन्त्रका उपदेश देते हैं, तब उस प्रक्रियाको दीक्षा कहते हैं। और दीक्षाके अनन्तर जब साधकको वानप्रस्थका अधिकार हो जाता है तब महाव्रत सस्कार और तदनुकूल साधनाके उपदेश किये जाते हैं। इन दोनों ही संस्कारों द्वारा मलविक्षेपनाशमें विशेष सुविधा होती है। इस प्रकारसे दीक्षा तथा महाव्रत लाभ करके आध्यात्मिक राज्यमें द्रुतपद अग्रसर होते होते अन्तमे जब साधक निवृत्तिकी पराकाष्ठा तथा योगारूढ़ पदवीपर प्रतिष्ठित होने लगता है, तभी आवरण नाशकारी सोलहवें अर्थात् अन्तिम संस्कार संन्यासका अधिकार उसे प्राप्त हो जाता है। दीक्षा और महाव्रतके विषय सब साधन सम्बन्धीय होनेसे बहुत ही गोपनीय तथा केवलमात्र गुरुमुखवेद्य होते हैं, इस कारण यहांपर इनके विस्तारित वर्णन नहीं किये गये।

(१६) अन्तिम अर्थात् सोलहवें सस्कारका नाम सन्यास है। श्रुतिमें लिखा है—'पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरति।' सन्तानादि वासना, सम्पत्तिकामना तथा यशोलिप्साके आमूल नाशको प्राप्त होनेपर साधकमें संन्यासकी योग्यता होती है। पहिले ही कहा गया है कि, षोड़श संस्कारोंमेंसे प्रथम आठ प्रवृत्तिरोधक और द्वितीय आठ निवृत्तिपोषक हैं। निवृत्तिपोषकताकी पराकाष्ठामें ही संन्यास है। यथा श्रुतिमें—'न कर्मणा

न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः। सकामकर्म, प्रजोत्पत्ति या धनके द्वारा नहीं, किन्तु त्यागके द्वारा ही अनेक साधकोंने अमृतपद प्राप्त कर लिया है। संन्यासकी सिद्धिमें इसी अमृतपदकी प्राप्ति होती है। सो कैसे होता है, इसके लिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है। यथा—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ (५म अध्याय)

पुण्यसंस्कारोंके उदयसे पापसंस्कार क्षीण हो जाते हैं। इन्द्रिय तथा मनके संयमसे अन्तःकरण आत्मामें लयलीन हो जाता है। भूतकल्याणमें रति रहनेसे स्वार्थनाश उदारताकी वृद्धि और जीवसेवारूपसे व्यापक ब्रह्मकी पूजा द्वारा अन्तःकरणभी व्यापक परमात्मामे प्रतिष्ठित हो जाता है। इस प्रकारसे हृदयका द्विधाभाव नाश होकर अद्वैत भावमे साधककी चिरप्रतिष्ठा जब हो जाती है, तभी योगारूढ़ जीवन्मुक्त महात्मा ब्रह्मनिर्वाणपदको लाभ करते हैं। यही श्रीगीतामें भगवान्‌का उपदेश है। संन्यास दशामे अवाङ्मनसोगोचर अव्यक्त अनिर्वचनीय निर्गुण निराकार देशकाल वस्तुसे अपरिच्छिन्न सर्वतोव्याप्त ब्रह्मकी ही राजयोगोक्त उपासना है और क्रमशः उपास्य उपासकभावके एकीकरण द्वारा, ज्ञाताज्ञानज्ञेयरूपी त्रिपुटिके लयसाधन द्वारा निर्विकल्पसमाधिमे स्थिति है। वह कैसे सम्भव हो सकता है, इसका रहस्य वर्णन गीताके द्वादशाध्यायमें किया गया है, यथा—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
सनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

जो साधक निर्देशसे अतीत, चिन्तासे अतीत, सर्वव्यापक, अव्यक्त, कूटस्थ, निश्चल, ध्रुव, अक्षर ब्रह्मकी उपासना करते हैं, वे भी उन्हींको पाते है। किन्तु उनकी उपलब्धिके लिये इन्द्रियोंका विशेष निरोध, चित्तवृत्तिनिरोध सर्वत्र समबुद्धिता और सकल जीवोंके हितमें रतिकी आवश्यकता होती है। उपासना अर्थात् योगके द्वारा इन्द्रियनिरोध तथा चित्तवृत्तिनिरोध होता है, ज्ञान द्वारा समबुद्धिता उत्पन्न होती है और निष्काम कर्मयोग द्वारा भूतसेवा

तथा ब्रह्मपूजा होती है। अतः कर्म उपासना ज्ञान तीनोंके सामञ्जस्यानुसार प्रयोग द्वारा ही निर्गुण ब्रह्मकी उपलब्धि, निर्विकल्प पदवीपर आत्यन्तिकी स्थिति तथा शिवपदप्राप्ति श्रीभगवान्‌के वचनानुसार सिद्ध हुई। यही संन्याससंस्कारका अन्तिम लक्ष्य तथा मनुष्यजीवनका भी अन्तिम लक्ष्य है। संन्यासके विषयमें और भी वर्णन अन्य प्रबन्धमें किया जायगा। यही आर्यशास्त्रसम्मत सोलह संस्कारों-की परम महिमा है।

शक्तिसञ्चय और आश्रमधर्म।

संग्रामके विना जीवन नहीं (Life is struggle) और शक्तिके विना संग्राममें विजयलाभ नहीं, अतः छोटे बड़े, संसारमें सभी शक्तिलाभके लिये लालायित बने रहते हैं। सर्वशक्तिमान् भगवान्‌का अंश सभीके भीतर भरपूर है इसलिये नियमित प्रयत्न करनेपर उनसे तथा उनकी भिन्न भिन्न विभूतियोंसे शक्तिका मिलना असम्भव नहीं होता है। इसी नियमित प्रयत्नके लिये ही आश्रम-धर्मका विधान है। सकल प्रकार शक्तिका आकर कौन है और उस आकरसे शक्तिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है इस विषयमें पश्चिमी विद्वानोंने भी बहुत कुछ चिन्ता की है। एफ्. बिस्चफ् (Fred. F. Bischoff) साहबने कहा है— "Man is the greater Radio and is able to connect himself with the Higher Force When this is once rightly demanstrated and understood, it will turn him from slave to Master. Then man comes to himself and comprehends the fact that he is the Son of Man and knows that in himself lies all force. He is a Master Force and all the elements will hear his voice." (Master Force—Kalpaka) मनुष्यमे सामर्थ्य है और वह अपना सम्बन्ध श्रीभगवान्‌की अलौकिक शक्तिके साथ कर सकता है। इस प्रकारका सम्बन्ध एकबार भी हो जाय और इसका रहस्य भी समझ लिया जाय, तो मनुष्य फिर मायाका दास नहीं बना रहता है, वह स्वयं ही प्रभु बन जाता है। उस समय मनुष्यके अनुभवमें आजाता है कि सब शक्तिका खान अपने भीतर ही विराजमान है। वह सर्वशक्तिमान्‌से मिल कर अपने भीतर भी सम्पूर्ण

शक्तिको भर लेता है और उस समय प्रकृतिके सभी तत्त्व उसके वशमे आ जाते हैं। श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

महाशक्तिरूपिणी त्रिगुणमयी दैवी मायाके चक्करसे निस्तार पाना बड़ा ही कठिन है। केवल जो मायाके पति सर्वशक्तिमान् परमात्माकी शरण लेता है वही इस मायाके साथ सग्राममें विजयलाभ कर सकता है । उसको संग्राम करनेकी शक्ति श्रीभगवान् ही देते है । माया किससे दबती है इस विषयमें महामायाने सप्तशतीमें स्वय ही कहा है—

"यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति ।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्त्ता भविष्यति ॥"

"मेरे साथ सग्राममे जो विजयी होता है, मेरे दर्पको जो दबा सकता है, मेरी स्पर्द्धाके सामने प्रतिस्पर्द्धी होकर जो खड़ा रह सकता है, वही मेरे ऊपर प्रभुत्व करने योग्य है ।" चार आश्रमोंमे इस प्रकारसे शक्ति सचयके उपाय पूज्य महर्षियोंने बताये है जिनके द्वारा क्रमशः प्रचुर शक्ति लाभ करके मनुष्य जीवनसंग्राममे सम्पूर्णरूपसे विजयी हो सकता है और मायाके पति सर्वशक्तिमान् परमात्माको पाकर विधिनिषेधसे अतीत हो सकता है । श्रियेल् बुचानन् (Uriel Buchanan) साहबने कहा है—

The Universal Mind is continually seeking an outlet. It is like a vast reservoir of water, perennially replenished by mountain springs. Open a channel to it and the water will flow in ever increasing volume. Open your concious-ness to the current of Universal Mind, it will express itself through you and its gifts will flow in ever increasing abun-dance You are a part of the Universal Mind. You have access to it. If you have faith in your powers initiative and courage to start, you can call upon it for all you need. Whatever of good you may desire, whatever attainment, you

have only to work for it whole-heartedly, with perfect faith and singleness of purpose and success will crown your efforts

The brain is a plastic medium for the use of the mind When concentration is perfectly attained, the mind is the master, it rules supreme, beholding yet unmoved. True illumination comes only to the one who has risen above the narrow horizon of the personal self and has become conciously united with the Infinite The outer dies daily and the inner becomes manifest. Human progress is the continual unfolding and revealing of the inner self.

(Secrets of the Ages—Kalpaka)

परमात्माकी विश्वव्यापिनी शक्ति जीवसत्ताके द्वारा सदा ही प्रकट होना चाहती है। यह पहाड़ी झरनेसे पुष्ट विशाल जलराशिकी तरह है। थोड़ा रास्ता मिलते ही विपुल वेगसे लगातार वह चलती है। इसी शक्तिस्रोत के सामने अपने हृदयको उन्मुक्त करदो, तुम्हे भूरि भूरि भगवत्शक्ति प्राप्त होने लगेगी। तुम उसी पूर्णशक्तिके अंशरूप हो, अतः उसे पानेमे तुम्हे स्वाभाविक अधिकार है। यदि तुम्हें अपनी शक्ति पर विश्वास तथा आगे बढ़नेका साहस हो, तो इस महती शक्तिसे तुम सब कुछ मांग ले सकते हो। जो कुछ उत्तम वस्तु तुम्हें प्राप्त करनी हो, जो कुछ आध्यात्मिक उन्नति तुम्हें इष्ट हो, सभी निश्चित रूपसे तुम्हें मिल जायेंगे केवल पूर्ण विश्वास और एकान्तरतिके साथ अग्रसर होनेकी देर है।

मनकी क्रिया मस्तिष्कके द्वारा हुआ करती है। मनको जब पूर्ण एकाग्रता प्राप्त होजाती है तो मन इन्द्रियों तथा शरीरका प्रभु बनकर उनमें पुनः फँसता नहीं। यथार्थ प्रकाश उसी महान् व्यक्तिको मिलता है, जिसने अपनी सत्ताको व्यक्तिगत स्वार्थकी सीमासे अलग कर व्यापक सत्तामें मिला दिया है। ऐसे पुरुषोंके बाहिरी स्थूल भाव सब नष्ट होजाते हैं और भीतरके सब प्रकाश फैलने लगते है। भीतरी आत्मसत्ताका इस प्रकारसे निरन्तर विकाश होना ही मनुष्य जीवनकी यथार्थ उन्नति है। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चारों आश्रमोंमें परमात्मा तथा उनकी भिन्न भिन्न शक्ति और विभूतियोंसे मिलकर

आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक इन तीनों प्रकारकी शक्ति प्राप्त करनेके सुन्दर वैज्ञानिक उपाय बताये गये है, जिनके वर्णन क्रमशः नीचे किये जाते है।

प्रथमतः ब्रह्मचर्याश्रममें शक्तिलाभ तथा स्वास्थ्यवीर्यलाभके विषयमें कहा जाता है।

क्या हमने वनके पशु या पक्षियोंको कभी रोगी देखा है? वन के पशु-पक्षी वर्षाकालमें न कभी सिरपर छाता लगाते और न शीतकालमें कभी ऊनी कपडे ही पहिनते या शाल दुशाले ही ओढ़ते है, फिर उन्हे रोग क्यों नही होता? माताकी सन्तान माताकी ही गोदमें रहनेसे, माताकी प्रेम भरी करुण-दृष्टि उसपर सदा बनी रहनेसे, मातृशक्तिकी अमृतधारामें अवगाहन कर परितुष्ट होना सीख लेनेसे, उसे ससारमें कोई कष्ट सहन करना नही पडता। चिरजीवन उस आनन्दमयीमें समर्पित होकर आनन्दमें ही कट जाता है। जिसने हमें जन्म दिया वह तो हमारी माता है ही, किन्तु जो सबकी जननी है, वही सर्वत्र विराजमान रहती है। उसका हास्य पुष्पोंके हास्यमें विकसित होता है, उसकी प्रेमधारा गगाकी धारामें प्रवाहित होती है, उसकी करुणा चन्द्रकलामें प्रकाशित होती है। वही सर्वव्यापिनी माता महाप्रकृति है। उसीकी गोदमें हम और हमारे माता पिता आदि सभी प्रतिपालित हुए हैं। वनके पशु पक्षी भी उसी महाप्रकृतिकी गोदमें हैं। हमारी तरह वे महाप्रकृतिकी सन्तान अवश्य हैं, परन्तु उन्होंने अस्वाभाविक आचरण कर माताकी गोदको छोडा नही है। वे प्रकृतिमाता पर निर्भर रहना जानते हैं। महाप्रकृति छः ऋतुओंमें छः भावोंके अपूर्व माधुर्यका जो विकाश करती है उसे खुले वदन भरपूर ग्रहण करना उन्होंने सीखा है। वे अपने शरीरके साथ ऋतुशक्तिको पूर्णतया मिला लेते हैं, सब ऋतुओंके वेगको सह लेते हैं। इसीसे वे स्वभावतः द्वन्द्व सहिष्णु और शीत ग्रीष्म वर्षामें एकरूप रहते हैं और उन्हे कभी रोगग्रस्त होना नही पड़ता। बचपनसे ही सब ऋतुओंके वेगको सहन करनेका अभ्यास करना संसारमें नीरोग बने रहने का प्रधान उपाय है। जो सदा सर्दी या पानीसे बचे रहनेकी चेष्टा करते हैं, उन्हें थोडी सर्दी लगने या कुछ भी ऋतुविपर्यय होनेसे नाना प्रकारके रोग हो जाते है, किन्तु जिन्हें बचपनसे ऋतुतारतम्य और परिवर्तनमें उसके वेगके सहन करनेका अभ्यास है, उन्हें ऋतुओंके हेरफेरके समय कोई रोग नही होता। हम स्वभावतः देखते हैं कि हमारे मुखकी त्वचा शरीरके

अन्यान्य अङ्गोंकी त्वचाकी अपेक्षा अधिक उज्वल और लाल रहती है इसका कारण यह है कि हम अपने अन्यान्य अंग प्रत्यङ्गोंको तरह मुखको निरन्तर ढांके नहीं रखते, मुखको हम सदा खुला रखते हैं, इससे उसकी त्वचा अन्य अंगोंकी अपेक्षा कोमल रहने परभी उसमें ऋतुओंके वेगको सहन करनेकी शक्ति अधिक रहती है। इसी तरह वाल्यकालसे सब अंगों को द्वन्द्व सहिष्णु बनाया जाय, तो शरीर स्वस्थ रह सकता है। माताके साथ विरोध कर सन्तान कभी सुखी रह नहीं सकती। माताकी छातीसे चिपक कर प्राणप्रदायिनी मातृस्तन्यधारा-का पान करनेसे ही सन्तान चिर अमरताको प्राप्त कर सकती है। यही कारण है कि दूरदर्शी महर्षियोंने ब्रह्मचर्याश्रमकी सृष्टि की है और उस आश्रममें बालकों-को नाना प्रकारसे महाप्रकृतिमें मिला देनेकी व्यवस्था की है। शारीरिक अनेक प्रकारके तप उनसे कराना, शीत ग्रीष्मादिके वेगको सहन करनेके लिये उन्हें खुले बदन, खाली पांव और खुले सिर रखना, अग्निमें नित्य होम, सूर्यो-पस्थान, पुष्पचयन इत्यादि कार्य उनपर सौंपना, ये सब उपाय महाप्रकृतिके साथ मिलन करनेके ही हैं। पृथ्वीमें जो विद्युत् शक्ति है उसके साथ पार्थिव शरीरका नैसर्गिक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध शिशुकालसे ही खाली पैर रहनेका अभ्यास कर अटूट रक्खा जाय तो पार्थिव विद्युत् परिपुष्ट मनुष्य अवश्यही सबल-काय और नीरोग रहेगा। इसी तरह छाताके द्वारा सूर्यतेजका सम्बन्ध न रोक कर यदि शरीर और मस्तक पर धूप सह लेनेका अभ्यास किया जाय, तो सूर्यसे आनेवाली प्राणशक्ति प्राप्त होती है, जिससे शरीर स्वस्थ और बलिष्ठ रहता है। मनुसंहितामें इसीलिये ब्रह्मचारीको 'उपानच्छत्रधारण' करना निषिद्ध बताया है। इसी प्रकार गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रममें भी जितने आचार बताये गये हैं सभीके मूलमें महाप्रकृतिके साथ सामञ्जस्य का विज्ञान रक्खा गया है। कालप्रभावसे ये सब स्वास्थ्य सम्बन्धीय नैसर्गिक विधियां लुप्तप्राय होगई हैं। इसीसे आजकलके मनुष्य प्रायः रुग्ण रहकर समस्त जीवन दुःखमें काटते हैं। उनका यौवन बुढ़ापा सभी रोगमय रहता है और उनकी सन्तान भी रुग्न और दुर्बल होती है। अतः बचपनसे महाप्रकृतिके साथ मिलना सीखना चाहिये, जिससे माताका प्रेम और माताका प्राण प्राप्त होकर जीवन आनन्दमें बीत सके। शिक्षाके अभावसे और सन्मानके अनुरोधसे आजकल मातापिता अनेकवार उक्त तथ्यका अनुसरण नहीं करने पाते। धनी मातापिताके बच्चे प्रकृति माताकी गोदमें रहते हुए 'बड़े बापके बड़े बेटे' बन जाते हैं। उनके हाथ

पैर होते हुए भी मातापिता उन्हें पंगु बनादेते है। उनमें चलनेकी शक्ति नही, गाड़ी चाहिये, थोड़ा बोझ उठानेकी शक्ति नही, मजदूर चाहिये; अपना काम करने की शक्ति नही, नौकर चाहिये, अर्थात् जो सबके लिये सरल वह इनके लिये कष्टकर और जो स्वाभाविक वह उन्हें लज्जाजनक बोध होता है। वह सरल शिशु महा-प्रकृतिके आदरका धन धूलिधूसरित होकर माताकी छातीपर लोटपोट करता है, धूप पानी और हवाका मनमाना सेवन और निर्लज्ज नग्न होकर ताण्डव नृत्य करता हुआ अपने शरीर मन प्राणको परिपुष्ट बनाता है, परन्तु धनी पिता-माता धनके मदसे, कृत्रिमलोकलज्जाके संकोचसे महाप्रकृतिके उस सरल शिशुको बाल्यजीवनके सरलसुखसे वञ्चित रखकर चिरदुःखी और चिररोगी बना देते हैं। बच्चेको जूता, कुरता, मोजा, पाजामा, आदि पहिरादेने-से उसे इस बनठनके लिये अकारण सावधानता रखनी पडती है। उसका वह प्रफुल्लहृदय माताके साथ मिल नहीं सकता, उसका जीवन बचपनसे ही कृत्रिमतामय हो जाता है। 'यह कपड़ा फटा, धूलसे यह कुरता मैला होगया, पेड़पर चढ़ने–कबड्डी खेलने से धोती फट गई, कपड़ेमें कहांसे स्याहीके दाग लगा आया', इत्यादि तिरस्कारयुक्त ताडनासे उसके बाल्यकालके सब खेल ही नष्ट कर दिये जाते हैं। थोडा जाड़ा पड़ते ही सिरसे पाँव तक गरम कपडों से उसे लाद कर उसके जीवनको कुछसे कुछ बना दिया जाता है। यह सब अज्ञान तथा उनपर अत्याचार है। इन सब अज्ञानमय अत्याचारोंसे बालकों-को बचाना चाहिये। ऐसा करनेसे आनन्दमय शिशु, आनन्दमयीके साथ अकृत्रिमभावसे मिलकर अपने शैशवकालको सुखमय, यौवनकालको जीवन संग्राममें विजयी और वार्धक्यको मुनिवृत्तिके योग्य बनानेमें स्वाभाविक रूपसे समर्थ होंगे और महाप्रकृतिके मधुर मिलनसे मधुमय आध्यात्मिक जीवन लाभ कर चिरधन्य हो सकेंगे। महाप्रकृतिकी स्वाभाविक गति ब्रह्मकी ओर है। जीव अपने अहंकारसे व्यष्टि प्रकृतिको महाप्रकृतिसे पृथक् करके ही बन्धन-प्राप्त तथा रोगग्रस्त हो जाता है। ब्रह्मचर्याश्रमका यह सब सदाचार जीवकी व्यष्टि प्रकृतिको धीरे धीरे समष्टि प्रकृतिके साथ मिला देता है। और इसी धर्मके पालन द्वारा स्थूल शरीरकी स्वास्थ्यसिद्धिके साथ ही साथ जीव आध्या-त्मिक उन्नतिको भी अवश्य ही लाभ करता है, जिसका अन्तिम परिणाम संन्यासाश्रममें व्यष्टिप्रकृतिका महाप्रकृतिमे मिलकर ब्रह्मसमुद्रमें विलीन हो जाना है। इसी भावका थोड़ासा अनुभव करके विस्लफ साहबने क्या ही

अच्छा कहा है—The laws of nature are the laws of health and he who lives according to these laws is never sick. He who obeys the laws maintains an equilibrium in all its parts and thus insures true harmony and harmony is health; while discord is d sease and shortens life. महाप्रकृतिके नियम ही स्वास्थ्यके नियम हैं, इन्हीं नियमोंके अनुसार रहनेसे कभी रोग नहीं होता है। जो इन नियमोंको मान कर चलता है, वह सब भाव, सब धातु तथा सब तत्त्वोंमें समता और सामञ्जस्य रख सकता है, समता ही स्वास्थ्य है और वैषम्य रोगोंका निदान तथा आयुःक्षयकर है। महाभारतमें भी लिखा है—

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेः स्युस्त्रयो गुणाः।
तेषां गुणानां यत् साम्यं तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ॥

सत्त्व, रज, तम प्रकृतिके ये तीन गुण होते हैं, इनके साथ आयुर्वेद शास्त्रानुसार वात, पित्त, कफका भी सम्बन्ध है। सत्त्वगुणके साथ पित्तका, रजोगुणके साथ वातका और तमोगुणके साथ कफका सम्बन्ध है। इन तीनोंकी समतामें ही स्वास्थ्य है और विषमतामें रोग उत्पन्न होता है। बिस्चफ साहबने और भी कहा है—A durable body can be obtained by non-resistance and by letting the good nature take its own course Most diseases are created by resistance and self-abuse, such as anger, worry, fear, overwork or no work at all. Healthy beautiful body is obtainable by giving the great, good nature a chance to do its work. Expose your body to the sunshine and air as much as possible. By this practice and no resistance, all sickness can be avoided.

(Master Force, Fred. F Bischoff—Kalpaka.)

महाप्रकृतिके नियमोंमें तथा स्वाभाविक गतिमें बाधा न देनेसे ही स्वास्थ्य तथा आयुसे युक्त, दृढ़ शरीर मिल सकता है। अधिकांश रोगोंकी उत्पत्ति इस प्रकार बाधा देनेसे, कामक्रोधादिके वेगके वशीभूत होनेसे और अतिश्रम या आलस्यसे हुआ करती है। सुन्दर, नीरोग शरीर महाप्रकृतिके प्रवाहमें अपनेको बहने देनेसे ही मिलता है। सूर्यभगवान्के प्राणप्रद किरण तथा

वायुके तरङ्गमे अपने शरीरको जितना होसके डूबा रक्खो । इसी तरह अभ्यास करनेसे और महाप्रकृतिकी गतिमें बाधा न देनेसे, समस्त रोगोंसे जीव मुक्त हो सकता है । इसी कारण स्थूलशक्तिलाभके लिये ब्रह्मचारी बालकको महर्षिगण शारीरिक तपका उपदेश करते थे । इस प्रकार द्वन्द्व सहिष्णु, तपोबलसे बलीयान् शरीर ही आगे जाकर ससारसिन्धुके प्रबल वेगको सहनकर सकता है।

अब ब्रह्मचर्याश्रममें शक्तिलाभके अन्यान्य उपाय भी बताये जाते हैं। शक्ति एकान्तमें मिलती है यह प्राकृतिक नियम है। माताके गर्भमें दस महीने तक एकान्त निवास करने पर ही गर्भस्थ भ्रूणको पूर्णशरीर जीव बनकर पृथ्वीमे उत्पन्न होनेकी शक्ति प्राप्त होती है । जमीन के भीतर एकान्तमे छिपे रहनेसे ही जमीनमें बोये हुए बीजमें वृक्षरूपमे उत्पन्न होनेकी शक्ति आती है । महाप्रलयके एकान्त गर्भमें कितनेही कल्प तक रहनेसे ही प्रलयविलीन जीवोमे पुनः प्रकट होनेकी शक्ति आती है। निद्रादेवीके एकान्त अङ्कमे विश्राम करनेसे ही दिनमे कार्य्य करनेकी शक्ति आती है। इसी कारण महर्षिगण ब्रह्मचर्याश्रममे ब्रह्मचारी बालकको शक्तिमान् बनानेके लिये गर्भधारिणी माताके मोहमय अङ्गसे अतिदूर आचार्य्यकी एकान्त सेवामे रहनेकी आज्ञा दे गये हैं। श्रीभगवान्की आध्यात्मिक शक्ति ज्ञानमय वेदके द्वारा, अधिदैवशक्ति सूर्यात्माके द्वारा तथा अधिभूत शक्ति पार्थिव अग्निके द्वारा प्रकट होती है। इसलिये ब्रह्मचर्याश्रममें वेदाभ्यास द्वारा अध्यात्मशक्तिलाभ, सूर्योपस्थान द्वारा अधिदैवशक्तिलाभ तथा अग्निसेवाद्वारा अधिदैव, अधिभूतशक्तिलाभ ब्रह्मचारी बालकको हुआ करता है । और त्रिसन्ध्या गायत्री उपासना द्वारा वरेण्य बुद्धिप्रेरक आदि देवताका तेजोलाभ हुआ करता है। उपानच्छत्रधारण त्याग द्वारा पार्थिव शक्ति तथा सूर्य्यशक्तिके साथ सम्बन्ध स्थापन होनेसे उभय शक्तिका ही सग्रह होता है और मधुमांस त्याग, अष्टविध मैथुन त्याग आदि द्वारा इन्द्रिय संयम शक्तिका लाभ होता है। प्रतिगृह भिक्षाचर्यापूर्वक गुरुसेवा द्वारा दीनता, निरहंकार और परमगहन सेवाधर्मका नित्यानुष्ठान होता है । मां शक्तिको देती है और स्त्री पुरुषसे शक्तिको लेकर सन्तानरूपसे नवीन सृष्टिको बनाती है। इसलिये ससारमें अधिक मां बनानेवाले शक्तिको पाते हैं और अधिक स्त्री बनानेवाले शक्तिको खोते हैं। ब्रह्मचारीको बचपनसे ही 'मां' कहकर शक्तिपानेकी शिक्षा मिलती है। भिक्षा मांगते समय "भवति भिक्षां देहि मातः" इस प्रकारसे प्रत्येक स्त्रीको माता कहने-

का संस्कार संग्रह होनेसे 'मातृवत् परदारेषु' इस जितेन्द्रियतामूलक देवभावका तथा महती शक्तिका अनायास ही लाभ हो जाता है। केवल अपने पिता-माताके अन्नसे शरीर पुष्ट न होकर समस्त स्वदेशवासियोंके अन्नसे शरीर प्रतिपालन होनेके कारण समग्र देशके प्रति ममत्व उत्पन्न होकर देशसेवापरायणताकी पवित्र बुद्धि स्वतः ही प्रकट हो जाती है। ब्रह्मचर्यधारण, गुरुसेवा आदि द्वारा विशेष शक्तिलाभके विषयमें अधिक कहना ही क्या है। इत्यादि इत्यादि समस्त विधियोंके द्वारा ब्रह्मचर्याश्रममें गार्हस्थोपयोगी धर्ममूलक प्रवृत्तिकी शिक्षा आत्माकी ओर गति तथा प्रवृत्तिके साथ संग्राम द्वारा निवृत्ति लाभके उपयुक्त शक्ति प्राप्त होती है। जिस ब्रह्मचारीका प्राक्तन संस्कार अति उत्तम है, वह ब्रह्मचर्याश्रमसे एक बार ही संन्यासाश्रममें प्रवृत्त हो सकता है। किन्तु जिसका संस्कार इतना उच्चकोटिका नहीं है, उसको धर्ममूलक प्रवृत्तिकी सहायतासे क्रमशः निवृत्तिलाभके लिये गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होना पड़ता है। यद्यपि ज्ञानहीन भावशुद्धिहीन धर्महीन प्रवृत्ति घृताहुत वह्निको नाईं उत्तरोत्तर वृद्धिगत ही होती है, तथापि प्रवृत्ति धर्ममूलक होनेसे और उसके साथ ज्ञान तथा भावशुद्धिका नित्य सम्बन्ध रहनेसे कालान्तरमें जाकर वह निवृत्तिप्रसविनी अवश्य ही हो जाती है। गृहस्थाश्रममें इसीका साधन होता है। गृहस्थाश्रमके प्रधान कर्त्तव्य अतिथिसेवा द्वारा नररूपमें नारायणकी नित्यपूजा होती है, जिससे हृदयकी उदारता, पुण्यलाभ और भगवत् शक्तिलाभ यथेष्ट होता है। पञ्चमहायज्ञके क्रियानुष्ठान द्वारा विराट् शक्तिसे एकता, तथा ऋषि-देवता-पितरोंकी त्रिविध शक्ति प्राप्त होती है। परिवारादि सभीके लिये आत्मसुखत्याग करनेका अभ्यास करते करते स्वार्थसङ्कोच, त्याग, संयम आदि सभी उन्नत वृत्तियां आने लगती हैं। धर्मपत्नीके सामने होते हुए भी शास्त्रविचार, तिथिविचार, गर्भमें सन्तान विचार आदि विचारोंसे संयम करने पर पुरुषको बहुत कुछ शक्तिलाभ हुआ करता है। एकपत्नीव्रत और शास्त्रनियमानुसार स्त्रीसेवाद्वारा प्रवृत्ति-संस्कार क्रमशः क्षीण होकर निवृत्तिभावका उदय होने लगता है। सन्तानके प्रति स्नेह, पितृ-मातृ-भक्ति, दाम्पत्यप्रेम आदि मधुर दिव्य गुणावली स्वतः ही उन्मेषित होने लगते हैं। विषयसुखकी क्षणभङ्गुरता तथा परिणाम तापादि दुःखका उसके साथ अच्छेद्य सम्बन्ध अनुभव करके चित्तमें धीरे धीरे विषयके प्रति वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। इष्टोपासना द्वारा आत्माके प्रति गति और इष्टदेवसे शक्तिकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है। बहु आत्मियोंका एक परिवारसे सम्बन्ध

होनेसे, कई परिवारका एकान्नवर्त्ती होनेसे अनेक नरनारियोंका एक ही पारिवारिक स्वार्थमे सम्बन्धयुक्त रहनेसे और उस परिवारके नरनारियोमे यथायोग्य अधिकारके अनुसार यथायोग्य आचरण करके निःस्वार्थ भाव प्राप्त करनेसे मनुष्यके चित्तकी उदारभूमिका उदारतर विस्तार होता है। और ऐसा ही भाग्यवान् गृहस्थ स्वधर्मसेवा, स्वजातिसेवा और स्वदेशसेवाके लिये कालान्तरमे यथार्थ उपयोगी बन सकता है। पृथिवी भरमें और किसी जातिमें भी इस प्रकार गृहस्थधर्मकी उदारता नही दिखाई पड़ती है। हिन्दुगृहस्थधर्मकी महिमाका यह एक ज्वलन्त दृष्टान्त है। इत्यादि इत्यादि विधियोंके द्वारा गृहस्थाश्रममे प्रचुर शक्तिलाभ तथा धर्ममूलक प्रवृत्तिकी चरितार्थतासे निवृत्तिका परिपोषण होनेपर वानप्रस्थ आश्रममे प्रवेश हो जाता है। वानप्रस्थाश्रममें निवृत्तिका विशेष अभ्यास होता है। विषयसे शिथिल गार्हस्थ शरीर वानप्रस्थाश्रममें कठिन तपस्या द्वारा परिपक्व होकर अग्निदग्ध काञ्चनकी तरह निर्मल हो जाता है, ऐसे निष्पाप शरीर तथा अन्तःकरणमे परमात्माकी उपासना द्वारा असीम शक्तिलाभ तथा निवृत्तिकी प्रतिष्ठा स्वतः ही होने लगती है, जिसके फलसे संयमशील, तपस्वी, क्षीणपाप, वैराग्यवान् साधक निवृत्तिके पाराकाष्ठाप्रद संन्यासाश्रमको लाभ कर सकते है। इसी तुरीयाश्रममें निवृत्तिकी पूर्ण प्रतिष्ठा होती है और शक्तिकी भी पूर्ण प्रतिष्ठा होती है। क्योकि निवृत्तिपरायण संन्यासी विषयसे चित्तको एकबारगी हटाकर सर्वत्र व्याप्त, सर्वशक्तिमान् परमात्माके ध्यानमे निरन्तर मग्न रहते हैं। और इसी ध्यानके फलसे समाधिलाभ होकर जब वे ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं, तब अध्यात्मशक्तिकी पराकाष्ठा उन्हे प्राप्त हो जाती है। वे विधिनिषेधसे अतीत होकर स्वय ब्रह्मभावमे निमग्न रहते हैं और दूसरे मुमुक्षुको भी परमात्माके पथमें जानेके लिये योग्य सहायता किया करते है। इस प्रकारसे ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमोंके द्वारा क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म, कारण सभी शक्तिकी प्राप्ति आर्यजातिके योग्य पुरुषोंको हुआ करती है।

प्रसङ्गोपात्त आश्रमोंमें शक्तिसंचयके साथ स्पर्शास्पर्श विचारका सम्बन्ध दिखा देना अनुचित न होगा। आचारके प्रबन्धमे स्पर्शदोपके विषयमें जो कुछ लिखा गया है उससे यही तथ्य निकलता है कि अपनी नैसर्गिक या कमाई हुई शक्तिकी रक्षाके लिये ही स्पर्शास्पर्शके विचार रखनेकी आज्ञा आर्यशास्त्रमें दी गई

है। परमहंस दशामें सदा सर्वशक्तिमान् ब्रह्ममें लवलीन रहनेके कारण ऐसे महात्माकी शक्ति किसी स्पर्शदोषसे बिगड़ नही सकती है, बल्कि कितनी ही बिगड़ी शक्तिको वे सुधार दिया करते है। यही कारण है कि परमहंस विधि-निषेधसे अतीत होते हैं जैसा कि श्रीभगवान् शंकराचार्यने कहा है—

'भेदाभेदे सपदि गलिते पुण्यपापे विशीर्णे।
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः॥'

त्रिगुणमयी मायासे परे परब्रह्ममे विराजमान परमहंसको भेद, अभेद, पुण्य, पाप आदि द्वैत भाव स्पर्श नही करता। अतः उनके लिये विधिनिषेध भी नही है। इससे नीचेकी स्थितिमें जो संन्यासी हैं, जिनको परमहंसभावकी प्राप्ति अभी तक नही हुई है, उनको अपनी स्थितिके अनुसार स्पर्शास्पर्श, विधिनिषेध अवश्य ही मानना पड़ेगा, अन्यथा अधम, विषयी जीवोंकी बुरी शक्ति (Magnetism) के प्रभावमे आकर वे बिगड़ जायेंगे, उनका निवृत्ति भाव छूट जायगा और वे विषयपकमे पुनः लिप्त हो जायेंगे। उससे नीचे वानप्रस्थाश्रममें, जब कि गृहस्थ सम्बन्ध हालहीमें छूटा है, अभी तक शक्तिकी विशेष प्राप्ति हुई भी नही है, केवल शक्तिलाभके लिये साधन, तप आदिका अनुष्ठानमात्र होरहा है, इस दशामे मनुष्यको स्पर्शास्पर्श, विधिनिषेध आदिका बहुत कुछ विचार रखना पड़ेगा, नहीं तो वानप्रस्थाश्रममे कोई भी उन्नति नही हो सकेगी। उससे नीचे गृहस्थाश्रममे तथा ब्रह्मचर्याश्रममे तो पद पद पर पतनको और शक्ति-क्षयकी आशङ्का है। इसी कारण वर्णधर्म, आश्रमधर्म, सदाचार आदि रूपसे इन दोनो अधिकारोंमे स्पृश्यास्पृश्य, विधिनिषेध, हेय-उपादेय, धर्म-अधर्म आदि सब कुछ मानकर बहुत सम्हाल कर तब आगे पांव रखना पड़ता है, अन्यथा मर्यादा-विरुद्ध आचरणके द्वारा गृहस्थका तथा ब्रह्मचारीका पतन अवश्य होजाता है। यही कारण है कि भारतके सर्वत्र आर्यजातिमें वर्णधर्मानुसार स्पृश्यास्पृश्य विचारका प्रचलन है और विधिनिषेधसे अतीत अवस्थाके नमूनेके तौर पर जगन्नाथक्षेत्रका दृश्य दिखाया गया है। पुरीमें जगन्नाथका मन्दिर जिसने देखा है उसको यह रहस्य ज्ञात हो सकेगा। इस रहस्यका ठीक पता लगानेमें असमर्थ होकर कोई कोई नवीन खोज करनेवाले उसे बौद्धयुगके बाद तन्त्रयुगका वाममार्ग मन्दिर कह देते है और कोई कोई ऐसा भी कहते हैं कि कामकलाके चित्र मन्दिर पर इसलिये दिये गये है कि सबकी आंखें उसपर

अधिक पड़ेंगी और आंखोंसे विद्युत् शक्ति एकत्रित होनेके कारण मन्दिर पर वज्रपातकी आशंका नहीं रहेगी। किन्तु यथार्थ रहस्य यह है कि जगन्नाथ मन्दिरका दृश्य स्वल्पाधारमें संसारका दृश्य है, अर्थात् मन्दिरके बाहर मायाका राज्य है, जिसमे स्त्री-पुरुषोंके कामकला विकाशके चित्र हैं। किन्तु मन्दिरके भीतर, मायाके सब दृश्यसे परे परमात्मा जगन्नाथदेव विराजमान रहते हैं। परमात्मा निराकार हैं, उनका कोई व्यवस्थित आकार नही है, इसलिये जगन्नाथका कलेवर भी किसी भी अङ्गकी पूर्णतासे हीन विचित्र सा ही बनाया गया है। जो मनुष्य मन्दिरके बाहिरी चित्रमें ही फँसे रहते हैं, मायाके दृश्य देखनेमें ही जिनका मन लवलीन होजाता है, उसीके प्रति जिनके अन्तःकरणका आकर्षण है, वे मन्दिरके भीतर श्रीजगन्नाथदेवके दर्शनके योग्य नही होते। 'रथस्थ वामन दृष्ट्वा पुनर्जन्म न विद्यते' देहरूपी रथमे परमात्माको देखलेने पर पुनर्जन्म नही होता है, इस सिद्धान्तके वे अधिकारी नही हैं। किन्तु जो भाग्यवान् मुमुक्षु साधक मन्दिरके बाहिरी दृश्योंमे नही फँस जाते, उस मायाकी परीक्षामें जो उत्तीर्ण हो जाते हैं, उन्हें ही मायामन्दिर या ससार मन्दिरके भीतर विराजमान जगन्नाथदेवके यथार्थ दर्शन होते है और उनका दर्शनकर वे मुक्त होजाते हैं, त्रिगुणमयी मायासे परे होजाते हैं, विधिनिषेध, स्पृश्यास्पृश्य, धर्म अधर्म सभी द्वैतभावसे परे होजाते है। उस समय 'महाप्रसाद' ग्रहणका उनको अधिकार होजाता है, जिसमें कोई भी जातिविचार, वर्णविचार, स्पर्शास्पर्शविचार नही रहता, बल्कि उस दशामे ऐसा विचार करना ही अपराध समझा जाता है। आनन्दबाजारमें परमानन्द लूटनेका भी मौका उन्हें उसी समय मिल जाता है। यही विधिनिषेधहीन परमहंसदशा है। अतः यह सिद्ध हुआ कि अपनी शक्तिके तारतम्यानुसार तथा शक्ति रक्षाके लिये ही सकल आश्रममें स्पृश्यास्पृश्यादि विधिनिषेध आर्यशास्त्रमें बताये गये हैं।

अब ऊपर लिखित त्रिविध शक्तिकी प्राप्तिके लिये अवश्य पालनीय चतुराश्रम धर्मकी संक्षिप्त विधियां बताई जाती हैं। जीवनसंग्राम और वैषयिक भावके बढ़ जानेसे तथा देशकालके भिन्नरूप हो जानेसे महर्षियोंके द्वारा विहित चतुराश्रमधर्म्मका ठीक ठीक पालन करना आजकल बहुतही कठिन हो गया है। तथापि महर्षियोंकी दूरदर्शिता मायामुग्ध जीवोंके लिये सदा ही कल्याणकर होनेसे मनुष्योंका कर्त्तव्य है कि, उनके द्वारा विहित आश्रमधर्मका जहांतक हो सके वे पालन करते रहें।

पहिलेही कहा गया है कि मनुष्ययोनिमें स्वतन्त्रता और अहङ्कारके बढ़ जानेसे इन्द्रियलालसा तथा भोगप्रवृत्ति बढ़ जाती है। इसी प्रवृत्तिको धीरे धीरे घटाकर मोक्षफलप्रद निवृत्तिमार्गकी ओर ले जाना ही मनुष्यका परम कर्त्तव्य है। आश्रमधर्म इसी कर्त्तव्यके उपायोंको बताता है। ब्रह्मचर्य्याश्रममें धर्ममूलक प्रवृत्तिके लिये शिक्षालाभ होता है, गार्हस्थ्यमें धर्ममूलक प्रवृत्तिकी चरितार्थता होती है। वानप्रस्थ आश्रममें निवृत्तिमार्गके लिये शिक्षालाभ होता है और संन्यास आश्रममें निवृत्तिकी पूर्ण चरितार्थता होती है। पूर्वकर्म्म बलवान् होनेसे ब्रह्मचर्यसे ही संन्यास ग्रहण कर सकते हैं, अन्यथा साधारण रीतिके अनुसार प्रवृत्तिमार्गसे ही धीरे धीरे निवृत्तिमार्गमें जाना चाहिये।

प्रथम आश्रमका नाम ब्रह्मचर्य्याश्रम है। मनुसंहिताके द्वितीयाध्यायमें इसके विषयमें विशेष वर्णन है। द्विज पिताका कर्त्तव्य है कि यथासमय पुत्रका उपनयन करके उससे पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करावे। उपनयन कालके विषयमें मनुजीने कहा है कि :—

गर्भाऽष्टमेऽब्दे कुर्व्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥
ब्रह्मवर्च्चसकामस्य कार्य्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलाऽर्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहाऽर्थिनोऽष्टमे॥
आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नाऽतिवर्त्तते।
आद्वाविंशात् क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः॥
अत ऊर्द्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्य्यविगर्हिताः॥

गर्भसे अष्टम वर्षमें ब्राह्मणका उपनयन होना चाहिये, एकादश वर्षमें क्षत्रियका और द्वादश वर्षमें वैश्यका उपनयन होना चाहिये। यदि यह इच्छा हो कि ब्राह्मणमें ब्रह्मतेज उत्पन्न हो, क्षत्रियको बल प्राप्त हो और वैश्यको धन प्राप्त हो तो यथाक्रम पांच, छः और आठ वर्षमें ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यका उपनयन होना चाहिये। सोलह वर्ष पर्य्यन्त ब्राह्मणका, बाईस वर्ष पर्यन्त क्षत्रियका और चौबीस वर्ष पर्यन्त वैश्यका उपनयनकाल अतीत नहीं होता है। इतने वर्ष तकमें भी यदि उपनयन नहीं हो तो द्विज उपनयन

भ्रष्ट होकर व्रात्य कहलाते हैं और आर्यजनोंमें उनकी निन्दा होती है, अतः यथासमय उपनयन संस्कार करना उचित है । तदनन्तर ब्रह्मचारीका वेष दण्ड, मेखला आदि धारण कराकर गुरुके आश्रममें बालकको भेजना चाहिये या और तरहसे ब्रह्मचर्य व्रतका पालन कराना चाहिये ।

ब्रह्मचर्य व्रत पालनके लिये जितने कर्त्तव्य शास्त्रोंमें बताये गये हैं उन सबको तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं । यथा—वीर्य्यधारण, गुरुसेवा और विद्याभ्यास ।

नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका संयम, गृहस्थाश्रमकी धार्मिक प्रवृत्ति, वानप्रस्थाश्रमकी तपस्या और संन्यासाश्रमका ब्रह्मज्ञान सभी ब्रह्मचर्याश्रमकी वीर्य्यरक्षा पर निर्भर करते हैं । मनुसंहितामें लिखा है कि :—

सेवेतेमांस्तु नियमान् ब्रह्मचारी गुरौ वसन् ।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः ॥
वर्ज्जयेन्मधुमांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्व्वाणि प्राणिनाञ्चैव हिंसनम् ॥
अभ्यङ्गमञ्जनञ्चाऽक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधञ्च लोभञ्च नर्त्तनं गीतवादनम् ॥
द्यूतञ्च जनवादञ्च परीवादं तथाऽनृतम् ।
स्त्रीणाञ्च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥
एकः शयीत सर्व्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन् तो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥
स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ।
स्नात्वाऽर्कमर्च्चयित्वा त्रिः पुनर्म्मामित्यृचं जपेत् ॥

ब्रह्मचारी गुरु-आश्रममें वास करनेके समय इन्द्रियसंयम करके तपोबल बढ़ानेके लिये नीचे लिखे हुए नियमोंको पालन करें । उनको मधु, मांस, गन्धद्रव्य, माल्य, रस आदिका सेवन और स्त्रीसम्बन्ध त्याग करना चाहिये । जो वस्तु स्वभावतः मधुर है परन्तु किसी कारणसे अम्ल हो गया है, इस

प्रकारकी वस्तु ब्रह्मचारी कदापि सेवन न करे और किसी जीवकी हिंसा न करे। तैलमर्द्दन, आँखोंमें अञ्जन, पादुका व छत्रधारण, काम, क्रोध, लोभ, नृत्य, गीत, वाद्य, अक्षक्रीड़ा, मनुष्योंके साथ वृथा वाक्कलह या दोषदर्शन, मिथ्यावचन, स्त्रियोंके प्रति कटाक्ष या आलिङ्गन, दूसरोंका अपकार, ये सभी ब्रह्मचारीके लिये त्याज्य है। ब्रह्मचारी एकाकी शयन करें, कभी रेतःपात न करें, इच्छासे रेतःपात करनेपर ब्रह्मचारीका व्रत भङ्ग हो जाता है, यदि इच्छा न होनेपर भी कभी स्वप्नमें शुक्रनाश हो जाय तो स्नान और सूर्य्यदेवकी पूजा करके तीन वार "पुनर्मामैत्विन्द्रियम्" अर्थात् मेरा वीर्य्य मेरेमें पुनः लौट आवे, इस प्रकारका वेदमन्त्र पढ़ना चाहिये। यही सब ब्रह्मचर्य्यरक्षाकी विधि है।

संसारमें देखा जाता है कि प्रत्येक वस्तुमें प्रधानतः आधिभौतिक या आधिदैविक या आध्यात्मिक उन्नति करनेकी शक्ति विद्यमान है, परन्तु यदि किसी वस्तुमें एकाधारमें ही तीनो प्रकारकी उन्नति करनेको शक्ति है तो वह परमवस्तु ब्रह्मचर्य्य ही है। अब ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आध्यात्मिकादि त्रिविध उन्नति कैसे होती है सो बताया जाता है।

मुण्डकोपनिषद्में लिखा है कि :—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्य्येण नित्यम्॥

सत्य, तपस्या, ज्ञान और ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आत्माकी उपलब्धि होती है। ब्रह्मचर्य्य ज्ञानरूप प्रदीपके लिये तैलरूप है, और संसारसमुद्रमें पथभ्रान्त जीवोंके लिये ध्रुवतारारूप है। इसीको ही आश्रय करके आध्यात्मिकादि त्रिविध उन्नति-साधन करता हुआ जीव परमात्माका साक्षात्कार लाभ कर सकता है। छान्दोग्योपनिषद्में लिखा है कि :—

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्ब्रह्मचर्य्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव तद्ब्रह्मचर्य्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते।

ब्रह्मचर्य्य ही यज्ञ और इष्टरूप है जिससे मनुष्य आत्माको प्राप्त हो सकता है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है कि :—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति,
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति,
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

वेदवित् ज्ञानिगण जिसको अक्षर पुरुष कहते है, वासनारहित यतिगण जिस परमपदको प्राप्त करते हैं, जिस परमपदकी इच्छासे साधक ब्रह्मचर्य्य पालन करते हैं, उसके विषयमें मै सक्षेपसे कहता हूँ । श्रीभगवान्ने इस श्लोकमें ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आध्यात्मिक उन्नति तथा आत्माकी उपलब्धि होती है ऐसा बताया है। जिस शक्तिके द्वारा महर्षिगण प्राचीनकालमे ब्रह्मज्ञानको प्राप्त करके दिग्दिगन्तमें उसकी छटाको फहराते थे, और जिस शक्तिके द्वारा उनके समाधिशुद्ध अन्तःकरणमें वेदकी ज्योति प्रतिफलित हुआ करती थी वह शक्ति ऊर्द्ध्वरेता महर्षियोमें ब्रह्मचर्य्यकी ही शक्ति है। आज हीनवीर्य भारतवासियोंमे ब्रह्मचर्य्यकी शक्ति नष्ट होनेसे वेद देखना तो दूर रहा उसका अर्थ करना तथा उच्चारण करना भी असम्भव हो गया है और हजारों प्रकारके सन्देहपूर्ण वेदके अर्थ हो रहे हैं । छान्दोग्योपनिषद्में इन्द्रविरोचनसम्वादमे इस सिद्धान्तको स्पष्टतया दिखाया गया है कि केवल ब्रह्मचर्य्यके द्वारा ही ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो सकतीहै। वहां ब्रह्माजीने दोनोको ही बत्तीस बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य-पालनकी आज्ञा की है। समाधिके समय शरीरके भीतर जो वैद्युतिकशक्ति भर जाती है उसका धारण केवल ब्रह्मचर्य्य द्वारा ही योगी कर सकते है। अन्यथा—अल्पवीर्य्य साधक योगानुष्ठान करे तो कठिन रोगसे आक्रान्त हो सकता है । मानवशरीर भगवान्का पवित्र मन्दिर है परन्तु इस मन्दिरकी भित्ति ब्रह्मचर्य्य ही है जिसके बिना भगवान् कभी हृदयमन्दिरमें सुशोभित नही हो सकते हैं । उपनिषदोंमें लिखा है कि:—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयाऽऽसक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥

मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण मन ही है । विषयासक्त मन बन्धनका और निर्विषय मन मोक्षका कारण है । योगशास्त्रका सिद्धान्त यह है कि मन वायु और वीर्य्य तीनों एक सम्बन्धसे युक्त है । इनमेंसे एक भी

वशीभूत हो तो और दो वशीभूत हो जाते हैं। जिसका वीर्य्य वशीभूत ब्रह्मचर्य्यके द्वारा है उसका मन वशीभूत होता है और मनके वशीभूत होनेसे निर्विषय अन्तःकरणमे ब्रह्मज्ञानका स्फुरण होता है। यही सब ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आध्यात्मिक उन्नति होनेके प्रमाण हैं।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आधिदैविक उन्नति भी होती है। महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमे लिखा है कि:—

ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः।

ब्रह्मचर्य्यकी प्रतिष्ठा होनेसे परमशक्ति प्राप्त होती है। योगदर्शनके विभूतिपादमे जितने प्रकारकी सिद्धियोंका वर्णन है, यथा—सूर्य्यमे संयमसे भुवनज्ञान और संस्कारोंमें संयमसे परचित्तज्ञान आदि, ये सभी ब्रह्मचर्य्यके द्वारा दैवीशक्ति प्राप्त करनेके फल हैं। महर्षिगण जो अष्ट सिद्धि प्राप्त करके संसारमें सभी दैवी बातोंको कर दिखाते थे जिनकी शक्तियोंको स्मरण करनेसे दीन हीन भारतवासियोंके मृतकङ्कालमें आज भी प्राणका सञ्चार होने लगता है और संसारमें जो बड़े बड़े कर्म्मवीर और धर्म्मवीर महापुरुष अपनी शक्तिके प्रतापसे अलौकिक कार्योंको कर गये हैं यह सब ब्रह्मचर्य्यके द्वारा आधिदैविक शक्ति प्राप्त करनेका ही फल है। छान्दोग्योपनिषद्में लिखा है कि:—

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्य्येणाऽनुविन्दति तेषामेवैष
ब्रह्मलोकस्तेषां सर्व्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

ब्रह्मचर्य्यके द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त होता है और उस लोकमें सिद्ध पुरुष कामचारी होते हैं। यह सब ब्रह्मचर्य्यके द्वारा दैवीशक्तिलाभका ही फल है। इसी शक्तिके प्राप्त होनेसे ही भीष्मपितामहको इच्छा-मृत्यु-लाभ हुआ था और शरशय्या पर शयन करके भी उन्होंने पवित्र ब्रह्मज्ञानका धर्मोपदेश किया था। मनुसंहितामे उत्तरायणगतिकी बात जो लिखी है कि परिव्राजक योगी और युद्धमे वीरकी तरह प्राण समर्पण करनेवाले महापुरुष, ये दोनों ही सूर्य्यमण्डलभेद करके उत्तरायण गतिको प्राप्त करते है उसके भी मूलमे ब्रह्मचर्य्यकी ही महिमा प्रकट होती है।

तीसरी ब्रह्मचर्य्यसे आधिभौतिक उन्नति होती है। शास्त्रोंमें कहा है कि:—

शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम्।

स्थूलशरीरकी रक्षा किये विना मनुष्य किसी प्रकारकी उन्नति नहीं कर सकता है। मानसिक उन्नति या आध्यात्मिक उन्नति सभी शारीरिक स्वास्थ्यके ऊपर निर्भर करती है। शरीरमे सबसे उत्तम धातु वीर्य है जिसकी रक्षासे स्वास्थ्यकी रक्षा हुआ करती है। चिकित्साशास्त्रका यह सिद्धान्त है कि भुक्त अन्न पाकस्थलीमें जाकर पहले रस बनता है, रससे रक्त, रक्तसे मांस, मांससे मेद, मेदसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा और मज्जासे वीर्य्य बनता है। इस प्रकार अन्नके रससे एक महीनेमे वीर्य्य बनता है और ४० चालीस विन्दु रक्तसे एक विन्दु वीर्य्य होता है। इसीसे समझ सकते है कि शरीरको रक्षाके लिये वीर्य्यका कितना प्राधान्य है। वीर्य्य ही समस्त शरीरका प्राणरूप है। वीर्य्यके स्तम्भनसे प्राणकी पुष्टि, समस्त शरीरमे कान्ति और मानसिक शान्ति रहती है। वीर्य्यके नाशसे प्राणनाश और सकल प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं। शरीरकी नीरोगताके विषयमे पहिले ही कहा गया है कि वायु, पित्त और कफकी समतासे शरीर नीरोग रहता है और अन्तःकरणमे भी आनन्द तथा शान्ति रहती है। वीर्य्यके साथ वायुका सम्बन्ध होनेसे वीर्य्यके स्थिर रहनेपर वायु भी शान्त रहता है जिससे मन भी शान्त रहता है। अन्तःकरणके शान्त रहनेसे मनुष्य परम सुखी और आध्यात्मिक उन्नतिशील होता है। अतः सिद्धान्त हुआ कि ब्रह्मचर्य्यरक्षा ही सकल आनन्दका निदान है। महाभारतमें लिखा है:—

मध्ये सा हृदयस्यैका शिरा तत्र मनोवहा।
शुक्रं संकल्पजं नृणां सर्वगात्रैर्विमुञ्चति॥

शरीरके भीतर मनोवहा नामकी एक नाड़ी है जो कि मनुष्यके चित्तमें कामभाव होते ही दूधको मथन करके माखन निकालनेकी तरह शरीर और रक्तको मथन करके वीर्य्यको निकालती है। मनोवहा नाड़ीके साथ शरीरकी सब नाड़ियो-का सम्बन्ध है इसलिये शुक्रनाशके समय शरीरकी सब नाड़ियां कांप उठती हैं, शरीरके सब यन्त्र हिल जाते है जिसकी प्रतिक्रिया शरीर और मन पर इतनी होती है कि उस पाशविक क्रियाके अन्तमें शरीर व मन अतिदीन, खिन्न, दुर्बल और मृतप्राय होकर दुःखके अनन्त समुद्रमें डूब जाता है। इसी लिये गीतामे लिखा है कि:—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

जिस प्रकार किसी मृत पुरुषके सामने काम या क्रोधका कोई विषय रखने पर भी उसके शरीर और मनमें कोई चाञ्चल्य नहीं होता है, उसी प्रकार जीते ही जिसने शरीर और मनको ऐसा वशमें कर लिया है कि किसी प्रकार काम या क्रोधसे इन्द्रियां चञ्चल न हों वही योगी और सुखी है। चिकित्साशास्त्रका सिद्धान्त है कि प्रत्येक मनुष्यके खूनमें दो प्रकारके कीट होते हैं, एक सफेद (White corpuscle) और दूसरे लाल (Red corpuscle), इन दोनोंमेंसे सफेद कीट रोगके कीटोंसे लड़ कर शरीरकी रक्षा करते हैं क्योंकि हैजा, प्लेग, मलेरिया आदि सब रोगोंके कीट होते हैं जो कि शरीर पर आक्रमण करके उसे नष्ट करते हैं। अब यह बात निश्चय है कि रक्तको मथन करके वीर्य्य निकल जानेसे रक्त निःसार हो जायगा जिससे वे सब रक्तके कीट भी दुर्बल हो जायंगे और उनमे रोगके कीटोंसे लड़नेकी शक्ति नही रहेगी। इसका फल यह होगा कि शरीर बहुत प्रकारके रोगोंसे आक्रान्त हो जायगा, शारीरिक आरोग्यता नष्ट हो जायगी और मनुष्य जीता ही मुर्देकी तरह बन जायगा । यही सब शुक्रनाशका फल है। जिस प्राणके साथ शरीरका इतना सम्बन्ध है कि उसके अभावसे शरीर मृत हो जाता है, वीर्य्यके नाशसे उस प्राणशक्तिका भी नाश होने लगता है जिससे मनुष्य अल्पायु और चिररोगी हो जाते हैं। योगशास्त्रमें श्वास प्रश्वास पर संयम करके लिखा गया है कि मनुष्योंकी नियमित आयुके लिये नियमित श्वासकी भी आवश्यकता होती है। साधारणतः दिन और रातमें प्रत्येक मनुष्यके श्वास २१६०० बार निकलते हैं। योगशास्त्रमें लिखा है किः—

देहाद्वहिर्गतो वायुः स्वभावाद्द्वादशांगुलिः ।
गायने षोडशांगुल्यो भोजने विंशतिस्तथा ॥
चतुर्विंशांगुलिः पान्थे निद्रायां त्रिंशदंगुलिः ।
मैथुने षट्त्रिंशदुक्तं व्यायामे च ततोऽधिकम् ॥
स्वभावेऽस्य गते न्यूने परमायुः प्रवर्द्धते ।
आयुःक्षयोऽधिके प्रोक्तो मारुते चाऽन्तराद्गते ॥
तस्मात्प्राणे स्थिते देहे मरणं नैव जायते ॥

जो दिवारात्रमें इक्कीस हजार छः सौ वार श्वास निकलता है उसी हिसावसे निकला करे तो प्रत्येक श्वासका वायु १२ बारह अंगुलि तक नासिका-से बाहर जायगा । यही स्वाभाविकरूपसे निकलते हुए श्वासकी पहुंच है । यही श्वास गाते समय १६ अगुलि, भोजन करते समय २० अंगुलि, रास्ता चलने समय २४ अंगुलि, निद्रामें ३० अगुलि, मैथुनके समय ३६ अंगुलि और व्यायाममें उससे भी अधिक दूर तक पहुँचता है । श्वासकी इस स्वाभाविक गतिको घटानेसे आयु बढ़ती है और अधिक श्वास जानेसे आयु क्षय होता है । व्यायाममें श्वास अधिक निकलनेपर भी व्यायामके द्वारा शरीर सवल तथा नीरोग रहता है, परन्तु इससे आयुकी वृद्धि नहीं होती है । प्राणायाम करनेपर शरीर सवल तथा नीरोग रहता है और आयु भी बढ़ती है । इसीलिये शास्त्रमें कहा है कि—"प्राणायामः पर वलम्" प्राणायाम परम बल है । इस तरहसे प्राणायामकी स्तुति और उसके करनेकी आज्ञा की गई है । परन्तु मैथुनमें व्यायामका कोई फल नहीं होता है, उल्टा श्वास ३६ छत्तीस अंगुलि तथा अधिक निकलनेसे विशेषरूपसे आयुःक्षय होता है । स्वाभाविक श्वास जो कि १२ बारह अंगुलि है उससे तीन गुण अधिक जोरसे श्वास निकलने पर मनुष्य बहुत ही अल्पायु हो जाता है और प्राणरूप वीर्य्यके निकलनेसे अत्यन्त दुर्बल तथा रुग्णदेह हो जाता है । यही सब ब्रह्मचर्य्यनाशका विषम फल है । इसीलिये योगशास्त्रमें कहा है कि—"मरणं विन्दुपातेन जीवन विन्दुधारणात्" अर्थात् वीर्य्यनाशसे मनुष्यकी मृत्यु और वीर्य्यधारणसे मनुष्यका जीवन है ।

शरीरके समस्त यन्त्रोंमेंसे स्नायु, पाकस्थली, हृदय तथा मस्तिष्क ये चार यन्त्र मुख्य है । वीर्य्यनाशसे इन चारों यन्त्रोंपर कठिन आघात पहुँचता है । कामका तुच्छ सुख केवल इन्द्रियके स्नायुओंके चाञ्चल्यसे ही होता है, परन्तु पुनः पुनः चञ्चल करनेसे वे सव नसें दुर्बल हो जाती है और साथ ही साथ समस्त शरीरके स्नायुओंमें आघात होनेसे वे सब भी दुर्बल हो जाते हैं । फल यह होता है कि स्नायुओंके दुर्बल होनेसे उनमें वीर्य्यधारण करनेकी शक्ति नहीं रहती है जिससे सामान्य काम सङ्कल्प तथा चाञ्चल्यसे ही वीर्य्य नष्ट होने लगता है और धातुदौर्बल्य, प्रमेह, स्वप्नमेह, मधुमेह आदि कठिन कठिन रोग हो जाते है । और शरीरके स्नायुओंपर धक्का अधिक लगनेसे पक्षाघात, ग्रन्थिवात, अपस्मार (मृगी) आदि भीषण रोगोंकी उत्पत्ति होती

है। द्वितीयतः अपानवायुके साथ प्राणवायुका और प्राणवायुके साथ वीर्य्यका सम्बन्ध रहनेसे अपानवायुके साथ भी वीर्य्यका सम्बन्ध है और अपानवायुके साथ पाकयन्त्र, पायु तथा उपस्थयन्त्रका सम्बन्ध है। अपानके ठीक रहनेसे अन्नका परिपाक भी ठीक ठीक होता है जिससे अजीर्ण रोग नहीं होता है। परन्तु वीर्य्यके नाश या चाञ्चल्यसे जब अपानकी क्रियामें भी खराबी हो जाती है तो पेटमें अन्न नहीं पचता है, अजीर्ण रोगसे शरीर आक्रान्त हो जाता है, और संसारमें ऐसा कोई रोग नही है जो कि अजीर्णरोगके परिणामसे नहीं हो सकता है। बहुमूत्र, शिरोरोग, धातुरोग, दृष्टिहीनता, रक्तविकार, अर्श आदि सभी रोग अजीर्णरोगके परिणामसे होते है और मनुष्यके जीवनको भारभूत तथा अशान्तिमय कर देते हैं। अपानवायुके खराब होनेसे पायुयन्त्रके भी सब रोग हो जाते है। यथा—समय पर शौच न होना, अधिक दस्त होना, दस्त बन्द हो जाना, पेटमें आम होना आदि बहुत रोग हो जाते हैं। जिस उष्णताके रहनेसे पेटमें अन्न पचता है, वीर्य्यनाशसे वह उष्णता नष्ट हो जाती है जिससे पित्त-प्रकृति नष्ट होकर कफप्रकृति होती है और पित्त दुर्व्वल होनेसे अजीर्ण होता है। तृतीयतः वीर्य्यके निकलते समय कलेजेमें धक्का बहुत लगता है क्योंकि जब हृदय ही रक्तका मूलस्थान है तो जितने बार दुग्धके सारभूत मक्खनकी तरह रक्तके सारभूत वीर्य्य नष्ट होंगे उतनी ही बार दुर्व्वल रक्तको पुष्ट करनेके लिये हृद्यन्त्रसे रक्तका प्रवाह होगा जिसका फल यह होगा कि हृद्यन्त्र पर चोट लगेगी जिससे क्षय, कास, यक्ष्मा आदि कठिन रोग उत्पन्न होकर अकाल मृत्युके ग्रासमें मनुष्यको डाल देंगे। और चतुर्थतः वीर्य्यनाशसे मस्तिष्क पर बहुत ही धक्का लगता है। शरीरका सर्व्वोत्तम अङ्ग मस्तिष्क है उसमें शरीरके सारभूत पदार्थ भरे रहते हैं और समस्त स्नायुओंका केन्द्रस्थान भी मस्तिष्क ही है, इसलिये वीर्य्यके नाशसे मस्तिष्क निस्सार व दुर्व्वल होजाता है जिससे स्मृति, बुद्धि, प्रतिभा सभी नष्ट होने लगती है, मनुष्य सामान्य दिमागी परिश्रमसे ही थकजाता है, सिर घूमने लगता है, आध्यात्मिक विषयोंपर विचार नहीं कर सकता है, बहुत देरतक किसी बातको चित्त लगाकर सोच नही सकता है, कोई बात बहुत देरतक स्मरण नही रहती है, थोडी थोड़ी बातमें घबराहट होने लगती है, धैर्य्य सम्पूर्ण नष्ट होजाता है, प्रकृति रूखी क्रोधी व भीरु हो जाती है और अन्तमें उन्मादरोग तक होजाता है। पागलखानोंमें जितने उन्मादी देखे जाते हैं, अनुसन्धान करने पर कई बार पता लगा है कि, उनमेंसे फी सैकड़ा

नब्वे व्यभिचार द्वारा वीर्य्यहीन होकर पागल बन गये हैं। मस्तिष्क सब स्नायुओंका केन्द्रस्थान होनेसे मस्तिष्कके दुर्ब्बल होनेपर स्नायु भी दुर्ब्बल होजाते है जिससे सब इन्द्रियोंमें दुर्ब्बलता होती है क्योंकि प्रत्येक स्थूल इन्द्रियका जो मस्तिष्कसे स्नायुओंके द्वारा सम्बन्ध है उसीसे इन्द्रियोंका कार्य्य ठीक ठीक चलता है इसलिये मस्तिष्क जब दुर्ब्बल होता है तब इन्द्रियोंका कार्य्य भी बिगड़ जाता है। आंखमें, कानमें, सबमे कमजोरी आने लगती है। यही सब वीर्य्यनाशका फल है।

आज तो भारतवर्षमें सच्चे ब्राह्मण और सच्चे क्षत्रिय आदि विरल ही मिलते है, ब्राह्मणोंकी वह शक्ति और क्षत्रियोंका वह तेज कुछ भी नही है, जो ऋषि पहले अमोघवीर्य्य होते थे उनके पुत्र आज निर्व्वीर्य्य हो रहे हैं, आर्य्यसन्तान आज तेजोहीन होकर भारतमाताके मुख पर कलङ्क आरोपण कर रही है, ऋषियोंके दिव्यनेत्र और ज्ञाननेत्र सब नष्ट होकर आज उपनेत्रके विना देखा नहीं जाता है, हमारा शरीर और मन स्मशानके दृश्यको स्मरण करा रहा है, वेदके मन्त्रोंको देखना और शुद्ध उच्चारण करना दूर रहा वेदके अर्थ पर भी हजारों लड़ाइयाँ चलपडी है, तपस्याके फलरूपसे ज्ञान अर्जन करके ब्रह्मका साक्षात्कार दूर रहा आज अज्ञानकी घनघोरघटा भारत-आकाशको आच्छन्न कर रही है, ये सब दुर्भाग्य और दुर्दशाएँ आर्य्यजातिमे ब्रह्मचर्य्यहीनताके ही फलरूप हैं। इसलिये ब्रह्मचर्य्य आश्रमकी पुनः प्रतिष्ठा करके द्विजबालकोंको उपनयन संस्कारके बाद अवश्य ही ब्रह्मचर्य्यव्रत पालन कराना चाहिये जिससे उनका समस्त जीवन शान्त, सुखमय और देश धर्म्मके लिये कल्याणकर होजाय। ब्रह्मचर्य पालनके विषयमे दक्षसंहितामें लिखा है कि:—

> ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेदष्टधा मैथुनं पृथक्।
> स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्॥
> सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।
> एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः॥

स्मरण, कीर्त्तन, केलि, दर्शन, गुप्तबात, सङ्कल्प, चेष्टा और क्रियासमाप्ति ये ही मैथुनके आठ अङ्ग है, इनसे विपरीत ब्रह्मचर्य्य है जो कि सदा पालन करने

योग्य है। इसके पूरे पालनके लिये शरीर मन बुद्धि तीनोंको ही संयत रखना ब्रह्मचारीका कर्त्तव्य है। इस विषयमें मनुजीको आज्ञा पहिलेही बताई गई है। प्रथम शरीरको संयत रखनेके लिये अन्यान्य उपायोंके अतिरिक्त खानपान-का भी विचार अवश्य रखना चाहिये, जैसा कि 'सदाचार' प्रबन्धमें बताया गया है।

ब्रह्मचारीको सात्त्विक आहार करना चाहिये। प्याज, लहसुन, लालमिरच, खटाई आदि राजसिक तामसिक पदार्थ और गरिष्ठ मसालेदार अन्न और उत्ते-जक अन्न ब्रह्मचारीको कभी नही खाना चाहिये। तमाखू भाँग आदि मादक द्रव्योका सेवन कदापि नही होना चाहिये। कोमल शय्या, जैसे पलँग आदि पर नही सोना चाहिये। भूमिशय्या पर सोना चाहिये। खराब पुस्तक पढ़ना, कुसंग, कुचिन्ता, खराब चित्र देखना, आपसमे कामविषयक बातचीत कभी नहीं करनी चाहिये। एकाहार करना चाहिये अथवा रातको बहुत कम हलका अन्न खाना चाहिये। सोते समय ठंडा जल पीना, प्रातःकाल निद्रा टूटने पर फिर सोना, पान खाना, अधोअंगमे वृथा हाथ लगाना, दिनमें सोना, मछली या मांस खाना, प्रातःकाल तक सोते रहना आदि ब्रह्मचारीके लिये निषिद्ध है। दूसरा—ब्राह्ममुहूर्त में उठकर शौचादिसे निवृत्त हो प्रातःसन्ध्या और देवता ऋषि एवं पितरोंका तर्पण करना चाहिये। सन्ध्याके साथ साथ गुरुकी आज्ञानुसार कुछ कुछ पूजा, प्राणायाम मुद्रा आदि भी करना चाहिये। प्राणायाम मुद्राओंके करनेसे चित्त शान्त और एकाग्र होगा, आयु भी सतेज रहेगे जिससे ब्रह्मचर्य्यकी रक्षा और शारीरिक नीरोगता रहेगी। पूजा करनेसे मानसिक उन्नति तथा भक्ति बढेगी। मनको संयत रखनेके लिये सदा ही ब्रह्मचारीको यत्न करना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें कहा है कि:—'असङ्कल्पाज्जयेत्कामम्' असङ्कल्पसे काम को जीतना चाहिये। कभी कामका संकल्प चित्तमें उदय हो उसी वक्त चित्तको उससे हटाकर और चिन्ता या शास्त्र-पाठमें लगाना चाहिये। तीसरा—ब्रह्मचर्य्यकी रक्षाके लिये बुद्धिकी भी सहायता लेनी चाहिये। बुद्धिके द्वारा विचार करके सत्यासत्य निर्णय करना चाहिये। संसारमे त्यागका सात्त्विक सुख भोगके राजसिक सुखसे कितना उत्तम है, विषयसुखके अन्तमें किस प्रकार परिणामदुःख मनुष्यके चित्तको दुःखी करता है, इन्द्रियोंके साथ विषयका सम्बन्ध पहिले मधुर होने पर भी परिणाममें किस प्रकार अत्यन्त दुःख उत्पन्न करके सब सुखको मिट्टीमें

मिला देता है और निवृत्तिका आनन्द किस प्रकार मनुष्यके लिये प्रवृत्तिसे उत्तम व नित्यानन्दमय है, इन बातोंका विचार सदा ही ब्रह्मचारीको हृदयमें धारण करके अपने व्रतके पालनमें पूर्ण होना चाहिये। महाभारतमें लिखा है कि:—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णा क्षयसुखस्यैते नाऽर्हतः षोडशी कलाम्॥

संसारमें जो कामसुख या स्वर्गमें जो महान् दिव्यसुख है, ये कोई भी सुख वासनानाशसुखके सोलह अंशमेंसे एक अंश भी सुख देनेवाले नहीं हैं। भगवान्‌ने गीतामें भी आज्ञा की है कि:—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय! न तेषु रमते बुधः॥

विषयके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध होनेसे जो कुछ सुख होता है वह दुःखका ही उत्पन्न करनेवाला है। विषयसुख आदि अन्तसे युक्त है अतः विचारवान् पुरुषको विषयसुखमें फँसना नहीं चाहिये। श्रीभगवान्‌की इस आज्ञाको हृदयमें धारण करके ब्रह्मचारीको सदा ही संयत होना चाहिये।

ब्रह्मचर्य्य दो प्रकारका है। यथा—नैष्ठिक और उपकुर्व्वाण। नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिये गृहस्थाश्रमकी आज्ञा नहीं है, आजन्म ब्रह्मचर्य्य रखनेकी आज्ञा है। यदि शिष्यका अधिकार इस प्रकार उन्नत होवे तो गुरु उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनावे। श्रुतिमें नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिये सन्यासकी आज्ञा लिखी है। यथा—जाबालश्रुतिमें:—

ब्रह्मचर्य्यं परिसमाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्।
वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेद्
गृहाद्वा वनाद्वा। यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्॥

ब्रह्मचर्य्य-आश्रम समाप्त करके गृही होवे। गृहस्थाश्रमके बाद वानप्रस्थ होवे। वानप्रस्थाश्रमके बाद संन्यास लेवे। अथवा ब्रह्मचर्य्याश्रमसे ही संन्यास आश्रम ग्रहण करे या गृहस्थ या वानप्रस्थ आश्रमसे संन्यास लेवे। वैराग्यका उदय होते ही संन्यास लेवे। इस प्रकारसे श्रुतिने वैराग्यवान् नैष्ठिक ब्रह्मचारीके लिये संन्यासकी आज्ञा दी है। इस प्रकारकी आज्ञा

प्रारब्धवान् उत्तम अधिकारीके लिये है। जिसका इस प्रकारके नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्यमें अधिकार नहीं है उसके लिये मनुजीने उपकुर्व्वाण ब्रह्मचर्य्यकी आज्ञा की है। ऐसे ब्रह्मचारी गुरुके आश्रममें कुछ वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य धारण पूर्व्वक विद्याभ्यास करनेके बाद गुरुको यथाशक्ति दक्षिणा देवें और उनकी आज्ञा लेकर व्रतसमाप्तिका स्नान करके गृहस्थाश्रम ग्रहण करे। यथा—मनुसंहितामें :—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्द्धिकं पादिकं वा ग्रहणाऽन्तिकमेव वा॥
वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्य्यो गृहस्थाऽऽश्रममावसेत्॥ (३ य अध्याय)

ब्रह्मचारी तीन वेद समाप्त करनेके लिये गुरुके आश्रममें ब्रह्मचर्य्य धारणपूर्व्वक ३६ छत्तीस वर्ष, १८ अट्ठारह वर्ष या ९ नौ वर्ष तक निवास करें अथवा निज शाखा-अध्ययनके अनन्तर वेदकी तीन शाखा, दो शाखा, या एक शाखा मन्त्रब्राह्मणक्रमानुसार अध्ययन करके अस्खलित ब्रह्मचर्य्यके साथ गृहस्थाश्रममें प्रवेश करें। और भी :—

गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्य्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥

गुरुकी आज्ञासे यथाविधि व्रतस्नान समावर्त्तन करके द्विज सुलक्षणा सवर्णा कन्याका पाणिग्रहण करे। विवाहसंस्कार गृहस्थाश्रमका सर्व्वप्रधान संस्कार है। इसके तीन उद्देश्य हैं। अनर्गल प्रवृत्तिका निरोध, पुत्रोत्पादन द्वारा वंशकी रक्षा और भगवत्प्रेमका अभ्यास।

मनुष्य योनि प्राप्त करके जीवके स्वतन्त्र होनेसे इन्द्रियलालसा अत्यन्त बढ़ जाती है। प्रत्येक पुरुषके चित्तमें सभी स्त्रियोंके लिये और प्रत्येक स्त्रीके चित्तमे सभी पुरुषोंके लिये भोगभाव प्राकृतिकरूपसे विद्यमान है। उसीका सङ्कोच करके एक पुरुष और एक स्त्रीके परस्परमें प्रवृत्तिको बाँधकर धर्म्मके आश्रयसे, भावशुद्धिसे तथा बहुत प्रकारके नियमोंसे उस प्रवृत्तिको भी धीरे धीरे घटाकर अन्तमें महाफला निवृत्तिमें ही मनुष्यको लेजाना विवाहका प्रथम उद्देश्य है।

विवाहका दूसरा उद्देश्य प्रजोत्पत्ति द्वारा वंशरक्षा और पितृ-ऋण शोध करना है। श्रुतिमें लिखा है कि:—

प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।

पितामह, पिता, पुत्र, पौत्र आदि परम्परासे प्रजाका सूत्र अटूट रखना चाहिये। मनुजीने कहा है कि:—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः॥
अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्म्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥

ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण तीनों ऋणोंको शोध करके मोक्षमे चित्तको लगाना चाहिये। ऋणत्रयसे मुक्त न होकर मोक्षधर्म्मका आश्रय लेनेसे पतन होता है। स्वाध्याय द्वारा ऋषि-ऋण, पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृ-ऋण और यज्ञसाधन द्वारा देव-ऋणसे गृहस्थ मुक्त होते हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचारीके सब ऋण ज्ञानयज्ञमें लय होते हैं। उसको उक्त प्रकारसे ऋणत्रयसे मुक्त नही होना पड़ता है, परन्तु गृहस्थके लिये पितृ-ऋणादि शोध करनेके लिये पुत्रोत्पादनादि धर्म्म है।

ऊपरलिखित विवाहके उद्देश्योंकी पूर्णताके लिये पाणिग्रहण बहुत विचार-पूर्वक होना चाहिये। अन्यथा, संसारमें अशान्ति, दाम्पत्यप्रेमका अभाव और अधम सन्तानकी सम्भावना रहती है। अतः विवाहसंस्कारके विषयमें नीचे लिखी हुई बातें ध्यान रखने योग्य हैं:—

(१) परस्पर विभिन्न रूप और गुणवाले दम्पतिके मेलसे न दाम्पत्य प्रेम होता है और न अच्छी सन्तानोत्पत्ति होती है।

(२) स्त्री पुरुषमें प्रेमकी पूर्णता न होनेसे अच्छी सन्तान नही होती है।

(३) कन्या सुलक्षणा न होनेसे संसारका अकल्याण होता है।

(४) पिता माताका शारीरिक, मानसिक दोष गुण और रोग सन्तानको स्पर्श करता है।

(५) वर कन्यामें एक भी अङ्गका दोष नहीं रहना चाहिये, उससे सन्तान खराब होती है। शारीरिक और मानसिक गुणोंके मेलसे सन्तान अच्छी होती है।

(६) कन्याकी उमर पुरुषसे कम होनी चाहिये, नहीं ता पुरुषका पुरुषत्वनाश, कठिन रोग तथा अकालमृत्यु होती है और सन्तान भी रोगी तथा दुर्ब्बल होती है।

महर्षि याज्ञवल्क्यने लिखा है कि :—

अविप्लुतब्रह्मचर्य्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।
अनन्यपूर्व्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्॥

गृहस्थ होनेके लिये अनुरूपा, भिन्नगोत्रीया, अपनेसे अल्पवयस्का व पहले किसीके साथ अविवाहिता कन्याका पाणिग्रहण करे। मनुसहितामे लिखा है कि:-

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्म्मणि मैथुने॥
महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाऽविधनधान्यतः।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्ज्जयेत्॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षय्यामयाव्यपस्मारि-श्वित्रि-कुष्ठिकुलानि च॥
नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाऽधिकाङ्गीं न रोगिणीम्।
नाऽलोमिकां नाऽतिलोमां न वाचालां न पिङ्गलाम्॥
अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम्॥
यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत यत्पिता।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाऽधर्म्मशङ्कया॥

जो कन्या माताकी सपिण्डा और पिताकी सगोत्रा नही है, वही विवाह-कार्य्य व संसर्गके लिये प्रशस्ता है। गो, छाग, मेष व धन धान्यसे समृद्धि-सम्पन्न होनेपर भी स्त्रीग्रहणके विषयमे दश कुल त्याज्य है। जिस कुलमें नीच क्रिया होती है, जिसमें पुरुष उत्पन्न नही होते है, जिसमे वेदाध्ययन नहीं है, जिसमें लोग बहुत रोमयुक्त है और जिस कुलमें अर्श, क्षय, मन्दाग्नि, अपस्मार, श्वित्र और कुष्ठरोग है उस कुलमे विवाहसम्बन्ध नही करना चाहिये। जिस कन्याके केश पिङ्गल वर्ण है, छः अगुलि आदि अधिक अङ्ग हैं, जो चिररुग्णा,

रोमहीना या अधिक रोमवाली, अधिक वाचाल व जिसके चक्षु पिङ्गलवर्ण हैं, ऐसी कन्यासे विवाह नहीं करना चाहिये। जिसके किसी अङ्गमें विकार नहीं है, सौम्य नामवाली, हंस या गजकी तरह चलनेवाली, सूक्ष्म रोम केश व दन्तवाली और कोमलाङ्गी कन्यासे विवाह करना चाहिये। जिसका भ्राता नहीं है और पिताका वृत्तान्त भी ठीक नहीं मिलता है ऐसी कन्यासे पुत्रिका प्रसव करनेकी व अधर्म्मकी आशङ्काके कारण विवाह नहीं करना चाहिये। कन्याकी तरह वरका भी लक्षण देखना कन्याके पिता-माताका अवश्य कर्त्तव्य है। रूप, गुण, कुल, शील, स्वास्थ्य, विद्वत्ता, नीरोगिता, सच्चरित्रता, ब्रह्मचर्य्य, मर्य्यादा, सुलक्षण, दीर्घायुः, नम्रता, सत्याचार, आस्तिकता, धर्म्म-भीरुता आदि पुरुषके जितने गुण होने चाहिये उन सबको अवश्य ही कन्याके पिता-माता देख लेवें।

वर कन्याके निर्व्वाचनमें वर कन्या या अध्यापककी अपेक्षा पिता-मातापर निर्भर करना उत्तम विवाह और भविष्यत्में गृहस्थाश्रमकी शान्तिके लिये अधिक हितकर होगा। अध्यापकसे इतनी आशा ही नहीं की जा सकती है कि वे पिता-माताकी तरह हार्दिकभावसे इतनी जांच करेंगे। जिनको वर वधूको लेकर जीवन-यात्रा निर्व्वाह करना है, ऐसे माता-पिता ही हृदयके साथ इसमें यत्न कर सकते हैं। द्वितीयतः वर कन्याके ऊपर इसका भार छोड़ना तो सम्पूर्ण ही अविचारका काम है। विचार व दूरदर्शिता वृद्धत्वके साथ सम्बन्ध रखती है, युवावस्थाके साथ नहीं। युवावस्थामें मानसिक वृत्ति वलवती होनेसे प्रायः विचार दब जाया करते हैं और खास करके जहां इन्द्रियसुख या कामका सम्बन्ध हो, वहां तो ज्ञान और विचारका सम्बन्ध ही नहीं रहता है। अतः वर और कन्यासे इस दूरदर्शिताकी आशा कभी नहीं की जा सकती है। पिता-माताका ही कर्त्तव्य है कि पुत्र कन्याकी भविष्यत् शुभ कामनासे लक्षणोंको ठीक ठीक जाँचकर विवाहसंस्कार करें। और जो विवाह इस प्रकार उभय पक्षके पिता-माताके द्वारा सम्पादित होता है वही विवाह सब प्रकारसे श्रेष्ठ है इसमें सदेह ही नहीं। और यह भी बात सत्य है कि हिन्दूशास्त्रमें कन्याका दान होता है, देय वस्तुके देनेमें दाताका ही अधिकार है अन्य किसीका अधिकार नहीं है।

इस विषयमें कतिपय पश्चिमी विद्वानोंने भी अच्छा विचार प्रकट किया है। यथा फ्रेड्रिक पिन्कट् की सम्मति है:—

In England we are prepared to think it a shocking thing that parents would give their children in marriage to whomsoever they please. Our feelings are due to our own habits. In India the parental choice is regarded as necessary and as a grave responsibility; a father will hamper his future life with pecuniary liabilities in order to secure a suitable husband for his daughter. This is sufficient to prove that marriage is not, in India, the frivolous thing it has been in the West. By the Hindu system every girl has a natural guardian, who is solemnly bound to see her properly married, at any expenditure of trouble and money. The absence of self-choice in India obviates the fluttering uncertainty under which English girls live; it imparts to marriage a sense of destiny which has a beneficial effect on the after-life. A boy and a girl in India, grow up to the knowledge that they are destined for each other and from their earliest years they have to adapt themselves to their future condition.

पिता-माता जिसके साथ चाहेंगे अपने लड़के लड़कीका विवाह कर देंगे, यह बात इङ्गलैण्डनिवासी हम लोगोंको बड़ी ही भयानक मालूम पड़ती है। किन्तु ऐसा भाव अपने अभ्यासके कारण हमें होता है। भारतवर्षमे पिता-माताके लिये यह बहुत ही आवश्यक तथा दायित्वपूर्ण कार्य है कि वे अपनी कन्याको योग्य वरके हाथमें सौंप देवें और इस दायित्वको पूरा करनेके लिये पिता-माता अर्थ-क्लेश आदि कितने ही क्लेशोंको सहन करते हैं। इसीसे प्रमाणित होता है कि भारतवर्षमें पश्चिमदेशकी तरह विवाह कोई नगण्य मामूली वस्तु नही है, हिन्दु सामाजिक विधिके अनुसार प्रत्येक कन्याके नैसर्गिक रक्षक उनके पिता-माता है, जिनका धार्मिक अवश्य कर्त्तव्य है कि कितना ही क्लेश या अर्थ-क्लेश क्यों न सहना पड़े अपनी लड़कीको सुपात्रमें प्रदान करें। इस प्रकारसे स्वयं वर ढूंढ़नेकी आवश्यकता नष्ट होने पर विवाहके विषयमें अनिश्चित भाव जो कि

पश्चिमी लड़कियोंमें है वह भी नष्ट हो जाता है। इस विधिमें विवाह संस्कारके साथ 'अदृष्ट' का सम्बन्ध मिल जाता है, जिसका फल भविष्यत् जीवनमें बहुत ही उत्तम होता है। भारतके वरवधू विवाह संस्कारके समयसे ही यह समझने लगते हैं कि पूर्वकर्मानुसार उनका संयोग हुआ है और उसी धर्मसम्बन्धको अटूट रखनेके लिये वे पहिलेसे ही प्रयत्न करने लग जाते हैं।

हमारे शास्त्रोंमें विवाह आठ प्रकारके लिखे हैं। मनुसंहितामें लिखा है कि:—

ब्राह्मो दैवस्तथैवाऽऽर्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाऽष्टमोऽधमः॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच ये आठ तरहके विवाह हैं। इन आठ प्रकारके विवाहोंके लक्षणोंके विषयमें मनुजीने कहा है कि कन्याको वस्त्र अलङ्कार आदिसे सज्जित करके विद्या और शीलवान् वरको बुलाकर जो कन्यादान किया जाता है उसको ब्राह्मविवाह कहते हैं। ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंके होनेपर उस यज्ञमें कर्म्मकर्त्ता ऋत्विक्को अलङ्कारादि द्वारा सज्जिता कन्याका दान दैवविवाह है। यज्ञादि धर्म्मकार्य्यके लिये एक या दो जोड़ा बैल या गौ लेकर विधिपूर्व्वक कन्यादान करनेको आर्षविवाह कहते हैं। "तुम दोनों मिलकर गृहस्थधर्म्मका आचरण करना" इस प्रकार कहकर विधिके साथ वरकी पूजा करके कन्यादानका नाम प्राजापत्य विवाह है। स्वेच्छासे कन्याके कुटुम्बियोंको वा कन्याको धन देकर जो कन्याग्रहण करे उसे आसुरविवाह कहते हैं। कन्या और वर दोनोंका परस्परके अनुरागसे जो संयोग है उसको गान्धर्व्वविवाह कहते हैं, यह विवाह काममूलक है, परन्तु इसमें होम आदिके द्वारा पीछे शास्त्रीयसंस्कार हुआ करता है। कन्याके पक्षके लोगोंको मारकर, काटकर और उनका घर तोड़कर रोती हुई और किसी रक्षकको पुकारती हुई कन्याको बलपूर्व्वक हरण करके जो विवाह किया जाता है उसको राक्षसविवाह कहते हैं। निद्रिता, मद्यपानसे विह्वला अथवा और तरहसे उन्मत्ता स्त्रीके साथ एकान्तमें सम्बन्ध करके जो विवाह होता है वह अधम और पापजनक विवाह पैशाचविवाह कहा जाता है। इनमेंसे प्रथम चार विवाहोंकी प्रशंसा शास्त्रमें की गई है और बाकी चार विवाहोंकी निन्दा की गई है। यथा मनुसंहितामें लिखा है कि:—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवाऽनुपूर्व्वशः।
ब्रह्मवर्च्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः॥
रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः।
पर्य्याप्तभोगा धर्म्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः॥
इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसाऽनृतवादिनः।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्म्मद्विषः सुताः॥
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्ज्जयेत्॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य इन चार विवाहोंसे जो सन्तान उत्पन्न होती हैं वे ब्रह्मतेजसे युक्त और शिष्टप्रिय होती है। ऐसी सन्तान सुन्दर स्वरूप, सात्त्विक, धनवान्, यशस्वी, पर्य्याप्तभोगवान् और धार्म्मिक होकर शतवर्ष तक जीवित रहती है और बाकी चार प्रकारके विवाह अर्थात् आसुर, गान्धर्व्व, राक्षस और पैशाच विवाहोंसे क्रूर, मिथ्यावादी, धर्म्म और वेदके विद्वेषी पुत्र उत्पन्न होते है। अनिन्दित स्त्रीविवाहसे अनिन्दित सन्तान और निन्दित स्त्रीविवाहसे निन्दित सन्तान उत्पन्न होती है इसलिये निन्दित विवाहको त्याग देना चाहिये।

शास्त्रोंमें धन लेकर कन्यादानकी बड़ी निन्दा की गई है। यथा मनुसंहितामें लिखा है कि:—

न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि।
गृह्णन् शुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी॥
स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः।
नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम्॥

विचारशील पिता कन्यादान करनेके लिये सामान्य भी धन वरपक्षसे न लेवे, क्योंकि लोभसे धन लेलेनेपर अपत्यविक्रयका पाप होता है। पिता आदि आत्मीयगण मोहके कारण स्त्री-धन उसकी दासी वाहन या वस्त्रादि जो कुछ लेते हैं वा जो कुछ भोग करते है उससे उनकी अधोगति होती है। किसी किसीने गोवध और अपत्य-विक्रय, दोनोंका ही समान पाप कहा है। आर्षविवाहमें

जो गोमिथुन लिया जाता है उसको शुल्क नहीं कहना चाहिये, क्योंकि वह धर्म्मकार्य्यार्थ लिया जाता है, भोगार्थ नहीं लिया जाता है। और ऐसी ही मनुजीकी सम्मति है कि धर्म्मकार्य्यार्थ यज्ञादिके लिये वह लिया जाता है। वरपक्षके लोग स्वेच्छासे प्रीतिके साथ कन्याको कुछ धन देवें, यदि कन्याका पिता उस धनको न लेकर कन्याको देदे तो उसको भी कन्याविक्रय नहीं कहना चाहिये, क्योंकि वह एक प्रकारका उपहारमात्र है। स्त्रीजातिकी पूजाके लिये शास्त्रोंमें आज्ञा भी है। यथा—मनुसंहितामें लिखा है कि :—

यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्व्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः॥

जिस कुलमें स्त्रियोंका समादर है वहां देवता प्रसन्न रहते हैं और जहां ऐसा नहीं है उस परिवारमें समस्त योगादि क्रिया वृथा होती है।

कन्याविक्रयकी तरह पुत्रके विवाहमें भी कन्याके माता-पितासे दवाकर धन लेना एक प्रकारका पुत्रविक्रय है। कन्याके पिताका यह कर्त्तव्य है कि कन्याको कुछ अलङ्कारादि देकर वरके हाथमें समर्पण करे, क्योंकि पुत्रकी तरह कन्याका भी अधिकार पिताके धनपर है और यह अधिकार प्राकृतिक है। अलङ्कारादिके द्वारा उस प्रकृतिकी पूजा करनी चाहिये, अर्थात् उस प्रकृतिसिद्ध अधिकारका पालन करना चाहिये। परन्तु पूजा भी अपनी शक्ति और अपने अधिकारके अनुसार हुआ करती है इसलिये वरके पिताको कन्याके पितासे उसकी शक्तिके अतिरिक्त दवाकर धन कभी नहीं लेना चाहिये। कन्या सुन्दरी है, उसका स्वभाव नम्र है, उसके पिता धर्म्मशील और उसकी माता धर्म्मपरायणा है इत्यादि बातोंका विचार पहले करना चाहिये। यदि ये सब बातें ठीक ठीक मिल जायें तो कन्यारत्नको अवश्य ही ग्रहण करलेना चाहिये। इतना होनेपर भी धनके लिये पीड़न करना नीचता और पाप है। इसी पापसे भारतके बहुतसे समाजोंका आजकल अधःपतन होरहा है। पुत्रका भावी सुख और वंशकी उन्नतिपर पिताका लक्ष्य होना चाहिये। अर्थलोभसे कुटुम्बमें विरोध और अशान्ति उत्पन्न करना अधर्म्म और अविचारका कार्य्य है। सामाजिक नेताओंकी दृष्टि इसपर अवश्य आकृष्ट होनी चाहिये।

विवाहसंस्कारके बाद दाम्पत्यप्रेमके साथ पति-पत्नीको संसार चलाते रहना चाहिये। इसके लिये मन्वादि शास्त्रोंमें बहुत कुछ कर्त्तव्योंका निर्णय

किया गया है। विवाहका मुख्य उद्देश्य प्रजाकी उत्पत्ति करना है इसलिये शास्त्रके अनुकूल गर्भाधान संस्कारके अनुसार सन्तानोत्पत्ति करना चाहिये। इस विषयमे मनुजीने कहा है कि :—

ऋतुकालाऽभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा।

एकपत्नीव्रत होकर ऋतुकालमें अपनी स्त्रीसे गर्भाधान करना चाहिये। और भी लिखा है कि :—

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्द्धमहोभिः सद्विगर्हितैः॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः॥
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।
तस्माद्युग्मासु पुत्राऽर्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियम्॥
पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।
समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्य्ययः॥
निन्द्यास्वष्टासु चाऽन्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राऽश्रमे वसन्॥

पहली चार रात्रि सहित स्त्रियोंका स्वाभाविक ऋतुकाल १६ सोलह रात्रियां हैं। इनमें पहली चार रात्रियां, एकादश और त्रयोदश रात्रियां ये ६ निषिद्ध है, बाकी १० दस रात्रियां स्त्रीगमनके लिये प्रशस्त हैं। इन दसोंमेंसे भी छठी आठवी दसवी आदि युग्म रात्रियोंमें गर्भ होनेपर पुत्र होता है और पांचवी सातवी नवी आदि अयुग्म रात्रियोंमें गर्भाधान करनेसे कन्या होती है इसलिये पुत्रके लिये ऋतुकालकी युग्म रात्रियोंमे ही गमनका विधान किया गया है। अयुग्म रात्रि होनेपर भी पुरुषका वीर्य्य अधिक होने पर पुत्र उत्पन्न होता है और युग्म रात्रि होने पर भी रजके आधिक्य होनेसे कन्या उत्पन्न होती है। और दोनोंके समान होनेसे क्लीव अथवा यमज कन्या-पुत्र उत्पन्न होते हैं। और यदि दोनोंके ही रजवीर्य्य असार हों तो गर्भ ही नहीं होता है। इस प्रकार निन्दित छः रात्रि और अनिन्दित दस रात्रियोंमेंसे कोई

भी आठ रात्रियां अर्थात् कुल १४ चौदह रात्रियोंमें सम्बन्ध त्याग करके बाकी दो रात्रियोंमें जिनमें कोई पर्व्व न हो, जो पुरुष स्त्री गमन करते हैं वे आश्रममें रहने पर भी ब्रह्मचारी ही बने रहते हैं। पूर्णिमा, अमावस्या, चतुर्दशी, अष्टमी और संक्रान्तिको पर्व्वदिन कहा जाता है इस लिये इन दिनोंमें भी स्त्री सम्बन्ध करना मना है। दिनमे ससर्ग अत्यन्त दोषयुक्त है। यथा प्रश्नोपनिषद्मे—

प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति
ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ॥

दिनमें रतिके द्वारा प्राणमे हानि होती है। सन्ध्याकालमे भी ससर्ग नही करना चाहिये। यमसहितामें लिखा है कि :—

चत्वारि खलु कर्म्माणि सन्ध्याकाले विवर्जयेत्।
आहारं मैथुनं निद्रां स्वाध्यायञ्च चतुर्थकम् ॥

सन्ध्याकालमें आहार, मैथुन, नीद और स्वाध्याय, ये नही करने चाहिये। इसी प्रकार प्रातःकालके समयमें भी ससर्ग प्राणान्तकर है। ऋतुकालकी तो बात ही क्या कहना है, ऋतुकालमें संसर्ग सर्व्वथा त्याग करना उचित है उससे स्त्री पुरुष दोनोको ही कठिन पीड़ा, आध्यात्मिक अवनति और प्राणनाश होता है। रजःसंयमका काल साधारणतः चार दिन होने पर भी स्वास्थ्यके व्यतिक्रमसे और अधिक भी हो सकता है। इसलिये नियम होना चाहिये कि जबतक रजःसंयम न हो तबतक ससर्ग न हो। उदरमें आहार्य्य द्रव्य अपक्व रहते स्त्री पुरुषका सयोग नहीं होना चाहिये। स्त्री अथवा पुरुष किसीके शरीरमें किसी प्रकारकी ग्लानि रहने पर भी स्त्रीसंयोग होना निषिद्ध है। गर्भिणी स्त्रीके साथ सम्बन्ध या रजोदर्शनसे पहले सम्बन्ध महा पाप है। गर्भिणी स्त्रीके चित्तमें किसी प्रकारके कामभावके उत्पन्न होनेसे गर्भस्थ सन्तान कामुक व खराब होती है इसलिये हिन्दुशास्त्रमें उस दशामें पुरुषका सम्बन्ध निषेध किया गया है और बहुत प्रकारके सस्कार तथा धर्म्मभाव बढ़ानेकी आज्ञा की है। और स्त्रीसम्बन्ध जब सन्तानके लिये है तो उस समय अर्थात् गर्भके समयमें सम्बन्ध वृथा है। किसी किसी निरकुश व्यक्तिकी सम्मति है कि स्त्रीसम्बन्धसे निवृत्त रहने पर पुरुषको रोग हो जाता है यह सम्पूर्ण मिथ्या है। भीष्मदेवने ब्रह्मचर्य्यसे इच्छामृत्यु लाभ किया था, बीमार नहीं होगये थे। अवश्य चित्तमें कामभाव रहनेसे उसके दमन

करनेकी इच्छा न करके जो लोग मानसमैथुन किया करते है उनको रोग हो सकता है परन्तु संयमी ब्रह्मचारी वीर्य्यके बलसे सकल प्रकारकी उन्नति कर सकते हैं क्योंकि उनका शरीर नीरोग और दृढ़ होता है, उनमें द्वन्द्वसहिष्णुता और परिश्रम करनेकी शक्ति बढ़ती है, आयु और मस्तिष्ककी शक्ति, चित्तकी एकाग्रता और मानसिक शक्ति बढ़ती है, उनको रोग नहीं होता है।

सकल परिवार ही एक राज्यकी तरह है। जिस प्रकार राजाकी योग्यता और न्यायपरताके बलसे राज्यमें शान्ति रहती है उसी प्रकार परिवारकी भी शान्ति और उन्नति गृहकर्त्ता और गृहकर्त्रीकी न्यायपरतापर निर्भर करती है। परिवारोंके बीचमें वैमनस्य, लड़ाई व वाग्वितण्डा आदि अशान्तिकर विषय जिससे न होसकें इस विषयमें कर्त्ता व कर्त्रीको सदा ही सावधान रहना चाहिये और कभी हो भी जाय तो निष्पक्षविचारसे शीघ्र ही शान्त कर देना चाहिये। परिवाररूपी छोटा राज्य समाजरूपी बृहद्राज्यके अन्तर्गत है इसलिये सामाजिक शान्ति व उन्नतिके साथ प्रत्येक परिवारकी शान्ति व उन्नतिका सम्बन्ध है। प्रत्येक गृहस्थका कर्त्तव्य है कि सामाजिक अनुशासनको मानकर चले, उसकी कदापि अवज्ञा न करे अधिकन्तु सामाजिक उन्नतिके लिये अपना स्वार्थ त्याग भी करे। ज्ञाति और कुटुम्बको अपने गौरवका अंशभागी करके उनके साथ सदा ही प्रेमके साथ मेल रखना चाहिये। प्रत्येक सार्व्वजनिक कार्य्यमें उनके परामर्श लेने चाहिये। उनकी उन्नतिमें ईर्ष्यालु न होकर अपनेको सुखी व गौरवान्वित समझना चाहिये। अपनी उन्नतिके साथ साथ सन्तानोंकी उन्नति व सत्‌शिक्षाके लिये पिता-माताको सदा ही सचेष्ट रहना चाहिये। स्मरण रहे कि पिता-माता जिस संसारमें आदर्श चरित्र हैं उसमें सन्तान भी अच्छी होती है। गर्भाधानसंस्कार ठीक ठीक शास्त्रानुकूल होनेसे धर्म्मपुत्र उत्पन्न होता है और कामज सन्तति नही होती है क्योंकि गर्भाधानके समय दम्पतिके चित्तका जैसा भाव होता है उसीके ही अनुरूप पुत्रका भी चित्त होता है। सात्त्विक भावसे उत्पन्न पुत्र सात्त्विक होता है। अत्यन्त पशुभावके द्वारा उन्मत्त होकर सन्तान उत्पन्न करनेसे सन्तान भी तामसिक होती है। दुर्ब्बल शरीर, दुर्ब्बल चेता और कामुक पुत्र जो कि आजकल देखनेमें आते हैं इसका कारण गर्भाधानसंस्कारका विगड़ जाना ही है। पिता-माताको इन बातोंका विचार अवश्य रहना चाहिये, नहीं तो कुसन्तान उत्पन्न होकर उन्हींको

दुःख देगी और वंशमर्य्यादाको नष्ट करेगी। दूसरी बात विचार रखनेकी यह है कि सन्तानकी सकल प्रकारकी उन्नतिके लिये माता पिताको आदर्श चरित्र होना चाहिये। गृहस्थाश्रममें सन्तान होना विशेष सौभाग्यकी बात है क्योंकि पुत्र माता-पिताका नरकसे त्राण करता है यह जो शास्त्रमें कहा गया है इसकी चरितार्थता इहलोक परलोक दोनोंमें ही देखनेमें आती है। श्राद्ध तर्प्पण आदि द्वारा पुत्र परलोकमें शान्ति व उन्नति तो माता पिताकी करते ही हैं, अधिकन्तु मायामय संसारमें बद्ध पिता-माताकी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये इहलोकमे भी पुत्र निमित्तरूप होते है। जीवभाव स्वार्थमूलक है। सन्तान होनेसे पिता-माताके इस स्वार्थमे बहुतही सङ्कोच हुआ करता है। सन्तानके सुखके लिये पिता माता अपनी सुखेच्छा तथा स्वार्थबुद्धिको तिलाञ्जलि देते है इससे उनकी उन्नति होती है। शास्त्रौमे कहा है कि:—

सर्व्वत्र विजयं हीच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्।

सर्व्वत्र विजय चाहने पर भी लोग अपने पुत्रसे पराजय चाहते हैं। अपने पुत्रको अपनेसे भी गुणवान् देखनेकी इच्छा पिता-माताकी हुआ करती है। यह भाव अहङ्कारका नाश करके गृहस्थकी आध्यात्मिक उन्नति करता है। अपने चालचलनमें खराबी होनेसे पुत्र भी बिगड़ जायगा और अपने-में मितव्ययिता सदाचार स्वास्थ्यरक्षा प्रवृत्ति आदि गुण न होनेसे पुत्र भी अमितव्ययी कदाचारी व रोगी होगा, ये सब भाव माता-पिताको सच्चरित्र मितव्ययी सदाचारी तथा नीरोग बननेमें सहायता करते हैं। इस प्रकारसे सन्तान इहलोकमें भी पिता-माताके नरकत्राणमे निमित्तरूप होती है। प्रत्येक गृहस्थ पिता-माताका कर्त्तव्य है कि अपनी सन्तानके सामने ये ही सब आदर्श रक्खें जिनसे अपनी उन्नतिके साथ साथ सन्तानकी भी उन्नति हो और दिन पर दिन वंशगौरवकी प्रतिष्ठा हो। सन्तानके शिक्षाविषयमें पिता-माताको ध्यान रखना चाहिये कि शिक्षा पूर्व्व संस्कारोंके अनुकूल होनेसे ही ठीक ठीक उन्नति हो सकती है। शास्त्रोंमे लिखा है कि:—

पूर्व्वजन्माऽर्ज्जिता विद्या पूर्व्वजन्माऽर्ज्जितं धनम्।
पूर्व्वजन्माऽर्ज्जितं पुण्यमग्रे धावति धावति॥

पूर्व्वजन्ममें अर्ज्जित विद्या, धन व पुण्योंके संस्कारानुकूल ही इस जन्ममें उन वस्तुओंकी प्राप्ति होती है। इसलिये विद्या वही पढ़ानी चाहिये

जिसका संस्कार सन्तानमें पूर्व्वजन्मसे है। आजकल कई माता-पिता अपनी ही इच्छा तथा संस्कारके अनुसार पुत्रको शिक्षा देना चाहते हैं, ऐसा करना ठीक नही है। अवश्य, पुत्रका संस्कार पिता माताके संस्कारके अनुकूल ही बहुधा पाया जाता है, परन्तु सब विषयोंमें ऐसा नही भी होता है। इस विषय पर लक्ष्य रखकर पुत्रकी शिक्षा, खासकरके उसकी व्यावहारिक शिक्षा होनी चाहिये। उसका संस्कार जिस विद्या या विभागके सीखनेका हो उसे वही पढ़ना चाहिये और साथ ही साथ आदर्शचरित्र व धार्मिक होकर पिताको पुत्रके लिये धार्म्मिक शिक्षाका प्रबन्ध करना चाहिये जिससे बालकपनसे उसके चित्तमें धर्म्मसंस्कार जम जायँ। ऐसा होनेपर भविष्यत्में सन्तान सच्चरित्र, धार्म्मिक, गुणवान् और विद्यावान् अवश्य होगी। यही गृहस्थाश्रमका धर्म्म संक्षेपसे बताया गया, इसके ठीक ठीक अनुष्ठानसे गृहस्थ देव, ऋषि और पितरोंके ऋणसे मुक्त होकर तृतीय अर्थात् वानप्रस्थाश्रमके अधिकारी अनायास ही हो सकते है।

अब वानप्रस्थाश्रमधर्म्मका वर्णन किया जाता है। मनुसंहितामें लिखा है कि:—

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चाऽपत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत्॥
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्व्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्य्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा॥

इस प्रकारसे स्नातक द्विज गृहस्थाश्रम-धर्मका पालन करके यथा विधि जितेन्द्रिय होकर वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण करे। गृहस्थ जब देखे कि, वार्द्धक्यका लक्षण हो रहा है और पुत्रका पुत्र होगया है तो उसी समय वानप्रस्थी होजाय। ग्रामके आहार परिच्छद परित्याग करके स्त्रीको पुत्रके पास रखकर अथवा स्त्रीके साथ ही वनमें जावे। ये सब आज्ञाएँ मनुजीने की हैं। पहिले ही कहा गया है कि प्रत्येक धर्म्मविधिके लक्ष्यको दृढ रखकर देशकाल पात्रके अनुसार विधिका नियोजन होनेसे ही यथार्थ फल मिल सकता है।

आजकल देश काल इस प्रकारका होगया है कि प्राचीन रीतिके अनुसार वानप्रस्थाश्रमविधिका पालन करना बहुत ही कठिन है और पात्रके विषयमें भी बहुत कठिनता होगई है क्योंकि वानप्रस्थमें जिस प्रकार तपस्या या व्रत आदि करनेकी आज्ञा शास्त्रमें पाई जाती है उन सब तपस्या या व्रतोंका आचरण कामज शरीरके द्वारा नहीं होसकता है इसलिये वनमें जाकर कठिन तपस्या, भृगुपतन, अग्निप्रवेश आदि करना असम्भव हो गया है। इन्हीं सब बातों पर विचार करके भगवान् शङ्कराचार्य्यने वानप्रस्थ व सन्यास दोनोंकी सहायताके अर्थ मठस्थ ब्रह्मचर्य्य-आश्रमकी नवीन विधिकी सृष्टि की थी। अतः देशकालपात्रानुसार लक्ष्यको स्थिर रखते हुए वानप्रस्थाश्रमका निवाहना ही विचार तथा शास्त्रसङ्गत होगा।

वानप्रस्थ-आश्रम निवृत्तिमार्गका द्वार है। पूर्व्वजन्मोंके कर्म्मोंके प्रभावसे कोई भाग्यशाली व्यक्ति कदाचित् यथार्थ संन्यासी बन सकते हैं, परन्तु ऐसे भाग्यशाली मनुष्य संसारमें बहुत ही कम होते हैं इस कारण वानप्रस्थाश्रमकी स्थापना किसी न किसी स्वरूपमें अवश्य होनी चाहिये। किसी प्राचीन तीर्थको अथवा किसी प्राचीन तीर्थके किसी भागको सत्सङ्ग व सच्चर्चाके द्वारा आदर्शस्थान बनाकर वहीं यदि निवृत्तिसेवी व्यक्ति अपनी अपनी आध्यात्मिक उन्नति व निवृत्तिमार्गमें जानेके विचारसे प्रतिज्ञा करके गुरु और शास्त्रके आश्रयसे उक्त आदर्शतीर्थमे वास करें और क्रमशः साधुसङ्ग, वैराग्यचर्चा, अध्यात्मशास्त्रोंका पठन पाठन और योगसाधनादि आध्यात्मिक उन्नतिकारी अनुष्ठानोंको करते हुए अपने जीवनको कृतकृत्य करे तो वे इस कराल कलियुगमें वानप्रस्थ-आश्रमका बहुतसा फल प्राप्त कर सकेंगे। और इस प्रकारसे ऐसे निवृत्तिसेवी भाग्यवान् तपस्वी क्रमशः अच्छे सन्यासी बन सकेंगे। और यदि वे कठिन सन्यासाश्रममें न भी पहुँचना चाहें तो भी अपनी बहुत कुछ आध्यात्मिक उन्नति कर सकेंगे एव जगत्का भी कल्याण कर सकेंगे।

उक्तप्रकारसे संयत होकर वानप्रस्थ-आश्रमका पालन करनेसे क्या गति होती है सो मुण्डकोपनिषद्में लिखा है। यथा :—

> तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये,
> शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्य्यां चरन्तः।
> सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति,
> यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥

भिक्षावृत्तिका आश्रय करके जो विद्वान् शान्तस्वभाव वानप्रस्थ, अरण्यमें निवास करते हुए तपस्या और श्रद्धाका सेवन करते हैं वे पुण्य पापसे मुक्त होकर उत्तरायण पथसे अमृत अव्यय पुरुषके लोकमें अर्थात् ब्रह्मलोकमें जाते हैं। यही वानप्रस्थाश्रमका संक्षेपसे रहस्य वर्णन किया गया। इसका अपने अपने अधिकार और देश कालसे मिलाकर अनुष्ठान करनेपर त्रिविध तप व संयमके द्वारा निवृत्तिभावका अभ्यास होगा जिससे द्विजगण चतुर्थाश्रमके अधिकारी बन सकेंगे।

अब संक्षेपसे चतुर्थ अर्थात् सन्यासाश्रमका कुछ वर्णन किया जाता है। मनुसंहितामें लिखा हैः—

वनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्॥
आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः।
भिक्षावलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्द्धते॥

इस प्रकारसे आयुका तृतीय भाग वानप्रस्थाश्रममें विता करके चतुर्थ भागमें निःसंग होकर संन्यास ग्रहण करे। एक आश्रमसे आश्रमान्तर ग्रहण करते हुए अग्निहोत्रादि होम समाप्त करके जितेन्द्रियताके साथ जब भिक्षा बलि आदि कर्मोंसे श्रान्त हो तब संन्यास ग्रहण करनेसे परलोकमें उन्नति होती है। यह संन्यासका साधारण क्रम है। असाधारण दशामें ब्रह्मचर्य्य-आश्रमसे ही प्रारब्धबलसे एकबारगी संन्यासाश्रम ग्रहण होता है जैसा कि पहिले कहा गया है। श्रुतिमें लिखा है कि :—

न कर्म्मणा न प्रजया धनेन
त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः।

सकाम कर्म, सन्तति या धन किसीसे भी अमृतत्वलाभ नहीं होता है, केवल त्यागसे ही अमृतलाभ होता है।

संन्यासाश्रममें निवृत्तिकी पूर्ण चरितार्थता होती है। जो महाफल निवृत्ति-व्रत ब्रह्मचर्य्याश्रममें प्रारम्भ हुआ था, सन्यासाश्रममें उस महाव्रतका उद्यापन होता है जिससे जीवको मोक्षरूप फलप्राप्ति होती है।

ब्रह्ममे अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये तीन भाव हैं, इसलिये कार्यब्रह्मरूपी इस संसारकी प्रत्येक वस्तुमें भी तीन भाव है अतः जीवमें भी तीन भाव है। इन तीनों भावोंकी शुद्धि व पूर्णता द्वारा ही साधक ब्रह्मरूप बन सकता है। निष्काम कर्मके द्वारा आधिभौतिक शुद्धि, उपासनाके द्वारा आधिदैविक शुद्धि और ज्ञानद्वारा आध्यात्मिक शुद्धि होती है। इसलिये सन्यासाश्रममे निष्काम कर्म, उपासना और ज्ञानका अनुष्ठान शास्त्रोंमें बताया गया है।

निष्काम कर्म्मके विषयमे श्रीगीतामें कहा है:—

अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाऽक्रियः॥
काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्व्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

कर्म्मफलकी इच्छा न करके जो कर्त्तव्य कर्म करता है वही संन्यासी व योगी है, निरग्नि व अक्रिय होनेसे ही सन्यासी नही होता है। काम्य कर्म्मोंका त्याग ही संन्यास है और सकल कर्म्मोंका फलत्याग ही त्याग है। कर्म्मत्याग त्याग नही। इसलिये निष्काम जगत्कल्याणकर कार्य्य सन्यासीका अवश्य कर्तव्य है। जीवभाव स्वार्थमूलक है। जबतक यह स्वार्थभाव नष्ट नहीं होता है तबतक जीव भाव भी नष्ट नही हो सकता है। निःस्वार्थ जगत्सेवा द्वारा स्वार्थबुद्धि नष्ट होकर जीवभावका नाश होता है तभी सन्यासी अपने लक्ष्यको प्राप्त कर सकते हैं। संन्यासी निष्काम कर्मद्वारा अपनी सत्ताको विराट्की सत्तासे मिलाकर ही सद्भावकी पूर्णताको प्राप्त होसकते है क्योकि परमात्मामे जब सत् चित् व आनन्दभाव है तो परमात्माके अंशरूप जीवोमे भी ये तीनो भाव विद्यमान है। जीव में ये तीनों भाव परिच्छिन्न हैं। जबतक ऐसी परिच्छिन्नता है तब तक जीव बद्ध है। मुक्तिके लिये अपनी सत्सत्ताको उदार करके विराट्की सत्तामे विलीन करना पड़ता है, अन्यथा सद्भावकी पूर्णता नही होसकती है। ससारको भगवान्का रूप मानकर निष्काम जगत्सेवामे प्रवृत्त होनेसे साधक अपने जीवनको विश्वजीवनके साथ सहजही मिला सकते है और इसीसे उनकी सत्सत्ता विराट्की सत्तासे मिल सकती है। यही संन्यासाश्रममे मुक्तिका प्रथम

साधन है। मुक्तिका द्वितीय साधन उपासना और तृतीय साधन ज्ञान है। उपासनाके द्वारा परमात्माकी आनन्दसत्ता और ज्ञानके द्वारा परमात्माकी चित्सत्ताका अनुभव पुत्र-धन-यशरूपी एषणात्रयमुक्त महात्माको होजाता है, तभी वे पूर्ण ब्रह्मका साक्षात्कार कर ब्रह्मरूप होजाते हैं। यही तुरीयाश्रमका अन्तिम अनुभव है और यही मनुष्य जीवनकी अन्तिम चरितार्थता है।

सतीधर्म रहस्य।

आर्यजातिकी सामाजिक रीतियोंकी श्रेष्ठताको समझ कर फ्रेड्रिक पिन्कट (Frederic Pincott) साहबने कहा है—

It may with safety be assumed that, when millions of intelligent people practise certain customs for thousands of years, there must be something in these customs to redeem them from the charge of folly or criminality. This should be frankly admitted in the case of the Hindus, who have been not inappropriately called by Prof. Max Muller, 'a nation of philosophers' It is certain that the whole religious and social system of the Hindus is the cutcome of centuries of profound thought and carefully recorded experience. Whatever we English people may be able to teach them in mechanical arts and in experimental science, we have very little to teach them in matters of social philosophy. Every thing tending to the peace and well-being of society has been long since reduced by the Hindus to well-ordered rules, deduced from the unchanging facts of nature. Any introduction among them of our crude ideas can only result in mischief and tend to bring the Hindus to the same chaotic scramble of antagonistic interest which is the characteristic of our own disgraceful social muddle.

"इस प्रकार विचार करनेमे कोई भी शंका नही हो सकती कि करोड़ों बुद्धिमान् मनुष्य हजारों वर्षोंसे जिन सामाजिक रीतियोंको वर्त्तावमें ला रहे है उनके भीतर ऐसा कोई तत्त्व अवश्य होगा जिसे मूर्खता या अत्याचार कह कर हम दोष नही दे सकते। हिन्दुओंके विषयमे ठीक यही बात निःसंकोच रूपसे कही जा सकती है, जिसे मैक्स मूलर साहबने ठीक ही कहा है कि यह 'दार्शनिक जाति' है। यह निश्चय है कि हिन्दुओंकी समस्त धार्मिक तथा सामाजिक विधियां उनके शतशत वर्षव्यापी गभीर चिन्ता तथा सत्य अनुभवके फलस्वरूप हैं। हम अङ्गरेज लोग उन्हे शिल्पकला तथा सायन्सके विषयमें जो कुछ सिखा सके, किन्तु सामाजिक विज्ञानके विषयमे हम उन्हें कुछ भी नही सिखा सकते। जिससे सामाजिक जीवनमे पूर्ण उन्नति तथा शान्तिकी प्रतिष्ठा हो, ऐसी सभी विधियोंको हिन्दुओंने प्रकृतिके स्थिर सिद्धान्तोसे संग्रह करके अपने सामाजिक संगठनमें लगा दिया है। इन सब उत्तम विधियोंके भीतर हम अपनी जातिके भद्दे भावौंको मिलावेंगे तो फायदेके बदले उनकी हानि ही करेंगे, और उन्हें परस्परविरोधी स्वार्थके तुच्छ झगड़ेमें प्रवृत्त हो जाना पड़ेगा जैसा कि हमारे यहांके अतिहीन सामाजिक विधिका स्वरूप है।" इस प्रकारसे पश्चिमदेशके विज्ञ पुरुषोंने हिन्दुसामाजिक रीतियोंकी भूरिभूरि प्रशंसा की है। अब सतीधर्मके द्वारा आर्यजातिके सामाजिक जीवनकी उत्तमता कैसे सिद्ध हो सकती है, उसीका वर्णन किया जाता है।

पूर्वप्रबन्धमें आश्रमधर्मकी उपयोगिता बतानेके प्रसङ्गमें यह दिखाया गया है कि ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन चारो आश्रमोंमे क्रमशः शक्तिलाभ करते हुए द्विजगण मोक्षपदवी पर पहुच सकते हैं। उनकी सहधर्मिणी गृहस्थाश्रममें उनके किये हुए पुण्यकी अर्द्धांशभागिनी होती है। अन्य तीन आश्रमौमे स्त्रीके साथ कोई सम्बन्ध ही नही रहता है, अतः उन आश्रमोंमें किये हुए पुण्यका कोई भी अंश स्त्रीको नही प्राप्त होता है। इधर श्रुतिने मनुष्यजीवनका उद्देश्य यही बताया है कि—

> इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
> भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥
>
> (केनोपनिषत्)

इस संसारमें आकर यदि परमात्माको जान लिया तभी मनुष्यजन्म पाना सार्थक है, अन्यथा मनुष्यजन्म वृथा तथा उसका नाश ही जानना चाहिये। इस लिए धीर योगिगण घट घटमें आत्माको जानकर इहलोक त्यागनेके अनन्तर अमृतत्वलाभ किया करते हैं। इस अमृतत्वकी प्राप्ति स्त्रीजातिको किस प्रकारसे हो इसीका समाधान सतीधर्मरहस्य है। अनेक तपस्या, त्याग, ब्रह्मचर्य, योगसाधन, आत्मानुसन्धान आदि कठिन उपायोंसे कितने ही जन्मोंमें पुरुष जिस परमपदको प्राप्त करता है, उसीकी अनायास प्राप्ति विना किसी त्याग या योगसाधनके स्त्रीजाति केवल सतीधर्मके पूर्ण आचरण द्वारा कर ले सकती है, इसी कारण सतीधर्मकी इतनी महिमा वेद तथा स्मृतिशास्त्रमें गाई गई है। यथा अथर्ववेद १८। ३। १ में—

इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उपत्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्मै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥

दाहके समय देवर आदिका मृतकको लक्ष्यकर कथन है कि (मर्त्य) हे मनुष्य! (पतिलोकं) जहां पति गया हो उस लोकको (वृणाना) इच्छा करती हुई (पुराण) उस जन्ममें भी यही पति मिले इस सनातन (धर्मं) धर्मका (अनुपालयन्ती) पालन करती हुई (इयं) यह (नारी) स्त्री (प्रेतं) मृतक हुए (त्वा उपनिपद्यते) तुम्हारे समीप निरन्तर प्राप्त होती है अर्थात् सहमरणार्थ निश्चय कर चुकी है। (तस्मै) उसके लिये (प्रजां द्रविणं धेहि) पुत्रादि और धनको धारण करो। और भी मनुसंहिता ५म अध्यायमें—

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाऽप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥

स्त्रियोंको पृथक्रूपसे कोई यज्ञ, व्रत या उपवासादि करनेकी आवश्यकता नहीं है, केवल पतिसेवाके द्वारा ही वह उत्तमगतिको पा सकती है। इन तत्त्वोंके समझनेमें पूर्ण समर्थ न होने पर भी पश्चिमी विद्वानोंने अच्छी चीज जान कर सतीधर्मकी कितनी ही प्रशंसा की है। यथा—

Nothing makes a woman more esteemed by the opposite sex than chastity. Chastity with its collateral attendants truth, fidelity, and constancy gives the man a property in

the person he loves and consequently endears her to him above all things. (Addison). It is proper to leave abundance of chastity rather than gold to children (Plato). I do not deem that a dowry, which is called a dowry, but chastity and subdued desire. (Plautus) Nothing can atone for the want of modesty, without which beauty is ungraceful and wit detestable (Steele).

सतीधर्मके द्वारा ही स्त्रीजाति पुरुषके पास सबसे अधिक सम्मानयोग्य बन सकती है। स्त्रीमें सतीत्व, सत्य, विश्वास और दृढ़ता इन्हीको परम सम्पत्ति रूपसे पाकर पुरुष सबकी अपेक्षा उनसे अधिक प्रेम करते है। अपनी सन्तानोंके लिये धनरत्न छोड जानेकी अपेक्षा सतीत्व छोड़ जाना ही पितामाताका कर्त्तव्य है। जिसको 'दहेज' कहा जाता है, उसे मै 'दहेज' नहीं समझता हू, पातिव्रत्य और संयमको ही मै यथार्थ दहेज समझता हू। स्त्रियोंमे शील और सतीत्व नष्ट होजाय तो इस पापका कोई प्रायश्चित्त नही हो सकता है, इसके विना उनकी सुन्दरता शोभाविहीन और चतुराई घृणाजनक होजाती है।

(एडिशन, प्लेटो, प्लोटस् स्टील)

अब सतीधर्मके साथ नारीजातिके मोक्षपदलाभका अच्छेद्य सम्बन्ध बताया जाता है। पश्चिमदेश तथा इस देशके विद्वानोंने अनेक विचार कर स्त्रीप्रकृति और पुरुषप्रकृतिके निम्नलिखित भेद निर्णय किये हैः—

There are deep-seated, essential differences, the result of ages of evolution between boy-nature and girl-nature both physically and psychically. These manifest physically in height, weight, blood corpuscles, brain volume, brain structure, and as only recently discovered, in ductless glands—a study of these latter showing, how intimate and delicate is the interaction between our mental life and our bodily functions.(An uptodate and impartial summing up of the main sex differences is to be found in Dr. Heilbroonn's 'The Opposite Sexes' published by Methuen) In the course of evolution the

the male of the species has had occasion to develop his cerebro-spinal nervous system more, while the female has developed her sympathetic nervous system more specially. Women excel in the subjective, instinctive, intuitional aspects of human life, while men on the other hand are objective, rational, abstract and analytical. Man is Apollonian. He is interested in form, in abstract thought. Woman is Dionysian. She is rooted in nature, in the elemental and life-giving. Hence Nature's working is through this law of human Bi-polarity; for a division of labour between the sexes is part of the scheme of evolution. Hence has been felt the age-long need of woman by man and of man by woman, the search for the self-complimentary opposite Hence the right social ideal is that, which aims at helping the sexes to complement and aid each other.

(Dr. Meyrick Booth's Woman and Society, George Allan and Unwin Ltd.)

शत शत वर्षतक क्रमोन्नतिके फलसे स्त्रीप्रकृति और पुरुष प्रकृतिमें स्थूल, सूक्ष्म दोनों ही भावोंमें गभीर मार्मिक पार्थक्य हो जाता है। स्थूलरूपसे यह पार्थक्य शरीरकी ऊंचाई, वजन, रक्तके कीट, मस्तिष्कका आकार, मस्तिष्कका गठन और नलविहीन पेशीके रूपमें प्रकट होता है और इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि शारीरिक भेदके अनुसार मनोवृत्तिमें भी किस किस प्रकारके भेद हुआ करते हैं। (डा. हिल मूनकी पुस्तकमें स्त्रीपुरुषभेदके और भी अनेक वर्णन मिलते हैं)। उन्नतिके क्रममें पुरुषको मस्तिष्क और मेरुदण्डसम्बन्धीय स्नायुओंको उन्नत करनेका मौका मिलता है और स्त्रीको मनोवृत्ति पुष्ट करने वाली सहयोगी स्नायुओंके उन्नत करनेका विशेष मौका मिलता है। मनुष्यजीवनके जिन अंशोंमें मन-तथा मानसिक वृत्तियां और नैसर्गिक बुद्धि विचारहीन भावोंका सम्बन्ध है उन सभीमें स्त्रियां अधिक निपुण होती है, दूसरी ओर जिन अंशोंमें बुद्धि, विचार, प्रत्यक्ष व्यवहार या वस्तुविश्लेषणका सम्बन्ध है उन पर पुरुषों-

का विशेष अधिकार रहता है। बुद्धिके प्रेरक सूर्यकी प्रकृति मनुष्यकी है, वह बुद्धिजीवी, प्रत्यक्षदर्शी, विचारप्रधान जीव है, किन्तु स्त्रीमें मायाका भाव अधिक है, वल्कि स्त्रीप्रकृतिकी जड़मे ही मायाशक्ति है, वह मनोवृत्ति तथा नैसर्गिकभावप्रधान जीव है। प्रकृतिका क्रमोन्नति कार्य इन दोनों विपरीत केन्द्रोंको लक्ष्य करके इनमें श्रमविभाग द्वारा सम्पादित होता है। यही कारण है कि परस्परमें पूर्णता लानेके लिये अनादिकालसे पुरुषको स्त्रीकी चाह और स्त्रीको पुरुषकी चाह रहती है। अतः यथार्थ सामाजिक आदर्श वही कहलावेगा जिसमें स्त्री और पुरुष अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार उन्नतिलाभ कर सके और विवाहसूत्रमे बद्ध होकर पारस्परिक श्रमविभाग तथा सहायता द्वारा पूर्णताको प्राप्त कर सके।

(डा० मेरिक बुथ)।

इसी विचारधाराको अनुभव करके अन्यान्य वैज्ञानिक पण्डितोंने और भी विचार किया है। यथा :—

As the Sun, the great manifestation of day, typified the creative force, the positive male element, so the moon, signifying the supernal feminine principle ranked equally with the forms in talismanic popularity

(Artie Mae Blackburn—The Alchemy of precious Stones—Kalpaka)

The mind has two poles, a negative and a positive. The emotional side is the negative and the intellectual side is the positive Likewise the body has two poles The right hand is positive and the left negative in all right handed people

(The Nature and Cultivation of Personal Magnetism by Dr Sheldon Leavitt—Kalpaka)

सूर्यशक्ति 'पजिटिभ' (सम) पुरुषशक्ति है जिसके द्वारा सृष्टिशक्ति प्राप्त होती है, चन्द्रमे 'नेगेटिभ' (विषम) स्त्रीशक्ति है, जिसका उपयोग यन्त्रधारणमें बहुधा किया जाता है। (आर्टि मी ब्लैकवर्न)। अन्तःकरणकी दो परिधियां है, एक पजिटिभ और दूसरी नेगेटिभ। मनका अंश नेगेटिभ और बुद्धिका अंश पजि-

टिभ है। इसीप्रकार शरीरकी भी दो परिधियां है, उसमें दाहिना भाग पजिटिभ और वाम भाग नेगेटिभ है। (डा० शेल्डन लिभिट)।

It is a significant coincidence that the lunar month exactly tallies with woman's Catamenia from menses to menses.

(The Sacrament of Marriage Ceremony.)

चन्द्रमाके साथ स्त्रीप्रकृतिकी स्वाभाविक एकता होनेके कारण ही स्त्रियोंका ऋतुधर्म चन्द्रमासके हिसाबसे हुआ करता है। और भी—

Man and woman are evolved on divergent lines from the original impregnated ovum, differing in their metabolic ratio as more katabolic and more anabolic respectively. These metabolic impressions can be studied in the anatomical, physiological and even psychological differences of the male and the female The costal prominence of man and the pelvic superiority of woman, the greater muscular activity of man and the less of it in woman, and the grander masculine cerebrations in the one and the deeper retentivity and application to details in the other are respectively among the famous illustrations of the three sets of sexual demorphism. (Cf. Ernest Haekal's Evolution of Man and Havelock Ellis' Man and Woman).

उत्पत्तिके समयसे ही स्त्री और पुरुषकी प्रकृतिमें भेद है, पुरुषमें 'कैटाबलिक' और स्त्रीमें 'एनाबलिक' भाव अधिक है। शरीरका गठन, शारीरिक क्रिया, मानसिक भाव—सभीमे यह पार्थक्य प्रकट हुआ करता है। अस्थि पञ्जरकी विशेषता पुरुषमें और गर्भाशयकी विशेषता स्त्रीमे है। मज्जा और पेशीकी क्रिया पुरुषमें अधिक और स्त्रीमें कम है। मस्तिष्क तथा बुद्धि सम्बन्धीय क्रिया पुरुषमें अधिक और धारणा तथा छानवीनकी क्रिया स्त्रीमें अधिक है। इस प्रकारसे प्रारम्भसे ही नरनारीभेद बनाया गया है।

(अर्नेष्ट हेकेल और हैभूलक इलिस)

और भी :—

Consequent upon primary sexual dimorphism and causing its numerous results as secondary sexual characteristics, there are also many important mental and temperamental peculiarities in man and differently in woman, constituting the final list of psychic differences between him and her and serving to bring them together on a moral and mental basis Greater cerebral variability and appreciation of generalisations with lesser attention to the details of things are masculine Greater memory and appreciation of details and lesser cerebration are truly feminine. Courage, impetuosity and knocking about in the world for ideals or otherwise are in line with the katabolic nature of man Greater patience, endurance and sacrifice mark the anabolic nature of the female sex The maintenance of this fundamental difference is indispensable for the evolution of Species

(Ernst Haekal).

Variation and preservation are the two important functions of evolution. Being incongruous, they remain divided between man and woman with comparative preponderance. In view of the further possibilities of evolution, a union between them has been therefore made the sine qua non for the propagation of species

(A. A. Phillip)

प्रारम्भसे ही दोनो लिङ्गोंके भेद तथा उसीके अनुसार लक्षणभेद होनेसे स्त्रीपुरुषोंके अन्तःकरण और मनोवृत्तिमे बहुत कुछ भेद होजाते है । और इसी भेदके कारण ही विवाह बन्धनके द्वारा दोनो मिलकर परस्परकी पूर्णता सम्पादन करते है । मस्तिष्क सम्बन्धीय अनेक विषयोंमे लगे रहना और अधिक छान-बीनमें न पड़कर मौलिक सिद्धान्तो पर दृष्टि रखना पुरुष प्रकृतिके लक्षण है ।

अधिक स्मरणशक्ति, अधिक छानवीन और मस्तिष्कसे काम कम लेना स्त्री-प्रकृतिके लक्षण हैं। साहस, उद्यम, जोशके साथ भिड़ जाना, लक्ष्यसिद्धिके लिये सर्वत्र विचरण—ये सब पुरुषकी 'कैटाबलिक' प्रकृतिके अनुकूल कार्य हैं। अधिक धैर्य्य, सहनशीलता और त्याग तथा समर्पण भाव—ये सब स्त्रीजातिकी 'एनाबलिक' प्रकृतिके अनुकूल कार्य हैं। सृष्टिप्रवाहकी क्रमोन्नतिके लिये इस मौलिक भेदकी रक्षा करना नितान्त आवश्यक है। (अर्नष्ट् हेकेल)

अनेकरूपता और रक्षा, क्रमविकाशके ये दो आवश्यक कार्य हैं। इनमें एक दूसरेसे पृथक होनेके कारण, एक पुरुषमे और दूसरा स्त्रीमें अधिकताके साथ बना रहता है। क्रमविकाशकी सम्भावना पर विचार करके सृष्टिप्रवाहके विस्तारार्थ विवाहके द्वारा इन दोनोका मेल करा दिया जाता है। (ए० ए० फिलिप)।

नरनारियोकी प्रकृतिमे इस प्रकार स्वाभाविक भेदकी दशामे भी यदि कही पर नरके गुण नारीमे और नारीके गुण नरमे देखनेमे आजांय तो इस विषयमें कैसा सिद्धान्त करना चाहिये इसपर प्रसिद्ध विद्वान् हर्वर्ट स्पेन्सरने कहा है—

The most serious error usually made in drawing these comparisons (*i e* between the minds of man and woman) is that of overlooking the limit of normal mental power Either sex, under special stimulations is capable of manifesting powers ordinarily shown only by the other; but we are not to consider the deviations so caused as affording proper measures Thus to take an extreme case, the mammae of men will, under special excitation, yield milk, there are various cases of gynaecomatsy on record and in famines infants whose mothers have died have thus been saved. But this ability to yield milk, which, when excited, must be at the cost of masculine strength, we do not count among masculine attributes Similarly, under special discipline, the feminine intellect will, yield products higher than the intellects of most men can yield But we are not to count this productivity as truly feminine, if it entails decreased fulfilment of

the maternal function. Only that mental energy is normally feminine which can co-exist with the production and nursing of the due number of healthy children.

स्त्री और पुरुषकी मानसिक शक्तिके विषयमे तुलना करते समय प्रायः यह भारी गलती हो जाती है कि उनकी मानसिक शक्ति साधारणतः कहां तक है इसे हम देखना भूल जाते हैं । किसी खास उत्तेजनाके वशीभूत होकर इनमेसे एक दूसरेके अधिकारकी शक्तिको प्रकट कर सकता है किन्तु ऐसे असाधारण कारणसे शक्तिकी ठीक परीक्षा नही होती है। एक असाधारण कारणका दृष्टान्त यह है कि खास उत्तेजनाको पाकर पुरुषके स्तनसे भी दूध निकल आवेगा। स्त्रीजातिसुलभ गुणोंका इसप्रकार विकाश और भी अनेक मौके पर देखा गया है, जिससे दुर्भिक्षके दिनोमे मातृहीन शिशुकी प्राणरक्षा हो सकी है । किन्तु इस प्रकार उत्तेजनावश दूध देनेकी शक्तिको पुरुषकी स्वाभाविक शक्ति हम नही कह सकते, वलिक पुरुषशक्तिको नष्ट करके यह स्त्रीजातिसुलभ शक्ति उसमे आगई, यही कहना चाहिये । ठीक इसी प्रकारसे खास प्रयत्नके द्वारा किसी समय किसी स्त्रीकी बुद्धि पुरुषसे भी अधिक विभूतिका विकाश कर सकती है, किन्तु यदि ऐसे विकाशसे किसी प्रकार मातृगुणका अपचय हो तो इसे यथार्थ स्त्रीबुद्धि विकाश नही कहना चाहिये । स्त्रीजातिकी उतनी ही मनोवृत्ति तथा बुद्धिवृत्ति स्वाभाविक है, जिसके रहनेसे सन्तानोत्पादन और सन्तानके पालनमे किसी प्रकारका विघ्न न हो ।

इस प्रकारसे पश्चिमदेशके माने हुए विद्वानोने स्त्रीप्रकृति तथा पुरुष प्रकृति पर सयम करके वहुत कुछ भेद निर्णय तथा दोनोका कर्त्तव्य निर्णय किया है। अब इस विषयमे आर्यशास्त्रमे कैसे कैसे विचार प्रकट किये गये हैं उसीका वर्णन क्रमशः किया जाता है। वृहदारण्यक श्रुतिमे लिखा है—

सोऽनुवीक्ष्य नाऽन्यदात्मनोऽपश्यत्। स वै नैव रेमे । तस्मादेकाकी न रमते । स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ । स इममेवाऽऽत्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाऽभवताम् । तस्मादिदमर्द्धवृगलमिव स्व इति स्माऽऽह याज्ञवल्क्यः । तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव तां समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त।

सृष्टिसे पहिले आत्मा एक ही थे इसलिये रमण न कर सके, क्योंकि एकाकी रमण नही हो सकता है। इसलिये उन्होंने द्वितीयकी इच्छा की और स्त्री-पुरुष जैसे एकसाथ मिलकर रहते हैं ऐसा सङ्कल्प किया। परमात्माने संकल्पके अनुसार अपनेको दो भागमें विभक्त किया—आधेमें पुरुष और आधेमें स्त्री होगये। इसलिये यह शरीर अर्द्धचणककी तरह रहता है। विवाहके द्वारा स्त्री इसे पूर्ण करती है और इसीसे सृष्टिका प्रवाह चलने लगता है। मनुसंहितामें भी ठीक इसी प्रकार लिखा है—

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः॥

सृष्टिके समय परमात्माने अपनेको द्विधा विभक्त कर दिया और आधेमें पुरुष तथा आधेमे नारी हो गये, उसी नारीमे परमात्माने विराटकी सृष्टि की। इन दोनोंमेसे कौन किस भागमें है, इसका वर्णन देवी भागवतमे आता है। यथाः—

स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधारूपो बभूव ह।
स्त्रीरूपो वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः॥

सृष्टिकी इच्छा करके परमात्मा द्विधा विभक्त होगये। वामभाग स्त्री और दक्षिण भाग पुरुष हुआ। और भी सप्तशती तथा देवीभागवतमें—

'स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।'
'सर्वाः प्रकृतिसम्भूता उत्तमाधममध्यमाः'
'कलांशांशसमुद्भूताः प्रतिविश्वेषु योषितः'

संसारकी समस्त स्त्रियां प्रकृतिके अंशसे उत्पन्न हुई है। उत्तम, मध्यम, अधम सबमें प्रकृतिकी ही भिन्न भिन्न कला है। इनमें मायाका अंश होनेसे मनोवृत्ति मायाका भाव, स्नेह ममता आदि नैसर्गिक भाव अधिक होते हैं। इन सब विचारो-से यही सिद्ध होता है कि स्त्री पुरुषकी अर्द्धाङ्गिनी है, वामाङ्गी है और इसलिये पूर्ववर्णनके अनुसार 'नेगेटिभ' है, पुरुष 'पजिटिभ' है। सृष्टितत्त्व पर विचार करनेसे यही पता लगता है कि जहां पर नेगेटिभ पजिटिभमे लय है वह निष्क्रिय दशा है। यही आधुनिक सायन्सका भी सिद्धान्त है। प्रलयमें निष्क्रिय परमात्मा एकाकी रहते हैं, उनमें प्रकृति लवलीन रहती है। सृष्टिके समय दोनों

अलग अलग होकर आधे आधे हो जाते है जिससे सृष्टि होती है। आधे आधे होनेसे दोनोंमें समान शक्ति है, शक्ति बराबरकी होनेसे सम्बर्ष भी उत्तम और सृष्टिभी उत्तम हो सकती है। और सृष्टिके अवसानमे नेगेटिभ पजिटिभमे पुनः लय होकर शान्तिदशाको भी ला सकती है। यही कारण है कि आर्यशास्त्रमे स्त्रीको better half अर्थात् उत्तमनर अर्द्धाङ्गिनी न कह कर और इसी कारण पुरुषको worse half अर्थात् अधमनर अर्द्धाङ्ग न कहकर दोनोको ठीक आधा आधा कहा गया है। जिस देशके मनुष्य स्त्रीको better half कहते हैं, वहां मायाका प्राधान्य है, ऐसा समझना होगा, अतः वहांकी जातिका लक्ष्य परमात्माकी प्राप्ति न होकर मायाकी अर्थात् अर्थकामकी ही प्राप्ति होगी। यह लक्ष्य शास्त्रानुकूल तथा प्रशंसा योग्य नही है। और इससे न सम्बर्ष ही ठीक होगा, सृष्टिविस्तार ही ठीक होगा और अन्तमे नेगेटिभका पजिटिभमे लय होकर शान्तिकी ही प्राप्ति हो सकेगी। वहां तो पजिटिभ नेगेटिभकी ओर खीचता ही रहेगा और मायाके आकर्षणसे बद्ध होकर जीव शिवभाव प्राप्त नही हो सकेगा, उत्तरोत्तर बन्धन दशाको ही प्राप्त करेगा। और ऐसी दशामें न पजिटिभकी ही मुक्ति है और न नेगेटिभकी ही मुक्ति है, क्योंकि नेगेटिभ पजिटिभमें लय होने पर ही क्रियाहीन समता और शान्तिकी दशा आती है, अन्यथा अनन्तकाल तक मायाका ही चक्र चलता रहता है। अतः पजिटिभके लिये कर्त्तव्य यही है कि वह नेगेटिभमे न फस कर उसे ही अपनेमे लय कर ले और नेगेटिभका भी यह कर्त्तव्य है कि वह पजिटिभकी सहायतासे सृष्टिविस्तार करती हुई अन्तमें उसीमे लय को प्राप्त होजाय। अर्थात् पुरुषका यह धर्म है कि वह स्त्रीमे न फॅस कर मायाशक्तिको ही अपनेमे लय कर ले और अपने नित्य शुद्धबुद्धमुक्त स्वभावकी पहिचान जाय। और स्त्रीका यह धर्म है कि वह पुरुषकी सहायतासे सृष्टिविस्तार करती हुई अन्तमे पुरुषमे ही लय होकर मुक्त हो जाय। इसलिये जो धर्म स्त्रीको शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, आत्मा सब तरहसे पुरुषमें लय होना सिखावे वही स्त्रीजातिका एकमात्र धर्म है। और इसीको पातिव्रतधर्म या सतीधर्म कहते है। इसी सतीधर्मके विना स्त्रीजाति कदापि मुक्ति लाभ नही कर सकती। यथा विष्णुस्मृति मे—

नारी भर्त्तारमासाद्य यावन्न दहते तनुम्।
तावन्न मुच्यते सा हि स्त्रीशरीरात् कथञ्चन॥

पतिमें सब तरहसे लवलीन होकर जब तक स्त्री उनके साथ सहमृता नहीं होती है अथवा अपनी सत्ताको उनमें समाप्त नहीं कर देती है तब तक, न स्त्रीशरीरसे उनका छुटकारा ही होता है और न मोक्षकी ही प्राप्ति होती है। यही स्त्रीजीवनमें सतीधर्मकी परम आवश्यकताका कारण है। और इसी कारण ज्ञानदृष्टिसम्पन्न महर्षियोंने स्त्री जातिके लिये सतीधर्म पालन पर इतना जोर दिया है । जिन जातियोंमें इतनी उच्च कक्षाके ज्ञानका अभी तक विकाश नहीं हुआ है वे अपनी जातिकी स्त्रियोंके लिये इस प्रकार मोक्षसाधन बनानेमें अबतक असमर्थ ही देख पड़ती हैं।

पहिले ही पश्चिमी तथा एतद्देशीय विद्वानोंके प्रमाण देकर बताया गया है कि स्त्रीजाति महामायाकी अंशरूपिणी होनेके कारण उनमें स्नेह, ममता, प्रेम, सन्तानपालन आदि मायाके भाव अधिक होते हैं और ऐसा हुए बिना मांका मांपन ही वृथा है जैसा कि हर्बर्ट स्पेन्सर साहबने लिखा है। अतः प्रेम, ममता आदि मधुर भावोंको किसी केन्द्रमें डालकर उसके द्वारा ही स्त्री जाति मोक्षमार्गमें अग्रसर हो सकती है। किसी निराकार वस्तुमें स्नेह, प्रेम आदिका डालना सम्भव नहीं है, साकार स्वरूपमें ही स्नेह प्रेम आदि डाले जा सकते हैं। पुरुष संसारसे वैराग्य लाभ कर, ज्ञानके आश्रयसे निराकार, अव्यक्त ब्रह्ममें लवलीन हो सकता है, इसके लिये पुरुषका संन्यासाश्रम शास्त्रमें बताया गया है। किन्तु स्त्रीप्रकृतिमें स्नेह, ममता, प्रेम, भक्ति आदि स्वाभाविक भावोंके होनेसे भगवान्का साकार रूप ही उनकी पूजाके लियें उनकी प्रकृतिके अनुकूल है। वही साकार रूप पतिभगवान्का उनके लिये पूज्य महर्षियोंने उनकी प्रकृतिके देखकर बता दिया है । पतिको भगवान् समझ कर उन्हींकी सेवामें शरीर मन प्राणको स्त्री समर्पण करदें, उनका शरीर, शरीरका वेशभूषण, प्राणधन, समस्त गृहकार्य, मनकी सारी चिन्ता, प्राणका सभी व्यापार पति भगवान्की पूजाके लिये नैवेद्यरूपसे उन्हींमे समर्पित हो जाय तो जिस प्रकार भक्त भगवान्में शरीर-मन प्राण सौंपकर अपनी स्वतन्त्र सत्ताको भगवान्में लय होकर, उन्हींमें समाधि लाभ कर उन्हींका रूप बन जाता है, ऐसे ही सती स्त्री पतिभगवान्में सब कुछ लवलीन कर उन्हीके कमलचरणोमे समाधिलाभ कर स्त्री शरीरसे मुक्त तथा ससारसे मुक्त हो सकती है । इस दशामे उनके लिये पुरुषकी तरह कठिन ज्ञानप्रधान, वैराग्यप्रधान मोक्षपथकी आवश्यकता नही रहती है। वह प्रेम, स्नेह,

ममता आदि सभी मायिक वृत्तियोंको रखती हुई केवल तीव्र एकाग्रता और भावशुद्धिके द्वारा अतिदुर्लभ मोक्षपदको पा सकती है। यही पुरुषधर्मसे नारीधर्मकी उत्तमता तथा सहजसाध्य सीधापन है। इसी कारण श्रीभगवान् मनुने कहा है —

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत् पतिः॥
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाऽऽचरेत् किञ्चिदप्रियम्॥ (५ अ०)
भुङ्क्ते भुक्तेऽथ या पत्यौ दुःखिते दुःखिता च या।
मुदिते मुदितात्यर्थं प्रोषिते मलिनाम्बरा॥
सुप्ते पत्यौ च या शेते पूर्वमेव प्रबुध्यते।
नाऽन्यं कामयते चित्ते सा विज्ञेया पतिव्रता॥

शील, चरित्र या गुणोसे हीन होने पर भी देवता समझ कर सती स्त्रीको अपने पतिकी सेवा करनी चाहिये। पति जीवित हो या मृत हो पतिलोककी चाहने वाली सती स्त्रीको कदापि उनका अप्रिय आचरण नही करना चाहिये। पतिके भोजनके बाद भोजन करनेवाली, उनके सुखमें सुखिनी और दुखमें दुःखिनी, प्रवासमें मलिनवस्त्रधारिणी, उनके सोनेके बाद सोनेवाली और जागनेसे पहिले जागनेवाली और मनमे भी अपने पतिके सिवाय अन्य किसी पुरुषको न चाहने-वाली स्त्री पतिव्रता और सती कहलाती है।

प्रसङ्गोपात्त यहां पर यह कहना अनुचित न होगा कि इस साधारण नियमके साथ कुछ असाधारण नियम भी है जैसा कि महर्षि हारीतने कहा है—

द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च।

स्त्रियां दो प्रकारकी होती हैं—ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू। उनमेंसे सद्योवधू स्त्रियां अपने पतिको ही भगवान् मान कर उन्हींमें आत्मसमर्पण कर मुक्तिलाभ करती है। किन्तु विदुषी ब्रह्मवादिनी स्त्रियां सबके पति, पतियोंके भी पति, परमात्मामें ही आत्मसमर्पण कर मुक्तिलाभ करती है, उनमेसे बहुत सी तो वेदके मन्त्रोंको भी देखती हैं। उनकी कोटि असाधारण है और इसी लिये इस

प्रकार लोकविरुद्ध धर्माचरणमें उन्हें दोष भी नही लगता है। गार्गी, मैत्रेयी आदि इसी असाधारण कोटिकी स्त्रियां थीं। महर्षि याज्ञवल्क्यने संन्यास लेनेके समय जब मैत्रेयीको घरमें रहने कहा तो उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया कि 'येनाऽहं नामृता स्यां किं तेनाहं कुर्याम्' जब संसारकी धन सम्पत्तिसे परमात्माकी प्राप्ति नही हो सकती है तो मुझे संसारकी आवश्यकता नहीं है। ब्रह्मवादिनी गार्गीका राजर्षि जनककी सभामें उपस्थित होकर महर्षियोंके साथ शास्त्रार्थ करना तो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार ज्ञानाधिकारकी तरह भक्ति अधिकारमे भी व्रजगोपियोंका दृष्टान्त, कृष्णप्रिया मीराबाई आदिके दृष्टान्त इतिहासपुराणमें प्रसिद्ध है, जिन महिलाओने समस्त लौकिक धर्म त्याग कर परमात्माकी शरण ली थी और परमात्माने भी उन पर कृपाकर मोक्षप्रदान किया था जैसा कि उन्होंने श्रीगीतामें कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच॥

वर्णाश्रमानुकूल समस्त लौकिक धर्मोंको त्याग कर परमात्माकी शरण लेने पर परमात्मा ही लौकिकधर्मत्यागजन्य पापोंसे अपने भक्तोंको बचाकर उनका उद्धार कर देते हैं। उन्होंने और भी कहा है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यक् व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वत् शान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी यदि वैराग्यवान् होकर अनन्यमनके साथ परमात्माकी उपासना करेगा तो शीघ्र ही उसका दुराचार छूट जायगा, और धर्मात्मा साधु बन कर, परमात्माकी कृपा पाकर वह नित्य शान्तिका अधिकारी हो जायगा। भगवद्भक्तका कभी नाश नही होता है क्योंकि उसके रक्षक स्वयं श्रीभगवान् है। इसी असाधारण दृष्टान्तमें श्रीभगवान्‌के प्रति व्रजगोपियोंकी मधुर उक्ति भी ध्यान देने योग्य है। 'पतिसेवा उनका धर्म है' ऐसा उनके प्रति श्रीभगवान्‌का उपदेश होने पर उन्होंने यही उत्तर दिया था—

यत् पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥

(भागवत १०म स्कन्ध)

पतिसेवा, सन्तानपालन आदि स्त्रीजातिका स्वधर्म है, यह जो धर्मतत्वज्ञ आपने हमे उपदेश किया है, यह उपदेश सकल उपदेशके आश्रयस्थान आपमे ही रह जाय, क्योंकि पति पुत्र आदि प्रिय हो सकते हैं, किन्तु सबके आत्मा होनेके कारण आप सबके बन्धु तथा प्रियतम है। उपनिषद्में भी लिखा है—न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति इत्यादि । अर्थात् पतिके लिये पति प्रिय नही होता है, किन्तु आत्माके लिये ही पति प्रिय होता है, आत्मा प्रियवस्तु है, इसलिये जहां जहां पर आत्माका अनुकूल अभिमान है वह सभी आत्माके कारण ही प्रिय हो जाता है। अतः जिसका मन सबके मूलभूत आत्मामे रम गया है उसके लिये सांसारिक कोई भी कर्त्तव्य नही रहता है। यथा भागवतमें—

यथा तरोर्मूलनिसेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः ।
प्राणोपहारैश्च यथेन्द्रियाणि तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्याः ॥

जिस प्रकार वृक्षके मूलमे जल देनेसे स्कन्ध शाखा आदिकी तृप्ति हो जाती है, उनको अलग सींचनेकी आवश्यकता नहीं होती, जिस प्रकार प्राणको तृप्त कर देने पर इन्द्रियां स्वयं ही तृप्त होजाती है, ऐसे ही परमात्माकी पूजासे सबकी पूजा हो जाती है । किन्तु ये सब ज्ञानाधिकार तथा भक्ति-अधिकार असाधारण है। गोपियां पूर्वजन्ममे ऋषि थी, बहुत सी देवियां थी, और बहुत-सी श्रुतियां थो, अतः उनके लिये यह असाधारण धर्म सम्भव था, सबके लिये असाधारण व्यवस्था होने पर धर्म ही बिगड़ जायगा और स्त्रियां 'इतो नष्टास्ततो भ्रष्टाः' हो जायँगो । अतः सबको मैत्रेयी, गार्गी बनाना या गोपी बनाना ठीक नही है। स्त्रीजातिका आदर्श गार्गी नही है, किन्तु सीता, सावित्री है। इन रमणी-रत्नोंने उपास्य-उपासक भावके अनुसार वास्तवमें ही अपनेको पति भग-

वान्में लवलीन कर अपना उद्धार साधन तथा जगत्के इतिहासमे अलौकिक परमपवित्र आदर्श स्थापन किया था। इस विषयमे आदर्शसती सीताके जीवनकी एक घटना हनुमन्नाटकमे लिखी गई है। लंकापुरीकी अशोकवाटिकामे एक दिन सीतादेवीने त्रिजटाको बुलाकर कहा—

कीटोऽयं भ्रमरी भवत्यतिनिदिध्यासैर्यथाऽहं तथा।
स्यामेवं रघुनन्दनोऽपि त्रिजटे दाम्पत्यसौख्यं गतम्॥

जिस प्रकार तिलचट्टा नामक कीट भ्रमरकीटकी तीव्र चिन्ता करता हुआ भ्रमरकीट बन जाता है, ऐसी ही मुझे आशका है कि रामकी रातदिन चिन्ता द्वारा किसी समय राममें तन्मय होकर मै राम बन जाऊंगी तो मेरा दासीभावका आनन्द जाता रहेगा, यही मुझे बड़ा दुःख है। इसके उत्तरमें त्रिजटाने जो कुछ कहा था सो भी ध्यान देने योग्य है। यथा—

शोकं मा वह मैथिलेन्द्रतनये! तेनाऽपि योगः कृतः।
सीता सोऽपि भविष्यतीति सरले! तन्नो मतं जानकि!

सीते! आपको शोक नही करना चाहिये, क्योकि जैसी तन्मयता आपकी राममें है, ऐसी ही रामकी भी आपमे है, इसलिये यदि आप राममे तन्मय होकर राम हो जायंगी तो राम भी आपमे तन्मय होकर सीता बन जायेंगे, जिससे सीतारामका दाम्पत्यप्रेम संसारमे अटूट रहेगा, यही मेरी सम्मति है। यही आदर्श सतीधर्म और उसके द्वारा स्त्रीजातिका मोक्षलाभ है। इसी कारण सतीधर्मको इतनी आवश्यकता आर्यशास्त्रमें बताई गई है।

सृष्टितत्त्व पर विचार करनेसे निश्चय होता है कि स्त्रीजातिकी अलग सृष्टि प्रथम नही थी, बल्कि सृष्टिकी चौथी दशामे जाकर तब उसकी अलग सृष्टि हुई है। प्रथम सृष्टि मानसी सृष्टि कहलाती है जिसमें भगवान् ब्रह्माने सनक, सनन्दन आदि तथा सात ऋषियोंको उत्पन्न किया था। यथा गीतामें—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोके इमाः प्रजाः॥ १०

सात महर्षि, सनकादि चार, मनुगण—यह सब मानसी सृष्टि है, जिससे सब प्रजा उत्पन्न हुई है। महाभारतमे भी लिखा है—

आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममलाऽक्षयाऽव्यया।
सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा ॥

आदिदेव ब्रह्मासे उत्पन्न अक्षय, धार्मिक सृष्टि मानसी सृष्टि कहलाती है। उपनिषद्मे भी लिखा है—'मनसा साधु पश्यति मानसाः प्रजा असृजन्त' ब्रह्माने मनके बलसे प्रजाओंकी मानसी सृष्टि की थी। यह बात आधुनिक सायन्ससे भी विरुद्ध नही है बल्कि अङ्गरेजी creation और pro-creation शब्दके द्वारा इसकी सार्थकता स्पष्ट प्रतीत होती है। मानसी सृष्टि ही वास्तवमे सृष्टि या creation है और सब pro-creation अर्थात् असली सृष्टिके स्थानमे कमजोर सृष्टि है। लिखा भी है—When one remembers the case of 'Yalandi' in modern psychical science–how a plant with flowers could be evolved by spirit agency merely the above mind–born sons may not appeal to one as improbable'

(The Philosophy of Marriage)

आधुनिक सूक्ष्म सायन्स विद्यामे यह देखा गया है कि पुष्पसहित वृक्ष आत्माओंकी सहायतासे एकदम उत्पन्न होगये है। इसीसे मानसी सृष्टि असम्भव नही मालूम होती है। सृष्टिकी द्वितीय दशामे लिङ्गभेद विचारके बिना ही जहां तहां सृष्टि होती है। और सृष्टिकी तृतीय दशामे एक ही शरीरमें स्त्री-पुरुष दोनोंकी सृष्टि होनी है। इन दोनों सृष्टियोंके विषयमे भी आधुनिक विज्ञानने बहुत कुछ पता लगा लिया है। यथा—

Then came the bodily procreation, but without the condition of sex comparable to the multiplication of an amoeba and to the parts of the bodies of spiders, grass-hoppers, crabs, etc , that are restored by nature, if the original ones happen to be lost Sex was developed later on as a precondition of procreation but sexes were undivided Science also, recognises androgynous and hermaphroditical species. The ideal of this is emblemed in the half Devi (female) form of Shiva.

(The World's Eternal Religion)

A Greek legend describes that a bi-sexual god was split into two by the Almighty From then the male or the female, always seeks the company of the other. This conception is not strange to modern science. Dr. Arthur Torrance, an authority on tropical diseases, maintains that the human race originated in a dual-sex tribe. Believing that examples of this tribe are still to be found he set out on expedition to Africa. He says he has already encountered some of these peculiar people who are supposed to live near Lake Chad, on a previous expedition. (Hindu 27-1-31)

मानसी सृष्टिके बाद शरीरसम्बन्धसे सृष्टि प्रारम्भ होती है, किन्तु उसमें लिङ्गभेदका विचार नही रहता है। जैसा कि मकड़ी, ककड़ा, झिङ्गुर या वह सब जीव जिसे 'एमिवा' कहते है—जिनकी कितनी ही श्रेणियां प्रकृतिके द्वारा लिङ्गभेदविचारके विना ही वनाई जाती है। इसके बाद की सृष्टिमें लिङ्गभेद मालूम होता है, किन्तु प्रथमतः एक ही शरीरमें स्त्री-पुरुष दोनों लिङ्ग देखनेमें आते है। सायन्सने भी ऐसी 'एण्ड्रजिनस' सृष्टि मानी है। आर्यशास्त्रमें इसीके आदर्शरूप अर्द्धनारीश्वर मूर्ति प्रसिद्ध ही है। वृक्षोंमें भी ऐसी स्त्रीपुरुषमयी सृष्टि देखी जाती है। एकही वृक्षके फूलमें परागकेशर और गर्भकेशर होते है। गर्भकेशरमें स्त्रीशक्ति होती है, जो कि पुष्पके नीचेके अंशमें होता है, और ऊपरके अशमें परागकेशर होता है, जिसमें पुरुषशक्ति होती है। भ्रमर या वायुके द्वारा परागकेशर गर्भकेशरमे जा मिलता है और उससे सृष्टि होती है। ग्रीसदेशकी पौराणिक गाथामें वर्णन है कि परमात्माने किसी स्त्रीपुरुषमयी देवताको दो भागमें विभक्त कर दिया था, जिससे स्त्री और पुरुष अलग अलग होगये और तभीसे एक दूसरेसे मिलनेके लिये लालायित रहते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक जगत्में यह कोई आश्चर्यजनक वस्तु नही है। डाक्टर अर्थर टरेन्स, जो कि एतद्देशीय चिकित्साशास्त्रमें भी विशेष पारदर्शी है, उनका सिद्धान्त है कि इस प्रकार सम्मिलित-लिङ्ग जीवसे ही पृथक् लिङ्ग विशिष्ट जीवोंकी उत्पत्ति हुई है और अब भी पृथिवीके कई स्थानोंमे ऐसे जीव विद्यमान हैं। आपका कहना है कि अफ्रिकाके अन्तर्गत चाद् हृदके समीप ऐसे अनेक विचित्र जीव रहते है और उधर यात्राके समय आपने ऐसे जीव देखे है। (हिन्दु २७-१-३१)

इसके बाद चौथी दशामें पुरुषशरीरसे अपने योग्य उपादान लेकर स्त्रीशरीर अलग होजाता है और तभीसे स्त्री और पुरुष अलग अलग दृष्टिगोचर होते है और क्षेत्ररूपसे पुरुषका बीज लेकर स्त्री सन्तान प्रसव करने लगती है। इस प्रकार बहुत देरमें तथा सृष्टिकी परिणत दशामें उत्पन्न होनेके कारण और पुरुषदेहसे ही उपादान लेकर उत्पन्न होनेके कारण स्त्रीशरीरमे बल, वीरता, शूरता आदिके वे सब चिह्न नही प्रकट होते हैं, जैसा कि पुरुष-शरीरमे पाया जाता है। प्राकृतिक शोभा, शौर्य्य और विशेषताके भी कोई चिह्न स्त्रीशरीरमें नहीं होते है। सिंहका केशर सिंहिनीमें नही है, मयूरके पङ्खकी विचित्र शोभा मयूरीमें नही है, सांड़के शरीरके वीरत्वके चिह्न गायमें नही हैं, कोकिलकी मनप्राणमुग्धकर मधुर ध्वनि कोकिलामें नही है, हाथीका वीरत्व-सूचक दांत हाथिनीमें नही है, पुरुषकी वीरताभरी डाढ़ी और मूंछ स्त्रीमें नही हैं। इसीसे एकाएक वही सिद्धान्त सत्य मालूम होता है जैसा कि ब्रुक साहबने कहा है—

A division of physiological labour has arisen during the evolution of life, the function of reproductive elements has become specialised in different directions. The males are as a rule more variable than the female, the male leads and the female follows, in the evolution of new races.

(Brooks)

जीवनके क्रमविकाशमें स्त्रीपुरुषके अवयव भेदानुसार श्रमके भी भेद हो जाते हैं। विभिन्न श्रेणिके अङ्गोंका कार्य विभिन्न रूपसे होने लगता है। साधारणतः स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंमें विशेषता तथा प्रकारभेद अधिक होता है। सृष्टिके क्रमविकाशमे पुरुषशक्ति सञ्चालन करती है और स्त्रीशक्ति उसे मान कर पीछे पीछे चलती है, यही प्राकृतिक नियम है। इसी प्राकृतिक नियमका अनुसरण करने पर यही युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि स्त्री पुरुषकी वशम्वद रह कर उनकी सेवा करती हुई उन्हींमें शरीर मन प्राण सौंप देनेका प्रयत्न करे और जब पुरुषसे ही स्त्री निकली है तो इसी उपाय द्वारा वह पुनः पुरुषशक्तिमें लय होकर पुरुषके द्वारा परमपुरुष परमात्मा तक पहुंच सकती है। यही कारण

है कि पातिव्रत्य धर्मको स्त्रीजातिकी मुक्तिके लिये उनका एकमात्र धर्म बताया गया है। यही शास्त्रवर्णित सतीधर्मका मधुर रहस्य है।

अब इस सतीधर्मकी रक्षा तथा पूर्ण परिपालनके लिये स्त्रीजातिको कन्यापनसे लेकर वृद्धावस्था पर्यन्त किस तरहसे अपना जीवन बिताना चाहिये उसी पर क्रमशः विचार किया जाता है। कन्यापनके साथ शिक्षाका बहुत कुछ सम्बन्ध है, 'कन्याप्येव पालनीया शिक्षणीयातियत्नतः' कन्याको यत्नसे पालना तथा शिक्षा देना चाहिये, ऐसा शास्त्रप्रमाण भी है। अब यह शिक्षा कैसी होनी चाहिये सो ही विचार करने योग्य है। पहिले ही कहा गया है कि स्त्रीजातिकी उत्पत्ति महाशक्तिके अंशसे हुई है। यथार्थ उन्नति बीजवृक्षन्यायसे होती है, अर्थात् वटबीजकी उन्नति वटका वृक्ष बन कर ही हो सकती है, आम या पीपलका वृक्ष बन कर नहीं हो सकती है। ऐसी उलटी उन्नतिमें तो वटका नाश ही कहा जायगा, उन्नति नहीं कही जायगी। इसी सिद्धान्तके अनुसार स्त्रियोंको ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिये जिससे वे अपने भीतरकी महाशक्तिभावको जाग्रत कर सकें। महाशक्ति जगदम्बा—पूर्ण पतिव्रता सती, स्नेहमयी माता और उत्तमा गृहिणी है। अतः कन्याकी शिक्षामें इन तीन बातों पर विशेष ध्यान रखना होगा, जिससे वह शिक्षिता होकर पूर्ण सती, पूर्ण माता और उत्तमा गृहिणी बन सके। आजकल पश्चिमियोंने इन विषयोंमे बहुत कुछ विचार करना प्रारम्भ किया है। क्योंकि उन देशोंमे उलटी शिक्षासे बड़ी हानि हुई है। यथा—

Socially Life's wastage among millions,—a large army of young men and of young women eager to satisfy sex-craving, but unwilling to bear the responsibilities of family life and parentage—net result bemoaned by Dr. Booth —"What is happening to the domestic life of the Anglo-Saxon race? It is the same tale wherever the English tongue is spoken — more hotels, fewer homes, more divorces fewer children" Physically—The growing unfitness of the Anglo-Saxon girl for maternity on account of her increased physical exercises and out-door sports Say experts like Dr. Stanley Hall, author of Adolescence, Dr. Arabella Keneally authoress

Femininism and Extinction and others —"It does not at all follow that because a girl plays hockey well or because she develops a heavy muscular system she will for this reason be really healthy Some of the worst cases of hysteria and other serious nervous disorders occur among physically powerful, sport-loving girls" According to Dr. Englemann "women who develop their muscular system highly suffer in child birth" According to a recent Vienna calculation the birth rate amongst women predominant in athletic life in Austria was less than one-fifth of the rate amongst others of the same class who were not notably athletic. On these evidences Dr Booth rightly warns — "Let those who believe that the athletic activities of our young women are going to give us a higher race ponder these facts carefully, and also ponder the useful tale told by the figures that from 1922 to 1928 the birth-rate in England has gone down by 16 per cent" इङ्गलैण्डके प्रसिद्ध डाक्टर बुथ साहबकी सम्मतिमें "नवीन शिक्षाके द्वारा वहांके सामाजिक जीवनकी बड़ी अवनति हुई है। वहांपर दलके दल ऐसे स्त्री-पुरुष देखनेमें आरहे है जो कि कामसम्बन्धके लिये सदा लालायित रहते हैं, किन्तु सन्तान उत्पन्न कर गृहस्थाश्रम करना नही चाहते। जहां जहां अङ्गरेजी विद्या पढ़ाई जाती है वहांपर सर्वत्र ही यह कथा है। होटेलोंकी सख्या बढ़ रही है और गृहस्थो के घरकी संख्या घट रही है, विवाह विच्छेद बढ रहा है और सन्तानोंकी सख्या घट रही है"। सामाजिक हानिके साथ ही साथ शारीरिक हानि भी यथेष्ट हो रही है। जो स्त्रियां शिक्षाके नवीन आदर्शके अनुसार पुरुषोंकी तरह व्यायाम, खेल आदि करती हैं, उनमें 'मां' बननेकी शक्ति नष्ट हो जाती है। डाक्टर हैनले हाल, अरविला कैनेली आदिकी सम्मति है कि—"किसी स्त्रीने पुरुषकी तरह व्यायाम करके अपनी मांशपेशी या मज्जाको मजबूत कर लिया है अथवा किसी स्त्रीको 'हाकी' खेलना बहुत अच्छा आता है, इसके द्वारा यह नही समझना चाहिये कि उसके स्वास्थ्यकी यथार्थ उन्नति होगई। क्योंकि अपस्मार (हिस्टिरिया) तथा अन्यान्य कई एक

स्नायुदौर्बल्य सम्बन्धीय कठिन रोग ऐसी ही स्त्रियोंमें देखनेमें आते हैं जो पुरुषों-की तरह फुटवाल, हाकी, टेनिस आदि खेलोंको खेलती रहती हैं"। डाक्टर एङ्गलमैनकी सम्मति यह है कि ऐसी स्त्रियोंको प्रसवके समय भी बड़ा कष्ट होता है। आस्ट्रियाके अन्तर्गत भायेना नगरमें देखा गया है कि ऐसी स्थूल व्यायाम-वाली स्त्रियोंकी सन्तानसंख्या अन्य स्त्रियोंकी सन्तानसंख्याका पञ्चमांश भी नही है। इन्ही प्रमाणो पर डाक्टर बुथ चेतावनी देते है कि "जो लोग यह समझते हैं कि नवीन शिक्षानुकूल युवतियोंके व्यायाम द्वारा हमारी जाति उन्नत हो जायगी उन्हें सावधान होकर इन विषयों पर सोचना चाहिये और यह भी दुःखद विषय सोचना चाहिये कि सन् १६२२ से १६२८ के भीतर इङ्गलैण्डमें सोलह प्रति सैकड़ा सन्तान उत्पत्ति कम हो गई है।" इन्ही बातों पर विचार कर लेडी इरविन साहेबाने अखिलभारतीय स्त्री कान्फरेन्स, देहलीके व्याख्यानमें कहा था:—

In one respect, India is favoured as she comes to close quarters with a problem of which other countries have been pioneers and have made mistakes by which India, if she is wise, may profit.

"They have been slow to recognise the necessity for differentiating between the education of the boys and girls, It is of course true that they both have to live in the same world, that they both have to share it between them, but their functions in it are largely different. In many countries today they see girls' education developing on lines which are a slavish imitation of boys' education.

"We must, therefore, do all in our power to set a different standard and to create desire in the public mind and in the girls themselves, for an education which will allow girls to develop in other lines

"What I feel, we should aim to give them, is a practical knowledge of domestic subjects and the laws of health which

will enable them to fulfil one side of their duties as wives and mothers, reinforced by the study of those subjects which will help most to widen their interests and outlook."

"स्त्रीशिक्षाके विषयमें भारतवासियोंको अच्छा मौका मिला है, कि अन्यदेशके लोग इसमे जो गलती कर रहे हैं उससे फायदा उठावे। अन्यदेशके लोग स्त्री और पुरुषकी शिक्षामे क्या क्या भेद होना चाहिये अभीतक इसको ठीक तरहसे मान नही सके हैं। यह बात सत्य है कि स्त्री और पुरुष दोनों एक ही ससारमे समान दायित्वके साथ निवास करते है, किन्तु इसमें दोनोका कार्य बिलकुल एक दूसरेसे भिन्न है। बहुतसे देशोमें स्त्रीशिक्षाको केवल पुरुषशिक्षाकी नकल बनाई गई है यह ठीक नही है। अतः हमें प्रयत्न करना चाहिये कि स्त्रीजातिके लिये उसकी प्रकृतिके अनुसार पृथक् शिक्षादर्श कायम किया जाय, जिससे वह अपने ही ढङ्ग पर पूर्ण शिक्षिता बन सके। इसमे मेरा अनुभव यह है कि उन्हे अच्छी स्त्री और अच्छी माता बनने लायक कर्त्तव्योकी व्यावहारिक शिक्षा देनी चाहिये, जिससे पारिवारिक समस्त विषय और गार्हस्थ स्वास्थ्यरक्षा-मूलक सब विषय उन्हें आयत्त हो सके। और साथही साथ ऐसे विषयोंको भी उन्हे पढ़ाना चाहिये जिससे उनका दृष्टिकोण उदार बन जाय और सामाजिक जीवनके प्रति उनकी हार्दिक सहानुभूति प्रकट हो सके।" अतः निश्चय हुआ कि 'मां' को 'मां' बनाने लायक शिक्षा ही आदर्श शिक्षा है। उसको पिता बनानेके लिये यत्न करना उन्मत्तता और अधर्म्म है। इससे फलसिद्धि न होकर "इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः" हो जायगा, क्योंकि स्त्रीको पुरुषकी तरह शिक्षा देनेका यही विषमय फल होगा कि प्रकृतिविरुद्ध होनेसे वह पुरुषभावको तो कभी नही प्राप्त कर सकेगी, अधिकन्तु कुशिक्षाके कारण स्त्रीभावको भी खो देगी जिससे उसके और संसारके लिये बहुत ही हानि होगी। पतिभावमें तन्मयता ही स्त्रीकी पूर्णोन्नति होनेके कारण, पुरुषके अधीन होकर ही स्त्री उन्नति कर सकती है, स्वतन्त्र होकर नही कर सकती है और ऐसा करना भी स्त्रीप्रकृतिसे विरुद्ध है। इसीलिए मनुजीने कहा है कि :—

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्य्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥

(९म अ०)

पुरुषोंका कर्त्तव्य है कि स्त्रियोंको सदा ही अधीन रक्खे । उन्हें स्वतन्त्रता न देवे । गृहकार्य्यमें प्रवृत्त करके अपने वशमें रक्खे । स्त्री कन्यावस्थामें पिताके अधीन रहती है, यौवनकालमें पतिके अधीन रहती है और वृद्धावस्थामें पुत्रके अधीन रहती है । कभी स्वतन्त्र करने योग्य स्त्रीजाति नहीं है । किन्तु इसके द्वारा यह नहीं समझना चाहिये कि आर्यशास्त्रमें स्त्रीजातिको हर तरहसे जञ्जीरमें जकड़ रखनेको ही धर्म कहा गया है, जैसा कि आजकल स्वतन्त्रतावादिगण हिन्दुसभ्यता पर दोष लगाया करते हैं । सत्यदर्शी पश्चिमी विद्वानोंने भी इस बातकी पुष्टि की है । यथा :—

At no age should a woman be allowed to govern herself as she pleases (Harace Maun)

To obey is the best grace of woman. (Lewis Morris)

The superficial observer, who applies his own standard to the customs of all nations, laments with an affected philanthropy the degraded condition of the Hindu female. He particularly laments her want of liberty and calls her seclusion imprisonment. From the knowledge I possess of the freedom, the respect, the happiness which Rajput women enjoy, I am by no means inclined to deplore their state as one of captivity (Colonel Tod)

Their state is not one of slaves to their husbands, they have as much influence in their families as, I imagine, the women have in this country. (Sir Thomas Munro).

The women of the East are not so much in evidence as those of Europe, but their influence within the legitimate circle of their domestic relations is quite as great,

their manners are as good and their morality is as high Those who know most of the results of this freedom of women in the West, may well doubt whether the occidental or the oriental method of treating the fair sex is more in accord with practical wisdom. (Sir Lepel Griffin)

In no nation of antiquity were women held in so much esteem as amongst the Hindus (Prof H H Wilson)

स्त्रियोको स्वेच्छानुसार अपनेको चलाने देना कदापि उचित नही है। (हरेस मैन्)। पुरुषोंकी वशम्वदा होनेमे ही स्त्रियोकी सर्वोत्तम शोभा है। (लिविस् मरिस)। स्थूलदर्शी पुरुष, जो कि अपने ही आदर्शसे सब जातिकी सामाजि क रीतियों पर विचार करते है, प्रायः हिन्दुजाति पर कपटदया दिखाते हुए उनकी स्त्रियोकी हीन दशाको रोते है, कि उन्हें स्वतन्त्रता नही दी जाती और जेलखानेकी तरह उन्हे पर्देमे रख दिया जाता है। किन्तु राजपूत स्त्रियोकी स्वतन्त्रता, सम्मान तथा गार्हस्थ सुखके विषयमे मुझे जो कुछ ज्ञान है उससे मुझे तो कभी यह अफसोस नही होता है कि वे जेलखानेकी तरह बन्धनमे रक्खी जाती हैं। (कर्नेल टाड)। जैसा कि प्रायः कहा जाता है हिन्दु स्त्रियां पराधीनकी तरह नही रहती हैं, क्योकि अपने घरमे उनकी स्वतन्त्रता और प्रभुता पूरी ही है जैसा कि इस देशमे है। (सर टोमस मनरो)। पूर्वदेशकी स्त्रियां यूरोपकी स्त्रियोकी तरह जहां तहां घूमती नही रहती हैं किन्तु अपने परिवारकी मर्यादायुक्त सीमामे उनका बहुत ही प्रभाव रहता है और इसी प्रकार उनका आचरण तथा नैतिक जीवन बहुत ही उत्तम होता है। पश्चिमी स्त्रियोकी स्वतन्त्रताका भीषण परिणाम जिन्हें मालूम है वे लोग सन्देह करने लगे हैं कि वह रीति अच्छी है या पूर्वी रीति यथार्थ विचार-सम्मत है। (सर लेपेल ग्रिफिन)। हिन्दुओमे स्त्रियोको जितना सम्मान दिया जाता है, इतना ससारकी और किसी जातिमे नही दिया जाता। (एच. एच. विलसन)।

पतिभगवान्‌के साथ स्त्रीका उपास्य उपासक भाव है। उपासक भक्त उपास्य देवताके वशमें होकर उनमे भक्तिके द्वारा लय हो जानेसे ही मुक्ति लाभ कर सकता है। उनसे स्वतन्त्र होनेपर नही कर सकता है। यही पातिव्रत्य

धर्म है । स्त्रीको पुरुषकी तरह शिक्षा देनेसे उसमें स्वतन्त्र भ्रमण, स्वतन्त्र प्रेम और स्वेच्छाचार आदि स्वतन्त्रताके भाव आ जायगे जिससे पातिव्रत्य धर्म नष्ट हो जायगा । वह यदि ग्रेजुयेट, एम्० ए० या शास्त्री हो जाय किन्तु माता या सती होना भूल जाय तो उसकी शिक्षा तीन कौड़ीकी भी नही होगी । जैसा कि प्रसिद्ध विद्वान् गेटे (Goethe) ने कहा है—

We love a girl for very different things other than understanding We love her for her beauty, her comfidence, her character but we do not love her for her understanding. Her mind we esteem and it may greatly elevate her in our opinion, but her understanding is not that which awakens and inflames our passion.

स्त्रियोंके प्रति पुरुषका प्रेम उनके ज्ञानको देखकर नहीं होता है । उनकी सुन्दरता, श्रद्धा, विश्वास, चरित्रबल यही सब उनके प्रति प्रेमका कारण है । उनका उच्च मनोभाव पुरुषहृदयमे पूज्यबुद्धि उत्पन्न कर सकता है, किन्तु उनका ज्ञान बल पुरुषहृदयमे प्रेमोत्पत्तिका कारण कदापि नहीं बन सकता है । अतः विचार कर कन्याको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि जिससे वह भविष्यत्में पतिके अधीन रहकर अच्छी माता, चतुरा गृहिणी और पतिव्रता सती बन सके, क्योंकि अपनी उन्नति और सन्तानोंकी पहली शिक्षाके लिये पितासे भी माता-का सम्बन्ध अधिक रहता है । वीर माताकी वीर सन्तान और धार्मिक माताकी धार्मिक सन्तान प्रायः हुआ करती है । अतः वर्तमान देशकालके विचारसे यदि स्त्रीको शिक्षा देनेकी आवश्यकता समझी जाय तो पिता माताको सदा ही ध्यान रखना चाहिये कि उनकी शिक्षामें ऊपर लिखित लक्ष्य अटूट रहे, क्योंकि पातिव्रत्यके द्वारा ही स्त्रीजातिको उन्नति और मुक्ति मिलती है । इसलिये शिक्षाका वही उद्देश्य होना चाहिये ।

इस प्रकार शिक्षादर्शकी प्रशंसा पश्चिमी विद्वानोने भी की है यथा:—

Mr. Arthur Mayhew in his 'Education of India'

"Woman as she presents herself to Hindu imagination is the priestess of the home, watering the sacred plant, keeping the sacred fire, guarding sacramently the purity of

the food by her ablution and prayers. Her household service is an act of Bhakti (personal devotion), she goes abroad only for pilgrimage But within the house, she is the centre of all activity not shut off in any way from the males of varying ages and generations but influencing vitally their home talk, thought and action.

"She has never been regarded as unfit for arts and accomplishments. Sanskrit literature has many examples of learned ladies and there are women poets Does not a Sanskrit educationist draw up a list of sixty four arts for young ladies ? Did not Sankara design to argue with a woman Pandit? Sita and Draupadi, Savitry and Damayanti knew how to retain love by other arts than those of the toilet and were real companions, as is the Hindu wife of today "

सर अर्थर मेहिऊकी सम्मति है कि "हिन्दु आदर्शके अनुसार स्त्री गृह-देवी है, वह घरके तुलसी आदि पवित्र वृक्षोंको प्रेमसे सींचती है, अग्निहोत्रकी अग्निको जगाये रखती है, स्नानसे शुद्ध होकर अन्नको भी शुद्ध रखती है, गृह कार्य उनके लिये पतिभक्तिका विलासमात्र है और बाहर उनका भ्रमण केवल तीर्थयात्राके लिये है। घरके समस्त व्यापारोंकी वह केन्द्ररूपिणी है और भिन्न भिन्न देशकालके पुरुषोंसे अलग न रहकर वह उनकी चिन्ता तथा क्रियाओं पर प्रभाव विस्तार किया करती है।

किसी प्रकार कला विद्यामें भी वह अयोग्या नही समझी गई है। संस्कृत साहित्यमें अनेक विदुषी महिलाओं तथा स्त्रीकवियोंके प्रमाण मिलते हैं। स्त्रियोंके लिये ही तो ६४ कला विद्याके प्रमाण संस्कृत शास्त्रमें मिलते हैं। श्रीशंकराचार्यने एक विदुषी महिलाके साथही तो शास्त्रार्थ किया था। सीता, द्रौपदी, सावित्री, दमयन्ती आदि आदर्श आर्यमहिलाओमे कलाविद्याकी बहुत कुछ योग्यता थी जिससे वे अपने अपने पतिकी यथार्थ सङ्गिनी बन सकी थी।" यही-हिन्दु आदर्श है।

विवाहके अनन्तर नारीजीवनकी दूसरी अर्थात् गृहिणी अवस्था प्रारम्भ होती है। कन्यावस्थामें पति देवतामें तन्मयतामूलक पवित्रतामय सती धर्म्मकी जो शिक्षा हुई थी, गृहिणी अवस्थामें उसी सतीधर्म्म या पातिव्रत्यका पालन होता है। जिस प्रकार श्रेष्ठ भक्त भगवान्के चरणकमलोंमें अपने शरीर, मन, प्राण और आत्मा सभीको समर्पण करके भगवद्भावमे तन्मय होकर भगवान्को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार सती स्त्री पतिदेवताके चरणकमलोंमें अपना जो कुछ है सभी समर्पण करके उन्हीमें तन्मय होकर मुक्ति प्राप्त करती है।

सतीत्वकी महिमाको वर्णन करते हुए परम पूज्यपाद महर्षियोंने बहुत बातें लिखी हैं। मनुजीने कहा है कि:—

प्रजनार्थं महाभागा पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन॥
पतिं या नाऽभिचरति मनोवाग्देहसंयता।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते॥

सन्तानप्रसव करनेके कारण महाभाग्यवती, सम्मानके योग्य और संसारको उज्ज्वल करने वाली स्त्रीमें और श्रीमे कोई भेद नही है। जो स्त्री शरीर, मन और वाणीसे अपने पतिके सिवाय और किसी पुरुषसे सम्बन्ध नही रखती वही सती कहलाती है। उसको पतिलोक प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्यजीने कहा है कि:—

मृते जीवति वा पत्यौ या नाऽन्यमुपगच्छति।
सेह कीर्तिमवाप्नोति मोदते चोमया सह॥

पतिकी जीवितावस्थामे या मृत्युके बाद भी जो स्त्री अन्यपुरुषकी कभी इच्छा नही करती है उसको इहलोकमें यश मिलता है और परलोकमें उमाके साथ सतीलोकमें वह आनन्दसे रह सकती है। दक्षसंहितामें लिखा है कि:—

अनुकूला न वाग्दुष्टा दक्षा साध्वी प्रियंवदा।
आत्मगुप्ता स्वामिभक्ता देवता सा न मानुषी॥

जो स्त्री पतिके अनुकूल आचरण करती है, कटु वचन नही कहती है, गृहकार्य्योंमें दक्षा सती, मिष्टभाषिणी, अपने धर्मकी रक्षा करने वाली और

पतिभक्तिपरायणा है वह मानवी नही परन्तु देवी है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमे कहा है कि:—

> सर्व्वदानं सर्व्वयज्ञः सर्व्वतीर्थनिषेवणम्।
> सर्व्वं व्रतं तपः सर्व्वमुपवासादिकञ्च यत्॥
> सर्व्वधर्म्मश्च सत्यञ्च सर्वदेवप्रपूजनम्।
> तत्सर्वं स्वामिसेवायाः कलां नाऽर्हन्ति षोडशीम्॥

समस्त दान, समस्त यज्ञ, सकल तीर्थोंकी सेवा, समस्त व्रत, तप और उपवास आदि सब कुछ और सब धर्म्म, सत्य और देवपूजा ये पतिसेवाजनित पुण्यके षोडशांश पुण्यको भी उत्पन्न नही कर सकते है।

इस प्रकारसे आर्य्यशास्त्रमें सतीधर्मकी महिमा बताई गई है जिसके सम्यक् पालन द्वारा स्त्रीजाति अनायास ही उत्तम गति लाभ कर सकती है।

आर्यजातिकी महिलाओंके इस प्रकार आदर्श जीवनकी भूरि भूरि प्रशसा पश्चिम देशके विद्वानोंने भी की है। यथा—

"What is the kind of marriage that will preserve the integrity and keep the stable equilibrium of society–that is what Hinduism tried to discover Just as the Royal Houses of Europe used to arrange marriages for reasons of state, just as Eugenics bids men sacrifice personal sentiment to human progress, so the Hindu does the same to withhold the seductions of the life Force in the interests of social good–that is the idea. The mother is encouraged to undergo voluntary penance for the elevation of the human race and to keep her natural instinct in rigorous subordination to the dictates of mind and soul. The sense of degradation some women feel in submitting to the tyranny of nature over their sex is avoided not by adjuring motherhood but by making it subserve an impersonal ideal."

(Rev. J. Tyssul Devis.)

"The person of a Hindu woman is sacred. She can not be touched in public by a man even with the ends of the fingers. How abject soever may be her condition, she is never addressed by any body, not excepting the persons of the highest rank, but under the respectful name of Mother" (Father Abbe Dubois)

"The ideal which the wife and mother makes for herself, the manner in which she understands duty and life, contains the fate of the community. Her faith becomes the star of the conjugalship and her love the animating principle that fashions the future of all belonging to her. Woman is the salvation or destruction of the family. She carries its destinies in the folds of her mantle"

(Amiel)

"Perfect daughters, wives and mothers, after the severly disciplined, self-sacrificing Hindu ideal, remaining modestly at home, as the proper share of their duties, unknown beyond their families, and seeking in the happiness of their children their greatest pleasure and in the reverence of their husbands the amaranthene crown of a woman's truest glory."

(Sir George Birdwood in the Asiatic Quarterly Review)

किस विधिसे विवाह होने पर समाजमे तथा व्यक्तिगत जीवनमें शान्ति और समता रह सकती है—हिन्दु जातिने इसीके पता लगानेका प्रयत्न किया था। जिस प्रकार यूरोपके राजघरानेके लोग राज्यके विचारसे विवाह सम्बन्ध करते थे और यूजिनिक लोग मानवीय प्रगतिके लिये व्यक्तिगत स्वार्थत्यागका उपदेश करते थे, ऐसा ही हिन्दुजातिमें भी विवाहविधिका उपयोग किया गया है जिससे सामाजिक जीवनकी समुन्नति तथा सुखके विचारसे स्त्रीपुरुष व्यक्तिगत वैषयिक सुखमें न फंस जाय और उस सुखलालसाका उदारतर सामाजिक

जीवनमे विनियोग कर सके। माता इसी लिये गृहस्थाश्रममें तपस्विनीका जीवन वितायाा करती है और विचारकी जञ्जीरमें मनोवृत्तियोको जकड़ देती है कि उनके जीवनादर्शसे समग्र जातिका कल्याण हो। 'उनपर प्रकृतिने अत्याचार किया है' ऐसा समझकर कही कही जो स्त्रियां 'मां' बननेसे घबड़ाती है इस हीनताकी चिन्ताको आर्यमाता अपने मातृभावको और भी उन्नत अलौकिक भावमे विलीन कर परित्याग करती है। (जे. डिसल डेविस)।

हिन्दुजाति अपनी स्त्रियोंके शरीरको पवित्र मानती है। प्रकाश्य स्थानमे अङ्गुलियोके अग्रभागसे भी कोई उन्हें स्पर्श नही कर सकता। कितनी ही हीन दशा उनकी क्यों न हो, बड़े बडे आदमी भी उन्हें 'माता' कहकर ही सम्बोधन करते है। (फादर अब्बे डयूबो)।

स्त्री और माता अपने लिये जिस प्रकार आदर्शको रखती है, जिस तरहसे वे अपने जीवन और कर्त्तव्यको समझती है, उससे समग्र जातिका भाग्यनिर्णय होता है। उनका विश्वास दाम्पत्यप्रेमका उज्ज्वल तारा है, उनका प्रेम उनके आत्मीय जनोंके जीवनमें प्राणशक्तिका सञ्चारक है। स्त्री ही गृहस्थ जीवनमे उद्धार या नाशका कारण है। गृहस्थके समग्र भाग्यको मानो वह अपने उत्तरीय वसनमे (ओढ़नीमें) बांधे ही फिरती है। (एमियेल)।

त्यागमय, सयमपूर्ण हिन्दु आदर्शके अनुसार उनकी स्त्रियां आदर्श कन्या, आदर्श सती और आदर्श माता होती है। वे मर्यादा और शीलताके साथ गृहकार्यको करती हुई उसी अन्तःपुरमे प्रच्छन्न रहा करती हैं, सन्तानोके सुखमे ही उनका सर्वोत्तम सुख है और पतिके प्रति पूजा तथा श्रद्धाभावप्रदर्शनमें ही उनकी चिर अमर महिमा है। (सर जार्ज बर्डउड)।

नारीजीवनकी तृतीय दशा वैधव्य है। प्रारब्ध कर्म्मके चक्रसे यदि सतीको विधवा होना पडे तो इस वैधव्य दशामे पातिव्रत्यकी पूर्ण परीक्षा होती है। सतीत्वके परम पवित्र भावमे भावित सतीका अन्तःकरण वैधव्यरूप संन्यास दशामें परमदेवता पतिके निराकार रूपमे तन्मय होकर पातिव्रत्य धर्म्मकी पूर्णताका साधन और उद्यापन कराता है। इसीलिये यह तृतीय दशा परमगौरवान्वित तथा पवित्रतामय है। यह बात पहिले ही सिद्ध की गई है कि भगवच्चरणकमलोंमें भक्तोंकी तरह पतिके चरणकमलोंमें लवलीन होनेसे ही

स्त्रीकी मुक्ति होती है । पतिव्रता सती पातिव्रत्यके प्रभावसे पतिलोक अर्थात् पञ्चमलोकमें जाकर पतिके साथ आनन्दमें मग्न रहती है । इस प्रकारकी तन्मयता द्वारा पातिव्रत्यकी पूर्णता होनेसे ही पुनर्जन्मके समय उनको स्त्रीयोनिमें नही आना पड़ता है । वह अपनी योनिसे मुक्त हो उत्तम गतिको प्राप्त करती है। आर्य्यमहर्षियोंने जो स्त्रीजातिको सकल दशाओंमें ही एकपतिव्रतका उपदेश दिया है उसका यही कारण है । क्योंकि विना एकपतिव्रतके तन्मयता नही हो सकती। अनेकोंमे जो चित्त चञ्चल होता है उसमे तन्मयता कभी नहीं आ सकती है और विना तन्मयताके पातिव्रत्यकी पूर्णता नही हो सकती है एव विना पातिव्रत्यकी पूर्णताके स्त्रीयोनि समाप्त होकर मुक्ति प्राप्त नही हो सकती है। इसलिये गृहिणी और विधवाकी सकल दशामें ही महर्षियोने एकपतिव्रतरूप धर्म्मपर इतना जोर दिया है । इस धर्म्मके विना स्त्रीका जन्म ही वृथा है। कन्याकालमे इस धर्म्मकी शिक्षा और गृहिणीकालमें इसका अभ्यास होकर विधवाकालमें इसकी समाप्ति होती है । इसलिये वैधव्यदशामें भी पातिव्रत्यका पूर्ण अनुष्ठान होकर मृत पतिकी आत्मामे अपनी आत्माका लयसाधन करना ही विधवाका एकमात्र धर्म्म है।

आर्य्यशास्त्रोंमें विवाह स्थूल शरीरके भोगमात्रको लक्ष्य करके नही रक्खा गया है; क्योंकि इस प्रकार करनेसे भोगस्पृहा बलवती होकर आर्य्यत्व मनुष्यत्व तकको नष्ट कर देगी और मनुष्यको पशुसे भी अधम बना देगी। आर्य्यजातिका विवाह भोगको बढ़ानेके लिये नही है, किन्तु स्वाभाविक और अनर्गल भोगस्पृहाको घटानेके लिये है। स्त्री अपनी स्वाभाविक पुरुषभोगेच्छाको एक ही पतिमें केन्द्रीभूत करती हुई उन्हीमें पातिव्रत्य द्वारा तन्मय हो मुक्त हो जायगी इसलिये स्त्रीका विवाह है । पुरुष अपनी स्वाभाविक अनर्गल भोगेच्छाको एकही स्त्रीमें केन्द्रीभूत करके उसी प्रकृतिको देखकर उससे अलग हो मुक्त हो जायंगे इसलिये पुरुषका विवाह है। स्त्रीके लिये एक ही पतिमे तन्मय होना धर्म्म है, उसमें एकके सिवाय दूसरा होनेसे एकाग्रता नही रहेगी, अतः तन्मयता नही होगी और मुक्तिमें बाधा हो जायगी इसलिये एकपतिव्रत स्त्रीके लिये परम धर्म है । स्त्रीके लिये इस प्रकारका द्वितीय विवाह धर्म्म नही हो सकता। वैधव्य क्यों होता है इस विषयमें स्कन्द पुराणमें अरुन्धती आख्यानमें निम्नलिखित प्रमाण मिलता है। यथा :—

यः स्वनारीं परित्यज्य निर्दोषां कुलसंभवाम्।
परदाररतो हि स्यादन्यां वा कुरुते स्त्रियम्॥
सोऽन्यजन्मनि देवेशि! स्त्री भूत्वा विधवा भवेत्।
या नारी तु पतिं त्यक्त्वा मनोवाक्कायकर्मभिः॥
रहः करोति वै जारं गत्वा वा पुरुषान्तरम्।
तेन कर्मविपाकेन सा नारी विधवा भवेत्॥

पार्वतीके प्रति महादेवकी उक्ति है, जो पुरुप अपनी निर्दोषा कुलीन स्त्रीको छोडकर परस्त्रीमे आसक्त या अन्य स्त्री ग्रहण करता है वह दूसरे जन्ममें स्त्रीयोनि पाकर विधवा हो जाता है। इसी प्रकार जो स्त्री अपने पतिको छोडकर अन्य पुरुषमें रत हो जाती है उसको भी जन्मान्तरमें वैधव्य होता है। अतः वैधव्य जब स्त्री या पुरुप दोनोंको ही किसी प्राक्तन दोषके कारण होता है तो तपस्याके द्वारा उस दोषका नाश करना ही धर्म होगा। पुनः विवाह करनेपर यह दोप नष्ट नही हो सकेगा, वल्कि एक दोपपर अन्य दोष बढ़ जायगा, यही कारण है कि महर्पियोंने नारी जातिके लिये निवृत्तिके साथ वैधव्य धर्म पालनेकी ही आज्ञा दी है।

आर्य्य स्त्रीके विवाहमे पतिके साथ सम्बन्ध स्थूल सूक्ष्म तथा कारण तीनों शरीर और आत्माका भी होता है। इसलिये पतिके परलोक जानेपर भी स्त्रीके साथ सम्बन्ध नही टूटता है। क्योंकि मृत्यु केवल स्थूल शरीरका परिवर्त्तन मात्र है। सूक्ष्म तथा कारण शरीर और आत्मामे परिवर्त्तन कुछ भी नही होता है। अतः आर्य्यविवाह सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर और आत्माके साथ होनेके कारण पतिके परलोक जानेसे भी नष्ट नही हो सकता है।

मनुसहितामे लिखा है कि :—

कामन्तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु॥
आसीतामरणात् क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म्म एकपत्नीनां कांक्षन्ती तमनुत्तमम्॥
अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम्॥

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्य्यव्रते स्थिता ।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥ (५म अ०)

पतिकी मृत्युके अनन्तर सती स्त्री पुष्प, मूल और फल खाकर भी जीवन धारण करे परन्तु कभी अपने पतिके सिवाय अन्य पुरुषका नाम तक नही लेवे । सती स्त्री मृत्यु जब तक नही हो तब तक क्लेशसहिष्णु, नियमवती तथा ब्रह्मचारिणी रहकर एकपतिव्रता सती स्त्रीका ही आचरण करे । अनेक सहस्र आकुमार ब्रह्मचारी प्रजाकी उत्पत्ति न करके भी केवल ब्रह्मचर्य्यके बलसे दिव्य लोकमें गये है । पतिके मृत होनेपर भी उन कुमार ब्रह्मचारियोकी तरह जो सती ब्रह्मचारिणी बनी रहती है उसको पुत्र न होनेपर भी केवल ब्रह्मचर्य्यके ही बलसे स्वर्गलाभ होता है ।

भारत यूरोप होकर उन्नत नही हो सकता और आर्य्य पुरुष अनार्य्य होकर उन्नत नही हो सकते और आर्य्य सतियां विलायती मेमें बनकर उन्नत नही हो सकती, किन्तु सीता सावित्री बनकर ही उन्नत हो सकती है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नही है । इन्हीं सब कारणोसे मनुजीने स्त्रीके लिये द्वितीय बार विवाह करना मना किया है । यथा :—

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ।
सकृदाह ददामीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥ (९म अ०)

पैतृक सम्पत्ति एक ही बार विभक्त होती है, कन्या एक ही बार पात्रमें दी जाती है और दान एक ही बार सकल वस्तुओंका हुआ करता है । सत्पुरुष इन तीनोको एक ही बार करते हैं । और भी मनुस्मृतिमे—

"न विवाहविधावुक्तं विधवाऽऽवेदनं पुनः" (९म अ०)

अर्थात् विवाह विधिमें विधवाका विवाह कही नही बताया गया है ।

आर्य्यशास्त्रमे कहा गया है कि प्रकृतिरूपिणी स्त्रीजातिमे अष्टम धातु रज (जो कि पुरुषमें नही है) और अविद्याका अंश होनेके कारण पुरुषसे अष्टगुण अधिक काम होनेपर भी विद्याके अंशसे लज्जा और धैर्य्य बहुत कुछ है । यथा वृहत् पराशर ४-४३ में—

स्त्रीणामष्टगुणः कामः व्यवसायश्च षड्गुणः ।
लज्जा चतुर्गुणा तासामाहारश्च तदर्धकः ॥

अतः विधवाजीवन इस प्रकार बना देना चाहिये कि जिससे उनमें अविद्याका अंश नष्ट हो जाय और विद्याका अंश पूर्ण प्रकट हो सके। आजकल जो विधवाएँ बिगड़ती हैं उसमे शिक्षा तथा उनके साथ ठीक ठीक बर्तावका अभाव ही कारण है। विधवा होनेके दिनसे ही गृहस्थ लोग उनके लिये यह भाव उत्पन्न करने लगते हैं कि संसारमें उनके सदृश दुःखी और हतभाग्य कोई नही है। ऐसा करना सर्वथा भ्रमयुक्त है। यह केवल विचारके विरुद्ध ही नहीं किन्तु शास्त्रके भी विरुद्ध है। आर्यशास्त्रोंमें भोगसे त्यागकी महिमा अधिक कही गई है। महाभारतमे लिखा है:—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नाऽर्हतः षोडशीं कलाम्॥

संसारमें कामजनित सुख अथवा स्वर्गमें उत्तम भोग-सुख ये दोनो ही वासनाक्षयजनित अनुपम सुखके सोलह भागोंमेसे एक भाग भी नही हो सकते। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है:—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

विषयोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध हो जानेसे जो कुछ सुख होता है वह दुःखयोनि होनेसे दुःखरूप ही है और इस प्रकारका सुख आदिअन्तसे युक्त और नश्वर है इसलिये विचारवान पुरुष विषय-सुखमें मत्त नही होते। संसारमे वही सच्चा सुखी और योगी है जिसने आजन्म काम और क्रोधके वेगको धारण किया है। विधवाका जीवन सन्यासीका जीवन है। इसमें निवृत्तिकी शान्ति तथा त्यागका विमल आनन्द है। फिर विधवा स्त्री हतभागिनी क्यों कही जाती है? क्या त्याग करना हतभाग्य बननेका लक्षण है? सोचनेसे पता लगेगा कि निवृत्तिमें ही आनन्द है प्रवृत्तिमें नही। त्यागमे ही आनन्द है भोगमें नहीं और वासनाके क्षयमें ही आनन्द है वासनाके अधीन बननेमे नही। गृहस्थ विषयी होनेसे दुःखी है और संन्यासी विषय त्याग करनेसे सुखी है। जब यही अवस्था विधवाकी है तो विधवा हतभागिनी है या वास्तवमे सुखी है सो विचार-

शील पुरुष सोच सकेंगे। विधवाका पुरुषके साथ कामभोग छूट गया इसलिये विधवा दुःखिनी हो गई यह बात बड़ी ही कौतुकजनक है। क्या कामके द्वारा किसीको सुख भी होता है? आजतक किसीको कामके द्वारा सुख मिला था? या किसी शास्त्रमें ऐसा लिखा भी है? गीतामें कामको नरकका द्वार कहा है, आनन्दका द्वार नही कहा है। काम चित्तका एक उन्माद मात्र है। मनुष्य उस उन्मादमें फंस जाया करता है। परन्तु फस जाकर सुखका भान होना और बात है और यथार्थ सुख प्राप्त होना और बात है। कामके द्वारा किसीको सुख प्राप्त नही होता इसको विषयवद्ध गृहस्थ भी स्वीकार करेंगे क्योंकि वे भी चाहते हैं कि वासना छूटकर शान्ति हो जाय। परन्तु पूर्वजन्मका संस्कार अन्यरूप होनेसे वासना नही छूटती, इसलिये वे विषयोंमें मत्त रहते हैं, अपिच चित्त दुर्वल होनेके कारण विषयोंमें मत्त होनेसे ही विषय सुखकर हो जायगे यह वात कोई नहीं कहेगा परन्तु विषयके छूट जानेपर ही सच्चा सुख होगा यही वात सव लोग कहेंगे। जव विधवाको विषयोंको त्याग करके निवृत्तिके परमानन्द प्राप्त करनेका सुयोग मिला है तो विधवा दुःखिनी नही है, गृहस्थ सधवा स्त्रियोंसे अधम नही किन्तु उनकी गुरु तथा पूज्या है। क्यौकि संन्यासी गृहस्थोंके गुरु तथा पूज्य होते है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन ये पशु भी करता है, इसमें मनुष्यकी विशेषता क्या है? लाखों जन्मोंसे यही काम होता आया है। यदि विधवा गृहस्थमें रहकर वालवच्चे उत्पन्न करती तो उन्ही लाखों जन्मोंके किये हुए कामोंको और एक वार करती, परन्तु इसमें क्या रक्खा है? इसलिये अनन्त जन्म तक संसारका दुःख भोगनेपर भी विषयी जीवको जो भगवान्‌का अलभ्य चरणकमल प्राप्त नहीं होता और जिसके लिये समस्त जीव लालायित होकर संसारचक्रमें घूम रहे है उसी चरणकमलमें यदि भगवान्‌ने विधवाको संसारसे अलग करके शीघ्र बुलाया है और निवृत्ति सेवन करके नित्यानन्द प्राप्त करनेका अवसर दिया है तो इससे अधिक उत्तम वात और क्या हो सकती है?

जव गृहस्थमें कोई स्त्री विधवा हो जाय तो वहांके सव लोगोंका प्रथम कर्त्तव्य यह होना चाहिये कि विधवाको उनकी अवस्थाका गौरव समझा देवे। उनपर श्रद्धाके साथ पूज्यबुद्धिका वर्ताव करें। उनके पास गृहस्थाश्रमके अनन्त दुःख और विषय-सुखकी परिणाम दुःखताका वर्णन करें और साथ ही साथ निवृत्तिमार्गपरायण होनेके कारण उनको कितना आनन्द, कितनी शान्ति

ओर कितना सुख प्राप्त हो सकता है, इसका ध्यान दिलावें एवं उनकी स्थिति-को अपूर्वता तथा संसार बन्धन मोचनका सुयोग, जो कि उनकी सङ्गिनी गृहस्थ स्त्रियोंको न जाने कितने जन्ममे जाकर मिलेगा, सो उनको इसी जन्ममे मिल गया है अतः वे धन्य हैं तथा पूज्या हैं, इस प्रकारका भाव विधवाके हृदयमें जमा देवे। ऐसा समझा देनेसे विधवाको अपनी दशाके लिये दुःख नही होगा किन्तु सुख ही होगा, भोग न मिलनेसे दुःख नही होगा, सन्यासीकी तरह त्यागी बननेमे गौरव ज्ञात होगा, शम दमादि साधन क्लेशकर तथा दैव पीड़न ज्ञात नही होंगे परन्तु सयम और अनन्त आनन्दके सहायक प्रतीत होंगे। यही वैधव्य दशामे पातिव्रत्य रखनेका तथा अविद्याभावको दूर करके विद्याभावके वढानेका प्रथम उपाय है। ससारमें सुख दुःख करके कोई वस्तु नहीं है। भिन्न भिन्न दशामें चित्तके भिन्न भिन्न भावोंके अनुसार सुख दुःखकी प्रतीति होती है। एक ही वस्तु एक भावमे देखनेसे सुख देने वाली और दूसरे भावमें देखनेसे दुःख देनेवाली हो जाती है। संसारीके लिए कामिनी, काञ्चन आदि जो सुख है, सन्यासीके लिये वही दुःख है और सन्यासीके लिये जो सुख है गृहस्थके लिये वही दुःख है। प्रवृत्तिकी दृष्टिसे देखने पर सांसारिक भोगकी वस्तुओंमें सुख प्रतीत होने लगता है परन्तु वे ही सब वस्तु निवृत्तिकी दृष्टिसे देखे जानेपर दुःखदायी होने लगती हैं इसलिये विधवाओंके भीतर ऐसी बुद्धि उत्पन्न करनी चाहिये कि वे सांसारिक सभी वस्तुओको निवृत्तिकी दृष्टिसे अकिञ्चित्कर तथा दुःखपरिणामी देखे, यही वैधव्य दशामें पातिव्रत्य पालनका द्वितीय उपाय है। विधवाकी हृदयकन्दरा-में निहित पवित्र प्रेमधाराको हृदयमे ही बन्द रखकर सड जाने देना नही चाहिये, किन्तु सन्यासीकी तरह उसे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' भावमें परिणत करना चाहिये। परिवारमे जितने वाल-बच्चे हैं सबकी माता मानो विधवा ही है इस प्रकारका भाव विधवाके हृदयमें उत्पन्न करना चाहिये। उनके हृदयमें निःस्वार्थ प्रेम तथा परोपकार प्रवृत्तिका भाव जगाना चाहिये। यही वैधव्य दशामें पातिव्रत्य रक्षाका तृतीय उपाय है। इसका चतुर्थ उपाय सबसे सहज और सबसे कठिन है। वह यह है कि पितृकुलमें यदि विधवा रहे तो उसके माता पिता और श्वशुरकुलमें रहें तो उसके सास ससुर जिस दिनसे घरमें स्त्री विधवा हो उसी दिनसे विलास-क्रिया छोड़ देवे। ऐसा होनेसे घरकी विधवा कभी नही विगड सकती। उसके सामनेका ज्वलन्त आदर्श उसके

चित्तको कभी मलीन नहीं होने देगा। इसका पञ्चम उपाय यह है कि जिस घरमें विधवा हो वहांके सभी स्त्री पुरुष बहुत सावधानतासे विषयसम्बन्ध करे जिसका कुछ भी पता विधवाको न मिले। इसका षष्ठ उपाय सदाचार है। विधवा स्त्रियां आचारवती होवें, खान पान आदिके विषयमें सावधान रहें। विधवाको श्वेत वस्त्र पहिनना चाहिये और अलङ्कार धारण नहीं करना चाहिये, क्योंकि रंगीन वस्त्र और धातुका अलङ्कार स्नायविक उत्तेजना उत्पन्न करके विधवाके ब्रह्मचर्य व्रतसे हानि पहुंचा सकता है। इसमें वैज्ञानिक कारण बहुत है जो कि पहिले ही कहा जा चुका है। उनको निर्लज्जा होकर इधर उधर घूमना नहीं चाहिये। नाटक देखना, जिस तिसके मकान पर जाना और वैषयिक बातें करना और इस प्रकारकी तसवीर या पुस्तक देखना कभी नहीं चाहिये। विधवाके खानपानकी व्यवस्था परिवारके स्वामी ही करे अन्य कोई न करे। जिस प्रकार देवताके नामपर आई हुई वस्तु अन्य कोई नहीं खाते उसी प्रकार विधवाके लिये निर्दिष्ट वस्तुको कोई ग्रहण न करे। रातको एक दो शिशुके साथ विधवाको शयन करना चाहिये। विधवाको किसी बातकी आज्ञा करनी हो तो श्वशुर सास, माता पिता स्वयं ही करें, बहू कन्या आदिके द्वारा कभी न करावें। उनको गृहकार्य्यमें उन्मुख करके सधवाओंकी सहचारिणी तथा उनपर कृपा करने वाली बना देवे। विधवा कोई व्रत करना चाहे तो उसी समय करा देना चाहिये, उसमें कृपणता कभी नहीं करनी चाहिये। अन्यान्य सधवाओंकी अपेक्षा विधवाके व्रतोद्यापनमें अधिक व्यय तथा धूमधामसे कार्य होना चाहिये। इसका सप्तम उपाय यह है कि बालविवाह और वृद्धविवाह उठादेना चाहिये। आर्य्य-शास्त्रानुसार बालिकापनमें विवाह न कराकर रजस्वलासे पहिले ही करा देना चाहिये। पुत्र होनेपर पुरुषको अन्य कारणोंसे वृद्धावस्थामें या अधिक अवस्थामें विवाह नहीं करना चाहिये। अष्टम उपाय यह है कि ब्रह्मचर्य्य और सन्यासाश्रममें पुरुषके लिये शारीरिक, वाचनिक और मानसिक जितने तपोंका विधान किया गया है और सात्त्विक भोजन, मनःसंयम, सदाचारपालन आदि जितने नियम बताये गये हैं उन सबका ठीक ठीक अनुष्ठान विधवाके लिये होना चाहिये। भगवद्भजन, शास्त्रचर्चा, वैराग्यसम्बन्धी ग्रन्थोंका पठन और मनन, पातिव्रत्य-महिमाविषयक ग्रन्थोंका विचार और आध्यात्मिक उन्नतिकारी ग्रन्थों तथा उपदेशोंका श्रवण और मनन होना चाहिये। गृहस्थ दशामें पति देवताकी साकार मूर्त्तिकी उपासना थी, अब संन्यासकी तरह वैधव्य दशामें उनके निरा-

कार स्वरूपकी उपासना द्वारा तन्मयता प्राप्त करनेसे मुक्ति प्राप्त होगी, यह अवस्था तुच्छ विषयसुखमे मत्त गृहस्थ नरनारियोंकी अवस्थासे उन्नत और गौरवान्वित है, सदा ही उनके चित्तमे यह भाव विराजमान कराना चाहिये। जिस परमपति भगवान्की कृपासे प्रारब्धानुसार यह उन्नत साधन दशा प्राप्त हुई है उनके चरणकमलमे भक्तिके साथ नित्य बार बार प्रणाम तथा उनका नियमित ध्यान करना सिखाना चाहिये। इन सब उपायोका अवलम्बन करनेसे घरमे विधवा स्त्री साक्षात् जगदम्बास्वरूपिणी बन जाती है। उसकी अविद्याप्रकृति लय होकर विद्याप्रकृतिका पूर्ण प्रकाश हो जाता है। ऐसी विधवा स्वयं ही भोग-वासना आनन्दके साथ त्याग कर देती है, विषयका नाम लेनेसे उसको घृणा आती है, गृहकार्य्यमे परम निपुण होती है, अतिथि सत्कार, अभ्यागत, कुटुम्बी आत्मीय जनोकी सवर्धना आदि कार्य्यको परम प्रेमके साथ करने लगती है, सबल नीरोग तथा तेजस्विनी हो जाती है, ईर्ष्या आदि दोषोका त्याग करके सधवा स्त्रियोंके प्रति दयावती और गृहस्थकी सन्तानोके प्रति मातृवत्स्नेहशीला होती है। जिस ससारमे इस प्रकारकी विधवा विद्यमान है वहां एक प्रत्यक्ष देवीमूर्तिका अधिष्ठान समझना चाहिये। वहां पर सभी लोक ऋषिचरित्रके द्रष्टा तथा फलभोक्ता है और जहां इस प्रकारकी दृष्टि, भाव और फल भोग है वहां अदूरदर्शी व्यक्तियोकी पाप और भ्रूणहत्याकी शङ्का तथा कल्पना कभी नही आ सकती। आर्य्यजाति ऐसी ही थी और यदि भारतको यथार्थमे उन्नत करना हो तो ऐसे आदर्शकी ही प्रतिष्ठा करनी चाहिये। अन्य किसी आदर्शके द्वारा आर्य्यजाति अपने स्वरूप पर स्थित रहकर उन्नत नही हो सकती। अपने जातिगत आदर्शका त्याग करके अन्य देशके आदर्शके ग्रहण करनेकी चेष्टा करनेसे सस्कारविरुद्ध होनेके कारण 'इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः' हो जायगा। और आर्य्यजाति घोर अवनतिको प्राप्त हो जायगी। अतः आजकलके सभी नेताओको इन सब नारीधर्म्मसम्बन्धीय विधानोका रहस्य समझकर यथार्थ उन्नतिके पुरुषार्थमें सन्नद्ध होना चाहिये।

शंका समाधान।

नारीधर्मके विषयमे आजकल अनेक प्रकारकी शंकाएं प्रायः उठा करती है। अतः शका समाधानरूपसे आगे कुछ विचार किया जाता है।

मनुजीने पुरुषप्रकृति व स्त्रीप्रकृति पर संयम करके दोनोंका प्रभेद देख-कर स्त्रीके लिये निम्नलिखितरूपसे संस्कारोंकी आज्ञा की है। यथाः—

अमन्त्रिका तु कार्य्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्काराऽर्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्॥
वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहाऽर्थोऽग्निपरिक्रिया॥

(२य अ०)

शरीरकी शुद्धिके लिये यथाकाल व यथाक्रम जातकर्म्मादि सभी संस्कार स्त्रियोंके लिये भी कराने चाहिये, परन्तु उनके संस्कार वैदिकमन्त्ररहित होने चाहियें। सभी संस्कार कहनेसे यदि स्त्रियोंके लिये उपनयन संस्कारकी भी आज्ञा समझी जाय, इस सन्देहको सोचकर मनुजी दूसरे श्लोकमें कहते हैं कि स्त्रियोंका उपनयन संस्कार नहीं होना चाहिये। विवाहसंस्कार ही स्त्रियोंका उपनयन संस्कार है। इसमे परमगुरु पतिकी सेवा ही गुरुकुलमे वास है और गृहकार्य्य ही सन्ध्या वा प्रातः कालमे हवनरूप अग्निपरिचर्य्या है। यही स्त्रियोंके लिये उपनयन संस्कार है। द्विज बालकोंकी तरह उपनयन संस्कार स्त्रियोंके लिये नहीं है।

स्त्रियोंके लिये वेदपाठका निषेध, इसलिये मनुजीने किया है कि 'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा' इत्यादि महाभाष्यके प्रमाणानुसार, यदि स्वर या वर्णसे वेदमन्त्रका अशुद्ध उच्चारण हो तो वह मन्त्र यजमानका कल्याण न करके उलटा उसका नाश करता है। स्त्रीशरीर कुछ असम्पूर्ण होनेके कारण स्त्रीके द्वारा स्वरतः वर्णतः वैदिक मन्त्रोंका ठीक ठीक उच्चारण असम्भव है, अतः जिस प्रकार शूद्रके वेदमन्त्रके उच्चारण करनेपर उसकी हानि है ऐसा ही स्त्रीके भी वेदमन्त्रो-च्चारणसे उसकी बहुत हानि होगी, इसीलिये मनुजीने स्त्रियोंके लिये उपनयन संस्कारका पूरा निषेध और जातकर्म्मादिमे वैदिक मन्त्रोच्चारणका निषेध किया है। साधारण विचारसे ही ज्ञात हो सकता है-कि स्त्रियोंका कण्ठ व जिह्वा असम्पूर्ण है। उनमे उदात्त और अनुदात्त आदि वैदिक स्वरोंका ठीक ठीक प्रकट होना असम्भव है। उनका स्वर प्रायः एकही ढङ्गका होता है उसमे गुरु लघुभेद कम होता है जो कि मन्त्रोंके उच्चारणके योग्य नहीं है। असम्पूर्णस्वर व शरीरके

द्वारा पूर्ण शक्तियुक्त मन्त्रोंके उच्चारण करनेसे कल्याण व शुभफलके बदले हानि व अशुभफल प्राप्त होता है इसलिये मनुजीने ऐसी आज्ञा स्त्रियोंके लिये की है। यथा—

नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मव्यवस्थितिः।
निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्मृतिः॥ मनु ९।१८

अर्थात् वागिन्द्रियकी असम्पूर्णताके कारण वैदिक मन्त्रोंसे स्त्रियोंका सस्कार नहीं होना चाहिये। और भी महाभारत अनु० ४०।१२ में—

'निरिन्द्रिया ह्यशास्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति श्रुतिः'

अर्थात् वागिन्द्रियकी असम्पूर्णताके कारण उनका वेदाधिकार नहीं है।

अब इस साधारण विधिका उल्लघन केवल दो असाधारण दशामें हो सकता है। एक विवाह और दूसरी ब्रह्मवादिनी स्त्रीदशा है। स्त्रियोंके जातकर्मादि सस्कारोंमें वैदिक मन्त्रोच्चारण निषिद्ध होनेपर भी विवाहसंस्कारके समय जो मन्त्रोच्चारणकी आज्ञा की गई है उसका उद्देश्य बहुत गम्भीर है। मन्त्र दो प्रकारके होते हैं। यथा—एक शक्तिप्रधान और दूसरा भावप्रधान। निरुक्तमें भी वर्णन है कि:—

अथाऽपि कस्यचिद्भावस्याऽऽचिख्यासा।

शक्तिप्रधान मन्त्रोंके अतिरिक्त कोई कोई मन्त्र भावप्रधान भी होते हैं। शक्तिप्रधान मन्त्रोंके साथ स्थूल शरीरका और भावप्रधान मन्त्रोंके साथ चित्तका सम्बन्ध प्रधानतः रहता है। जातकर्मादि सस्कारोंमे जो वैदिक मन्त्र आते है वे सब शक्तिप्रधान होनेके कारण उन्नत स्थूल शरीरवाले द्विजपुरुषोंके लिये ही विहित हो सकते हैं, अनुन्नत स्थूलशरीर स्त्रियोंके लिये विहित नहीं हो सकते हैं। परन्तु विवाहसंस्कारके जितने मन्त्र हैं वे सभी भावप्रधान हैं। विचारवान् पुरुष सप्तपदीगमनके जितने मन्त्र पढ़े जाते हैं उनपर ध्यान देनेसे ही इस बातको अच्छी तरह अनुभव करेंगे, अतः विवाहसस्कारके मन्त्रोंमे भावप्राधान्य होनेसे स्त्री पुरुष दोनों ही उन मन्त्रोंको पढ़ सकते हैं। आर्य्यशास्त्रोंमे विवाहसस्कार अन्य देशीय विवाहसस्कारसे कुछ विलक्षण ही है। आर्य्य विवाह कामभोग द्वारा पशुभाव प्राप्त करनेके लिये नहीं है, परन्तु अद्वितीय परमात्माके वाम अङ्गसे जिस प्रकृतिने सृष्टिके समय निकलकर ससारमे स्त्रीपुरुषरूपी द्वितीयताको फैला दिया था, उस प्रकृतिका परमात्मामें पुनः लय साधन करके उसको उसी

अद्वितीय भावमे लानेके लिये है। विवाहके सब मन्त्र इसी भावको सूचित करते हैं। यजुर्वेदमे पाणिग्रहणका एक मन्त्र मिलता है, जिसका अर्थ यह है कि "मैं लक्ष्मीहीन हूँ तुम लक्ष्मी हो, तुम्हारे विना मैं शून्य हूँ तुम मेरी लक्ष्मी हो, मैं सामवेद हूँ तुम ऋग्वेद हो, मैं आकाश हूँ तुम पृथिवी हो और तुम व मैं दोनों मिलकर ही पूर्ण हैं। तुम्हारा हृदय मेरा हो जाय और मेरा हृदय तुम्हारा हो जाय", "अन्नरूप पाश व मणितुल्य प्राणसूत्र द्वारा और सत्यरूप ग्रन्थिसे तुम्हारे मन व हृदयका मैं बन्धन करता हूँ", "तुम्हारे केश नेत्र हस्त व पद आदि शरीरके अङ्गोमें यदि कोई दोष हो, तो मैं उसे पूर्णाहुति व आज्याहुतिके द्वारा नष्ट करता हूँ", इत्यादि इत्यादि विवाहसंस्कारके मन्त्रोंसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि विवाहकालमें स्त्री पुरुष दोनोंकी ही विशेष भावशुद्धि और पातिव्रत्यके लक्षण व पतिमे तन्मयताकी प्राप्ति स्त्रीकी उस समय होती है। अतः पुरुषकी तरह भावप्रधान वैदिक मन्त्रोका उच्चारण उस समय स्त्री कर सकती है। यही कारण है कि अन्य संस्कारोमें स्त्रियोके लिये वैदिक मन्त्रोच्चारण निषिद्ध होनेपर भी विवाहके समय वैवाहिक मन्त्रोके उच्चारणके लिये आज्ञा की गई है।

मन्त्रोच्चारणमे दूसरा अधिकार ब्रह्मवादिनी स्त्रियोका है। स्त्रीमे प्रकृतिका भाव अधिक होनेसे ज्ञानशक्तिके विकाशकी अपेक्षा भक्तिभाव, ममताभाव आदि अधिक रहता है, परन्तु ब्रह्मवादिनी स्त्रीकी दशा एक असाधारण दशा है जिसमे ज्ञानशक्तिका विकाश विशेष होता है। वर्णविज्ञान नामक अध्यायमे कहा जायगा कि आरूढ़पतित मनुष्यमे या पशु आदि तकमे भी साधारण प्राकृतिक नियमसे उन्नत मनुष्य या पशु आदिकी अपेक्षा विशेष योग्यता देखनेमे आती है। इसी प्रकार ब्रह्मवादिनी स्त्रीकी दशाको भी आरूढ़पतित दशा समझनी चाहिये। साधारण रीतिसे प्रकृतिके प्रवाहमें क्रमोन्नतिप्राप्त स्त्रीमे ज्ञानशक्तिका इतना विकाश कभी नही हो सकता है क्योंकि साधारण स्त्रीमें प्रकृतिभाव प्रधान रहता है। असाधारण ब्रह्मवादिनी स्त्रीकी दशा तभी प्राप्त हो सकती है जब किसी विशेष ज्ञानशक्तिसे युक्त पुरुषको पूर्वजन्मके किसी स्त्रीयोनिप्रद प्रबल कर्मके कारण स्त्रीयोनि प्राप्त हो। त्रिगुणमयी मायाके लीला विलासमय ससारमें ऐसा होना असम्भव नही है क्योंकि भरत ऋषि आदि महत्पुरुषोंमें भी जब मोहके सम्बन्धसे मृगयोनिकी प्राप्ति होना आदि देखा जाता है तो अच्छे

पुरुषके द्वारा भ्रान्तिसे स्त्री-संस्कार-प्रधान कर्म्म होना कुछ भी असम्भव नही है और इसी प्रकारके कर्म्मोसे स्त्रीयोनिकी प्राप्ति होना भी निश्चय है। कात्यायनसंहितामे लिखा है कि:—

मान्या चेन्म्रियते पूर्व्व भार्य्या पतिविमानिता।
त्रीणि जन्मानि सा पुंस्त्वं पुरुषः स्त्रीत्वमर्हति॥
यो दहेदग्निहोत्रेण स्वेन भार्य्यां कथञ्चन।
सा स्त्री सम्पद्यते तेन भार्य्या वाऽस्य पुमान्भवेत्॥

यदि निर्द्दोषा माननीया भार्य्या पतिके द्वारा अवमानिता होकर मरे तो तीन जन्मतक वह स्त्री पुरुषयोनिको और पुरुष स्त्रीयोनिको प्राप्त होते हैं। जो पुरुष अपने अग्निहोत्रके द्वारा किसी तरहसे अपनी पत्नीका दाह करता है वह स्त्री होता है और उसकी स्त्री पुरुषयोनि प्राप्त होती है। दक्षसंहितामे भी लिखा है कि:—

अदुष्टाऽपतितां भार्य्यां यौवने यः परित्यजेत्।
स जीवनाऽन्ते स्त्रीत्वञ्च वन्ध्यात्वञ्च समाप्नुयात्॥

निर्द्दोषा और निष्पापा भार्य्याको जो गृहस्थ यौवनकालमे परित्याग करता है वह मृत्युके अनन्तर दूसरे जन्ममे वन्ध्या स्त्री होता है।

भागवतके पुरञ्जनाख्यानमे भी प्रमाण मिलता है। यथा:—

शाश्वतीरनुभूयाऽऽर्त्तिं प्रमदासङ्गदूषितः।
तामेव मनसा गृह्णन् बभूव प्रमदोत्तमा॥

पुरञ्जन प्रमदासङ्गके कारण बहुत दिनों तक दुःख अनुभव करके मृत्युके समय अपनी पतिव्रता स्त्रीको स्मरण करता हुआ मरा और इसी कारण उसको उत्तम स्त्रीयोनि प्राप्त हुई। स्कन्दपुराणका अरुन्धती आख्यान पहिले ही कहा जा चुका है। इन सब प्रमाणोके द्वारा पुरुषकी स्त्रीयोनिप्राप्ति सिद्ध होती है, अतः इस तरहसे यदि कोई ज्ञानराज्यमें उन्नत पुरुषको भावविकारके कारण स्त्रीयोनि प्राप्त हो जाय तो पूर्व्व संस्कार ज्ञानप्रधान होनेसे वह स्त्री साधारण स्त्रियोंकीसी नही होगी, परन्तु असाधारण ब्रह्मवादिनी स्त्री होगी और असाधारण होनेसे उसका अधिकार भी असाधारण होगा। इसलिये उन ब्रह्मवादिनी स्त्रियोके लिये शास्त्रोमे उपनयनसंस्कार और वेदपाठका भी विधान किया गया है। यथा महर्षि हारीतने कहा है—

द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च । तत्र ब्रह्मवादिनी-
नामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाऽध्ययनं स्वगृहे भिक्षाचर्य्या ।

दो प्रकारकी स्त्रियाँ होती हैं। यथा—ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू । इनमेंसे ब्रह्मवादिनी स्त्रियोंके लिये उपनयन, अग्नीन्धन, वेदाध्ययन और निज-गृहमें भिक्षाचर्य्या विहित है। सद्योवधू स्त्रियोंके लिये ऐसी विधि नहीं है । उनके लिये विवाह ही उपनयनसंस्कार और पतिसेवा गुरुकुलवास आदि धर्म्म है जैसा कि मनुजीने बताया है। प्राचीन कालमें ज्ञानकी प्रधानता थी इसलिये ज्ञानोन्नत पुरुष अनेक थे और इसी कारण उस प्रकारकी आरूढपतिता ब्रह्मवादिनी स्त्रियां भी मिलती थी एवं उसीलिये उन स्त्रियोंके अर्थ उपनयन और वेदपाठ आदिका विधान भी था। अब इस युगमें ज्ञानका ह्रास हो गया है अतः विशेष ज्ञानोन्नत पुरुष विरले ही मिलते हैं और आरूढपतिता ब्रह्म-वादिनी स्त्रियां भी नहीं मिलती हैं। इसी कारण स्त्रियोंके लिये कलियुगमें उप-नयन और वेदपाठ आदि निषिद्ध है। महर्षि यमने भी लिखा है कि:—

पुरा कल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।
अध्यापनञ्च वेदानां सावित्रीवचनं तथा ॥
पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत्परः ।
स्वगृहे चैव कन्याया भैक्ष्यचर्य्या विधीयते ॥
वर्ज्जयेदजिनं चीरं जटाधारणमेव च ॥

पूर्व्व कल्पमें कुमारियोंका मौञ्जीबन्धन, वेदाध्ययन व सावित्रीवचन इष्ट था। पिता पितृव्य या भ्राता उनको वेद पढ़ाते थे। दूसरे किसीका अधि-कार उनको वेद पढ़ानेका नहीं था। अपने ही घरमें भिक्षाचर्य्याकी व्यवस्था थी। उनके लिये मृगचर्म्म, कौपीन या जटाधारणकी आज्ञा नहीं थी। यह सब पूर्व्वयुगके लिये व्यवस्था है जैसा कि महर्षि यमने कहा है। और यह भी व्यवस्था ब्रह्मवादिनी स्त्रियोंके लिये है, सद्योवधू-साधारण स्त्रियोंके लिये नहीं है जैसा कि कारण बताकर पहिले कहा गया है। विधि साधारण प्रकृतिको देखकर ही हुआ करती है, असाधारणको देखकर नहीं हुआ करती है। कहीं एक दो स्त्री ब्रह्मवादिनी निकलें और वे वेदपाठ आदिकी शक्ति रखती हों, इससे यह नियम सबके लिये नहीं हो सकता है। सबके लिये असाधारण

नियमकी आज्ञा होनेसे पूर्व सिद्धान्तानुसार अनधिकारी व्यक्तिके शक्तिमान् वैदिक मन्त्रादि पढ़नेपर कल्याण न होकर अकल्याण ही होगा। अतः विचार-वान् पुरुषोंको इन सब सिद्धान्तोंपर विचार करके सावधान रहना चाहिये। मनुजीने जो उपनयन आदिका एकवारगी निषेध किया है सो साधारण विधिके विचारसे ही किया है और हारीत व यम ऋषिने साधारण व असाधारण दोनों अधिकारोंका ही विचार करके कलियुगकी स्त्रियोंके लिये साधारण विधि ही समीचीन बताई है।

आजकल अवरोधप्रथा अर्थात् स्त्रियोंके पर्देके विषयमें अनेक शंकाएं फैल गई हैं। अतः इस विषयमें विचार किया जाता है। सती-जीवनमें श्रीके साथ ह्री (लज्जा) का भी मधुर विकाश नयनगोचर होता है। चण्डी (सप्तशती) में कहा है कि :—

या देवी सर्व्वभूतेषु लज्जारूपेण संस्थिता।

मनुष्योंमें लज्जा देवीका भाव है। स्त्रीजातिमें देवीभाव नैसर्गिक होनेसे लज्जा भी नैसर्गिक है। सतीत्वके उत्कर्षके साथ साथ देवीभावका अधिक विकाश होनेसे ह्रीकी भी पूर्णता होती है। सती स्त्री स्वभावतः ही विशेष लज्जा-शीला हुआ करती है। लज्जा का कारण अनुसन्धान करनेसे यही प्रतीत होता है कि पशुधर्मके प्रति मनुष्योंकी जो स्वाभाविकी घृणा है वही लज्जाका कारण है। मनुष्यप्रकृतिमें पशुत्वका आवेश अनुभव करनेसे ही लज्जाका उदय हुआ करता है। पशुप्रकृतिमें लज्जा नही है, पशु निर्लज्ज होकर आहार, निद्रा, मैथुनादि करता है। मनुष्य पशु नही है, इसलिये मनुष्यको स्वभावतः इन सब कार्य्यों को करते हुए लज्जा आती है। पुरुषमें देवीभाव (प्रकृतिभाव) से पुरुषभावकी अधिकता होनेसे पुरुषको इन सब कार्य्योंमें स्वभावतः लज्जा कम होती है, परन्तु स्त्रीमें पुरुषभावसे देवीभाव (प्रकृतिभाव) की अधिकता होनेसे स्त्रीको इन सब कार्य्योंमें स्वभावतः अधिक लज्जा होती है। पुरुषप्रकृतिके साथ स्त्रीप्रकृतिका यही प्रभेद है। इसी प्रभेदको रखते हुए दोनों अपने अपने अधिकारके अनुसार पूर्णताको प्राप्त कर सकते हैं। पुरुष अपने ज्ञानस्वरूपकी ओर अग्रसर होता हुआ अन्तमें भेदभाव विस्मृत हो लज्जारूप पाशको काट सकता है, परन्तु स्त्रीकी पूर्णता तभी होगी जब स्त्री अपने लज्जामूलक देवीभावको पूर्णतापर पहुंचावेगी। देवीभावकी पूर्णता पातिव्रत्यकी पूर्णतासे

होती है इसलिये लज्जाशीलता सतीधर्म्मका लक्षण है। निर्लज्जा स्त्री सती नहीं हो सकती है। लज्जा स्त्रीजातिका भूषण है, इसके न होनेसे स्त्रीका स्त्रीभाव ही नहीं रहता है। लज्जाके बलसे स्त्री अपने पातिव्रत्यधर्मको भी ठीक ठीक पालन कर सकती है। स्त्रीको पुरुषका अधिकार या पुरुषकी तरह शिक्षा देकर अथवा ऐसा ही आचार सिखाकर निर्लज्ज बनानेसे उसकी बडी भारी हानि होती है। ऐसी निर्लज्जा स्त्रियोंके द्वारा उत्तम सतीका धर्मपालन होना असम्भव हो जाता है क्योंकि जो आचार प्रकृतिसे विरुद्ध है उसके द्वारा कदापि किसीकी उन्नति नही हो सकती है। लज्जा जब स्त्रीजातिका स्वाभाविक भाव है तो इसके नष्ट करनेसे स्त्रीकी कभी उन्नति नहीं हो सकती है, अधिकन्तु प्रकृतिपर बलात्कार होनेके कारण अवनति होना ही निश्चय है। इसमें और भी बहुतसे कारण हैं जो नीचे दिखाये जाते हैं।

पाश्चात्य देशोंमें स्त्री पुरुषका साथ बैठकर भोजन, आलाप और एकत्र भ्रमण आदि आचार विद्यमान है, इसी कारण वहांकी स्त्रियोंमें निर्लज्जता व पुरुषभाव अधिक है और पातिव्रत्यकी महिमापर भी दृष्टि कम है। उत्तम सतीका क्या भाव है और पतिके साथ सहमरण कैसा होता है, पाश्चात्य स्त्रियां स्वप्नमें भी इन बातोका अनुभव नही कर सकती है। आर्यशास्त्रोंमे पातिव्रत्यके विना स्त्रीका जीवन ही व्यर्थ है ऐसा सिद्धान्त सुनिश्चित किया गया है; इसलिये अवरोधप्रथा (Purda System) आदिके द्वारा आर्य्य नारियोंमें लज्जाभावकी रक्षाके लिये प्रयत्न किया गया है और इसीलिये स्त्री पुरुषोंको एकत्र भोजन व भ्रमण आदिका आर्य्यशास्त्रोमे विधान नही किया गया है। यथा—मनु ४। ४३—

'नाश्नीयाद् भार्यया सार्द्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम्'

स्त्रीके साथ एकत्र भोजन और उनको भोजन करती हुई नही देखना चाहिये।

आजकल धर्मभावहीन पाश्चात्य शिक्षाके द्वारा विकृतमस्तिष्क कोई कोई मनुष्य अवरोधप्रथाको नष्ट करके स्त्रियोंको निर्लज्ज बनाना, पुरुषोंके भीतर निरंकुशभावसे भ्रमण या नृत्य, गीत, वाद्य अथवा नाटकादि उनसे कराना और विदेशीय नर नारियोंकी तरह उनका हाथ पकड़कर डोलते रहना या हवाखोरी करने जाना आदि बातोंको सभ्यताका लक्षण और स्त्रियोंपर

दया समझते हैं और इससे विरुद्ध सनातन अवरोधप्रथाको उनपर अत्याचार, अन्याय व निर्दयता समझते हैं। विचार करनेसे स्पष्टरूपसे सिद्ध होगा कि उन उन लोगोंकी इस प्रकारकी धारणा नितान्त भ्रममूलक है। किसीपर दया करना सदा ही अच्छा है, परन्तु जिस दयाके मूलमें विचार नहीं है उससे कल्याण न होकर अकल्याण ही होता है। स्त्रीजातिपर दया करना अच्छा है, परन्तु जिस दयासे पातिव्रत्यका मूल ही कट जाय, स्त्रीभाव नष्ट होजाय और संसारमें अनर्थ उत्पन्न हो, वह दया दया नहीं है, अथच वह महापाप है। ज्ञान-मय आर्य्यशास्त्र इस प्रकारकी मिथ्या दयाके लिये आज्ञा नहीं दे सकता है। और घरकी स्त्रियोंको निर्लज्ज बना कर बाहर न निकलनेसे निष्ठुरता होती है इसलिये सनातन अवरोधप्रथा निष्ठुरतासे भरी हुई है ऐसा लाञ्छन जो लगाया जाता है वह भी सम्पूर्ण भ्रममूलक है, क्योंकि विचार करनेपर सिद्धान्त होगा कि आर्य्यशास्त्रोंमें स्त्रीजातिका जितना गौरव बढ़ाया गया है ऐसा और किसी देश या जाति या शास्त्रमे नहीं है। अन्य देशोंमें स्त्री पुरुषके विषयविलासमें सहचरी है और आर्य्यजातिमे भार्य्या समस्त गार्हस्थ्य धर्म्ममे सहधर्मिणी व अर्द्धांशभागिनी है। अन्य जातियोमे स्त्रीशरीर कामका यन्त्ररूप है और आर्य्यजातिमे स्त्री जगदम्बारूपिणी है जिनकी प्रत्येक दशाकी दिव्यभावके साथ पूजा करनेसे साधकको मुक्तिलाभ हो सकता है। स्त्रियोंके प्रकृतिरूपिणी होनेसे उनकी प्रत्येक दशाको देवीभावसे पूजनेकी विधि आर्य्यशास्त्रोंमे बताई गई है। दशमहाविद्याकी दशमूर्ति दिव्यभावमे स्त्रीकी दश दशाकी ही सूचना करती है और प्रत्येक दशाकी पूजा हुआ करती है। दशमहाविद्याओमेसे कुमारी गौरी रूपिणी है, युवती गृहिणी षोडशी व भुवनेश्वरी आदिरूपिणी है और वृद्धा व विधवा धूमावतीरूपिणी है, यहां तक कि रजस्वला भी त्रिधारामयी छिन्नमस्तारूपिणी है ऐसा सिद्धान्त आर्य्यशास्त्रोंका है। देवीभागवतमें लिखा है कि:—

सर्व्वाः प्रकृतिसम्भूता उत्तमाऽधममध्यमाः।
योषितामवमानेन प्रकृतेश्च पराभवः॥
रमणी पूजिता येन पतिपुत्रवती सती।
प्रकृतिः पूजिता तेन वस्त्राऽलङ्कारचन्दनैः॥

कुमारी चाऽष्टवर्षा या वस्त्राऽलङ्कारचन्दनैः।
पूजिता येन विप्रेण प्रकृतिस्तेन पूजिता॥
कुमारी पूजिता कुर्य्याद्दुःखदारिद्र्यनाशनम्।
शत्रुक्षयं धनाऽऽयुष्यं बलवृद्धिं करोति वै॥

उत्तम मध्यम व अधम सभी स्त्रियां प्रकृतिके अंशसे उत्पन्न होती हैं। प्रकृतिमाताकी ही रूप होनेसे स्त्रियोंके निरादर व अवमाननासे प्रकृतिकी अवमानना होती है। पतिपुत्रवती सतीकी पूजासे जगदम्बाकी पूजा होती है। गौरी या कुमारीकी पूजासे प्रकृतिकी पूजा होती है जिससे गृहस्थका दुःख-दारिद्र्यनाश, शत्रुनाश और धन, आयु व बलकी वृद्धि होती है। आर्य्यशास्त्रोंमें स्त्रियोंका यही स्वरूप वर्णन किया गया है और इसलिये उनकी रक्षा व गौरव वृद्धि करनेकी इतनी विधि बताई गई है। परन्तु जिनको जगदम्बाका रूप समझ कर पूजा करनेकी आज्ञा शास्त्र दिया करता है उनको निर्लज्जा होकर बाजारमे घूमनेकी आज्ञा या रूप बनाकर पुरुषोंके सामने नाटक करनेकी आज्ञा आर्य्यशास्त्र नही दे सकता है। ऐसी आज्ञा दया नही होगी, परन्तु स्त्रीधर्म्मकी सत्ताका नाश, पातिव्रत्यरूपी कल्पतरुके मूलमे कुठाराघात और जगदम्बापर मूर्खतामूलक अत्याचार होगा। प्रकृतिकी पूजा करनेकी आज्ञा देनेवाला आर्य्यशास्त्र ऐसी आज्ञा कभी नही कर सकता है। जो वस्तु जिसकी प्रिय होती है वह उसकी रक्षा भी यत्नसे करता है। धन और अलङ्कारादि प्रिय वस्तुओंको गृहस्थ लोग बहुत यत्नके साथ छिपाके ही रखते हैं, बाजारमें फेंक नही देते हैं। यदि आर्य्यजाति अपनी माताओंको निर्लज्जाकी तरह बाजारमे नहीं घुमाती है तो इससे आर्य्यजातिकी माताओंके प्रति उपेक्षा या निर्दयता प्रकट नही होती है बल्कि प्रेम और भक्तिभाव ही प्रकट होता है। द्वितीयतः उनको यदि पुरुष हाथ पकड़कर भ्रमण करावे तो इससे स्त्री तथा पुरुष दोनोहीकी बहुत हानि होगी। यथा—It was discovered that certain subjects, more especially women, could produce changes in the aura by an effort of will, causing rays to issue from the body or the colour of the aura to alter, (Aurospect by Stanley Red grove Kalpaka)—अर्थात् बहुत सी वस्तु, खास कर स्त्रियां पुरुषकी 'अरा' अपनी इच्छा शक्तिसे बदल

देती है, पुरुषके शरीरसे मनोवेगकी शिखायें निकलने लगती है, 'अरा' का रङ्ग भी बदल जाता है। शास्त्रमें भी कहा है—

"सङ्गात्सञ्जायते कामः"

"हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्द्धते"।

काम आदि वृत्तियां सङ्गके द्वारा अधिक हुआ करती है, घटनी नही है। अग्निमें प्रक्षिप्त घृतकी तरह सङ्गद्वारा काम बढ़ता जाता है। इसीलिये स्त्रीके साथ एकत्र रहनेका अवसर जितना अधिक होगा उतना ही दिव्यभाव नष्ट होकर पशुभावकी वृद्धि होगी, इसमे कोई सन्देह नही है। और यह भी सिद्धान्त पूर्ण सत्य है कि जिस स्त्रीको अनेक पुरुष कामभाव व कामदृष्टिसे देखते हैं उसके पातिव्रत्यमें अवश्य ही हानि होती है। मानसिक व शारीरिक विजलीकी शक्ति आँखसे, स्पर्शसे या केवल चित्तके द्वारा ही अन्य व्यक्तिपर अपना प्रभाव डालकर कैसे उसको अभिभूत कर सकती है इसका वर्णन पहिलेही आचुका है। अतः जिस स्त्रीके शरीरपर कामुक पुरुष कामशक्तिके द्वारा कामभावसे दृष्टि डालेगे उसके पातिव्रत्यमें धीरे धीरे हानि हो सकती है। अन्य पुरुषके नेत्रकी या मनकी तामसिक शक्तिके प्रभावसे स्त्रीका चित्त-चाञ्चल्य होना व सतीधर्म्मका गाम्भीर्य्य नष्ट होना अवश्य निश्चित है। इसलिये अवरोधप्रथाको तोड़कर, स्त्रियोंको निर्लज्जा हो पुरुषोंके बीचमे रहनेकी और बाजारमे घूमनेकी आज्ञा देनेसे आर्य्यस्त्रियोंमेंसे पातिव्रत्यधर्म्म धीरे धीरे नष्ट हो जायगा, इसमे कोई भी सन्देह नही है। पाश्चात्य देशमें इस प्रकार निरङ्कुश घूमनेके कारण ही वहांकी स्त्रियाँ पातिव्रत्यकी महिमाको नहीं जाननी है। अतः विचारवान् पुरुषोको इन सब अनर्थकर कदाचारोंसे सदा सावधान रहना चाहिये। देवीभागवतके तृतीयस्कन्धके २० वीसवे अध्यायमें इसी विषयका एक प्रमाण दिया गया है। वहां शशिकला नाम्नी एक कन्या अपने पिताको उसे स्वयवर सभामे भेजनेके लिये मना कर रही है और कह रही है कि स्वयंवरसभामें राजाओंकी कामदृष्टिसे उसके पातिव्रत्यमे हानि होगी।

शोककी बात है कि एक क्षत्रिय-कन्या जिन बातोंको विचार करके निर्णय कर सकती थी आजकलके अनेक विद्याभिमानी उनपर सन्देह करने लग गये है। अवरोधप्रथाकी पुष्टि वेदादि शास्त्रोंमें भी की गई है। ऋग्वेदके अष्टम मण्डलके चौथे अध्यायके २६वें सूक्तमें लिखा है कि:—

योषां यज्ञैभिरावृतोऽधिवस्त्रा वधूरिव।

वस्त्र द्वारा आवृता वधूकी तरह यज्ञके द्वारा जो आवृत है। इस प्रकार कहकर अवरोधप्रथाका ही समर्थन किया गया है। रामायणके कई एक स्थानोंमें अवरोधप्रथाकी बातें लिखी हुई हैं। यथा:—

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः॥

श्रीभगवान् रामचन्द्रके साथ सती सीताको वनवासके लिये राजपथसे जाती हुई देखकर अयोध्यावासियोंने कहा कि "पहिले जिस सीतादेवीको खेचर जीव भी नहीं देखने पाते थे उसी माताको आज राजमार्गके पथिकगण भी देखने लगे।" मृतपति रावणको देखकर मन्दोदरी विलाप करती हुई कह रही है कि:—

दृष्ट्वा न खल्वसि क्रुद्धो मामिहाऽनवगुण्ठिताम्।
निर्गतां नगरद्वारात्पद्भ्यामेवाऽऽगतां प्रभो!
पश्येष्टदार! दारांस्ते भ्रष्टलज्जाऽवगुण्ठनान्।
बहिर्निष्पतितान्सर्वान्कथं दृष्ट्वा न कुप्यसि॥

हे स्वामिन्! मैं तुम्हारी महिषी होनेपर भी अवगुण्ठन (घुङ्घट) त्याग करके आज नगरसे बाहर पैदल यहां आई हूं इसको देखकर भी क्या तुम्हें क्रोध नहीं होता है? यह देखो तुम्हारी सब स्त्रियां आज लज्जा व अवगुण्ठनको त्याग करके बाहर आगई हैं, ऐसा देखकर भी तुम्हें क्रोध क्यों नहीं हो रहा है? इन सब प्रमाणोंके द्वारा प्राचीनकालमें अवरोधप्रथा थी ऐसा निश्चय होता है। मालविकाग्निमित्र व मृच्छकटिक आदि काव्य और उपन्यास ग्रन्थोंसे भी हजार वर्षके पहले यहां पर अवरोधप्रथा प्रचलित थी ऐसा सिद्ध होता है। सीता, सावित्री व दमयन्ती आदि सतियां जो अपने पतिके साथ बाहर गई थीं उसका विशेष कारण था। घटनाचक्रसे उनको ऐसा करना पड़ा था। जैसा कि रामायण ६।११४ में श्रीरामचन्द्र भगवान्ने स्वयं कहा है—

व्यसनेषु न कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे।
न क्रतौ नो विवाहे च दर्शनं दुष्यति स्त्रियाः॥

अर्थात् इष्टवियोग, राजविप्लव, युद्धक्षेत्र, स्वयम्वर, यज्ञशाला और विवाह मण्डपमें पर्देकी आवश्यकता नहीं है। हां इतना तो मानना ही पड़ेगा कि आर्य्य-जातिमें स्त्रियोंकी शीलरक्षा व स्त्रियोंके लिये अन्तःपुरका निवास और अवरोध-प्रथा यथाविधि प्रचलित रहने पर भी इस समय जो भारतवर्षके किसी किसी देशमें कठिन पर्देकी रीति जेलखानेकी तरह प्रचलित है सो आर्य्यरीति नहीं है। यह कठिन रीति यवन-साम्राज्यके कठिन समयमें उनके ही अनुकरण पर प्रचलित हुई है सो उतनी कठिनता अवश्य त्याग करने योग्य है। और दूसरा आज कल भारतके किसी किसी प्रान्तमे जो अवरोधप्रथामें शैथिल्य देखनेमें आता है वह सब आधुनिक व अनार्य्यभावमूलक है इसलिये वह भी अनुकरण करने योग्य नहीं है। अवरोधप्रथा सम्पूर्णरूपसे विज्ञानसिद्ध और सतीधर्म्मके अनुकूल है। इसके यथा शास्त्र पालन करनेसे भारतमहिलाओंकी सब प्रकारसे उन्नति और आर्य्यगौरवकी वृद्धि होगी इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। और यही कारण है कि अपनी जातिमें प्रचलित न होने पर भी दूरदर्शी पश्चिमी विद्वानोंने अन्तःपुर प्रथाकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है। यथा—

Their very aloofness, their seclusion gives them half their charm and they know it Not for them, for instance the dismal methods of American Schools where mixed classes and common play-ground rub away all the attraction of the sexes In India women are so much valued and attain half their power, because they are only occasionally seen and seldom met (Otto Rothfield)

The reputation of a woman is as a crystal mirror, shining and bright, but liable to be sullied by every breath that comes near it (Cervantes)

She is not made to be the admiration of every body but the happiness of one. (Burke)

A woman smells sweetest, when she smells not at all.

(Plautus.)

Woman is a flower that breathes its perfume in the shade only (Lamenneis.)

The flower of sweetest smell is shy and lovely.

(Wordsworth.)

अन्तःपुरमें छिपी रहनेसे ही हिन्दु स्त्रियोंकी शोभा बढ़ जाती है। उनके लिये अमेरिकाके स्कूलोंकी भद्दी प्रथा नहीं है, जहांपर स्त्री पुरुषोंकी एक साथ पढ़ाई तथा खेल होनेसे उनकी आकर्षण शक्ति ही नष्ट हो जाती है। भारतवर्षमें *स्त्रियां रत्नकी तरह मूल्यवान् वस्तु इसलिये हैं कि वे अन्तःपुरमें रहती है और* कभी कभी दृष्टिपथमें आती हैं। (अटो रथफोल्ड्)।

स्त्रीजातिकी कीर्त्ति स्फटिक दर्पणकी तरह है, जो कितनी ही उज्ज्वल तथा चमकती हुई, दूसरेके श्वाससे भी मलिन होने लगती है। (सर् भान्टे)।

स्त्रीका जन्म जगत्को मुग्ध करनेके लिये नही, किन्तु अपने पतिदेवताको सुख देनेके लिये ही होता है। (एडमांड वर्क)।

स्त्रीजाति फूलकी तरह है जिसकी गन्ध एकान्तमें ही अच्छी फैलती है, और बहुत दूर तक नही फैलती है। उत्तम गन्धवती कुसुमकुमारी सदा लज्जावती ही होती है। (टसस्, लेमेनिस, वार्डस्वर्थ)।

अर्व्वाचीन पुरुषोंने नियोगविधिको सर्व्व-साधारण धर्म्म प्रमाण करनेके लिये बहुत ही क्लिष्ट कल्पना की है। कहीं कही उन्होंने वेद स्मृत्यादि शास्त्रोंसे भी प्रमाण उठाकर उनके मिथ्या अर्थ किये हैं परन्तु यदि उनको यह विचार होता कि "स्मृतियोंकी आज्ञा देश काल पात्रानुसार लक्ष्य स्थिर रखकर सामञ्जस्यके साथ ही मानी जासकती है और आज्ञा यथार्थ होने पर भी यदि देश काल व पात्र उपयोगी न हो तो उसका उपयोग नही हो सकता है" तो उनको इस विषयमें इतना भ्रम नही होता। अब नीचे स्मृतिसम्मत नियोगका पालन वर्त्तमान युगमें हो सकता है या नहीं इसीपर विचार किया जाता है। नियोगके विषयमें संहिताके ६म अध्यायमें कहा है कि:—

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया।
प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये॥

विधवायां नियुक्तस्तु घृताऽक्तो वाग्यतो निशि।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन॥

यदि अपने पतिके द्वारा सन्तानोत्पत्ति न हुई हो तो स्त्री देवर अथवा अन्य किसी सपिण्ड पुरुषसे नियोग कराकर सन्तान लाभ करे। रातको सर्व्वाङ्गमें घृत लेपन करके मौन हो सगोत्र नियुक्त पुरुष विधवा स्त्रीमें एक ही पुत्र उत्पन्न करे, दूसरा पुत्र कभी उत्पन्न न करे। इस प्रकार नियोगकी विधि बताकर मनुजीने इसको पशु-धर्म्म कहकर इसकी बड़ी निन्दा की है। यथा:—

नाऽन्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः।
अन्यस्मिन्हि नियुञ्जाना धर्म्मं हन्युः सनातनम्॥
नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवाऽऽवेदनं पुनः॥
अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्म्मो विगर्हितः।

(९म अ०)

द्विजगणको विधवा या निस्सन्ताना स्त्रीका नियोग कदापि नहीं कराना चाहिये क्योंकि पतिके सिवाय अन्य किसी पुरुषमें नियुक्त होनेसे सनातन एक-पतिव्रतधर्म्मकी हानि होती है। विवाहक्रियाके लिये जितने वैदिक मन्त्र हैं उनमें नियोगकी आज्ञा कहीं नहीं पाई जाती है और इसी प्रकार वैदिक मन्त्रोमे विधवाविवाह भी कहीं नहीं लिखा है। शास्त्रज्ञ द्विजगण नियोगको पशुका धर्म्म-कहकर निन्दा करते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य स्मृतियोंमें भी नियोगकी अत्यन्त निन्दा की गई है। मनुष्य पशु नहीं है, इसलिये पशुका जो धर्म्म है सो मनुष्योंके लिये विहित नहीं हो सकता है। इसके सिवाय मनुष्योंमें श्रेष्ठ जो आर्य्यजाति है उसमें पशुधर्म्मकी जो आज्ञा देता है उसके सदृश पापी संसारमें और कौन हो सकता है। इन सब विचारोंके अतिरिक्त नियोगकी विधि वर्त्तमान देशकाल व पात्रमें सम्पूर्ण असम्भव होनेसे सर्व्वथा परित्याज्य है। नियोग-के लिये घृताक्त होकर सम्बन्ध करनेकी जो आज्ञा मनुजीने की है उसका कारण यह है कि, नियोगमें साधारण स्त्री-पुरुष-सम्बन्धकी तरह कामभोगका सम्बन्ध ही नहीं है, इसलिये गर्भाधानके अर्थ इन्द्रियके स्पर्श होनेके सिवाय

और किसी अङ्गका स्पर्श न हो इस कारण ही घृताक्त होनेकी आज्ञा की गई है । मनुजीने कहा है कि :—

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्य्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा ।
यवीयसस्तु या भार्य्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥

देवरके लिये ज्येष्ठ भ्राताकी स्त्री गुरुपत्नीतुल्या है और कनिष्ठ भ्राताकी स्त्री ज्येष्ठ भ्राताके लिये पुत्रवधूतुल्या है । अतः मनुजीकी आज्ञानुसार इनमे कामभोग सम्बन्ध होना अतीव गर्हित व पापजनक है । इसलिये सन्तानके लिये नियोगकी आज्ञा होनेपर भी नियोगमे कामका वर्ताव होना सर्व्वथा पापजनक व निषिद्ध है । मनुसहितामें लिखा है कि:—

विधवायां नियोगाऽर्थे निवृत्ते तु यथाविधि ।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्त्तेयातां परस्परम् ॥
नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्त्तेयातान्तु कामतः ।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥

यथाविधि नियोगका प्रयोजन सिद्ध हो जानेपर भ्राता व भ्रातृवधू पुनः पूर्व्व सम्बन्धके अनुसार वर्ताव करें । नियुक्त ज्येष्ठ व कनिष्ठ भ्राता नियोगविधिको छोड़करके यदि कामका वर्ताव करे तो पुत्रवधूगमन व गुरुपत्नीगमनके कारण दोनोंही पतित हो जाते हैं । अब विचार करनेकी बात है कि इन्द्रियोंका सम्बन्ध करते हुए भी और स्त्रीके सामने रहते हुए भी पुरुषको काम नही होगा ऐसा नियोग इस कलियुगमें सम्भव है या नही ?

कलियुगका देशकाल हीन है तथा गर्भाधान आदि संस्कारोंके नष्ट होनेसे और पिता माताके पाशविक कामोन्मादके द्वारा सन्तानकी उत्पत्ति होनेसे कलियुगमें साधारणतः शरीर कामज होता है । अत. इस प्रकारके शरीरमें स्त्रीसे सम्बन्ध करते समय नियोगविधिके अनुकूल धैर्य्य रहना व कामभोगका अभाव होना सम्पूर्ण असम्भव है । इसलिये और युगोंमें नियोगकी विधि प्रचलित थी, ऐसा प्रमाण शास्त्रोंमे मिलनेपर भी कलियुगमें नियोग नही चल सकता है और इसीलिये महर्षियोंने नियोगकी निन्दा करते हुए कलियुगमें इसका पूर्ण निषेध किया है । यथा वृहस्पति कहते है कि :—

उक्तो नियोगो मुनिनानिषिद्धः स्वयमेव तु।
युगक्रमादशक्योऽयं कर्त्तुमन्यैर्विधानतः॥
तपोज्ञानसमायुक्ताः कृतत्रेतायुगे नराः।
द्वापरे च कलौ तेषां शक्तिहानिर्हि निर्म्मिता॥
अनेकधा कृताः पुत्रा ऋषिभिश्च पुरातनैः।
न शक्यन्तेऽधुना कर्त्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः॥

मनुजीने नियोगकी आज्ञा देकर पुनः उसकी निन्दा स्वय ही की है क्योकि युगानुसार शक्तिके ह्रास होनेसे मनुष्य पहिलेकी तरह नियोग अब नही कर सकते हैं। सत्य, त्रेता, द्वापर युगोमे मनुष्य तपस्वी ज्ञानी थे, परन्तु कलियुगमे त्रेतादि युगोंकी वह शक्ति नष्ट हो गई है इसलिये महर्षिगण पहिले जिस प्रकार नियोगादिसे सन्तान उत्पन्न करते कराते थे वह अब शक्तिहीन कलियुगके मनुष्योसे नही हो सकता है।

अतः आदित्यपुराणमे लिखा है कि :—

एतानि लोकगुप्त्यर्थं कलेरादौ महात्मभिः।
निवर्त्तितानि कार्य्याणि व्यवस्थापूर्व्वकं बुधैः॥

महात्मागणने ससारकी रक्षाके लिये इसी कारण कलियुगके आदिमें व्यवस्थापूर्वक इन कार्य्योंका निषेध किया है। ऊपर लिखित युक्ति व प्रमाणोसे कलियुगमे नियोग सर्वथा असम्भव सिद्ध होनेसे परित्याज्य है।

नियोगके ऊपर लिखित रहस्यको न समझकर अर्वाचीन पुरुषोने इस विषयमे अनेक महापापजनक कल्पनाए की हैं और अपनी पापमयी कल्पनाकी चरितार्थताके लिये वेदमन्त्र तथा स्मृतियोके श्लोकोका बड़ा ही झूठा अर्थ किया है। उन्होंने एक स्थानपर लिखा है—'गर्भवती स्त्रीसे एक वर्ष समागम न करनेके समयमे पुरुषसे वा दीर्घरोगी पुरुषकी स्त्रीसे न रहा जाय तो किसीसे नियोग करके उसके लिये पुत्रोत्पत्ति कर दे।' थोड़ी बुद्धिवाले मनुष्य भी समझ सकते हैं कि इससे अधिक व्यभिचारवृद्धिकारी महापापमयी व्यवस्था और कुछ भी नही हो सकती है। एक तो 'न रहा जाय' इन शब्दोंके द्वारा नियोगका लक्ष्य ही भ्रष्ट कर दिया गया, क्योंकि नियोग कामभावसे नही होता है, केवल सन्तानोत्पत्तिके लिये होता है, कामभावजन्य

नियोग, नियोग नहीं है प्रत्यक्ष व्यभिचार है, जैसा कि मनुजीने कहा है। और द्वितीयतः गार्हस्थ्यधर्म-पालनमें रत स्त्री पुरुष यदि इतना भी संयम न कर सके कि स्त्रीकी गर्भावस्थामे एक वर्षतक जितेन्द्रिय रहे और रोगी पतिको रुग्णावस्थामें फेंककर स्त्री उनके सामने परपुरुष गमन करे, तो इससे अधिक पशुभाव और घृणित नारकियोका भाव और क्या होगा। अतः अर्वाचीन पुरुषोंने इस पापमयी कल्पनाके द्वारा केवल नियोगविधिको ही भ्रष्ट नहीं किया है, अधिकन्तु अपने सम्प्रदाय, सम्प्रदायके माननेवाले तथा अपने ग्रन्थको भी कलंकित किया है, इसमे अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। अब उनके दिये मन्त्रोपर विचार करते हैं। एक मन्त्र यह है—

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि॥

ऋ० मं० १० सू० ८५ मं० ४५

यह मन्त्र विवाहमे आशीर्वाद देनेके लिये कहा जाता है, नियोगके लिये नहीं। इसका इस प्रकार अर्थ होता है—(मीढ्वः इन्द्र) समस्त सुखदायी पदार्थोंके देनेवाले इन्द्र, (त्वं इमां सुपुत्रां सुभगां कृणु) तुम इस विवाहिता स्त्रीको उत्तम पुत्रवती और सौभाग्यवती करो। (अस्यां दश पुत्रान् आधेहि) इस स्त्रीमे दस पुत्र धारण कराओ, (एकादशं पतिं कृधि) ग्यारहवें पतिको पुत्रोके साथ दीर्घजीवी बनाये रखो। यही आशीर्वादसूचक इसका अर्थ है, नियोग द्वारा दस पुत्र उत्पन्न कराना या ११ पति कराना इसका अर्थ नहीं है। क्योंकि इस मन्त्रमें नियोगका कोई शब्द ही नहीं है। इसके सिवाय मनुजीने तो 'एकमुत्पादयेत् पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन' कहकर नियोगमें एकसे अधिक सन्तान उत्पन्न करनेकी आज्ञा ही नहीं दी है। फिर ऐसी मिथ्या कल्पनाकी गुंजायश ही नहीं हो सकती है। डाक्टरी सायन्सने आजकल यह प्रत्यक्ष प्रमाण कर दिया है कि अनेक पुरुषोके सम्बन्धसे ही स्त्रीशरीरमें सिफिलिश, गनोरिया आदिके भयानक विष उत्पन्न हो जाते हैं, जो पिता माता द्वारा वंशपरम्परा तक चलकर समस्त वंशको तथा इहलोक परलोकको बिगाड़ देते हैं। हैभलक ईलीस् आदि कई एक पश्चिमी विद्वानोंने इसपर पुस्तकें भी लिखी हैं और आर्यजातिके एक पतिव्रतधर्मको इसी युक्तिपर बहुत ही दूरदर्शितापूर्ण कहा है। और यहां पर वेदमन्त्र उठाकर प्रमादका भरमार देखिये। अब दूसरा मन्त्र बताया जाता है।

उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसंबभूथ ॥

ऋ० मं० १ सू० १८ म० ८

इसका यह अर्थ है। (नारि) हे मृतकी पत्नी-(जीवलोकं अभि उदीर्ष्व) जीवित पुत्र पौत्रादिके पालनार्थ—इस चितास्थानसे उठो, (एत गतासु उपशेपे एहि) इस मृतपतिके पास तुम लेटी हुई हो । (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) तुम्हारे पाणिग्रहण तथा गर्भाधान करनेवाले (पत्युः तव इद जनित्व अभि सम्बभूथ) तुम्हारे इस पतिके पत्नीपनको लक्ष्य करके तुमने इसके साथ मरनेका निश्चय किया है । इस मन्त्रका भावार्थ यह है कि सती स्त्री मृतपतिके साथ सहमरणमें जाना चाहती है, किन्तु कुटुम्बी लोग मना कर रहे हैं, क्योंकि घरमें छोटे छोटे बाल बच्चे हैं । इसमें नियोगसूचक एक भी शब्द न होनेपर भी अर्वाचीन पुरुष न जाने कहांसे इसमे यह अर्थ देख रहा है कि श्मशानमें गये हुए लोग स्त्रीसे कह रहे हैं कि 'स्त्री तू उठ और हमारेमेसे किसीके साथ नियोग करके सन्तान पैदा करले।' बुद्धिकी बलिहारी है, कहां तो स्त्री पतिवियोगसे रोदन कर रही है और कहां उसी समय श्मशानमे ही पाशविक क्रिया सूझने लगी ! इससे अधिक असभ्यता और क्या हो सकती है ? अब तीसरा मन्त्र कहा जाता है—

'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्'

ऋ० मं० १० अ० १, सू० १०, म० १०

पूरे मन्त्रका केवल इतना ही अंश उठाकर अर्वाचीन लोग अर्थ करते हैं कि पति पत्नीको आज्ञा दे रहे हैं कि उनसे सन्तान नहीं होती है, इसलिये स्त्री अन्य पतिके द्वारा सन्तान पैदा कर लेवे । अब पूरे मन्त्रके अर्थपर विचार करनेसे अर्वाचीन लोगोकी झुठाईका ठीक पता चल जायगा । पूरा मन्त्र यह है—

आघातागच्छानुत्तरायुगानि यत्र जामयः कृण्वन्नजामि ।
उपवर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥

इसका अर्थ निरुक्त अ० ४, ख० २० के अनुसार निम्नलिखितरूप होता है । यमयमी संवादमें यमी अपने भ्राता यमको उसके साथ कामसम्बन्ध

करनेको कह रही है, किन्तु यम उत्तर देता है कि "अभी पापमय कलियुग नहीं आया है जिसमें ऐसे अनाचार भी होंगे, इसलिये तुम अन्य किसीको पति बना लो, मुझसे कामसम्बन्ध नही हो सकता।" (आघातागच्छान् उत्तरायुगानि) आगे ऐसा युग आने वाला है, (यत्र जामयः कृणवन् अजामि) जिसमें भगिनियां भगिनीधर्मके विरुद्ध कार्यको करेंगी, (वृषभाय बाहु उपबर्वृ हि) अभी ऐसा युग नही आया है इसलिये योग्य पतिका पाणिग्रहण करो, (सुभगे! मत् अन्यत् पतिं इच्छस्व) हे भगिनि! मुझसे भिन्न दूसरे पतिकी इच्छा करो। इस मन्त्रमें भ्राता भगिनीका सम्वाद है नियोग सूचक कोई भी मन्त्र न होने पर भी अर्वाचीन लोगोंने वृथा प्रसङ्ग बदलकर झूठा अर्थ किया है। और साथ ही साथ कुन्ती और माद्रीका दृष्टान्त देकर पक्ष-समर्थनकी चेष्टा की है। महाभारतके पढ़ने वाले जानते है, कुन्ती माद्रीने नियोग नही कराया था और न उसमें देवनाओंसे स्थूल मैथुनसम्बन्ध ही हुआ था। यह केवल दैवीशक्तिके प्रभावसे दैवीसृष्टि थी, इसके साथ स्थूल मैथुनी सृष्टिकी तुलना नही हो सकती। इस प्रकार मनुसंहिताके नवमाध्यायके दो श्लोकोंका मतलब बिगाड़कर अर्वाचीन लोगोंने स्वमतपुष्टिका प्रयत्न किया है। यथा:—

> प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योष्टौ नरः समाः।
> विद्यार्थं षड् यशोर्थं वा कामर्थं त्रींस्तु वत्सरान्॥
> वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा।
> एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी॥

इसमें पहिला श्लोक पुरुषके विषयमें और दूसरा श्लोक स्त्रीके विषयमें है और पूर्वापर श्लोकोंका सम्बन्ध मिलानेसे 'नियोग' का कुछ भी अर्थ नही निकलता है। इतना ही निकलता है कि विदेश जानेसे पहिले पति स्त्रीके ग्रासाच्छादनकी व्यवस्था कर जावे। यदि धर्मकार्यके लिये पति विदेश गये हों तो आठ वर्ष, विद्या या यशके लिये गये हों तो छः वर्ष और कामसेवाके लिये गये हों तो तीन वर्ष तक पत्नी प्रतीक्षा करे और पश्चात् पतिके पास चली आवे। जैसा कि वशिष्ठ स्मृतिमें लिखा है—

प्रोषितपत्नी अष्टवर्षाण्युपासीत् उद्र्ध्वं पतिसकाशं गच्छेत् ।

प्रवासी पतिकी स्त्री आठवर्ष प्रतीक्षा करके पतिके पास चली जाय । इस प्रकार दूसरे श्लोकका अर्थ प्रकरणानुसार यह होता है कि यदि वन्ध्या स्त्री हो तो विवाहकालसे आठ वर्षके बाद, मृतवत्सा हो तो दस वर्षके बाद, केवल कन्या प्रसव करनेवाली हो तो ग्यारह वर्षके बाद और पतिको दुःख देनेवाली हो तो शीघ्र ही पति दूसरा विवाह कर सकता है। इस श्लोकमें केवल वंशरक्षा और सुसन्तान उत्पन्न करनेके लिये ही ऐसी आज्ञा दी गई है। इसमें नियोगका कोई वाक्य नहीं है । अर्वाचीन पुरुषोंने इसके साथ और भी एक असम्बद्ध बात यह लिखी है कि "यदि पुरुष दुःखदायी हो तो स्त्रीको उचित है कि उसे छोड़ दूसरे पतिसे नियोगकर उससे सन्तानोत्पत्ति कर उसी विवाहित पतिका दायभागी पुत्र बना देवे" । क्या यह सम्भव हो सकता है कि स्त्री पतिसे लड़कर दूसरे पुरुषसे यदि सन्तानोत्पादन करे तो उसे और उसके लड़केको पति घरमें घुसने देंगे और ऐसे व्यभिचारसे उत्पन्न सन्तानका दायभागमें किस शास्त्रके अनुसार अधिकार दिया जा सकता है ? ये सब युक्तियां तथा प्रमाण बिलकुल व्यर्थ हैं और नियोगपर अर्वाचीन जनोंका विचार प्रारम्भसे अन्ततक सम्पूर्ण भ्रमात्मक है यही सिद्ध हुआ ।

नियोगके विषयमें शंका समाधान करके अब विधवाविवाहके विषयमें शंका समाधान किया जाता है । यह बात पहिले ही कही गई है कि स्त्रीजाति प्रकृतिका अंश होनेके कारण उसमें विद्या व अविद्या दोनों प्रकृति विद्यमान हैं । अविद्याभावके कारण पुरुषसे आठगुणा काम अधिक होने पर भी विद्याभावके कारण उसमें पुरुषसे धैर्य्य अधिक है। अतः जिस प्रकार किसीकी ऐसी प्रकृति यदि हो कि एक छटांक भोजनसे भी निर्वाह कर सकता है और लोभ बढ़ाया जाय तो मन मन भर खिलानेसे भी तृप्ति नहीं होती है, तो उसके लिये एक छटांकमें निर्वाह करानेका अभ्यास कराना ही बुद्धि व विचारका कार्य्य होगा और मनभर-खानेका लोभ दिलाना अविचारका कार्य्य होगा। ठीक उसी प्रकार जब स्त्रीजाति-की प्रकृति ही ऐसी है कि एकपतिव्रता होकर तपोधर्म्मके अनुष्ठान द्वारा उसीमें आनन्दके साथ निर्वाह करके मुक्ति पा सकती है और अनेक पुरुषोंके साथ सम्बन्ध करनेका लोभ दिलानेसे अजस्र कामभोग करके संसार व अपनेको भ्रष्ट कर सकती है , तो स्त्रीके लिये वही धर्म्म व विचारका कार्य्य होगा जिससे उसमें

एकपतिव्रताका संस्कार बढ़ता रहे एवं अनेक पुरुषोंसे सम्बन्धका भाव कुछ भी न हो। विषयसुख एक प्रकार चित्तका अभिमानमात्र होनेसे पुरानेकी अपेक्षा नवीन वस्तुमे अधिक सुखबोध होने लगता है क्योंकि पुरानी वस्तु अभ्यस्त होनेके कारण उसमें ऐसा अभिमान भी कम हो जाता है। नवीनमे नवीन सौन्दर्य्य आदिका अभिमान होनेसे नवीन सुख व आग्रह होने लगता है। यह सब मायाकी ही लीला है। इसी सिद्धान्तके अनुसार जिसमें काम जितना होगा उसमें नवीन भोगकी लालसा भी उतनी ही होगी। अतः पुरुषसे स्त्रीमें कामका वेग जब आठगुणा अधिक है तो स्त्रीमें नवीन नवीन पुरुषसम्भोग-लालसाभी पुरुषसे आठगुणी अधिक होगी। इसीलिये महाभारतमें कहा गया है किः—

न चाऽऽसां मुच्यते कश्चित्पुरुषोहस्तमागतः।
गावो नवतृणान्येव गृह्णन्त्येता नवं नवम्॥

जिस प्रकार गौ नई नई घास खानेकी इच्छासे एकही स्थानपर न खाकर इधर उधर मुंह मारती रहती है उसी प्रकार नवीन नवीन पुरुषभोगकी स्पृहा स्त्रियोंमें स्वाभाविक है। उनके हाथमें आया हुआ कोई पुरुष खाली नही जा सकता है। यही स्वाभाविक नवीन नवीन भोगस्पृहा स्त्रीजातिमे अविद्याका भाव है। पातिव्रत्यके द्वारा इस अविद्याभावका नाश होकर विद्याभावकी वृद्धि होती है, परन्तु विधवा विवाहके द्वारा विद्याभावका नाश होकर अविद्याभावकी ही वृद्धि होगी जिससे स्त्रीजातिका सत्यानाश हो जायगा। जिस दिन विचारी अवला स्त्रियोंको यह आज्ञा दी जायगी कि उनके एक पतिके मरनेके अनन्तर नवीन पति उन्हें मिल जायगा और इस प्रकारसे अनेक पुरुषोंसे सम्बन्ध करती हुई भी वे धार्मिका रह सकेंगी, उस दिनसे उनके चित्तमें नवीन नवीन पुरुषोंसे सम्वन्धकी इच्छा कितनी बलवती हो जायगी इसको सभी लोग समझ सकते हैं। धर्मका लक्ष्य कामादि प्रवृत्तियोंको रोककर निवृत्तिकी पुष्टि करना है, परन्तु जब अजस्र कामभोग करनेपर भी पतिव्रता व धार्मिका रह सकती हैं ऐसी आज्ञा उन्हें मिल जायगी तो कौन चाहता है कि कठिन तपश्चर्य्या व एकपतिव्रतका पालन करे, उस समय सभी स्त्रियोंके चित्तमें आठगुणा काम व नवीन पुरुषोंसे भोग करनेका दावानल धकधकाकर जल उठेगा जिसके तेजसे संसारकी शान्ति व प्रेम आदि सब कुछ नष्ट

होकर संसार भीषण श्मशानरूपमें परिणत हो जायगा। इस प्रकार विधवा-विवाहकी आशाके द्वारा सतीत्वरूपी कल्पतरु, जिसके अमृतफल श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र, श्रीभगवान् रामचन्द्र, ऋषि, महर्षि व ध्रुव एवं प्रह्लाद आदि हैं और जिस कल्पतरुके मधुरफल भगवान् शङ्कर व महाराणा प्रताप आदि हैं उसके मूलमें कठिन कुठारका आघात होकर उसे नष्ट कर देगा, इसमे कोई सन्देह नही है। भारतसे सतीधर्म्मका गौरव, जिस गौरवके कारण आज भी भारत इतनी हीनदशा होनेपर भी समस्त संसारमें ज्ञानगुरु होकर इतने विप्लवोको सहन करता हुआ अपनी सत्ताके प्रतिष्ठित रखनेमें समर्थ हुआ है, वह भारत-गौरव-रवि चिरकालके लिये अस्त होकर भारतको घोर अज्ञानान्धकारमय नरकरूपमें परिणत कर देगा एवं दुःख, दारिद्रय, अविद्या और अशान्ति आदि पिशाचिनी उस नरकमें नृत्य करेंगी, इसमें कोई भी सन्देह नही है। संसार-में कितनी ही जातियां कालसमुद्रपर बुद्बुद्की तरह उठकर पुनः कालसमुद्र में ही विलीन होगईं, आज उनका नाम निशान भी नहीं है, हमारे भारतने केवल माताओंकी ही कृपासे व सतीधर्म्मके बलसे चिरजीवी आर्य्यपुत्रोको उत्पन्न करके आर्य्यजातिको जीवित रक्खा है। यह महिमा एवं आर्य्यजातिकी यह चिरायुता पातिव्रत्यके नाशसे पूर्ण नष्ट हो जायगी, जिससे आर्य्यजाति ही नष्ट हो जायगी। केवल आर्य्यजाति ही नहीं, परन्तु विधवा विवाहके प्रचार होनेसे घर घरमें घोर अशान्ति फैल जायगी। आर्य्यशास्त्रोमे सती चार प्रकार की कही गई है। उत्तम सती वह है, जो अपने पतिको ही पुरुष देखें और अन्य पुरुषोंको स्त्री देखें अर्थात् उनमें सतीत्वका भाव इतना उच्च है व धारणा इतनी पूर्ण है कि सिवाय पतिके और किसी मनुष्यमे पुरुषभावकी दृष्टि ही नही होती है। मध्यम सतीका यह लक्षण है, कि जो अपने पतिको ही पति समझे एवं अपनेसे अधिक आयुवाले पुरुषोको पिता, समान आयुवाले पुरुषको भ्राता व कम आयुवाले पुरुषों को पुत्र समझे। तृतीय श्रेणीकी सती वह है, कि जिसमें धारणा इतनी पक्की न होनेपर भी धर्म्म व कुल मर्य्यादा आदिके विचारसे जो शरीर व अन्तःकरणको पवित्र रक्खे। और अधम सती वह है कि जो मनके द्वारा परपुरुषचिन्ताको न छोड़ सकने पर भी स्थूल शरीरकी पवित्रता रक्षा करे। इस प्रकारके पातिव्रत्यके प्रभावसे ही शास्त्रोंमे कहा गया है कि:—

अर्द्धं भार्य्या मनुष्यस्य भार्य्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्य्यावन्तः क्रियावन्तो भार्य्यावन्तः श्रियाऽन्विताः॥
सखायः प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियंवदाः।
पितरो धर्म्मकार्य्येषु भवन्त्यार्त्तस्य मातरः॥

संसारमे स्त्री पुरुषकी अर्द्धाङ्गिनीस्वरूपिणी व परम मित्ररूपा है। जिनकी भार्य्या है उन्हीकी सब धर्म्मकार्य्योमे सफलता व श्रीवृद्धि हुआ करती है। एकान्तमें प्रियवादिनी सखी, धर्म्म कार्य्योंमे पिताके सदृश सहायता देनेवाली और रोगादि क्लेशोंके समय माताकी तरह शुश्रूषा करनेवाली भार्य्या ही हुआ करती है। दुःखमय संसारमें गृहस्थ पुरुषोंको यदि कोई गार्हस्थ्य शान्ति है, तो यही है, कि उनके घरमे उनकी सम्पत्तिके समय अधिकतर आनन्ददायिनी और विपत्तिके समयपर अर्द्धांशभागिनीरूपसे विपत्तिके भारको कम करके हताश हृदयमें आशामृतसिञ्चनकारिणी सहधर्म्मिणी है, जो कभी स्वप्नमे भी परपुरुषको नही जानती है, परन्तु विधवा-विवाहके प्रचारके द्वारा पुरुषके हृदयमें बद्धमूल यह आशालतिका दग्ध होकर हृदयको भीषण मरुभूमिरूपमे परिणत कर देगी। क्योंकि पुरुषके चित्तमें सदा ही यह सन्देह उत्पन्न होता रहेगा कि "न जाने कब यह मेरी स्त्री मुझे मारकर दूसरेसे विवाह कर लेगी, क्योंकि स्त्रीप्रकृति नवीन नवीन पुरुषको चाहने वाली है, विधवा-विवाहके प्रचारसे नवीन नवीन पुरुष प्राप्त करना धर्म्मरूप होगया है इसलिये वह क्यों मेरे जैसे पुरानेके पास रहेगी, अनेक दिनोका सम्बन्ध होनेके कारण मैं पुराना होगया हूँ, मेरा शरीर भी नाना कारणोंसे उसकी पूर्ण तृप्ति करने लायक नही रह गया है" इत्यादि इत्यादि। और इस प्रकारकी चिन्ता उस दशामें स्वाभाविक भी है, क्योंकि विधवा विवाहकी आज्ञाको धर्म्म कहकर प्रचार करनेसें स्त्रीजातिके चित्तसे सतीत्वका संस्कार ही नष्ट हो जायगा, जिससे एक पतिमें ही संयमपूर्व्वक नियुक्त रहनेकी कोई आवश्यकता स्त्रियां नही समझेंगी और इसका यही फल होगा कि स्त्रीजातिकी स्वाभाविक कामपिपासा व नवीन नवीन पुरुषभोगप्रवृत्ति अत्यन्त बलवती होकर स्त्रीचित्तकी सत्ताका नाश कर देगी। और जहां एक बार सतीत्वका बन्धन टूट गया, फिर कहना ही क्या है? उसे कभी रोक नही सकते। शेरको नररक्तका स्वाद मिलने पर उसकी मनुष्य मारनेकी प्रवृत्ति कभी नही नष्ट हो सकती है। अतः

इस प्रकारकी आज्ञा देनेका यही फल होगा कि गृहस्थाश्रममें बड़ी भारी अशान्ति फैलेगी, गृहस्थाश्रम श्मशान हो जायगा, उसकी गृहलक्ष्मी अपने स्वरूपको छोड़कर पिशाचिनी बनकर उसी श्मशानमें नृत्य करेगी, प्रेमकी मन्दाकिनी शुष्क हो जायगी, कामका हुताशन भीषणरूपसे जलने लग जायगा और पतिका पवित्र देह उसी हुताशनमें आहुतिरूप हो जायगा। ससारमें थोडी थोड़ी बातपर ही लड़ाई होगी, लडाईमें दाम्पत्यप्रेम नष्ट हो जायगा, पति सदा ही स्त्रीसे डरने लगेंगे, "क्या जाने कब मुझे मार न देवे, मेरा शरीर कुछ वृद्ध होगया है, बहुत सुन्दर भी नही है, मैंने आज धमकाया था, उसको क्रोध तो नही आगया, शायद क्रोध करके मुझे रातको मार न दे, किसी दूसरेसे गुप्त प्रेम करके मुझे दूधके साथ ज़हर देकर मार न डाले क्योंकि मेरेसे उसका चित्त नही भरता है, मै पुराना व बूढ़ा हो गया हूँ" इत्यादि इत्यादि सब दुर्दशाएं गृहस्थाश्रममें होने लग जायँगी, इसमें कोई भी सन्देह नही है। पुरुषको सामान्य रोग होते ही वह आधे रोगमे चिन्ताहीसे पूरा मर जायगा क्योंकि उधर तो आठगुणी कामकी अग्नि निशिदिन आहुतिके लिये लहलहाती है और इधर रोगसे विषय भोगकी शक्ति कम होगई है अतः इस दशामे व्यभिचारका भय व मार डाले जानेका भय सदैव पुरुषको सताया करेगा और वह सामान्य रोगसे ही दुश्चिन्ताके कारण मर जायगा, सब स्त्रियां स्वेच्छाचारिणी हो जायगी, पतिकी बात नही सुनेगी, पतिको रोटी मिलनी कठिन हो जायगी, वे कुछ नही कह सकेंगे क्योंकि जहां कुछ कहे वही मरनेका डर, विषका डर और हत्याका डर लगेगा, वह स्त्री नाराज़ होकर सब कुछ कर सकती है, अन्य पुरुषसे मिलकर उसे मार डाल सकती है क्योंकि तब तो अन्य पुरुषसे मिलना धर्म्म हो जायगा। यही सब विधवा-विवाहका भारतको श्मशान बनानारूप विषमय फल है जिसको विचारवान् व दूरदर्शी पुरुष विचार कर देखनेसे अक्षरशः सत्य जान सकेंगे। क्या यही सब भारतवर्षकी उन्नतिका लक्षण है ? इसी प्रकार करनेसे भारतवर्षकी उन्नति होगी ? यही सब आर्य्यत्वका लक्षण है ? समुद्रके गर्भमे डूबजाय वह भारत और नष्ट हो जाय वह आर्य्यजाति जिसमे अपने आर्य्यभावको नष्ट करके इस प्रकारके अनार्य्य आचारको ग्रहण करना ही उन्नतिका लक्षण हो। प्रमादी है वे लोग जो इन सब विषयोंको बिना सोचे ही पवित्र आर्य्यजातिके मौलिक भावोके उड़ा देनेमें अपना पुरुषार्थ और देशकी उन्नति समझते है। उन्नति अपने जातिगत संस्कारोंकी उन्नतिसे

हुआ करती है, अपनी सत्ताको नष्ट करके नहीं हो सकती है। भारत यूरोप होकर उन्नत नहीं हो सकता है, आर्य्य अनार्य्य होकर उन्नत नहीं हो सकते हैं और आर्य्यसतियां विलायती मेम बनकर उन्नत नहीं हो सकती हैं, परन्तु सीता सावित्री बनकर ही उन्नत हो सकती हैं, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। इन्हीं सब कारणोंसे मनुजीने स्त्रीके लिये द्वितीयवार विवाह मना किया है।

अब जो वाग्दत्ता कन्याके विवाहका विषय है सो इस विषयमे भी मनुजीने स्पष्ट विवाह नहीं लिखा है। यथा :—

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥
यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम्।
मिथो भजेताऽऽप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ॥

(६म अध्याय)

यदि विवाहसे पहिले वाग्दत्ता कन्याके पतिकी मृत्यु हो तो इस नियमानुसार देवरके साथ उसका संसर्ग हो सकता है, कि यथाविधि इस प्रकारकी स्त्रीको प्राप्त करके देवर सन्तान होनेतक प्रतिऋतुमे उससे संसर्ग करे, परन्तु वह स्त्री शुभ्र वस्त्र पहिनी हुई व शुचिव्रता होनी चाहिये। शुभ्र वस्त्र पहनना व शुचिव्रत होना विधवाका धर्म है, सधवाका नहीं है। अतः इस प्रकारकी आज्ञाके द्वारा मनुजी वाग्दत्ताका विवाह नहीं बता रहे हैं, केवल सन्तानोत्पत्ति करना ही बता रहे हैं। अधिकन्तु यदि कोई मनुष्य ऊपरके श्लोकोंसे वाग्दत्ताका विवाह समझ लेवे तो इस सन्देहके निराकरणार्थ मनुजीने पुनः तीसरे श्लोकमें कहा है कि :—

न दत्वा कस्यचित् कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः।
दत्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषोऽनृतम्॥

एक बार वाग्दान करके ज्ञानी लोगोंको अपनी कन्याको अन्य पात्रमे समर्पण नहीं करना चाहिये क्योंकि एक पुरुषको दान करना अङ्गीकार करके दूसरेको देनेपर समस्त संसारको प्रतारणा करनेका पाप होता है। मनुजीकी यह आज्ञा उत्तम कोटिकी है। परन्तु भिन्न भिन्न देशकालके विचारसे अन्यान्य स्मृतियोंमें मध्यम कोटिकी भी आज्ञाएँ मिलती हैं तदनुसार वाग्दत्ता कन्याका अन्य पात्रमें समर्पण भी माना जाता है। उनका यह सिद्धान्त है कि मन्त्रसंस्कारके

अनन्तर सप्तपदीगमन होनेसे ही जब कन्या पर पूर्णतया वरका अधिकार होता है तो केवल वाग्दत्ता होनेसे पूरा दान नही हुआ अतः उसका विवाह हो सकता है। वशिष्ठसंहितामें लिखा है कि:—

अद्भिर्वाचा च दत्तायां म्रियेताऽथो वरो यदि।
न च मन्त्रोपनीता स्यात्कुमारी पितुरेव सा॥
यावच्चेदाहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता।
अन्यस्मै विधिवद्देया यथा कन्या तथैव सा॥

यदि ऐसा हो कि केवल जलसे या वाक्यसे दानमात्र हुआ है परन्तु मन्त्रोंके द्वारा सस्कार नही हुआ है, तो इस दशामे वरकी मृत्यु होनेसे वह कन्या पिताकी ही रहेगी। इसलिये मन्त्रसस्कृत न होनेके कारण वह कन्या अन्य पात्रमे दी जा सकती है क्योंकि ऐसी अवस्थामें वाग्दत्ता कन्या और अवाग्दत्ता कन्या दोनों ही बराबर हैं। यही उत्तम तथा मध्यम कोटिका विचार है। इसी प्रकार महर्षि पराशरके 'नष्टे मृते' इत्यादि श्लोकोंमें भी 'अपतौ' शब्दके प्रयोगसे वाग्दत्ता प्रकरणका ही ग्रहण किया गया है। अर्वाचीन पुरुषोंने जो 'तामनेन विधानेन' इत्यादि श्लोकसे अक्षतयोनि विधवाका विवाह बताया है यह उनकी भूल है। इसका प्रकरणानुसार अर्थ ऊपर बताया गया है।

अन्तमें एक दो विषय और-भी विचार करने योग्य हैं। ऊपरलिखित नियमोंके अनुसार विधवाओंकी रक्षा व शिक्षा होनेसे वैधव्य दशामें पातिव्रत्यधर्म्मका पूर्ण पालन हो सकेगा इसमें कोई सन्देह नही है। परन्तु यदि प्रारब्ध मन्द होनेके कारण इतनी शिक्षा देनेपर भी कोई विधवा अपने धर्म्मका पालन न कर सके और अजस्र व्यभिचार द्वारा कुलमें कलङ्क आरोपण करने लगजाय या विधर्मियोंके साथ भागने लगे तो उस दशामें असच्छूद्रजातियोंके सिवाय अन्यके लिये यही करना होगा कि अनेक पुरुषोंका सङ्ग व अजस्र व्यभिचारको घटानेके लिये एक पुरुषके साथ उसका सम्बन्ध कराकर उसे जातिसे अलग कर देना होगा। इस प्रकारसे पुरुषसम्बन्ध करा देना आदर्शधर्म्म नहीं होगा या विवाह नही कहलावेगा, परन्तु अनेक पुरुषसङ्ग द्वारा अधिक व्यभिचारसे बचानेके लिये एक पुरुष सग्रहमात्र कहलावेगा। अतः ऐसी पतिता स्त्रीको घरमें सती स्त्रियोंके साथ कभी नही रखना चाहिये क्योंकि ऐसा होनेसे कुसङ्गके कारण सतियां भी बिगड़ जायगी, कमसे कम उनके चित्तसे पातिव्रत्यकी

गम्भीरता कम हो जायगी, ऐसी स्त्रियों तथा पुरुषोंकी एक जाति या कई एक जातियां अलग अलग बन सकती हैं। इस प्रकार सती व असती स्त्रियोंमें भेद रखने पर सती स्त्रियों पर बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ेगा, वे मनसे भी सती धर्म्मसे च्युत नहीं होंगी और विधवा होनेपर भी व्यभिचार करनेकी इच्छा नहीं करेंगी, कमसे कम शरीरको तो पवित्र रक्खेंगी।

मनुजीने अपनी संहिताके नवम अध्यायमें ऐसा ही एक वैदिक विवाह संस्कारके अतिरिक्त पुनर्भूसंस्कार लिखा है। यथाः—

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते॥
सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागताऽपि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति॥

दोषी होनेसे पतिने त्याग कर दिया है अथवा विधवा हो गई है ऐसी स्त्री अपनी इच्छासे किसीकी स्त्री बनकर अर्थात् व्यभिचार द्वारा जो पुत्र उत्पन्न करे उसे पौनर्भव पुत्र कहते हैं। ऐसी कुलक्षणाक्रान्त कोई विधवा अक्षतयोनि हो अथवा कोई सधवा घरसे भागकर फिर लौट।।आई हो तो ऐसे ही किसी पौनर्भव पुरुषके साथ उसका विवाह हो सकता है। इस श्लोकमें पौनर्भव पति साधारण पुरुष नहीं है परन्तु घरसे भागी हुई या परित्यक्ता या विधवा स्त्रीके व्यभिचारके द्वारा उत्पन्न पुरुष है। अतः वर्त्तमान आपत्कालमें भी हिन्दुजातिके भीतर यदि ऐसा कोई पन्थ बन जाय जो ऐसे स्त्री पुरुषोंको विधर्मी होनेसे बचा ले तो हम उससे रोटी बेटीका सम्बन्ध न रखनेपर भी उसको हिन्दु मान सकते हैं। और ऐसा माननेसे वर्त्तमान समयमें अनेक पतित स्त्री पुरुषोंकी रक्षा होगी तथा दूसरी ओर आर्य्य नर नारियोंका उत्तमादर्श बच जायगा। यही वर्त्तमान आपत्काल के अनुकूल विचार है। अर्वाचीन पुरुषोंने जो इस श्लोकके द्वारा प्रत्येक अक्षतयोनि स्त्रीका पुनर्विवाह लिखा है यह उनकी भूल है। क्योंकि शिक्षा पानेपर क्षतयोनिकी अपेक्षा अक्षत योनि स्त्री अपने ब्रह्मचर्य्यको अधिक सुविधासे रख सकती है। गृहस्थ होकर किसी वस्तुका स्वाद पाकर उसे छोड़नेकी अपेक्षा पहिलेसे ही छोड़ना अधिक सुविधाजनक अवश्य है। अतः इन्हीं सब विचारो द्वारा सावधान होकर सतीधर्मकी रक्षा करनी चाहिये।

विवाहकाल निर्णय।

हिन्दु नरनारियोंके लिये मोक्षप्रद धर्मका विचार करके अब किस उमरमें स्त्री पुरुषका विवाह होनेसे इस परम धर्मकी अनायास रक्षा हो सकती है इस पर विवेचन किया जाता है।

विवाहके विज्ञानपर संयम करनेसे ज्ञात होगा कि पुरुषशक्तिके साथ स्त्रीशक्तिको मिलाकर नवीन पदार्थको उत्पन्न करनेके लिये ही विवाह है। इन दोनों शक्तियोंका मेल एक प्राकृतिक व्यापार है इसलिये अणु-परमाणुसे लेकर परमात्मा पर्य्यन्त इस प्रकार दोनों शक्तियोंका सम्मेलन देखनेमें आता है। अणुओंमें (Positive and negative power) पुरुषशक्ति व स्त्रीशक्ति विद्यमान रहती है। द्व्यणुक आदि क्रमसे स्थूल जगत्‌की सृष्टि इन दोनों शक्तियोंके सम्मेलनसे ही होती है। स्त्रीपरमाणु व पुंपरमाणु मिलकर स्थूल सृष्टिको बनाते है। साधारणतः गर्भाधानके समय भी रजोवीर्यके मेलके द्वारा दोनों ही शक्तियुक्त परमाणुओंका सम्मेलन सन्ततिके स्थूल शरीर उत्पन्न करनेके लिये होता है। इन्ही दोनों शक्तियोंका सम्मेलन और उससे सृष्टि उद्भिज्ज जगत्‌में भी देखनेमे आती है। वृक्ष भी स्त्री व पुरुष दोनों प्रकारके होते हैं जिनके पराग या पुष्परेणु पृथक् पृथक् होते है। पुंपरागके साथ वायु या भ्रमरके द्वारा स्त्रीपरागका प्राकृतिकरूपसे सम्बन्ध होनेसे ही उद्भिज्ज सृष्टि होने लगती है। कहीं कही एक पुष्पमे भी दो शक्ति रहती है। पुंशक्तियुक्त पुंपराग पुष्पके ऊपरके भागमें और स्त्रीशक्तियुक्त स्त्रीपराग पुष्पके गर्भ (बीच) में रहता है। भ्रमर अपने शरीरके ऊपर वह पुंपराग लगाकर पश्चात् पुष्पगर्भस्थ स्त्रीपरागसे पुंपरागको प्राकृतिक रीति पर ही मिलता है और इसी प्रकारसे उद्भिज्ज सृष्टि होती रहती है। इसी रीति पर स्वेदजयोनिके जीवोंके जो स्थूल शरीर है उनकी भी सृष्टि पुरुषपरमाणु व स्त्रीपरमाणुके सम्मेलनसे होती है। अण्डज व जरायुजमे तो इस प्रकार दो शक्तिके सम्मेलनसे सृष्टि प्रत्यक्ष ही है। सृष्टिधाराके विस्तारके लिये इन दोनों शक्तियोंका सम्मेलन करना विवाहका प्रथम उद्देश्य है।

मनुष्ययोनि प्राप्त करके जीवके स्वतन्त्र होनेसे इन्द्रियलालसा अत्यन्त बढ़ जाती है। प्रत्येक पुरुषके चित्तमें सभी स्त्रियोंके लिये और प्रत्येक स्त्रीके

चित्तमें सभी पुरुषोंके लिये भोगभाव प्राकृतिकरूपसे विद्यमान है। उसीको सङ्कोच करके एक पुरुष व एक स्त्रीके परस्परमें प्रवृत्तिको बाँधकर धर्म्मके आश्रयसे, भावशुद्धिसे तथा बहुत प्रकारके नियमोंसे उस प्रवृत्तिको भी धीरे धीरे घटाकर अन्तमें महाफला निवृत्तिमे ही मनुष्यको लेजाना विवाहका दूसरा उद्देश्य है।

विवाहका तीसरा उद्देश्य प्रजोत्पत्ति द्वारा वंशरक्षा और पितृ-ऋण शोध करना है। श्रुतिमें लिखा है कि:—

प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।

पितामह, पिता, पुत्र, पौत्र आदि परम्परासे प्रजाका सूत्र अटूट रखना चाहिये। मनुजीने कहा है कि:—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः॥
अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्राँश्चोत्पाद्य धर्म्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥

ऋषि-ऋण, देव-ऋण व पितृ-ऋण तीनों ऋणोंको शोध करके मोक्षमें चित्तको लगाना चाहिये। ऋणत्रयसे मुक्त न होकर मोक्षधर्म्मका आश्रय लेनेसे पतन होता है। स्वाध्याय द्वारा ऋषि-ऋण, पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृ ऋण और यज्ञसाधन द्वारा देव-ऋणसे गृहस्थ मुक्त होते है। आकुमारब्रह्मचारी-के सब ऋण ज्ञानयज्ञमें लय होते है। उसको उक्त प्रकारसे ऋणत्रयसे मुक्त नही होना पड़ता है, परन्तु गृहस्थके लिये पितृ-ऋणादि शोध करनेके लिये पुत्रोत्पादनादि धर्म्म हैं। यही विवाहसंस्कारका तीसरा उद्देश्य है।

विवाहका चौथा उद्देश्य भगवत्प्रेमके अभ्याससे आध्यात्मिक उन्नति करना है। जीवभाव स्वार्थमूलक है और ईश्वरभाव परार्थमूलक है। मनुष्य जितना ही स्वार्थका सङ्कोच करता हुआ परार्थताको बढ़ाता है उतना ही वह ईश्वरभाव और आध्यात्मिक उन्नतिको लाभ करता है। जिस कार्य्य-के द्वारा इस प्रकार स्वार्थभावका सङ्कोच और परार्थभावकी पुष्टि हो वह धर्म्मकार्य्य और भगवत्कार्य्य है। विवाहसंस्कारके द्वारा मनुष्य इस परार्थ-भावकी शिक्षा प्राप्त करने लगता है क्योंकि पुरुषका जो स्वार्थ अपनेमें

ही बद्ध था वह विस्तृत होकर पहिले स्त्रीमें और पीछे पुत्र कन्या व समस्त परिवारमें बँट जाता है, इससे परार्थभाव बढ़कर आध्यात्मिक मार्गमें उन्नति होती है। यही परार्थभाव अपने घरसे प्रारम्भ होकर क्रमशः समाज, देश व समस्त संसारके साथ मिलजाता है, तभी जीव "वसुधैव कुटुम्बकम्" होकर मुक्त होजाते हैं। विवाहसंस्कारके द्वारा इस भावका प्रारम्भ होता है इसलिये यह प्रधान संस्कार है इससे आध्यात्मिक उन्नति होती है। द्वितीयतः इसके द्वारा भगवत्प्रेमका अभ्यास होता है। सकल रसोंके मूलमे सच्चिदानन्दका आनन्द-रस ही भरा हुआ है। वही एकरस मायाके आवरणसे कहीं प्रेम, कहीं स्नेह, कहीं श्रद्धा, कहीं काम, कहीं मोह आदि नाना रसोंमे विभक्त होगया है। इन्हीं रसोंके प्रभावकी गतिको मोड़कर भगवान्की ओर लगानेसे ये ही सब भगवत्प्रेमरूप हो जाते हैं। विवाहसंस्कारके द्वारा इसी भगवत्प्रेमका अभ्यास होता है। पति पत्नी परस्परमे प्रीतिभावको बाँध करके परोक्षरूपसे भगवत्प्रेमकी ही शिक्षालाभ करते हैं और उसी परस्परमें अभ्यस्त प्रेमको धीरे धीरे भगवान्की ओर लगाकर आध्यात्मिक उन्नति और शुद्ध आनन्दको-लाभ करते हैं। यही विवाहका चौथा उद्देश्य है।

विवाहका अति महान् पञ्चम उद्देश्य यह है कि इसके द्वारा दम्पतिका जीवन मधुरिमामय व दिव्यभाव पूर्ण होजाता है। प्रेमपाशबद्ध स्त्री पुरुष सदा ही परस्परको सन्तुष्ट रखनेके लिये उत्सुक रहा करते हैं और उसी कारणसे जो कुछ कार्य्य करते हैं सभीमें उदारता, भावशुद्धि व परार्थपरता बढती है। अच्छी तरहसे पान भोजनादि करनेकी इच्छा सभीमें होती है परन्तु केवल अपने ही सुखके लिये पान भोजनादि करनेमें मनुष्यको लज्जा आती है और वह पान भोजनादि पापभोजनमात्र है। परन्तु यदि ऐसा हो कि एकके पान भोजनादिसे दूसरोंकी आत्मा सन्तुष्ट होगी तो वह पान भोजनादि पापभोजन न होकर देवसेवा होगी। विवाहके द्वारा यही दिव्यभाव दम्पतिके हृदयमे उत्पन्न होता है। इस नश्वर क्षणभङ्गुर शरीरका वेषविन्यास करते हुए किस स्त्रीको लज्जा नहीं आती? परन्तु प्रियतमके आनन्दके लिये शरीरका यत्न होरहा है, अपने लिये नहीं, इस प्रकारकी भावना रखनेसे वेषविन्यासमें लज्जा नहीं आती। अधिकन्तु उसमे यही भाव उत्पन्न होता है कि जितना सौन्दर्य्य अभी है उससे कोटिगुणा अधिक न होनेसे पति देवताके चरणकमलमे अर्पण करने योग्य

शरीर नही होगा । स्त्रीका शरीर, मन, शोभा, सौन्दर्य्य सभी पतिके सुखके लिये है, अपने लिये नही है । प्रकृतिका लीलाविलास उष्ट्रके कुङ्कुमवहनवत् पुरुषके भोग व मोक्षके लिये है यही सांख्यशास्त्रका सिद्धान्त है । विवाहसंस्कारके द्वारा इस भावकी पुष्टि होकर उदारता व आत्मोन्नति होती है । धनसञ्चय करनेसे धनदान करनेमें आनन्द अधिक है । धनसञ्चय करनेसे लोग कृपण कहकर निन्दा करते हैं और आत्मग्लानि भी होती है, परन्तु पुत्र कन्यादिके पालनके लिये मितव्ययिता व धनसञ्चय आत्मग्लानि उत्पन्न न करके प्रशंसा व सन्तोष ही उत्पन्न करता है । एकके भोजनसे दूसरेकी तृप्ति होगी, एकके सौन्दर्य्यसे दूसरेको आनन्द मिलेगा, एकके धनसञ्चयसे दूसरेका भावी कल्याण होगा, इस प्रकार साधुजनोचित परार्थभावकी शिक्षा विवाहके द्वारा स्त्री पुरुष सहज ही पाते हैं । स्वार्थको धीरे धीरे परार्थमें मिलाकर लय करदेनेसे ईश्वरभाव उत्पन्न होता है और यही विवाहसंस्कारका उद्देश्य है , इसीलिये विवाहसस्कार अति उत्तम है । ऊपरलिखित विवाहके उद्देश्योंकी पूर्णताके लिये विवाहकाल निर्णय बहुत विचारपूर्व्वक होना चाहिये , अन्यथा संसारमें अशान्ति, दाम्पत्य-प्रेमका अभाव और निकृष्ट प्रजोत्पत्तिकी सम्भावना रहती है ।

विवाहकालके विषयमें शास्त्रोंमें मतभेद पाया जाता है । मनुसंहितामें कहा है:—

> अपत्यं धर्म्मकार्य्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
> दाराऽधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥

सन्तानोत्पत्ति, धर्म्मकार्य्य, सेवा, उत्तम अनुराग और पितरोंकी तथा अपनी स्वर्गप्राप्ति, ये सब स्त्रीके अधीन है । अतः विवाहकालके विचारमें भी उपर्युक्त दोनों उद्देश्य लक्ष्यीभूत रखने होंगे, अन्यथा संसाराश्रममें स्त्री पुरुषको कदापि शान्ति नही मिलेगी । आर्य्यजातिकी और जातियोंसे यही विशेषता है कि इसमें सभी विचार आध्यात्मिक लक्ष्यको मुख्य रखकर हुआ करते हैं। केवल स्थूलशरीरको ही मुख्य मानकर जो कुछ विचार हैं, वे आर्य्यभावरहित हैं अतः इस जातिके लिये हानिकर व जातित्वनाशक है । इसलिये बलवान् और स्वस्थशरीर पुत्र उत्पन्न हो और दम्पतिकी भी कोई शारीरिक हानि न हो, विवाहकालके विषयमें केवल इतना ही विचार आर्य्यजातिके अनुकूल नही होगा परन्तु वह असम्पूर्ण विचार कहा जायगा । आर्य्यजातिके उपयोगी पूर्ण विचार

तभी होगा जब विवाहकालके विषयमें ऐसा ध्यान रक्खा जायगा कि विवाहसे उत्पन्न सन्तति स्वस्थ, सबलकाय और धार्म्मिक भी हो तथा दाम्पत्यप्रेम, संसारमें शान्ति व सबसे बढ़कर पातिव्रत्यधर्म्ममें किसी प्रकारका आघात न लगे । वर कन्याके विवाहकालके लिये इतना विचार करनेपर तभी वह विचार आर्य्यजातिके उपयोगी व पूर्ण विचार होगा ।

अब विवाहकालके विषयमे स्मृति आदिमे जो प्रमाण मिलते हैं उनपर विचार किया जाता है । मनुजीने कहा है कि:—

त्रिंशद्वर्षो वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्म्मे सीदति सत्वरः ॥

तीस वर्षका पुरुष अपने चित्तकी अनुकूला बारह वर्षकी कन्यासे विवाह करे, अथवा चौबीस वर्षका युवक आठ वर्षकी कन्यासे विवाह करे और धर्म्महानिकी यदि आशङ्का हो तो शीघ्र भी कर सकते हैं । महर्षि देवलने कहा है कि:—

ऊर्द्ध्वं दशाब्दाद्या कन्या प्राग्रजोदर्शनात्तु सा ।
गान्धारी स्यात् समुद्वाह्या चिरं जीवितुमिच्छता ॥

दस वर्षसे ऊपर व रजोदर्शनके पहले तक कन्या गान्धारी कहलाती है । दीर्घायु चाहनेवाले माता पिताको इस अवस्थामे उसका विवाह कर देना उचित है । संवर्त्तसंहितामे लिखा है कि:—

अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा तु रोहिणी ।
दशवर्षा भवेत् कन्या अत ऊर्द्ध्वं रजस्वला ॥
माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥
तस्माद्विवाहयेत् कन्यां यावन्नर्त्तुमती भवेत् ।
विवाहोऽष्टमवर्षायाः कन्यायास्तु प्रशस्यते ॥

आठ वर्षकी अविवाहिता कन्या गौरी, नौ वर्षकी रोहिणी और दस वर्षकी कन्या कही जाती है । इससे अधिक वर्षकी कन्या रजस्वला कहलाती

है। इस प्रकारकी रजस्वला कन्या जिसके घरमें है वहां उसके माता, पिता व ज्येष्ठ भ्राता नरकमें जाते हैं। इसलिये रजस्वला होनेसे पहिले ही कन्याका विवाह करदेना उचित है। आठ वर्षकी अवस्थामें ही कन्याका विवाह प्रशस्त है। यमसंहितामे लिखा है कि:—

प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति।
मासि मासि रजस्तस्याः पिता पिबति शोणितम्॥

कन्याकी आयु बारह वर्ष की होने पर भी जो पिता उसका विवाह नही करते है उनको प्रतिमास रजोजनित रक्तपानका पाप होता है। पराशर-संहितामें भी ऐसा ही लिखा है। वशिष्ठसंहितामे लिखा है कि:—

पितः प्रदानात्तु यदा हि पूर्व्वं,
कन्यावयो यः समतीत्य दीयते।
सा हन्ति दातारमपीक्षमाणा,
कालाऽतिरिक्ता गुरुदक्षिणेव॥
प्रयच्छेन्नग्निकां कन्यामृतुकालभयात्पिता।
ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यां दोषः पितरमृच्छति॥
यावच्च कन्यामृतवः स्पृशन्ति,
तुल्यैः सकामामभियाच्यमानाम्
भ्रूणानि तावन्ति हतानि ताभ्याम्,
मातापितृभ्यामिति धर्म्मवादः॥

पिताके द्वारा कन्यादान होनेसे पहिले यदि कन्याकाल अतीत होजाय तो ऐसी कन्या कालातिरिक्त गुरुदक्षिणाकी तरह दृष्टिमात्रसे ही दाताको पापग्रस्त करती है। रजस्वला होनेके भयसे ऋतुसे पहिले ही पिता कन्यादान करे, क्योंकि ऋतुमती कन्या अविवाहिता रहनेसे पिताको दोष लगता है। कन्या चाहती है, योग्य वर भी मिल रहा है ऐसी अवस्थामें यदि ऋतुकाल के पहिले कन्यादान न किया जाय तो उस कन्याको जितनी बार ऋतु होगा उतनी बार माता पिताको भ्रूणहत्याका पाप लगेगा।

प्रदानं प्रागृतोरप्रयच्छन्दोषी (गौतमः)
अदृष्टरजसे दद्यात्कन्यायै रत्नभूषणम् (आश्वलायनः)
अप्रयच्छन्समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ (याज्ञवल्क्यः)
प्रदानं प्रागृतोः स्मृतम् (मनुः)

इन वचनोंसे सिद्ध होता है कि रजस्वला होनेसे पहिले ही कन्यादानकी आज्ञा दी गई है । अतः इन सब प्रमाणोंसे कन्याकी आयुके विषयमे सामान्यतः आठ वर्षसे लेकर बारह वर्ष तककी आज्ञा और विशेषतः कहीं आठ वर्षमे विवाह होनेकी प्रशंसा, कहीं दस वर्षमे विवाह होनेकी प्रशंसा और उससे अधिक उमरमे विवाह होनेकी निन्दा तथा कहीं कहीं बारह वर्षमे विवाह होनेकी आज्ञा और उससे अधिक आयुमे विवाह होनेकी निन्दाकी गई है, परन्तु सर्व्वत्र ही एकमतसे ऋतुकालसे पहिले कन्यादानकी आज्ञा है। वास्तवमें कितने वर्षकी आयुमे कन्याका विवाह होना चाहिये इसका निश्चय कभी नही हो सकता है, केवल रजस्वला होनेके पहिले होना चाहिये यही साधारणतः निश्चय हो सकता है । इसका कारण क्या है सो बताया जाता है । मनुसंहितामें लिखा है कि :—

स्वां प्रसूतिं चरित्रञ्च कुलमात्मानमेव च ।
स्वञ्च धर्म्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ॥

स्त्रीकी सुरक्षासे निज सन्तति, चरित्र, वंशमर्य्यादा, आत्मा और स्वधर्म्मकी रक्षा होती है इसलिये स्त्रीकी रक्षा सर्व्वथा करणीया है। अब यह रक्षा कैसे हो सकती है सो विचार करने योग्य है। पहिले ही कहा गया है कि प्रत्येक स्त्रीके साथ प्रत्येक पुरुषका जो भोग्यभोक्ता सम्बन्ध स्वाभाविक है, उसको अनर्गल होनेसे रोककर एक सम्बन्ध ही में संस्कार व भावशुद्धि द्वारा स्त्री पुरुषको बाँधकर प्रवृत्तिमार्गके भीतरसे निवृत्तिमे लेजाना ही विवाहका एक प्रधान लक्ष्य है। इसलिये स्त्रीका व पुरुषका विवाह उसी समय होना चाहिये जिस समय उनमे भोग्य व भोक्ता भावका उदय हो, क्योंकि उस समय विवाहसंस्कार न करानेसे प्रवृत्ति अनर्गल अर्थात् अनेकोंमें चञ्चल होकर अधोगति करा सकती है। यही स्त्री व पुरुष दोनोंके लिये साधारण धर्म्म है।

अब उक्त सिद्धान्तको लक्ष्यमे रखते हुए स्त्री व पुरुष दोनोंकी आयु समान होनी चाहिये या असमान होनी चाहिये और किसकी कितनी होनी चाहिये सो विशेषधर्म्मके विचारसे तत्त्व निर्णय किया जाता है। पहिले ही कहा गया है कि स्त्रीमें प्रकृतिभावकी प्रधानता और पुरुषमे पुरुषभावकी प्रधानता होनेसे स्वभावतः ही स्त्री अज्ञानमयी व पुरुष ज्ञानमय होता है। मनुजीने कहा है कि :—

पानं दुर्ज्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट्॥
नैता रूपं परीक्षन्ते नाऽऽसां वयसि संस्थितिः।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते॥
पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः।
रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्त्तृष्वेता विकुर्व्वते॥
एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापतिनिसर्गजम्।
परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति॥

पान, दुर्ज्जनका सङ्ग, पतिसे विरह, इधर उधर घूमना, असमयमे निद्रा व दूसरेके घरमे वास, स्त्रियोंके ये स्वाभाविक छः दोष हैं। स्त्रीजाति, रूप या उमरका कोई भी विचार नहीं करती है। सुन्दर हो या न हो, पुरुष मिल जानेसे ही सम्बन्ध करती हैं। पुरुषको देखते ही कामेच्छा, स्वाभाविक चित्तचाञ्चल्य और स्नेहहीनताके कारण वे पतिके द्वारा सुरक्षित होने पर भी व्यभिचार करती हैं। विधाताने स्त्रीजातिकी प्रकृति ही ऐसी बनाई है, इस प्रकार जानकर उनकी रक्षा करनेमें पुरुषको सदा ही यत्नशील होना चाहिये। यही स्त्रीप्रकृतिमें तमोमयी अविद्याका भाव है। इसके अतिरिक्त उनमे सत्त्वगुणमयी विद्याका भी भाव है जिससे, जैसे कि पहिले कहा गया है, पुरुषसे भी अधिक धैर्य्य, पातिव्रत्य, तपस्या और तन्मयता आदि सद्गुण उनमें प्रकट होते हैं। अतः जिस आयुमें विवाह करानेसे स्वाभाविक अविद्याभावका उदय न हो और विद्याभावकी ही दिन-पर-दिन पुष्टि हो, उसी आयुमें कन्याका विवाह होना चाहिये। कन्याकालके विषयमें पहिले ही कहा गया है कि जबतक स्त्री पुरुषके

सामने लज्जिता होकर वस्त्रसे अपने अङ्गोंको आवृत न करे और कामादि विषयोंका ज्ञान जबतक उसको न हो तभी तक स्त्रीका कन्याकाल जानना चाहिये। इसी प्रमाणके अनुसार यही सिद्धान्त होता है कि जिस समय स्त्रीमे स्त्रीसुलभ चाञ्चल्य व स्त्रीभावका विकाश होने लगता है और वह समझने लगती है कि "मैं स्त्री हूँ, वह पुरुष है और हम दोनोंका भोग्यभोक्तासम्बन्ध विवाहके द्वारा होता है" उसी समय कन्याका विवाह अवश्य होना चाहिये क्योंकि जिस समय स्त्री पुरुषके साथ अपना स्वाभाविक भोग-सम्बन्ध समझने लगती है, उसी समय विवाह कर देनेसे एक ही पुरुषके साथ नैसर्गिक प्रेम प्रवाहका सम्बन्ध बँध जायगा, जिससे पातिव्रत्यधर्ममें जोकि स्त्रीकी उन्नतिके लिये एकमात्र धर्म है, कोई हानि नही होगी। अन्यथा, स्वाभाविक चञ्चल चित्तको निरङ्कुश छोड़ देनेसे बहुत पुरुषोंमें चाञ्चल्य होकर पातिव्रत्य की गभीरता नष्ट हो सकती है और ऐसा होनेका अवसर देना स्त्रीका सत्यानाश करना है। अतः विवाहका वय इन्हीं विचारोंके साथ पिता माताको ठीक करना चाहिये। इसमें कोई नियमित वर्ष नही होसकता है क्योंकि देश, काल, पात्रके भेद होनेसे सभी स्त्रियोंके लिये स्त्रीभाव-विकाशका एक ही काल नही होसकता है। परन्तु साधारणतः ८ वर्षसे लेकर १२ वर्ष तक, इस प्रकार स्त्रीभाव-विकाशका काल है। इसीलिये मनु आदि महर्षियोंने ऐसी ही आज्ञा की है। विचारमें मतभेद होनेका कारण यह है कि जिस देश कालको मुख्य रखकर जिस स्मृतिमें विवाहके कालका विधान किया गया है उस देश कालमें कन्याभाव कब तक रह सकता है और नारीभाव कब होने लगता है उसीके ही विचारसे कन्याके लिये विवाहकालका निर्णय किया गया है। सात्त्विक स्थूलशरीरमें स्त्रीभावका विकाश देरसे होता है परन्तु तामसिक कामज शरीरमे स्त्रीभावका विकाश शीघ्र होता है। जिस प्रकार पुरुषशरीर कामज होनेसे उसमें ब्रह्मचर्य्य-धारणकी शक्ति कम होती है और थोड़ी उमरमें ही यौवन-सुलभ सभी बातें आजाती हैं उसी प्रकार स्त्रीका भी शरीर कामज होनेसे उसमें नारीभावका विकाश व चाञ्चल्य शीघ्र होने लगता है। गर्भाधान संस्कार ठीक ठीक होनेसे सात्त्विक शरीर होता है और उसमे नारीभाव भी देरसे उत्पन्न होता है। परन्तु जहां धार्म्मिक प्रजोत्पत्तिका लक्ष्य न होकर केवल पाशविक सम्बन्धसे सन्तान होती है वहां स्त्री अथवा पुरुषका शरीर व मन भी निकृष्ट होगा इसमें सन्देह ही क्या है? ये ही सब कारण है जिससे महर्षियोने कन्याके विवाह-

कालके विषयमें भिन्न भिन्न मत बताये हैं। परन्तु ऊपरके प्रमाणोंसे सिद्ध होगा कि विवाहकालके विषयमें महर्षियोंके मतोंमें भेद होने पर भी रजस्वला होनेके पहिले विवाह होना चाहिये इस विषयको सभी महर्षियोंने एकवाक्य होकर स्वीकार किया है और इसमे कभी किसीने मतभेद प्रकाश नही किया है। ऋग्वेदमें लिखा है कि :—

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्व्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥ (मं० १० सू० ८५)

चन्द्र देवताने स्त्रीको प्रथमतः प्राप्त किया, द्वितीयतः गन्धर्व्व व तृतीयतः अग्निने प्राप्त किया और चतुर्थतः मनुष्यपतिने स्त्रीको प्राप्त किया। इस मन्त्रके भावार्थको न समझकर किसी किसी अर्व्वाचीन पुरुषने इसे नियोग पर ही लगा दिया है और किसीने इसको विवाहकालमें लगाकर रजस्वला होनेके बाद विवाह होना चाहिये ऐसा अर्थ करनेका यत्न किया है। परन्तु वास्तवमें इसका भावार्थ न नियोगका ही है और न विवाहकाल निर्णय करनेके लिये ही यह मन्त्र है। इसके द्वारा स्त्रीशरीरकी उन्नतिकी अवस्था और इसके करनेवाले तीन देवता बताये गये है। रजस्वला होने तक स्त्रीशरीरकी तीन अवस्था होती हैं जिनके करनेवाले तीन देवता हैं, सोम, गन्धर्व्व और अग्नि। इन तीनोंके द्वारा रजस्वला पर्य्यन्त स्त्रीशरीर पूर्ण होने पर तब स्त्री गर्भाधानकी योग्या होती है जिसके करनेका भार मनुष्यपति पर है। इसमें विवाहकी उमरका कोई निर्देश नहीं है। केवल कन्यापनसे लेकर गर्भाधानकाल तक स्त्रीशरीरकी उन्नतिकी तीन दशाएं बताई गई है। अतः इससे विवाहसंस्कारका कालनिर्णय नहीं करना चाहिये। विवाहसंस्कारका सम्बन्ध भावराज्य व सूक्ष्मशरीरके साथ है और गर्भाधानका सम्बन्ध स्थूलशरीरसे अधिक है। दोनोमे बहुत प्रभेद है। अब इस मन्त्रके द्वारा स्त्रीशरीरकी कौन कौन उन्नति किस किस देवताके अधिष्ठानसे होती है सो बताया जाता है। महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी संहितामें लिखते हैं:—

सोमः शौचं ददौ तासां गन्धर्व्वाश्च शुभां गिरम्।
पावकः सर्व्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितो ह्यतः॥

चन्द्र देवताने स्त्रियोंको शुचिता, गन्धर्व्वने मधुरवाणी और अग्निदेवताने सबसे अधिक पवित्रता दी है इसलिये स्त्री पवित्र है। इस श्लोकमें देवताओंके

अधिष्ठानसे स्त्रियोंको मधुरवाणी आदिका लाभ होना है ऐसा कहा गया है । गोभिलीय ग्रह्यसंग्रहमें लिखा है कि:—

व्यञ्जनैस्तु समुत्पन्नैः सोमो भुञ्जीत कन्यकाम् ।
पयोधरैस्तु गन्धर्व्वो रजसाऽग्निः प्रकीर्त्तितः ॥

स्त्रीलक्षणोंके विकाश होते समय चन्द्रदेवका अधिकार, स्तनविकाशके समय गन्धर्व्वोंका अधिकार और रजस्वला होनेके समय अग्निका अधिकार रहता है। इन तीनों दैवीशक्तियोंके प्रभावसे ही कन्याकालके बाद रजस्वला तक स्त्रियोंकी सर्व्वाङ्गपूर्णता हुआ करती है और इसके अनन्तर ही गर्भाधानसंस्कार होता है जो कि मनुष्यपतिका कर्त्तव्य है। परन्तु विवाहसंस्कार इन तीनों लक्षणोंके विकाशसे पहिले ही होना चाहिये क्योंकि उसका सम्बन्ध पातिव्रत्य-भावसे है, शरीरसे नहीं है । और इसीलिये गोभिल ऋषिने पूर्व्वोक्त श्लोकके द्वारा स्त्रीशरीरकी उन्नतिकी दशाओंको बताकर पश्चात् कहा है कि:—

तस्मादव्यञ्जनोपेतामरजामपयोधराम् ।
अभुक्ताञ्चैव सोमाद्यैः कन्यका तु प्रशस्यते ॥

इसलिये स्त्री लक्षण विकाशरूप पयोधर व रजस्वला होनेके पहिले ही या चन्द्रादि देवताओंके कार्य्यके पहिले ही कन्याका विवाह होजाना प्रशंसनीय है। यही सर्व्ववादिसम्मत शास्त्रीय सिद्धान्त है । स्मृतियोंमें कहीं कहीं रजस्वलाके बाद विवाहके वचन जो देखे जाते हैं वे सब आपद्धर्म्मविषयके हैं । यथा—मनु-संहितामें:—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्य्यृतुमती सती ।
ऊर्द्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ (९ अ०)

ऋतुमती होने पर भी यदि माता पिता कन्याको योग्य पात्रमें दान न करें तो वह कन्या ऋतुके बाद तीन वर्षतक प्रतीक्षा करके पश्चात् स्वयं ही योग्य पति निर्व्वाचित कर सकती है । इस श्लोकमें यदि पिता, माता या आत्मीय कोई विवाह न करावें तब तीन वर्षतक ऋतुके बाद रहनेकी और स्वयंवरा होनेकी आज्ञा मनुजीने की है । यह आपद्धर्म्म है । इसी आपद्धर्म्मके सिद्धान्तको और भी कई महर्षियोंने स्वीकार किया है । यथा —वशिष्ठसंहिता में:—

त्रीणि वर्षाण्यृतुमती काङ्क्षेत पितृशासनम्।
ततश्चतुर्थे वर्षे तु विन्देत सदृशं पतिम्॥

अविवाहिता अवस्थामे ऋतुमती होनेपर कन्या तीन वर्षतक पिताकी प्रतीक्षा करके चौथे वर्षमें योग्य पति स्वयं देखलेसकती है। पिता माता यदि किसी स्वार्थवश अयोग्य वर या कन्याके साथ विवाह करानेकी कोशिश करें जैसा कि आजकल कहीं कहीं देखा जाता है तो भी स्त्री पुरुषके लिये स्वय प्रयत्न करनारूप आपद्धर्मका मौका मिल सकता है। केवल इतना ही नहीं, आपद्धर्ममें तो मनुजी ने यावज्जीवन कुमारी रहनेकी भी आज्ञा दी है। यथाः—

उत्कृष्टायाऽभिरूपाय वराय सदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि॥
काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥

उत्तम कुल-शीलवान् योग्य वर मिलने पर विवाहयोग्या न होने पर भी कन्याको ऐसे पात्रमे यथाविधि दान करे और ऋतुमतीको यावज्जीवन घरमें रखना भी अच्छा है, तथापि गुणहीन पात्रमें समर्पण करना उचित नहीं है। इस प्रकार आपद्धर्मकी बातें अन्यान्य महर्षियोंने भी कही हैं अतः इन सब वचनोंको साधारण विवाह-विधिमे भी नहीं लगाने चाहियें। अब स्मृतिकारगणने कन्या-विवाहकालके विषयमें इतनी सावधानताका अवलम्बन क्यों किया है सो बताया जाता है। यदि महर्षिगण स्त्रीको केवल सन्तान उत्पन्न करनेका यन्त्रमात्र ही समझते तो इतनी बातें कभी नहीं बताते। परन्तु वे इस बातको निश्चित जानतेथे कि स्त्रीमें पतिप्रेम, पातिव्रत्य धर्म व तपस्याभावकी थोड़ी भी न्यूनता होनेसे सन्तति धार्म्मिक व आर्य्यभावापन्न नहीं होती। इसलिये उन्होंने बहुत विचार करके ऐसी ही विधि बताई है कि जिससे दाम्पत्यप्रेमके द्वारा संसारमे शान्ति रहे, दम्पतिकी शारीरिक व मानसिक कुछ भी हानि नहीं हो और सन्तति भी धार्म्मिक व स्वस्थशरीरवाली उत्पन्न हो।

अब महर्षियोंके द्वारा विहित विवाहसे उक्त बातोंकी सिद्धि कैसे हो सकती है सो बताया जाता है। यौवनके प्रथम विकाशके साथ ही साथ स्त्री पुरुषमें जो भोग्यभोक्ताका ज्ञान होता है यह स्वाभाविक बात है, परन्तु इस

स्वभावके अतिरिक्त स्त्रियोमें जो रजोधर्म्मका विकाश होता है यह बात असाधारण व विशेष है। रजोधर्म्म प्रकृतिकी विशेष प्रेरणा है। इसके द्वारा स्त्री गर्भधारणयोग्या होजाती है, यही प्राकृतिक इङ्गित है। और इसी इङ्गितके कारण रजस्वला होनेके समय अर्थात् ऋतुकालमे स्त्रियोकी कामचेष्टा बहुत ही बलवती हुआ करती है अतः उस समय स्त्रियोमे विशेष चाञ्चल्य होना स्वाभाविक है। यथा—

रजस्वला च या नारी विशुद्धा पञ्चमे दिने।
पीड़िता कामबाणेन ततः पुरुष मीहते ॥ (शाक्तानन्द तरङ्गिणी)

ऋतुस्नाता नारी पांचवें दिन कामपीडिता होकर पुरुषसम्बन्धको चाहती है। इसी स्वाभाविक प्रवृत्तिको केन्द्रीभूत करनेके लिये ही महर्षियोने रजस्वलाके पहिले विवाहकी आज्ञा की है क्योंकि ऐसा न होनेसे नैसर्गिकी कामेच्छा अवलम्बन न पाकर जहां तहां फैलकर पातिव्रत्यमे बहुत हानि कर सकती है। और जहां एक बार निरकुशताका अभ्यास पडा, पुनः उसे रास्ते पर लाना बहुत ही कठिन होजाता है क्योंकि स्त्री-प्रकृति चञ्चल होनेसे थकती नही है, अविद्याभावके विकाशके लिये थोडा भी अवसर मिलनेसे उसी भावमें रमजाती है और उसमें पुनः विद्याभावका विकाश करना बहुत ही कठिन होजाता है। परन्तु पुरुषकी प्रकृति ऐसी नहीं है, उसमें यौवन सुलभ साधारण काम-भाव रहता है, उसमे रजस्वला-दशाका विशेष भाव नहीं है अतः उस साधारण भावका विकाश भी साधारणतः ही होता है एव विशेष प्राकृतिक प्रेरणा स्त्रियोकी तरह नहीं होती है इसीलिये स्त्रियोकी तरह, यौवनके उदयसे भोग्यभोक्ताभाव होतेही, उसी समय विवाह करनेकी प्रबल आवश्यकता उनके लिये नहीं होती है। इसके सिवाय पुरुषके चाञ्चल्यकी सीमा है और उसमे थकान है जिससे स्वभावतः ही पुरुष निवृत्त होकर अपने स्वरूपमे आसकता है। इसी प्रकारकी विशेष धर्म्मकी विभिन्नताके कारण ही महर्षियोंने स्त्री व पुरुषके विवाहकालमे भी भेद रक्खा है। द्वितीयतः पुरुषमें ज्ञानशक्तिकी अधिकता होनेसे साधारण कामभावको विचार द्वारा पुरुष रोक सकता है, परन्तु स्त्रीमे अज्ञानभावकी अधिकता होनेसे असाधारण प्राकृतिक प्रेरणाको रोकना बहुत ही कठिन होजाता है। तृतीयतः यदि रोक भी न सके तथापि पुरुषके व्यभिचारसे समाजमे व कुलमे इतनी हानि नहीं पहुंचती है जितनी हानि स्त्रीके व्यभिचारसे पहुंचती है।

पुरुषके व्यभिचारका प्रभाव अपने शरीर ही पर पड़ता है, परन्तु स्त्रीके व्यभिचारसे वर्णसङ्कर उत्पन्न होकर जाति, समाज और कुलधर्म्म सभीको नष्ट कर देता है। इन्ही सब कारणोंसे स्त्रीके लिये रजस्वला होनेसे पहिले ही विवाहकी आज्ञा की गई है और पुरुषके लिये अधिक उमर पर्य्यन्त ब्रह्मचारी होकर विद्याभ्यास की आज्ञा की गई है। इसके सिवाय यदि पुरुष भी ब्रह्मचारी न रहसकें तो "धर्म्मे सीदति सत्वरः" अर्थात् धर्म्महानिकी सम्भावना होनेपर शीघ्र भी विवाह कर सकते हैं ऐसी भी आज्ञा मनुजीने दी है। अतः इन सब आध्यात्मिक व सामाजिक बातोंपर विचार करनेसे महर्षियोंकी आज्ञा युक्तियुक्त मालूम होगी। पातिव्रत्यधर्म्मके पालन किये बिना स्त्रीका अस्तित्व ही वृथा है। इसलिये जिन कारणोंसे पातिव्रत्य पर कुछ भी धक्का लगनेकी सम्भावना हो उनको पहिलेसे ही रोककर जगदम्बाकी अंशस्वरूपिणी स्त्रीजातिकी पवित्रता व सत्त्वगुणमय विद्याभावकी मर्य्यादाकी ओर जब पूर्ण दृष्टि होगी तभी आर्य्यधर्म्मका पूर्ण पालन होसकेगा।

आर्य्यशास्त्रोंमें आध्यात्मिक उन्नतिका साधन स्थूलशरीरको भी माना जाता है। स्थूलशरीरको रक्षाके बिना आध्यात्मिक उन्नतिमें भी असुविधा होती है इसलिये स्त्रीजातिके लिये पातिव्रत्यधर्म्मके साथ ही साथ स्थूलशरीरकी रक्षा व उन्नति हो इसमें ध्यान रखना योग्य है। माता पिताका शरीर स्वस्थ न होनेसे सन्ततिभी दुर्बल व रुग्ण होती है इसलिये जिससे सन्ततिभी अच्छी हो ऐसा यत्न होना चाहिये। गर्भाधान कालके विषयमें सुश्रुतमें लिखा है कि :—

> ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
> यद्याधत्ते पुमान् गर्भं गर्भस्थः स विपद्यते॥
> जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
> तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥ (अ० १०।४७।४८)

पच्चीस वर्षसे कम आयुका पुरुष यदि सोलह वर्षसे कम आयुकी स्त्रीमें गर्भाधान करे तो गर्भमें सन्तानको विपत्ति होती है और यदि इस प्रकारसे सन्तान उत्पन्न भी हो, तो भी या तो वह अल्पायु होती है या दुर्बलेन्द्रिय होती है, इसलिये कम आयुकी स्त्रीमें गर्भाधान नहीं करना चाहिये। इस

प्रकारसे सुश्रुतमें जो गर्भाधान कालका निर्णय किया गया है सो अवश्य माननीय है। किसी किसी अर्वाचीन पुरुषने सुश्रुतके इस वचनको विवाहकाल-के लिये लगादिया है सो उनकी भूल है क्योंकि इन श्लोकोंमे ही कहागया है कि यह विषय गर्भाधानका है । विवाहकालके विषयमें सुश्रुतके शरीराध्याय १० सू० ५३ में लिखा है—'अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षीयां पत्नीमावहेत्' अर्थात् पचीस वर्षके पुरुषको बारह वर्षकी कन्याका पाणिग्रहण करना चाहिये। अब विचार करनेकी बात यह है कि कम आयुमें विवाह व गर्भाधान करनेसे सन्तति दुर्बल होती है और रजस्वला होजानेके बाद विवाह करनेसे पातिव्रत्य धर्म्ममें बाधा होती है अतः ऐसा कोई उपाय होना चाहिये जिससे सन्तान भी अच्छी हो और पातिव्रत्यरूप विशेषधर्म्म भी पूरा बनारहे सो कैसे होसकता है यह बताया जाता है। साधारण रजःकालके विषयमें सुश्रुतमे कहा है कि :—

तद्वर्षाद्द्वादशात्काले वर्त्तमानमसृक् पुनः ।
जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥

साधारणतः १२ वर्षकी आयुसे रजोदर्शन प्रारम्भ होकर ५० वर्षकी आयुमे वार्द्धक्य आनेपर समाप्त होता है। बारह वर्षका काल रजोदर्शनका साधारण काल है। इससे कम आयुमें या अधिक आयुमें भी विशेषकारण होनेपर रजोदर्शन हो सकता है । गर्भाधान संस्कारके साथ इस प्रकारके विशेष कारणका क्या सम्बन्ध है सो पहिले बताया गया है। प्रकृतिके वैलक्षण्यसे भी विशेष कारण होजाता है ऐसा वैद्यकशास्त्रका सिद्धान्त है। यथा–वातप्रधान शरीरमे १२ वर्पमें और पित्तप्रधान शरीरमें १४ वर्षमें प्रायः रजोदर्शन होता है । इसके सिवाय अ-समयमें रजोदर्शनके और भी कईएक कारण हैं। यथा–अस्वाभाविक बलप्रयोग, उत्तेजक औषधिसेवन, रतिविषयक चिन्ता और काव्य या कथोपकथन इत्यादि। अतः विवाहके पहिले पिता माताको सदा ही सावधानतापूर्व्वक देखना चाहिये जिससे ऊपर लिखे हुए दोष कभी कन्यामें न होने पावे। इस प्रकारसे पालनकी हुई कन्यामें जब स्वाभाविकरूपसे स्त्रीभाव विकाशकी सूचना होने लगजाय तब उसका विवाह योग्यपात्रमें करदेना चाहिये। विवाह करदेनेके बाद ही स्त्री पुरुषका सम्बन्ध नही होना चाहिये। पातिव्रत्यकी सुरक्षाके लिये कन्याके चित्त-को पतिरूप केन्द्रमें बांध दिया गया, इसका यह तात्पर्य्य नही है कि चाहे रजो-दर्शन हुआ हो या नही, उस कन्याके साथ उसी समयसे पाशविक व्यवहार शुरू हो

जाय। शास्त्रमें रजोदर्शनसे पहिले स्त्रीगमनको ब्रह्महत्याके समान पापजनक कहा गया है। यथा–स्मृतिमें:—

प्राग्रजोदर्शनात्पत्नीं नेयाद्गत्वा पतत्यधः।
व्यर्थीकारेण शुक्रस्य ब्रह्महत्यामवाप्नुयात्॥

रजोदर्शनसे पहिले स्त्रीके साथ सम्बन्ध नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे पुरुषका अधःपतन होता है और इस प्रकार वृथा शुक्रनाशसे ब्रह्महत्याके समान पाप लगता है। अतः विवाहके अनन्तर जबतक स्त्री रजस्वला न हो तबतक कभी उसके साथ सम्बन्ध पतिको नहीं करना चाहिये। कन्यापनमें जो कुछ अपने अधिकारके अनुसार शिक्षा कन्याको प्राप्त हुई थी उसके अनन्तरकी शिक्षा पति उसे दिया करे। पातिव्रत्यकी महिमा, स्त्रीके लिये अनन्य धर्म पातिव्रत्य है, श्री, लज्जा, आज्ञाकारिणी होना, आलस्य त्याग और तपस्या आदि, स्त्रीके लिये आवश्यक शिक्षा-योग्य जो धर्म्म है सो सब बातें सिखाया करे। उसके साथ कामकी बातें कभी नहीं किया करे, परन्तु उसके चित्तमें विशुद्ध प्रेमका अङ्कुर जमाया करे। इस प्रकार रजस्वला होनेके पहिले तक स्त्रीके साथ वर्त्ताव होना चाहिये। पश्चात् रजस्वला होनेके बाद भी कुछ समय तक पतिपत्नीको ब्रह्मचर्य्य धारण करना चाहिये। यह बात सत्य है कि रजस्वला स्त्रीमें गमन न करना भ्रूणहत्याके पापके समान है ऐसा महर्षियोने वर्णन किया है। यथा— व्याससंहितामें:—

भ्रूणहत्यामवाप्नोति ऋतौ भार्य्यापराङ्मुखः।
सा त्ववाप्याऽन्यतो गर्भं त्याज्या भवति पापिनी॥

ऋतुकालमें अपनी स्त्रीमें गमन न करनेसे पुरुषको भ्रूणहत्याका पाप होता है और यदि ऋतुमती स्त्री दूसरे पुरुषसे गर्भोत्पादन करावे तो वह पापिनी व त्याज्या होती है। स्त्रीका ऋतु होना सृष्टिविस्तारके लिये प्रकृतिकी ओरसे प्रेरणा है क्योंकि उसी समय पुरुषका बीज मिलनेसे स्त्री सन्तान उत्पन्न कर सकती है। इसलिये ऋतुकालमें गमन न करनेसे स्वाभाविक सृष्टि कार्य्यमें बाधा होनेके कारण पाप होता है, परन्तु यह धर्म्म साधारण है क्योंकि यह प्रकृतिके साधारण सृष्टिप्रवाहका विषय है। विशेष धर्म्मको आश्रय करके यदि स्त्री व पुरुष दोनों ही कुछ दिनों तक ब्रह्मचारी रह सकें तो कोई

हानि नही है। गृहस्थाश्रममें स्त्री पुरुषका यह साधारण धर्म्म है कि ऋतुकालमें सम्बन्ध करके सृष्टि विस्तार करें, परन्तु यदि कोई गृहस्थ नरनारी निवृत्तिके विशेष अभ्यासके लिये ब्रह्मचर्य्य धारण करें तो उससे अधर्म्म नही होगा, अधिकन्तु धर्म्म ही होगा और ब्रह्मचर्य्य धारण होनेसे आगेकी सन्तति अच्छी होगी। इसी सिद्धान्तके अनुसार यदि प्रकृतिका वैचित्र्य, गर्भाधान संस्कारकी न्यूनता अथवा और किसी कारणसे जितनी आयुमे शरीरकी पूर्णता होनेसे अच्छी सन्तति होसकती है उससे पहिले ही किसी स्त्रीको रजोदर्शन होजाय तो जबतक शरीर पूर्ण व गर्भाधानके योग्य न हो तबतक दम्पतिके ब्रह्मचर्य्य धारण करनेमें कोई दोष नही होगा। सुश्रुतमें जो १२ वर्षमें रजोदर्शनकी सम्भावना बताकर १६ वर्षमें गर्भाधानकी आज्ञा दी गई है उसका यही तात्पर्य्य है और इस प्रकारसे ब्रह्मचर्य्य रखनेकी आज्ञा अन्यान्य शास्त्रोंमें भी मिलती है। यथा—कातीय गृह्यसूत्र में :—

त्रिरात्रमक्षाराऽलवणाऽशिनौ स्यातामधः।
शयीयातां संवत्सरं न मिथुनमुपेयाताम्॥

तीन रात्रि तक लवण व किसी प्रकारका क्षार द्रव्य दम्पति नही खावें, भूमिशय्या पर सोवें और एक वर्ष तक संसर्ग न करे इत्यादि। इसी प्रकार संस्कारकौस्तुभमें शौनकने भी कहा है कि :—

अत ऊर्द्ध्वं त्रिरात्रं तौ द्वादशाऽहमथाऽपि वा।
शक्तिं वीक्ष्य तथाऽब्दं वा चरन्तां दम्पती व्रतम्॥
अक्षारलवणाऽऽहारौ भवेतां भूतले तथा।
शयीयातां समावेशं न कुर्य्यातां वधूवरौ॥

विवाहके अनन्तर ३ तीन रात्रि, १२ बारह दिन और यदि शक्ति हो तो वर्ष पर्य्यन्त दम्पति निम्नलिखित व्रतका पालन करें। क्षार द्रव्य व लवण नही खावें, भूमिशय्यापर सोवें और संसर्ग न करे। ब्रह्मपुराणमें भी लिखा है कि :—

कृते विवाहे वर्षैस्तु वस्तव्यं ब्रह्मचारिणा।

विवाह होनेके बाद बहुत वर्ष तक दम्पतिको ब्रह्मचर्य्य धारण करना चाहिये। एतद्देशमें जो द्विरागमनकी प्रथा है उससे भी ऊपर लिखित भावोंका

आभास पाया जाता है; अर्थात् कन्याका विवाह रजस्वला होनेसे पहिले शास्त्रोक्त समय पर करदेने पर भी कन्याको पिता अपने घरमें ही रक्खें और कुछ समयके अनन्तर कन्याको पतिसङ्गके उपयोगी समझनेपर उसका द्विरागमन (गौना) कर देवें। यह उत्तम रीति अब भी बहुत देशोंमें प्रचलित है। इस रीतिका सत्कार करने पर सब ओरका कल्याण होसकता है। पति पत्नीका एक जगहमें रहकर ब्रह्मचर्य्य रखना कलियुगमें कुछ कठिन है, परन्तु यह रीति सर्व तरहसे सुगम व सुफल देनेवाली है। अतः विवाह होने पर भी जबतक स्त्रीका शरीर पूर्ण न हो तब तक गर्भाधान करना ठीक नही है।

अब प्रश्न होसकता है कि यदि रजस्वलाके बाद भी कुछ दिनों तक ब्रह्मचर्य्यपालन होना ही ठीक है तो अविवाहिता अवस्थामें ही रजस्वला होने पर दो तीन वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य पालन कराकर तब कन्याका विवाह कर देनेमें हानि क्या है? इसका यह उत्तर है कि जाति या वंशकी पवित्रता व शुद्ध सृष्टि विस्तारके साथ जिसका सम्बन्ध जितना अधिक है उसकी पवित्रता रक्षाके लिये भी उतनाही अधिक प्रयत्न होना चाहिये और जिस कार्य्यसे अपवित्रताकी थोड़ी भी सम्भावना हो उससे सदा ही दूर रहना चाहिये। पुरुषमें व्यभिचारदोष हो तो उसका फल पुरुषके अपने ही शरीर व मन पर पड़ता है, परन्तु स्त्रीके व्यभिचारदोषका प्रभाव समस्त कुल, समाज व जाति पर पडता है। उच्चकुलकी स्त्री यदि कदापि व्यभिचारसे नीच कुलका वीर्य्य अपने गर्भमें लावे अथवा आर्य्य स्त्री व्यभिचारसे अनार्य्य वीर्य्यको गर्भमें लाले तो उससे समस्त कुल, समाज व जाति कलङ्कित हो जाती है। इसलिये पुरुषसे भी स्त्रीकी रक्षा अधिक आवश्यक है। रजस्वला एक ऐसी दशा है जिसमें प्रकृतिकी ओरसे प्रेरणा होनेके कारण बहुत ही सावधान होनेकी दशा है। उसमें ब्रह्मचर्य्यकी रक्षा होसके तो अच्छी बात है परन्तु होनेकी अपेक्षा न होनेकी सम्भावना ही अधिक है। श्रीगीतामें कहा है कि:—

यततो ह्यपि कौन्तेय! पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

विद्वान्, विचारवान् और इन्द्रियनिग्रहमें यत्नशील पुरुषकी भी इन्द्रियाँ प्रमत्त होकर चित्तको विषयोंमें आसक्त कर देती हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार

साधारण दशामें भी जब इन्द्रियदमन कठिन है तो सन्तान-उत्पत्ति करनेके लिये स्वयं प्रकृतिकी ओरसे रजस्वलादशामें स्त्रीके चित्तमे कामरूपी इच्छा उत्पन्न होती है उसको रोककर ब्रह्मचर्य्य धारण करना साधारण स्त्रीके लिये कदापि सम्भव नही हो सकता है। इसमे चाञ्चल्य, पुँश्चलीवृत्ति, अनेक पुरुषोमें चित्तकी आसक्ति और व्यभिचारदोषकी बहुत ही सम्भावना रहती है जिससे ससारमें घोर अनर्थ, वर्णसङ्कर व अनार्य्य प्रजा उत्पन्न होकर हिन्दुजाति नष्ट हो सकती है। इसीलिये पहिले ही से सावधान होनेके लिये महर्षियोने रजस्वलासे पहिले विवाह करानेकी आज्ञा देकर पश्चात् पतिके साथ ब्रह्मचर्य्य-पालनकी आज्ञा दी है। इससे यदि पति धार्म्मिक व विचारवान् हो तो गर्भाधान न करके और तरहसे साधारण प्रीतिके साथ निवाह सकता है और यदि ब्रह्मचर्य्य धारण करना कभी असम्भव ही हो जाय तो पतिके मौजूद रहनेसे अन्य पुरुषोमे चित्त जानेकी सम्भावना कम रहेगी। अतः विवाहसे पहिले ब्रह्मचर्य्य धारणकी अपेक्षा स्त्रीके लिये विवाहके बाद ही ब्रह्मचर्य्य धारण करना युक्तियुक्त है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि आदर्श सतीका लक्षण जो पहिले कहचुके है, रजस्वला होनेके अनन्तर विवाह होनेपर स्त्रीमे वह प्रकट ही नही हो सकता है, क्योंकि रजस्वला होते ही स्त्री पुरुषदर्शनकी इच्छा करेगी। उस समय पतिरूप दुर्गद्वारा उसका अन्तःकरण सुरक्षित न रहनेसे उसके चित्त पर अनेक पुरुषोंकी छाया स्वतः ही पडेगी सो इस दशामे वह स्त्री आदर्श सती होनेके अयोग्य हो जायगी। इसलिये शास्त्रोंमे महर्षियोंने सर्वत्र रजस्वला होनेसे पहिले विवाहका आदेश किया है।

अब बाल्यावस्थामे स्त्री व पुरुषका विवाह होनेसे क्या लाभ और क्या हानि है इस पर विचार किया जाता है। विवाह सस्कारके प्रयोजन वर्णनके प्रसङ्गमे पहिले ही कहा गया है कि आर्य्यशास्त्रमे सभी कार्य्य आध्यात्मिक लक्ष्य अर्थात् मुक्तिको लक्ष्यीभूत रखकर अनुष्ठित होनेके कारण विवाहविज्ञानके भीतर स्त्री व पुरुष दोनोंकी ही मुक्तिका गम्भीर तत्त्व निहित है इसमें कोई सन्देह नही है। स्त्रीकी मुक्ति पातिव्रत्यके पूर्ण अनुष्ठान द्वारा पतिमे तन्मय होकर अपनी सत्ताको पतिमें विलीन कर देनेसे और पुरुषकी मुक्ति प्रकृतिको देखकर और उससे अलग होकर अपने ज्ञानमय स्वरूपमे प्रतिष्ठित होनेसे सिद्ध होती है। विवाह संस्कारके द्वारा ये दोनो ही बातें सिद्ध होती है इसलिये विवाह संस्कार

पवित्र है। परन्तु यह पवित्रता और इसके द्वारा लक्ष्यसिद्धि तभी ठीक ठीक हो सकती है जब अवस्थाका ठीक विचार कर विवाह हो, अन्यथा लक्ष्यमें सिद्धिलाभ होना कठिन हो जाता है। जब अपनी सत्ताको पतिमें लय कर देना ही पातिव्रत्यका लक्ष्य है तो यह बात अवश्य माननी होगी कि अधिक आयुमें कन्याका विवाह होनेसे पातिव्रत्य धर्मका पूर्ण अनुष्ठान बहुत ही कठिन होजायगा। मायामय संसारमें समस्त मायिक सम्बन्ध अभ्यासके द्वारा बद्धमूल होते हैं। सतीके चित्तमें पतिके प्रति प्रेम, रस व उत्तापके संयोगसे कमलकी तरह रूपासक्ति गुणासक्ति आदिके द्वारा धीरे धीरे विकाशको प्राप्त होता है। इस प्रकारके विकाशकी सम्भावना बालिकावस्थाके प्रेममें जितनी है युवावस्थाके काममूलक प्रेममे उतनी कदापि नही हो सकती है। अच्छा देखेंगे, इस प्रकारकी इच्छा चित्तमें होनेसे ही अच्छा देखा जाता है। मायाकी लीला ऐसी ही है। नवदम्पतिको प्रेमसूत्रमें बाँधनेके लिये पिता माता पुत्रके सामने वधूकी प्रशंसा करेंगे और श्वशुर व सास वधू (कन्या) के सामने जामाता (पुत्र) की प्रशंसा करेंगे। इस प्रकारसे दम्पतिके चित्तमें परस्परके प्रति अनुराग उत्पन्न होगा। वधू अपने जीवनको पतिके लिये समर्पण करनेकी शिक्षा लाभ करेगी। अनुराग कल्पतरुकी तरह शाखा पल्लवसे सुशोभित होकर शान्तिरूपी अमृत फल प्रसव करेगा। इस प्रकारके दाम्पत्यप्रेमकी सम्भावना बालिका विवाहमे ही अधिक है। युवावस्थामें कन्याका विवाह होनेसे यह भाव नही उत्पन्न हो सकता है क्योंकि उस समय कामभावकी वृद्धि होनेसे सात्त्विक प्रेमका प्रभाव चित्त परसे न्यून हो जाता है। उससमय चित्तकी कोमलता नष्ट हो जाती है, अभ्यास बँध जाता है, प्रकृति बहुपुरुषोंके भावमे भावित हो जानेसे एकमे स्थिरता अवलम्बन नहीं कर सकती है, पिताके गृहमें स्वतन्त्रता अधिक व लज्जा-शीलता कम होनेसे अधिक आयुमें पतिकी अधीना व लज्जाशालिनी होना बहुत ही कठिन हो जाता है इत्यादि इत्यादि बहुत कारणोंसे अधिक आयुके विवाहमें पातिव्रत्यधर्मकी हानि होती है जिससे ससारमें नित्य अशान्ति, दम्पतीकलह, अनाचार आदि सभी दुर्गुण भर जाते है और इस प्रकार दाम्पत्यप्रेमकी न्यूनतासे पातिव्रत्यमें हानि होनेसे स्त्रीकी अधोगति होती है और विवाह सस्कारका लक्ष्य असिद्ध रहजाता है। इसलिये महर्षियोंने रजस्वलासे पहिले बालिकावस्थामें ही विवाहकी विधिको उत्तम मानी है। विचार करनेकी बात है कि जिस देशमें अधिकवयस्का स्त्रियों-की विवाहविधि है, विवाहोच्छेद (divorce) का भी नियम उसी देशमें

अवश्य है। यदि अधिक आयुके विवाहमे शान्ति रहती तो इसप्रकार विवाहोच्छेदका नियम नही रहता। इससे ससारमे अशान्ति व दाम्पत्यप्रेममे न्यूनता आदि अनेक दोष उत्पन्न होते है। अतः स्त्रीकी उन्नति व मुक्तिके लिये बालिका-विवाहकी रीति ही उत्तम है और इस विषयको लक्ष्यीभूत रखते हुए किस समय कन्याका विवाह होना चाहिये सो पहिले ही बहुत कुछ कहा गया है। परन्तु पुरुषके विवाहमें ऐसा कभी नही होना चाहिये। जब प्रकृतिकी त्रिगुण-मयी लीलाको देखकर उससे अलग हो स्वरूपस्थित होना ही पुरुषके लिये विवाहका लक्ष्य है तो इस प्रकार देखनेकी शक्ति उत्पन्न होनेके पहिले विवाह करनेसे प्रकृतिके द्वारा बन्धन हो जानेकी बहुत सम्भावना रहेगी। बालकपनके विवाहसे पुरुषमे निर्व्वीर्य्यता, दुर्व्वलता, कठिन रोग, स्त्रैणता आदि बहुत दोष हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य्य पुष्ट होनेसे पहिले ही ब्रह्म-चर्य्य नष्ट होनेका कारण हो जानेसे पुरुषकी बड़ी ही दुर्द्दशा हो जाती है। वे धातुदौर्व्वल्य, वीर्य्यतारल्य, स्नायविक तेजोहीनता, क्षयरोग, पक्षाघात, अजीर्णता व उन्माद आदि बहुत रोगोंसे ग्रस्त हो जाते हैं। उस दशामे जो सन्तति होती है सो भी रोगी अल्पायु व दुर्व्वल होती है। वीर्य्यके दुर्व्वल होनेसे प्रायः कन्या उत्पन्न होती है और नपुंसकता आदि भी होकर कुलकलङ्क की सम्भावना बढ़ती है। मन, बुद्धि व स्मृतिशक्ति आदि नष्ट होकर विद्या-प्राप्ति व सांसारिक जीवनमें क्षति होती है। चित्तकी अपक्वदशामें वैष-यिक बाते बढ़ जानेसे चित्तविक्षेप आदि दोष हो जाते है जिससे संसारमे ऐसे मनुष्यसे किसी प्रकारकी उन्नति नही प्राप्त हो सकती है इत्यादि इत्यादि हज़ारों दोष बाल्यविवाहके द्वारा उत्पन्न होते हैं। निस्तेजमन व निस्तेजवीर्य्य पुरुष प्रायः स्त्रैण हुआ करते है और उनकी आध्यात्मिक उन्नति कुछ भी नही होती है जिससे दलदलमे फँसे हुए बूढ़े हाथीकी तरह ससारपङ्कमें आजन्म वे निमग्न रहते हैं। वैराग्यबुद्धि, त्याग व वासनानाश आदि कोई गुण ऐसे पुरुषमे देखनेमे नही आते हैं। इन सब कारणोंसे वान-प्रस्थ या तुरीयाश्रमकी योग्यता उनमे कुछ भी नही होती है। मनुष्यजन्म मुक्ति-का साधक होनेसे सदा ही मिलना दुर्लभ है परन्तु इस प्रकारके हतभाग्य पुरुषो-का मनुष्यजन्म ही वृथा हो जाता है। वे जीवन्मुक्त न होकर जीवन्मृत होते है। ये ही सब दोष पुरुषके बाल्यविवाहसे उत्पन्न होते हैं। आजकल भारतवर्पमे बाल्यविवाहकी तो बात ही क्या है, बहुत स्थानोंमे ऐसी कुरीतियाँ चल पड़ी है

कि वरसे कन्याकी उमर अधिक होती है। भोगशक्ति पुरुषसे स्त्रीमें अधिक होनेके कारण और भोग द्वारा स्त्रीकी अपेक्षा पुरुषकी हानि अधिक होनेके कारण महर्षियोंने स्त्रीसे पुरुषकी आयु अधिक रखनेकी आज्ञा की है। बाल्य-विवाहके द्वारा इस आज्ञाके अन्यथा होनेसे ऊपर लिखे हुए अनर्थ तो होते ही हैं परन्तु कन्याकी उमर वरसे अधिक होनेसे ऐसी कन्या सद्यः प्राणघातिनी हुआ करती है। सिंहिनीकी तरह ऐसी स्त्री पुरुषकी प्राणशक्तिको पीजाती है अतः इस प्रकारका विवाह कभी नहीं होना चाहिये। इसका अधिक वर्णन क्या किया जाय, इस प्रकारके विवाहसे पुरुषका सत्यानाश हो जाता है। इसीलिये महर्षि याज्ञवल्क्यने लिखा है कि :—

अनन्यपूर्व्विकां यवीयसीम्।

अर्थात् कुमारी तथा कन्याके साथ विवाह करना चाहिये और कन्याकी अवस्था वरसे कम होनी चाहिये। मनुजीने तो कभी अढाईगुणी और कभी तीनगुणी अधिक उमर कन्यासे वरकी होनी चाहिये ऐसा बताया है इसका प्रमाण पहिले दिया जाचुका है। स्मृतियोंमें साधारण आज्ञा तो यह है कि:—

वर्षैरेकगुणां भार्य्यामुद्वहेत्त्रिगुणः स्वयम्।

कन्याकी आयुसे तीनगुणी आयु वरकी होनी चाहिये और कहीं कहीं दोगुणी आयु होना भी कहा है। और भी मनुजीने कहा है कि:—

धर्मे सीदति सत्वरः।

धर्म्मनाशका भय होनेसे और भी शीघ्र विवाह हो सकता है। परन्तु इस प्रकारकी आज्ञा होने पर भी सुश्रुतके सिद्धान्तानुसार सोलह व पच्चीसका अनुपात तो अवश्य ही होना चाहिये कि जिससे पुरुषका वयः स्त्रीसे इतना अधिक रहे कि गर्भाधानके कालमें शारीरिक मानसिक या और किसी प्रकारकी न्यूनताकी सम्भावना नहीं हो और सन्तति भी धार्म्मिक और तेजस्वी हो सके। यही श्रुतिस्मृतिसिद्धान्तित वरवधूके विवाहकालका वर्णन है। इसपर ध्यान रखकर पिता माताको पुत्र कन्याका विवाहसंस्कार करना चाहिये।

विवाहकालके विषयमें आर्यशास्त्रसम्मत विचार बता कर अब पश्चिम देशके विद्वानोंकी राय मिलाकर और भी अधिक विवेचन किया जाता है। ऋतु-कालमें स्त्रियोंकी दशा कैसी होती है इस विषयमें हैभूलक् इलीस साहबने कहा है—

"There is nature's compulsion involved in the sexual instinct and this is shown by the insistance of the sexual craving and is confirmed by the researches of biologists who have traced the germ of this instinct to the unicellulur protoplasm" (Havelock Ellis)

अर्थात् "प्राकृतिक प्रेरणासे ही कामेन्द्रियमे उत्तेजना होती है और स्त्री पुरुषोंमें परस्पर ससर्गकी इच्छा होती है। जीवनत्त्ववित् पण्डितोंने खोजकर यह पता लगाया है कि उत्पत्तिके आदि कारणमें ही इस तृष्णाका बीज विद्यमान है"। पुरुषमे सात धातु है, किन्तु स्त्रीजातिमे आठ धातु है। उनका अष्टम धातु रज है। इस प्रकार एक धातु अधिक होनेसे और इसके साथ गर्भधारणका प्राकृतिक सम्बन्ध रहनेसे ऋतुकालमे स्त्रियोंके भीतर कामवेग अधिक होना स्वाभाविक है। मनुष्यके नीचेके पशुओमे भी यही बात देखी जाती है। किस उमरमें ऋतुदर्शन होता है इस विषयमे कहा है—

The age when menstruation commences varies from twelve to seventeen years; it is earlier in hot climates and later in colder regions and in the country—

(Mrs S. Herbert)

मिस् एस् हर्वर्टका कहना है कि १२ वर्षसे १७ वर्षके भीतर स्त्रियोंके ऋतुमती होनेका काल है। ग्रीष्मप्रधान देशोमे कुछ शीघ्र और शीतप्रधान देशोमें कुछ देरमे रजोदर्शन होता है। इसीका हिसाब डाक्टर ई जे टिल्ट साहबने दिया है। यथा—बङ्गदेशमे १२ वर्षमें, दक्षिणदेशमे १३ वर्षमे, जमेकामे १५ वर्षमें, कर्फूमें १४ वर्षमें, मारसिलिसमे १५ वर्षमें, पेरिसमे १५ तथा १७ वर्षमें, लण्डनमें १४ और १५ वर्षमें, क्रिश्चियानियामे १६ वर्षमे स्त्रियोंका रजोदर्शन होता है। इस देशमें भी कही कही पर १६ वर्षतक रजोधर्मका विकाश नही हुआ ऐसा भी प्रमाण मिलता है। यथा महाभारतमे—

त्रिंशद्वर्षः षोडशाब्दां भार्यां विन्देत नग्निकाम्।
अतोऽप्रवृत्ते रजसि कन्यां दद्यात् पिता सकृत्॥

ऋतुमती होनेसे पहिले ही १६ वर्षकी कन्याको ३० वर्षका पुरुष ग्रहण करे। पिता कन्याको एक ही बार दान कर सकते है। यौवनकी प्रथम सूचना

किस अवस्थासे प्रारम्भ होती है इस विषयमें अनेक खोजकर प्राच्य प्रतीच्य दोनों देशोंके विद्वानोंने यह निर्णय किया है:—

Approximately we can state that at seven consciousness begins to build seriously and slender thoughts of shy sex begin to appear. Seven is also an important physiological unit, indicating the period time required for a complete turn of cells from old to new. (Huxley)

साधारणतः यह कहा जा सकता है कि सात वर्षकी अवस्था हो जाने पर कन्याको कुछ कुछ अपने विषयमें ज्ञान होने लगता है और वह यह समझने लगती है कि वह स्त्री है। हक्सले साहबने भी कहा है कि प्रति सात सात वर्षमें शरीरके उपादानमे परिवर्त्तन हुआ करता है और शिशुकालका पुराना उपादान ७ वर्षमें बदलकर उसमें यौवनकालका नवीन उपादान आने लगता है। यही कारण है कि आर्यशास्त्रमे यौवनवेगको मूलमें ही रोकनेके अर्थ अष्टम वर्षमें बालकोके लिये उपनयनकाल और स्त्रियोंके लिये गौरीदानकाल विहित किया गया है और उत्तम प्राक्तन संस्कार सम्पन्ना ऐसी गौरीको कभी वैधव्य नही हो सकता है यह भी बताया गया है।

अब ऋतुकालके भीतर स्त्रियोकी शारीरिक तथा मानसिक अवस्था किस प्रकारकी होती है सो क्रमशः बताया जाता है। श्रीभगवान् मनुने कहा है—

स्त्रियः पवित्रमतुलं नैता दुष्यन्ति कर्हिचित्।
मासि मासि रजस्तस्या दुष्कृतान्यपकर्षति॥

स्त्रीशरीरकी मलिनता प्रतिमास रजस्राव द्वारा निकल जाती है और वह पवित्रा होकर गर्भधारणयोग्या हो जाती है। वह मलिनता कैसी है इस विषयमें पराशरस्मृतिमें लिखा है:—

प्रथमेऽहनि चाण्डाली द्वितीये ब्रह्मघातिनी।
तृतीये रजकी प्रोक्ता चतुर्थेऽहनि शुध्यति॥ (७-१८)

रजस्वला स्त्री प्रथम दिन डोमकी तरह अपवित्रा, द्वितीय दिन ब्रह्महत्याकारीकी तरह स्पर्शसे हानिकरनेवाली, और तृतीय दिन धोबीकी तरह अपवित्रा

रहती है। चौथे दिन स्नान करके शुद्ध होती है। अब इस विषयमे पश्चिमी विद्वानोंने भी बहुत कुछ पता लगा लिया है। यथाः—

(From the American Journal of Clinical Medicine, May 1921). Medical Record for February, 1919 (p. 317) abstracts an article (Wien Klin Wock, May 20, 1920), in which Prof. Schiek expresses the opinion that a menstruating woman may be a veritable upastree. His attention was first attracted to the subject on the occasion of receiving ten fresh, long stemmed roses, which he had requested a female servant to place in water On the very next morning the roses had largely withered, the petals having dropped on the table Greatly surprised he summoned the servant to illuminate the mystery She said that she had known that the roses would wither; for when she was unwell, this phenomenon was always in evidence. Greatly astounded, Scheik began to experiment. The woman, along with a non menstruating control, was sent to the author's garden who cut off for each an anemone, a white chrysanthemum and a yellow helianthus The women simply held the flowers in their hands and went to the clinic Upon their arrival, the flowers in the hands of the menstruating woman had begun to wither and were hanging their heads The time elapsed was but ten minutes The blighting process was complete at the end of twenty-four hours, the petals having fallen off at the end of eighteen hours. The flowers handled by the control subject were as fresh as ever at the end of forty-eight hours. The menstruation in this experiment was in its first day only. On the following day, the tests were repeated, and the flowers held in the hands of the menstruating woman

showed some alteration in three minutes after she had taken them. The change consisted of a progressive dying, followed in a few hours by disthoration The anemones were especially sensitive, and the chrysanthemum showed the greatest resistence On the third day of menstruation, the pernicious effects were but slight; on the fourth day they had vanished; and during the entire intermenstrual period the woman showed not a trace of this mysterious power.

Schiek next learned that there was a belief in certain states that menstruating women have the power of withering freshly cut of flowers, although many refused to believe it and looked upon it a superstition. In vineries, menstruating women are forbidden to enter and this proscription even extends to orchards, for these women are not allowed to climb upon fruit trees when in bloom and even later, lest the fruit crop should spoil. A study of this problem through the ages brings out astounding facts and beliefs. The mens truating women in an orchard can cause the insects to drop from the trees; and even in classical times there were tales of the use of partially exposed women for expelling the cantharis beetle from the trees

The author, after extended a research, was able to show that the injurious substance, menotoxin, circulates in the blood but not in the serum, in all probability it is the blood corpuscles or adherents to them It must be volatile and must escape from the skin or lungs. Schiek thinks that we are on the threshold of a great discovery, this potent volatile poison being a menace not only to the preservation of certain organic substances, but even to growing flowers.

It also seems toxic to insects. In regard to unicellular organisms, it can both inhibit and accelerate the prolification of yeast. The menotoxin is regarded by Schiek as something which the female organism must get rid of, and this supports the prevalent view that menstruation is a depurative phenomenon

प्रोफेसर सीकके इस अनुसन्धानसे यही प्रमाणित हुआ कि ऋतुमती स्त्रीके शरीरमें ऐसा कोई प्रबल विष होता है जिससे इनके बगीचेमें घुसने पर बगीचेके फूल पत्ते आदि सब सूख जाते हैं, फूलके वृक्ष मर जाते है, फल सड़ जाते है, इतना तक कि वृक्ष परके कीट आदि भी गिर पड़ते हैं, भाग जाते हैं और कभी कभी मर भी जाते हैं। इस विषकी प्रबलता प्रथम दिन प्रारम्भ होकर द्वितीय दिन बहुत ही बढ़ जाती है और तृतीय दिन घट जाती है, चौथे दिन कुछ भी नही रहती है। अतः इस विषयमें दोनों देशके विद्वानोंके सिद्धान्त अभिन्न प्रमाणित हो गये। यही कारण है कि रजस्वलाके स्पर्श, दर्शन, ससर्ग आदिके लिये इतने निषेध वाक्य आर्यशास्त्रमें मिलते हैं। यथा :—

नोपगच्छेत् प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्त्तवदर्शने ।
समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥
रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥
तां विवर्ज्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम् ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्द्धते ॥ (मनु ४ । ४०—४२)

नितान्त मूर्खको भी रजस्वला स्त्रीके पास नही जाना चाहिये, उससे ससर्ग या उसके साथ शयन नही करना चाहिये। ऐसा करनेसे बुद्धि, तेज बल, दृष्टिशक्ति और आयुकी हानि होती है और परहेज करने पर बल, तेज आदि बढते है। और भी—

दिवाकीर्त्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा ।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति ॥ (मनु ५ । ८५)
चण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैव च ।
रजस्वला च षण्ढश्च नेक्षेरन्नश्नतो द्विजान् ॥ (मनु ३ । २३९)

चाण्डाल, रजस्वला, पतित, सूतिका, शव और उसके छूनेवालेको स्पर्श करने पर स्नान द्वारा शुद्धि होती है। चाण्डाल, शूकर, मुर्गा, कुत्ता, रजस्वला और क्लीव-भोजनके समय इनका दर्शन नहीं होना चाहिये । इसी कारण रजोदर्शन होते ही स्त्रीको क्या करना चाहिये सो शास्त्रमें आज्ञा है। यथा:—

रजोदर्शनतो दोषात् सर्वमेव परित्यजेत् ।
सर्वैरलक्षिता शीघ्रं लज्जितान्तर्गृहे वसेत् ॥ व्यास सं० ३।३७
स्त्रीधर्मिणी त्रिरात्रन्तु स्वमुखं नैव दर्शयेत् ।
स्ववाक्यं श्रावयेन्नापि यावत् स्नानान्न शुध्यति ॥
(स्कन्दपुराण मदनपारिजात)

ऋतुमती होते ही दोषसंक्रमणकी आशंकासे स्त्रीको पाक आदि सब कर्म छोड़कर अलग बैठनी चाहिये और किसीके दृष्टिपथमें नहीं आनी चाहिये। चौथे दिन स्नानसे पवित्र होने तक किसीको अपना मुख दिखाना और किसीको अपना शब्द सुनाना उन्हे नहीं चाहिये। उनका भोजनादि कैसा होना चाहिये जिससे कन्या उत्पन्न न होकर पुत्र उत्पन्न होसके इसके लिये महर्षि वेदव्यास कहते हैं:—

अश्नीयात् केवलं भक्तं नक्तं मृण्मयभाजने ।
स्वपेद् भूमावप्रमत्ता क्षपेदेवमहत्र्यम् ॥
स्नायीत च त्रिरात्रान्ते सचेलमुदिते रवौ ।
क्षामालंकृदमाप्नोति पुत्रं पूजितलक्षणम् ॥

और भी:—

'आमिषप्रतिसंहारात् प्रजा ह्यायुष्मती भवेत्' । (महाभारत अनु ५७।१७)

और भी महर्षि याज्ञवल्क्य:—

एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां मघां मूलं च वर्जयेत् ।
सुस्थ इन्दौ सकृत् पुत्रं लक्षण्यं जनयेत् पुमान् ॥ (आचा. ८०)

और भी विष्णुधर्मोत्तरमें:—

आहारं गोरसानां च पुष्पालंकारधारणम् ।
अग्निसंस्पर्शनं चैव वर्जयेच्च दिनत्रयम् ॥

इन दिनो जितना सयम, लघु आहार, तथा विलासिताका अभाव रहेगा उतना ही रससञ्चार कम होगा, स्त्रीशोणितकी शक्ति कम होगी जिससे कन्या उत्पन्न न होकर पुत्र उत्पन्न होगा। इसलिये ऋतुमती स्त्रीको चाहिये कि तीन दिन केवल एकवार भोजन करे, भूमिशय्या पर सोवे, क्षीण तथा संयत रहे, घी, दूध, दहीका सेवन न करे, फूलमाला या अलकार धारण न करे, अग्निस्पर्श न करे और चौथे दिन सूर्योदयके वाद सचैल स्नान करे। आमिष आहार न करनेसे सन्तानकी आयु वढ़ जाती है। मघा और मूल नक्षत्रको छोड़कर तिथि विचारसे युग्म दिनमे नियमानुसार सयत स्त्रीमे गर्भाधान होने पर सुलक्षण-युक्त पुत्र सन्तानकी उत्पत्ति होती है।

अव ऋतुमती स्त्रीके चित्तकी क्या हालत उन दिनोमे रहती है सो वताया जाता है। उनका चित्त उन दिनो ठीक फोटो लेने वाले कमेराकी तरह हो जाता है और जिसको वह ऋतुस्नाता होनेके वाद मनोयोग के साथ देखती है उसीकी तसवीर (impression) चित्त पर आ जाती है। यही कारण है कि स्नानके वाद उनके लिये सवसे पहिले पतिका मुख देखनेकी आज्ञा शास्त्रकारोंने दी है। किन्तु यदि विवाह ही न हुआ हो तो अनेक पुरुषोंके दर्शनसे अनेक तस-वीरें चित्तमें आ जांयगी, उनका चित्त अनेकोमे चञ्चल होकर सतीधर्मको कम-जोर वना देगा। इसी कारण जैसा कि पहिले वताया गया है, ऋतुकालसे पहिले ही विवाह होना मुक्तिप्रद सतीधर्मरक्षाके अर्थ नितान्त आवश्यक है। "He who thinketh of fornication hath already committed adultry" वाईवेलका यह उपदेश यथार्थ है। अर्थात् चित्तमे दूसरे पुरुषकी चिन्ता आनेसे ही आदर्श सतीका जीवन विताना उनके लिये असम्भव हो जाता है। क्योकि आदर्श सती अपने पतिके सिवाय और किसीको पुरुष ही नही समझती अथवा पिता, माता, पुत्रकी तरह देखती है, सो ऋतुके वाद विवाहिता स्त्रीके लिये एकवारगी असम्भव है।

It is believed by our Shastras, which scientifically ob-served facts support well, that her womb or ovary gets at this time an impression by visual reception and love, of the configuration and character of the man whom she first be-holds and retains it all through her catamenia period.

(The Sacrament of Marriage Ceremony)

आर्यशास्त्रमें लिखा है और वैज्ञानिक रीतिसे भी प्रमाणित हो चुका है, कि ऋतुस्नानके बाद स्त्री प्रथम जिसको देखती है उसीका संस्कार उसके चित्तपर पड़ जाता है और इस संस्कारको वह बराबर अपने चित्तमे बनाये रहती है। चित्तका प्रभाव शरीरपर कैसा पड़ता है इस विषयमे प्रोफेसर इलिमार गेट्स् (Prof Elmer Gates) साहबने कहा है:—

The Psycho-physiology shows that thoughts and feelings influence the complete physical body and can be demonstrated to characterise appropriately all the secretions and the excretion of the entire system

"मनोविज्ञान और शारीरविज्ञानके द्वारा प्रमाणित किया गया है कि चिन्ताशक्ति और भावनाका इतना पूर्ण प्रभाव स्थूल शरीर पर पड़ता है कि स्थूल शरीरके अन्तर्गत रक्त, मांस, मज्जा, वीर्य कोई भी वस्तु उस प्रभावसे बच नही सकती" । चरकसंहिता शारीर अष्टमाध्यायमे इसी वैज्ञानिक तथ्यके अनुसार सुपुत्र उत्पन्न करनेकी विधियां यथेष्टरूपसे बताई गई हैं । यथा—सत्त्ववैशिष्ट्यकराणि पुनस्तेषां तेषां प्राणिनां माता पितृसत्त्वान्यन्तर्वत्न्याः श्रुतयश्चाभीक्ष्णं स्वोचितं च कर्मसत्त्वविशेषाभ्यासश्चेति । अर्थात् गर्भाधानके समय रजोवीर्यके मिश्रणकालमें माता पिताके मनमें जो जो भाव रहता है, वही सब भाव पूर्व कर्मके सामञ्जस्यानुसार गर्भस्थ सन्तानमें प्रकट होता है । इसी विषयको और भी आगे बढ़ाकर महर्षि चरकने लिखा है कि जो स्त्री पुष्ट, बलिष्ठ, पराक्रमी पुत्र चाहें, उन्हें चाहिये कि ऋतुस्नानके बाद प्रत्यह प्रातःकाल श्वेतवर्ण, बृहत्, श्वेतचन्दनभूषित प्रचण्ड वृष और उत्तम बलवान् अश्वको मनोयोगके साथ देखती रहें और उत्तम आचारवान् स्त्री-पुरुषोंका दर्शन करती रहें इत्यादि। केवल इतना ही नही इसी प्राकृतिक विज्ञान (Natural Science) के अनुसार पशुजातिमें आजकल भी नवीन नवीन विचित्र सृष्टि बनाई जाती है, जिसको कोई भी अस्वीकार नही कर सकता है । दृष्टान्तरूपसे बताया जाता है कि देशी दुर्बल कुतियाके पेटसे बलवान श्वान (hound) उत्पन्न करनेकी युक्ति यह है कि उसके अनुकूल दुर्बल कुत्तेके साथ उसका संयोग होते समय एक बलवान् भौंकता हुआ श्वान उसके सामने बांध दिया जाय । इसका फल यह होगा कि दुर्बल कुत्तेका वीर्य मिलने पर भी सामने भौंकते हुए बलवान् श्वानका भाव

उसके चित्त पर जम जानेसे वह बलवान पुत्र ही उत्पन्न करेगी। इसी प्रकार देशी घोड़ीके पेटसे भी बलवान् अश्व (Stallion) पैदा करनेकी विधि है इसमें घोड़ीकी आंखे पहिले बन्दकर दी जाती हैं और देशी घोड़ेके साथ संयोग होते समय अचानक आंखोकी पट्टी खोल कर बलवान् अश्व (Stallion) उसे दिखा दिया जाता है, जिसका प्रभाव घोड़ीके चित्त पर पड़ जानेसे बलवान घोड़ा उत्पन्न होता है, इसी प्राकृतिक मायाचक्रसे यह भी देखा गया है कि गर्भाधानके समय एफ्रिकाके एक काले हाफ्शी बालककी तसवीर देखकर साहब तथा मेमने कृष्णवर्ण पुत्र उत्पन्न कर डाला। और सद्गृहस्थनारीने ऋतुस्नानानन्तर एक दुश्चरित्र पठानको अचानक देखकर ऐसाही ब्राह्मणगुणहीन कदाचारी पठान प्रकृतिका पुत्र उत्पन्न किया। इसका कहांतक वर्णन किया जाय इन्हीं दुर्दैवोंसे मनुष्यस्त्रीके उदरसे बकरे, भेड़िये आदि भी कभी कभी उत्पन्न हो जाते हैं, जिसका हेतु अभी तक वैज्ञानिक जगत्के द्वारा निर्णीत न होने पर भी पूज्यपाद ज्ञानदृष्टिसम्पन्न महर्षियोंके द्वारा निर्णीत हो चुका है। यथा सुश्रुत शारीरस्थान द्वितीय अध्यायमे—

ऋतुस्नाता तु या नारी स्वप्ने मैथुनमाचरेत्।
आर्त्तवं वायुरादाय कुक्षौ गर्भं करोति हि॥
मासि मासि विवर्द्धेत गर्भिन्या गर्भलक्षणम्।
कललं जायते तस्या वर्जितं पैतृकैर्गुणैः॥
सर्पवृश्चिककुष्माण्ड–विकृताकृतयश्च ये।
गर्भास्त्वेते स्त्रियाश्चैव ज्ञेयाः पापकृता भृशम्॥

ऋतुस्नाता स्त्रीको पति न मिलने पर वह कभी कभी कामुका होकर स्वप्नमें पुरुष संयोग करती है, उस समय उसीका वीर्य निकल कर अपने ही रजसे मिल जाता है और इस प्रकारसे रजोवीर्य जब जरायु में पहुंचता है तो वह गर्भवती होजाती है। किन्तु उस गर्भमें पतिवीर्य से प्राप्य अस्थि आदि नही होते है, वह केवल मांसपिण्डमय कुष्माण्ड (कोहडा) जैसा होता है या सांप, विच्छु, भेड़िया आदिके आकार के विकृत जीव ऐसे गर्भसे उत्पन्न हो जाते है। ऋतुकी दशामें भेड़िये, कुत्ते, बकरे आदिके मैथुन देखने पर भी उसका भाव चित्तमें जम जाता है और ऐसा ही स्वप्न रात्रिको होकर ऐसे विकृत जीव गर्भमें उत्पन्न होजाते हैं। ऋतुधर्मसे पहिले विवाह होजाने पर इस

प्रकारकी आशंका प्रायः नही रहती है। वह पतिकी मूर्ति चिन्तन करती हुई पति जैसी सन्तान उत्पन्न कर सकती है और अपने अमूल्य सतीधर्मकी भी यथारीति सुरक्षा कर सकती है। उनकी सन्तान, उनका दाम्पत्य प्रेम, उनका वंश सभी उनके पवित्र भावसे मधुमय हो जाता है। इन्ही कारणोंसे ऋतुसे पहिले विवाह होना ही परम श्रेयस्कर है।

अब इस विषयमे पश्चिमी विद्वानोंका अनुभव कैसा हो रहा है सो बताया जाता है:—

It is evident to every thoughtful person that a real sexual morality is almost impossible without early marriage; for simply to refer the young to abstinence as the time solution of the problem, is a crime against the young and the race, a crime which makes the primitive force of naturé, the fire of life, into a destructive element. The gradual but steady rise in the age for entering on legal marriage also points in the same direction, though it indicates not merely an increase of free unions but increase of all forms of normal and abnormal sexuality outside marriage. (Havelock Ellis.)

प्रत्येक चिन्ताशील मनुष्यको यह निश्चित होचुका है कि यथोचित शीघ्र विवाहके बिना स्त्री पुरुषोंका चरित्र ठीक रहना एक प्रकारसे असम्भव ही है, क्योंकि जबरदस्ती इन्द्रियवेगको रोकनेको कहनेसे इस प्रश्नका समाधान नहीं होता है, बल्कि इससे प्राकृतिक वेग और भी बलवान् होकर नाशका ही कारण बन जाता है। आजकल विवाहकी उमर जो क्रमशः बढ़ाई जारही है इसका केवल यही कुपरिणाम नही होगा, अधिकन्तु यथेच्छ इन्द्रिय संसर्ग और प्राकृतिक अप्राकृतिक सभी प्रकारका इन्द्रिय संसर्ग इससे बहुत ही बढ़ जायगा, जो कि नरनारियोंके नैतिक जीवनके लिये बहुत ही हानिकर है। (हैभलक इलीस)।

Dr. Marie Carmichael Stopes is regarded in the West as an authority on Sex. She writes in her book 'Enduring Passion':—

"It is not intended by nature for a man of full age to

continue unmarried year after year. Early marriage is the natural and still the right thing. Almost every day that passes increases my conviction that the race runs innumerable dangers from the habit of delaying marriage which is becoming so common. Late marriage is the source of innumerable physical and social evils and incalculable unhappiness and discontent"

डाक्टर मेरी कारमाईकेल स्टोपस् अपनी पुस्तकमें लिखती हैं:—

"स्त्रीपुरुष अधिक उमर तक विना विवाहके रहेंगे यह प्रकृतिका उद्देश्य नहीं है। यथाशास्त्र शीघ्र विवाह ही प्राकृतिक तथा उचित है। मेरा दिन पर दिन यही विश्वास बढ़ रहा है कि आजकलकी तरह विलम्बका विवाह जातिके लिये असीम विपत्तिका कारण है। इससे कितने ही प्रकारकी शारीरिक तथा सामाजिक बुराइयां तथा अनन्त दुःख और अशान्तिकी उत्पत्ति होती है"।

It is not good for man or woman to live alone Our tendency of the times is the apparently increasing avoidance of marriage or its postponement until an age when the adaptation of one individual of the couple to the other is difficult; because habits have become fixed so firmly that their adjustment is a difficult or at least, an annoying process Obviously, therefore, it seems to me that early marriages should be encouraged (Thomas A Edison)

ग्रामोफोन यन्त्रके प्रसिद्ध आविष्कारक एडिसन साहबकी सम्मति है—

"स्त्री या पुरुषको अधिक दिन अविवाहित नही रहना चाहिये। जैसा कि आजकलकी नवीन रुचि होरही है कि विवाह किया ही न जाय, यथेच्छ विहार किया जाय या इतनी देरसे किया जाय कि वर वधूकी प्रकृति मेल ही न कर सके, यह ठीक नहीं है। क्योंकि अभ्यासके पक जाने पर पीछेसे सामञ्जस्य होना कठिन और कष्टकर होजाता है। अतः मेरी रायमें यथोचित शीघ्र विवाहके लिये ही प्रोत्साहन देना चाहिये।"

The 'tolerated house' is absolutely necessary at present

to protect women from diseases and immorality, by confining this kind of intercourse as far as possible in certain definite channels. Early marriage will greatly lessen the chances of this. (Ettie A Rout. Safe Marriage p. 20)

"There are" says Judge Lindsey "at last fifty thousand girls in New York living with men who are not their husbands, girls who should become mothers and don't care to have children because of the attitude, society would take towards them."

"Judge Lindsey gives statistics of marriage and divorce in his own country. The figures are of remarkable reading. Five years ago, it was one to four; now two to four. The actual figures in Denver for 1922 were 1492 divorce cases filed against 2908 marriages. The divorces were therefore 49 % of the marriages. Here are some statistics of marriage and of divorce for the year 1924. Allanta marriages 3350 and divorces 1845, Kansas city marriages 4821 and divorces 2400, State Ohio marriages 53300 and divorces 11885, Denver marriages 3000 and divorces 1500"

(Ibid 61. Hindu Tract Society)

पश्चिमदेशकी स्त्रियां जो अवैध पुरुषसंसर्गसे सिफिलिस आदि रोगोंसे ग्रस्त होती हैं और नैतिक जीवनको भी अधःपात में लाती है इसके रोकनेके लिये विवाहके बन्धनमें उन्हें अवश्य ही डालना चाहिये। यथोचित शीघ्र विवाहके द्वारा ऐसी आशंकायें बहुधा कम हो जांयगी। (एटी ए. रौट्)।

एमेरिकाके नामी जज लिण्ड्से साहब कहते हैः—

कमसे कम पचास हजार स्त्रियां न्यू यार्क में ऐसे पुरुषोंके साथ रहती है, जो उनके पति नही हैं, उनको विवाहिता होकर सन्तान प्रसव करना चाहिये था, किन्तु समाज शासनके भयसे वे ऐसा नही करती है। जज साहबने अपने ही देशके विवाह तथा विवाहोच्छेदकी संख्या बतानेके प्रसङ्गमें कहा है कि पांच

वर्ष पहिले प्रति चार विवाहमें एक विवाहोच्छेदका केस आता था, अब प्रति चारमें दो हो गये है। सन् १९२१ में डेन्मार शहरमें २९०८ विवाहमें १४९२ विवाहोच्छेद हुए थे। सन् १९२४ में निम्नलिखितरूपसे हुए हैं, यथा—एटलन्टामें ३३५० विवाह और १८४५ उच्छेद, कनसास शहरमें ४८२१ विवाह और २४०० उच्छेद, स्टेट ओहिओमे ५३३०० विवाह और ११८८५ उच्छेद, डेनमारमें ३००० विवाह और १५०० उच्छेद।

Out of every thousand births (in 1900) 150 are illegitimate in Bavaria, 141 in Austria, 121 in Portugal, 113 in Sweden, 101 in Denmark, 90 in Germany, 88 in France, 80 in Belgium, 74 in Norway, 68 in Scotland; 49 in Italy, 41 in England, and 27 in Russia. In cities the percentage is considerably higher, in Berlin it is as high as 14 p c

(Review of Reviews 1931)

In some cities in Europe more than 50 % of the entire population and more than 75 p c. of the males suffer from gonorrheal infection (Dr Allen)

In a single dispensary in New York, out of 86000 cases, 3000 were cases of veneral disease A commission in the same city in 1903 reported 200000 syphilitic subjects and 800000 gonorrhea cases.

Fournier 1-7th of the population of Paris is syphilitic. In some European countries, in villages, 25 p c of the population are syphilitic In Russia the victims are mostly women and children

Dictionary of Statistics, Mulpall–In Europe 7 to 43 p.c. of the soldiers are infected, the average national percentage was found to be 14 %

Morrow —70 % of the syphilis in the women of New York is the result of conjugal infidelity.

In England (1880-90) 1742 males over five years of age died of syphilis. In Philadelphia 37 deaths were registered as due to this cause in 1904.

(Sylvanus Stall)

सन् १९०० में प्रतिसहस्र जारज सन्तानोंकी संख्या यह है—बैमेरियामें १५०, अस्ट्रियामें १४१, पर्त्तुगालमें १२१, स्यूडेनमें ११३, डेन्मार्कमें १०१, जर्मनीमें ९०, फ्रान्समें ८८, बेल्जियममें ८०, नारवेमें ७४, स्काटलैण्डमें ६८, इटालीमें ४६, इङ्गलैण्डमें ४१ और रूसमें २७। गांवकी अपेक्षा शहरमें संख्या अधिक है जैसा कि बर्लिनमें १४ फीसदी है।

(रिभिऊ आफ रिभिऊज १९१३)

डाक्टर अलनकी सम्मतिमें यूरोपके अनेक शहरोंमें सौमें पचास व्यक्ति और सौमें ७५ पुरुष गनोरिया रोगग्रस्त होते हैं।

न्यू यार्कके एक ही दवाखानेमें ८६००० बीमारोंमेंसे ३००० धातु रोग-ग्रस्त देखे गये है। सन् १९०३ में कमिशनको रिपोर्ट है कि वहांपर दो लक्ष सिफिलिसके और आठ लक्ष गनोरियाके रोगी थे।

पेरिस नगरकी सप्तमांश जनता सिफिलिस रोगग्रस्त है। यूरोपके अनेक ग्रामोंमें सौमें २५ मनुष्य सिफिलिस रोगग्रस्त है। रूसदेशमें स्त्रियों और बालकोंको यह रोग बहुत होता है।

यूरोपकी फौज विभागमें ७ से ४३ फी सदी मनुष्य इस बीमारीसे ग्रस्त होते हैं। इसकी औसत सौमें १४ है।

न्यू यार्ककी स्त्रियां सौमें ७० सतीधर्म तोड़कर व्यभिचारद्वारा सिफि-लिसकी बीमारी लाती हैं।

इङ्गलैण्डमें सन् १८८०-९० में पांच वर्षसे ऊपर उमरवाले १७४२ पुरुष सिफिलिस रोग से मरे हैं। सन् १९०४ में फिलाडेल्फिया नगरमें ३७ मनुष्य इस रोगसे मरे हैं। (सिलभेनस स्टाल्)।

"The first appearance of menstruation coincides with the establishment of puberty and the physical changes that accompany it indicate that the female is capable of conception and child-bearing.

"It is also generally stated that the difficulty of labour increases with the age of the patient, and that in elderly primipara it is likely to be unusually tedious, from the rigidity of the soft parts

"Labour taking place for the first time in women advanced in life is also apt to be tedious, especially in the first stage, it is probably more often referable to the rigidity and tightness of the parturient passages than to feebleness of the pains

"The articular cartilages of the coccyx become ossified, the enlargement of the pelvic outlet during labour may be prevented and considerable difficulty may thus arise This is most apt to happen in aged primipara" (The Science and Practice of Midwifery by W S. Playfair M D LLD.)

डाक्टर प्लेफैर साहब अपनी पुस्तकमे लिखते हैं—ऋतुधर्मके द्वारा यही प्रमाणित होता है कि स्त्री युवती हो चली है और उसके शरीरमें इस प्रकारका परिवर्त्तन हो गया है जिससे वह गर्भधारण और सन्तान प्रसव कर सकती है। यह भी परीक्षा द्वारा निर्णीत हो चुका है कि अधिक उमरमें सन्तान प्रसव करनेमें स्त्रियोंको प्रसवकी वेदना बहुत ही कष्टकर होती है और यह व्यथा प्रथमबार प्रसवमें विशेषरूपसे हुआ करती है। प्रसवयन्त्रकी अधिक अवस्थाजनित कठिनता ही इसमें कारण बताया गया है।

Out of 493 girls of high school age, who admitted to me that they had sex experiences with boys, 25 became pregnant. The others avoided pregnancy, some by luck, others because they had a knowledge of more or less effective contraceptive methods. I do not guess this, I know it. During the year 1920—21 the Juvenile Courts of Denver dealt with 769 delinquent girls of high school age They ranged in age from 14 to 17 years. I handled about a hundred

cases of illegitimate pregnancy last year (1924) taking care of most of the mothers and the babies and in most cases adopting the babies out. (A famous Judge of America in his revolt of youth.)

जज साहब पुनः अपने ग्रन्थमें कहते है—हाई स्कूलकी ४६३ लड़कियां जिनने मेरे पास स्वीकार किया था कि लड़कोंके साथ उनका काम-संसर्ग हुआ है, उनमेंसे २५ को गर्भ रह गया था। बाकी सब गर्भवती होनेसे बच गईं—कुछ तो अपने भाग्यसे और कुछ गर्भनिवारक उपायोंके परिज्ञानसे। मैं यह बात आन्दाजसे नहीं कह रहा हूं, मुझे इसका पूरा पता है। सन् १६२०—२१ में डेनभर कोर्टमें ऐसी ७६६ अपराधिनी स्कूल-लड़कियोंके केस आये थे। उनकी उमर १४ से १७ वर्ष तककी थी। गत वर्ष अर्थात् १६२४ में प्रायः १०० केस व्यभिचारसे गर्भवती स्त्रियोंके मेरे कोर्टमें भी आये थे। इन स्त्रियोंकी तथा इनके बच्चोंकी सम्हाल भी मैंने की थी।

Mr. Licky in his History of European Morals:—

"The nearly universal practice of the custom of early marriages among the Irish peasantry has alone rendered possible that high standard of female chastity, that intense and jealous sensitiveness respecting female honour, for which among many failings and some vices the Irish poor have long been pre-eminent in Europe."

लेकी साहब अपनी पुस्तकमें कहते है—आयर्लैण्डकी गरीब किसान जातिमें शीघ्र विवाहकी जो प्रथा है उसीसे वहांकी स्त्रियोंमें उच्चकोटिका पातिव्रत्य धर्म और उसके प्रति हार्दिक आदर भाव अब तक बना रहा। उनमें अनेक दोष होने पर भी इसी उत्तम धर्मके कारण वे यूरोपमें वर्षों तक सम्मानार्ह बने रहे।

The custom of child marriage is not merely due to the accident of Moslem conquest, when the rulers promised to protect all girls who were already affianced. But there is more in it. There is the difference of ideals. In Hindu

India, because the house-hold is the essential element in its social structure, marriage is almost compulsory like conscription in Europe To perform the duties of a householder is in fact looked upon as a special discipline

(Rev J. Tyssul Davis)

जे टिसल डेभिस् साहबकी यह सम्मति है—मुसलमानराज्यके समयसे बालविवाह प्रथा चली है यह कहना ठीक नही है, क्योंकि सगाई होजाने पर मुसलमान लोग हिन्दुकन्याओंकी रक्षा करते थे। इसका यथार्थ कारण आदर्श-भेद है। हिन्दुजातिमे गृहस्थजीवन सामाजिकजीवनका प्रधान अङ्गरूप है, इसलिये विवाह करना एक अवश्य कर्त्तव्य धर्मकार्य है। हिन्दुजातिमें गृहस्थाश्रमके कर्त्तव्योंको करते रहना एक प्रधान धर्म करके माना गया है।

It is universally admitted that compromise and concession form the solid basis of matrimonial happiness, and the sense of destiny imparted by early marriages powerfully promotes a spirit of compromise We must also understand that the Hindu marriage contract is inviolable and the course of life is inevitable the minds of the parties are thus in the proper frame for making the best of things. These wise provisions have stood the test of centuries and by their results continue to proclaim their excellence. All parties are united in the opinion that Hindu married life is an exceptionally happy state and this is the clearest proof of the excellence of the system and the severest condemnation of those who are seeking to unsettle it,

(Frederic Pincott)

दाम्पत्यजीवनके सुखके मूलमें स्त्रीपुरुषके हृदयका मेल और परस्परका भाव सामञ्जस्य है। बालविवाहमें जो अदृष्टका सम्बन्ध रहता है उससे यह सामञ्जस्य विशेष पुष्ट होजाता है। हिन्दुओंका विवाहबन्धन टूटने के लिये नहीं होताहै, इसमें दम्पतिकी जीवनगति सदाके लिये नियत हो जाती है और इसी कारण

उनके मनमें भी हर हालतमें निवाहते रहनेका ही उत्तम भाव प्रतिष्ठित होजाता है। शत शत वर्षोंसे हिन्दुजातिमें यही व्यवस्था चली आती है और इसके उत्तम परिणामको देखकर इसे उत्तम ही कहा जाता है। दाम्पत्यजीवन हिन्दुजातिमें ही सर्वोत्तम सुखदायक है इसमें सभीको एक राय है। इसीसे प्रमाणित होता है कि हिन्दुजातिकी विवाहप्रथा सर्वोत्तम है और जो लोग इसे नष्ट करनेकी चेष्टा कर रहे है वे बड़ा ही अन्याय करते है।

(फ्रेडरिक पिनकट्)

Mr. Otto Rothfield in his 'Women of India' :—

"Moreover in practice child marriage has some clear advantages For it allows the wedded pair to be brought together as children only in their parents' houses, till in time they become habituated to each other's company and affection, which gradually they come to know and learn their place in these large households to which their future lives belong

"Real marriage, the consummation of their growth to men and women, comes much later, many years perhaps than their parents at last give their consent to the grown student and the healthy maiden who helps daily in the household tasks.

"In general it may be said that the Hindu rules of marriage are conducive to the happiness of the spouses and their happiness is less self centred and more altruistic. The worth of a nation's womanhood can best be estimated by the completeness with which they fulfil the inspirations of love and its devotion; and judged by this standard, the higher types in India need fear no comparison"

अटो रथफिल्ड् साहब अपनी पुस्तकमें लिखते हैं:—

"व्यवहार दृष्टिसे देखने पर शीघ्र विवाहमें बहुत कुछ सुविधाएं दृष्टि·

गोचर होती है। इसमें प्रधान सुविधा यह है कि विवाहित स्त्रीपुरुष अपने आत्मीयोंके गृहमें एक साथ प्रतिपालित होते रहने पर परस्परके सहवास तथा प्रेममें अभ्यस्त होजाते हैं और धीरे धीरे गृहस्थजीवनके भी कर्तव्य तथा दायित्वका ज्ञान लाभ कर लेते हैं।

"उनका वैषयिक संसर्ग, जो द्विरागमनके अनन्तर होता है वह कई वर्षके बाद हुआ करता है। इसमें भी पिता माता जब दोनोंकी शारीरिक अवस्थाको योग्य समझें तभी आज्ञा देते हैं।

"सब ओर विचार करनेपर यही कहा जा सकता है कि हिन्दुओंकी विवाहपद्धति ही दाम्पत्यजीवनमें अधिक सुखदायिनी वस्तु है। और इस सुखमें स्वार्थगन्ध बहुत ही कम है तथा विश्वजनीन सार्वभौम भाव बहुत अधिक है। किसी जातिकी नारियोंमें उत्तमता उनके पतिप्रेम और पतिभक्तिकी पूर्णताके द्वारा जानी जाती है, यदि इसी आदर्शके अनुसार विचार किया जाय तो हिन्दुजातिकी उच्चकुल रमणियोंके साथ संसारकी और किसी जातिकी स्त्रियोंकी तुलना नहीं हो सकती है।

अतः प्राच्य प्रतीच्य सभी प्रकार विचार द्वारा यही निश्चय हुआ कि आर्यशास्त्रसम्मत विवाहकाल निर्णय ही सर्वथा श्रेयस्कर है।

वर्णविज्ञान और स्पृश्यास्पृश्य विचार।

संस्कृतभाषाके 'वर्ण' शब्दका हिन्दीमें अर्थ 'रङ्ग' है। क्या चार वर्णका रङ्गके साथ भी कोई प्राकृतिक सम्बन्ध है, इस विषयमें अनेक पश्चिमी तथा एतद्देशीय विद्वानोंने विचारकर निम्नलिखित सत्यका पता लगा लिया है। यथाः—

"Has colour anything to do with matter? We know on the face of things that colour or complexion of a people depends upon climatic conditions. But mysticism which concerns itself more with the inner man than with the outer, makes us aware of certain subtle facts One of them is the existence of a certain subtle, invisible yet material fluid that ever emanates from man, this is a kind of bodily fire

and is called the mysterious occult force, for it travels from man to man and effects him for good or evil Mesmer, the founder of the well-known doctrine of mesmerism in the 18th century gave it the name of Animal Magnetism. Some eminent scientists of the west have given it the name of Aura, which is defined as a subtle fluid supposed to flow from a body. "Search where we may" says Professor William, "this force (Magnetism) has been universally acknowledged and used by all tribes and nations, and so far as this being but a science of yesterday it enjoys the double reputation of being very old and has stood the test of ages, indeed, we maintain that it is the oldest science extant and nothing was proclaimed as a science prior to it."

Another fact of mysticism founded on the existence of this force is that these auras, as they spread themselves in ether around us bear the impress of our thoughts, passions, and desires and evince appropriate forms, colours, smell and sounds, like all other emanations of the body, and that whenever set in motion by the human will, they assume such forms and colour as to render them capable of indicating the real character of the man. The predominance of 'gunas' likewise gives the corresponding colours to the auras and may by a process of action and reaction give corresponding shade of colours to the grosser bodies as well.

(The Varana System—Kalpaka 2-28)

रङ्गके साथ वस्तुका सम्बन्ध है? साधारणतः यही विदित है कि शीत-प्रधान या गर्मीप्रधान जैसे देशमें मनुष्य रहता है, उसीके अनुसार काले, गोरे आदि रङ्ग हुआ करते हैं। किन्तु सूक्ष्म विद्यामे इससे अतिरिक्त कुछ भीतरी तत्त्वोंका भी पता लगाया गया है। प्रत्येक मनुष्यके शरीरसे अदृश्य वाष्प

जैसी एक तैजस वस्तु निकलती है जो दूसरेके शरीर तथा मन पर प्रभाव डालकर उसे अच्छा या बुरा बना सकती है। मेस्मेरिजम् विद्याके प्रवर्त्तक मेसमेर साहब इसे जैव विद्युत्शक्ति कहते थे। पश्चिमदेशके कुछ प्रसिद्ध वैज्ञानिकोंने इसको 'अरा' कहा है। प्रोफ़ेसर विलियम कहते हैं कि चाहे किसी तरहसे जांच की जाय इस सूक्ष्मशक्तिको कोई इनकार नहीं कर सकता है, इसको सभी जातिके मनुष्योंने किसी न किसी प्रकारसे माना है और वर्षों परीक्षाके बाद यही तय हुआ है कि सबसे प्राचीन वैज्ञानिक चमत्कार यह 'अरा' ही है।

'अरा' के विषयमें और एक चमत्कार यह विदित होगया है कि, मनुष्यकी चिन्ता, मनोवृत्ति और भीतरी वासनाओंके अनुसार ही 'इथर' में 'अरा' प्रकाशित होता है और उसका आकार, रङ्ग, गन्ध और शब्द भी उसी प्रकारका होता है। इसके सिवाय इच्छाशक्तिके द्वारा 'अरा' को प्रेरित करने पर उसका रूप रङ्ग ऐसा ही देखनेमें आता है जिससे प्रेरित करनेवालेके चरित्रका तथा मनोभावका पूरा पता लग सके। अतः यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि मनुष्य-प्रकृतिमें सत्त्व, रज, तम जिस प्रकारका गुण होगा 'अरा' का रङ्ग भी उसी प्रकारका होगा और क्रिया प्रतिक्रियाके परिणाममें स्थूलशरीरका रङ्ग भी ऐसा ही हो जायगा। (कल्पक २। २८)

इस वैज्ञानिक तथ्यसे निम्नलिखित विषय प्रमाणित होते हैं:—

(१) शास्त्रमे सत्त्वगुणप्रधान ब्राह्मणका रङ्ग श्वेत, रजः सत्त्वप्रधान क्षत्रियका रङ्ग लाल, रजस्तमःप्रधान वैश्यका रङ्ग पीत और तमःप्रधान शूद्रका रङ्ग काला जो लिखा गया है, सो प्रकृतिभेदसे 'अरा' भेद और 'अरा' भेदका परिणाम स्थूलशरीरपर ऐसा ही होता है।

(२) जिसमे 'अरा' देखनेकी शक्ति (Psychic sight) हो, वह चार वर्णमे इसी प्रकार चार रङ्गके 'अरा' अवश्य ही देख सकेगा।

(३) जब जन्मसे ही ब्राह्मणशिशुका रङ्ग श्वेत, क्षत्रियशिशुका रङ्ग लाल, वैश्यशिशुका रङ्ग पीत और शूद्रशिशुका रङ्ग काला है तो पूर्वजन्मके कर्म्मके साथ वर्णधर्मका सम्बन्ध अवश्य है।

(४) जहां पर वर्ण धर्मके अनुसार रङ्ग ठीक नहीं मिलता हो वहां किसी कारणसे प्रकृतिमे भेद पड गया है, जिससे 'अरा' का भी रङ्ग बदल गया है यही मानना होगा।

(४) जब इच्छाशक्ति तथा वासनाके वेगसे 'अरा' का रङ्ग बदलता है तो असाधारण कारणसे असाधारणरूपसे 'अरा' का रङ्ग बदलना और उसका परिणाम स्थूल शरीरपर पड़ कर जन्मान्तर प्राप्ति होना भी सम्भव है जैसा कि विश्वामित्र आदिका हुआ था । असाधारण कारण तथा रङ्ग बदलनेका प्रमाण महाभारतके शान्तिपर्वमें मिलता है । यथाः—

असृजद्ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन् ।
आत्मतेजोऽभिनिर्वृत्तान् भास्कराऽग्निसमप्रभान् ॥
न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्व्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्व्वसृष्टं हि कर्म्मभिर्वर्णतां गतम् ॥
कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः ।
त्यक्तस्वधर्म्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ॥
गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः ।
स्वधर्म्मान्नाऽनुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः ॥
हिंसाऽनृतप्रिया लुब्धाः सर्व्वकर्म्मोपजीविनः ।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ॥

ब्रह्माण्डप्रकृतिकी गति सत्त्वगुणसे तमोगुणकी ओर होती है, इसलिये प्रथम सृष्टिमें सत्ययुग और तदनन्तर त्रेता, द्वापर, कलिका क्रम रहता है। अर्थात् सत्ययुगमें सत्त्वगुणका प्राधान्य, त्रेतामें रजःसत्त्वका प्राधान्य, द्वापरमें रजस्तम-का प्राधान्य और कलिमें तमका प्राधान्य होता है। इसीके अनुसार प्रथम सृष्टिमें सनक, सनन्दन आदि भगवान् ब्रह्माके जो चार मानस पुत्र हुए उनमें सत्त्वगुणकी पराकाष्ठा होनेसे सृष्टिकी इच्छा ही नहीं हुई। इसके बाद दूसरे अधिकारमें मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य आदि सात ऋषि उनके मानस पुत्र रूपसे उत्पन्न हुए, उनमें सृष्टि करनेकी इच्छा हुई, किन्तु मनोबल, योगबलकी विशेषताके कारण उन्होंने भी मानसी सृष्टि की। यह सृष्टि केवल ब्राह्मणोंकी हुई, क्योंकि उस समय भी ब्राह्मणप्रकृतिमें सत्त्वगुणका ही प्राधान्य था। वे सब ब्राह्मण आत्मबलसे पुष्ट तथा सूर्य और अग्निकी तरह तेजस्वी थे। उस समय वर्णोंकी विशेषता नहीं थी, सभी ब्राह्मण थे। किन्तु धीरे धीरे प्रकृतिकी गति नीचेकी ओर

होने लगी, जिससे रजोगुण, तमोगुणका भी विकाश होगया, और श्वेत वर्ण ब्राह्मणके स्थानमे कामभोगप्रिय, कठिन प्रकृति, क्रोधी, साहसी, रक्तवर्ण क्षत्रिय, कृषि-गोरक्षासे जीविका करनेवाले पीतवर्ण वैश्य और शौचाचारशून्य, हिंसादि-प्रिय, कृष्णवर्ण शूद्र उत्पन्न होगये। स्वधर्मत्यागका प्रभाव इन सवके मनपर पड़ जानेसे 'श्ररा' का रङ्ग भी वदल गया था,' और तदनुसार शरीरका भी रङ्ग बदल गया था, जैसा कि इन श्लोकोंमे वताया गया है । इसी प्रकार प्रथम सृष्टिमे ब्राह्मण और तदनन्तर अन्य तीन वर्णोंकी उत्पत्तिका प्रमाण वेदमें भी मिलता है, यथा:—

'ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत् । तच्छ्रेयोरूपमन्य-सृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति······स नैव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति । स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमिमं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च ।'

(बृह उप ४ ब्राह्मण)

प्रथम सृष्टिके समय सव ब्राह्मण थे, अन्य वर्ण नही थे । इससे काम न चला, तव परमात्माने पालनादि कार्यके लिये क्षत्रियवर्णकी सृष्टिकी, जिनका नाम पृथिवीमे क्षत्रिय हुआ और स्वर्गमे इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, ईशान इत्यादि हुआ। इससे भी काम न चला, क्योंकि पालनके लिये अर्थकी आवश्यकता पड़ी। इस लिये परमात्माने वैश्यवर्णकी उत्पत्ति की, जो मनुष्य-लोकमें इसी नामसे और देवलोकमें 'गण' नामसे कहे जाते है। देवताओंमें अष्ट-वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, त्रयोदश विश्वेदेवा और उनचास पवन इसी गणमें है। किन्तु जव इससे भी काम न चला तो सेवाके लिये परमात्माने शूद्र-वर्णको सृष्टि की। देवलोकमें पोषणकारिणी पृथिवी इस वर्णमे है और मनुष्य लोकमें शूद्रजाति है।

असाधारण हेतुके द्वारा एक ही जन्ममें वर्ण वदलनेकी सम्भावना होने पर भी साधारणतः सात जन्ममें वर्ण वदल जाता है जैसा कि मनुसंहिताके अध्याय १० में लिखा है:—

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते ।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमात्कुलात् ॥
शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥

अर्थात् शूद्रा स्त्रीमे ब्राह्मणसे उत्पन्न कन्याके साथ यदि और कोई ब्राह्मण विवाह करे और उस विवाहसे उत्पन्न कन्याका पाणिग्रहण और कोई ब्राह्मण करे, इस प्रकारसे ब्राह्मणका सम्बन्ध क्रमशः सात पुरुष तक हो तो सातवें जन्ममें वीर्य्य प्राधान्यके कारण वह वर्ण ब्राह्मण होजाता है । इस प्रकारसे शूद्र ब्राह्मण होनेकी तरह, ब्राह्मण भी शूद्र होसकता है । क्षत्रिय और वैश्योके लिये भी जातिपरिवर्तनका यही साधारण नियम है । किन्तु इस प्रकार असवर्ण विवाहका निषेध कलियुगमे महर्षियोने कर दिया है । सात जन्मके साथ सम्बन्धकी क्या विशेषता है इस विषयमें जैसा कि पूर्व अध्यायमे कहा गया है हग्सले साहबकी तरह और भी अनेक पश्चिमी विद्वानोंने बहुत कुछ खोज निकाला है । यथा—

For many years it was believed that every 7 years there was a complete renewal of all outworn tissues in the human body. Dr. Herman Swoboda claims to have discovered that every seventh year, over and above the fact that it marks some change, either retrogressive or progressive in the life of the individual, the period has still greater importance attaching thereto

Every person embodies in his character and organism traits and resemblances derived from long generations of ancestors and it is the theory of Dr Swoboda that every seventh year we have the power to transmit these traits to offsprings

Bismarck is a brilliant example of the correctness of the Swoboda theory. The doctor claims that, along with other traits, the tendency to certain diseases can be trans-

mitted from parent to child only in years divisible by 7
(The Sacred Seven by Artic Mae Blackburn—Kalpaka-2|25)

बहुत वर्षों तक लोगोंका यही विश्वास रहा कि, प्रति सात वर्षके बाद मनुष्यशरीरकी पुरानी पेशियां बदल जाती हैं। डाक्टर हर्मन स्ववोध कहते हैं कि, प्रत्येक सात वर्षमें मनुष्यजीवन पर अच्छा या बुरा कुछ परिवर्त्तन तो होता ही है, अधिकन्तु और भी आवश्यक बातोंका सम्बन्ध सातके साथ है।

प्रत्येक मनुष्यके चरित्र तथा अवयवोंमें अपने अनेक पितृपुरुषोंसे जन्म जन्मान्तर क्रम द्वारा प्राप्त चरित्र और अवयवोंका सादृश्य रहता है। डाक्टर स्ववोधका सिद्धान्त है कि, प्रत्येक सात वर्षमें हम लोग अपनी सन्तानोंके भीतर इन सब सादृश्योंके समावेश करनेमें समर्थ हो जाते हैं।

डाक्टर विस्मार्कके सिद्धान्तसे डाक्टर स्ववोधके सिद्धान्तकी सत्यता अच्छी तरह प्रमाणित हो जाती है। उनका कहना यह है कि अवयव और चरित्रके अतिरिक्त खास खास बीमारियोंके संस्कार भी सातके द्वारा विभक्त होनेवाले वर्षोंमें पिता मातासे सन्तानको प्राप्त हुआ करते हैं। (कल्पक २-२५)

उपदंश, उन्माद, अर्श, अपस्मार आदि रोग सात सात पुरुष तक चलते हैं यह हमारे यहांके वैद्यशास्त्रका सिद्धान्त ही है।

वर्णविज्ञानके साथ 'अरा' और रङ्गका सम्बन्ध बताकर अब त्रिगुणमयी प्रकृतिका सम्बन्ध बताया जाता है।

वर्णधर्म्म क्या वस्तु है? जातीय जीवन की सब प्रकारकी उन्नतिके साथ वर्णव्यवस्थाका किसी प्रकारका सम्बन्ध है वा नहीं? वर्णव्यवस्था प्राचीन है या किसीकी कपोलकल्पना वा नवीन है? इसको प्राचीन समझकर रखना चाहिये या नवीन तथा देशके लिये हानिजनक समझकर उडा देना चाहिये? इत्यादि शङ्कायें आजकल प्रायः लोग करते हैं।

किसी वस्तुके रहने या न रहनेके विषयमें विचार तथा मतामत प्रकाशित करनेसे पहिले, विचारवान् पुरुषको देखना चाहिये कि उस वस्तुके अस्तित्वके साथ प्रकृतिका कुछ मौलिक सम्बन्ध है या नहीं? क्योंकि जिस वस्तुका मौलिक सम्बन्ध प्रकृतिके साथ है, उसका प्रकृतिसे यावद्द्रव्यभावित्व सम्बन्ध रहता है, अर्थात् जबतक प्रकृति रहेगी तबतक वह वस्तु भी रहेगी इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

वर्णधर्म किसी मनुष्यका बनाया हुआ धर्म नहीं है, परन्तु प्रकृतिके त्रिगुणानुसार स्वभावसे उत्पन्न स्वाभाविक वस्तु है। प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। जीव तमोगुणके राज्यमें उत्पन्न होकर रजोगुणके भीतरसे क्रमशः सत्त्वगुणकी ओर चलता है और अन्तमें सत्त्वगुणकी पराकाष्ठापर पहुँचकर गुणातीत ब्रह्ममे लीन हो जाता है। यह जो तीन गुणोंके भीतरसे जीवकी उन्नतिका क्रम है इसीको वर्णधर्म कहा गया है। जबतक जीव तमोगुणमें रहता है तबतक शूद्र कहलाता है, जब और कुछ अग्रसर होकर रजोमिश्रित तमोगुणके अधिकारको पाता है तब वैश्य कहलाता है, जब और भी उन्नत होकर रजोमिश्रित सत्त्वगुणकी अवस्थाको लाभ करता है तब क्षत्रियवर्ण होता है और तदनन्तर रजस्तमोहीन शुद्ध सत्त्वगुणकी जो अवस्था है वही ब्राह्मण वर्ण है। इस प्रकारसे संसारके सर्वत्र तीन गुणोंके अनुसार चार वर्ण स्पष्ट तथा अस्पष्टरूपसे देखनेमें आते हैं। जहां प्रकृतिकी पूर्णता है वहां प्राकृतिक तीन गुणकी भी पूर्णता है, इसलिये वहांपर चार वर्ण स्पष्टरूपसे देखनेमें आते हैं और समाजकी प्रचलित व्यवस्थामें भी उसकी गणना होती है। जहांपर प्रकृतिकी पूर्णता नहीं है, वहां जिस गुणकी या जिन गुणोंकी प्रधानता है उसी या उन्हीके अनुसार वर्णधर्मका अल्प प्रकाश देखनेमें आता है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि, भारतवर्षकी स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों प्रकृति ही पूर्ण है। स्थूल प्रकृतिकी पूर्णता होनेसे यहांपर षड्ऋतुओंका पूर्ण विकाश आदि अनेक लक्षण देखनेमें आते हैं, सूक्ष्म अर्थात् दैवी प्रकृतिकी पूर्णता होनेसे यहांपर दैव पीठ तथा अनेक भगवदवतारोंके आविर्भाव होते हैं और कारण अर्थात् आध्यात्मिक प्रकृतिकी पूर्णता होनेसे यहांपर महर्षियोंकी शुद्ध बुद्धि द्वारा ज्ञानभण्डार वेद तथा ब्रह्मज्ञानका विकाश हुआ है। इसलिये जब भारतवर्षमे प्रकृतिकी ही पूर्णता है तो तीनो गुणोंकी भी पूर्णता है और इसी कारण भारतीय हिन्दुसमाजमें चारवर्णकी स्वाभाविक व्यवस्था है। इस स्वभावके नष्ट करनेकी चेष्टा करनेपर हिन्दुजाति उन्नति नही कर सकेगी, परन्तु स्वभावके नाशसे नष्ट ही हो जायगी। पृथिवीके अन्यान्य देशोंमे प्राकृतिक पूर्णता न होनेके कारण तीन गुणोंकी पूर्णता नही है। इसलिये उन देशोंकी जातियोंमें भी वर्णधर्मकी स्वाभाविक समाजगत व्यवस्था नही है। और इसी कारण जन्मान्तरके तत्त्व, मृत्युके बाद जीवोंकी कर्मानुसार गति तथा पुनः प्राक्तन कर्मानुसार मनुष्यलोकमे उत्तम अधम जातिमें जन्म इत्यादि तत्त्वोंका पता उन लोगो को नही लग सका है और उनके धर्मग्रन्थों-

में भी इन विषयोंका वर्णन नहीं देखनेमें आता है । वे जन्मको केवल accident of birth अर्थात् विना कारण अचानक जन्म हो गया, यही कहते हैं। किन्तु पहिले ही हर्बर्ट स्पेन्सरका प्रमाण दिया गया है कि, यह विचारको अपूर्णता मात्र है। ससारमें विना हेतुके कोई कार्य ही नहीं होता है। तथापि तीन गुणों-का आंशिक विकाश होनेके कारण वहांपर भी वर्णधर्मका अस्पष्ट विकाश है, जो सामाजिक व्यवस्थामे परिगणित न होनेपर भी विचारवान् सूक्ष्मदर्शी पुरुषके नेत्रमें परिदृष्ट होता है । केवल इतना ही नहो अधिकन्तु समस्त ससार त्रिगुणमयी प्रकृतिका विकाशरूप होनेके कारण अस्पष्टरूपसे मनुष्यके नीचेकी योनिमें भी वर्णधर्मकी व्यवस्था देखनेमें आती है, यथा तैत्तिरीय सहितामें—"ब्राह्मणो मनुष्याणां अजः पशूनां" "राजन्यो मनुष्याणामविः पशूनां" "वैश्यो मनुष्याणां गावः पशूनां" "शूद्रो मनुष्याणां अश्वः पशूनां" अर्थात् मनुष्यकी तरह पशुयोनिमे छाग आदि ब्राह्मण पशु, भेंड़ सिंह आदि क्षत्रिय पशु, गौ आदि वैश्य पशु और अश्व आदि शूद्र पशु हैं। पक्षियोंमें भी शुक कबूतर आदि ब्राह्मण, बाज तीतर आदि क्षत्रिय, मोर आदि वैश्य और काक गीध आदि शूद्र पक्षी है तथा वृक्षोंमें भी वट अश्वत्थ आदि ब्राह्मण, शाल सागवन आदि क्षत्रिय, आम कटहर आदि वैश्य और बांस आदि शूद्र वृक्ष हैं, ऐसा कह सकते है । काष्ठके भीतर तो चार वर्णोंकी व्यवस्था शास्त्रमे बताई ही गई है। यथा—वृक्षायुर्वेदमें—

लघु यत् कोमलं काष्ठं सुघटं ब्रह्मजाति तत् ।
दृढाङ्गं लघु यत् काष्ठमघटं क्षत्रजाति तत् ॥
कोमलं गुरु यत् काष्ठं वैश्यजाति तदुच्यते ।
दृढाङ्गं गुरु यत् काष्ठं शूद्रजाति तदुच्यते ॥

जो काष्ठ लघु, कोमल और दूसरे काष्ठसे सहज ही मिल सकता है वह ब्राह्मणजातीय है। जो काष्ठ लघु और दृढ है तथा अन्य काष्ठसे मिल नहीं सकता वह क्षत्रियजातीय है। कोमल और भारी काष्ठ वैश्यजातीय तथा दृढ़ और भारी काष्ठ शूद्रजातीय है । काष्ठकी तरह मिट्टीमें चार वर्ण देखे जाते है, यथा—श्वेतवर्णकी मिट्टी ब्राह्मण, लालवर्णकी मिट्टी क्षत्रिय, पीतवर्णकी मिट्टी वैश्य और कृष्णवर्णकी मिट्टी शूद्र है। मनुष्यके नीचेकी योनियोंकी तरह ऊपरकी देव-

योनियोंमें भी चार वर्ण हैं, यथा–तैत्तिरीय संहितामें–"अग्निर्देवता अन्वसृज्यन्त" "इन्द्रो देवता अन्वसृज्यन्त" "विश्वेदेवा देवता अन्वसृज्यन्त" "भूयिष्ठा हि देवता अन्वसृज्यन्त" इत्यादि। देवताओंमें अग्नि आदि देवता ब्राह्मण हैं, इन्द्रादि लोकपालगण क्षत्रिय हैं, विश्वेदेवा वैश्य देवता हैं और अनेक श्रेणीके देवता शूद्र हैं। देवताओंके चार वर्णोंके लिये बृहदारण्यकका भी प्रमाण दिया जा चुका है। अतः यह सिद्धान्त हुआ कि त्रिगुणमयी प्रकृतिके सर्वत्र ही त्रिगुणानुसार चार वर्ण कहीं स्पष्टरूपसे और कहीं अस्पष्टरूपसे विद्यमान हैं। इसलिये इस प्रकार स्वभावसिद्ध वर्णधर्मके नाशसे जाति उन्नत न होकर नाशको ही प्राप्त हो जायगी। इसको नष्ट न करके इसका सुधार तथा देश काल पात्रानुसार सामञ्जस्य करना ही दूरदर्शिताका कार्य्य होगा।

वर्णधर्मका विस्तार बताकर अब उसकी गभीरता बताते हैं। वर्ण जब प्रकृतिका स्वाभाविक धर्म है तो प्रकृतिके सकल अङ्ग तथा भावोंके साथ इसका अवश्य ही सम्बन्ध होना चाहिये, अर्थात् जहां तक प्रकृतिका प्रवेश है वहां तक वर्णधर्मका भी सम्बन्ध मानना चाहिये। मनुष्यके स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीर त्रिगुणमयी प्रकृतिके उपादानसे ही उत्पन्न हुये हैं। अतः त्रिगुणानुसार वर्णधर्मका भी सम्बन्ध तीनों शरीरोंके अथवा अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत तीनों भावोंके साथ अवश्य होगा। वल्कि तीनोंकी पूर्णतासे ही वर्णधर्मकी पूर्णता समझी जायगी। जन्मका सम्बन्ध स्थूलशरीरके साथ, कर्मका सम्बन्ध सूक्ष्म शरीरके साथ और ज्ञानका सम्बन्ध कारण शरीरके साथ है, अर्थात् जन्मका सम्बन्ध आधिभौतिक, कर्मका सम्बन्ध आधिदैविक और ज्ञानका सम्बन्ध आध्यात्मिक है। अतः कोई भी वर्ण जबतक जन्म, कर्म तथा ज्ञानमे पूर्ण न हो तबतक पूर्ण वर्ण नही कहला सकता। पूर्ण ब्राह्मण वही होगा जो जन्मसे भी ब्राह्मण हो, कर्मसे भी ब्राह्मण हो और ज्ञान भी ब्राह्मणोचित हो। पूर्ण क्षत्रिय वही होगा जिसमें जन्म, कर्म तथा ज्ञान तीनों ही क्षत्रिय वर्णोचित होगा। इसी प्रकार और दो वर्णोंके विषयमें भी समझना चाहिये। इसीलिये महाभारतके अनुशासनपर्वमें कहा है—

तपः श्रुतञ्च योनिश्चाप्येतद्ब्राह्मणकारणम्।
त्रिभिर्गुणैः समुदितस्ततो भवति वै द्विजः॥

तपस्यादि कर्म, ज्ञान और जन्म तीनोंसे युक्त होनेपर तब ब्राह्मण पूर्ण ब्राह्मण होंगे। और भी—

तपः श्रुतञ्च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम्।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥ (महाभाष्य २।२।६)
त्रीणि यस्यावदातानि विद्या योनिश्च कर्म च।
एतच्छिवं विजानीहि ब्राह्मणाग्र्यस्य लक्षणम्॥ ४।१।४८

कर्म, ज्ञान और जन्म इन तीनोंकी पवित्रतासे श्रेष्ठ ब्राह्मण कहलाते है। कर्मज्ञानहीन ब्राह्मण जाति ब्राह्मणमात्र है। यह महर्षि पतञ्जलिका मत है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णोंकी पूर्णताके लिये तीनों गुणोंकी अपेक्षा है। यदि इन तीनोंमेसे किसीकी कमी रहे तो पूर्ण वर्ण नही कहला सकते, यथा यदि केवल जन्मसे ही ब्राह्मण हो किन्तु ब्राह्मणोचित कर्म न करे अथवा ज्ञानी न हो तो पूर्ण ब्राह्मण नही कहला सकता। इसी प्रकार क्षत्रियादिके विषयमें भी समझना उचित है। इसीलिये श्रीभगवान् मनुजीने कर्महीन और ज्ञानहीन ब्राह्मणोंके विषयमे कहा है—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥
यथा षण्डोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः॥

(२य अध्याय)

जिस प्रकार काठका हाथी और चर्मका मृग नकली है उसी प्रकार मूर्ख ब्राह्मण भी नाममात्र ब्राह्मण है। जिस प्रकार स्त्रीके लिये नपुसक, गौके लिये गौ और अज्ञको दान देना निष्फल है, उसी प्रकार अज्ञानी ब्राह्मण निष्फल है, अर्थात् ऐसे ब्राह्मण केवल शरीरसे ही ब्राह्मण हैं, कर्म और ज्ञानसे अब्राह्मण हैं। इसी प्रकार अन्य वर्णोंके विषयमें भी समझना चाहिये।

यहांपर यह बात अवश्य ही ध्यान देने योग्य है कि जन्म, कर्म और ज्ञान इन तीनोंके साथ वर्णधर्मका सम्बन्ध रहनेपर भी जन्मके साथ वर्णधर्मका साक्षात् और अतिघनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि, पूर्वजन्ममें मनुष्य जिस प्रकार कर्म करता है, उसीके अनुसार ही ब्राह्मणादि वर्णोंमें उसका जन्म होता है। श्रीभगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें कहा है—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः।

प्रारब्ध कर्मके मूलमें रहनेसे उसके फलरूपसे जीवको जाति, आयु और भोग, ये तीन वस्तुएं मिलती हैं। जिसका पूर्वकर्म सत्त्वगुणप्रधान है उसका जन्म ब्राह्मण पिता मातासे होता है, जिसका पूर्वकर्म रज.सत्त्वप्रधान है उसका जन्म क्षत्रिय पिता मातासे होता है, जिसका पूर्वकर्म रजस्तमःप्रधान है उसका जन्म वैश्य पिता मातासे होता है और जिसका पूर्वकर्म तमःप्रधान है उसका जन्म शूद्र पिता मातासे होता है। इस प्रकारसे सत्त्व आदि त्रिगुण तथा पूर्वकर्मानुसार जीवका ब्राह्मणादि वर्ण तथा आर्य, अनार्य आदि जातिमें जन्म होता है। इसीलिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

सत्त्व, रजः, तम ये तीन गुण तथा तदनुरूप कर्मोंके विभागके अनुसार चार वर्णोंकी सृष्टि की गई है। मनुष्य कर्म करनेमे स्वतन्त्र होनेसे एक वर्णका मनुष्य यदि पुरुषार्थ करे तो अन्य वर्णके मनुष्यका कर्म थोड़ा बहुत कर सकता है, किन्तु पूर्वगुणोंके अनुसार जो स्थूल शरीर बन चुका है उसका परिवर्तन एकाएक नही हो सकता है। इसलिये एक वर्णका मनुष्य अपना कर्म उन्नत या अवनत करता हुआ दूसरे जन्ममें अन्य वर्ण बन सकता है, किन्तु उसी जन्ममें नही बन सकता है। हां, यदि विश्वामित्र, नन्दिकेश्वर आदिकी तरह असाधारण तप आदि कर्म करे और उसके फलसे स्थूल शरीरका उपादान तक बदलकर उच्च वर्णका बन जाय तो एक ही जन्ममें वर्ण बदल सकता है। परन्तु ऐसा असाधारण कर्मका अधिकार बहुत ही विरल है और इस तमःप्रधान कलियुगमें तो एक तरहसे असम्भव ही है।

जन्मके साथ वर्णधर्मका इतना सम्बन्ध होनेके कारण ही सन्तानकी उत्पत्तिके समय देवता तथा पितृगण जीवको इतनी सहायता करते है। सन्तानोत्पत्तिके निमित्त गर्भाधानके समय जीवोंके प्रति देवता तथा पितरोंकी सहायता बहुत ही रहस्यमयी है। जिस प्रकार प्राणशक्तिके आवर्त्तरूपी पीठमें देवता या अपदेवता तथा मूर्ति, यन्त्र आदि मन्त्रसिद्ध पीठोंमें देवता आकृष्ट होते हैं, ठीक उसी प्रकार गर्भाधानके समय स्त्रीशक्ति और पुरुषशक्तिके संघर्ष द्वारा उनके शरीरमें स्वभावतः ही पीठ उत्पन्न हो जाता है, जिसमें उत्पन्न होने वाले अनेक जीव तथा उनकी सहायता देनेवाले देवता और पितृगण आकृष्ट होते हैं। जितने जीव उस पीठमें आकृष्ट होते हैं उनमेंसे जिसका कर्म उस प्रकार

पिता माताके द्वारा उत्पन्न होने योग्य होता है वह तो वहां रह जाता है और पिताके वीर्यके द्वारा माताके गर्भमें प्रविष्ट हो जाता है, बाकी जीव अन्यत्र चले जाते हैं। पितृगण उस जीवके योग्य स्थूलशरीरप्राप्तिमे सहायता करते है और देवतागण उसके प्राचीन कर्मको देखकर अनुरूप गर्भमें उसे स्थापन करते हैं इस प्रकारसे स्थूलसूक्ष्मशरीरयुक्त वह जीव कर्मानुसार जन्मको लाभ करता है, यथा श्रीमद्भागवतमें—

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये।
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः॥

(भागवत ३।३१)

देवताओंके द्वारा सञ्चालित कर्मके अनुसार शरीर अर्थात् जन्म लाभके लिये जीव पिताके शुक्रको आश्रय करके माताके गर्भमे प्रवेश करता है। उसका पूर्वकर्म जिस वर्णमें जन्म देने योग्य होता है, उसी वर्णके माता पिताके द्वारा उसको स्थूल शरीरकी प्राप्ति होती है और स्थूल शरीरका प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्ग भी पूर्वकर्मानुसार ही होता है। अतः सिद्ध हुआ कि, जन्मके साथ वर्णका सम्बन्ध अति घनिष्ठ है और पूर्व कर्मानुसार स्थूल शरीरके किसी वर्णमे बन चुकनेके कारण एकाएक वर्णका परिवर्तन कदापि नही हो सकता है और इसी कारण मन्वादि स्मृतिकारोंने जन्मानुसार ही नामकरण, उपनयन आदि परवर्त्ती संस्कारोंका विधान किया है। यथा—

नामधेयं दशम्यान्तु द्वादश्यां वाऽथ कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्त्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते॥
माङ्गल्यं ब्राह्मणस्यस्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्॥
गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥

(मनु० २य अध्याय)

जात बालकका नामकरण जन्मसे दसवें दिन या बारहवें दिनमें करना चाहिये अथवा पुण्यतिथि, मुहूर्त्त या शुभ नक्षत्रमें करना चाहिये। ब्राह्मणका नाम मंगलवाचक, क्षत्रियका बलवाचक, वैश्यका धनवाचक और शूद्रका

दीनतावाचक होना चाहिये । गर्भके आरम्भकालसे अष्टम वर्षमें ब्राह्मणका, एकादश वर्षमें क्षत्रियका और द्वादश वर्षमें वैश्यका उपनयन होना चाहिये । इन सब श्लोकोंके द्वारा जन्मके साथ चार वर्णका स्पष्ट सम्बन्ध प्रमाणित होता है । अतः वर्णव्यवस्थामें जन्म ही मुख्य है यह सिद्धान्त निश्चित हुआ ।

जीवके जन्म तथा कर्मका रहस्य न जानकर आजकल कोई कोई मनुष्य केवल इस जन्मके कर्मसे ही वर्णकी व्यवस्थाको मानने लगते हैं और कहते हैं कि इस जन्ममें जो जैसा कर्म करेगा वैसी ही उसकी जाति कहलावेगी। इस प्रकारका सिद्धान्त सर्वथा भ्रमयुक्त है । प्रथमतः पूर्व कर्मानुसार देवता तथा पितरोंकी सहायता द्वारा किस प्रकारसे जीवको आगेका शरीर मिलता है इस रहस्यको जाननेपर कोई ऐसा नहीं कह सकता कि पूर्वकर्मके साथ जातिका कोई सम्बन्ध नहीं है । द्वितीयतः मनुस्मृतिका उपनयन आदिके विषयमें जो प्रमाण दिया गया है उससे भी जन्मसे जाति स्पष्ट सिद्ध होती है । अतः एकाएक इस प्रकार कल्पना कर डालना ठीक नहीं है। इस जन्मके कर्मानुसार जातिका विचार करना कितना भ्रमात्मक है सो साधारण विचारके द्वारा ही मालूम हो सकता है। शुभाशुभ संस्कारानुसार इस जन्ममें जीव किस किस तरहसे कार्य करता है इस विषयमे महाभारतके शान्ति पर्वमें लिखा है—

> बालो युवा च वृद्धश्च यत्करोति शुभाशुभम् ।
> तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं प्रतिपद्यते ॥

पूर्वजन्ममें बाल्य, यौवन या वार्द्धक्य जिस जिस अवस्थामें जीव जो जो शुभाशुभ कर्म संस्कार सग्रह करता है, आगेके जन्ममें ठीक उस उस अवस्थामे उन उन संस्कारोंका भोग होता है । इस शास्त्रोक्त सिद्धान्तके अनुसार कुछ भी निर्णय नहीं किया जा सकता कि किसके जीवनमें किस समय कैसे कर्मका उदय होगा; क्योंकि जीवोंके प्राक्तन संस्कार प्रायः तीनो गुणोंके मिले जुले होते है; अर्थात् बाल्य, यौवन, वार्द्धक्यके बीचमे संग संस्कार आदिके वश होकर जीव नाना प्रकारके सात्त्विक, राजसिक, तामसिक, तीन गुणके कर्म करते हैं और उन उन अवस्थाओंमें उनके संस्कार फलोन्मुख भी होते हैं । पूर्वजन्मके बालकपनमें किये हुए सदसत् कर्मोंका फलभोग आगे जन्ममें बाल्यावस्थामें ही होता है, यौवनकालमें किये हुए सदसत् कर्मोंका फलभोग यौवनावस्थामें ही होता है इत्यादि । अतः इस बातको कोई नहीं कह सकता है कि मनुष्यके

जीवनमें किस समय कैसे कर्मका उदय होगा । संसारमें भी देखा जाता है कि घोर पाप कर्म करनेवाले भी अचानक परम महात्मा बन जाते हैं और सदाचारी महाशय व्यक्तिका भी पतन हो जाता है। अतः यदि इसी जन्मके कर्मानुसार वर्णव्यवस्था करनी हो तो एक ही मनुष्यके एक ही जीवनमें कई प्रकारके वर्ण बन सकते हैं, यथा—कोई ब्राह्मण देशकालके प्रभावसे ब्राह्मणवृत्तिके न चलनेके कारण यदि वाणिज्यादि कार्यमें लग जाय तो वह वैश्य हो जायगा, फौजमें भरती होनेपर क्षत्रिय हो जायगा, पुनः किसीकी नौकरी कर लेनेपर शूद्र हो जायगा इत्यादि इत्यादि। इस प्रकारसे एक ही घरमें कितने प्रकारके वर्ण बन जायेंगे इसका क्या ठिकाना है ? इसमें पिताके वर्णके साथ पुत्रके वर्णकी एकता अनेक समयपर नहीं हो सकेगी । क्योंकि दुकानदार अर्थात् वैश्य वर्णके पिताका पुत्र पढ लिखकर ब्राह्मण बन सकता है। एक पितासे उत्पन्न सहोदर भाइयोंमें भी कई प्रकारके वर्ण बन सकते हैं। स्त्री पुरुषके तथा माता पुत्रके वर्णमें भी प्रभेद हो सकता है । अतः इस दशामें घरकी कैसी व्यवस्था होगी और वैश्य पिताका ब्राह्मण पुत्र पितृ-मातृ-भक्ति किस प्रकारसे करेगा इन सब बातोंपर चिन्ता तथा विचार करनेसे इस जन्मके कर्मानुसार वर्णधर्मनिर्णयकी कल्पना सपूर्ण भ्रमयुक्त प्रमाणित हो जायगी । अतः केवल इस जन्मके कर्मानुसार वर्णधर्म मानना अशास्त्रीय, अदूरदर्शितापूर्ण तथा भ्रमात्मक है।

वर्णधर्म आर्यजातिका प्राणस्वरूप है। इसके बिना आर्यजातिका संसारमें कदापि अस्तित्व नहीं रह सकता है। आर्यजातिके ऊपर हजारों वर्षोंसे विजातीय अत्याचार तथा आक्रमण होनेपर भी आजतक जो यह जाति जीवित है इसका भी मूलकारण वर्णधर्म ही है। अतः ऊपरी दृष्टिसे देखकर इसके प्रति उपेक्षा न करके, धीर होकर सूक्ष्मदृष्टि द्वारा वर्णधर्मकी महिमा तथा उपकारिताका तत्त्वान्वेषण करना चाहिये। तभी आर्यजातिका कल्याण होगा । नीचे संक्षेपसे वर्णधर्मकी उपकारिता तथा आवश्यकताके विषयमें कुछ विचार किया जाता है।

मनुष्यके शरीरमें जितने अङ्ग हैं, प्रत्येक अङ्गोंके साथ विचार करनेपर उन सभीको चार भागोंमें विभक्त कर सकते हैं । यथा—मुखमण्डल या मस्तक, हस्त, ऊरुदेश या उदर और चरण । मनुष्यशरीरकी रक्षाके लिये जिन जिन वस्तुओंकी आवश्यकता होती है वे सब इन चारोंके द्वारा ही संगृहीत हुआ

करती है। दिमाग सोचकर शरीररक्षाका उपाय निर्णय करता है। हस्त उसका सग्रह तथा उसकी बाधाओंको दूर करता है, उदर संगृहीत वस्तुओंको पकाकर मस्तक, हस्त, पद सर्वत्र शक्ति पहुंचाता है और चरण सेवकरूपसे सारे शरीरको वस्तु संग्रहमें सहायता करता है। अतः सम्पूर्ण शरीरकी रक्षाके लिये इन चारों अङ्गोंकी विशेष आवश्यकता है। इनमेंसे एक अङ्ग दूसरे अंगका कार्य कदापि नहीं कर सकता है, यथा—मस्तकका जो चिन्ता करना-रूप कार्य है वह हस्त, उदर या चरण किसीके द्वारा भी नहीं हो सकता है, और मस्तक भी हस्त, चरण आदिका कार्य नहीं कर सकता है। उदरका कार्य उदर ही कर सकता है, अन्य किसी अंगके द्वारा वह कार्य नहीं हो सकता है। इसलिये अपने अपने कार्यके विचारसे चारों ही अङ्ग आदर करने योग्य है और चारोंकी परस्पर प्रीति तथा समवेत सहायताके द्वारा ही सम्पूर्ण शरीरकी सुरक्षा और स्वास्थ्यरक्षा होती है। जिस प्रकार व्यष्टि शरीरकी रक्षाके लिये ऊपर लिखित चार अंग हैं, ठीक उसी प्रकार समष्टि शरीररूपी समाजकी रक्षाके लिये चार वर्ण चार अंगरूप हैं। ब्राह्मण हिन्दुसमाजके विराट् शरीरका मुखरूप या मस्तकरूप है, क्षत्रिय उसकी भुजा है, वैश्य उदर है और शूद्र चरण है। सभी विराट् पुरुषके अंग हैं और समाजकी रक्षाके लिये सभीकी परम आवश्यकता है। इसीलिये श्रुतिमें चार वर्णोंकी उत्पत्ति विराट् पुरुषके चार अंगोंसे बताई गई है, यथाः—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

(यजु० अ० ३१ म० ११)

ब्राह्मण विराट् पुरुषका मुख है, क्षत्रिय बाहु है, वैश्य उरु है और शूद्र चरण है। इन चारोंकी शक्तियाँ परस्परकी सहायिका बनकर कार्य करे और अपने अपने कार्य्यमें अधिकारानुसार तत्पर रहे तभी समाजमे शान्ति रह सकती है। इसीलिये महर्षियोंने इन चारो वर्णोंकी स्थूल सूक्ष्म तथा कारण शरीरकी प्रकृति प्रवृत्ति तथा अधिकारको देखकर चारोंके लिये पृथक् पृथक् कर्त्तव्य निर्देश कर दिये है, यथा श्रीमद्भगवद्गीतामें—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
शौर्य्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

(१८ अध्याय)

पूर्वकर्मानुसार स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारोंके कर्म निर्देश किये गये हैं। ब्राह्मणोंका स्वाभाविक कर्म शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्यमूलक है। क्षत्रियोंका स्वाभाविक कर्म वीरता, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्धमेसे न भागना, दान और ईश्वरभाव मूलक है। वैश्यौका स्वाभाविक कर्म कृषिकार्य, गोरक्षा और वाणिज्यमूलक है। शूद्रोंका स्वाभाविक कार्य सेवामूलक है। आर्यशास्त्रका सिद्धान्त है कि चतुर्वर्णमेंसे शूद्रकी प्रकृति कामप्रधान, वैश्यकी अर्थप्रधान, क्षत्रियकी धर्मप्रधान और ब्राह्मणकी मोक्षप्रधान होती है। आजकल नाना कारणोंसे स्वभावका विपर्यय हो जानेके कारण चार वर्णोंमे प्रकृतिके अनुकूल कर्त्तव्यपालन अनेक स्थानमें नहीं देखा जाता है। उसमे वर्णधर्मका कोई दोष नहीं है, परन्तु धर्मोंके कर्मविपर्यय तथा जन्म विपर्ययका ही दोष है। वर्णधर्मकी व्यवस्था सम्पूर्णरूपसे प्राकृतिक है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

प्रत्येक समाजकी शान्तिमर्या स्थितिके लिये सदा ही चार वस्तुओंकी अपेक्षा रहती है। (१) जातिको आत्माकी ओर उन्नत करनेके लिये ज्ञान तथा उच्चचिन्ता। (२) विदेशीय अत्याचारसे बचानेके लिये तथा भीतरी शान्तिरक्षाके लिये स्थूल बल तथा शासन शक्ति। (३) स्थूल कलेवरकी रक्षाके लिये अन्न तथा अर्थसंग्रह। (४) स्थूल आरामके लिये नाना प्रकारकी सेवा। इस प्रकार श्रमविभाग (Division of labour) के साथ जो समाज या जाति अग्रसर होती है तथा प्रकृति प्रवृत्तिके अनुसार चार प्रकारके मनुष्य इन चारों कर्मोंमें नियुक्त किये जाते हैं उस समाज तथा जातिमें कदापि कोई अवनति या विप्लवकी सम्भावना नहीं होती है और धीरे धीरे ऐसा समाज

अवश्य ही उन्नतिकी ओर अग्रसर होता है। महर्षियोंने इन चार वस्तुओंकी आवश्यकताको देखकर प्रकृति प्रवृत्तिके अनुसार आर्यजातिमें चार वर्णोंका कर्त्तव्यनिर्द्देश किया था। शूद्रमें तमोगुण अधिक है। तमोगुणयुक्त बुद्धिका लक्षण यह है कि अधर्ममें धर्म समझे तथा धर्ममें अधर्म समझे। जहां ऐसी विपरीत बुद्धि हो वहां स्वाधीनरूपसे कार्य करने पर प्रमाद अनर्थ आदि अवश्य ही उत्पन्न होंगे। इस कारण शूद्र वर्णके लिये महर्षियोंने यह आज्ञा की है कि वह स्वतन्त्र कार्य न करके त्रिवर्णके आज्ञानुसार उनकी सेवारूपसे कर्त्तव्य पालन करें। इस प्रकारसे कर्त्तव्य पालन करनेपर शूद्र शीघ्र ही जन्मान्तरमें वैश्ययोनि प्राप्त होंगे। वैश्ययोनिमें रजोगुण तथा तमोगुण दोनोंका आधिक्य है। रजोगुणका आधिक्य होनेसे धनलालसा वैश्यमें होना स्वाभाविक है। इसलिये उस धन लालसाके द्वारा जिससे अधोगति न हो इस कारण वैश्य जातिको गोरक्षा, चार वर्णोंका पालन आदि सत्कर्ममें उस धनको उपयोग करनेकी आज्ञा की गई जिससे धनके द्वारा कामका पोषण न होकर धर्मसेवा द्वारा वैश्यजाति उन्नत योनियोंको लाभ कर सके। वैश्यजाति इस प्रकारसे स्ववर्णोचित कर्त्तव्य पालन द्वारा अवश्य ही शीघ्र क्षत्रिय वर्ण प्राप्त करेगी। क्षत्रियवर्ण में रजोगुण सत्त्वगुणका प्राधान्य है। रजोगुणका प्राधान्य होनेसे राजशक्तिका उदय होना क्षत्रिय में स्वाभाविक है। किन्तु वह राजशक्ति धर्मानुकूल न चलनेपर प्रजा पीड़न, अन्यजाति तथा राज्यपर अत्याचार आदि अनर्थ उत्पन्न कर सकती है। इसलिये सत्त्वगुणके साथ मिलकर तदनुसार क्षत्रिय वर्णको धर्मानुकूल राज्य पालनकी, ब्राह्मण वर्णकी रक्षाकी तथा विजातीय अधार्मिक अत्याचारसे राज्यरक्षाकी आज्ञा की गई है। क्षत्रियवर्ण यदि इस प्रकारसे स्वधर्मानुष्ठान करे तो शीघ्र ही ब्राह्मण योनिमें उसका जन्म होगा। ब्राह्मणयोनि सत्त्वगुणप्रधान है। इसलिये तपस्या, साधना, जितेन्द्रियता, संयम, आत्मानुसंधान, आत्मज्ञानलाभ—ये ही सब ब्राह्मण वर्णके स्वाभाविक कर्त्तव्य है। ब्राह्मण जाति अन्य तीन वर्णोंको ज्ञानधनसे धनी करेगी, अन्य वर्ण इसकी सेवा ग्रासाच्छादन तथा रक्षा द्वारा इसको पुष्ट करेंगे यही ब्राह्मणोंके साथ त्रिवर्णका कर्त्तव्यविनिमय है। इस प्रकारसे चार वर्ण परस्पर सहायता द्वारा समाज रक्षाके लिये श्रमविभाग कर लेनेपर तथा अपनी अपनी प्रकृति-प्रवृत्तिके अनुसार स्वधर्मानुष्ठान करनेपर समाजमें अवश्य

ही विद्रोहका अभाव, अनधिकार चर्चाका अभाव और चिरशान्ति तथा आध्यात्मिक उन्नतिकी प्राप्ति हो सकती है।

पूज्यपाद महर्षियोने इस प्रकारसे चार वर्णोंमें श्रमविभागकी विधि बताकर खानदान या रोटीबेटीके साथ भी वर्णधर्मका सम्बन्ध बताया है, क्योंकि अच्छी हो या बुरी हो खानदानी वस्तु बहुकालस्थायी होती है। खानदानी रोग उपदंश, उन्माद, यक्ष्मा आदि प्रपितामह, पितामह, पिता, पुत्र, पौत्रादि क्रमसे कितने ही वंश तक लगे रहते हैं। खानदानी क्षत्रिय वीर क्षत्रिय होते है, खानदानी वैश्य व्यापारमें बड़े निपुण होते हैं। खानदानी गाने बजानेवाले गीत वाद्यकलामें बडे कुशल होते हैं। इतना तक कि खानदानी सोनार लोहार आदि भी अपने अपने काममें पूरे योग्य होते हैं। इस लिये खानदान उपेक्षाके योग्य वस्तु नहीं है। खानदानके साथ जातिगत विशेष भावका सम्बन्ध होता है जिसकी खास विद्युत्शक्ति खूनके द्वारा वंशपरम्परा क्रमसे बहुत दूर तक अपनी जातिमें चली जाती है। खूनका सम्बन्ध रोटी बेटीसे है। इस कारण खानदान ठीक रखनेके लिये वर्णधर्मके साथ रोटीबेटीका सम्बन्ध ठीक रखना अत्यावश्यकीय है। नही तो किसी वर्णमें भी पूर्ण योग्यताके मनुष्य उत्पन्न नहीं हो सकते। दृष्टान्तपर ध्यान देनेसे यह रहस्य अच्छी तरहसे समझमें आ जायगा। एक खानदानी वैश्य है जिसके खूनमें रगरेशेमे बुद्धिमें धन कमाना और अर्थोपार्जनकी विद्युत् शक्ति भरी हुई है। एक ब्राह्मण है, जिसका धर्म यह है कि धनको कुछ न समझकर उसे त्यागे और तपस्याको तथा अध्यात्मज्ञानको ही धन समझकर उसे कमावे। अब इन दोनोंमें यदि रोटी बेटीका सम्बन्ध होगा तो इस सम्बन्धसे उत्पन्न सन्तानकी कैसी प्रकृति होगी? क्योंकि धन कमानेवाली वैश्यप्रकृति और धन छोड़नेवाली ब्राह्मणप्रकृति दोनोंके मेलसे जो खिचड़ीसी प्रकृति उत्पन्न होगी उसमें न धन छोडना ही पूरा आवेगा और न धन कमाना ही पूरा आवेगा। अर्थात् इस प्रकार वर्णसङ्कर सन्तान न पूरी ब्राह्मण ही बनेगी और न पूरी वैश्य ही बनेगी। इसी प्रकार सहनशीलता, तितिक्षा आदि ब्राह्मणका धर्म है, किन्तु अपमानका बदला लेना क्षत्रियका धर्म है। अब इन दोनो वर्णोंके विवाह सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न सन्तानमें कौन प्रकृति उत्पन्न होगी? ऐसी सन्तान क्षत्रियवीरकी तरह न तो लडनेवाली ही बनेगी और न ब्राह्मणकी तरह सहनशील तपस्वी ही

बनेगी। फलतः इस प्रकार चार वर्णोंमें रोटी बेटीके सम्बन्ध द्वारा कोई भी वर्ण ठीक नहीं रह सकेगा और ऐसा चलते चलते सौ दो सौ वर्षोंमें चारों वर्णोंका नाश होकर जाति ही नष्ट हो जायगी। यही कारण है कि पूज्यपाद दूरदर्शी महर्षियोंने आर्यजातिको वर्णसङ्करता दोषसे बचाया है और चार वर्णोंको आपसमें भोजन तथा विवाह सम्बन्ध करनेको मना किया है। श्रीभगवान् मनुजीने भी 'सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि' इत्यादि तृतीयाध्यायके वचनोंके द्वारा अपने वर्णमें विवाहादिको ही उत्तम तथा वर्णसंकरकारी असवर्ण विवाहको अधम कहा है। अथर्ववेदमें भी 'ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः' (५-१७ ६) इत्यादि मन्त्रोंके द्वारा ब्राह्मण स्त्रीका ब्राह्मण ही पति होना चाहिये, इस प्रकार कहकर सवर्ण विवाहकी ही पुष्टि की गई है।

इस प्रकारसे गंभीर विज्ञानयुक्त वर्णधर्मकी यदि रक्षा न हो तो संसारमें क्या अनर्थ उत्पन्न होता है इसके विषयमें भी आर्यशास्त्रमें अनेक विचार किये गये हैं। महावीर अर्जुन, कौरवोंका असह्य अत्याचार सहन करते हुए भी क्यों युद्धसे डरते थे इसके विषयमें कहा गया है। उनको प्रधान भय यही था कि युद्धमें पुरुषोंके मर जानेपर स्त्रियोंमें अधर्म फैल जायगा और इससे वर्णधर्मका नाश होकर वर्णसङ्कर प्रजाकी उत्पत्ति हो जायगी। वर्णसङ्कर प्रजाकी उत्पत्तिसे कुलनाश, जातिनाश, नरक प्राप्ति तथा पितृपुरुषोंका पिण्डलोप हो जायगा। महावीर अर्जुनकी यह आशंका अशास्त्रीय नहीं है। क्योंकि श्रीभगवान् मनु महाराजने स्पष्ट कहा है—

यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ (१०-६१)

वर्णधर्मके नाशसे वर्णसङ्कर प्रजा जिस राज्यमें उत्पन्न होती है, वहां कुछ दिनोंमें ही प्रजा तथा राज्य दोनोंका ही नाश हो जाता है। केवल मनुष्य राज्यमें ही नहीं अपितु पशुराज्यमें भी देखा जाता है कि वर्णसङ्कर पशुका वंश नहीं चलता है। गधा तमोगुणी और घोड़ा सत्त्वगुणी है। इन दोनोंका वंश कभी नष्ट नहीं होता, किन्तु इन दोनोंके सम्बन्धसे जो खच्चर (अश्वतर) की जाति बनाई जाती है उसका वंश कदापि नहीं चलता है। इस प्रकार अन्यान्य पशुपक्षी तथा वृक्ष तकमें भी देखा जाता है कि वर्णसङ्कर सृष्टिको प्रकृति स्वयं ही आगे चलनेसे रोक देती है। इसका कारण यह है कि प्रकृतिके

स्वाभाविक तीन गुणोंके अनुसार चार वर्ण हो सकते है और प्रकृतिकी समस्त शक्ति प्राकृतिकरूपसे इन तीनों गुणोंके द्वारा चार वर्णोंकी चार धाराओंमे ही बॅटी हुई है। अतः इन चार धाराओंमेसे किसी भी धारामे जीव यह चले तो प्रकृतिमाता निजशक्ति द्वारा उसे उन्नत करती हुई ब्रह्मतक पहुचा सकती है। परन्तु इन चारोके बीचमें यदि कोई अप्राकृतिक पांचवी धारा जबरदस्ती बनाई जाय तो उसे आगे बढ़ानेके लिये चारो धारोमें बॅटी हुई प्रकृतिकी चार शक्तियोके सिवाय और कोई पांचवी शक्ति है ही नहीं। यही कारण है कि वह अप्राकृतिक वर्णसङ्करी पांचवी धारा आगे नही चलती और चारोंके ही बीचमें लय हो जाती है। अत. विचारके द्वारा देखा गया कि मनुजीके कथनानुसार वर्णसङ्कर प्रजाकी उत्पत्ति होनेपर राज्यनाश तथा प्रजा-नाश हो जाता है। प्रत्यक्षरूपसे देखा भी जाता है कि उच्चकुलोंमें वर्णसङ्कर वंशका नाश हो जाता है। पितृगण ऐसे पापमय अप्राकृतिक वंशोंको चलने नही देते। एक आध पुरुषके बाद ही वैसे वंश नष्ट हो जाते है। इसलिये किसी जातिके चिरजीवनके लिये वर्णधर्मका पालन होना एकान्त आवश्यक है। संसारमें शत शत जातियोंके नाश होने पर भी आर्यजाति केवल वर्णधर्मके कारण ही इस दीन हीन दशामें भी जीवित है और जबतक इसका वर्णधर्म अटूट रहेगा तबतक सहस्र चेष्टा करनेपर भी कोई इसको नष्ट नही कर सकेगा। वर्णसङ्कर प्रजोत्पत्तिके द्वारा पितरोंका श्राद्ध नही होता है यह भी विषय पूर्णरूपसे विज्ञानमूलक है। क्योंकि मृत पितरोंके आत्माके साथ श्राद्धमें श्राद्धकर्त्ता पुत्रके आत्मा तथा मनका सम्बन्ध होता है और इसीसे पितृगण श्राद्धस्थानमें आकर श्राद्ध ग्रहण करते है। यह कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है जब सन्तानका अन्तःकरण पिता माताके अन्तःकरणसे ठीक मिला हुआ हो किन्तु वर्णसङ्कर प्रजामें ऐसा हो नहीं सकता है। क्योंकि उसमे पिता एक वर्णका तथा माता अन्य वर्णकी होनेसे उन दोनोंके विलोम सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न सन्तानका मन न पितासे ही ठीक मिल सकता और न मातासे ही ठीक मिल सकता है। अतः उसके किये हुए श्राद्धसे पितरोंकी तृप्ति, प्रेत-योनिसे उनकी मुक्ति न होकर उनका पतन होता है। यही वैज्ञानिक सत्यता-युक्त भय अर्जुनको था और यही सकल शास्त्रोंमें वर्णित किया गया है। पितरोंकी असम्वर्द्धनासे देशमे स्वास्थ्यभग, दुर्भिक्ष, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि नाना प्रकारके दुर्दैव उत्पन्न होकर देश रसातलको जाता है।

अतः सकल विचार तथा प्रमाणों द्वारा यही सिद्ध हुआ कि इहलोकमें सुख-शान्ति, चिरजीवन, सकल प्रकारकी उन्नति, परलोकमें देवताओंसे सम्बन्ध, पितरोंकी सम्वर्द्धना तथा आध्यात्मिक उन्नति द्वारा ब्रह्मराज्यमे अग्रसर होनेके लिये वर्णधर्मका अस्तित्व और परिपालन आर्यजातिके लिये सदा सर्वथा कर्त्तव्य है ।

अब यह शका हो सकती है कि देशकी वर्त्तमान दुर्गति के समय इस प्रकार भेदभावके द्वारा एकता और हिन्दू जातिकी उन्नति कैसे हो सकेगी ? इस प्रकारकी शंकाओंका समाधान महर्षियोंने स्मृति शास्त्रमे अच्छे प्रकारसे कर दिया है। प्रथम तो व्यक्तिगत कर्मके साथ जातीय उन्नति अवनतिका सम्बन्ध मिलाना ही युक्तियुक्त नही है क्योंकि पूर्वलिखित योगदर्शनके सूत्रके अनुसार जाति जब पूर्व जन्मके कर्मानुसारही मिलती है तो जिसका जैसा कर्म था उसकी जाति भी ऐसी ही बनी है और उसीके अनुसार खान पान आदिकी व्यवस्था भी रहनी चाहिये । इसलिये जबतक सब वर्ण तथा अछूत जाति एक साथ खानपान या विवाह सम्बन्ध न करेंगे तबतक देशका उद्धार न होगा ऐसी कल्पना करनेसे देशका उद्धार तो कभी भी नही हो सकेगा । क्योंकि सत्त्व रज तम इन तीन गुणोंमें ही जब वैषम्य है और उसीके परिणामसे जब जातियां बनती हैं तो सब वर्ण या जाति एक तो कभी नही हो सकती है। एक पिताके अनेक प्रकार प्रारब्धवाले कई एक पुत्र होते हैं। कोई मैजिष्ट्रेट होता है, कोई सामान्य क्लर्क ही रहता है। इसमें यदि यह कहा जाय कि मैजिष्ट्रेट और क्लर्क दोनोंकी तनखा तथा इज्जत जबतक बराबर न होगी तब तक पिताकी सेवा दोनों मिलकर नही कर सकेंगे तो पिताकी सेवा कभी नही हो सकेगी । अतः प्राकृत व्यक्तिगत कर्मके साथ जातिगत समष्टि कर्मका मेल कभी नही करना चाहिये। अच्छे बुरे उच्च नीच सभी एक भारत माताकी सन्तानें हैं, इस कारण व्यक्तिगत भावसे पृथकता रहनेपर भी जाति भाई रूपसे सब मिलकर मातृ भूमिकी सेवा कर सकते हैं और करना चाहिये। वर्णाश्रमकी मर्यादा रखते हुए इसी प्रकारसे एकता तथा देश सेवा हो सकती है और होनी चाहिये। इसके सिवाय आपत्कालके विचारसे तथा विशेष विशेष काल विचारसे शास्त्रमें उदारता भी बहुत कुछ की गई है जिसका विचार आगे किया जायगा।

अब इन सब विषयों पर पश्चिमी विद्वानोंकी सम्मति बताई जाती है—

Mr. Sidney Low in his recent book, A VISION OF

INDIA, says —"There is no doubt that it is the main cause of the fundamental stability and contentment by which Indian Society has been braced for centuries against the shocks of politics and the cataclysms of Nature. It provides every man with his place, his career, his occupation, his circle of friends It makes him, at the outset, a member of a corporate body, it protects him through life from the canker of social jealousy and unfulfilled aspirations, it ensures him companionship and a sense of community with others in like case with himself The caste organisation is to the Hindu his club, his trade union, his benefit society, his philanthropic society. There are no work-houses in India and none are as yet needed The obligation to provide for kinsfolk and friends in distress is universally acknowledged, nor can it be questioned that this is due to the recognition of the strength of family ties and of the bonds created by associations and common pursuits which is fostered by the caste principle An India without caste, as things stand at present, it is not quite easy to imagine "

"The system of caste", says Sir Henry Cotton, "far from being the source of all 'troubles which can be traced in Hindu society, has rendered most important service in the past, and still continues to sustain order and solidarity."

"Caste in India cannot be either abolished or extinguished The system will last for untold centuries, because it suits India on the whole Hindu Society without caste is inconceivable Reformers must be content to make the best of a system which cannot be destroyed......The deep waters

of Hinduism are not easily stirred. Ripples on the surface have the depths unmoved"

(V A Smith)

सिड्ने साहब अपने ग्रन्थमें कहते हैं कि अनेक आघात लगने पर भी हिन्दुजाति जो सहस्रों वर्षोंसे जीवित है और उनकी जातीय भित्ति मजबूत तथा उनमे शान्ति है इसका एकमात्र कारण वर्णव्यवस्था ही है। इसके द्वारा प्रारम्भसे ही प्रत्येक व्यक्तिकी सामाजिक स्थिति और सामाजिक जीवनकी सीमा निर्दिष्ट हो जाती है, जिससे पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष या अपूर्ण आशा-जनित दुःखका उदय समाजमें नहीं हो पाता है। भारतमें वर्णहीन हिन्दुजातिका अस्तित्व कल्पनामें नहीं आ सकता। इत्यादि। सर हेनरी काटन साहब कहते हैं—यह बात मिथ्या है कि वर्णव्यवस्थाके द्वारा हिन्दुसामाजिक जीवनमें अनेक दुःखोंका उदय हुआ है, बल्कि प्राचीन समयमें इसने जातिकी बड़ी सेवा की है और अब भी इसीके द्वारा सामाजिक जीवनमे श्रृङ्खला तथा संगठन बना हुआ है। भी. ए. स्मिथ साहब कहते हैं—"भारतवर्षमें वर्णधर्मका नाश नहीं हो सकता और न यह उठा ही दिया जा सकता है। वर्णधर्म भारतवर्षमें अनन्तकाल तक रहेगा, क्योंकि यह भारतीय प्रकृतिके अनुकूल है। वर्णविहीन हिन्दुसमाज कल्पनामे नहीं आता। जब यह नष्ट नहीं हो सकता तो सुधारवादियोंको इस व्यर्थ प्रयत्नमे न पड़कर इससे जो कुछ फायदा होसके उसीका उपाय करना चाहिये। हिन्दुसमाजसिन्धुका गम्भीर तलदेश शीघ्र चञ्चल नहीं होता है, ऊपरकी लहरोंका प्रभाव नीचेतक नहीं पहुंचता है।"

खानदानके साथ वर्णके सम्बन्धको भी बहुतसे पश्चिमी विद्वानोंने अनुसन्धान कर जान लिया है, यथा—

The whole history of man as well as that of the organic world is simply the history of the evolution of new faculties one after the other. (p 308. Cosmic Consciousness.)

In the self-conscious human being as we know him today, we have the psychic germ of not one higher race only, but of several. (Ibid.)

We are all an omnibus on which our ancestors ride The good and the bad traits of character inherited and developed by each person are shown in the face and head, these may be modified by changing the habits of thought and life.

(Dr Oliver Wendell Holmes - Kalpaka 1-23)

The law of heredity is far more important for the preservation of race character and its promotion in the possession of the race than that of variation simply

(W Cecil Dampeer Weithem)

Every person embodies in his character and organism traits and resemblances derived from long generation of ancestors, and every seventh year we have the power to transmit these traits to offsprings

(Artic Mae Blackburn—Kalpaka)

All our ancestral doings are represented in our being and do in a real sense constitute in us a deeper and vaster order of consciousness than our own individual consciousness

(Ed Carpenter)

बर्के साहब अपने ग्रन्थमें कहते हैं—मनुष्य जाति तथा व्यवस्थित विश्वका यही इतिहास है कि इसमें परम्परासे नवीन गुणोंका विकाश हुआ करता है और इन सब गुणोंके संस्कार केवल एक पितृपुरुषसे नहीं, किन्तु कई एक पितृपुरुषसे प्राप्त होते हैं। डाक्टर अलिभर वेन्डेल साहब कहते हैं—गुणविकाशमें हम सब अपने पितरोंके वाहनरूप हैं। पूर्वजोंसे प्राप्त अच्छे या बुरे गुणोंके अनुसार मुख और सिरकी आकृति बनती है। जीवन और चिन्ताके प्रकारको बदलनेसे इनमें भी परिवर्त्तन हो सकता है। सेसिल डेम्पियर विथेम साहबका कहना है कि—जातीय प्रकृति और जातीय चरित्रकी रक्षा तथा समुन्नतिके लिये वंशपरम्पराकी विशेषतया आवश्यकता होती है। केवल व्यक्तिगत अभ्यास बदलने-

से उतनी सफलता नहीं हो सकती है। आर्हि मी ब्लाकवर्न साहब कहते हैं—प्रत्येक मनुष्यके अवयव तथा स्वभावमें ऐसे अनेक गुण मिलते हैं जो जन्मजन्मान्तरके पितृपुरुषोंके द्वारा उसे प्राप्त हुए हैं। प्रत्येक सप्तम वर्षमें वह स्वयं भी अपनी सन्तानोंमें उन गुणोंका समावेश कर सकता है। कारपेन्टर साहबकी उक्ति है कि—हमारे जीवनमें अपने पूर्वजोंके गुणकर्म स्वभाव विशेषरूपसे प्रकाशित होते हैं। ज्ञानशक्तिकी स्फूर्तिमें अपने व्यक्तिगत पुरुषार्थकी अपेक्षा पूर्वजोंसे प्राप्त गुणोंका ही अधिक प्रभाव रहता है।

वर्णव्यवस्थाको स्पष्ट माननेमें असमर्थ होने पर भी जीवजगत्‌में उन्नतिके क्रम चार ही होते हैं इस प्रकारकी चिन्ता कई एक प्रसिद्ध पश्चिमी विद्वानोंने की है, यथा—

Science has divided the human race into those branches, known as the deer, peasant and hunting types. To one of these categories every person belongs irrespective of race, colour, climatic conditions or environment. The peasant and hunting types are hard materialists who set goal for themselves and attain it by sheer hard work. The deer type comprises intellectual dreamers, poets and artists. The hunting type is lively and versatile He or she has a sharp look and as a general rule an arched nose

(Prof Heinrich Hartwein—German Scientist.)

जर्मनदेशके वैज्ञानिक प्रोफेसर हिनरिच हारट्‌ईन साहबका कथन है कि सायन्सने मनुष्यजातिको तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया है। यथा—मृगश्रेणि, कृषक श्रेणि और शिकारी श्रेणि। इन्हीं तीन श्रेणियोंमें संसारके समस्त मनुष्य विभक्त किये जा सकते हैं। कृषक श्रेणिके लोग स्थूल परिश्रमके द्वारा उन्नत होते हैं। शिकारी श्रेणिवाले भी स्थूलशरीरसे पुष्ट होते हैं किन्तु उनकी प्रतिभा विशेष होती है। वे तीक्ष्ण नेत्र, तथा उत्तम नाकवाले होते हैं। मृगश्रेणिके मनुष्य बुद्धिजीवी, विद्वान्, कवि और सूक्ष्मकलाप्रवीण होते हैं। इस प्रकारसे हिनरिच साहबने तीन विभाग करके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णोंका ही आभास बताया है।

इसी प्रकार अगस्ट कोम्टे साहबने भी मनुष्यजातिको याजक, शासक और वणिक इन तीन विभागोंमे विभक्त कर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णके धर्मका ही आभास दिया है। वैज्ञानिक बके साहबने तीनसे आगे बढ़ कर मनुष्यजातिको चार श्रेणियोंमें विभक्त किया है, यथा—

Thus we have four distinct stages of intellect all abundantly illustrated in the animal and human worlds about us-all equally illustrated in the individual growth of the cosmic conscious mind and all four existing together in that mind as the first three exist together in the human mind,-the mind made up of precepts or sense-impressions, second, the mind made up of these and recepts-the so-called receptual mind or in other words, the mind of simple conciousness third, we have the mind made up of precepts, recepts and concepts, called sometimes the conceptional mind-or otherwise the self-conscious mind-the mind of self-consciousness, and fourth and last, we have the intuitional mind-the mind whose highest element is not a recept or a concept, but an intuition This is the mind in which sensation, simple consciousness and self-consciousness are supplemented and crowned with cosmic consciousness

(Bucke's Cosmic Consciousness, p 13)

बके साहबके चार विभागके अनुसार अन्तःकरणका क्रमविकाश है। प्रथम दशामें अन्तःकरण केवल इन्द्रिय सम्बन्धी संस्कारोंको प्रकट करता है। द्वितीय दशामें उसमें इन्द्रियके ऊपरकी अवस्थाका साधारण ज्ञान प्रकट होता है। तृतीय दशामें आत्माका स्वरूपज्ञान प्रकट होता है और चतुर्थ दशामे आत्माका विशेष व्यापक ज्ञान प्रकट होता है। मनकी यह चार दशा क्रमशः शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्णके अनुकूल है।

अब इन चार विभागोंके न मानने पर क्या हानि है इस विषयमे पश्चिमीय विद्वानोंकी सम्मति बताई जाती है—

An eminent doctor by name, Leon Normet, a Director of the French Colonial Laboratory at Hue has been making elaborate experiments on human blood for the purpose of discovering a *serum* which may be manufactured to replace the transfusion of blood from one human body into another in cases of need

He found *four* different types of blood grouped as four separate varieties He stated that it was fatal to mix them wrongly in transfusion and that in selecting the donors of blood for transfusion, care must be taken that their groups should be ascertained beforehand. He definitely states that if blood is transfused to a patient from a donor of the wrong group, the two fluids, instead of blending, would clot and death would be instantaneous.

Elaborate arrangements are made in some hospitals in the continents where the donors of each type are listed and grouped separately to make adequate selections when cases arise; some instances have come in our view in this country also where such transfusion of wrong bloods has caused in some cases perpetual ailment, if not immediate death.

"फ्रान्सदेशीय औपनिवेशिक चिकित्सागारके डाईरेक्टर सुप्रसिद्ध डाक्टर लिओं नर्मेट साहब आजकल मनुष्यशरीरके रुधिरके विषयमें पूर्ण अनुसन्धान कर रहे हैं। उनका उद्देश्य यह है कि इन रुधिरोंमेंसे कोई जलीय पदार्थ निकाला जाय जिसके रक्तके बदले शरीरमें प्रवेश कराने पर रक्त प्रवेशका ही फल लाभ हो सके। इस अनुसन्धानमें उन्हें यह पता लग गया है कि सकल प्रकारके रक्त केवल चार प्रधान श्रेणियोंमें ही विभक्त किये जा सकते हैं और श्रेणीका विचार न रख कर यदि भिन्न श्रेणीके रक्त एकसाथ मिलाये जांय तो वे रक्त मिलते नहीं हैं, गांठ बँध जाते है और जिसके शरीरमें रक्त प्रवेश कराया जाता है उसकी तत्काल मृत्यु हो जाती है। इसलिये किस श्रेणीके रक्तके

साथ किस श्रेणीको मिलाना चाहिये इस विषयमे पश्चिम देशके बहुतसे अस्प-तालोंमे आजकल विशेष व्यवस्था की जाती है, क्योंकि इस देशमें भी ऐसी कई एक घटनाएं हो चुकी हैं जिसमें अनमेल खूनके जबरदस्ती मिलाने पर तात्का-लिक मृत्यु तो हुई नही, किन्तु सदाके लिये रोगी बीमार ही रह गया है।" वर्ण चार ही हो सकते हैं और वर्णसकरी सृष्टि चलती नही है, इस ऋषिवाक्यका यह अकाट्य प्रमाण है।

सन् १९२० से १९२६ तक एमेरिकाके Scientific American और इङ्गलैण्डके Science Siftings नामक दोनो पत्रोमे Dr. Ernest Albert Abrams, Professor of Eugenics, Chicago University (डाक्टर अर्नेष्ट अल्बर्ट अब्रामस्) के यन्त्रोके विषयमें अनेक प्रबन्ध प्रकाशित हुए थे। उनके प्रधान पांच यन्त्रोंके नाम Oscilloscope, Oscillophone, Oscillogram, Oscillograph और Oscillomitre हैं। इन सबके द्वारा विभिन्न श्रेणीकी रक्तपरीक्षा पूर्णरीतिसे हो सकती है और इसी कारण एमेरिकाकी अदालतोंमें मान्ययन्त्रोंमें इनकी गणना हो चुकी है। किसी प्रतिष्ठित पुरुषको नीचा दिखानेके लिये यदि कोई उसका शत्रु किसी नीच जातिकी स्त्रीको एक बच्चेके साथ अदालतमे पेश कर देता है तो इस यन्त्रके द्वारा रक्त परीक्षा कर यह बताया जासकता है कि इस पुरुषका यह बच्चा है कि नही इत्यादि। आजकल इन यन्त्रोंके द्वारा और विशेष कर इनमेंसे 'असीलोस्कोप' यन्त्रद्वारा वर्णव्यवस्थाके सिद्धान्त विषयमे बड़ा ही चमत्कार प्रकाशित हुआ है। इस यन्त्रमे घड़ीके पेण्डुलम्की तरह दो पेण्डुलम् होते हैं, जिनमे रक्तबिन्दुके रखने पर वे हिलते हुए परस्पर मिलने लगते हैं। इसमें यह स्पष्ट देखा गया है कि अतिदूर जातिके पुरुष और स्त्रीके खून यदि दो पेण्डुलम्में रख दिये जाय तो वे अतिवेगके साथ मिलते है, किन्तु इसमे आश्चर्य यह देखा गया है कि इस अतिवेगवान् मिलनेमे उन खूनोमे जो खराब मसाले होते हैं वे ही ऊपर प्रकट होते है, अच्छे मसाले नीचे छिप जाते हैं और इनका मेल भी एक ही बार होता है, पीछे दोनों पेण्डुलम् अलग अलग होकर पुनः मिलते ही नही। द्वितीयतः यह देखा गया है कि एक ही खानदानके स्त्रीपुरुषके खून यदि मिलाये जांय तो वे बडे धीरे धीरे मिलते हैं और एकही बार मिलते हैं। तृतीयतः यह देखा गया है कि समान खानदान भी नही और अति-

दूरवर्ती भिन्न जाति भी नहीं इस प्रकारके स्त्रीपुरुषके रक्त यदि दोनों पेण्डुलम् पर रख दिये जांय तो वे अति उत्तमताके साथ मिलते हैं और नियमितरूपसे बार बार मिलने लगते है। इन तीन परीक्षाओंके द्वारा निम्नलिखित तीन सिद्धान्त निर्विवाद प्रकट हो जाते हैं, यथा:—

(१) दूरवर्त्ती भिन्न जातीय विवाह द्वारा उत्पन्न वर्णसंकर प्रजामें पितामाताके दुर्गुण प्रकट होते है और वह सृष्टि आगे चलती नही। श्रीभगवान् मनुने भी यही कहा है—

अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता।
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम्॥
पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा।
न कथश्चन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति॥
कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद् योनिसंकरः।
संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु॥ १०।५८-५९-६०

वर्णसंकर प्रजामें विषयमलीन अनार्यभाव, निर्दयता, क्रूरता, जड़ता आदि दोष होते हैं। स्वभावतः सन्तानमे पिताके, माताके या दोनो ही के गुण प्रकट होते हैं, किन्तु वर्णसंकरमें ऐसा कभी नही होता है, उसमें वर्णसंकरी विरुद्ध प्रकृतिके अनुसार पिताके, माताके या दोनों ही के दुर्गुण प्रकट होते हैं। वर्णसंकर सन्तान अपने उत्पत्तिदोषको कभी छिपा नहीं सकती है। किसी उत्तम कुलमे भी यदि घटनाचक्रसे कोई वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होजाय तथापि वह प्रजा अपनी वर्णसंकरी दुर्वृत्तिको अर्थात् पितृदोषको थोड़ा बहुत प्रकट किये विना नहीं रहेगी।

(२) समान खानदान या एकही गोत्रमे विवाह होने पर सन्तान कमजोर और बुद्धिहीन होती है। इस प्रकारकी सृष्टि अधिक दिन चलती भी नहीं है। क्योंकि रक्तोंके उपकरणमें कुछ प्रभेद न रहने पर सृष्टिका वेग (motion) नहीं आ सकता है। महर्षि आपस्तम्बने कहा है:—

समानगोत्रप्रवरां समुद्वाह्योपगम्य च।
तस्यामुत्पाद्य चाण्डालं ब्राह्मण्यादेव हीयते॥

एकही गोत्र तथा प्रवरमें विवाह और सन्तान उत्पन्न करने पर सन्तान भी खराब होती है और पुरुषको भी अधोगति होती है।

(३) भिन्न गोत्र प्रवर किन्तु एकही वर्णमे विवाह होने पर सृष्टिकी धारा ठीक तौर पर चलती है। यथा मनुसंहितामे:—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥

जो कन्या माताकी सपिण्डा और पिताकी सगोत्रा नही है, विवाह और प्रजोत्पत्तिके लिये वही ठीक है।

इस प्रकारसे चार वर्णकी सत्यता और वर्णसङ्करकी निन्दाके विषयमे गवेषणापरायण पश्चिमी विद्वानौने भी बहुत कुछ चिन्ता कर ली है, जिससे पश्चिमी शिक्षाप्रिय स्त्री पुरुषोंको अवश्य ही लाभवान् होना चाहिये।

अब अन्तमे यही विषय विचार करने योग्य रह गया कि यदि तीन गुणौके अनुसार ही मनुष्यप्रकृति बनती है तो इससे विपरीत धर्म ब्राह्मणादि वर्णोंमे क्यों पाये जाते है। यह बात अवश्य सत्य है कि यदि ब्राह्मण अपने कर्मोपर प्रतिष्ठित रहते, अब्राह्मण, नीच या शूद्रकी तरह आचरण न करते तो कदापि इस प्रकार सन्देह नही होता और न जन्मके उड़ानेकी इच्छा ही किसीमें होती। मनुष्य कर्म्मोंसे भ्रष्ट हो गये है, कोई वर्ण अपने कर्म्मानुसार आचरण नही करते तभी "जन्मसे जातिका सम्बन्ध है" इस विषयमे इतना सन्देह उत्पन्न होगया है। प्राचीन कालमे जब चारों ही वर्ण अपने अपने कर्म्मौंपर प्रतिष्ठित थे तब इस प्रकारका सन्देह कभी नही उत्पन्न होता था। अब विचार करना चाहिये कि इस प्रकार चारो वर्णोंमे कर्म्मभ्रष्टता या विपरीतकर्म्मका कारण क्या है और विपरीत लक्षणोंके होनेसे वर्त्तमान देशकालमे वर्णव्यवस्थाका आदर्श किस प्रकारसे स्थिर रह सकता है।

आजकल जो इतर वर्णोंमे भी उच्च वर्णोके गुण कर्म्म स्वभाव पाये जाते है और ब्राह्मण आदि उच्च वर्ण भी बहुधा अपने अपने आचरणसे गिर गये है जिससे इतना गड़बड़ मच गया है, विचार करनेपर पता लग जायगा कि इसमे तीन कारण हैं। यथा—वर्णसङ्करता, आरूढ़पतन और मिश्रसंस्कार। आगे तीनोका विस्तृत वर्णन किया जाता है।

कलियुग तमःप्रधान है, पापका स्रोत प्रबल वेगसे वह रहा है, स्त्रियोमे शिक्षाके अभावसे या दोषोंसे तथा अन्य अनेक कारणोंसे पातिव्रत्य धर्मका ह्रास हो गया है, पुरुषोमें भी विषयबुद्धि बढ़नेसे परदारगमनप्रवृत्ति बहुधा देखनेमें आती है, इन सब कारणोसे वर्णसङ्कर प्रजा बहुत उत्पन्न हो गई है और इसीसे कर्म्मसङ्करता भी फैल गई है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते है कि कोई कुलस्त्री ब्राह्मणी छुपकर किसी शूद्र उपपतिसे सम्बन्ध कर पुत्र उत्पन्न करे तो वह पुत्र पूरे ब्राह्मणके गुण कर्म्म कैसे प्राप्त करेगा ? विषय गुप्त होनेसे किसीको पता नहीं लगा, वह सन्तान ब्राह्मण ही कहलाने लगी, परन्तु उसके बहुत कर्म्म ब्राह्मणकी तरह होंगे और अनेक कर्म्म शूद्रकी तरह होंगे। उसी प्रकार शूद्रामें भी ब्राह्मणके व्यभिचार द्वारा उत्पन्न सन्तान साधारण शूद्रसे और प्रकारका कर्म्म करेगी। उसमें कुछ ब्राह्मणका भी कर्म्म दिखाई देगा। कलिके प्रभावसे आजकल ऐसा बहुत हो गया है जिससे नीच ब्राह्मण भी मिलते है और अच्छे शूद्र भी मिलते है।

द्वितीय कारणका नाम आरूढ़पतन है। कर्म्मोंका भोग संस्कारोंकी प्रबलताके अनुसार होता है। मनुष्य अपने जीवनमें कई प्रकारके कर्म्म करते है। त्रिगुणमयी मायाके राज्यमें सात्त्विक, राजसिक, तामसिक ऐसे बहुत प्रकारके कर्म हो जाते है, उनमेंसे जो कर्म्म सबसे बलवान् होता है वही प्रारब्ध बनकर पहिले फल देता है। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है :—

> ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
> जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

सात्त्विक कर्मोंसे स्वर्गादिलोक-प्राप्ति, राजसिक कर्मोंसे पृथ्वीलोकमें ही मनुष्यादिरूपसे जन्म और नीच तामसिक कर्मोंसे अधोलोकोंमे जन्म या पश्वादि नीच योनि प्राप्ति होती है। इसी सिद्धान्तके अनुसार यदि कोई मनुष्य ऐसे अनेक कर्म करे जिनसे उसको स्वर्ग मिलना चाहिये, ऐसे अनेक कर्म करे जिनसे उसको पृथ्वीमें ही मनुष्यजन्म मिलना चाहिये और ऐसे अनेक कर्म करे जिनसे उसको नीच पशुयोनि प्राप्त होना चाहिये तो इन तीनों प्रकारके कर्मोंमेसे जो कर्म सबसे बलवान् होंगे वे ही उसकी मृत्युके समय प्रारब्ध कर्म बनकर चित्ताकाशको आश्रय करेंगे और उन्हीके अनुसार उसका जन्म होगा। गीतामें लिखा है :—

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥

मृत्युके समय साधारणतः सूक्ष्म शरीर दुर्व्वल हो जाता है, इसलिये दुर्व्वल सूक्ष्म शरीरको वे ही कर्म आश्रय करते हैं जो कि सबसे बलवान् होते हैं और जीव उसी भावमें भावित होकर वैसी ही योनिको प्राप्त करता है। इससे यह सिद्धान्त निकलेगा कि यदि कोई मनुष्य अन्य कर्म अच्छे करनेपर भी कुछ कर्म मन्द करे और वे कर्म प्रबलतम हो तो उन मन्द कर्मोंका भोग पहिले होगा। यथा-किसी ब्राह्मणने ब्राह्मणोंके सदृश अच्छे कर्म अनेक किये, किन्तु मोहवशात् कुछ कर्म शूद्रोंके सदृश भी कर दिये और वे कर्म अन्य अच्छे कर्मोंसे प्रबल हुए तो मरते समय वे शूद्रोंके सदृश किये हुए कर्म ही उसका प्रारब्ध बनकर शूद्र शरीर उत्पन्न करेंगे। वह शूद्रके घरमे उत्पन्न होगा। इन शूद्र सदृश कर्मोंके भोगके बाद यदि ब्राह्मणसदृश कर्म जो पहिले किये थे वे ही प्रबल हों तो पुनर्जन्म ब्राह्मणका होगा, परन्तु इस प्रकार शूद्र माता पिताके द्वारा शूद्र शरीर मिलनेपर भी पूर्वजन्ममें किये हुए ब्राह्मणसदृश कर्मोंका संस्कार उसके कर्माशयमे रहनेके कारण वह साधारण शूद्रसे उन्नत होगा क्योंकि उसके कर्माशयमे स्थित ब्राह्मण कर्मका प्रभाव अवश्य ही उसके चित्तपर पड़ेगा। वह शरीरसे शूद्र होनेपर भी भाव तथा आचारसे ब्राह्मणके सदृश होगा। श्रीमद्भागवतमें जडभरतका जो पूर्वजन्मका वृत्तान्त लिखा है वह इसी प्रकार आरूढ़पतनके कारणसे हुआ था। महाराजा भरत बहुत तपस्या करनेपर भी मरनेसे कुछ दिन पहिले एक मृगमें इतने आसक्त हो गये थे कि उसीको स्मरण करते करते मरे और मृगयोनिको प्राप्त हुए, परन्तु वे अन्य साधारण मृगोसे बहुत अच्छे थे क्योंकि तपस्याका संस्कार चित्तमें था। इसी प्रकार अन्यान्य जीवोंमे समय समयपर असाधारण बातें जो देखनेमें आती हैं और मनुष्योंमे भी जो इतर वर्णोंमें कभी कभी उच्चवर्णकी तरह शक्ति और गुण कर्म स्वभाव देखनेमें आते हैं उनका यही रहस्य है, अर्थात् ये ही सब आरूढपतनके दृष्टान्त हैं। वे सब पहिले जन्ममें उच्चवर्णके थे, परन्तु कुछ प्रबल कर्म नीच वर्णकी तरह कर दिया था जिसका प्रभाव स्थूल शरीरपर पडनेसे स्थूल शरीर नीच मिला है, परन्तु चित्तमें उच्चसंस्कार और प्रकारके रहनेसे आचार तथा कर्म उच्च वर्णकी तरह बहुतसा दिखाई देता है। जिस प्रकार भरत राजा मृगयोनिके

बाद ही पुनः पूर्व्व तपस्याके फलसे भरत ऋषि बन गये थे, उसी प्रकार वे लोग भी मन्द कर्मका भोग नीच योनिमें समाप्त होनेपर आगामी जन्ममें कर्माशय स्थित अन्य उच्च कर्मके कारण अच्छी योनि प्राप्त करेंगे। कलियुग तमःप्रधान है, देश काल और सङ्ग इसमें बहुत विरुद्ध है, इसलिये कलियुगमें अच्छे मनुष्योंसे भी बहुत बुरे कर्म्म होजाते हैं, अतः कलियुगमें इस प्रकार आरूढ़पतन होनेकी बहुत ही सम्भावना है। यही कर्म्मसङ्करताका दूसरा कारण है।

कर्म्मसङ्करताका तीसरा कारण मिश्रसंस्कार है। प्रकृतिके त्रिगुणमयी होनेसे मनुष्योंके सब कर्म सात्त्विक, राजसिक और तामसिक, इन तीन भागोंमें विभक्त होते हैं। अन्य युगोंमें जब भावकी गभीरता थी तब मनुष्योंमें प्रायः एक ही गुणके कर्म प्रबल होते थे, अन्य गुण दबे रहते थे इसलिये कर्मोंकी प्राकृतिक गति प्रायः एकसी होती थी और मनुष्य भी प्रायः एक ही ढगकी प्रकृतिके होते थे, परन्तु कलियुगमें भावकी गम्भीरता कम होनेसे और देश-कालका प्रभाव मनुष्यप्रकृतिपर पड़नेसे कर्मसस्कार कलियुगमें प्रायः तीनों गुणोंके मिलेजुले होते हैं। सात्त्विक संस्कारके साथ भी राजसिक तामसिक कर्मोंके संस्कार होते हैं। इसी प्रकार तामसिक मनुष्यमें भी और दो गुणोंके कर्म देखनेमे आते हैं, अर्थात् मिश्रसस्कारयुक्त मनुष्य प्रायः इस युगमें उत्पन्न होते हैं। मनुष्य इन तीनों प्रकारके कर्मोंमेंसे प्रबलतम कर्मानुसार आगामी जन्मको पाते हैं, किन्तु अन्य गुणके कर्म भी साथ ही साथ रहनेसे प्रकृति मिली-जुली होती है जिससे अच्छे बुरे सभी संस्कार उनमें पाये जाते हैं। आजकल कलियुगके प्रभावसे मिश्रकर्म्मवाले लोग बहुत होते हैं इसलिये इतर वर्णोंमें भी नीच आचरण करनेवाले लोग मिलते हैं।

आजकल चारों वर्णोंमें कर्मसङ्करताके ये ही उपर्य्युक्त कारण हैं जिनके कारण इतना सन्देह तथा गड़बड़ मचगया है। अब इस प्रकार वर्णसङ्कर और कर्मसङ्करमय कलियुगमे एक ही उपाय है जिससे वर्णव्यवस्थाके आदर्शको पूर्ण रखते हुए भी देश कालानुसार व्यवस्था हो सकती है। आदर्श वर्णव्यवस्थाकी बीजरक्षा अवश्य ही करनी होगी क्योंकि बीजरक्षा न होनेसे अनुकूल देशकालमें पुनः वर्णधर्म्मकी पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो सकेगी और ऐसा न होनेसे अर्थात् वर्णव्यवस्थाके नष्ट हो जानेसे आर्य्यजातिकी किस प्रकार सत्ता नाश होगी सो पहिले कहा गया है और साथ ही साथ देश कालपर भी ध्यान रखना कर्त्तव्य

है क्योंकि ऐसा करना प्राकृतिक तथा धर्म्मानुकूल है। इसलिये यही उपाय अब होना चाहिये कि एक वर्णके साथ अन्य वर्णका द्वेष या घृणाभाव न रख कर जिस वर्णके मनुष्यमे जिस शरीरकी श्रेष्ठता देखी जाय उसीका योग्य सम्मान करना चाहिये और उसको ऐसा ही अधिकार देना चाहिये। जिसका स्थूलशरीर शुद्ध अर्थात् उच्च वर्णका है उससे स्थूलशरीरसम्बन्धीय कार्य्य उच्च वर्णसे लेने योग्य जो हो सो लेना चाहिये। ऐसा ही जिस किसीका सूक्ष्मशरीर उन्नत है उससे सूक्ष्मशरीर विषयक उन्नत कार्य्य कराना चाहिये। उसका स्थूलशरीर निकृष्ट होनेपर भी सूक्ष्मशरीरके विचारसे ऐसा ही करना चाहिये। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते है कि पूर्वकथित कारणोंके अनुसार यदि कोई ब्राह्मण स्थूलशरीर सम्बन्धसे ब्राह्मण हो परन्तु उसका मन बुद्धि आदि सूक्ष्मशरीरका भाव साधारण हो अर्थात् वह निर्बुद्धि हो तो उसके साथ बैठकर ब्राह्मण भोजन कर सकता है या उससे भोजन बनवाकर खा सकता है क्योंकि भोजन करना या बनवाना स्थूलशरीरसे ही सम्बन्ध रखता है। किन्तु वह ब्राह्मण यदि कर्मसे बहुत ही हीन हो तो उसके हाथका भोजन भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि मनुजीने अन्नशौचको ही प्रधान शौच कहा है, यथा :—

सर्वेषामेव शौचानामन्नशौचं परं स्मृतम्।
योऽन्ने शुचिः स हि शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥ ५-१०६

और इसी कारण महर्षि अत्रिने ब्राह्मणके दस भेद बताकर नीचकर्मी पांच प्रकारके ब्राह्मणोंके हाथका अन्न खाना निषिद्ध किया है, यथा :—

देवो मुनिर्द्विजो राजा वैश्यः शूद्रो निषादकः।
पशुर्म्लेच्छोऽपि चाण्डालो विप्रा दशविधाः स्मृताः॥
सन्ध्यां स्नानं जपं होमं देवतानित्यपूजनम्।
अतिथिं वैश्वदेवञ्च देवब्राह्मण उच्यते॥
शाके पत्रे फले मूले वनवासे सदा रतः।
निरतोऽहरहः श्राद्धे स विप्रो मुनिरुच्यते॥
वेदान्तं पठते नित्यं सर्वसङ्गं परित्यजेत्।
सांख्ययोगविचारस्थः स विप्रो द्विज उच्यते॥

अस्त्राहताश्च धन्वानः संग्रामे सर्वसम्मुखे ।
आरम्भे निर्जिता येन स विप्रः क्षत्र उच्यते ॥
कृषिकर्मरतो यश्च गवां च प्रतिपालकः ।
वाणिज्यव्यवसायश्च स विप्रो वैश्य उच्यते ॥
लाक्षा-लवण-संमिश्र-कुसुम्भ-क्षीर-सर्पिषाम् ।
विक्रेता मधुमांसानां स विप्रः शूद्र उच्यते ॥
चौरश्च तस्करश्चैव सूचको दंशकस्तथा ।
मत्स्यमांसे सदा लुब्धो विप्रो निषाद उच्यते ॥
ब्रह्मतत्त्वं न जानाति ब्रह्मसूत्रेण गर्वितः ।
तेनैव च स पापेन विप्रः पशुरुदाहृतः ॥
वापीकूपतड़ागानामारामस्य सरःसु च ।
निःशंकं रोधकश्चैव स विप्रो म्लेच्छ उच्यते ॥
क्रियाहीनश्च मूर्खश्च सर्वधर्मविवर्जितः ।
निर्दयः सर्वभूतेषु विप्रश्चाण्डाल उच्यते ॥ (३६३-३७३)

देव, मुनि, द्विज, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद, पशु, म्लेच्छ और चाण्डाल—ये दसप्रकार ब्राह्मण होते हैं। सन्ध्या, स्नान, जप, होम, पूजन, अतिथि-सेवा, वैश्वदेवरत ब्राह्मण देवब्राह्मण कहलाते हैं । शाकफलमूलभोजी, बनवासी पितृश्राद्धपरायण ब्राह्मण मुनिब्राह्मण हैं । वेदान्तपाठी, निःसङ्ग, सांख्ययोग विचाररत ब्राह्मण द्विजब्राह्मण है । संग्राममें विजयी, शत्रुको अस्त्रद्वारा रोकने वाले क्षत्रियब्राह्मण हैं । कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य व्यवसायी वैश्यब्राह्मण हैं। लाख, लवण, दूध, घी, मधु, मांस आदि बेचनेवाले शूद्रब्राह्मण हैं । चोरी डकैती करनेवाले, असूयापर, परपीड़क, मछलीमांसमें लोभी निषादब्राह्मण हैं। ब्राह्मणपनको कुछ भी न जान कर केवल जनेऊके घमण्डमें मत्त पशुब्राह्मण कहलाते हैं। जो दूसरेको तालाव कूप आदिमें जल पीने न दें या बगीचेमें घूमने न दें ऐसे वृथा दुःख देनेवाले म्लेच्छब्राह्मण हैं। क्रियाहीन, महामूर्ख, सब धर्मसे हीन, निष्ठुर ब्राह्मण चाण्डालब्राह्मण कहलाते हैं। इन दसमेंसे पीछेके पांचके हाथका

अन्न भोजन नहीं करना चाहिये। यही कर्मानुसार शास्त्रव्यवस्था है। ठीक इसी प्रकार यदि कोई शूद्र सूक्ष्मशरीरसे अच्छा हो तो उससे शास्त्र तथा विद्यासम्बन्धीय कार्य्य ले सकते हैं क्योंकि ऐसा विचार केवल सूक्ष्मशरीरसे ही सम्बन्ध रखता है। परन्तु उसके साथ एक पंक्तिमें बैठकर द्विज लोग भोजन नहीं कर सकते हैं और न उसके हाथका अन्न ही खा सकते हैं क्योंकि उसका स्थूलशरीर पूर्व कहे हुए कारणोंमेसे किसीके द्वारा शूद्रका हो गया है। इसलिये स्थूलशरीरसे वह अपूर्ण है, अतः स्थूल स्पर्श-दोषका सम्बन्ध अवश्य है इस कारण स्थूल शरीरका कार्य उससे ब्राह्मण नहीं ले सकते। और वह स्थूलशरीरसे शूद्र परन्तु सूक्ष्मशरीरसे ज्ञानी पुरुष यदि यथार्थज्ञानी तथा विचारवान् होगा तो ऐसा करना भी नहीं चाहेगा क्योंकि जब कर्म्मके वैचित्र्यसे उसको यह इतर योनि प्राप्त हुई है जिससे प्रमाण होता है कि पूर्व जन्ममे और कर्म उन्नत होनेपर भी कुछ स्थूलशरीरसम्बन्धीय कर्म उसके खराब थे जिससे स्थूलशरीर शूद्र मातापितासे उत्पन्न हुआ है तो उसका कर्त्तव्य है कि पूर्वकर्म्मका भोग स्थूल अंशमें ऐसा ही निभाया करे और सूक्ष्मशरीरसे उन्नत आचरण करे जिससे आगामी जन्ममें उसको स्थूल शरीर भी उन्नत वर्णका प्राप्त होजाय। उसको वर्णव्यवस्थाके प्राकृतिक सिद्धान्तपर धक्का नहीं देना चाहिये क्योंकि ऐसा करना अज्ञानका कार्य होगा, परञ्च यथावत् स्थूल सूक्ष्म शरीरके विचारसे जिस शरीरमें जितनी योग्यता है उस शरीरसे उसी प्रकारका कार्य्य करना चाहिये। प्राचीन ज्ञानी पुरुषोंने इसी प्रकारके धर्म्मका पालन किया है। यथा–

ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्रकृतेन च।
तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम्॥ रा॰ बा॰ काण्ड

परशुरामके अनुचित आचरण पर भी ब्राह्मण होनेके कारण श्रीभगवान् क्षत्रियकुलोत्पन्न रामचन्द्रने उनपर अस्त्रप्रहार नहीं किया था। विदुरने ज्ञानी होने पर भी "शूद्रयोनावहं जातो नाऽतोऽन्यद् वक्तुमुत्सहे (म भा प्रजागर पर्व) ऐसा कह कर शूद्रसन्तान होनेके कारण क्षत्रियराजा धृतराष्ट्रको ब्रह्मज्ञानका उपदेश नहीं दिया था। अन्य पक्षमें समस्त ऋषि शूद्रसूतके मुखसे पुराणोंको सुनते थे क्योंकि सूत शूद्र होनेपर भी ज्ञानी थे, परन्तु उनके साथ ऋषियोंने स्थूलशरीरका कोई व्यवहार नहीं किया था। मनुजीने भी नीच वर्णसे अपरा विद्या सीखनेको कहा है परन्तु उससे स्थूल व्यवहार करनेको नहीं कहा है।

यही सत्य सिद्धान्त है। कोई शूद्रशरीरधारी यदि ज्ञानी तथा सच्चरित्र हो तो ज्ञानका विषय सिखा सकता है परन्तु वेदके मन्त्रभाग पढ़ने पढ़ानेका उसको कोई अधिकार नहीं होगा क्योंकि वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणके साथ स्थूलशरीरका सम्बन्ध है और वह यथार्थज्ञानी होगा तो ऐसा करेगा भी नहीं क्योंकि ऐसा करना अज्ञान है। यही सब वर्त्तमान देशकालमे वर्णव्यवस्थाके आदर्शको रखकर उन्नति करनेकी युक्ति है। किसी वर्णके प्रति घृणा न की जाय, किसीकी उन्नतिमें बाधा न दी जाय, जिसका जो शरीर जिस अधिकारका है उसके उस शरीरकी उन्नति उसी अधिकारके अनुसार की जाय, स्थूल शरीरकी उन्नति उसीके अधिकार तथा योग्यतानुसार और सूक्ष्मशरीरकी उन्नति उसीकी शक्तिके अनुसार की जाय एवं सबका सम्मान अधिकारानुसार किया जाय, तभी यथार्थमें भारतवर्षकी उन्नति होगी और इस घोर कलियुगमें वर्णव्यवस्थाकी बीजरक्षा होगी।

अर्वाचीन पुरुषोंने वर्णव्यवस्था-प्रकरणमें अनेक श्रुतिमन्त्र तथा स्मृतिके श्लोकोंका गलत अर्थ करके जिज्ञासुओंके चित्तमें भ्रम उत्पन्न कर दिया है। इस लिये प्रसङ्गोपात्त शंका-समाधान रूपसे कुछ विषय कहे जाते हैं। प्रथमतः वर्णके साथ जन्मका सम्बन्ध नही है केवल इस जन्मके कर्मका ही सम्बन्ध है यह उनका कहना और दृष्टान्तमें जाबालि ऋषि, विश्वामित्र तथा मतंगका नाम लेना सर्वथा असत्य है। जाबालिका प्रकरण छान्दोग्य उपनिषद्के प्र० ४ खण्ड ४ मे आता है। उसमें केवल इतना ही लिखा है कि सत्यकामकी माता जबालाने गृहकार्य्यमे अधिक व्यग्रताके कारण अपने पतिसे गोत्र कभी पूछा नही था, पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई, जिससे गोत्रका पता नहीं लगा। आचार्य गौतमऋषिने सत्यकामके मुखसे इस सरल उत्तरको सुनते ही समझ लिया कि सत्यकाम ब्राह्मणका बालक है। अतः सत्यकाम अज्ञातकुल थे विद्या पढ़कर ब्राह्मण हो गये, यह कहना मिथ्या है। विश्वामित्रकी कथा महाभारतके अनुशासनपर्व अध्याय ३ में स्पष्ट ही है, कि चरुपरिवर्तनसे पिताका अंश ब्राह्मणका उन्हे पहिले ही मिला था और माताके क्षत्रियांशको बदलनेके लिये उन्होने कितने ही वर्षों तक असाधारण तपस्या की थी, तब ब्रह्माजीने उन्हें ब्राह्मण स्वीकार किया था, यह असाधारण धर्म है, साधारण विधिमें प्रयुक्त नहीं हो सकता है। मतंगका उपाख्यान महाभारत अनुशासनपर्व अध्याय २७ से २९ तकमें है, उसमें यही लिखा है कि उसने ब्राह्मण होनेके निमित्त तपस्या तो की थी किन्तु इन्द्रदेवने उसे ब्राह्मण

होनेका वर नही दिया । अतः अर्वाचीन पुरुषोंके ये तीनो दृष्टान्त अप्रासङ्गिक तथा मिथ्या है । द्वितीयतः यजुर्वेदके 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इत्यादि मन्त्रके द्वारा भी इस जन्मके गुण-कर्म द्वारा वर्ण विचार करना सर्वथा असत्य है। थोड़ी बुद्धिवाले भी सोच सकते है कि इस मन्त्रमे जब 'अजायत' पद है तो जिन कर्मोंके द्वारा ब्राह्मणादि विराट् पुरुषके भिन्न भिन्न अङ्गोंसे प्रकट हुए थे वे कर्म प्राक्तन अर्थात् पूर्वकृत अवश्य हैं नही तो वे उत्पन्न ही कैसे हो सकते थे । अतः इस मन्त्रके द्वारा भी जन्मसे ही वर्णव्यवस्था सिद्ध होती है, इस जन्मके गुण कर्मसे ही नही । इस प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् के चा० उप० प्र० ५ खण्ड १० में मन्त्र आता है । यथा—

यथा हि रमणीयाचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ।

अर्थात् जिनके पूर्वकर्म अच्छे होते हैं उन्हे ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यकी अच्छी योनि मिलती है और मन्द प्राक्तनवाले श्वान, शूकर, चाण्डालादि नीच योनियोंको पाते हैं । ये सभी वर्णन पूर्वकर्मानुसार आगामी जन्म पानेके विषयके हैं । इसके सिवाय मनु, आश्वलायन आदि स्मृतियोमे जो त्रिवर्णका नामकरण, उपनयन आदि सस्कार भिन्न भिन्न प्रकारसे भिन्न भिन्न उमरमें करनेकी आज्ञा मिलती है और यहां तक कि इनके जनेऊ, मेखला, दण्ड आदिमे भी वर्णानुसार भेद बताये गये हैं सो सब जन्मके साथ सम्बन्ध बिना तो बन ही नही सकते हैं । यदि विद्या पढ़नेके बाद कर्मानुसार वर्ण निर्णय करना होगा तो कितने मूर्ख ब्राह्मणको जनेऊ उतार देना होगा, उनके लिये पहिले किया हुआ संस्कार सब व्यर्थ हो जायगा, कितनेका कपासका जनेऊ तोड़ सनका या सनका तोड ऊनका बनाना होगा और सारा सस्कार बदल देना होगा इसका क्या ठिकाना लग सकता है । अतः विचारकी दृष्टिसे देखनेपर अर्वाचीन पुरुषोंके ये सभी सिद्धान्त भ्रममात्र दिखाई देते हैं । यदि केवल विद्या पढ़नेसे ही ब्राह्मण हो जाता तो विश्वामित्रके पढ़े लिखे होने पर भी इतने तप करनेका प्रयोजन क्या होता ? और विद्या तथा तपस्याहीन ब्राह्मणको मनुसहिता और महाभाष्यमें शूद्र न कहकर जातिब्राह्मण क्यो कहा जाता ? अतः ये सभी मिथ्या

कपोलकल्पित युक्तियां हैं। यदि इस जन्मके गुणकर्ममात्रसे जाति बनती तो इतनी लड़ाई करनेपर भी परशुराम तथा द्रोणाचार्य क्षत्रिय क्यों नहीं कहलाये और गीताके उपदेष्टा होनेपर भी श्रीकृष्ण ब्राह्मण क्यों नहीं कहलाये, इतने बड़े तपस्वी और ज्ञानी विदुर शूद्र ही क्यों बने रहे और इतने पण्डित होनेपर भी कर्णको "मैं ब्राह्मण हूं" ऐसा झूठ बोलकर परशुरामके पास अस्त्र सीखनेको क्यों जाना पड़ा? ये सभी विचारनेकी बातें हैं।

इसके अतिरिक्त अर्वाचीन पुरुषोंने जो विद्यासभा और राजनियमके बलसे मूर्ख ब्राह्मणपुत्रको शूद्रके घरमें और पढ़े लिखे शूद्रपुत्रको ब्राह्मणके घरमें डाल देनेको कहा है, यह बड़ी विचित्र बात है। अदूरदर्शी होनेके कारण उन्हें यह नहीं सूझा कि ऐसा करनेसे गृहस्थाश्रममें कितना अनर्थ तथा विप्लव उत्पन्न होगा और स्नेह, वात्सल्य आदि भावोंका कैसा सत्यानाश होगा।

प्रथम तो—'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे। आत्मासि पुत्र मामृथाः स जीव शरदः शतम्॥' सामवेदके ब्राह्मण भाग २ के इस मन्त्र द्वारा पिताके अङ्ग अङ्गसे निकला हुआ आत्मारूप पुत्र अन्यवर्णका हो ही नहीं सकता है और न अन्य वर्णका पुत्र अपना ही हो सकता है। आमके बीजसे आम ही होता है, चाहे उसका वृक्ष बहुत बढ़े या न बढ़े। द्वितीयतः श्राद्ध तर्पण पिण्डदानका अधिकार और पिताकी सम्पत्तिपर अधिकार अपने वर्णके औरस पुत्रका ही होता है, दूसरे वर्णके पुत्रका नहीं होता है, यही प्राचीन-शास्त्र-निर्दिष्ट दायभागकी व्यवस्था है, यथा—

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पित्र्यं धनमशेषतः।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा॥
ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः।
पितॄणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति॥ (अ० ९)

अर्थात् पिताके सब धनको औरस ज्येष्ठ पुत्र ही ग्रहण करे, बाकी और सब सन्तान उसमेंसे पिताके सामने जैसे खाते पीते रहें। ज्येष्ठ पुत्रके उत्पन्न होनेसे ही पिता पुत्रवान् कहलाता है क्योंकि श्राद्ध पिण्डदानका अधिकारी होनेसे उसीके द्वारा पिता पितृऋणसे मुक्त होता है, अतः पिताकी सम्पत्तिपर उसीका अधिकार है। यही दायभागकी व्यवस्था है। अर्वाचीन पुरुषोंका

सिद्धान्त मानने पर इन सब शास्त्रीय व्यवस्थाओंमें बड़ा ही गड़बड पड़ जायगा और गृहस्थाश्रमकी शान्ति तथा सुख एकबारगी नष्ट हो जायगा। अतः ऐसी कल्पना भ्रममात्र है।

कही कहीं प्रायश्चित्त विवेकके श्लोकका पाठान्तर करके भी लोग गड़बड़ करते हैं। यथार्थ श्लोक यह है—

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते।
वेदाभ्यासाच्च विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते॥

जन्मसे ब्राह्मण, उपनयनादि संस्कारोंसे द्विज, वेदाभ्याससे विप्र और इन तीनोंकी पूर्णतामे 'श्रोत्रिय' ब्राह्मण कहलाता है। इसमे जो—

'जन्मना जायते शूद्रः सस्कारैर्द्विज उच्यते' इत्यादि पाठान्तर किया जाता है सो भूल है।

अर्वाचीन पुरुषोंने मनुसहिताके अनेक श्लोकोसे केवल कर्म्मके द्वारा ही जातिनिर्णय करनेकी चेष्टा की है परन्तु उनकी यह चेष्टा सर्वथा भ्रमयुक्त है। क्योंकि मनुजीने ऐसा कही नही लिखा है किन्तु उन्ही सब श्लोकोंके द्वारा मनुजीने वीर्य्यका या जन्मका प्राधान्य बताया है। यथा—

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात्॥
शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ (अ० १०)

शूद्रा स्त्रीमें ब्राह्मणसे उत्पन्न कन्याको यदि और कोई ब्राह्मण विवाह करे ओर उस विवाहसे उत्पन्न कन्याको दूसरा ब्राह्मण विवाह करे, इस प्रकारसे ब्राह्मण सम्बन्ध क्रमशः सात पुरुष (जन्म) पर्य्यन्त होवे तो सातवें जन्ममें वीर्यके प्राधान्यके हेतु वह वर्ण ब्राह्मण हो जाता है। इस प्रकारसे जैसा कि शूद्र ब्राह्मण होता है ऐसा ही ब्राह्मण भी शूद्र हो सकता है और क्षत्रिय और वैश्यके विषयमें भी यही नियम जानना चाहिये। इन श्लोकोंमें स्पष्टरूपसे जन्मसे जाति और वीर्यका प्राधान्य वर्णव्यवस्थाके साथ दिखाया गया है। इसमें और किसी प्रकारकी व्याख्याका अवसर नही है। मनुजीने ऐसा ही और भी कहा है कि:—

स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ (२य अध्याय)

इससे पहिले और भी दो श्लोक इसी विषयके हैं, यथाः—

वैदिकैः कर्म्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्य्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥
गार्भैर्होमैर्जातकर्म्मचौड़मौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥

इन तीनों श्लोकोंका क्रमशः अर्थ यह होता है कि वैदिक पुण्य कार्य्य द्वारा द्विजगणका गर्भाधानादि संस्कार करना चाहिये। ये सब वैदिक संस्कार इहलोक व परलोकमें पवित्र करते हैं। गर्भाधान, जातकर्म्म, चूडाकरण व उपनयनादि संस्कारोंके द्वारा द्विजोंके बीज व गर्भजन्य दोष नष्ट होते हैं। स्वाध्याय, व्रत, होम, त्रैविद्य व्रत, ब्रह्मचर्यदशामें देवर्षिपितृ तर्पण, गृहस्थमें सन्तानोत्पादन, पञ्चमहायज्ञ और ज्योतिष्टोमादि यज्ञ द्वारा मनुष्योंका शरीर ब्रह्मपदप्राप्तिके योग्य होता है। इसमे पहिले दो श्लोकोंसे रजोवीर्य्यसे उत्पन्न स्थूल शरीर-शुद्धि और तीसरे श्लोकसे सूक्ष्म व कारण शरीरकी शुद्धि बताई गई है। क्योंकि जीवको ब्रह्मपदप्राप्ति तीनों शरीरोंकी शुद्धिसे ही हुआ करती है। द्विजातिगण इस प्रकार त्रिविध शुद्धि द्वारा ही मुक्तिपद प्राप्त कर सकते हैं। अर्वाचीन पुरुषोंने पहिले दो श्लोकोंका अर्थ छोड़कर और तीसरेका अर्थ विगाड़कर जन्मके उड़ानेकी चेष्टा की है सो सर्वथा मिथ्या है। इसी प्रकार आपस्तम्बके सूत्रके विषयमें भी अर्व्वाचीन लोगोंने भ्रान्तिसे कहा है कि "उसमें केवल कर्म्मसे ही जन्मकी व्याख्या की गई है"। उसका अर्थ ऐसा नहीं है। वह सूत्र यह हैः—

धर्म्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्व्वं पूर्व्वं
वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।
अधर्म्मचर्य्यया पूर्व्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं
वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।

धर्म्माचरणसे नीच वर्ण पूर्व पूर्व उच्च वर्णको प्राप्त होता है और ऐसा ही अधर्म्माचरणसे उच्च वर्ण भी नीच वर्णको प्राप्त होता है। यहां धर्म्म व

अधर्म संस्कारका प्रभाव बताया गया है, परन्तु इसमें एक ही जन्ममें वर्ण बदलता है ऐसा नहीं कहा गया है। क्योंकि, 'जातिपरिवृत्तौ' शब्दके द्वारा जन्म बदलनेसे आगेके जन्मोंमें क्रमशः उच्च नीच वर्णोंका होना बताया है। इस कारण—चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः। तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान् (१।१।१) आपस्तम्बके ये भी दो सूत्र है जिनमें 'जन्मतः' श्रेष्ठता बता कर अपने ही मतकी पुष्टि की गई है। अतः इसमें अन्यथा अर्थ करना भ्रम-मूलक है ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकारसे जातिके साथ जन्म व कर्म दोनोंका ही सम्बन्ध रक्खा गया है और जब आर्य्योंमें ही नीच वर्ण, सात वंशपर्य्यन्त उच्चवर्णोंका वीर्य्यसम्बन्ध पाने पर, तब उच्चवर्ण बन सकता है तो अनार्य्यको शुद्ध करके आर्य्य बनाना कैसा उन्माद व अज्ञानका कार्य्य है, इसको विचारवान् पुरुष सोच सकते है। भगवान् मनुने कहा है कि :—

जातो नार्य्यामनार्य्यायामार्य्यादार्य्यो भवेद्गुणैः।
जातोऽप्यनार्य्यादार्य्यायामनार्य्य इति निश्चयः ॥ (१०)

अनार्य्य स्त्रीमें आर्य्य पुरुषसे उत्पन्न पुत्र गुणसे आर्य्य होते हैं और आर्य्य स्त्रीमे अनार्य्य पुरुषसे उत्पन्न पुत्र अनार्य्य होते है। इसमें पहिले प्रकारके पुत्र आर्य्य-वीर्य्यके कारण आर्य्यका गुण प्राप्त करेंगे, परन्तु आर्य्यकी जाति उनकी नहीं होगी और दूसरे प्रकारके पुत्र जो अनार्य्य पुरुषसे उत्पन्न होगे उनमे वीर्य्यका भी प्राधान्य न रहनेसे वे जाति और गुण दोनोंहीसे अनार्य्य होंगे, यही शास्त्रका सिद्धान्त है। इसलिये अनार्य्योंको शुद्ध करके आर्य्य बनाना सर्वथा शास्त्रविरुद्ध और अन्याय है। हॉ, यदि कोई अनार्य्य आर्य्यधर्मके महत्त्वको जानकर इसके अन्तर्गत होना चाहे तो होसकता है, किन्तु चतुर्वर्ण-में उसकी गिनती नही होगी। ऐसे ही यदि कोई आर्य्यधर्म्मावलम्बी जो भूलसे अन्य धर्म्ममें चले गये थे, पुनः आर्य्यधर्म्ममें आना चाहे, यदि उनका ऐसा कोई उत्कट दोष नही हुआ हो जिसका प्रभाव स्थूल शरीरपर भी पड गया हो और स्थूल शरीरको अनार्य्यभावोंसे ग्रस्त कर दिया हो, तो उनको प्रायश्चित्त आदि शास्त्रीय विधानोंसे शुद्ध करके पुनः चतुर्वर्णमें ले सकते है। अथवा कोई चतुर्वर्णसे ही कर्म्म द्वारा पतित होकर अवान्तर वर्ण बन गया हो और उसका कर्म्म अब शुद्ध व उन्नत वर्णका जिससे कि वह गिर गया था होगया हो तो उसको भी, यदि ठीक ठीक प्रमाण मिल जाय तो अपने वर्णमें,

शुद्ध करके ले सकते हैं, परन्तु ये सब कार्य्य बहुत ही विचार और शास्त्रीय आज्ञा व अनुसन्धानके साथ होने चाहियें जिससे एक वर्णके साथ दूसरा वर्ण मिलनेसे कहीं, वर्णसङ्करता न फैल जाय। आजकल स्वदेशहितैषिता और हिन्दुओंकी संख्यावृद्धिके बहानेसे कोई कोई लोग अनार्योंको शुद्धकर आर्य्य बनाने लग पड़े है और वे लोग नीच वर्णको और धर्ममें चले जानेके डरसे उच्च वर्ण बना देते हैं। आर्योंकी संख्यावृद्धि और देशका हित हो यह सबका प्रार्थनीय विषय है, परन्तु ये सब कार्य्य आर्य्यत्वको स्थायी रखकर करना चाहिये। आर्य्योंकी भलाई व उन्नति आर्य्य रहकर ही हो सकती है, आर्य्यत्वको नष्ट करके अनार्य्य बनकर नही हो सकती है। यही यथार्थ स्वदेशहितचिन्ता है। धर्म्म व आर्य्यत्वको छोड़कर स्वदेशहितचिन्ता वास्तविक हितचिन्ता नहीं है, परन्तु अज्ञानकृत अहितचिन्ता है। आर्य्य यदि आर्य्य ही न रहे तो उसकी उन्नति किस कामकी होगी, इस प्रकार अनार्य्योंको आर्य्य बनाकर संख्यावृद्धि करनेसे आर्य्यत्व भ्रष्ट हो जायगा, हिन्दुजाति अहिन्दु हो जायगी। इसलिये इस प्रकारकी शुद्धि व संख्यावृद्धिका विचार सर्वथा भ्रमयुक्त है और अन्य धर्म्ममें चले जानेके डरसे नीच वर्णको उच्च वर्ण बना देना भी इसी प्रकार शास्त्र व जातीयतासे विरुद्ध है। इससे वर्णसङ्करता वृद्धि होकर आर्य्यजाति नष्ट हो जायगी। संख्यावृद्धि अच्छी वस्तु है, परन्तु धर्म्मको छोड़कर संख्या-वृद्धि ठीक नहीं है। आर्य्यजातिकी जातीयता व उन्नति धर्म्ममूलक होनी चाहिये; अन्यथा उन्नति कभी नहीं हो सकती है। पूर्व विज्ञानसे सिद्ध किया गया है कि, एक जाति थोड़ीसी शुद्धिसे ही अन्य जाति नहीं बन सकती है, कर्मके अच्छे होनेसे अगले जन्ममें जाकर बन सकती है। इसी सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखकर इन जातियोंको शिक्षा देनी चाहिये, उनसे घृणा नहीं करनी चाहिये, उनको विद्या पढ़ानी चाहिये, वे दरिद्रता या लोभसे दूसरे धर्म्ममें जाते हैं इसलिये उनकी गरीबी हटानी चाहिये और उनके अधिकारके अनुसार उनको सत्‌शिक्षा देकर उन्नत करना चाहिये। ऐसा करनेसे वे उन्नत और शिक्षित भी होंगे और भिन्न धर्म्मोंमें नहीं जायँगे। इस प्रकारसे धर्म्मकी भी रक्षा होगी और हिन्दुजातिकी संख्या नहीं घटेगी, यही शास्त्रीय सिद्धान्त है। शुद्धिके विषयमें स्थानान्तरमें और भी विचार किया जायगा।

वर्णव्यवस्थाके विषयमें कहीं कहीं यह भी शंका की जाती है कि इसने

स्त्री तथा शूद्र वर्णको बहुत नीचा दिखाया है और उनको उन्नतिके पथपर जानेसे रोक दिया है, क्योंकि स्मृतिकारोंने उनके लिये वेदपाठ, वैदिक संस्कार आदि सब कुछ निषेध कर दिया है। यह कदापि ठीक नहीं है। क्योंकि स्त्री तथा शूद्रके लिये वेदपाठका निषेध महर्षियोंने पक्षपात या निष्ठुरतासे नही किया है, किन्तु कृपानिमित्त दूरदर्शिताके साथ किया है। महाभाष्यमे लिखा है :—

दुष्ट शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

वेदमन्त्रके उच्चारणमे जो उदात्त अनुदात्त, लाघव गौरव, स्वर तथा वर्ण आदिका विचार रखना होता है, उसके विना यदि कोई वेदमन्त्रका अशुद्ध उच्चारण करे तो उससे उसकी तथा उसके कुलकी हानि होती है। सभी लोग जानते हैं कि, स्त्रियोंके कण्ठसे सब स्वर ठीक ठीक उच्चारित नही हो सकते और तमोभावके आधिक्यके कारण असम्पूर्ण शरीर तथा अपूर्णकण्ठ शूद्रके द्वारा भी मन्त्रोंका यथार्थ उच्चारण हो ही नही सकता है। अतः इनके द्वारा अशुद्ध वेदोच्चारणसे इन्हींकी तथा इनके वंशकी हानि हो सकती है, ऐसा जान कर दूरदर्शी दयालु महर्षियोंने मन्त्रभागको छोड़कर इन्हे और सब शास्त्र पढ़ने कहा है और महाभारतादि ग्रन्थ जो कि पञ्चम वेद कहाता है, इन्हींको लक्ष्य करके बना दिया है, यथा भागवतपुराणमे—

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥

स्त्री, शूद्र और अधम ब्राह्मणोंको वेद पढना या सुनना नही चाहिये, इसी लिये महामुनि व्यासदेवने इनके कल्याणके अर्थ पञ्चमवेदरूपी महाभारतकी रचना कर दी। इसमे शूद्रोंको तरह नीच ब्राह्मणोंको भी वेद पढ़नेका निषेध किया गया है। इसीसे महर्षियोका पक्षपातरहित उदार समदर्शी भाव विदित हो सकता है। अर्वाचीन पुरुषोंने इस रहस्यको न जानकर कही तो सुश्रुतके प्रमाणसे शूद्रोके लिये जनेऊ और वेदपाठका निषेध कर दिया है और कही पर वेदमन्त्रका उलटा अर्थ करके वेदका पढ़ना भी कह दिया है। यथा "शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेत्" सुश्रुतके सूत्रस्थान-

के दूसरे अध्यायका यह वचन है। इसमें कुलीन शुभलक्षणयुक्त शूद्रको वेदके मन्त्रभागको छोड़कर शास्त्रपाठकी आज्ञा दी गई है, सो ठीक ही है । किन्तु 'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः' इत्यादि यजुः अ० २६।२ के मन्त्रका गलत अर्थ करके स्त्री शूद्र सभीको जो वेद पढ़नेके लिये कहा गया है, यह भूल है । मन्त्र निम्नलिखितरूप है, जिसको उन लोगोंने पूरा कहा ही नहीं है :—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च । प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुपमादो नमतु ॥

हे जनाः ! जनेभ्यः अहं राजा ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय आर्याय स्वाय अरणाय च यथा इमां कल्याणीं वाचं आवदानि, देवानां दक्षिणायै दातुः यथा च प्रियो भूयासं यथा च अयं मे कामः समृद्ध्यतां यथा च उप, मा, अदः, नमतु, तथा मद्राज्यस्थिता भवन्तः कुर्वन्तु । जनेषु इभ्यः पूज्यः राजा इति भावः ।

इस मन्त्रमें राजा अपनी समस्त प्रजाओंको एकत्रित कर कहता है—हे मनुष्यो ! जिस प्रकार मैं राजा ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य अरण इन सबोंके प्रति इनके कल्याण करनेवाली वाणीका उपदेश कर सकूं, जिस प्रकार देवताओं पर दक्षिणा चढ़ानेवालोंके लिये मैं प्यारा बनूं, जिस प्रकार यह मेरी कामना पूर्ण हो और जिस प्रकार परोक्ष सुख मुझको प्राप्त हो उस प्रकार तुम काम करो । इसमें केवल राजा प्रजाका संवादमात्र है, इसमें ईश्वर या वेद पढ़ने पढ़ानेका नाम भी नहीं है । क्योंकि ईश्वरके लिये 'कामना पूर्ण हो', 'सुख प्राप्त हो' आदि शब्दोंका प्रयोग ही नहीं हो सकता है । इसमें अर्वाचीन लोगोंने नीरे गलत अर्थ करके अपना पक्षपात पूरा करना चाहा है, शूद्रवर्णके लिये वेदनिषेधका मन्त्र अथर्ववेद १६।७१।१ में भी मिलता है, यथा—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयतां पावमानी द्विजानाम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्त्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥

मैंने वर देनेवाली वेदमाता गायत्रीकी स्तुति की है, वह मुझे शुभकार्यमे प्रेरित करे। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यरूपी द्विजोंको पवित्रकरनेवाली वह मुझे आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्त्ति, धन, ब्रह्मतेज देकर ब्रह्मलोकको चली जावे। इसमे वेदका अधिकार द्विजको ही बताया गया है, शूद्रको नही। अतः उपनयन तथा वेदका अधिकार शूद्रको नही हो सकता। इसी कारण मनुजीने भी कहा है:—

न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात् प्रतिषेधनम्
धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तिमनुष्ठिताः।
मंत्रवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च॥
यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः।
तथा तथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः॥ (१०मे अध्याय)

हीन जाति होनेके कारण पाप शूद्रौको नही लगता है, उनके लिये उपनयनादि संस्कार नही है, उनका उच्च धर्ममें अधिकार भी नही है और सामान्य धर्ममें निषेध भी नही है। धर्मज्ञ, सद्वृत्तिसम्पन्न शूद्र धर्मकी इच्छा करके यदि पञ्चमहायज्ञादिक अनुष्ठान वैदिक मन्त्र छोड़कर करें तो प्रशसाके ही पात्र होते हैं और इस तरहसे उत्तम आचरणमें रहनेपर इहलोक एव परलोकमे उन्हें कल्याण प्राप्त होता है। इन वचनौसे यही प्रमाणित होता है कि, उपनयन तथा वेदादिका अधिकार न होनेपर भी अच्छे आचरणमें रहकर शूद्रजाति विशेष उन्नतिको प्राप्त कर सकती है। श्रीभगवान् वेदव्यासने भी वेदान्तसूत्रमे शूद्रोंको वेदाध्ययनादिका निषेध किया है, यथा—

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च। अ. १ पा. ३ सूत्र ३६
श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च। ,, ,, ,, ३८

उपनयन संस्कार बिना वेदाधिकार नही होता है, शूद्रका उपनयन नही है, अतः वेदाधिकार भी नही है। शूद्रको वेदका श्रवण तथा अध्ययन इन दोनोंका निषेध है और स्मृति भी इसी बातका समर्थन करती है। कात्यायन श्रौतसूत्र १।१।१ में भी—'अङ्गहीनाश्रोत्रियषण्डशूद्रवर्जम्' अर्थात् अङ्गहीन,

अश्रोत्रिय, नपुसक और शूद्रका यज्ञमे अनधिकार बताया गया है। इसके सिवाय 'वेदाक्षरविचारेण शूद्रश्चाण्डालतां व्रजेत्' इत्यादि कितने ही स्मृतिवचनोंके द्वारा ऊपर लिखित विज्ञानके अनुसार पूज्यचरण महर्षियोंने शूद्रवर्णको वेद न पढ़ाकर अन्यान्य शास्त्रोंके पठनपाठन द्वारा उन्नति करनेकी जो आज्ञा दी है, सो उनके कल्याण-विचारसे ही है इसमें अणुमात्र सन्देह नही। यही अर्वाचीन पुरुषोंके द्वारा उपन्यस्त शंकाओंका यथाशास्त्र समाधान है। स्त्रीजातिके वेदपाठ तथा वैदिक संस्कारादिके विषयमें पूर्व प्रकरणमें पहिले ही चर्चा की जा चुकी है। अब प्रश्नोत्तररूपसे स्पृश्यास्पृश्यादि कुछ आवश्यक विषयों पर विचार किया जाता है।

प्र०—अस्पृश्य जातियां कौन कौन है और कैसे है ?

उ०—प्रतिलोम संकरतासे उत्पन्न कई एक जातियां 'अस्पृश्य' कहाती हैं। संकरता अनुलोम और प्रतिलोम दो प्रकारकी होती है। उच्चवर्णके पुरुष और निम्नवर्णकी स्त्रीके द्वारा उत्पन्न सन्तान अनुलोमसंकर कहाती है और उच्च वर्णकी स्त्रियां बिगड़ कर निम्नवर्णके पुरुषोंसे जो सन्तान उत्पन्न करती हैं, वह प्रतिलोम-संकर कहाती है। सतीधर्मप्रधान आर्यशास्त्रमें स्त्रियोंका व्यभिचार अति निन्दनीय बताया गया है। इस कारण ऐसी सन्तान भी—अति अधम तथा अस्पृश्य कहाती है। इनके शरीरकी बिजली (Magnetism) बहुत खराब होनेसे उच्च वर्णके स्त्रीपुरुष अपने शरीरकी उत्तम बिजलीकी रक्षाके लिये इन्हें स्पर्श करना अनुचित समझते हैं। वेदमें भी इस विषयका मन्त्र मिलता है जैसा कि पहिले बताया गया है, यथा—

"य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा"। अर्थात् निन्दित पापकर्मी जन श्वान, शूकर, चाण्डालादि निकृष्ट योनियोंमें जन्मलाभ करते है। अतः वेदमतानुसार चाण्डालादि योनि नीच योनि सिद्ध हुई। किस प्रकार प्रतिलोम सम्बन्धसे ऐसी जातियां उत्पन्न होती है इस विषयमें मन्वादि स्मृतियोंमे अनेक प्रमाण मिलते है, यथा—

शूद्रादायोगवः क्षत्ता चाण्डालश्चाधमो नृणाम्।
वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः॥ म० १०-१२

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः।
वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ ॥ १०-११
ब्राह्मणाद् वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते।
निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥ १०-८
कारावरो निषादात्तु चर्मकारः प्रसूयते। १०-३६

शूद्र पुरुषसे वैश्य स्त्रीमे उत्पन्न सन्तान 'आयोगव', क्षत्रिय स्त्रीमे उत्पन्न सन्तान 'क्षत्ता' और ब्राह्मण स्त्रीमे उत्पन्न नराधम सन्तान 'चाण्डाल' कहलाती है। क्षत्रिय पुरुषसे ब्राह्मण स्त्रीमें उत्पन्न सन्तान 'सूत', वैश्य पुरुषसे क्षत्रिय स्त्रीमें उत्पन्न सन्तान 'मागध' और ब्राह्मण स्त्रीमे उत्पन्न सन्तान 'वैदेह' कहलाती है। ब्राह्मणपतिसे वैश्यकन्यामें उत्पन्न सन्तान 'अम्बष्ठ' और शूद्रकन्यामे उत्पन्न सन्तान 'निषाद' या 'पारशव' कहलाती है। ऐसे निषाद पुरुषसे वैदेह स्त्रीमें उत्पन्न सन्तान 'चर्मकार' या 'चमार' कहलाती है। 'डोम भङ्गी' ये सब चाण्डालके ही भेदमात्र है। चमार, डोम, भङ्गी, चाण्डाल ये सभी प्रतिलोमसंकर जातियां ऊपर लिखित कारणसे 'अस्पृश्य' कहलाती हैं।

प्र०—क्या इन जातियोंके उच्च जातियोंके साथ लौकिक वर्तावके विषयमें शास्त्रोंमें कुछ प्रमाण मिलते हैं?

उ०—बहुत प्रमाण मिलते हैं। मनुसंहिताके ४र्थ अध्यायका २२३वां श्लोक है—

नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः।
आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥

विद्वान् ब्राह्मणको शूद्रके हाथका बनाया हुआ पक्वान्न भोजन नहीं करना चाहिये। कदाचित् भोजन न मिलनेकी हालतमे एक दिनके निर्वाहमात्रके लिये शूद्रसे कच्चा सीधा ले सकते है। आपस्तम्बके प्र० २, पटल २, खं० २, सूत्र ४ में जो 'आर्या अधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः' लिखा है इसका अर्थ यह नही है कि शूद्र जाति ब्राह्मणोके यहां रसोई करे, जैसा कि अर्वाचीन लोगोंने लिखा है किन्तु केवल संस्कार करना अर्थात् घरमें झाड़ू लगाना, वर्त्तन साफ करना आदि कार्य ही इसके द्वारा सूचित होते है। और जब शूद्रके हाथका खाना

शास्त्रमें मना है तो अस्पृश्य जातियोंके साथ सहभोजन तो कदापि शास्त्र-सम्मत नहीं हो सकता है। अतः इन जातियोंको जनेऊ देना, इन्हें वेद पढाना, इनके हाथका जल पीना या इनके साथ सहभोज करना सर्वथा निषिद्ध है। पराशरसंहितामें लिखा है—

चाण्डालदर्शने सद्य आदित्यमवलोकयेत्।
चाण्डालस्पर्शने चैव सचैलं स्नानमाचरेत्॥

चाण्डाल कहीं दृष्टिपथमें आजाय तो सूर्यदेवको देखकर पवित्र होना चाहिये। चाण्डालसे स्पर्श होजानेपर सचैल स्नान कर शुद्ध होना चाहिये। मनुसंहितामें लिखा है—

चाण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात् प्रतिश्रयः।
अपपात्राश्च कर्त्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम्॥ १०—५१
न तैः समयमन्विच्छेत् पुरुषो धर्ममाचरन्।
व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह॥ १०—५२

चाण्डाल और श्वपचोंको ग्रामके बाहर निवासस्थान देना चाहिये इनका भोजन किया पात्र जलाने पर भी शुद्ध नहीं हो सकता है, कुत्ता और गधा इनका धन है। किसी धर्मकार्यके समय इन्हें सामने नहीं आने देना चाहिये। इनका लौकिक व्यवहार तथा विवाहादि आपसमें ही होना कर्त्तव्य है। इत्यादि इत्यादि अनेक प्रमाण शास्त्रमें मिलते हैं।

प्र०—क्या यह सब अस्पृश्य जातियोंके प्रति शास्त्रोंका अनुचित आदेश नहीं है?

उ०—प्रथम दृष्टिमें अनुचितसा प्रतीत होने पर भी धीर होकर विचार करनेसे महर्षियोंकी दूरदर्शिता ही इसमें झलकती है। आजकलके डाक्टरी-सायन्समें संक्रामक रोगों [Contagious diseases] के विषयमें कैसे कैसे विज्ञान निकले हैं यह सभी लोग जानते हैं। चेचक, प्लेग, इनफ्लुयेन्ज़ा, हैजा, मलेरिया आदि सभी रोग आजकल संक्रामक बताये जाते हैं और ऐसे रोगियोंके स्पर्शसे बचे रहनेको डाक्टर लोग कहा करते हैं। आर्यशास्त्रमें भी इस विषयमें स्थूल सूक्ष्म बहुत कुछ विचार किया गया है। यथा सुश्रुत निदानस्थानके ५म अध्यायमें—

प्रसङ्गाद् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्।
सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिस्यन्द एव च।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥

एकसाथ आलाप, शारीरिक स्पर्श, श्वास, एकसाथ खाना, सोना या बैठना, पहननेका कपडा या माला—इन सबके द्वारा कुष्ठ, ज्वर, शोष, आंखों-का आना, चेचक, हैजा, प्लेग आदि सक्रामक रोग एक शरीरसे अन्य शरीरमें जाते है। कूर्मपुराणमे महर्षि बृहस्पतिने नौ प्रकारके संसर्गदोष बताये हैं—

एकशय्यासनं पंक्तिर्भाण्डपक्वान्नमिश्रणम्।
याजनाध्यापनं योनिस्तथा च सहभोजनम् ॥
नवधा संकरः प्रोक्तो न कर्त्तव्योऽधमैः सह।
समीपे चाप्यवस्थानात् पापं संक्रमते नृणाम् ॥

(कूर्म० १५)

एक शय्यापर सोना, एक आसनपर बैठना, एक पक्तिमें भोजन, भोजन-पात्र या अन्नका मिलाना, याजन, अध्यापन, योनिसंसर्ग और सहभोजन ये नौ प्रकारके ससर्ग कहलाते है। नीच जनोंके साथ ऐसे ससर्ग नहीं होने चाहिये। समीप रहनेसे एकका पाप दूसरेमे जाता है। महर्षि पराशरने कहा है—

आसनाच्छयनाद् यानाद् भाषणात् सहभोजनात्।
संक्रामन्ति हि पापानि तैलविन्दुरिवाम्भसि ॥

जिस प्रकार जलमे तेल फैल जाता है ऐसा ही एक साथ बैठने, सोने, जाने, बोलने और भोजन करनेसे एकका पाप दूसरेमे फैलता है। महर्षि देवलने कहा है—

संलापस्पर्शनिःश्वाससहशय्यासनाशनात्।
याजनाध्यापनाद् यौनात् पापं संक्रमते नृणाम्।

परस्पर आलाप, स्पर्श, निःश्वास, एकत्र शयन, बैठना, भोजन, याजन, अध्यापन और योनिसम्बन्ध द्वारा एक शरीरसे दूसरेमें पाप जाता है। महर्षि छागलेयने कहा है—

आलापाद् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्।
सहशय्यासनाध्यायात् पापं संक्रमते नृणाम्॥

आलाप, गात्रस्पर्श, निःश्वास, एकत्र भोजन-शयन-उपवेशन तथा अध्ययनसे एकका पाप दूसरेमें प्रवेश करता है। श्रीभगवान् वेदव्यासने आह्निक आचारतत्त्वमें कहा है—

अप्येकपंक्तौ नाश्नीयात् संवृतः स्वजनैरपि।
को हि जानाति किं कस्य प्रच्छन्नं पातकं महत्॥
भस्म-स्तम्भ-जल द्वारमार्गैः पंक्ति च भेदयेत्॥

अन्यकी तो बात ही क्या, अपने जनोंसे भी एक पंक्तिमें भोजनके समय भस्म, तृण या जलसे पंक्तिभेद कर लेना चाहिये। क्योंकि कौन जाने किसके भीतर कौन पाप छिपा हुआ है।

इन सब पुष्ट प्रमाणोंसे शंका समाधान अच्छा हो जायगा। अस्पृश्य जातियोंके शरीर मलिन होनेसे उनके द्वारा स्थूल रोगादिका और अन्य पाप मूलक होनेसे उनके संस्पर्श द्वारा अनेक सूक्ष्म रोगोंका फैलना बहुत सम्भव है। संसारमें अच्छे बननेकी अपेक्षा बुरे बननेकी आशङ्का ही अधिक रहती है। इसी कारण इन जातियोंके विषयमें इस प्रकारकी आज्ञाएं आर्य्यशास्त्रमें मिलती हैं।

अब स्पृश्यास्पृश्यके विषयमें पश्चिमी विद्वानोंके अनुभवके कुछ प्रमाण दिये जाते हैं, यथाः—

Lately in "The Indian Thinker" there was an article reporting the experiments of a great European scientist, which demonstrated that every man according to his culture and race carries an etheric envelop about him, which is a centre of peculiar emanations, peculiar to the individual Another who may come within his range of that emanation may be affected even psychically. In a previous number of this very Journal, a note about the menstruating woman appeared, which showed that apart from medical consideration there is in that woman a sort of magnetic disturbance,

capable of affecting even plants in her contact. The psychic researches amply prove that contracts should be forbidden on spiritual grounds, in order to safeguard and to grow the integrity and virtues of a particular individual or caste. This idea of segregation on spiritual or psychic basis, of caste and individual, was so nicely carried by our ancient Rishis, who were perfect masters of knowledge, that it was adopted in their science of engineering and town planning.

(Sanatanist 11-3-29)

'इण्डियन थिङ्कर' नामक पत्रिकामें एक पश्चिमी वैज्ञानिकका अनुभव प्रकाशित हुआ था। उन्होंने यन्त्रके द्वारा यह विषय प्रमाणित कर दिया है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी जाति तथा शिक्षाके अनुसार अपने शरीरमे एक प्रकारकी वैद्युतिक शक्ति धारण करता है, जो कि उसके शरीरके चारों ओर फैली हुई रहती है और जो मनुष्य उस शक्तिके दायरेके भीतर आजाता है उसपर उस शक्तिका प्रभाव अवश्य ही होता है। ऋतुमती स्त्रीके भीतरसे कैसी बुरी विद्युत्शक्ति निकलती है, जिससे वृक्षके फूल, फल, पत्ते तक नष्ट हो जाते हैं इसका प्रमाण पहिले ही दिया जा चुका है। पूज्य महर्षियोंको इन सब वैज्ञानिक तथ्योंका पूरा अनुभव था, इसी कारण सभी व्यवहारोंमे वे इन सबका प्रयोग करते थे।

एक शरीरसे अन्य शरीरमे स्पर्श द्वारा दोष जानेके विषयमे अति स्पष्ट प्रमाण पराशर भाष्य सप्तम अध्यायमें मिलता है, यथा:—

ज्वराभिभूता या नारी रजसा च परिप्लुता।
कथं तस्या भवेच्छौचं शुद्धिः स्यात् केन कर्मणा॥

चतुर्थेऽहनि संप्राप्ते स्पृशेदन्या तु तां स्त्रियम्।
सा सचेलावगाह्यापः स्नात्वा चैव पुनः स्पृशेत्॥

दशद्वादशकृत्वो वा आचामेच्च पुनः पुनः।
अन्ते च वाससां त्यागस्ततः शुद्धा भवेत्तु सा॥

(महर्षि उशना)

ज्वरग्रस्ता ऋतुमती स्त्री विना स्नान किये कैसे शुद्ध हो सकती है इसका उपाय यह है कि कोई दूसरी स्त्री उसको स्पर्श करती रहे और सचेल स्नान

करती रहे तथा हाथ, पांव, मुख धोती रहे, इस प्रकारसे दस बारह बार करनेपर रजस्वलाके सब दोषको स्पर्श द्वारा दूसरी स्त्री ले लेगी और उस दोषको स्नान तथा हस्तपद प्रक्षालन आचमन द्वारा वह जलमें छोड़ देगी। इस प्रकारसे एकका दोष दूसरीमें और दूसरीसे जलमें जाकर लय होगा। स्पृश्यास्पृश्य विज्ञानकी सत्यताका यह अकाट्य दृष्टान्त है।

Miss Helen M. Mathews of the University of British Columbia demonstrated that bacili were readily transferred from one to another by even hand-shaking or shake-hand

केवल हाथके साथ हाथ मिलानेसे हज़ारों कीटाणु एक शरीरसे दूसरे शरीरमें चले जाते हैं, इस सत्यको कलम्बिया विश्वविद्यालयकी मिस हेलेन साहेबाने यन्त्रके द्वारा प्रमाणित कर दिखाया है। अभी हालमें ही किसी दूसरे वैज्ञानिकने प्रमाणित किया था कि मुखमें मुख लगाने पर भी हजारों कीटाणु एकसे दूसरेके शरीरमे प्रविष्ट हो जाते है।

How true it is that one's personality is not cribbed, cabined and confined within the limits of the visible flesh. To come in contact with, to touch another it is not necessary to handle him. Even to shake hands may at times be inconvenient or possibly objectionable.

Perhaps, as you have learnt by sad experience, he has a grasp as of the 'mailed fist' or going to the other extreme he merely extends an open 'paw'. So you just 'wrap yourself in his aura' and if you are at all sensitive, there is a very real spiritual communion.

To get en rapport with our affinities is to draw upon a larger reservior of energy. And some are so magnetic, advanced far beyond the primitive personal consciousness, that they make friends everywhere, with every one, and so have at command a stupendous force which is every

irradiating into the auras, the ethers, the atmospheres that surround everything in creation and particularly in the Kingdom of Mankind

(Frederic. W Burry—Kalpaka 12–1928)

यह ठीक सत्य है कि मनुष्यकी सत्ता केवल उसीके रक्तमांसकी सीमाके भीतर व्याप्त नही रहती है। किन्तु अपनी शक्तिको मनुष्य बहुत दूरतक फैला सकता है। केवल स्पर्श करने या हाथ मिलानेमें ही कभी कभी बड़ी असुविधा होने लगती है। यह अनुभवसिद्ध सत्य है कि किसी किसीमे अच्छी बुरी ऐसी शक्ति होती है कि वह 'शेक हैण्ड' नही बल्कि अपने चङ्गुलमें दूसरेको फँसा ही लेता है। और जिसको वह स्पर्श करता है, वह निःसन्देह उसकी 'अरा' के आवरणके भीतर आ ही जाता है। ऐसे उत्तम शक्तिमान् पुरुष जहां जाते हैं वहां सबके सब उनके मित्र बन जाते हैं, उनकी असीम शक्ति अपनी अरामे, उससे बाहरके 'इथर' में और सर्वत्र वायुमण्डल तथा आकाशमण्डलमे व्याप्त होती रहती है। इस प्रकारसे समस्त सृष्टि और विशेष कर मनुष्यजगत्में उनकी उत्तम शक्ति व्याप्त हो जाती है। (फ्रेड्रिक-बरे—कल्पक)

ऋक् संहितामे इसी सत्यका प्रमापक मन्त्र मिलता है, यथाः—

'यन्मनसा मनुते तद् वातमपि गच्छति' जो कुछ मनमे चिन्ता होती है उसकी शक्ति वायुमण्डलमे व्याप्त होती है और उसका प्रभाव दूसरेके ऊपर पड़ता है। 'Thought exists in a sense in the vibrations of the air' चिन्ताका तरङ्ग पवनके स्पन्दनमे बह जाता है ऐसा अलिभार लज साहबने भी कहा है।

"This is the magnetism you are developing for the purpose of healing. This development will require several months of earnest practice. This will give you the psychic force to heal at a mere touch, and the muscles all through your body will vibrate with this power when you treat the sick and cure disease in a very short period of time. You will feel the streams of psychic currents leaving

your finger tips like a flow of water and you will be enabled to heal any disease, even at touch

(Prof. R. E. Dutton—Kalpaka 7-1924)

प्रोफेसर आर. ई. डटन साहबने रोग आराम करनेके लिये शक्ति लाभ करनेके बाद क्या होता है सो ही कहा है । आप कहते है कि कई महीने तक अभ्यास द्वारा जब अपने भीतर विद्युत् शक्ति उत्पन्न हो जाती है तो केवल स्पर्श द्वारा कठिन रोगोंसे मनुष्यको आराम किया जा सकता है । उस समय अपने शरीरके भीतर उस शक्तिका अनुभव होने लगता है और जलकी धाराकी तरह शक्तिकी धारा हाथोंकी अङ्गुलियोंसे निकल रही है ऐसा मालूम पड़ने लगता है । और भी—

Both desease and health are catching. If you mingle with unhealthy people and thoughts you will become unhealthy. If you mingle with persons of great health and strength and live in such thoughts you become likewise

(Ibid Kalpaka 6-24).

रोग और स्वास्थ्य दोनों ही स्पर्शसे सम्बन्ध रखते है । खराब शरीर तथा अन्तःकरणवाले मनुष्यके साथ मिलनेसे शरीर तथा मन दोनो ही खराब होते है और अच्छेके साथ अच्छे होते हैं । (कल्पक ६-२४)।

इस प्रकारसे पश्चिमी विद्वानोंने स्पृश्यास्पृश्य रहस्यको प्रमाणित कर दिखाया है । अत. अस्पृश्य जातिके मनुष्योंके विषयमे उनकी आज्ञाए सब ठीक तथा वैज्ञानिक सत्यता पर प्रतिष्ठित हैं ।

प्र०—क्या देश, काल और मनुष्यकल्याण विचारसे इन आज्ञाओंमें कुछ शिथिलता नही की जा सकती है ?

उ०—अवश्य की जा सकती है और आर्यशास्त्रमें इसीके लिये अनुकल्प तथा आपत्कल्पका विधान किया गया है ।

प्र०—अनुकल्प, आपत्कल्प या आपद्धर्मका लक्षण क्या है और इसके विषयमें आर्यशास्त्रमे कौन कौन विचार किया गया है ?

उ०—पूज्यपाद महर्षियोंने धर्मके चार भेद किये है, यथा—साधारण, विशेष, असाधारण और आपद्धर्म । धर्मके २४ अङ्ग तथा ७२ अङ्गरूपसे यज्ञ,

तप, दानादिका जो वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है और धृति, क्षमा आदि जो दस लक्षणात्मक धर्म मनुसंहितामें लिखा है यह सब साधारण धर्म है। इसमें पृथिवीके सब मनुष्योंका अधिकार है, इस कारण भी वे साधारण धर्म कहाते हैं। पुरुषधर्म, नारीधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, प्रवृत्तिधर्म, निवृत्तिधर्म, आर्यधर्म, अनार्य-धर्म इत्यादि सब विशेष धर्म हैं। इनमे विशेष विशेष व्यक्तिका अधिकार रहता है। तीसरा असाधारण धर्म कुछ विलक्षण ही है। जैसा विश्वामित्रका ब्राह्मण होना, द्रौपदीका पञ्चपति होना, नन्दिकेश्वरका देवता होना इत्यादि। यह धर्म असाधारण शक्तिसे सम्बन्ध रखता है। इसका वर्णन वेद तथा पुराणोंमें कहीं कहीं आता है। चतुर्थ—अर्थात् आपद्धर्म सबसे विलक्षण है। देश, काल, पात्र तथा भावके अनुसार इसका निर्णय हुआ करता है। आपत्तिमूलक सिद्धान्त इस धर्मनिर्णयके विज्ञानमें सम्मिलित रहता है। इस कारण इसको आपद्धर्म कहते हैं। तात्पर्य्य यह है कि आपत्तिकी असुविधाओंको सम्मुख रखकर देश, काल तथा पात्रके विचारानुसार सद्भावके अवलम्बनसे जो धर्म-निर्णय होता है उसीको आपद्धर्म कहते हैं। कलियुगमें जीवोंकी प्रकृति प्रवृत्ति साधारणतः बहुत ही निम्नाधिकारकी है और कलियुगका देशकाल भी धर्माचरणमे प्रायः प्रतिकूल है। इसलिये मुख्य कल्पके बदले इस युगमें प्रायः अनुकल्पका विधान तथा मुख्य धर्म्मके स्थानपर आपद्धर्मका ही पालन सम्भवपर होता है।

आपद्धर्मपालनमें भावकी मुख्यता है। अर्थात् आपत्कालमें यदि कोई साधारणतः गर्हित कर्म भी करना पडे तो अन्तःकरणमें भावकी शुद्धि रहनेसे असत्कर्म भी सत्कर्म बन जाता है। अतः उससे पतन न होकर उन्नति ही होती है। भाव-शुद्धिके दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि, कामादि पाशविक क्रिया अत्यन्त नीच होनेपर भी देश तथा वंश समुज्वलकारी सुसन्तानोत्पत्ति-के सद्भावको लेकर अनुष्ठित होनेके कारण सत्कर्ममे परिणत हो जाती है। इसी प्रकार जीवहिंसा महापाप होनेपर भी राज्यरक्षा या अधिक जीवकी कल्याण-कामनासे आचरित जीवहिंसा धर्मरूपमें परिणत हो जाती है, नीचका अन्नग्रहण महापाप होनेपर भी जीवित रहकर जगत्की सेवा करेंगे, इस शुद्ध भावसे दुर्भिक्षादि आपत्कालमें गृहीत नीचका अन्न भी आत्माकी अवनतिका कारण नहीं बनता है। येही सब आपद्धर्म-पालनमें भावकी मुख्यताके दृष्टान्त हैं।

महाभारतके शान्तिपर्वमें आपत्कालमें जीवनोपाय वर्णन करते समय श्रीभगवान् भीष्म पितामहने कहा है—

एवं विद्वानदीनात्मा व्यसनस्थो जिजीविषुः।
सर्वोपायैरुपायज्ञो दीनमात्मानमुद्धरेत् ॥
एतां बुद्धिं समास्थाय जीवितव्यं सदा भवेत्।
जीवन् पुण्यमवाप्नोति पुरुषो भद्रमश्नुते ॥

विद्वान् व्यक्ति आपद्ग्रस्त होनेपर सभी प्रकारके उपायोंसे अपनेको आपत्से मुक्त करे क्योंकि प्राणकी रक्षा होनेपर मनुष्य पुण्य-सञ्चय द्वारा आपत्कालीन अवैध-कर्म-जनित समस्त दोषको दूर करके कल्याणके अधिकारी हो सकते हैं। इसके अनन्तर धर्माधिकारीको सावधान करनेके लिये उन्होंने कहा है—

विश्वैर्देवैश्च साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधिः प्रतिनिधीकृतः ॥
प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्त्तते।
न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥

देवता, विश्वेदेवा, साध्य, ब्राह्मण व महर्षिगण आपत्कालमें मृत्यु-भयसे भीत होकर मुख्य कल्पके स्थानपर अनुकल्प द्वारा जीविका-निर्वाह कर सकते हैं। परन्तु मुख्य कल्प-पालनमें समर्थ होनेपर भी जो अनुकल्पके द्वारा जीवन निर्वाह करना चाहते हैं उनको परलोकमें कोई भी सुफल नही प्राप्त होता। श्रीभगवान् मनुने भी कहा है—

आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः।
स नाऽऽप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥

जो द्विज अनापत्कालमें भी आपद्धर्मका अनुष्ठान करते हैं वे परलोकमें उस कर्मका फल नही पाते हैं। इसलिये सब ओर विचार करके महर्षि याज्ञवल्क्यजीने कहा है :—

क्षात्रेण कर्मणा जीवेद्विशां वाप्यापदि द्विजः।
निस्तीर्य तामथात्मानं पावयित्वा न्यसेत्पथि ॥

ब्राह्मण आपत्कालमें क्षत्रिय अथवा वैश्यजनोचित कर्मानुष्ठान द्वारा जीवनमात्र निर्वाह करेंगे। परन्तु आपन्मुक्त होते ही अनुकल्प वृत्तिको परित्याग करके उस दीनदशासे अपने आत्माको मुक्त करेंगे। पात्रके विचारसे आपत्कालीन कर्त्तव्यनिर्णय प्रसङ्गमें श्रीभगवान् मनुने कहा है —

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः॥
उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद् वैश्यस्य जीविकाम्॥
जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः।
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित्॥
यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत्॥
वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः॥
वैश्योऽजीवन् स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्त्तयेत्।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्त्तेत च शक्तिमान्॥
अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम्।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत् कारुककर्मभिः॥
यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः।
तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च॥ (१० अ०)

यदि ब्राह्मण अपने स्वाधिकारानुकूल कर्म द्वारा जीविकाका निर्वाह करनेमें असमर्थ हों तो क्षत्रिय वृत्तिके द्वारा जीविका निर्वाह करे, क्योंकि यही उनकी आसन्नवृत्ति है। यदि स्ववृत्ति व क्षत्रियवृत्ति दोनोंहीके द्वारा जीविका निर्वाह असम्भव हो जाय तो इस दशामें कृषि गोरक्षा आदि वैश्यवृत्तिके द्वारा जीवन धारण कर सकते हैं। ब्राह्मणकी तरह क्षत्रिय भी आपत्कालमें कृषि, वाणिज्य आदि वैश्यवृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह कर सकते हैं। परन्तु कभी

ब्राह्मणवृत्ति नहीं कर सकते। यदि कोई अधम जाति उत्तम जातिकी वृत्तिसे जीविका निर्वाह करना चाहे तो राजाका कर्त्तव्य है कि उसका सर्वस्व हरण करके उसे देशसे निर्वासित कर दे। अपना धर्म, निकृष्ट होनेपर भी अनुष्ठेय है और परधर्म उत्कृष्ट होनेपर भी अनुष्ठेय नहीं है, क्योंकि उच्च जातिके धर्म द्वारा जीवन धारण करनेसे मनुष्य शीघ्र ही अपनी जातिसे पतित हो जाता है। वैश्य अपने धर्म द्वारा जीवन धारणमें असमर्थ होनेपर अनाचार परित्याग करके द्विजशुश्रूषादि शूद्रवृत्ति द्वारा जीविका निर्वाह कर सकते हैं, परन्तु आपन्मुक्त होते ही शूद्रवृत्ति परित्याग करना होगा। शूद्र यदि निज वृत्ति द्वारा परिवार प्रतिपालनमें असमर्थ हो तो कारु कार्य आदि द्वारा जीवन धारण कर सकता है। जिस कार्यके द्वारा द्विजसेवा हो सकती है, इस प्रकारके कार्य व शिल्पकार्य इस दशामें शूद्रको करने होंगे। इस प्रकारसे प्रत्येक वर्णके लिये आपत्कालमें जीवनोपाय निर्द्धारित करके श्रीभगवान् मनुजीने सभी वर्णोंके लिये कुछ साधारण रूपसे आपत्कालीन वृत्तियोंका निर्णय कर दिया है, यथा :—

> विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः।
> धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः॥ (१०–११६)

विद्या, शिल्पकार्य, नौकरी, सेवा, गोरक्षा, वाणिज्य, कृषि, धृति (जो अवस्था हो उसीमें सन्तोष) भिक्षा व सूदग्रहण ये दस प्रकारके जीवनोपाय आपत्कालमें सुविधा व शक्तिके अनुसार सभी वर्णोंके लिये विहित हैं।

देश व कालके अनुसार आपद्धर्मका विचार करते हुए महर्षि पराशरजीने अपनी संहितामें कहा है :—

> देशभङ्गे प्रवासे वा व्याधिषु व्यसनेष्वपि।
> रक्षेदेव स्वदेहादि पश्चाद्धर्मं समाचरेत्॥
> येन केन च धर्मेण मृदुना दारुणेन च।
> उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत्॥
> आपत्काले तु सम्प्राप्ते शौचाचारं न चिन्तयेत्।
> स्वयं समुद्धरेत् पश्चात् स्वस्थो धर्मं समाचरेत्॥

देशमें विप्लव या दुर्भिक्ष आदि उत्पन्न होनेसे अथवा महामारी आदिका भय होनेसे पहिले शरीरकी रक्षा करके पश्चात् धर्मानुष्ठान करें। आपत्कालमें

मृदु या दारुण किसी भी उपायसे दीन आत्माकी रक्षा करनी चाहिये। तदनन्तर जब सामर्थ्य हो तब धर्मानुष्ठान करना चाहिये। पहिले विपत्तिसे अपनेको बचाकर पश्चात् शौचाचारानुकूल धर्मानुष्ठान करना चाहिये। आपत्-कालमें भोजनादिके विषयमें लिखा है—

आपद्गतः सम्प्रगृह्णन् भुञ्जानो वा यतस्ततः।
न लिप्यतैनसा विप्रो ज्वलनार्कसमो हि सः॥

(मिताक्षरा)

आपत्काले तु विप्रेण भुक्तं शूद्रगृहे यदि।
मनस्तापेन शुध्येत्तु द्रुपदां वा शतं जपेत्॥

(पराशरः)

आपत्तिमें पड़कर ब्राह्मण यदि जहां कहींसे अन्न ग्रहण करें या भोजन कर लें तो अग्नि और सूर्यके समान होनेके कारण वे पापभागी नहीं होंगे। आपत्कालमे ब्राह्मण यदि शूद्रके घरका अन्न खा लें तो पश्चात्तापसे या सौ गायत्री जप करनेसे शुद्ध होंगे। केवल इतना ही नहीं, इस विषयमें वेदमे भी अनेक प्रसङ्ग आते हैं यथा छान्दोग्योपनिषद्के प्रथम अध्यायके दशम खण्डमें—

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्ति ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास।

स हेभ्यं कुल्माषान् खादन्तं विभिक्षे, तं होवाच नेतोऽन्ये विद्यन्ते, यच्च ये म इम उपनिहिता इति।

एतेषां मे देहीति होवाच, तानस्मै प्रददौ हन्तानुपानमिति, उच्छिष्टं वैमे पीतं स्यादिति होवाच।

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजीविष्यमिमानखादन्निति होवाच कामो म उदकपानमिति।

स ह खादित्वातिशेषाञ्जायाया आजहार, साग्र एव सुभिक्षा बभूव, तान् प्रतिगृह्य निदधौ।

स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच-यद्बतान्नस्य लभेमहि, लभेमहि धनमात्रां राजासौ यक्ष्यते, स मा सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति।

तं जायोवाच हन्त पत इम एव कुल्माषा इति, तान् खादित्वामुं यज्ञं विततमेयाय।

इन मन्त्रोंका तात्पर्य यह है कि कुरुदेशके वज्राग्निदग्ध होनेपर उषस्ति नामक एक ब्राह्मण दुर्दशाग्रस्त होकर सस्त्रीक इभ्यग्राममे निवासार्थ जाने लगे। रास्तेमें उन्होने देखा कि एक सुनिर्मल प्रस्रवण (झरना) की धारा बह रही है और उसके पास बैठकर एक हस्तीपक (हथवान) मसूरकी दाल खा रहा है। कई दिनोंके उपवासी ऋषिने प्राणधारणके लिये और कोई भी उपाय न देखकर उस नीच जाति हस्तीपकसे ही उसकी उच्छिष्ट दाल भिक्षा मांगी और उसका आधा स्वयं खाकर आधा पत्नीको दे दिया। उच्छिष्ट दाल खानेके बाद उसने जब उच्छिष्ट जल देना चाहा तो ऋषिने उसे ग्रहण करना अस्वीकार किया और कहा—"मैं तुम्हारा उच्छिष्ट जल नहीं पिऊंगा।" हस्तीपकने थोड़ा हंसकर कहा—"आपने उच्छिष्ट दाल तो खा ली उससे आप पतित नहीं हुए और उच्छिष्ट जल पीनेसे ही पतित हो जायगे?" इस बातको सुनकर ऋषिने उत्तर दिया—"मैं अनाहारसे मर रहा था इसलिये आपत्कालमें प्राणरक्षार्थ तुम्हारी उच्छिष्ट दाल भी खायी है, परन्तु जल तो सामने ही झरनेसे आरहा है इसलिये जलका क्लेश नहीं है। इस कारण उच्छिष्ट जल पीनेका प्रयोजन नहीं है।" इस प्रकारसे उस दिनके लिये प्राणधारणका उपाय हो जानेपर फिर आगे भिक्षाके लिये पतिपत्नी चले। परन्तु दूसरे दिन कहीं कुछ भी नहीं प्राप्त हुआ। उस समय अनाहार पतिको मृत्युमुखमें अग्रसर देखकर ऋषिपत्नीने अपने कपड़ेमें बंधी हुई पहिले दिनकी दाल निकालकर उन्हें दे दी। ऋषिने चकित होकर कहा "क्या तुमने कलकी दाल नहीं खाई थी?" इसपर ऋषिपत्नीने उत्तर दिया "आपने तो कहा था कि अनाहारसे मृतप्राय होनेपर ही आपने हस्तीपकका उच्छिष्ट अन्न खा लिया था, मैं कल मृतप्राय नहीं थी, इसलिये उस उच्छिष्ट अन्नको नहीं खाया था। मैं और एक दिन विना खाये बच सकती हूं, परन्तु आपका प्राण जारहा है इसलिये आप इस उच्छिष्ट दालको खाइये।" इस कथाके द्वारा आपत्कालमे कर्त्तव्यनिर्णयका दृष्टान्त अच्छी तरहसे सिद्ध हो जाता है और स्वधर्मसे नीचेका धर्म तथा शौचाचारसे विरोधी व्यवहार भी आपत्कालमें विहित आचाररूपसे परिगणित हो सकता है इस विज्ञानकी सम्यक् सिद्धि हो जाती है।

प्र०—छुआछूतके विषयमे इस समय बहुत प्रकारके मतभेद है इस सम्बन्धमें शास्त्रोके क्या क्या सिद्धान्त है ?

उ०—देशकालानुसार अनेक कारणोसे छुआछूत जैसे आचारोमें तारतम्य हुआ करता है इस सम्बन्धमें शास्त्रोमे स्पष्ट आज्ञा विद्यमान है । यथाः—

तीर्थे विवाहे यात्रायां संग्रामे देशविप्लवे ।
नगरग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति ॥

(बृहस्पति)

अर्थात् तीर्थस्थानमे, विवाहोत्सवकालमे, रेल आदिकी यात्राओमे, युद्धक्षेत्रमें, राष्ट्रविप्लवमे, नगर या ग्राममें जब आग लगे उस समयमे, छुआछूतका दोष नही लगता ।

देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च ।
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते ॥
प्राकाररोधे विषमप्रदेशे, सेनानिवेशे भवनस्य दाहे ।
आरब्धयज्ञेषु महोत्सवेषु, तेष्वेव दोषा न विकल्पनीयाः ॥

(अत्रिस्मृति)

देवताओंकी शोभायात्रा (सवारी) मे, विवाहोत्सवकालमे, यज्ञोत्सवके समय और सब प्रकारके उत्सवोके समय छुआछूतका दोष नही हुआ करता है ।

किला घिर जानेपर, देशमे उपद्रव उठनेपर, सेनाओंसे घेर लिये जानेपर, घरमे आग लग जानेके समय, यज्ञके समय और किसी बड़े उत्सवके समय छुआछूतका दोष नही लगता ।

इसलिये इस समय आपद्धर्म और राजनैतिक परिस्थितिके विचारसे सनातनधर्मावलम्बिगण नीचवर्ण और आचारभ्रष्ट या अन्त्यज अथवा विधर्मियोंके साथ सभासमितिमें, रेल वगैरहमे, उत्सवकार्योंमें, युद्ध, राष्ट्रविप्लव अथवा ऐसे ही अन्य किसी कार्यमें यदि छुआछूतका पूरा विचार न करे तो वे प्रायश्चित्ती न होंगे । किन्तु यह समय यथार्थमे आपत्काल है या नही और राजनैतिक परिस्थितिको देखते हुए विना ऐसा किये काम चल सकता है या नही, इसका खूब विचार करके तब अनुकल्प या आपद्धर्मका आश्रय

लेना चाहिये, नहीं तो अवश्य पातित्यदोष होगा । समुद्रयात्राके विषयमें भी यही विचार समझना चाहिये ।

प्र०—जिन जातियामें विधवाविवाह प्रचलित नही है, एकादशीव्रत वगैरह किया जाता है, देवता और ब्राह्मणोंकी भक्ति और विधिपूर्वक पितृश्राद्ध इत्यादि किया जाता है, सविधि नामकरण और विवाह होना है, जिनके यहां अनेक शताब्दियोंसे सदाचार प्रचलित है, ऐसी जातियोंका जलग्रहण किया जा सकता है कि नही ?

उ०—ऐसी सदाचारसम्पन्न जाति और जिनके यहां अनेक शताब्दियों-से सदाचार विद्यमान है, अवश्य ही उनका जल ग्रहण किया जा सकता है। पंजाब, राजपूताना, उत्तरभारत और विहार आदि प्रान्तोमे अनेक ऐसी जातियां हैं, जिनके यहां सधवाविवाह, विधवाविवाह दोनों ही साधारणतः प्रचलित हैं, यहांतक कि उनके यहॉ सर्प और चूहेका अखाद्य मांसभक्षण भी किया जाता है, तथापि वे सब जातियां इन सब देशोंमें सर्वसाधारणमे जला-चरणीय समझी जाती हैं । ऐसी कदाचारसम्पन्न जातियां काशी आदि स्थानोमें जब जलाचरणीय समझी जा सकती है, तो पहिली जैसी सदाचार-सम्पन्न जातियां अवश्य जलाचरणीय होगी । ऐसी जाति यदि भारतके किसी स्थानमे हो, तो इस समय वह जलाचरणीय समझी जा सकती है।

प्र०—जलाचरणीय जाति किन जातियोंको कहा जा सकता है ?

उ०--सत्शूद्र मात्र ही जलाचरणीय है । समाजमे जो लोग असत् शूद्र कहे जाते हैं, उनमेसे अनेक शताब्दियोंसे जिनके यहां सदाचारका पालन होता है, उन लोगोंको भी जलाचरणीय कहा जा सकता है । जिन जातियोंमें पहिले लिखे हुए प्रश्नोत्तरोके अनुसार सदाचार विद्यमान है, सामयिक आपद्ध-र्मानुसार यदि उन लोगोंको भी जलाचरणीय माना जाय तो धर्मविरुद्ध न होगा ।

प्र०—राजपूतानेमें चमड़ेके डोलका जल और काश्मीरमें मुसलमानोंका छुआ हुआ जल सदाचारसम्पन्न विद्वान् ब्राह्मणोंके यहां भी चलता है, क्या यह प्रथा निन्दनीय नही है ?

उ०—देश कालके अनुसार आचार विचार भी हुआ करता है, यह स्व-भावसिद्ध है । काश्मीर देशमे केवल दो ही जातियां विद्यमान है, ब्राह्मण और

मुसलमान, तीसरी कोई जाति नहीं है, इसलिये मुसलमानोंको ही वहांपर हिन्दुओंने शूद्र जाति मान ली है । मुसलमानोंका जल वहां व्यवहारमे आनेपर भी मुसलमान लोग वहांपर जलपात्र छू नही सकते और खुली जगहमें जलको वायुसे शुद्ध करके सदाचारसम्पन्न हिन्दू लोग उस जलका व्यवहार करते है । (वायुशुद्ध अर्थात् चमडेके मशकमे लाया हुआ जल दूसरे तांबे या मिट्टीके वर्तनोंमे डाल दिया जाता है।) वहांके ब्राह्मणोंने जलाचरणके सम्बन्धमें यही मीमांसा की है कि वायुसे जल शुद्ध हो जाता है। उसी प्रकार राजपूतानेमें जलशुद्धिके सम्बन्धमें यही रीति प्रचलित है कि स्रोत द्वारा जल शुद्ध हुआ करता है । इस प्रान्तके अनेक स्थानोमे जहां जलकी कमी है, अस्पृश्य जातिके लोग ऊटौकी सहायतासे चमडेके डोलसे कूओंमेंसे जल निकालते हैं और एक कुण्डमे जल भरते हैं, उस कुण्डमेंसे बहकर जल दूसरे कुण्डमें जाता है और इस प्रकार प्रवाहित होते ही वह शुद्ध माना जाता है। आपद्धर्मानुसार इन सब सदाचारोंकी सार्थकता मानी जा सकती है। भारतके अन्य स्थानोंमे नलके जलके सम्बन्धमे भी यही नियम माना जा सकता है।

प्र०—अनुन्नत जातिके लोग आक्षेप किया करते है कि "सदाचार और कदाचारके द्वारा जाति स्पृश्य अथवा अस्पृश्य होती है । हमारे पूर्वजलोग कदाचार करके पतित हुए थे किन्तु इस समय हिन्दुओंमे उन्नतलोग कदाचार करके भी क्यो पतित नहीं होते ? और हम भी सदाचारी होनेपर अस्पृश्य क्यों रहेंगे ?"

उ०—उन्नत लोगोंको भी कदाचार करनेसे पतित होना चाहिये किन्तु ऐसे पातित्यको स्थिर करनेके लिये समाजबल और संघशक्तिकी आवश्यकता होती है। जो लोग किसी समय वास्तवमे सदाचारसम्पन्न जातिके अन्तर्गत थे और सदाचारविरुद्ध आचरण करके पतित हो गये हैं, ऐसी जाति सदाचारसम्पन्न होकर अवश्य ही सदाचारसम्पन्न जातिमें परिणत हो सकती है । किन्तु वह जाति किस प्रकारके कदाचारसे पतित हुई थी इस बातकी विवेचना अवश्य करनी होगी । अनार्य जातिके लोगोंके साथ योनि सम्बन्ध हुआ था या नहीं इसकी विवेचना भी करनी चाहिये।

प्र०—दक्षिण देश (मद्रास आदि प्रान्तो) में जिन जातियोंके प्रति ब्राह्मण लोग घृणादृष्टिसे देखते है उन जातियोंके प्रति क्या व्यवहार होना उचित है ?

उ०—उन लोगोंका आचार देखकर उनसे व्यवहार करना उचित है। दाक्षिणात्यमें ब्राह्मणसे अतिरिक्त कोई जाति जलाचरणीय नहीं है यह भी न्याय-सङ्गत नहीं है। उस प्रान्तमें क्षत्रिय, वैश्य और कायस्थादि जो लोग अपने अपने सदाचारकी बहुत दिनोंसे रक्षा करते चले आते हैं, उनके साथ उधरके ब्राह्मणोंका इधरके ब्राह्मण जैसा वर्ताव होना चाहिये। सर्वमत्यन्त गर्हितम्। उस प्रान्तमें जो शूद्रादि जातियां हैं, साधारणतः उनका जल ग्रहण नहीं होना चाहिये, किन्तु उस प्रान्तमें यदि ऐसे शूद्र हो जिनमें विधवाविवाह प्रचलित नहीं है और जो लोग देवता तथा ब्राह्मणमे भक्ति रखते हैं, पितृश्राद्धादि करते हैं और खाद्याखाद्यका विचार रखते हैं, तो ऐसे सदाचारी जातिका जल अवश्य ग्रहण करना उचित है।

प्र०—दक्षिण देशमें कही कही ऐसी प्रथा प्रचलित है कि वहांकी शूद्र कन्याये विवाहिता होनेपर सबसे पहिले ब्राह्मणोंकी भोग्या होती हैं यह बात शास्त्र और युक्ति-सङ्गत है कि नही?

उ०—ऐसी कुप्रथायें अत्याचार-मूलक और अशास्त्रीय हैं तथा इनका संशोधन होना अत्यावश्यक है, क्योंकि ऐसी प्रथाओंसे केवल शूद्रोंकी ही हानि नहीं है, बल्कि ब्राह्मण लोग भी इससे पतित होते हैं।

प्र०—आजकल अनेक स्थानोंमें हिन्दू स्त्री और पुरुषोंको जबरदस्ती अथवा धोखा देकर धर्मच्युत किया जाता है, क्या ऐसे लोग फिर हिन्दुसमाजमें लिये जा सकते हैं?

उ०—शान्तिप्रिय उदार हिन्दु जातियोंपर अनेकबार ऐसे अत्याचार किये जा चुके हैं, इस समय भी हो रहे हैं और भविष्यत्में भी होना सम्भव है। दक्षिण देशमें मोपला नामक मुसलमान जातिने राजद्रोहके समय बहुतसे हिन्दुओंको जबरदस्ती मुसलमान बना डाला था, इस सम्बन्धमें यही आज्ञा दी गई थी कि यथायोग्य प्रायश्चित्त करके ऐसे धर्मच्युत हिन्दुओंको हिन्दुसमाजमें पुनः ले लेना चाहिये। ऐसी आपत्ति उपस्थित होनेपर केवल इसी व्यवस्थाका अवलम्बन करना चाहिये। म्लेच्छोंने यदि जबरदस्ती धर्मच्युत कर दिया हो तो सनातनधर्मावलम्बी लोग निम्नलिखित प्रायश्चित्त करके फिरसे अपने समाजमें ग्रहण करने योग्य हो सकते हैं। ऐसे लोग जिनका यज्ञोपवीत संस्कार हो चुका

हो, उनका यज्ञोपवीत संस्कार फिरसे होना विशेष आवश्यक होगा। महर्षि देवलने कहा है:—

बलाद्दासीकृता ये तु म्लेच्छचाण्डालदस्युभिः ।
अशुभं कारिता कर्म गवादिप्राणहिंसनम् ॥
उच्छिष्टमार्जनं चैव तथोच्छिष्टस्य भोजनम् ।
खरोष्ट्रविड्वराहाणामामिषस्य च भक्षणम् ॥
तत् स्त्रीणां च तथा संगस्ताभिश्च सह भोजनम् ।
मासोषिते द्विजातौ तु प्राजापत्यं विशोधनम् ॥
चान्द्रायणं त्वाहिताग्नेः पराकस्त्वथवा भवेत् ।
चान्द्रायणं पराकम्वा चरेत् सम्वत्सरोषितः ॥
सम्वत्सरोषितः शूद्रः कृच्छ्रपादेन शुद्ध्यति ।
ऊर्ध्वं सम्वत्सरात् कल्प्यं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमैः ॥
सम्वत्सरैश्चतुर्भिश्च तद्भावं स निगच्छति ॥

म्लेच्छ, चाण्डाल, डाकू आदि जो दुष्ट जातियां हैं वे यदि बलपूर्वक सनातनधर्मियोंको अपने वशमें रखकर उन लोगोंसे ऐसे अविहित कार्य करावें जैसे गोहत्या, जूठे वर्तन माजना, जूठा खाना, गधा, ऊँट आदिका मांस खाना, उनकी स्त्रियोंसे संग या सहभोजन ऐसी हालतमे एक मास तक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य प्राजापत्य व्रत करनेसे शुद्ध होंगे। यदि ऐसे ही अत्याचार अग्निहोत्री ब्राह्मणोंपर हों तो उन्हे चान्द्रायण अथवा पराक व्रत करना होगा। यदि ऐसे ही अत्याचार एक वर्ष तक होते रहें तो उस अवस्थामें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा अग्निहोत्री सबको ही चान्द्रायण अथवा पराक व्रत करना होगा। यदि शूद्र वर्णपर एक वर्ष पर्यन्त ऐसे अत्याचार होते रहें तो वह कृच्छ्रपादके द्वारा शुद्ध हो सकेगा। एक वर्षसे अधिक दिन बीत जानेपर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवर्णके लोगोंका प्रायश्चित्त हो सकता है, किन्तु चार वर्ष बीत जानेपर प्रायश्चित्त नही हो सकता क्योंकि तब वे लोग तद्भाव प्राप्त हो जाते हैं। देवलादि स्मृतियोमें सामान्य दोषोंके विषयमे कहीं कहीं इससे भी अधिक उदारता पाई जाती है, यथा—

गृहीतो यो बलान्म्लेच्छैः पञ्चषट्सप्त वा समाः।
दशादिर्विंशति यावत् तस्य शुद्धिर्विधीयते ॥
प्राजापत्यद्वयं तस्य शुद्धिरेषा विधीयते ॥

अर्थात् कोई म्लेच्छ यदि बलपूर्वक किसी आर्यको अपने पास रख ले और वह म्लेच्छके साथ सामान्य संस्पर्शादि सम्बन्ध करे तो पांच, छः, सात या दश वर्षसे लेकर बीस वर्ष पर्यन्त उसकी शुद्धि हो सकती है। उसको दो प्राजापत्य व्रत करने पड़ेंगे।

प्र०—वर्णधर्मकी मूल भित्ति क्या है ? किस विज्ञानके अनुसार हम वर्णधर्मके सम्बन्धमें कर्तव्याकर्तव्य निश्चय कर सकते हैं ?

उ०—वर्णधर्मकी मूल भित्ति रजोवीर्यकी शुद्धि है। ज्ञानके द्वारा अध्यात्मशुद्धि, कर्मके द्वारा अधिदैव शुद्धि और रजोवीर्यके द्वारा अधिभूत शुद्धि हुआ करती है। यद्यपि पूर्वजन्मके कर्मफलानुसार ऊपर कही हुई तीनों प्रकारकी योग्यता मनुष्यको प्राप्त हुआ करती है, तथापि पहिले कही हुई दो प्रकारकी योग्यताएं पुरुषार्थसाध्य हैं, किन्तु रजोवीर्यकी शुद्धि साधारण पुरुषार्थसे साध्य नहीं हो सकती। श्रीगीतोपनिषद्में भगवान्ने कहा है—

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः"

गुण और कर्म-विभागके अनुसार मैंने चार वर्णोंकी सृष्टि की है। इस भगवत् वाक्यके अनुसार कर्म पुरुषार्थसाध्य हो सकता है, किन्तु त्रिगुणका आधारस्वरूप स्थूल शरीर पुरुषार्थसाध्य नहीं हो सकता है, वह पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंके अनुसार हुआ करता है। महर्षि पतञ्जलिने भी कहा है:—

"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः"

जन्मजन्मान्तरमें जैसे संस्कार मनुष्योंके होते हैं उन संस्कारोंके फलस्वरूप ही जाति, आयु और भोगोत्पत्ति हुआ करती है। अतएव वर्णधर्म सम्बन्धीय कर्तव्याकर्तव्यनिर्णय भी ऊपर लिखे हुए विज्ञानके अनुसार ही समझना चाहिये।

प्र०—खाद्याखाद्यके सम्बन्धमें हिन्दू शास्त्रोंमें अनेक प्रकारके बन्धन हैं। वर्तमान आपत्कालमें ऐसी आज्ञाओंका यथानियम पालन होना सम्भव नहीं है, इस विषयमें धर्मशास्त्रोंमें किस प्रकारके प्रमाण मिलते हैं ?

उ०—आपद्धर्मके विचारसे सद्भावके सहारेसे पापकर्म भी कर्तव्यकर्ममें परिणत हो सकता है, वेदशास्त्रोंमे इसके अनेक प्रमाण है। आपद्ग्रस्त महर्षि विश्वामित्रने चाण्डालके घरमे जाकर कुत्तेके मांस खानेकी इच्छा की थी, महाभारतमें ऐसा लिखा हुआ है।

भगवान् मनुने कहा है:—

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः।
आकाशमिव पंकेन न स पापेन लिप्यते॥
श्वमांसमिच्छन्नार्तोऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः।
प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान्॥
क्षुधार्त्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम्।
चाण्डालहस्तादादाय धर्म्माधर्म्मविचक्षणः॥

(अ० १०)

यदि प्राण जानेकी आशंकासे कोई व्यक्ति जहां तहां भोजन करे, तो पंकके बीचमें आकाशकी तरह वह कदापि पापलिप्त नही होता है। धर्माधर्मके ज्ञाता वामदेवने क्षुधाके वशीभूत होकर कुत्तेके मांस खानेकी इच्छा की थी, परन्तु उससे वे पापके भागी नही हुए थे। उसी तरह धर्माधर्मके ज्ञाता महर्षि विश्वामित्र क्षुधासे पीड़ित होकर चाण्डालके घरमे कुत्तेके जघास्थलके मांस खानेके लिये प्रस्तुत हुए थे।

परन्तु जहां उत्तम कल्प अथवा अनुकल्पकी सहायतासे धर्माचरणकी सम्भावना हो, वहांपर आपत्कालकी कल्पना नही करनी चाहिये।

प्र०—बग देशमें नाई अर्थात् हजाम लोग मुसलमानोंका क्षौर बनाते हैं, किन्तु "नमः शूद्रों" का नही बनाते, क्या यह चाल धर्मसंगत है?

उ०—कदापि नही। यह अत्याचारमूलक कुप्रथा है। ऐसी चाल भारतके अनेक प्रान्तोंमे है। दक्षिण भारतमे ऐसी चाल है कि मुसलमान या ईसाइयोंको ब्राह्मणोंके ग्रामोंके रास्तेपर चलनेकी आज्ञा दी जाती है और शूद्रोंको उस राहसे चलनेकी आज्ञा नही दी जाती। इन सब कुप्रथाओका समाजके नेतागण द्वारा दूर कराना अवश्य कर्तव्य है। हमलोग विधर्मियोंसे स्पर्शादिके सम्बन्धमें जैसा आचार रखते हैं, अनुन्नत जातियोंके साथ उससे

कम रखना किसी प्रकारसे उचित नहीं है । क्योंकि ऐसा करना प्रकारान्तरसे अनुन्नत जातियोंको विधर्मी बननेके लिये प्रोत्साहित करना है जो कि हिन्दु समाजके लिये अवश्य ही हानिजनक है । अवश्य पदमर्यादाकी ओर दृष्टि रखना भी युक्तियुक्त है इसमें सन्देह नहीं ।

प्र०—वर्त्तमान अछूतोद्धार या अन्त्यजोद्धार कार्यमे शास्त्रमर्यादाको अटूट रखते हुए हमे कहांतक अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये ?

उ०—कोई जाति चाहे कितनी ही हीन क्यों न हो समाजके विराट् शरीरका एक अङ्ग अवश्य है । इस कारण उच्च नीच सभी जातियोंके प्रति हमारा बहुत कुछ कर्त्तव्य है । आजकल देखा जाता है कि अनेक स्थानोमे उच्चवर्णके हिन्दुओंके अनुदार निष्ठुर वर्तावके कारण अनुन्नत जातिके लोग प्रायः विधर्मियोंके भुलावेमे आ जाते हैं, जिससे दिन पर दिन हिन्दुजातिकी संख्या घटकर यह जाति दुर्वल होती जारही है । हिन्दुजातिको इस दुर्वलतासे अवश्य बचाना चाहिये । भङ्गी, डोम, चमार, धोबी आदि अनुन्नत जातियोंके साथ एक पंक्तिमें भोजन करना, उनके हाथका खाना या जल ग्रहण करना, उन्हें जनेऊ देना, वेद पढ़ाना आदि कार्य अवश्य ही निन्दनीय तथा अशास्त्रीय हैं। किन्तु अन्य धर्मके लोगोंके प्रति हम जितनी उदारता दिखाते हैं उससे कम उदारता इन जातियोंके प्रति हमें कदापि नहीं दिखानी चाहिये । इनके लिये देवदर्शन, विद्यालयमें साधारण शिक्षा प्राप्ति, कुएँसे जल ग्रहण आदिकी सुविधा शास्त्रमर्यादा रखते हुए हमें अवश्य कर देनी चाहिये । इनके भीतर रामायण, महाभारत, पुराणोंकी कथाका प्रचार, व्याख्यानादि द्वारा सनातनधर्मकी जागृति अवश्य करते रहनी चाहिये। प्रयोजन होनेपर पृथक् विद्यालयादि खोलकर इनके लिये हिन्दी आदि भाषा शिक्षा, इनके अधिकारानुसार धर्मशिक्षा, सदाचार शिक्षा, नैतिकशिक्षा, जातीयशिक्षा और राजनैतिक शिक्षाका प्रबन्ध अवश्य करा देना चाहिये, जिससे राम, कृष्णादिकी महिमा, सनातनधर्मकी महिमा और भगवान्के प्रति भक्ति इनके भीतर बढ जाय और अपने चरित्र, सदाचार आदिकी सुरक्षा कर विधर्मियोंके प्रलोभनसे ये जातियां बच सकें। यदि सनातनधर्मकी सकल श्रेणिकी सभा समितियां तथा उच्च वर्णके सनातन-धर्मिगण इस आवश्यक कर्त्तव्यकी ओर उदारताके साथ अग्रसर होंगे तो इस जातीय दुर्दशाके दिनोमें हिन्दुजातिको विशेष लाभ पहुंचा सकेंगे इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है ।

प्र०—क्या शुद्धि आन्दोलन शास्त्रानुकूल है ?

उ०—अशुद्धको पवित्र बनानेके लिये पुरुषार्थ करना अवश्य ही शास्त्र तथा लौकिक प्रथाके भी अनुकूल है। मलिन वस्त्रको लोग शुद्ध करते ही हैं। किन्तु मलिनताके तारतम्यानुसार शुद्धिमें भी कई भेद होते हैं। सामान्य धूलि आदिसे वस्त्र मलिन हो तो झाड़कर ही उसे शुद्ध किया जाता है। कीचड़ आदिके लग जाने पर जलसे धोकर शुद्ध किया जाता है, अधिक मलिनता, दाग आदि आजाने पर धोबीके घर भेजकर उसे धुलाके शुद्ध किया जाता है। कहीं कहीं ऐसी भी मलिनता आ जाती है कि इन लौकिक उपायोंसे वस्त्र शुद्ध होता ही नहीं। उस समय वस्त्रको फेंक ही देना होता है। अथवा ऐसा भी यदि मौका हो कि सूतके वस्त्रको रेशमी वस्त्र बनाना पड़े तो इसके लिये जबतक वस्त्रका उपादान 'सूत्र' पूरा न बदला जाय तबतक वस्त्रकी शुद्धि नहीं हो सकती है। इसी दृष्टान्तपर शुद्धिविज्ञानको समझ सकते हैं। और इसी कारण मन्वादि स्मृति शास्त्रमे शुद्धिके अर्थ तरह तरहके प्रायश्चित्त बताये गये हैं। महापातक, संसर्गज पातक, उपपातक आदि सभीके पृथक् पृथक् प्रायश्चित्त होते हैं और कहीं कहीं पर मरणान्त प्रायश्चित्त भी बताये गये हैं। बलसे, छलसे, प्रलोभनसे यदि विधर्मिगणने किसी हिन्दुको अपने धर्ममें फसा लिया हो तो संसर्गके न्यूनाधिक्यके अनुसार बीस वर्षतक ऐसे हिन्दु उचित प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध करके अपने धर्ममे लिये जा सकते हैं, इसका देवलादि स्मृतिका प्रमाण पहिले ही दिया जा चुका है। इसी प्रकार कोई विधर्मी भी यदि आर्य्यधर्मकी उत्तमताको अनुभवकर 'हिन्दु' बनना चाहे तो वह हिन्दु बन सकता है, किन्तु आर्यजातिके साथ एकाएक उनका 'रोटी बेटी' का सम्बन्ध नहीं हो सकेगा। ऐसी धर्मपूत जातिका एक पृथक् 'पन्थ' बन सकता है, जिसको हम हिन्दु अवश्य कहेंगे और उनके लिये एक पञ्चम वर्णका विधान हो सकेगा। यदि वर्त्तमान अनेक पथोंमेसे कोई एक पन्थ इस कार्य्यको हाथमे ले ले तो इस आपत्कालमे बड़ा ही लाभ होगा।

प्र०—इन विषयोंके सिवाय हिन्दुसमाज तथा हिन्दुजातिकी उन्नतिके लिये और किन किन सुधारोंकी आवश्यकता है ?

उ०—हिन्दु समाजमे विवाहादिके सम्बन्धमें जो बडी बडी कुरीतियां प्रचलित हैं उनकी ओर हिन्दुनेताओंको सबसे पहिले ध्यान देना उचित है।

आर्य जातिकी पवित्रता भ्रष्ट करनेवाली तथा उसको वड़ा भारी धक्का देनेवाली कुरीतियोंमेंसे सबसे बड़ी कुरीति वरसे कन्याकी आयुका अधिक होना है। अनेक स्थानोंमें देखनेमें आता है कि कुलमर्यादा तथा अर्थकामके विचारसे कन्याकी आयु वरसे अधिक होने पर भी माता पिता ऐसे विवाहके करनेमें पाप नहीं समझते हैं। दर्शनशास्त्र तथा स्मृतिशास्त्र दोनोंका ही यह सिद्धान्त है कि इस प्रकारका विवाह केवल पापजनक ही नहीं है किन्तु आर्य्यजातिको नष्ट भ्रष्ट और लोप करनेवाली है। इस कारण सबसे प्रथम सनातनधर्म नेताओंको इस कुरीतिको एकदम रोक देनेका प्रयत्न करना चाहिये। बहुत स्थानोंमें ऋषिगोत्रके भूल जानेसे लौकिक गोत्रके प्रचार होनेसे प्रमादसे अथवा अर्थकामके लोभसे स्वगोत्रमें विवाह करना भी पापजनक नहीं समझा जाता। दर्शन-शास्त्रद्वारा यह स्पष्ट रूपसे प्रमाणित है कि सगोत्र विवाह द्वारा जाति और वंश अवश्य ही नष्ट हो जाता है। स्मृतिशास्त्र हाथ उठाकर कहता है कि सगोत्रा कन्या माताके तुल्य है। अतः आर्यजातिके नेतृवर्गको जहां तक होसके आर्ष गोत्रोंके प्रचार कराने तथा सगोत्र विवाहके वन्द करनेके विषयमें सदा प्रयत्न करना उचित है। कन्या विक्रयका पाप गोहत्याके तुल्य स्मृतिशास्त्रमें समझा गया है। अतः कन्याविक्रयीको सनातनधर्मी समाज पतित समझे ऐसा प्रयत्न सदा होना उचित है। और ऊपर लिखित सब पापोंके लिये गुरुतर समाजदण्डविधान होना उचित है। कालप्रभावसे आर्य जातिकी अर्थदृष्टि इतनी बढ़ गई है कि ब्राह्मणक्षत्रियादि उच्च वर्णोंमें तिलक और पण आदिके नामसे वरपक्षवाले कन्या पक्षसे इतना धन बलपूर्वक वसूल करते हैं कि जिससे हिन्दुसमाजकी वड़ी भारी क्षति और निन्दा देखनेमें आ रही है। वस्तुतः यह प्रथा भी अशास्त्रीय, अकीर्त्तिकर और घृणित है। इस प्रथाके द्वारा दिनदिन सद्गृहस्थगण दरिद्र और नीच बनते जाते हैं, तथा विवाहके पवित्र लक्ष्यको एक वार ही भूलते जाते हैं और कुटुम्बोंमें आत्मीयता नाश और अशान्ति कलहकी वृद्धि होती जाती है। अतः सब वर्णोंके नेतृवर्गको दृढ़व्रत होकर इस सामाजिक कुप्रथाके दूर करनेमें पुरुषार्थ करना चाहिये और साथ ही साथ अपने इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण चाहनेवाले स्वधर्मनिरत स्वदेशहितैषी युवकोंको विवाह करते समय स्वयं इस प्रथाको सामने न आने देना चाहिये। धार्मिक युवकगण यदि चाहें तो स्वतः ही प्रतिज्ञावद्ध होकर इस कुप्रथाको अति सुगमरीतिसे दूर कर सकते हैं। एक अच्छी प्रथा जो

इस समय कुप्रथामें परिणत हुई है उसका उल्लेख इस स्थानपर अवश्य ही करना उचित है। ब्राह्मणजातिमें एक कौलिन्य प्रथा प्रचलित है जैसा कि बङ्गाल तथा उत्तर-पश्चिम देशके कान्यकुब्ज ब्राह्मण तथा मैथिल ब्राह्मणोंमे अब भी प्रबल रूपसे देखनेमे आती है। प्राचीन कालमे कौलिन्य मर्यादा तप, विद्या, विनय और सदाचार आदि गुणावलीके अवलम्बनसे चलाई गई थी। अब उन गुणावलियोंके ऊपर विचार न करके केवल लकीर पीटी जाती है जिससे अब भी समाजमे अनेक अनर्थ होते हैं। अतः शास्त्र, युक्ति और न्याय पर ध्यान देकर इस प्रथाको उठा देना उचित होगा और जिससे गुणकी पूजा समाजमें अधिक बढ़ जाय उसके लिये प्रयत्न करना उचित होगा। उत्तर-भारत और राजपूतानेमें विवाहके समय अति घृणित गाली बकना आदि जो घृणित कुरीतियां प्रचलित हैं इस प्रकारकी कुरीतियोंको बलपूर्वक दृढ शासनके साथ बन्द करना उचित है। इस विषयको सब श्रेणिके लोग ही स्वीकार करेंगे। वक्तव्य यह है कि सबसे प्रथम सामाजिक कुरीतियोंको दूर करके तब अन्यान्य गुरुतर विषयोंमे ध्यान देना उचित होगा। कुरीतियोंके दूर करनेसे समाजमें आत्मबलकी प्राप्ति होगी और तब अन्यान्य गुरुतर समाज संस्कार सम्बन्धीय विषयोंमें सफलता हो सकेगी।

उपासनातत्त्व और मन्त्रशास्त्र।

धर्मके विविध विषय तथा प्रधान धर्माङ्गरूपी कर्मकाण्डके अनेक विषयों पर प्रचुर विवेचन करके अब उपासनाकाण्डके कुछ आवश्यक विषयों पर विवेचन किया जाता है।

अभावकी पूर्ति करनेके लिये मनुष्योंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। जिसके पास धन नही है वह धन कमाकर धनाभावकी पूर्ति करना चाहता है, जिसके पास ज्ञान नही है वह ज्ञानी बनकर ज्ञानाभावको मिटाना चाहता है इत्यादि। यही जब जीवका स्वभाव है, तो अल्पायु जीव चिरायु बनना अवश्य ही चाहेगा, अज्ञानी जीव ज्ञानी बनना अवश्य ही चाहेगा, शक्तिहीन जीव शक्तिमान् बनना अवश्य ही चाहेगा और दुःखी जीव आनन्दी बनना

अवश्य ही चाहेगा। जीवमें इन सभी वस्तुओंका अभाव है, परमात्मामें ये सभी वस्तुयें पूर्णरूपसे विद्यमान् हैं। परमात्माकी आयु अनन्त है, शक्ति अनन्त है, ज्ञान अनन्त है और आनन्द अनन्त है। इस कारण परमात्मासे मिलकर, उनके पास पहुंच कर इन वस्तुओंके लाभ करनेकी लालसा मनुष्योंको लगती है। यह जो उनके पास पहुंचनेकी लालसा है इसीको उपासना कहते हैं। 'उप' अर्थात् समीप, और 'आस्' धातुका अर्थ प्राप्त होना है। अर्थात् परमात्माके समीप जाने या उनके सामीप्य लाभ करनेके उपायोंका नाम उपासना या साधना है।

इस उपासनाको भिन्न भिन्न जाति, अधिकार तथा धर्मके मनुष्य अपनी शक्ति और योग्यताके अनुसार ही कर सकते हैं। यही कारण है कि भिन्न भिन्न धर्ममतोंमे तथा भिन्न भिन्न अधिकारके मनुष्योंमें उपासनाकी अलग अलग रीतियां प्रचलित हैं। ये सभी सत्य हैं, क्योंकि साक्षात् या परोक्ष-रूपसे इन सबकी गति अद्वितीय महासमुद्रकी ओर शत शत नदियोंकी भिन्न भिन्न पथवाहिनी गतियोंकी तरह अद्वितीय परमात्माकी ओर ही है। महिम्न-स्तोत्रमें यही लिखा है—

रुचीनां वैचित्र्यात् ऋजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

अर्थात् प्रकृति प्रवृत्तिके अनुसार रुचिके भेदसे किसी धर्ममतका पथ कुछ सरल और किसीका कुछ कठिन है। किन्तु जिसप्रकार सकल नदियोंकी एकमात्र गति समुद्र ही है, ऐसा ही सब साधनाओंका अन्तिम लक्ष्य परमात्मा ही है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी यही कहा है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ (१)

और भी—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ (७)

किसी देवता, उपदेवता या अपदेवताकी पूजा करो, परोक्षरूपसे परमात्माकी ही पूजा होती है, क्योंकि ये सभी सात्विक, राजसिक या तामसिक रूपसे परमात्माकी ही भिन्न भिन्न विभूतियां हैं, केवल पूजाकी विधिमें उच्च या नीच प्रकार भेदमात्र है। इन सभी यज्ञोंके भोक्ता साक्षात् या परम्परारूपसे परमात्मा ही होते हैं, इस रहस्यको जो उपासक नहीं समझता है वही मतवादके चक्कर तथा सङ्कीर्णतामें पडकर हीनगतिको पाता है। देवोपासक देवलोकको, पितरोंका उपासक पितृलोकको, प्रेतोपासक प्रेतलोकको पाता है, और जो साक्षात् रूपसे परमात्माकी उपासना करता है उसे ब्रह्मलोक ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार उन्होंने और भी कहा है, यथा—अपनी प्रकृतिके वशमें होकर वासनाबद्ध जीव छोटी छोटी देवताओंकी पूजा करता है। परमात्मा जीवकी रुचिके अनुसार उसी पूजामें उसके चित्तको लगा देते हैं और इस प्रकार पूजासे जीवको जो कुछ सकाम फल मिला करता है, सो परमात्माका ही परोक्षरूपसे दिया हुआ फल है। किन्तु इस प्रकारके सब सकाम फल थोडे दिनोंके लिये होते हैं, इस कारण अल्पबुद्धि मानव ही सकाम फलके लिये सामान्य देवताओंकी पूजा करता है और दूरदर्शी साधक मोक्षफलके लक्ष्यसे परमात्माकी साक्षात्रूप-से उपासना करते हैं। अतः यही सिद्धान्त निश्चित हुआ कि, सभी पूजा, सभी धर्ममतकी सभी साधना ठीक है, केवल अधिकार भेदानुसार उच्च नीच कोटिका तारतम्यमात्र है। इन्हीं बातों पर विचार कर चिन्ताशील मैक्समूलर साहबने भी कहा है—

"There never was a false god, nor was there ever really a false religion, unless you call a child a false man! We are in different classes of the great life-school and we are happiest when we associate with those in our own class or consciousness."

(Graphology—Kalpaka 12-1924)

"जिस प्रकार किसी बालकको चाहे वह कितना ही छोटा हो मनुष्य न कहना असत्य है, इसी प्रकार किसी धर्ममत या उसके इष्टदेवताको चाहे वह कितना ही साधारण क्यों न हो धर्म या देवता न कहना असत्य और अनुचित है। संसारमें मिथ्या देवता और मिथ्या धर्म कोई भी नही है। जीवोंके अधिकारानुसार सभी धर्मोंकी कही न कही पर स्थिति अवश्य है। जीवनके महान् विद्यालयमें हम लोग अलग अलग श्रेणीके विद्यार्थी हैं और जो श्रेणी हमारे लायक अर्थात् हमारी शक्तिके अनुकूल है उसीमें रहना ही हमारे लिये उचित तथा सुखदायक है।" अब नीचे क्रमशः इन उपासना श्रेणियोंका विचार किया जाता है।

श्रीभगवान्की सबसे निकृष्ट विभूति भूत प्रेत योनि है। इसलिये भील, कोल आदि असभ्य जातिके लोग प्रेतोपासक होते है। उनके पिता मरनेके बाद प्रेत हुए हैं, उनमें बड़ी शक्ति आगई है, वे पूजित होकर उन्हें उन शक्तियों द्वारा मदद दे सकते हैं, ऐसा समझकर वे अपने मकानोंके निकटवर्ती किसी वृक्ष पर उन प्रेतोंका स्थान निर्देश कर रखते हैं और बलिदान, गाना बजाना, स्तुति, प्रार्थना आदि द्वारा उनकी पूजा किया करते हैं। वे कभी कभी किसी स्त्री या पुरुष पर उन प्रेतोंके आवेश करानेका प्रयत्न करते है और आवेश होगया है ऐसा जब मालूम होता है तो प्रेताविष्ट नर नारीसे कई प्रकारकी प्रार्थनाएं करते हैं। प्रोफेसर आर. ई. डटन साहबने इस प्रकारसे 'स्पिरिट' बुलानेकी एक विधि बताई है, यथा—

Make your body as passive as you can at certain times, corresponding to each day of the week and hour of the day. Before this practice give yourself in prayer to spirits in earnest; you can never develop psychesin without spirit

aid and they will always aid any mortal and heed his prayers if made in true faith

You are to magnetise a black cloth large enough to cover you You must always use this cloth, covering it over your head when offering your prayer because it acts as the conductor of magnetism The prayer and mental force sent will thoroughly magnetise the article and the spirit can come closer to you when using it

This magnetised cloth method is a powerful method for the developing of mediumship The prayer must be given in strong faith and the strength of the method depends upon your belief and strength of faith In this way you develop stronger than by the ordinary method and if you sit in total darkness you will finally have the cloth lifted from your head by a spirit who will stand revealed in a luminous light.

(Duttonism—Kalpaka 8-1924)

"प्रति सप्ताहके भीतर किसी दिन और उसमे भी किसी नियत समय पर अपनेको निष्क्रिय उदासीन भावमे रखनेका अभ्यास करो। और इस अभ्याससे पहिले कुछ दिनो तक स्पिरिट अर्थात् किसी परलोकगत आत्माकी पूजा करते रहो। इस प्रकार पूजाके विना सूक्ष्म शक्ति आती नही और यह भी निश्चय है कि सच्ची श्रद्धा विश्वासके साथ पूजा करनेपर परलोकगत आत्मा उपासककी सहायता अवश्य ही करते हैं।

"पूजा पर बैठते समय तुम्हें एक बडा काला कपड़ा अपने सिरसे नीचे तक डाल रखना होगा। तुम अपनी मानसिक शक्ति तथा पूजा शक्तिका जितना ही प्रयोग करोगे उतना ही वह कपड़ा मेगनितिज अर्थात् सूक्ष्म विजली शक्तिसे भरपूर होता जायगा। इसी कपडेसे उपासनाके समय तुम्हें सदा ही अपनेको ढाकना पड़ेगा। और ज्यों ज्यो वह कपड़ा विजलीसे पूर्ण होता जायगा त्यौं त्यों स्पिरिट तुम्हारे निकटवर्त्ती होते जायेंगे।

"बिजलीभरा यह वस्त्र स्पिरिट बुलानेमें बड़ा ही सहायक होता है। साथ ही साथ श्रद्धा विश्वासकी गम्भीरता भी परलोकगत आत्माको पास बुलानेमें परम सहायक बनती है। इस प्रकार अभ्यास करते करते किसी दिन जब अन्धकारपूर्ण स्थानमें अपनेको वस्त्रावृत करके तुम उपासना करोगे तो अकस्मात् परलोकगत एक आत्मा आकर तुम्हारे वस्त्रको उठावेंगे और अपने ज्योतिर्मय शरीरसे तुम्हें दर्शन देंगे।" यह प्रेत पूजाकी उत्तम विधि है।

इससे उन्नत सभ्यताकी दशामे पितर सब मर कर प्रेत ही होते हैं और वृक्षपर निवास करते हैं, इस प्रकार क्षुद्रभाव मनुष्यमे नहीं रहता है। वे उन्हें चन्द्रलोकवासी उत्तम शरीर नैमित्तिक पितृगण कह कर उनकी उपासना बड़े प्रेमके साथ करने लगते हैं। जापान, चीन आदि देशवासिगण इस पितृपूजा (Ancestral worship) को बड़े प्रेमके साथ करते हैं और इन्हींकी कृपासे उन्हें सम्पत्ति आदिकी प्राप्ति होती है यह भी उनका विश्वास है। आर्यशास्त्रमें श्राद्ध तर्पण विधिके द्वारा इन नैमित्तिक पितरोंकी पूजा होती है जिसका वर्णन पहिले ही किया जा चुका है। प्राचीन ग्रीस तथा रोममें वीरपूजा (Hero worship) के नामसे इसी पूजाका प्रचार था। कारलाइल साहबने अपने (Hero and Hero-worship) ग्रन्थमे इसी उपासनाका बहुत कुछ वर्णन किया है।

इसके बादकी उन्नत सभ्यता-दशामें नैमित्तिकके स्थान पर नित्य पितर, नित्य देवता और नित्य ऋषियोंकी उपासना होने लगती है। उन्नत भावके मनुष्यगण यह विचार करने लगते हैं कि पृथिवी, जल, वायु, अग्नि आदि जड़ वस्तुओंकी जो नियमित गति देखनेमे आती है, किसी नियामिक (Regulator) के बिना यह नियमित गति (Regular movement) कैसे बन सकती है? जड़ इञ्जिनमे गाड़ी खींचनेकी शक्ति तो है, किन्तु चेतन सञ्चालक (Driver) के बिना, गाड़ी ठीक नियम से चल नहीं सकती। स्टेशनमे ठहरना, भयके स्थान पर मन्द गतिसे चलना, कहीं कम कहीं द्रुत वेगसे चलना इत्यादि कोई भी कार्य जड़, अचेतन गाड़ी चेतन ड्राइवरके बिना नहीं कर सकती। और जब इतना साधारण कार्य भी—बिना चेतनकी सहायताके जड़ वस्तु नहीं कर सकती तो समस्त विश्वव्यापी जल, वायु, अग्नि आदि जड़ वस्तु अपने अपने नियमित कार्यको किसी न किसी चेतन नियामकके बिना कैसे कर सकेगी?

इसप्रकारसे चिन्ताका तरङ्ग उठते उठते अन्तमें यही सिद्धान्त निश्चित हो जाता है कि समस्त विश्वके सञ्चालनके मूलमें तीन चेतन शक्तियां विद्यमान हैं जिनमें परमात्माकी ही तीन शक्तियां व्याप्त रह कर कार्य कर रही हैं। यथा—अध्यात्मज्ञान राज्यके सञ्चालक ऋषिगण, अधिदैव कर्म्मराज्यके सञ्चालक देवतागण और अधिभूत स्थूल राज्यके सञ्चालक पितृगण हैं। मनुष्य केवल स्थूलराज्यपर आधिपत्य कर सकता है। परन्तु जो स्थूल और सूक्ष्मराज्य–दोनोंपर समान-रूपसे आधिपत्य कर सके वही देवता है। ऋषि, देवता और पितृमें यही दैवी शक्ति विद्यमान है। इसी कारण वे दैव जगत्के तीन विभागोंके चालक हैं। जिस प्रकार स्थूल जगत्में भी साम्राज्यके अधिपति सम्राट सबके ऊपर होने पर भी उनके अधीनस्थ भिन्न भिन्न विभागोंके सञ्चालक उन्हींकी शक्तिको लेकर कितने ही काम करनेवाले होते हैं ऐसे ही ईश्वरकी विभूतियोंसे युक्त देवता, ऋषि, पितरोंके विषयमें समझना चाहिये। दैवी-शक्तिका पूरा पता न लगने पर भी जो कुछ लग सका है उसीके अनुसार पारसी लोग समुद्र, अग्नि आदिकी अधिष्ठात्री देवताकी पूजा करते हैं जिसका विधान उनके जोरोष्ट्रियन धर्ममें है। इसी प्रकार रोमन कैथलिक लोग भी एञ्जेल् (Angil) की पूजा करते हैं जो एक प्रकारकी दैवी-विभूति ही है।

आर्यशास्त्रमें इस विषयपर पूर्ण विवेचन करके कहा गया है कि, प्रत्येक ब्रह्माण्डके नायक ब्रह्मा–विष्णु–महेशरूपी त्रिमूर्ति ही उस ब्रह्माण्डके सगुण ईश्वर हैं, इस कारण ये तीनों, देवता होनेपर भी, अन्यान्य देवताओंकी श्रेणीमें इनकी गणना नहीं हो सकती। प्रधान देवता तेंतीस हैं। यथा—आठ वसु, द्वादशादित्य, एकादश रुद्र और इन्द्र प्रजापति।

यजुर्वेद (अ० १४ म० २०) में भी :—"वसवो देवताः रुद्रा देवताः।

आदित्या देवताः त्रयस्त्रिंशाः सुराः।"

आदि कहकर तेंतीस देवताओंका वर्णन किया गया है। इनके नाम यथा महाभारतमें :—

"भर्गोऽशश्चार्यमा चैव मित्रोऽथ वरुणस्तथा।
सविता चैव धाता च विवस्वांश्च महाबलः॥
त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते।
इत्येते द्वादशादित्याः कश्यपस्यात्मसम्भवाः॥"

भग, अंश, अर्यमा, मित्र, वरुण, सविता, धाता, विवस्वान्, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र और विष्णु—ये द्वादश आदित्य हैं। वसुओंके नाम महाभारतमें:—

धरो ध्रुवश्च सोमश्च विष्णुश्चैवानिलोऽनलः।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ क्रमात् स्मृताः॥

धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास ये अष्टवसु हैं। एकादश रुद्रके नाम श्रीमद्भागवतमें:—

"अजैकपादहिर्ब्रध्नो विरूपाक्षः सुरेश्वरः।
जयन्तो बहुरूपश्च त्र्यम्बकोऽप्यपराजितः॥
वैवस्वतश्च सावित्रो हरो रुद्रा इमे स्मृताः॥"

अजैकपाद, अहिर्ब्रध्न, विरूपाक्ष, सुरेश्वर, जयन्त, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वैवस्वत, सावित्र और हर—ये एकादश रुद्र हैं।

ये ही तेंतीस देवता प्रत्येक ब्रह्माण्डके रक्षकरूप प्रधान देवता हैं। इनके अधीन अनेक देवता हैं, वे सब देवता सात श्रेणी और चार वर्णमें विभक्त हैं। इनके चार वर्ण—यथा—महाभारतके शान्तिपर्वमें:—

आदित्याः क्षत्रियास्तेषां विशश्च मरुतस्तथा।
अश्विनौ तु स्मृतौ शूद्रौ तपस्युग्रे समास्थितौ॥
स्मृतास्त्वङ्गिरसो देवा ब्राह्मणा इति निश्चयः।
इत्येतत् सर्वदेवानां चातुर्वर्ण्यं प्रकीर्त्तितम्॥

आदित्यगण क्षत्रियदेवता, मरुद्गण वैश्यदेवता, अश्विनीगण शूद्रदेवता और आङ्गिरस देवतागण ब्राह्मणदेवता-इस प्रकारसे देवताओंके चार वर्ण हैं।

शास्त्रोंमे कहीं कहीं तेंतीस करोड़ देवता हैं ऐसा भी कहा गया है। 'प्रत्येक ब्रह्माण्डमे देवताओंकी संख्या क्या तेंतीस करोड़ ही नियमित है? इस प्रश्नके उत्तरमें सिद्धान्त यही हो सकता है कि, विज्ञानवित् शास्त्रकारोंने प्रकृतिके परिणामके क्रमके अनुसार और कर्म्मोंकी गतिके साधारण भेदके अनुसार देवताओंकी संख्या अधिकसे अधिक तेंतीस करोड़का होना अनुमान किया है। इससे यह नहीं समझा जा सकता कि प्रत्येक ब्रह्माण्डमें तेंतीस करोड़ ही देवता होते हैं।

वेदादि शास्त्रोंमें देवताओंकी संख्या तथा स्वरूपके विषयमें अनेक वर्णन मिलते हैं। यजुर्वेद (अ० १४ म० २०) मे वर्णन है:--

"अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवता आदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवता इन्द्रो देवता वरुणो देवता।"

इस मन्त्रमे देवताओंकी अनेक श्रेणियोंका नामोल्लेख है।

पुनश्च—"त्रयो देवा एकादशत्रयस्त्रिंशाः सुराधसः बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः सर्वे देवा देवैरवन्तु मा।" (य० म० ११ अ० २०)

"समिद्ध इन्द्र उषसामनीके पुरोरुचा पूर्व कृद्वावृधानः त्रिभिर्देवैस्त्रिंशताः वज्रबाहुर्जघान वृत्रं विदुरो ववार।" (अ० २, म० ३६)

प्रधान तीन देवता, एकादश रुद्र या तेंतीस देवता सुरगुरु बृहस्पतिको आगे करके अपनी दैवशक्तिके प्रभावसे सूर्यप्रेरणासे यज्ञानुष्ठानमें प्रवृत्त मेरी रक्षा करे। तेजस्वी वज्रधारी इन्द्रने सूर्य्यकी तरह प्रकाशवान् तेंतीस देवताओंके साथ मिलकर वृत्रका हनन किया। देवताओं की सख्याके विषयमे उसी वेदमे लिखा है:—

त्रीणि शतानि त्रीणि सहस्राण्यग्निन् त्रिंशच्च देवानवचासपर्यन्" (अ० ७ म० ३३)

तीन हजार तीन सौ उनतालीस देवता अग्निकी परिचर्या करते हैं। शाकल्य ब्राह्मणमें—

"त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति महिमा न एवैषामेते त्रयस्त्रिंशदेव देवाः।"

इस प्रकार कहकर तेंतीस देवता ही प्रधान है, बाकी शत सहस्र देवता-गण सब इनकी विभूतिरूप है—ऐसा ही वर्णन किया गया है। अन्यत्र यह भी वर्णन है —

"तिस्रः कोटयस्तु रुद्राणामादित्यानां दश स्मृताः।
अग्नीनां पुत्रपौत्रं तु संख्यातुं नैव शक्यते॥"

एकादश रुद्रोंकी विभूति तीन कोटि देवता हैं, द्वादश आदित्योंकी विभूति दस कोटि देवता है। अग्नि देवताके पुत्र पौत्रोंकी तो संख्या ही नहीं हो सकती। तदनन्तर अल्पादने कहा है—

"त्रयस्त्रिंशद् यानि तान्येव शतानि विन्दुत्रययुक्तानि, पुनस्तान्येव त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि च विन्दुचतुष्टययुतानि तथा त्रयस्त्रिंशत्कोट्य इत्यर्थः"।

इस प्रकारसे तेंतीस करोड़का हिसाव वन सकता है। महाभारतके आदिपर्वके प्रथम अध्यायमे लिखा है—

"त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतानि च।
त्रयस्त्रिंशच्च देवानां सृष्टिः संक्षेपलक्षणा॥"

सक्षेपसे देवताओंकी सख्या तेंतीस हजार तेतीस सौ तेंतीस होती है। निरुक्तके दैवतकाण्डमे देवताओंकी संख्याके विषयमें वर्णन है। यथाः—

"तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः।"

"अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः।"

"तासां महाभाग्यादेकं कस्या अपि वहूनि नामधेयानि भवन्ति।"

"अपि वा कर्मपृथक्त्वाद् यथा होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः॥"

"अपि वा पृथगेव स्युः पृथग्वि स्तुतयो भवन्ति।"

'तथाभिधानानि।"

देवता तीन है। यथा—अग्नि, वायु या इंद्र और सूर्य्य। अग्निका स्थान पृथ्वी है, वायु या इद्रका स्थान अंतरिक्ष है और सूर्यका स्थान द्युलोकमे है। इन तीन प्रधान देवताओंके ऐश्वर्ययोगसे अनेक देवता होते हैं, जिनके नाम अनेक प्रकारके है। कर्मकी पृथकताके कारण भी अनेक भेद होते है। यथा—होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता इत्यादि। इसके सिवाय और प्रकारसे भी पृथक्सत्ता देवताओंकी होती है, जिस कारण पृथक् पृथक् देवताओंकी पृथक् पृथक् स्तुतियां भी होती हैं। इस प्रकार पृथक्सत्ताके अनुसार देवताओंके पृथक् पृथक् नाम भी होते हैं।

यजुर्वेदके (अ० ३१ मं० ६) प्रायश्चित्ताहुति प्रकरणमे लिखा है—

"सविता प्रथमेऽहन्यग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीय आदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चम ऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे मित्रो नवमे वरुणो दशम इन्द्र एकादशे विश्वेदेवा द्वादशे।"

प्रथम दिनका सविता देवता है, दूसरे दिनका अग्नि, तीसरे दिनका वायु, चौथे दिनका आदित्य, पञ्चमका चन्द्र, षष्ठका ऋतु, सप्तमका मरुत्, अष्टमका बृहस्पति, नवमका मित्र, दशमका वरुण, एकादशका इन्द्र, द्वादशका विश्वेदेवा। इन देवताओंके निमित्त १२ दिनोंतक प्रायश्चित्तके लिये आहुति दी जाती है। इन देवताओंके स्वरूप तथा वासस्थान कहां होते हैं, इसके विषयमें ऋग्वेद (म० १ सू० ६३ अ० ५) मे लिखा है:—

नृचक्षसो अनिमिषंतो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवोवर्ष्माणं वसते स्वस्तये॥

कर्मके नियन्ता, अनिमेषनेत्र द्वारा जीवोंके प्रति दृष्टियुक्त, देवताओंने जीवकी परिचर्याके निमित्त अमरत्वको प्राप्त किया है। दीप्तिमान् रथसे युक्त, स्थिरबुद्धि, पापरहित देवतागण स्वर्गलोकके उन्नत देशमें निवास करते हैं। और भी:—

"सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिहृता दधिरे दिविक्षयम्।"

प्रभुतायुक्त, अतिवृद्धिशाली देवतागण जो यज्ञमे आते हैं उनका निवास दिव्यलोकमें है। देवताओंके प्रभावके विषयमे निरुक्तके दैवतकाण्डमें लिखा है—

"आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्व आत्मायुध आत्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य।"

आत्मा ही देवताओंका अश्व, रथ, आयुध, वाण और सब कुछ होता है। इनके रूपके विषयमे ऋग्वेद (म० ३ अ० ४ सू० ५३ म० ८) मे लिखा है:—

"रूपं रूपं मघवावो भवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परिस्वान्।
त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्तमागात् स्वैर्मन्त्रैरनृतुपाऋतावा।"

मघवा (इन्द्रदेव) जिस जिस रूपके धारण करनेकी इच्छा करते हैं वही रूप उनका हो जाता है, उनमें अनेक रूप धारण करनेकी शक्ति है। इन्द्रको मन्त्र द्वारा स्तुति करते ही इन्द्रदेव स्वर्गलोकसे एक ही समय

अनेकरूप धारण करके अनेक यज्ञमें उपस्थित हो सकते हैं। देवताओंके अनेक रूप धारण करके एक ही समय अनेक यज्ञमें उपस्थित होनेके विषयमें वेदान्त-दर्शनका भी सूत्र है। यथाः—

"विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्।"

यदि कर्मके विषयमें इस प्रकारसे विरोध माना जाय कि, एक समयपर एक देवता अनेक स्थानोंमें कैसे उपस्थित रह सकते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि, देवताओंमें ऐसी शक्ति है कि एक ही समय पर अनेक रूप धारण करके अनेक यज्ञोंमें वे दर्शन दे सकते हैं। देवताओंके रूप कैसे होते हैं, इसके विषयमें निरुक्तके दैवतकाण्डमें लिखा हैः—

"अथाकारचिन्तनं देवतानाम्।"

"पुरुषविधाः स्युरित्येकम्।"

"अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम्।"

"अपि वोभयविधाः स्युः।"

देवताओंके रूप कैसे होते हैं अर्थात् किस रूपमें वे दर्शन देते हैं, इसके विषयमें यह कथन है कि कोई उनको पुरुषके रूपमें दर्शन देनेवाले, कोई उनको स्त्रीके रूपमें या और किसी रूपमें दर्शन देनेवाले और कोई उनको इन दोनों ही रूपोंमें दर्शन देनेवाले कहते हैं। इन्द्रके कार्यके विषयमें निरुक्तमें लिखा हैः—

"अथास्य कर्म रसानुप्रदानं वृत्रवधो या च का च बलकृति-रिन्द्रकर्मैव तत्।"

वर्षादि कराना, वृत्रवध और बलसम्बन्धीय अन्य समस्त कार्य इन्द्रदेवका है; क्योंकि, वे देवताओंके राजा हैं। इन सब प्रमाणोंके द्वारा स्पष्ट सिद्धान्त होता है कि विद्वान्को ही देवता कहनेकी और चतुर्वेदज्ञाताको ही ब्रह्मा कहनेकी जो स्पर्द्धा अर्वाचीन पुरुषोंने की है वह उनका भ्रान्तियुक्त उन्मत्त प्रलापमात्र है।

"विद्वांसो हि देवाः।" (शतपथ ब्राह्मण ३।७-३।१०)

इस मन्त्रका अर्थ अर्वाचीन पुरुषोंने ठीक नहीं किया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि विद्वान् ही देवता होते हैं; परन्तु यजुर्वेद (अ० ६, मं० ७) मेंः—

"देवान् दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान्।"

इस मन्त्रके अर्थमें "दिव्यगुणयुक्त" यह पशु अग्नीषोमादि देवताओंके पास गमन करे, जो देवता विद्वान् और अग्नि द्वारा हविकी इच्छा करनेवाले होते हैं, यह जो मन्त्र है, इसपर ही शतपथ ब्राह्मणकी श्रुति है :—

"विद्वांसो हि देवास्तस्मादाहोशिजो वह्नितमानिति।"

देवता विद्वान् हैं, इसीलिये उनको उशिज और वह्नितमान् कहा गया है। विद्वान्का नाम ही देवता है, यह उस श्रुति अथवा ब्राह्मणका अर्थ नहीं है। बकरीकी चार टाँग होती हैं इसलिये जिस पशुकी चार टाँग हों वह बकरी है ऐसा कहना जिस प्रकार मिथ्या है ऐसा ही विद्वान् होते ही उसे देवता कहना मिथ्या है। और चार वेदके ज्ञाता ही ब्रह्मा हैं ऐसा कहना और भी भ्रान्तियुक्त है। ऐसा होनेपर वेदव्यास वशिष्ठ आदि वेदवेत्ता सभी ऋषियोंको ब्रह्मा कहना पड़ेगा।

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता। (मुण्डक)
हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे। यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्। (श्वेताश्वतर)
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः। (मनु)

इत्यादि प्रमाणों द्वारा ब्रह्माकी पृथक् स्थिति सिद्ध होती है।

शास्त्रमें नित्य देवता और नैमित्तिक देवता दो प्रकारके देवता कहे गये हैं।

नित्य देवता वे हैं, कि जिनका पद नित्य स्थायी है। वसुपद, रुद्रपद, आदित्यपद, इन्द्रपद, वरुणपद आदि पद नित्य हैं। ये पदसमूह केवल अपने ब्रह्माण्डमें ही नित्यस्थायी नहीं हैं, किन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि प्रत्येक ब्रह्माण्डमे इन पदोंका नित्यरूपसे रहना अवश्य सम्भव है। ये पद नित्य होते हैं तथा कल्प और मन्वन्तरादिभेदसे इनमें योग्य व्यक्तियां जाकर अधिकार प्राप्त करती हैं। और वे ही देवता क्रमशः उन्नत अधिकारोंको भी प्राप्त करते रहते हैं। कभी कभी इन पदधारी देवताओंका पतन भी होता है। जैसा महाभारतके शान्तिपर्वमे कहा गया है :—

"हित्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि देवः शक्रः कर्मणा श्रैष्ठ्यमाप।
सत्यं धर्मं पालयन्नप्रमत्तो दमं तितिक्षां समतां प्रियञ्च॥

एतानि सर्वाण्युपसेवमानः स देवराज्यं मघवान् प्राप मुख्यम् ॥
क्रतुभिस्तपसा चैव स्वाध्यायेन दमेन च।
त्रैलोक्यैश्वर्यमव्यग्रं प्राप्तोऽहं विक्रमेण च ॥"

मनके प्रिय सुखोंको त्याग करके, सत्य, धर्म, दम, तितिक्षा और समताके आश्रयसे इन्द्रको मनुष्यशरीरसे इन्द्रपद प्राप्त हुआ था। यज्ञ, तप, स्वाध्याय और दमके द्वारा इन्द्रने त्रिलोकका ऐश्वर्य्य प्राप्त किया था। नारायणोपनिषद्में लिखा है:—

"यज्ञेन हि देवा दिवं गताः"

"यस्ते नूनं शतक्रतविन्द्रद्युम्नितमो मदः" (सा. वे. ३।१।३।२)

यज्ञसे ही देवताओंको देवत्वपद मिला है और शतक्रतु होनेसे ही इन्द्रपद इन्द्रको प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद १।१११।१ में लिखा है:—

"तक्षन् रथं सुकृतं विद्म नापसस्तक्षन्। हरीं इन्द्रवाहा वृषण्वसू।"

आंगिरसके तीन पुत्र रथनिर्माणके कौशलसे देवताओंको तुष्ट कर देवत्वको प्राप्त हो गये थे।

पुनः महाभारतके अनुशासनपर्वमें लिखा है—

"नहुषो हि महाराज राजर्षिः सुमहातपाः।
देवराज्यमनुप्राप्तः सुकृतेनेह कर्मणा ॥
अथेन्द्रोऽहमिति ज्ञात्वा अहंकारं समाविशत्।
स ऋषीन् वाहयामास वरदानमदान्वितः ॥
अगस्त्यस्य तदा क्रुद्धो वामेनाभ्यहनच्छिरः।
तस्मिन् शिरस्यभिहते स जटान्तर्गतो भृगुः ॥
शशाप बलवत् क्रुद्धो नहुषं पापचेतसम्।
यस्मात् पदाहतः क्रोधाच्छिरसीमं महामुनिम् ॥
तस्मादाशु महीं गच्छ सर्पो भूत्वा सुदुर्मते।
इत्युक्तः स तदा तेन सर्पो भूत्वा पपात ह ॥"

राजर्षि नहुषने पुण्यकर्मके फलसे इन्द्रत्व प्राप्त किया था। इन्द्रत्व पानेपर उनको अत्यन्त अहंकार हो गया था और उन्होंने ऋषियोंसे अपना शिविका

(पालकी) वाहन प्रारम्भ कर दिया था। एक बार अगस्त्य ऋषि शिविका-वहन कर रहे थे, नहुषने उनके सिरपर लात मार दिया। इस पर भृगु ऋषिने नहुषको अभिसम्पात (शाप) किया कि सर्प हो जाओ और नहुष सर्प होकर स्वर्गसे गिर पड़ा।

नैमित्तिक देवता वे कहाते हैं, जिनका पद किसी निमित्तसे कायम किया जाता है। और उस निमित्तके नष्ट होनेपर वह पद भी उठ जाता है। नैमित्तिक देवताओंके उदाहरणके लिये कुछ प्रमाणोंका विचार किया जाता है। प्रथम उदाहरण यह है कि ग्रामदेवता, गृहदेवता, वनदेवता आदिका पद। ग्रामके स्थापन होनेके समयसे लेकर जबतक ग्राम नष्ट न हो जाय तबतक ग्रामदेवताका पद बना रहता है। एक वनस्थलीके स्थापन होनेके समयसे लेकर जबतक उस स्थानमे वनका अधिकार पूर्णरूपसे बना रहता है तबतक वनदेवता-का पद बना रहता है और उसके बाद वह पद नष्ट हो जाता है। गृहदेवताको भी ऐसा ही समझना उचित है। एक गृहके प्रस्तुत होनेपर यदि गृहपति उस गृहमें शास्त्रविधिके अनुसार गृहदेवताकी स्थापना करे तो उस गृहदेवताके पीठकी स्थापनाके समयसे लेकर जबतक वह गृह बना रहता है और जबतक गृहस्थकी श्रद्धा पीठपर बनी रहती है तबतक उस गृहदेवताका पद बना रहता है और तदनन्तर वह पद नष्ट हो जाता है। नैमित्तिक देवताओंके उदाहरणमें और भी प्रमाण दिये जाते हैं। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—इन चार प्रकारके भूतोंकी जो अलग अलग श्रेणियां हैं, यथा—जरायुजमे गो, महिष, अश्व, सिंह, वानरादि, अण्डजमे कपोत, मयूर, सर्प आदि, स्वेदजमें जीवरक्षाके विशेष विशेष कृमि तथा रोगोत्पादक विशेष विशेष कृमि और उद्भिज्जमे अश्वत्थ, वट, बिल्व आदि, इस प्रकारसे चार प्रकारके जीवोंमें जिस ब्रह्माण्डमे जिस प्रकारकी श्रेणियां उत्पन्न होती हैं, अथवा जिस देशमें जिस प्रकारकी श्रेणियां उत्पन्न होती हैं उनकी रक्षाके लिये एक एक स्वतन्त्र-स्वतन्त्र देवताका पद दिया जाता है और जबतक वे श्रेणियां बनी रहती हैं तबतक वह देवताका पद भी बना रहता है। उसके अन्यथा होनेपर वह पद उठा दिया जाता है। नैमित्तिक देवताके सम्बन्धमे और भी उदाहरण दिया जाता है। स्थावर पदार्थ—पर्व्वत, नदी आदि—तथा नाना प्रकारके धातु और उपधातु आदि खनिज पदार्थोंके चालक और रक्षक स्वतन्त्र स्वतन्त्र

देवता होते हैं। वे पद भी नैमित्तिक हैं। जिस ब्रह्माण्डमें अथवा जिस देश विदेशमें जबतक ये स्थावर पदार्थ अपनी पूर्ण सत्तामें विद्यमान रहते हैं तबतक वे नैमित्तिक देवताओंके पद भी विद्यमान रहते हैं और उसके अन्यथा होनेपर वे पद उठा दिये जाते हैं। यही सब नैमित्तिक देवताओंके उदाहरण हैं।

नैमित्तिक देवताओंके विषयमें शास्त्रमें भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। मत्स्यपुराणमें गृहदेवताओं अर्थात् वास्तुदेवताओंका नामोल्लेख तथा पूजाका वर्णन किया गया है। यथाः—

"सर्ववास्तुविभागेषु विज्ञेया नवका नव।
एकाशीतिपदं कृत्वा वास्तुवित् सर्ववास्तुषु॥
पदस्थान् पूजयेद्देवाँस्त्रिंशत्पञ्चदशैव तु।
द्वात्रिंशद् बाह्यतः पूज्याः पूज्याश्चान्तस्त्रयोदश॥
नामतस्तान् प्रवक्ष्यामि स्थानानि च निबोधत।
ईशानकोणादिषु तान् पूजयेद्धविषा नरः॥
शिखी चैवाथ पर्जन्यो जयन्तः कुलिशायुधः।
सूर्यसत्यौ भृशश्चैव आकाशो वायुरेव च॥
पूषा च वितथश्चैव गृहक्षतमयावुभौ।
गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृगः पितृगणस्तथा॥"

इत्यादि इत्यादि। समस्त वास्तुविभागमें दोनों ओर नौके हिसाबसे एकाशीति (८१) वास्तु पद जानना चाहिये। इन पदोंमें स्थित बत्तीस और पंद्रह तथा बहिर्दिशामें बत्तीस और बीचमें तेरह—इस प्रकारसे समस्त वास्तु देवताओंकी पूजा करनी चाहिये। शिखी, पर्जन्य, जयन्त, कुलिशायुध, सूर्य्य, सत्य, भृश, आकाश, वायु, पूषा, वितथ, गृहक्षत, मय, गन्धर्व, भृङ्गराज, मृग, पितृगण इत्यादि वास्तु देवतागण हैं, जिनकी पूजा ईशानकोणमे होती है। महाभारतके अनुशासनपर्वमें मतङ्गमुनिका इस प्रकार इतिहास मिलता है कि मतङ्गमुनि अनेक वर्षों तक कठिन तपस्या करनेपर भी ब्राह्मण जन्म नही प्राप्त कर सके और पश्चात् इन्द्रके वरसे छन्द नामक नैमित्तिक देवता बन गये। यथाः—

"छन्दो देव इति ख्यातः स्त्रीणां पूज्यो भविष्यसि।
कीर्तिश्च तेऽतुला वत्स! त्रिषु लोकेषु यास्यति॥
एवं तस्मै वरं दत्वा वासवोऽन्तरधीयत।
प्राणांस्त्यक्त्वा मतङ्गोऽपि सम्प्राप्तः स्थानमुत्तमम्॥"

इन्द्रदेवने मतङ्गको वर दिया "तुम छन्द नामक देवता बनोगे और स्त्रियां तुम्हारी पूजा करेंगी। त्रिलोकमें तुम्हारी अत्यन्त कीर्त्ति होगी।" इतना कहकर इन्द्रदेव अन्तर्धान हो गये और शरीरत्यागानन्तर मतङ्ग छन्द देवता नामक उत्तम नैमित्तिक देवताका स्थान प्राप्त हो गये। यही सब देवताओंके विषयमें आर्यशास्त्रीय विवेचन है।

नित्य पितृगण भी एक प्रकारके देवता हैं, उनका वासस्थान पितृलोक है। उनका कार्य्य आधिभौतिक जगत्का संरक्षण, आधिभौतिक जगत्के परमाणुओंका नियोजन और आधिभौतिक जगत्की क्रियाओंका यथावत् परिचालन है। संसारमें ऋतुओंके ठीक ठीक होनेसे ही आधिभौतिक शरीरसम्बन्धीय परमाणु तथा शक्तियोंका सुप्रबन्ध रहता है। अतः ऋतुओं तककी सम्हाल करनेमें पितरोंका अधिकार माना गया है। यथा वेदमें:—

"ॐ सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम्, अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम्, बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम्, सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम्, हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम्, आज्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम्" इत्यादि।

"नमो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरः शोषाय
नमो वः पितरो ऋतवे, नमो वः पितरो जीवाय
नमो वः पितरः स्वधायै, नमो वः पितरो घोराय॥"

सोमसद् नामक नित्य पितृगण तृप्त होवें, अग्निष्वात्ता नामक पितृगण तृप्त होवें, बर्हिषद् नामक पितृगण तृप्त होवें, सोमपा नामक पितृगण तृप्त होवें, हविर्भुक नामक पितृगण तृप्त होवें, आज्यपा नामक पितृगण तृप्त होवें, इत्यादि। वर्षाधिपति पितरोंको नमस्कार, ग्रीष्माधिपति पितरोंको नमस्कार, ऋतुके अधिपति पितरोंको नमस्कार, इत्यादि।

ऋतुओंमें विपर्य्यय न होने देना अथवा मनुष्योंके कर्मोंके उपयोगी ऋतुओंके स्वरूपमें विपर्य्यय उत्पन्न करना, संसारमे स्वास्थ्यविधान करना,

संसारके स्वास्थ्यमें विपर्य्यय उत्पन्न करना, मनुष्यका स्थूलशरीर मातृगर्भमें उत्पन्न करना, मनुष्यके स्थूलशरीरका स्वास्थ्यविधान करना, मनुष्यके शरीरके स्वास्थ्यमें विपर्य्यय करना इत्यादि सब कार्य्य पितृगणकी कृपासे हुआ करते हैं। सुतरां, पितृगण ही जीवके कर्मभोगके उपयोगी उसके उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट अधिकारके अनुसार स्थूलशरीर बनानेमे जैसी आवश्यकता हो उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट तत्त्वोंको चन्द्रलोक अर्थात् पितृलोकसे पर्जन्यादिके द्वारा सुसज्जित करते हुए यथाक्रम मातृपितृशरीरमें होकर रजवीर्य्यमें परिणत करते हुए मातृगर्भमें पहुंचा देते हैं। यही पितृगणके द्वारा मनुष्यके स्थूलशरीरकी गतिका वैज्ञानिक रहस्य है। दूसरी ओर जिस प्रकार पितृगण प्रत्येक जीवके कर्म्मानुसार तथा उस जीवके मातापिताके कर्म्मानुसार जैसी सन्ततिके उपयोगी स्थूलशरीरका मसाला मातृगर्भमें इकट्ठा करते है वैसे ही यथायोग्य आत्मा अपने सूक्ष्मशरीरके सहित अन्य सूक्ष्मलोकोंसे देवताओंकी सहायताके द्वारा मातृगर्भमें यथासमय पहुँचाया जाता है। यही जीवके सूक्ष्मशरीरके जन्मान्तर होनेके सम्बन्धका वैज्ञानिक रहस्य है। इन दोनों कार्य्योंमेंसे एक कार्य्य पितरोंका है दूसरा देवताओंका है।

ऋषि, देवता और पितर—ये तीनों श्रेणियां श्रीभगवान्‌के कार्य्यकर्त्ता प्रतिनिधि देवता ही हैं। भेद इतना ही है कि ऋषियोंमे अध्यात्मशक्तिकी प्रधानता, देवताओंमें अधिदैवशक्तिकी प्रधानता और पितरोंमें अधिभूतशक्तिकी प्रधानता रहती है। नित्य पितरोंके एकत्रिंशत् गण और चार वर्णके विषयमें शास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा मार्कण्डेय पुराण अ० ६६ में:—

विश्वो विश्वभुगाराध्यो धर्मो धन्यः शुभाननः।
भूतिदो भूतिकृत् भूतिः पितॄणां ये गणा नव॥
कल्याणः कल्याणकर्त्ता कल्यः कल्यतराश्रयः।
कल्यताहेतुरनघः षडिमे ते गणाः स्मृताः॥
वरो वरेण्यो वरदः पुष्टिदस्तुष्टिदस्तथा।
विश्वपाता तथा धाता सप्त वैते तथा गणाः॥
महान् महात्मा महितो महिमावान् महाबलः।
गणाः पञ्च तथैवैते पितॄणां पापनाशनाः॥

सुखदो धनदश्चान्यो धर्मदोऽन्यश्च भूतिदः।
पितृणां कथ्यते चैतत् तथा गणचतुष्टयम्॥
एकत्रिंशत् पितृगणा यैर्व्याप्तमखिलं जगत्।
ते मेऽनुतृप्तास्तुष्यन्तु यच्छन्तु च सदा हितम्॥

विश्व, विश्वभुक्, आराध्य, धर्म, धन्य, शुभानन, भूतिद, भूतिकृत् और भूति नामक पितरोंके नवविध गण, कल्याण, कल्याणकर्त्ता, कल्य, कल्यतराश्रय, कल्यताहेतु और अनघ नामक पितरोंके षड्विध गण, वर, वरेण्य, वरद, पुष्टिद, तुष्टिद, विश्वपाता और धाता नामक पितरोंके सप्तविध गण, महान्, महात्मा, महित, महिमावान् और महाबल नामक पितरोंके पञ्चविध गण और सुखद, धनद, धर्मद तथा भूतिद नामक पितरोंके चतुर्विध गण यही एकत्रिंशत् पितृगण, जो जगत्में व्याप्त है, तृप्त होकर सबका कल्याण करें। पितरोंके चार वर्णके विषयमें महाभारतके आदिपर्वमें लिखा है:—

"सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणान्तु सुकालिनः॥

सोमपा नामक पितृगण ब्राह्मणजातीय हैं, हविर्भुक् नामक पितृगण क्षत्रियजातीय हैं, आज्यप नामक पितृगण वैश्यजातीय हैं और सुरकालीन नामक पितृगण शूद्रजातीय हैं।

पितरोंका कार्य्य जिस प्रकार आधिभौतिक सृष्टिकी रक्षा आदिके सम्बन्धसे माना गया है उसी प्रकार ज्ञानमयी सृष्टिके संरक्षणका पूर्ण भार ऋषियोंपर रक्खा गया है। नित्य पितरो और नित्य देवताओंके सदृश नित्य ऋषियोंका पद भी प्रत्येक ब्रह्माण्डमें नियत ही रहता है। हां, इसमे सन्देह नहीं कि मन्वन्तर और कल्पादिके भेदसे जिस प्रकार अनेक पितर और अनेक देवताके पदधारी व्यक्तियोंका परिवर्तन होता है उसी प्रकार ऋषियोंके पदधारी व्यक्तियोंका भी परिवर्तन यथानियम हुआ करता है। कार्य्यशैलीके विचारसे इतना अवश्य जानने योग्य है कि पितरोंके अवतार नहीं होते। जब पितरोंको अपना कोई विशेष कार्य सुसम्पन्न करना होता है, तो मातापिताके शरीरमे आविर्भूत होकर उन्हींको अपना अवतार बनाकर पितृगण अपना विशेष कार्य सुसम्पन्न करते हैं। परन्तु भगवदवतारकी नाईं देवताओं और ऋषियोंके सब प्रकारके

अवतार हुआ करते हैं। ऋषियोंके विभाग सात प्रकारके हैं। यथाः—महर्षि, परमर्षि, देवर्षि, ब्रह्मर्षि, श्रुतर्षि, राजर्षि और काण्डर्षि। व्यासादि महर्षि हैं, भेलादि परमर्षि हैं, कण्वादि देवर्षि हैं, वशिष्ठादि ब्रह्मर्षि हैं, सुश्रुतादि श्रुतर्षि हैं, ऋतुपर्णादि राजर्षि हैं और जैमिनि आदि काण्डर्षि हैं। प्रत्येक मन्वन्तरमें पृथक् पृथक् सप्तर्षि होते हैं। यथा:—स्वायम्भुव मन्वन्तरमें मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ। स्वारोचिष मन्वन्तरमें ऊर्ज्ज, स्तम्भ, प्राण, दत्तोलि, ऋषभ, निश्चर और चार्व्ववीर। उत्तम मन्वन्तरमें-प्रमदादि सप्त वशिष्ठके पुत्रगण। तामस मन्वन्तरमें—ज्योतिर्धामा, पृथु, काव्य, चैत्र, अग्नि, वलक और पीरव। रैवत मन्वन्तरमें—हिरण्यरोमा, वेदश्री, ऊद्र्ध्ववाहु, वेदवाहु, सुधामा, पर्जन्य और वशिष्ठ। चाक्षुष मन्वन्तरमें—सुमेधा, विरजा, हविष्मान्, उन्नत, मधु, अतिनामा और सहिष्णु। इत्यादि ये सब नित्य ऋषिगण हैं। वेदोंके मन्त्रद्रष्टा इस संसारके नैमित्तिक ऋषिगण इन्हीं ऋषियोंके अवतार-रूपसे समझे जा सकते हैं, यथा निरुक्तके दैवतकाण्डमें—'एवमुच्चावचैरभिप्रायैः ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति' अर्थात् उन्नत अवनत अधिकारमें ऋषियोंकी मन्त्र-दृष्टि होती है। इसी दृष्टिसे युग युगमें वेद प्रकट होता है। अतः इस प्रकार कर्म तथा ज्ञानके सञ्चालक नित्यनैमित्तिक ऋषि, देव, पितरोंकी उपासना करना उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंका अवश्य कर्त्तव्य है।

इसके अनन्तर उन्नतिके और भी उच्च स्तरमें यह चिन्ता स्वयं ही आने लगती है कि विश्वका सञ्चालन अलग अलग प्राकृतिक जड़ वस्तु पर अधिष्ठान करनेवाले अलग अलग दैवी विभूतियोंके ही अधीन है, अथवा समस्त विश्वके मूलमें कोई अद्वितीय चेतन सत्ता है जिसकी ही थोड़ी थोड़ी शक्तिको लेकर इस प्रकार देवता, ऋषि और पितृगण कार्य किया करते हैं। और यदि कोई इस प्रकार अद्वितीय विश्वव्यापी चेतनसत्ता है तो उसका अनुभव हो सकता है कि नहीं। हर्वर्ट स्पेन्सरप्रमुख पश्चिमीय पण्डितोंने इस प्रश्नके उत्तर देनेमें असमर्थ होकर यही कह दिया कि it is beyond the range of comprehesion अर्थात् सर्वव्यापक कोई चेतन शक्ति अवश्य है किन्तु उसको जानना असम्भव है। आनन्दकी बात यह है कि where their philosophy ends ours begins अर्थात् जहां उस देशके दार्शनिकगण असमर्थ होकर परमात्मा अनुभवसे परे हैं ऐसा कह कर छोड़ देते हैं वहींसे हमारे देशके पूज्य महर्षियोंकी विचारधारा

प्रारम्भ होती है और शतमुखी गङ्गाकी तरह वह धारा प्रचण्ड गम्भीर वेगसे बहकर अन्तमे सच्चिदानन्द समुद्रमें ही जा मिलती है। उन्नतिके उच्च स्तरमे पहुंच कर ज्ञानपिपासु जीवको यह पता लग जाता है कि कोई अद्वितीय चेतनसत्ता अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमें सर्वत्र व्याप्त है, देवता ऋषि आदिकी शक्ति उसीकी शक्ति है और वह तीन प्रकारसे साधकोंकी दृष्टि या अनुभवके मार्गमें आ सकती है। एक माया पर अधिष्ठान करके स्थूल रूप धारण द्वारा यथा श्रीगीतामें—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

जन्मरहित, अव्यय तथा जीवोंका अधीश्वर होने पर भी प्रकृतिको अपने वशमें करके मायाके आश्रयसे परमात्मा शरीरधारी बनते है । सज्जनोंकी रक्षा और दुर्जनोंके नाशके लिये और युगानुसार धर्मधाराको व्यवस्थित करनेके लिये इस प्रकारसे प्रति युगमें उनका अवतार होता है। और भी श्रीमद्भागवतमे—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानं चाखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥

कृष्ण भगवान् सकल जीवोंके भीतर व्याप्त परमात्मा हैं, जगत्के कल्याणके लिये मायाका आवरण ऊपर डालकर शरीरधारीकी तरह दीखते हैं । उनका दूसरा रूप सगुण ब्रह्म ईश्वरका है जो तत्त्वभेदानुसार विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणपति इन पांच मूर्त्तियोमे प्रकट होता है और उनका तीसरा रूप निर्गुण, निराकार अव्यक्त अचिन्त्य परब्रह्म है जो कि योगियोंको निर्विकल्प समाधि दशामें अनुभवमें आता है । अवतारके भावको लेकर बौद्धधर्मवालोंने उपासनाका मार्ग निकाला है और जैनधर्मवालोंने भी तीर्थङ्कर आदि विभूतियोंकी और उनके आदिपुरुष ऋषभदेवकी पूजाकी प्रतिष्ठा की है। अन्य धर्ममतोंमें कहीं पर परमात्माके पुत्र और कहीं पर परमात्माके दूत रूपसे इसी भावका ही इङ्गित किया गया है। और सगुण ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्मका यथार्थ तत्त्व आर्यशास्त्रमे ही पूर्ण रूपसे वर्णित तथा योगबलसे अनुभवगम्य सिद्ध किया गया है। इस प्रकारसे उपासनाके क्रमोन्नत सप्त अधिकारोंमें परमात्मासे शक्तिलाभ

करनेकी, ज्ञानलाभ करनेकी और शाश्वत सुखलाभ करनेकी विधियां वर्णित की गई है और इन्ही विधियौके भीतर ही जैसा कि ऊपर बताया गया है, संसारके समस्त सम्प्रदाय, समस्त पन्थ और समस्त मजहब या धर्ममत समाविष्ट किये जा सकते है। अवतारके रहस्यके विषयमें आगेके प्रकरणमें विस्तृत वर्णन किया जायगा।

पहिले ही कहा गया है कि अभावकी पूर्तिके लिये मनुष्योंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। हम लोग अपने ही दोषसे नित्य नवीन अभावौकी सृष्टि करते हैं। योगशास्त्रमें लिखा है—

देहाद् वहिर्गतो वायुः स्वभावाद् द्वादशाङ्गुलिः।
गायने षोड़शाङ्गुल्यो भोजने विंशतिस्तथा॥
चतुर्विंशाङ्गुलिः पान्थे निद्रायां त्रिंशदङ्गुलिः।
मैथुने षट्त्रिंशदुक्तं व्यायामे च ततोधिकम्॥
आयुक्षयोऽधिके प्रोक्तो मारुते चान्तराङ्गते।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्राणायामं समाचरेत्॥

मनुष्योका स्वाभाविक श्वास १२ अंगुल है। जिसके हिसाबसे दिनरात भरमें २१६०० वार श्वास चलता है। श्वासके साथ प्राणका सम्बन्ध रहनेसे श्वासका परिमाण जितना घटता है आयु उतनी बढ़ती है और श्वासका परिमाण जितना अधिक होता है आयु उतनी घटती है। प्राणायामादि द्वारा कुम्भक अभ्यास करनेसे श्वास घटता है, १२ अंगुलसे ११, १०, ९, ८ इत्यादि हो जाता है, जिससे योगीकी आयु तथा शक्ति वढ़ती है। किन्तु शरीरमें किसी प्रकारका वेग उत्पन्न होते ही श्वासका परिमाण बढ़ जाता है। इसी कारण काम, क्रोध, लोभ, मोहादि वृत्तियोंके वशीभूत स्त्री पुरुष रोगी तथा अल्पायु होते है। हम लोग वृत्तियौके वशमें होकर रातदिन इस तरह आयु तथा शक्तिको खोते है, किंतु इसकी पुष्टि तथा पुनः प्राप्तिका भी क्या कोई उपाय है? इसी उपायके खोजमें ही सगुण ब्रह्मोपासनाका रहस्य है।

केनोपनिषदमें एक मन्त्र आता है, यथाः—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

मनुष्यजन्म पाकर यदि परमात्माकी उपलब्धि हुई तभी जन्म सार्थक हुआ, नही तो सभी कुछ नष्ट हुआ जानना चाहिये, इसलिये धीर पुरुषगण साधना द्वारा सकल भूतोंमे ब्रह्मका अनुभव करके अमृतत्व लाभ करते हैं। श्रीभगवान् शंकराचार्यने भी कहा है—

लब्ध्वा कथञ्चिन्नरजन्म दुर्लभं
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
यः स्वात्ममुक्त्यै न यतेत मूढ़धीः
स आत्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्॥

नीचेकी अनेक योनियोमे घूमनेके वाद दुर्लभ मनुष्य जन्म हुआ, पुरुषयोनिमें भी जन्म मिला, शास्त्रमे भी प्रवेशलाभ हुआ, फिर भी जो मन्दमति जीव मोक्षलाभके लिये, परमात्माके साक्षात्कारके लिये यत्न नही करता है, वह निश्चय ही आत्मघाती है। इसी आत्महत्यारूपी महापापसे जीवको बचाकर परमानन्दमय अमृतपदका आस्वादन करानेके लिये सगुणब्रह्मोपासनाके अन्तर्गत मूर्त्तिपूजा ही प्रथम सोपानरूप है। अज्ञानीजीवको ज्ञानकी पिपासा स्वाभाविक है, दुर्बल जीवको बलीयान् बननेकी लालसा स्वाभाविक है, दुःखी जीवको सुखकी लालसा स्वाभाविक है, अल्पायु जीवको चिरायुः बननेकी इच्छा स्वाभाविक है। अतः जिस प्रकार अग्निके समीप जानेसे शरीरमे स्वभावत ही उत्तापका सञ्चार होता है, उसी प्रकार ज्ञानरूप, आनन्दरूप, सर्वशक्तिमान्, चिर अमर परमात्माके समीपस्थ होकर ज्ञान-सुख-शक्ति-शान्ति तथा चिर अमरता लाभ करके मनुष्यजन्मको सार्थक करनेके लिये ही मूर्त्तिपूजाका विधान किया गया है। इसी सत्यको प्रमाणित करनेके लिये विसचफ साहब लिखते हैं, यथा—

Man is the greater radio and is able to connect himself with the Higher Force When this is once rightly demonstrated and understood, it will turn him from slave to Master. Then man comes to himself and comprehends the fact that he is the Son of Man and knows that in himself lies all force. He is a Master Force and all the elements will hear his voice

(Fred. F. Bischoff—Kalpaka 1-1928)

मनुष्यके भीतर यह योग्यता है कि सर्वशक्तिमान् परमात्माके साथ अपने आत्माका सम्बन्ध जोड़ ले। इस तत्त्वके ठीक समझने और कर लेने पर मनुष्य देवता बन सकता है। उस समय मनुष्यको यह अनुभवमें आ जाता है कि वह दिव्यशक्तिका केन्द्र बन गया है, वह स्वयं महान् शक्तिमान् है और तभी प्राकृतिक समस्त पदार्थ उसकी आज्ञासे कार्य करेंगे।

श्रीभगवान् मनुने कहा है—

अभिवादनशीलस्य नित्य वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि सम्प्रवर्द्धन्त आयुर्विद्यायशोबलम्॥ (मनु. द्वि. अ १२१)

वृद्धों तथा पूज्योंके चरणस्पर्श तथा नित्य प्रणाम सेवा करनेवालोंमे उनकी चार शक्ति–आयु–विद्या–यश–बलकी प्रवेश करती है। जब लौकिक गुरुओंको पूजा करनेसे आयु, ज्ञान, यश, बल मिलते हैं तो जगद्गुरु परमात्माकी पूजा करनेसे ये शक्तियां अवश्य ही प्राप्त होंगी और भक्त भगवान्‌की पूजा करके आनन्दमय मोक्षलाभ अनायास ही कर सकेंगे इसमें अणुमात्र सन्देह नही है।

किन्तु परमात्मा दीखते नही, बहुत दूर है, प्रकृतिसे परे है, उनके पास एकाएक कैसे जाया जाय, उपासना किस तरह की जाय, ऐसे प्रश्नोंके उत्तरमें ही श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको गीताके द्वादशाध्यायमे साकार निराकार उपासनाका रहस्य बताया था, यथा—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे भक्ततमा मताः॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

जो लोग मेरी साकार मूर्त्तिमें मन बांधकर एकान्तरति हो प्रेम भक्तिके

साथ पूजा करते हैं वे मेरे श्रेष्ठ भक्त हैं। मन, वचन, बुद्धि तथा प्रकृतिसे परे, सर्वव्यापी, अक्षर, निर्गुण, निराकार परमात्माकी जो उपासना करता है, वह तभी उनको पा सकता है, जबकि उसकी समस्त इन्द्रियां पूरे वशमें आ जायं, सर्वत्र समबुद्धि प्राप्त हो और सकल जीवोंके हितमें चित्त मग्न हो जाय। इतना होने पर भी निराकार ब्रह्मकी प्राप्ति बहुत ही क्लेशसे होती है। क्योंकि 'मेरा शरीर, मेरी इन्द्रियां' इस प्रकार देहके प्रति अभिमानसे युक्त जीव निराकार ब्रह्मकी प्राप्ति बहुत ही दुःखसे कर सकता है। श्रीभगवान्‌के इन वचनोंसे निश्चय होता है कि जबतक इन्द्रियां पूरी वशमें न आ जाय और देहाभिमान नष्ट होकर पूर्ण वैराग्यकी प्राप्ति न हो जाय, तबतक निराकारकी उपासना असम्भव है। इसी कारण मध्यम अधिकारीकी सुविधाके लिये महर्षियोंने साकार मूर्त्तिपूजा बताई है। जिस प्रकार यदि कोई मनुष्य सूर्यका अधिक उत्ताप लेना चाहे तो उसके लिये कर्त्तव्य होगा कि दोनों हाथोंमे पख बांध कर सूर्यके समीप उड कर जानेकी कोशिश करे और यदि इतनी सामर्थ्य न हो तो सीधा उपाय यह है कि एक आतशी सीसा (medium) लेकर सूर्यके सामने धरे और जहां उसका उत्ताप केन्द्रीभूत (focus) हो वहांसे उत्तापको लेवे, ठीक उसी प्रकार जिस साधकमें ज्ञान और वैराग्यका पख जम गया है वही सीधा निराकारके पास उड़कर जा सकता है। नहीं तो मूर्त्तिरूपी केन्द्र या आश्रय (medium) के द्वारा ही परमात्माकी शक्तिको प्रकट करके उपासना करना ही युक्तियुक्त होगा। यही मध्यम अधिकारीके लिये मूर्त्तिपूजा बतानेका हेतु है।

मूर्त्ति तो पत्थर, लकडी, लोहे आदिकी होती है। उसकी पूजासे भगवान्‌की पूजा कैसे होगी? यह प्रश्न हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि हम मूर्त्ति 'की' पूजा नहीं करते है किन्तु मूर्त्ति 'में' पूजा करते हैं। हम प्रतिमाके मसाले पत्थर, लकड़ी आदिकी पूजा या स्तुति नहीं करते है, किन्तु इन मसालोंसे प्रतिमा बनाकर उसमे परमात्माकी शक्तिको प्रकट कर उस दिव्य शक्तिकी पूजा स्तुति करते हैं। श्रीमद्भागवतमें आठ प्रकारकी प्रतिमा बनाई गई है, यथाः—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥

पत्थरकी प्रतिमा, काष्ठनिर्मित प्रतिमा, लोहेकी प्रतिमा, लेपन द्वारा बनाई हुई प्रतिमा, चित्राङ्कित प्रतिमा, बालूकी प्रतिमा, मानसी प्रतिमा और मणिकी प्रतिमा—ये आठ प्रकारकी प्रतिमाएं हैं। इनमें वैदिक प्राणप्रतिष्ठाकी प्रक्रियासे परमात्माकी शक्ति आकर्षित की जाती है। कापिल तन्त्रमें लिखा है:—

गवां सर्वाङ्गजं क्षीरं स्रवेत् स्तनमुखाद् यथा।
तथा सर्वगतो देवः प्रतिमादिषु राजते।

जिस प्रकार गऊ माताके समस्त शरीरमें उत्पन्न हुआ दूध स्तनके द्वारा निकलता है, उसी प्रकार परमात्माकी सर्वव्यापक शक्ति प्रतिमामें अधिष्ठान करती है। यह शक्ति आती किस विधिसे है इस विषयमें लिखा है:—

आभिरूप्याच्च बिम्बस्य पूजायाश्च विशेषतः।
साधकस्य च विश्वासाद् देवतासन्निधिर्भवेत्॥

प्रतिमाके ध्यानानुसार सुन्दर तथा ठीक ठीक बननेसे, प्राणप्रतिष्ठा और पूजा विशेषरूपसे होनेसे तथा भक्तोंमें श्रद्धा विश्वास पूरा पूरा होनेसे प्रतिमामें दिव्यशक्ति आ जाती है। प्रह्लादमें विश्वास और भक्तिकी शक्ति थी इसीसे उन्होंने भगवान्‌की दिव्य शक्तिको नृसिंहरूपसे स्तम्भके द्वारा प्रकट करा दिया था। भगीरथमे तपस्याकी शक्ति थी, तभी उन्होंने स्वर्ग से गङ्गादेवीकी दिव्य शक्तिको मृत्युलोकमें आकर्षण किया था। इसी प्रकार पूजाकी शक्ति, भक्तोंकी विश्वास-भक्तिरूपी विषम (negative) शक्ति भगवान्‌की सम (positive) शक्तिको प्रतिमारूपी आधार (medium) द्वारा आकर्षण करती है। Negative positive का इस प्रकार परस्पर आकर्षण सायन्समें प्रसिद्ध है। इस प्रकार ठीक ठीक आकर्षण होनेपर प्रतिमा चमकने लगती है और उसमें अनेक चमत्कार भी देखनेमें आते हैं, यथा-सामवेदके २६वे ब्राह्मणमें लिखा है:—

देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति स्विद्यन्त्युन्मीलन्ति निमीलन्ति।

देवताओंके स्थान कांपते हैं, देव प्रतिमा हंसती है, रोती है, नाचती है, किसी अङ्गमें स्फुटित हो जाती है, पसीजती है, नेत्र खोलती हैं, बन्द करती है। और भी अथर्ववेदमें— (२ –१३—४)

एहि अश्मानमातिष्ठ अश्मा भवतु ते तनुः।

हे भगवन्! आओ इस पाषाणनिर्मित प्रतिमामें अधिष्ठान करो, तुम्हारा शरीर यह पाषाणमयी प्रतिमा हो जाय।

इन सब प्रमाण तथा विचारोंसे सिद्ध हुआ कि हम लोग मूर्त्तिकी पूजा नही करते हैं, हम 'बुतपरस्त' नही हैं, किन्तु मूर्त्तिमें भगवान्‌की दिव्य शक्तिको प्राण प्रतिष्ठा द्वारा आकर्षित करके उस शक्तिकी पूजा करते हैं और इस प्रकार मूर्त्तिरूपी आधारके द्वारा परमात्माके समीप पहुंचनेपर हमें आयु, ज्ञान, विद्या, शक्ति तथा आनन्द प्राप्त होता है और अन्तमें मोक्ष मिलता है।

प्राणप्रतिष्ठाके प्रमाणमें 'आभिरूप्याच्च विम्वस्य' यह जो शब्द कहा गया है इसका भावार्थ विचार करने योग्य है। इसका भावार्थ यह है कि प्रतिमा यदि सुन्दर तथा ध्यानके अनुसार हो तभी उसमें प्राणप्रतिष्ठा द्वारा भगवान्‌की शक्ति आती है। विष्णु, शिव, दुर्गा, गणेश आदिके जो कुछ ध्यान शास्त्रमें मिलते हैं वे किसीकी कपोलकल्पना नही है, किन्तु प्रकृतिके साथ उन देवताओंका जिस प्रकार सम्बन्ध है उसीके अनुसार ही उनके ध्यानानुकूल मूर्त्तियां बनाई जाती हैं। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रकी जो मूर्त्तियां बनाई जाती हैं वे उनके सृष्टि स्थिति प्रलय कार्यके अनुसार ही हैं। ईश्वर प्रकृतिके रजोगुणके साथ मिलकर ब्रह्मारूपसे ससारकी सृष्टि करते हैं, सत्त्वगुणके साथ मिलकर विष्णुरूपसे संसारकी स्थिति करते हैं और तमोगुणके साथ मिलकर रुद्ररूपसे संसारका प्रलय करते हैं। इन्ही क्रियाओंके अनुसार ही ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी मूर्त्तियां बनी हुई हैं। सृष्टि रजोगुणसे होती है, रजोगुणका रङ्ग लाल है इसलिये ब्रह्माजीका रङ्ग भी लाल है। सृष्टि अन्तःकरणकी शक्तिसे होती है, अन्तःकरणके मन बुद्धि चित्त अहङ्कार ये चार अङ्ग हैं, इसी लिये ब्रह्माजीके भी चार मुख हैं। विना ज्ञानकी सहायताके कर्म ठीक ठीक नही हो सकता है, कर्ममें गलती हो सकती है, इस कारण ज्ञानशक्तिरूपिणी सरस्वतीको हृदयमें धारण करके तथा ज्ञानके सूचक वाहनरूपी हंसकी सहायतासे ब्रह्माजीने सृष्टि की। यही हंसवाहन तथा सरस्वती देवीके साथ उनके सम्बन्ध बतानेका हेतु है। सृष्टिकार्यमें नाभि मुख्य स्थान है, नाभिके बलसे ही सृष्टि होती है इसलिये परमात्माकी नाभिसे सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माकी उत्पत्ति बताई गई है। इस प्रकारसे ब्रह्माजीकी मूर्त्ति

उनकी क्रियाके अनुसार बनाई जाती है। विष्णु स्थितिके देवता और रुद्र लयके देवता हैं। स्थिति विश्वकी यौवन दशा और लय वृद्ध दशा है। इस कारण विष्णु मूर्त्ति यौवनमयी तथा महेशमूर्त्ति वृद्ध बनाई जाती है। जो समस्त संसारको नष्ट करके श्मशान बनाते हैं उनका निवास घरमें न होकर श्मशानमें ही होना चाहिये, इस कारण शिव श्मशानचारी हैं। जीव तथा संसार प्रलयमें जलकर भस्म हो जाता है। इस कारण शिवजीके बदनमें भस्म लिपा हुआ है। शिव नाशकर्त्ता हैं इस कारण नाशकारी कालसर्प उनका भूषण है। चाहे कोई कितना ही बलवान् हो काल सभीका वध करता है, इस कारण सबसे बलवान् जन्तु शेरकी भी खाल खींचकर शिवजी पहने हुए हैं। अन्य पक्षमें स्थितिके देवता विष्णु पर्यङ्कपर लेटे हुए हैं, लक्ष्मी उनकी पदसेवा कर रही हैं, उनके सारे शरीरमे रत्नमय अलङ्कार हैं, वे सब स्थिति दशाकी शोभाके ही सूचक हैं। उनके चार हाथमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष प्रदानके लिये चक्र, गदा, पद्म और शङ्ख हैं। चक्रयुक्त हाथ धर्मका, गदायुक्त हाथ अर्थका, पद्मयुक्त हाथ कामका और शङ्खयुक्त हाथ मोक्षका सूचक है। उनके गलेमे माला इस लिये है कि—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय !
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ (गीता)

जिस प्रकार एक ही सूत्रमें मालाके सब दाने रहते है, उसी प्रकार अद्वितीय भगवान् विष्णु सूत्ररूपसे सर्वत्र व्याप्त हैं और प्राकृतिक जीव उन्हीके ऊपर गूंथे हुए हैं। यही सब ध्यानानुसार विष्णुमूर्त्ति और शिवमूर्त्तिका तात्पर्य है। इसी प्रकार दुर्गामूर्त्तिमें भी अपूर्व भाव भरा हुआ है। दुर्गा परमात्माकी शक्ति है। परमात्मा सर्वव्यापक है इस कारण उनकी महाशक्ति भी दशोदिशामें व्याप्त है। इसीको सूचित करनेके लिये देवीके दस हाथ हैं। शक्ति धन, बल, विद्या और बुद्धि इन चार वस्तुओंके विना पूर्ण नहीं होती है, इस कारण महाशक्तिके एक ओर धनकी देवी लक्ष्मी और बलके देवता कार्त्तिकेय और दूसरी ओर विद्याकी देवी सरस्वती तथा बुद्धिके देवता गणपति स्थित हैं। इस प्रकार पूर्णशक्तिसे सम्पन्न होकर ही देवी महिषासुरको मार रही हैं। महिषासुर तमोगुणका रूप है, तमोगुण रजोगुणके द्वारा ही दबाया जाता है। इस कारण रजोगुणरूपी सिंहके द्वारा महिषासुरको दबाकर सत्त्वगुणमयी देवी उसे मार रही हैं। यही देवी मूर्त्तिका भाव है। गणेश बुद्धिके अधिष्ठाता है

इस कारण गजेन्द्रवदन है। क्योंकि पशुओंमे हाथी ही सबसे बुद्धिमान् होता है और उसी पशुराज्यके साथ गणेशका अधिदैव सम्बन्ध है। गणेश सुबुद्धिके देवता हैं, चूहा कुतर्कका रूप है। क्योंकि जिस प्रकार विषयकी मर्यादा न समझकर केवल उसे काट देना ही कुतर्कका लक्षण है, ठीक उसी प्रकार चूहा भी अच्छे अच्छे वस्त्रोंको काट देता है, सुबुद्धि इस कुतर्कको दबा रखती है, इस कारण सुबुद्धिके अधिष्ठाता गणेशने कुतर्करूपी चूहाको वाहनरूपसे दबा रक्खा है। सुबुद्धि जितनी बढ़ती है, कुतर्क उतना ही घटता है। यही कारण है कि गणेशजी इतने मोटे और चूहा इतना छोटा है।

महादेवकी पञ्चमुख मूर्तिके अतिरिक्त शिवलिङ्गकी जो उपासना बहुतायतसे की जाती है इसका रहस्य समझने योग्य है। बहुतसे अज्ञानी जन इस रहस्यको न समझकर सनातनधर्मियोंको 'लिङ्गपूजा' का कलङ्क लगाते हैं। अतः योगशास्त्रके सिद्धान्तानुसार इसकी व्याख्या की जाती है। पृथिवी, जल, अग्नि आदि पांच तत्त्वोंमेसे पृथिवी तत्त्वके साथ शिवभगवान्का अधिदैव सम्बन्ध है। इसी कारण पृथिवीके सार हिमालयके अन्तर्गत कैलासमे शिवका स्थान और हिमालयदुहिता सतीको उनकी शक्ति रूपसे शास्त्रमें बताया गया है। जिस प्रकार समष्टि जगत्मे ऐसे ही मनुष्यदेहमें भी पृथिवीतत्त्वका तथा शिवशक्तिका स्थान लययोगशास्त्रमें वर्णित है। यथा—

अथाधारपद्मं सुषुम्नास्यलग्नं
ध्वजाधो गुदोर्द्ध्वं चतुः शोणपत्रम्।
अधोवक्त्रमुद्यत्सुवर्णाभवर्णै-
र्वकारादिसान्तैर्युतं वेदवर्णैः ॥
अमुस्मिन् धरायाश्चतुष्कोणचक्रं
समुद्भासि शूलाष्टकैरावृतं तत्।
लसत् पीतवर्णं तड़ित्कोमलाङ्गं
तदङ्के समास्ते धरायाः स्वबीजम् ॥
वज्राख्या वक्त्रदेशे विलसति सततं कर्णिकामध्यसंस्थं,
कोणं तत् त्रैपुराख्यं तड़िदिव विलसत्कोमलं कामरूपम्।

कन्दर्पो नाम वायुर्निवसति सततं तस्य मध्ये समन्तात्,
जीवेशो बन्धुजीवप्रकरमभिहसन् कोटिसूर्यप्रकाशः ॥
तन्मध्ये लिङ्गरूपी द्रुतकनककलाकोमलः पश्चिमास्यो,
ज्ञानध्यानप्रकाशः प्रथमकिशलयाकाररूपः स्वयम्भूः ।
विद्युत्पूर्णेन्दुबिम्बप्रकरकरचयस्निग्धसन्तानहासी—
काशीवासी विलासी विलसति सरिदावर्त्तरूपप्रकारः ॥
तस्योर्द्ध्वे बिसतन्तुसोदरलसत्सूक्ष्मा जगन्मोहिनी,
ब्रह्मद्वारमुखं मुखेन मधुरं संछादयन्ती स्वयम् ।
शङ्खावर्त्तनिभा नवीनचपलामालाविलासास्पदा,
सुप्ता सर्पसमा शिवोपरि लसत्सार्द्धत्रिवृत्ताकृतिः ॥

अर्थात् मूलाधार पद्म गुदाके ऊपर लिङ्गमूलके नीचे सुषुम्नाके मुखमे संलग्न है। इसमे रक्तवर्ण चतुर्दल है और इस पद्मको कर्णिका अधोमुख है। उज्ज्वल सुवर्णकी तरह इन दलोकी दीप्ति है और व, श, ष, स ये चार वर्ण इनमें रहते है। इस पद्मको कर्णिकामे चतुष्कोणरूप पृथिवी मण्डल है जो पीतवर्ण, उज्ज्वल, कोमल तथा अष्टशूलके द्वारा आवृत है। उस मण्डलके बीचमे पृथ्वी बीज 'लं' है। आधार पद्मको कर्णिकाओंके गह्वरमे वज्रा नाड़ीके मुखमे त्रिपुरसुन्दरीके अधिष्ठानरूपी एक त्रिकोण शक्तिपीठ विद्यमान् है जो कामरूप, कोमल और विद्युत्के समान तेजःपुञ्ज है। इस त्रिकोणके मध्यमे उसे व्याप्त करके कन्दर्प नामक वायु रहता है जो जीवका धारण करने वाला, बन्धुजीवपुष्पसे भी अधिक रक्तवर्ण और कोटि सूर्यकी तरह प्रकाशमान है। उसके बीचमें अर्थात् कन्दर्प वायुपूर्ण कामरूपी त्रिकोणके मध्यमे स्वयम्भू लिङ्ग विद्यमान है जो पश्चिममुख, तप्तकाञ्चनतुल्य कोमल, ज्ञानध्यानप्रकाशक, कोमलकिशलयाकार, ज्योतिर्मय, जलावर्त्ततुल्य गोलाकार काशी विश्वनाथके रूप है। इस स्वयम्भूलिङ्गके ऊपर मृणालतन्तुतुल्या सूक्ष्मा, शंखवेष्टनयुक्ता सार्द्धत्रिवलयाकारा, सर्पतुल्यकुण्डलाकृति, विद्युत्प्रकाशमयी कुलकुण्डलिनी अपने मुखसे स्वयम्भूलिङ्गमुखको आवृत करके निद्रिता रहती है। लययोगके साधकको कुण्डलिनी जागरणके बाद जब मूलाधार पद्म दीखता है तो यह पृथिवी तत्त्व, उसके भीतरका त्रिकोण पीठ और

उस पीठ परका स्वयम्भू लिङ्ग तथा साढ़े तीन चक्करवाली कुलकुण्डलिनी—सब कुछ दीख जाते है । यही योगशास्त्रीय शिवलिङ्ग है और इसीकी पूजा की जाती है। अतः पञ्चानन शिव और स्वयम्भू लिङ्ग एक ही वस्तु है और दोनोंकी पूजासे एक ही फल होता है। यथा स्कन्दपुराणमे :—

> आकाशं लिङ्गमित्याहुः पृथिवी तस्य पीठिका।
> आलयः सर्वदेवानां लयनाल्लिङ्गमुच्यते ॥
> ब्रह्मादिस्थावरं यत् सर्वं लिङ्गे प्रतिष्ठितम्।
> तस्मात्सर्वप्रयत्नेन स्थापयेल्लिङ्गमैश्वरम् ॥

और भी लिङ्गपुराणमें—

> लिङ्गवेदी महादेवी लिङ्गं साक्षान्महेश्वरः ।
> तयोः संपूजनान्नित्यं देवी देवश्च पूजितौ ॥
> लयनाल्लिङ्गमित्युक्तं तत्रैव निखिलं सुराः ॥

आकाशरूप ब्रह्म लिङ्ग है और पृथिवीरूपिणी जगदम्बा उसकी पीठिका है । समस्त देवताओंका निवासस्थान तथा समस्त जीवभावका लय कारण होनेसे उसका नाम लिङ्ग है । ब्रह्मासे लेकर चराचर सभी सृष्टि लिङ्गमें प्रतिष्ठित है, अतः सकल प्रयत्नसे शिवलिङ्गकी स्थापना करनी चाहिये। लिङ्गकी वेदी जगदम्बा और लिङ्ग साक्षात् महेश्वर है, इनके पूजनसे प्रकृति और परमात्माकी पूजा होती है। सकल भूतोका लयस्थान होनेसे इसका नाम लिङ्ग है । इन सब प्रमाण तथा विचारोंसे शिवलिङ्ग पूजाका रहस्य उपासकोंको अवश्य ही मालूम हो जायगा।

ध्यानानुसार निर्मित मूर्त्तिमे श्रद्धा-क्रिया-मन्त्रकी सहायतासे प्राणप्रतिष्ठा कर उसकी पूजा करनेसे क्या क्या फल होता है, इस विषयमें पूर्व पश्चिम दोनों ही देशोंमें बहुत कुछ विचार तथा अनुभव प्राप्त हो चुका है । योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने 'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः' इस सूत्रके द्वारा यही बताया है कि मन्त्रजप, पुरश्चरण, स्तुति पाठसे इष्टदेवताका दर्शन होता है। सामवेदमें—

> उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनां। धिया विप्र अजायत ॥

इस मन्त्रके द्वारा यही रहस्य बताया गया है कि पर्वत प्रान्त या नदी-

सङ्गमके स्थान पर स्तुति गान करनेसे इन्द्रदेवके दर्शन मिलते हैं। श्रीमद्भागवत-में भी लिखा है—

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज-
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद् यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति,
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥

हे नाथ! भाव तथा भक्तिके साथ उपासना करने पर तुम भक्तके नयन-पथमे आते हो और जिस भावनासे भक्त तुम्हारी स्तुति पूजा करता है उसीके अनुरूप मूर्त्ति धारण करके तुम भक्तको दर्शन देते हो। स्तुति करने पर स्तुतिके शब्दोंके भावानुसार मूर्त्ति आजाती है इसका प्रमाण यन्त्रोंकी सहायतासे पश्चिमियोंने भी अब प्राप्त कर लिया है। अभी थोड़े दिन हुये फ्रान्स देशमे एक मेडम 'फ़िनलांग' नाम की बहुत अच्छी विदुषी हुई है। इसने अपने जीवनके बहुत बड़े भागको विद्याभ्यासमे ही लगाया, और अन्तमे शब्दविकार शास्त्रमें अच्छी प्रवीणता प्राप्त की। एक बार उसने इस बातकी परीक्षा करनेके लिये स्वयमेव एक 'वीणा' तैयार की और नीचेकी ओर तारोंके सिरे पर विधिपूर्वक सुधा, शलाकाओं (चांक) की योजना की और उसके आगे एक छोटासा बोर्ड लगा दिया। फिर उसने गानेके अनुसार ठीक उसी स्वर पर 'वीणा' को बजाया, उसका परिणाम यह हुआ कि उन शलाकाओंके द्वारा उस बोर्ड पर अस्पष्टरूपसे कुछ चित्रसे खिंच गये। तब उसने शब्दविकारकी ओर अधिक ध्यानपूर्वक श्रम किया, और यह जान लिया कि प्रत्येक राग और गानमे प्रतिपादित अर्थके अनुसार उन सुधा शलाकाओंके द्वारा उस छोटेसे बोर्ड पर कभी मनुष्यकी आकृति और कभी कभी पशु और पक्षियोंकी प्रतिकृति खिंच जाती है। इस परीक्षासे उसने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि शब्दोंके भावानुसार मूर्त्ति बन सकती है। तदनन्तर उस विदुषीने रोमन कैथलिक मतके किसी मनुष्यको अपने यहां गीत गानेके लिये बुलाया। उसने वहां एक गीत गाया, जिसका नाम एव-मैरियां प्रसिद्ध है। इस गीतके गाये जाने पर बोर्डके ऊपर गोदमें बालक सहित एक स्त्रीका चित्र खिंच गया। यह स्त्री 'मरयम' थी और उसकी गोदमें बालक 'यीशु ख्रीस्ट' था। जो गीत रोमन कैथलिक महाशयने गाया था, उसमें 'यीशु

खीस्ट' की स्तुति, और वह हमारे ऊपर अनुग्रह करे इत्यादि वर्णन विस्तार पूर्वक था। उस गीतमें जो कुछ भाव था उसका पूरा चित्र वोर्डके ऊपर स्पष्ट रूपमें अङ्कित हो गया। इसके वाद उस विदुषीने एक वङ्गाली विद्यार्थीको जो उस समय वहां पढनेके लिये गया हुआ था, अपने पास घर पर बुलाया और उससे यह कहा कि आप अपने धर्मग्रन्थ वेदोंके कुछ मत्र ठीक स्वर और उच्चारणके साथ विधिपूर्वक गाइये। परन्तु वह विद्यार्थी वेदोंका एक मन्त्र भी नहीं जानता था। अस्तु उस विद्यार्थीने उससमय यही कहा कि मै वेदमन्त्र तो नहीं जानता परन्तु मुझे एक संस्कृतका स्तोत्र याद है। वचपनमें स्कूल-प्रवेशके पहिले मेरे पिताने मुझे याद कराया था। यह स्तोत्र आदि शङ्कराचार्य प्रणीत 'कालभैरवाष्टक' के नामसे प्रसिद्ध है। जव उस छात्रने यह स्तोत्र गाया और उस विदुषीने ठीक उसीके अनुसार अपनी वीणाको वजाया, तव उस वोर्डके ऊपर एक कुत्तेके साथ वड़ी भयंकर मूर्त्ति अङ्कित हो गई। यह वही मूर्ति थी जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन उस स्तोत्रके अन्दर पूर्णरूपसे किया गया है। वनारसमे कालभैरव मन्दिरमे जो मूर्ति स्थापित की हुई है, वह सर्वथा उसी प्रकारकी है, जैसी कि मूर्ति वीणाके शब्द द्वारा वोर्ड पर अङ्कित हुई। यह समाचार उसी समय 'साइंस सिफ्टिंग्स' नामक पत्रिकामें प्रकाशित हुआ था। भावके अनुसार मूर्त्तिदर्शनका यह अकाट्य प्रमाण है।

इस विषयमें और भी रहस्य पश्चिमदेशके प्रमाणोंके साथ लिखा जाता है—

"Sounds, as we know, are vibrations, and are said to give rise to definite forms. Each sound produces a form in the invisible world, and combinations of sounds create complicated shapes, The text books of science describe certain experiments which show that notes produced by certain instruments trace out on a bed of sand definite geometrical figures It is thus demonstrated that rhythmical vibrations give rise to regular geometrical figures The Hindu books on music tell us that the various musical tunes (Ragas and Raginis) have each a particular shape, which the books graphically describe. For instance, the Megha Raga is said

to bear a majestic figure seated on an elephant. The Basanta Raga is described as a beautiful youth decked with flowers. All this means that the particular Raga or Ragini, when accurately sung, produces aerial and etheric vibrations which create the particular shape said to be characteristic of it. This view which at first sight seems hopelessly chimerical, has recently received unexpected corroboration from the experiments carried on by Mrs Watts Hughes, the gifted author of "Voice Figures." She recently delivered an illustrated lecture before a select audience in Lord Leighton's Studio to demonstrate the beautiful scientific discoveries on which she has lighted as the result of many years of patient labour. Mrs. Hughes sings into a simple instrument called an "Eidophone," which consists of a tube, a receiver and a flexible membrane, and she finds that each note assumes a definite and constant shape as revealed through a sensitive and mobile medium. At the outset of her lecture, she placed tiny seeds upon the flexible membrane and the air vibrations set up by the notes she sounded, "danced" them into definite geometric patterns. Afterwards she used dusts of various kinds, Lycopodium dust being found particularly suitable. A reporter describing the shape of the notes speaks of them as remarkable revelations of geometry, perspective and shading "Stars, spirals, snakes, wonders in wheels, and imagination rioting in a wealth of captivating, methodical designs—such were what were first shown. Once when Mrs. Hughes was singing a note a daisy appeared and disappeared, and 'I tried' she said, 'to sing it back for weeks before at last I succeeded' Now she knows the precise inflections of the particular note that is a daisy, and it is

made constant and definite by a strange method of coaxing—an alteration of crescendo and diminuendo. After the audience had gazed enraptured at a series of 'daisies,' some with succeeding rows of petals and some with the petals delicately viewed, they were shewn other notes, and these were 'pansies' of great beauty How 'wonderful,' 'how lovely' were the audible exclamations that arose in the late Lord Leighton's studio, as exquisite form succeeded exquisite form on the screen The flowers were followed by 'sea monsters' as some one called them—serpentine forms of swelling rotundity full of light and shade and detail, feeding in miles of perspective After these notes came others and those were trees, trees with fruit falling, trees with a fore-ground of rocks, trees with the sea behind. 'Why' exclaimed people in the audience, they are just like Japanese landscapes !'

The above experiments demonstrate the following facts· (a) Sounds produce shapes, (b) particular notes give rise to particular forms, (c) if you want to reproduce a particular form, you must recite a particular note in a particular pitch, (d) that for that purpose no other note and no other pitch, chanting even the identical note, will avail

Now apply these facts to Mantras and see how they bear out the directions given in the sacred books Let us take a concrete Mantra, Agnim Ila Purohitam—Suppose you transpose the words and say Ila Agnim Purohitam or substitute Bahni for Agni which is the same thing (both words meaning fire). The efficacy of the Mantra is gone. You cannot therefore, transpose or translate a Mantra. If you do,

it will cease to be a Mantra. We therefore find the Rishis, for instance Jaimini in his Mimansa Darshana laying special stress on this. In a Mantra, the vibrations to be produced by notes are all-important, and the meaning or absence of meaning of the words used is of no consequence And as a matter of fact, there are a great many Mantras which are absolutely meaningless To this class belong the Tantric Beeja Mantras and the un-etymological vocables which occur in the Mantra portion of the Atharva Veda. From this point of view, the supposed puerilities discovered by Orientalists in the Vedas, which have induced them to regard these latter as the babblings of a child humanity become a matter of indifference. We also see why the ancient writers laid such emphasis on the rhythm (Swara) as well as the sound (Varna), of a Mantra for they say that when a Mantra is defective either in Swara, or Varna, it is incorrectly directed and may produce a result just contrary to what was intended

The Samskrit name for sound is Varna, which literally means colour. Why is this so? Because in the invisible world all sounds are accompanied by colours, so that they give rise to many-hued shapes. In the same way colours are accompanied by sounds. In the Samskrit, therefore, the sun, who is the synthesis of all colours is called Rabi which is the same word as Raba-sound. We have seen that in the experiments of Mrs. Hughes the shapes produced by her notes were characterised by delicate shades of colouring

We have also seen that in order to produce a particular form, a particular note must be used and that differ-

ent notes give rise to different shapes This fact is not lost sight of in the science of Mantras, and you use different Mantras for the purpose of invoking different gods If you worship Mahadeva, you use a particular Mantra, but in worshipping Vishnu or Shakti the Mantra has to be changed. What happens when a Mantra is recited ? The repeated recitation of the Mantra gradually builds up the form of the Deva or the special manifestation of the Deity whom you seek to worship and this serves as a focus to concentrate the benign influence of the being which, radiating from the centre, penetrates the worshipper It is therefore said that the Mantra of a Deva is the Deva. This may explain the much mis understood dictum of the Mimangsa philosophers that the gods do not exist apart from the Mantras (mantratmaka Devata) This really means that when a particular Mantra appropriated to a particular god is properly recited, the vibrations so set up create in the higher planes special form which that god ensouls for the time being

Thus we see the latest discoveries of Science serving to corroborate the ancient teachings of the Shastras.

(HIRENDRANATH DATTA, Sanatanist 2-4-31)

इसका सङ्क्षिप्त तात्पर्य निम्नलिखित है—शब्दमात्र ही कम्पनरूप है और उससे आकारकी उत्पत्ति होती है। अदृश्य जगत्मे प्रत्येक शब्दसे आकार उत्पन्न होता है और कई आकार मिलकर मूर्त्ति बन जाती है। सायन्सके ग्रन्थोमे ऐसे प्रमाण मिलते है कि सगीतयन्त्रसे जा शब्द निकलते है बालूके ऊपर उनके कुछ आकार बन जाते है और नियमित राग बजाने पर मूर्त्ति भी व्यवस्थितरूपसे बन जाती है। राग रागिणीके रूपके विषयमे आर्य सङ्गीतशास्त्रमे वर्णन भी किया गया है। यथा—हस्तीवाहन गम्भीर मूर्त्ति मेघ रागकी है, पुष्प सुशोभित सुन्दर युवकमूर्त्ति वसन्त रागकी है, इत्यादि। ये सब बाते अब तक काल्पनिक मालूम

होती थी किन्तु हाल ही मे शब्दमूर्त्ति (Voice Figures) नामक उत्तम ग्रन्थ-कर्त्री मिस वाट्स् ह्यूघने इस विषयमे मन्त्रद्वारा परीक्षा करके समस्त सन्देह दूर कर दिया है। उन्होने लार्ड लीटन शिल्पसदनमे इस विषयका एक व्याख्यान दिया था और उसमें सगीतयन्त्रमें वजाकर कई एक आश्चर्यजनक घटनाएं श्रोताओंको दिखा भी दी थी। उनके यन्त्रका नाम 'इडोफोन' है जिसे वह वजाती जाती थी और तरह तरहके रूप वनते जाते थे। एक वार 'डैसी' नामक एक सुन्दर फूलका आकार देखनेमे आया और उनको यह भी पता लग गया कि किस प्रकार बजानेसे ऐसा होगया। दर्शकगण विस्मित होकर डैसीके मधुररूप देख ही रहे थे इतनेमें 'पैनसी' नामक मधुर पुष्प देखनेमें आगया। इसके वाद क्रमशः समुद्रके कितने ही जीव, सर्पकी तरह कुण्डलाकार कितने ही जीव, कितने ही फलभरे वृक्ष, पत्थर तथा समुद्रके पासके वृक्ष—मानो जापानके सागरदृश्य ही देखनेमें आगये, जिनने दर्शकोंको विस्मयसागरमें डुवा दिया। शब्दसे आकार, भिन्न भिन्न शब्दसे भिन्न भिन्न मूर्त्तिका विज्ञान इससे स्पष्ट प्रमाणित होजाता है।

वेदमन्त्रोंके शुद्ध उच्चारण द्वारा देवता आवाहनका विज्ञान भी इससे प्रमाणित हो जाता है। शास्त्रकी इस विषयमे जो आज्ञा है कि मन्त्रका उच्चारण स्वर तथा वर्णके अनुसार ठीक होना चाहिये और उसमें पदविन्यास भी ठीक होना चाहिये 'अग्निमीले पुरोहितम्' इसके स्थान पर ईले अग्निम् या ईले वह्निम् इस प्रकार पाठ भेद या विन्यास भेद नही होना चाहिये तभी मन्त्रोंमे सिद्धि तथा देवदर्शन हो सकते है, यह सभी तत्त्व ऊपर कथित विज्ञानके अनुसार यथार्थ प्रमाणित होजाता है। संस्कृत भाषामे 'शब्द' का नाम 'वर्ण' है और वर्णका अर्थ रङ्ग भी होता है इस प्रकारसे सूर्यको भी 'रवि' कहते है, रवि शब्द 'रव' से बना है, जिसका भी अर्थ शब्द होता है और सूर्य या रवि समस्त मौलिक रङ्गोंका आदि कारण है यह भी विज्ञानानुसार प्रमाणित हो चुका है। अतः मिस ह्यूघके शब्द और मूर्त्तिविज्ञान सत्य सिद्ध होगये।

पञ्चोपासनामे जो मन्त्रजप और स्तुतिगानका विधान है ये सब भी इस प्रकारसे सत्य, सार्थक तथा सायन्स अनुकूल प्रमाणित हो जाते है। क्योकि इन देवताओंके मन्त्रोंका जप तथा स्तुतियोंका गान करनेसे यह निश्चय है कि शब्दोंके कम्पनके अनुसार तत्तद्देवताओंकी मूर्त्ति बन जायगी, जैसा कि ध्यान-

वाहन सहित भैरवकी मूर्त्ति बननेकी बात पहिले कही गई है और उसी मूर्त्तिमें मन्त्रशक्ति तथा प्रार्थनाशक्तिके कारण इष्टदेवकी शक्ति (Positive) भी प्रकट होजायगी जैसा कि पहिले रहस्य बताया गया है । अतः आधुनिक विज्ञानके अनुसार आर्यशास्त्रवर्णित प्रतिमापूजन और मन्त्र रहस्य पूर्णरूपसे सिद्ध होगया । शब्द और रङ्गके विषयमें और भी कई एक वैज्ञानिकोंने अनुसन्धान किया है, यथा—

Dr H Lundborg, a Swadish Physician, has been studying the gift of "colour-hearing" in which certain sounds induce colour sensation, the same colours being called up by the same sounds throughout life Dr Julius Donash of Budapest observed a person gifted with lively powers of both colour smell and colour-hearing. (Kalpaka 1-1924)

स्यूडेन देशके डाक्टर एच् लण्ड्वर्ग इस शब्द-रङ्गविज्ञानकी चर्चा कर रहे है और उन्हे मालूम होगया है कि खास खास शब्दोंके खास खास रङ्ग हुआ करते हैं । वुडापेष्ट् के डाक्टर् जुलियस डोनास साहवने एक ऐसे मनुष्यको देखा है जिसमें रङ्गकी गन्ध सूंघने तथा रङ्गके शब्द सुननेकी शक्ति थी । इसके सिवाय ध्यान, पूजा आदिसे साधकको कितनी शक्ति मिलती है इस पर भी पश्चिमी लोगौने विचार किया है, यथाः—

When one enters the state of meditation, the vrillic flow is greatly intensified. The deeper one goes into meditation the more marked is the effect. The concentration of the mind upwards sends a rush of this force through the top of the head and the response comes as a fine rain of soft magnetism. The feeling arising from the downpower sends a wonderful glow through the body, and one feels as though bathed in a soft kind of electricity

(Victor E Cromer—Kalpaka 12-1925.)

परमात्माके ध्यानमें निविष्ट होने पर अपने भीतरकी सूक्ष्म शक्ति बहुत ही बढ़ जाया करती है । और जितना ही भक्त ध्यानमग्न होता है उतनी ही

वह शक्ति वृद्धिगत होने लगती है। ऊपरकी ओर मनोनिवेश करनेसे शक्तिकी भी ऊर्द्ध्वगति होती है और प्रतिक्रियासे भगवत् शक्तिकी पवित्र वर्षा अपने ऊपर होने लगती है। इसका ऐसा सुन्दर अनुभव होता है कि शरीरके भीतर आश्चर्यजनक ज्योति मालूम होने लगती है और भक्तको कोमल भगवद्-विद्युत्-धारामें स्नानका आनन्द अनुभवमें आजाता है। यही सब परमात्माकी सगुण मूर्त्तिकी उपासनासे प्राप्त परमलाभ तथा परम आनन्दका दिग्दर्शन है। ध्यानके अन्तमें ध्याता, ध्यान, ध्येयकी एकता होने पर समाधि हो जाती है जिसको मन्त्रयोगशास्त्रमें भावसमाधि कहा गया है। इष्टदेवमूर्त्तिके दर्शनसे भी मन प्राण उसमें विलीन होकर इस प्रकारकी समाधिका उदय हो सकता है। समाधि-दशामें मूर्त्तिका दर्शन नहीं होता है, केवल साधक आनन्दमयमें विलीन होकर आनन्दरूप हो जाता है जिसके विषयमें उपनिषद्‌में लिखा है:—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं यदन्तःकरणेन गृह्यते॥

और भी गीताने—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिंस्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

समाधिद्वारा पवित्र तथा आत्मामें निविष्ट अन्तःकरणमें जो अपार आनन्द होता है उसका वर्णन शब्दके द्वारा नहीं हो सकता है, केवल मन ही मन उसका अनुभव होता है। इस अनुपम लाभके सामने और कोई भी लाभ अधिक नहीं मालूम होता है, इस अनुपम सुखमयी स्थितिमें रहने पर प्रारब्धजन्य कोई भी क्लेश साधुको व्यथित नहीं कर सकता है। मन्त्रयोग और मूर्त्तिपूजाकी यह समाधि सविकल्प समाधि कहलाती है। इसके बाद निर्विकल्प समाधि भूमिमें साधक प्रवेशलाभ करता है। इस भूमिमें प्रविष्ट होने पर स्थूल प्रतिमादि पूजनकी आवश्यकता नहीं रहती है। उन्नत योगी इस अवस्थामें राजयोगकी षोड़श प्रक्रियाओंके अनुसार सर्वतोव्याप्त निर्गुण, निराकार सत्-चित्-आनन्द सत्तामें धारणा, ध्यान करते हुए अन्तमें निर्विकल्प समाधिलाभ किया करते हैं और उन्हें 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन' सब ही विश्व ब्रह्मरूप है, एक ब्रह्मके सिवाय द्वितीय वस्तु कोई नहीं है यही अनुभव हो जाता है। राजयोगका प्रकरण आगेके अध्यायमें बताया जायगा।

शास्त्रमें सगुण ब्रह्म ईश्वरको पञ्चोपासना बताई गई है, यथा—विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणेश, ये पांच मूर्त्ति ही ईश्वरकी मूर्त्ति है। इनको देवता नही समझना चाहिये। क्योकि पञ्चोपासनामें इनका ध्यान ईश्वररूपसे ही होता है। ईश्वर एक होनेपर भी उनकी पांच मूर्त्तियां क्यो बनाई जाती हैं, इसका तात्पर्य यह है कि पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच तत्त्वोंसे मनुष्यका शरीर बनता है, इनमेसे जिसके भीतर जो तत्त्व प्रबल रहता है उसीके अनुसार पांचमेंसे किसी एक मूर्त्तिमे उसकी स्वाभाविक रुचि होती है। यथा कापिल तन्त्रमे :—

आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः॥

आकाशतत्त्वके साथ विष्णुका, अग्नितत्त्वके साथ महाशक्तिका, वायु तत्त्वके साथ सूर्य भगवान्‌का, पृथिवीतत्त्वके साथ शिवका और जलतत्त्वके साथ गणपति भगवान्‌का सम्बन्ध है। जिसके शरीरमे आकाश तत्त्व प्रधान है उसकी रुचि स्वभावसे ही विष्णु या कृष्णकी ओर होती है, जिसके शरीरमे अग्नितत्त्व प्रधान है उसकी रुचि स्वभावतः दुर्गा, काली आदि पर होती है इत्यादि इत्यादि। जिस मूर्त्तिमें जिसकी स्वाभाविक रुचि है उसे उसीकी उपासना बताना युक्तियुक्त है, जो सद्‌गुरु शिष्यकी परीक्षाकर बता सकते है। यही कारण है कि प्रकृति-भेद तथा तत्त्व-भेदके अनुसार एक ही ईश्वरकी पांच मूर्त्तियोमे उपासना होती है। ये पांच जब ईश्वरकी ही मूर्त्तियां हैं तो शिव बड़े और विष्णु छोटे है, विष्णु बड़े और शक्ति छोटी है इस प्रकारसे साम्प्रदायिक लोग जो झगड़ा मचाया करते हैं सो केवल अज्ञानमूलक भ्रान्ति और पक्षपात मात्र है। ऐसा पक्षपात उपासनाजगत्‌मे कभी नहीं होना चाहिये। इससे अपनी भी हानि है और समाजकी भी हानि है।

अर्वाचीन पुरुषोंने मूर्त्तिपूजाके ऊपरलिखित तत्त्वको न जानकर उसपर अनेक कटाक्ष किये है; परन्तु वे सब कटाक्ष इतने साधारण हैं कि मूर्त्तिरहस्यके जान लेनेपर वे खुद ही दूर हो जायेंगे। केवल दो तीन भ्रान्तिजनक कटाक्षोपर विचार किया जाता है। वे कटाक्ष निम्नलिखित हैं, यथा—(१) मन्दिरमें व्यभिचारहोता है इसलिये मूर्त्तिपूजा उठा देनी चाहिये, (२) यदि मूर्त्तिमें शक्ति रहती तो मुसलमानोके आक्रमणसे तथा चूहे आदिके चढ़नेसे मूर्त्तिने अपनेको

बचाया क्यों नहीं, (२) यदि आवाहन करनेसे मूर्त्तिमें देवता आते तो मूर्त्ति चैतन्य क्यों न हो जाती और इस प्रकारसे मरे हुए पुत्रके शरीरमें जीवको क्यों नहीं बुला सकते । प्रथम कटाक्षका उत्तर निम्न लिखित है । मन्दिर जैसे देवस्थानमें वेश्याका नृत्य, व्यभिचार या अन्यान्य असत्कार्य होना बहुत ही निन्दनीय है क्योंकि इसमें केवल स्थानकी पवित्रता नष्ट होती है और दैवीशक्तिका अपमान होता है यही बात नहीं, अधिकन्तु जिस देवमन्दिरमें इस प्रकार तामसिक कर्म और तामसिक भाव उत्पन्न होते है वहां पर प्रतिमामें दैवीशक्ति ठहर नहीं सकती है और ऐसी प्रतिमाके पूजन द्वारा उपासनाका फल नहीं प्राप्त होता है। यह बात पहिले ही कही गई है कि भावके अनुसार बनी हुई मूर्त्तिमें दैवीशक्तिका विकाश तभी हो सकता है जब उपासक और भक्तोंकी श्रद्धा विश्वासकी शक्ति उस मूर्त्तिपर एकाग्र (Concentrated) हो। श्रद्धा विश्वासकी सात्त्विक शक्ति ही श्रीभगवान्‌की सर्वव्यापिनी दैवीशक्तिको मूर्त्तिके द्वारा प्रकट कर लेती है अतः जिस मंदिरके पुरोहित सदाचारी और भक्त होंगे, संयमशील तथा पूजापरायण और क्रियाकाण्डनिपुण होंगे और जिस मन्दिर-स्थित मूर्त्तिपर मनुष्योंकी श्रद्धा और भक्ति होगी वहीं प्रतिमामें दैवीशक्ति आकृष्ट होगी। अन्यथा यदि मंदिरके पुरोहित दुराचारी और अभक्त तथा मूर्ख होंगे और वेश्यागान, व्यभिचार आदि तामसिक भावोत्पादक कार्य होगा जिससे लोगोंमें सात्त्विक भाव उत्पन्न न होकर श्रद्धा भक्ति ही नष्ट हो जायगी तो उस मन्दिरकी प्रतिमामें श्रीभगवान्‌की दिव्यशक्ति कभी नहीं प्रकट हो सकेगी और पूर्वप्रकाशित दैवीशक्ति भी प्रतिमारूपी केन्द्रको छोड़कर व्यापक शक्तिमें मिल जायगी । अतः मन्दिरमें व्यभिचार वेश्यानृत्य आदि दुराचरण कभी नहीं होना चाहिये । परन्तु इससे यह सिद्धान्त नहीं होता है कि व्यभिचारके डरसे मन्दिरको ही तोड़ दिया जाय । किसीकी आंखमें यदि फोड़ा हो तो फोड़ेके भयसे आंख फोड़ देना बुद्धिमत्ता नहीं है किन्तु फोड़ेकी ही चिकित्सा करके आराम करदेना बुद्धिमत्ता होगी । इसी प्रकार यदि मन्दिरमें व्यभिचार होता हो तो व्यवस्थाके साथ व्यभिचारको दूर करना, और वेश्यानाच आदि कुरीतियोंको नष्ट करना ही धर्म होगा और मूर्त्ति और मन्दिरको तोड़ देना धर्म नहीं होगा । आजकल प्रायः देखा जाता है कि धनीलोग मन्दिर बनवाकर उसीमें एक मूर्ख पुरोहितको नौकर रख देते और पीछे कुछ पूजा होती है कि नहीं इसकी खबर नहीं लेते, जिसका यह फल प्रायः होता है कि विद्याभक्तिशून्य वह पुरोहित अपनेको उस मंदिरका

तथा सम्पत्तियोका मालिक समझ लेता और यथेच्छ आचरण करता है। इस प्रकार पुरोहितोंके अत्याचारसे अनेक मन्दिर भ्रष्ट हो जाते है और दैवीशक्तिकी अवमानना होती है इसलिये मन्दिरप्रतिष्ठाताको चाहिये कि इस प्रकार मन्दिरका सुधार करे, योग्य पुरुषको पुरोहित रक्खे, नित्यपूजा आदिका प्रबन्ध ठीक ठीक करे, सम्पत्तिके कुछ अंशके द्वारा पुरोहित-विद्यालय स्थापन करके योग्य पुरोहित प्रस्तुत करे, दर्शक नर नारियोंके प्रतिमादर्शनकी व्यवस्था युक्तिपूर्वक कर देवे ताकि सभ्यताविरुद्ध किसी प्रकारके व्यवहारका मौका ही न होने पावे— इत्यादि इत्यादि प्रकारसे मन्दिरोंकी व्यवस्था करनेपर व्यभिचार आदिकी सम्भावना नष्ट हो जायगी और सभी मनुष्य अपने अपने अधिकारके अनुसार मन्दिरोंमें देवदर्शन, देवपूजा आदि द्वारा परम कल्याण प्राप्त कर सकेंगे। अतः अर्वाचीन पुरुषोंका प्रथम कटाक्ष युक्तियुक्त मालूम नही होता। उनका दूसरा कटाक्ष यह है कि यदि मूर्त्तिमें शक्ति होती तो मुसलमानोंके आक्रमणसे तथा चूहे आदिके चढ़नेसे मूर्त्ति अपनी रक्षा अवश्य करती। इस बातके विचार करनेसे पहिले मूर्त्तिमे जो शक्ति आवाहन की जाती है उसकी प्रकृति कैसी है सो-विचार करना चाहिये। संसारमे स्थूल या सूक्ष्म समस्त शक्ति ही दो प्रकारकी होती है—एक स्वतः क्रियाशील और दूसरी परतः क्रियाशील। इन्ही दो प्रकारकी शक्तियोंको पाश्चात्य विज्ञानके अनुसार एक्टिव (Active) और प्यासिव (Passive) शक्ति (Energy) कहते है। स्वतः क्रियाशील शक्ति वह होती है जिसमें स्वयं कार्य करनेकी प्रकृति हो और परतः क्रियाशील शक्ति वह होती है जिसमे स्वयं कार्य करनेकी प्रकृति न हो केवल दूसरी ओरसे प्रेरणा होने पर प्रेरणाकी शक्तिके अनुसार उसमेंसे फल प्राप्त हो। श्रीभगवान्‌की जो दैवी-शक्ति समष्टिप्रकृतिकी आवश्यकता और प्रेरणाके अनुसार किसी अवतार या विभूतिके द्वारा प्रकट होती है उसके स्वतःक्रियाशील होनेके कारण अवतार या विभूतिके द्वारा संसारमे धर्मसंस्थापन और अधर्मनाशके लिये अनेक कार्य होते हैं, परन्तु मूर्त्तिमे श्रद्धा क्रिया और मन्त्रद्वारा जो व्यापक दिव्य शक्ति प्रकट की जाती है जिसकी प्रक्रिया ऊपर वर्णित की गई है वह शक्ति स्वतः क्रियाशील नही होती है, परन्तु अग्निकी तरह परतः क्रियाशील होती है। जिस प्रकार अग्निमें दग्ध करनेकी शक्ति रहनेपर भी अग्नि स्वेच्छासे किसी वस्तुको दग्ध नही करती है, या किसीका अन्नपाक नही कर देती है, परन्तु जब दूसरी ओरसे किसी मनुष्यके द्वारा इस प्रकारकी प्रेरणा हो अर्थात्

कोई मनुष्य अग्निके द्वारा किसी वस्तुको दग्ध करना या अन्नपाक करना चाहे तो उस अग्निको अनुकूलताके साथ काममें लाकर स्वकार्य सिद्ध कर सकता है, ठीक उसी प्रकार मूर्त्तिमे जो दैवीशक्ति एकत्रित होती है वह स्वयं किसीको शाप या वरप्रदान नही करती है क्योंकि उसमें इस प्रकारकी अवतार-की शक्तिकी तरह स्वतः क्रियाशीलता नही होती है। वह शक्ति केवल भाव और पूजाके द्वारा उपासकके आत्माके अनुकूल किये जानेपर अनुकूलताके अनुसार अर्थात् भाव और पूजाके अनुसार फलप्रदान करती है। उस फल-प्रदानमें मूर्तिमें विराजमान शक्तिकी स्वयं चेष्टा कुछ भी नही रहती है; परन्तु उपासककी भावप्रेरणा ही उसमें एकमात्र कारण होती है। जहां मूर्त्तिमें विराजमान शक्तिके प्रति कोई भाव नही है वहां उस शक्तिके ऊपर चाहे चूहा ही चढ़ जाय, चाहे उसके सामने व्यभिचार ही हो और चाहे मुसलमान या और कोई पापी उसपर आक्रमण ही करे, उस मूर्त्तिमें विराजमान शक्तिकी ओरसे कोई भी क्रिया नही होगी क्योंकि उसपर चढ़नेवाले, कुकर्म करनेवाले या आक्रमण करनेवालोंकी हृदयगत शक्तिके साथ मूर्त्तिगत शक्तिका भावराज्यमें कोई भी सम्बन्ध नही है इसमें केवल इतना ही होगा कि जिस प्रकार किसी अग्निमय गोलेको तोड़ देनेपर अथवा उसपर जल डाल देनेपर वह अग्नि तोड़नेवाले वा जल डालनेवालेको आघात न करके व्यापक अग्निमें मिल जाया करती है उसी प्रकार जिस मन्दिरमें व्यभिचार आदि कदाचार होगा या पापी-का आक्रमण होगा या मूर्त्ति तोड़ी जायगी उस मन्दिरकी मूर्त्तिमें विराजमान शक्ति उस केन्द्रको छोड़कर व्यापक दिव्यशक्तिमें मिल जायगी। केवल अत्या-चार करनेवाले मनुष्य दिव्यशक्तिकी अवमानना करनेके कारण प्रत्यवायी होंगे। यही कारण है कि मूर्त्तिपर चूहे चढ़नेसे भी और मुसलमानोंका आक्रमण होनेपर भी उसमें दिव्यशक्ति स्वयं कूदकर आत्मरक्षा करने नहीं लग गई थी या विपक्षियोंसे लड़ने नही लग गई थी अतः अर्वा-चीन पुरुषोंको चूहेके डरसे धर्मत्याग नही करना चाहिये, परन्तु मूर्त्ति-पूजाके यथार्थ रहस्यको समझ करके प्रकृतिस्थ होना चाहिये। अर्वाचीन पुरु-षोंका तीसरा कटाक्ष यह है कि यदि आवाहन करनेसे मूर्त्तिमें देवता आते तो मूर्त्ति चेतन क्यों न हो जाती, परमेश्वरमें आना जाना कैसे सम्भव हो सकता है और यदि सम्भव हो तो मरे हुए पुत्रके शरीरमें जीवको क्यों नही बुला सकते ? इसका उत्तर यह है कि पहिले ही वेदप्रमाणके द्वारा बताया गया है

कि मूर्त्तिमें प्राण-प्रतिष्ठा यथार्थ रीतिसे होनेपर उसमे चमत्कार देखा जाता है। यथा मूर्त्ति हसती है रोती है इत्यादि, परन्तु मूर्त्तिमे आवाहन की हुई दैवी शक्ति स्वतः क्रियाशील न होनेसे मनुष्यकी तरह चेतनाका कार्य्य उसमें आ नही सकता है क्योंकि मनुष्यका शरीर प्रारब्ध कर्मके अनुसार जीवात्मासे युक्त होनेके कारण कर्मशक्तिके द्वारा मानवीय कार्य होना है और मूर्त्तिमें केवल साधककी श्रद्धा पूजा आदिके अनुसार व्यापक शक्तिका आविर्भाव होनेके कारण और उसमें किसी प्रकार कर्म सम्बन्ध न होनेके कारण उसके द्वारा इस प्रकार कार्य होनेका कोई भी हेतु नही हो सकता है। हॉ, जिस समय वही दैवी शक्ति समष्टि प्रकृतिके कर्मसंस्कारको आश्रय करके अवतार या 'विभूतिरूपसे प्रकट होती है तब उसके द्वारा ससारमें अद्भुत कार्य होते है जो मनुष्यके द्वारा भी नही हो सकते हैं, अतः मूर्त्तिमेंसे उस प्रकार चैतन्य क्रियाकी आशा विज्ञान-विरुद्ध है। अवश्य भक्त उपासकमें भावशक्तिके अनुसार मूर्त्तिके द्वारा जो चाहे सो क्रिया उत्पन्न हो सकती है जैसा कि पुराणादिमें भक्तवत्सल भगवान्‌की अपूर्व लीलाओंके विषय और भक्तकी प्रार्थनाके अनुसार भगवन्मूर्त्तिके भक्तके साथ अनेक लीलाविलासके विषय पाये जाते है, परन्तु इसमे भक्तका भाव ही मुख्य रहता है और उसी भावके अनुसार ही इच्छारहित और स्वतःक्रियारहित भगवन्मूर्त्तिमें क्रिया उत्पन्न होती है। द्वितीय सन्देह अर्थात् परमेश्वरमें आना जाना सम्भव कैसे हो सकता है इसके विषयमे यह वक्तव्य है कि इसमें आने जानेकी तो कोई बात ही नही है, केवल गोमाताके सर्वशरीरगत दुग्धके स्तनद्वारा क्षरणकी तरह सर्वव्यापिनी भगवत्‌शक्तिका मूर्त्तिरूपी आधार (Medium) के द्वारा विकाश-मात्र है। इसमें कहींसे कही जानेका कोई प्रयोजन नही पड़ता है। केवल सर्वत्र पूर्ण भगवान्‌की शक्तिको स्वच्छ केन्द्रके द्वारा प्रकाश होना मात्र पड़ता है। जिस प्रकार सूर्यकी ब्रह्माण्डव्यापिनी शक्ति यदि आतशी कॉचके द्वारा प्रकट हो तो सूर्यमेसे शक्ति कम नहीं हो जाती उसी प्रकार भगवत्‌शक्ति सर्वतः पूर्ण होनेसे चाहे कितने ही केन्द्रके द्वारा वह शक्ति विकाशको प्राप्त हो उससे न भगवान्‌की पूर्णशक्तिमें कुछ कमी ही आती और न उसपर कहींसे कहीं जाने आनेका कलङ्क लगता क्योंकि ये सब बातें देशकालवस्तु परिच्छिन्न ससीम वस्तुपर ही घटती है और सर्वव्यापी असीम वस्तुपर ये बातें नही घटती है। तृतीय सन्देह अर्थात् यदि मूर्त्तिमें प्राण-प्रतिष्ठा करना

सम्भव हो तो मरे हुए मनुष्यके शरीरमें जीवको क्यों नहीं बुला सकते इसका उत्तर निम्नलिखित है। मनुष्य तभी मरता है जब जिस कर्म्मके अनुसार जो शरीर प्राप्त हुआ था उस कर्म्मका भोग उस शरीरके द्वारा समाप्त हो जाता है, अतः वह शरीर पुनः उस जीवात्माका भोगायतन बनने लायक नहीं रहता है। इसलिये मृत पुत्रके शरीरमें पुनः उसके आत्माको बुलाना कर्म्म-विज्ञानसे विरुद्ध और असम्भव है। हां यदि कोई शक्तिमान् पुरुष या योगी अपनी शक्तिके द्वारा उस प्रकार शरीरको भोगायतन बना सके तो उसमें वह परलोकगत आत्माको बुला सकता है। इसका दृष्टान्त शास्त्रमें बहुत मिलता है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने अपने लोकलीलागुरु सान्दीपन मुनिके मृतपुत्रके भीतर इसी तरहसे जीवात्माका सन्निवेश किया था। भगवान् शङ्कराचार्यने इसी प्रकार मण्डनमिश्रकी स्त्रीसे शास्त्रार्थ करनेके बीचमें एक मृत राजाके शरीरमें अपने आत्माको प्रवेश कराकर उसे जीवित कर दिया था। सती सावित्रीने भी अपने मृत पतिको इसी तरहसे जिला दिया था, अतः अर्वाचीन पुरुषोंका ऐसा कटाक्ष निरर्थक है। इसके सिवाय तान्त्रिक शवसाधनमें मृतशरीरके भीतर दूसरी जीवशक्तिको आवाहन करके शवसाधनकी रीति अब भी प्रचलित है और सत्य है। इस प्रक्रियामें शवदेह चेतनदेहकी तरह खाने पीने और बोलने लगता है। अतः मूर्त्तिमें प्राणप्रतिष्ठाके विषयमें कोई भी सन्देह नहीं होना चाहिये। प्रतिमामें प्राणप्रतिष्ठाके द्वारा दैवी शक्ति लानेकी महिमाके विषयमें अथर्ववेदमें एक सुन्दर मन्त्र आता है, यथा—

"न घ्रंसस्तताप न हिमो जघान प्रनभतां पृथिवी जीरदानुः आपश्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित् तत्र भद्रम्।" (७-१९-२)।

इसका अर्थ निम्नलिखित है—(यत्र) जहांपर (सोमः) प्रतिमानिहित दैवीशक्ति रहती है (तत्र) वहांपर (सदमित्) सदा ही (भद्र) कल्याण होता है। (घ्रंस) सूर्य (न तताप) कठिन तथा दुःखदायी उत्ताप नहीं देता है (हिमः) शिलावृष्टि (न जघान) आघात नहीं करती है, पृथिवी (जीरदानुः) शीघ्र शीघ्र अन्न उत्पन्न करती है (आपश्चित्) जल भी (अस्मै) उपासकको (घृतमित्) घृत ही (क्षरन्ति) देता है (प्रनभताम्) हे सोम! तुम आसुरी शक्तिका नाश करो। इस मन्त्रके द्वारा मूर्त्तिव्यापिनी दैवीशक्ति द्वारा पृथिवीका सम्पूर्ण कल्याण साधन तथा आसुरीशक्तिका नाश ऊपरलिखित वर्णनके अनुसार

प्रमाणित होता है । अतः ऊपर लिखित मूर्त्तिविज्ञानके द्वारा स्पष्ट सिद्धान्त हुआ कि श्रीभगवान्‌के अनन्त भावोंमे से कुछ भावोंको लेकर प्रकृतिभेदानुसार साधारण अधिकारी साधकोंके कल्याणके लिये जो मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा वेदादि शास्त्रोंसे सिद्ध होती है उसके द्वारा समस्त मनुष्य ही आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सब प्रकारके लाभको प्राप्त करते हुए अन्तमें निर्गुणोपासनाके अधिकारी बनकर ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त कर सकते हैं।

पहिले ही कहा गया है कि मूर्त्तिमें श्रद्धा-पूजा-क्रियाद्वारा श्रीभगवान्‌की शक्तिको बुलाकर उसके सुरक्षित रखनेसे ही उस मूर्त्तिके द्वारा शक्तिलाभ हो सकता है। अतः यह सिद्धान्त अनायास ही प्राप्त होता है कि जिन जिन उपायोंसे मूर्त्तिमें शक्तिकी रक्षा हो सके उन्हे अवश्य करने चाहिये । अब नीचे कुछ आवश्यक उपायोंके वर्णन किये जाते है—

(१) मूर्त्तिमें जिस कलाकी और जिस प्रकारकी शक्ति है उससे उच्च-कोटिके शक्तिवालेको उस मूर्त्तिको प्रणाम नही करना चाहिये । उससे मूर्त्ति-की हानि होती है अर्थात् मूर्त्तिकी शक्ति नष्ट होजाती है । यही कारण है कि किसी छोटी जातिके सकल्प द्वारा प्रतिष्ठित मूर्त्तिको उच्च जातिके उत्तम पुरुष प्रणाम नही करते हैं और उत्तम दण्डी स्वामी किसी भी मूर्त्तिको शरीरसे प्रणाम न करके केवल दण्ड स्पर्श करा देते है । नैपालमें ऐसी एक घटना भी हो चुकी है जिसमें एक दण्डी स्वामीके गणपति मूर्त्तिको प्रणाम शरीरसे करने पर वह मूर्त्ति खण्डित होगई थी ।

(२) मन्दिरमें व्यभिचार, वेश्यानृत्य, खराब गाना आदि नही होना चाहिये और मन्दिरके पुजारीको सच्चरित्र, सदाचारी, विद्वान् कर्मकाण्डी तथा श्रद्धाभक्तिपरायण होना चाहिये । चरस, अफीम, भङ्ग आदि मादकद्रव्यसेवी उसे कभी नही होना चाहिये ।

(३) पुजारी हो, मन्दिरका अधिकारी हो या और कोई भी हो अशुचि अवस्थामें मन्दिरके भीतर किसीको नही जाना चाहिये। ऋतुमती स्त्रीको कदापि मन्दिरके भीतर प्रवेश नही करना चाहिये ।

(४) प्रतिलोम सकरतासे उत्पन्न चाण्डालादि जातिके मनुष्योंको मूर्त्तिके निकटवर्ती स्थानमे नही जाना चाहिये। वे उतनी ही दूर तक जा सकते हैं, जहां

तक और धर्मवालोंके जानेकी आज्ञा है। इसका कारण 'वर्णविज्ञान और स्पृश्यास्पृश्यविचार' नामक प्रवन्धमें पहिले ही कहा गया है। अवश्य उनमे भक्ति प्रेम श्रद्धा कायम रखनेके लिये देवदर्शनकी सुविधा कर देनी चाहिये। यह तीन प्रकारसे हो सकता है—

(क) मन्दिरके पास ऐसा स्थान रक्खा जाय जहांसे देवदर्शन हो सके। (ख) मन्दिरके ऊपर केवल दर्शनार्थ भीतरकी जैसी दूसरी मूर्त्ति रख दी जाय। (ग) उनके लिये पृथक् मन्दिर बना दिया जाय। नहीं तो उनके स्पर्श द्वारा मूर्त्तिकी शक्ति लुप्त हो जाने पर मूर्त्ति पुनः पत्थर ही रह जायगी और ऐसी मूर्त्तिकी पूजासे न उनको ही कोई फललाभ होगा और न अन्य जातिके मनुष्यको ही कोई फललाभ होगा। अतः इस प्रकार दुराग्रह केवल अधर्म ही है।

(५) मन्दिरकी बनावट, गर्भगृह आदि ऐसे होने चाहिये जिसमें मूर्त्तिमें विराजमान् दैवी-शक्तिको रक्षा हो सके। आजकल कहीं कहीं पर सुन्दर बँगले जैसे जो मन्दिर बनाये जारहे हैं, यह शास्त्रानुकूल नहीं है, यथाः—

In erecting temples rules of Silpa and in conducting worship rules of Agama Shastras (of which Silpa is a part) were followed. A study of the rules proves to us that the ancient sages who were perfect masters of all occult sciences took particular care to preserve the halo and the psychic impressions left by sages within the holy apartment and to prevent it from getting poluted or dissipated The crude reforms of certain temple trustees, who introduce the unspiritual notions of ventilation in Garbhagriha and suggest opening windows in its walls are all absurd. Sages knew ventilation well, perhaps even better than we know; for behold the wonderful windy halls and tower gates! But for the Sanctum Sanctorum they followed spiritual principles of *tele-reservation* and suggestion The *Sannidhya* or the living presence of God is very important and can work marvels sometimes Similarly it is also now becoming a

fashion to introduce electrical lights or powerful gas lights into our temples. That is again nonsense We learn from psychic science that psychic manifestations surely get disturbed in such lights, and it is also shown that certain *oils* (if burned) are efficacious in evoking manifestations successfully. These and more ideas were present in the minds of our sages when they framed rules for our temples

(Sanatanist 23-5-29)

अर्थात् "मन्दिर निर्माणमें शिल्पनीतिके साथ शास्त्रकी नीति भी महर्षिगण काममें लाते थे। मूर्त्तिकी दिव्य ज्योति और सूक्ष्म शक्ति जिससे पूरी बनी रहे इसीके अनुकूल मन्दिरका निर्माण हुआ करता था। आज गर्भगृहको हवादार बनानेकी जो नई युक्ति सूझ रही है वह शास्त्रानुकूल नहीं है। महर्षियोंको स्वास्थ्य-विज्ञानका पूरा पता था और इसी लिये वे मन्दिरका फाटक तथा सामनेका प्राङ्गण बहुत ही हवादार, खुला बनाते थे, किन्तु मूर्त्ति विराजनेके स्थानके विषयमे जिससे दिव्यशक्ति और देवअधिष्ठानमे कुछ हानि न हो, इसी प्रकारसे उस स्थानको बनवाते थे। आजकल गर्भगृहमें गेसकी या बिजलीकी रोशनी करनेकी जो रीति चल पड़ी है, इससे सूक्ष्म शक्तिके प्रकटनमे अवश्य ही बाधा होती है, सूक्ष्मजगत्के ज्ञाता लोग इस रहस्यको जानते हैं। इसके सिवाय गव्यघृतकी रोशनी तथा विशेष प्रकार तेलकी रोशनीमें दिव्यशक्ति प्रकाशनकी शक्ति है, वह भी गेस आदिकी रोशनीमें बिगड़ जाती है।" इत्यादि अनेक कारणोंसे शास्त्रानुसार मन्दिर निर्माण होना चाहिये।

(६) देवताको चेताने अर्थात् मूर्त्तिमे चेतन दिव्यशक्ति प्रकट करनेके लिये अनुष्ठान, पुरश्चरण, अभिषेक, यज्ञ आदि होते रहने चाहिये। ऐसा होते रहनेसे मूर्त्ति दिव्यशक्तिकी आधार बन जाती है, कितने ही मनुष्योंको उत्तम स्वप्न, स्वप्नमें औषधि आदि देती है, उसके सामने प्रार्थना, पूजा, धर्ना आदि करनेसे रोगनाश, सम्पत्तिलाभ आदि होने लगते है। इसके विषयमें बहुत प्रमाण भी मिलते है, यथाः—

Daily hundreds of Hindus to-day pilgrimage to one or another of the sacred shrines in India. They hope to be

cured of some physical or psychical malady or other; and invariably their hope is not disappointed Tirupati (Balaji), Palni and a few others have become pan-Indian in their fame for this purpose.

Dr C L D'Avoine recently delivered a lecture pointing out the curative efficacy of one of the Roman catholic shrines at Lourdes Many genuine miracles of cure are reported and verified there Besides Lourdes, La Salette is widely visited It is reported that here till now 40,000 miracles have taken place Lourdes however out-beats it to-day. The Doctor said that shrine cures had been known since the dawn of history and suffering humanity had always resorted to wonderful shrines for the cure of their ailments. Such shrines abounded in Egypt, Greece, Rome, Crete, Persia and India

(Sanatanist 20 5-1930)

प्रति दिन शत शत हिन्दु भारतके पवित्र मन्दिरोंमें दर्शन पूजाके लिये जाते हैं और वहां पर विराजमान मूर्त्तियोंकी दिव्यशक्तिके प्रभावसे स्थूल सूक्ष्म अनेक रोग आराम हो जाते हैं यह उनका विश्वास है। उनका यह विश्वास असत्य नही है, क्योंकि बालाजी, पाल्नी आदि कितने ही मन्दिरोंमे ऐसी शक्ति भारत प्रसिद्ध है। अभी हाल ही में डाक्टर डी. एभैनने लोर्डेके एक रोमन कैथलिक उपासनालयकी ऐसी शक्तिको बताकर व्याख्यान दिया था। उसमें कितने ही चमत्कार तथा रोगनाशके व्यापार देखनेमें आते है। ला सेलेटेके उपासनालयमे अब तक चालीस हजार चमत्कार देखनेमें आये है। लोर्डेमें अब उससे भी अधिक हो गया है।

डाक्टर साहबका कहना है कि अति प्राचीनकालसे देवस्थानोंकी ऐसी रोगनाशिनी शक्ति प्रसिद्ध है और रोगग्रस्त दुःखी लोग उनमें दुःख मिटानेको एकत्रित होते हैं। मिसर, ग्रीस, रोम, पारस्य, भारत आदि कितने ही देशोंमे ऐसे अनेक देवस्थान विद्यमान है।

(७) मन्दिरमें खास खास धूप, दीप, सुगन्ध द्रव्य आदि जलाते रहने चाहिये । यज्ञादिकी पवित्र तथा रोगनाशकारी और अपदेवताकी प्रवेशनाशक धूम जितनी ही मन्दिरकी चारों ओर व्याप्त रहेगी उतनी ही दिव्यशक्तिका सञ्चार मन्दिरमें बना रहेगा, इसमें इस देशके अतिरिक्त पश्चिमदेशके विद्वानोंने भी बहुत कुछ तत्त्व अन्वेषण कर लिया है, यथाः—

Material and occult scientists agree that perfumes expand the consciousness and, under proper conditions, may exalt the sense faculties or craftily selected from gross and sensual ingredients may as powerfully degrade. From ancient times incense has been employed to summon discarnate entities and exorcismal aromatics used to banish demoniac spirits We are most careless in our use of odors and particularly in the use of incense, selecting at random the least magical, least exalting as well as the least religious in favour of voluptuous and heavy odors, ignorant of the gross base of these odors and their effect upon our astral bodies as well as of the sensual and material entities which they attract. Yeats counsels us to "steep the mind in odors as in color and sound to produce vision." Oriental and occidental occultists improvise reactions upon the astral plane thru use of incense, inducing entranced reveries and stimulating prenatal memory and the retrospect of myriad incarnations and conjuring psychic visions for "like a magic mirror the spirals of filmy vapor unfold an aerial perspective of spirit realms." Certain ingredients in incense are rendered magical in effect thru elemental influence. The extract of certain plants fermented or distilled is a special link between the physical and the elemental life. It opens the door by which the physical

and astral worlds are separated Depending upon the nature of incense and perfumes employed, lofty intelligences are invited or obsessing entities attracted. Here enters the law of sympathy and antipathy and the quality of phenomena resulting and vibratory conditions induced

The reason why the rose and the poison oak may grow in the same soil and extract therefrom and from the air different qualities is due to the seal or signature which is in the seed and which permits the use of certain combinations only and forces the concentration according to the effect of the signature.

In certain plants and animals, as in certain groups of humanity, the fiery element is concentrated, in others the watery, airy or earthly element predominates. Every element must follow its seal. The sensation produced by smell, taste, sight, etc, is idiosyncratic in its varying influence, individual reaction depending upon the manner in which the human elemental is effected by the seal. Naturally the human elemental is most agreeably affected by those gems, colors, odors and tones which have a seal similar to his own Incense identifies with the fire spirit as renovator and purifier. In Temple Teachings the writer has endeavoured to present the the rationale of Incense, outlining its full significance and effect, showing precisely why odor in certain walks of life is so potently employed for evil. As a sanitary measure incense is unrivalled. From the days of the early Christian martyrs who used it as an antiseptic fume in the catacombs, its power has been recognized in nullifying devastating epi-

demics Genuine incense is distinctly hostile to all negative vibrations such as worry, inharmony and grief. The mystic employs incense in the demagnetization of rooms whenever an unpleasant atmosphere has been created or when undesirable astral conditions prevail. That even the Occident is being gradually awakened to the subtle influence of incense as shown by its use in Roosevelt Memorial Park, the uniqe cemetry in Los Angels where no monument or other reminder of death will ever rise, but where every evening at sunset the world's largest pipe organ will be heard within a radius of five miles, and as the deep-throated tones of the organ crescendo into a volume of sound, two enormous braziers above the entrance of the building will send forth continuous spirals of incense Inner harmony, the attunement of soul to its individual keynote, perforce expresses only harmony on the objective plane. The Mystic or true Occultist instinctively selects those names, numbers, colors, gems, perfumes and incense which are the natural expression of his inner being and are attuned to his individual key. Many earnest students seeking spiritual unfoldment, mental development and material success are floundering thru a maze of self-imposed inharmonies, unconsciously affording thru an unhappy selection of color, gem, number, perfume or similar agency, a perfect channel for the expression of his most malefic planetary influences. And so let us remember, that the physical, mental and spiritual conditions which environ us are the result of harmonies or discords played upon us by our NAMES, NUMBERS, the SELECTION of GEMS, PERFUMES, INCENSE, etc. Untaught, we may evoke jarring discord which with

UNDERSTANDING we may transform into sweetest melody for "Nature is conquered by obedience and all her mighty forces can be used at our bidding directly we have the knowledge to work WITH the LAW and not against it" And so when made of gums and essences the undulatory rate of which harmonizes with spiritual devotional vibrations, incense burning becomes an invocation, the soft prayer of aspiration, of devotion, from which emanates a tangible beauty uniting the soul to the Infinite source of Beauty.

(The Necromancy of the Brazier—Artic Mae Blackburn—Kalpaka 10-1924.)

इसका सारांश यह है—स्थूल सूक्ष्म दोनों विज्ञानशास्त्रके ज्ञाताओंने गन्ध द्रव्यकी अद्भुत शक्तिके विषयमे बहुत कुछ कहा है। इन्द्रियोंकी शक्ति इसके उत्तम प्रयोगसे बढ़ती और अधम प्रयोगसे घटती है, भूत प्रेत आदि अपदेवताओंके हटानेके काममें भी इसका उपयोग होता है। पूर्व पश्चिम दोनों देशोंके परलोक विद्यावाले कहते हैं कि सूक्ष्मजगत् पर गन्ध द्रव्योंका बड़ा ही प्रभाव होता है, क्योंकि स्थूल सूक्ष्म दोनों जगत्‌का परस्पर सम्बन्ध है और इनके अन्तर्गत जीव तथा देवताओंका भी परस्पर सम्बन्ध है। गन्ध द्रव्य तथा उसकी धूम आदिद्वारा इस सम्बन्धका विशेष प्रकाश होता है जिस कारण सूक्ष्मजगत्‌के देवतागण स्थूलजगत्‌में आकृष्ट होते हैं और ऐसी क्रिया करनेवालेके अन्तःकरणमे बड़ी दूर दूरकी बाते सूझ जाती हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु इन चार तत्त्वोंमेंसे प्रत्येक मनुष्यमें एक न एक तत्त्व प्रबल रहता है। रत्न रङ्ग गन्ध शब्द–इनका प्रभाव इसी तत्त्वके विचारसे मनुष्यों पर पड़ता है। अग्नितत्त्वप्रधान जीव पर गन्धद्रव्यका अधिक प्रभाव पड़ता है। मन्दिरशिक्षाके विषयमें यह विषय विदित ही है कि गन्धद्रव्यके प्रयोगसे भूतबाधा निवृत्ति होती है और स्थूल रूपमें भी कीटाणुनाशकी शक्ति गन्धद्रव्यमे आश्चर्यजनक है, जिसका उपयोग ईसाई लोगभी करते है। चिन्ता, दुःख, विषमता आदिके 'नेगेटिभ' स्पन्दन उत्तम गन्धद्रव्यसे शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। इसलिये इन कारणोंसे तथा सूक्ष्मजगत् सम्बन्धी अन्य

कारणोंसे वायुमण्डल या कोई घर जब खराब होने लगता है तो सूक्ष्मविद्या वाले लोग गन्धप्रयोगद्वारा उसे दूर कर देते हैं। पश्चिम देशमें गन्धद्रव्यका प्रयोग अब अधिक बढ़ने लगा है। और इसका प्रभाव उन्हें अधिक मालूम होने लगा है। लज् एन्जिलिसके रोजमेंल्ट नामक प्रसिद्ध कवरस्थानमें अब कोई स्मारक मकान नही बनाया जाता है, केवल पांच मील तक शब्द पहुंचानेवाला एक बड़ा भारी 'अर्गान' बाजा बजता है, और बगीचेके फाटकके ऊचे स्थान पर प्रचुर गन्धद्रव्य मोटे मोटे पीतलके वर्त्तनमें रख कर खूब धूंए किए जाते हैं। अन्तरात्मा और बहिःप्रकृतिका सामञ्जस्य ही समस्त शान्ति और आध्यात्मिक उन्नतिका मूल है। इस सामञ्जस्यकी रक्षामें नाम, संख्या, रङ्ग, रत्न, गन्ध और गन्धद्रव्य इनकी बड़ी ही उपयोगिता है, जिसको सूक्ष्म विद्यावाले जानते हैं। और सभी मनुष्योंको स्थूल-सूक्ष्म कल्याणके लिये इस तत्त्वका ज्ञान होना चाहिये। अतः दैवी शक्तिकी वृद्धिके लिये गन्धद्रव्यका प्रयोग अवश्य कर्त्तव्य है।

अन्तमें 'बलिदान रहस्य' पर कुछ कह कर इस प्रकरणका उपसंहार किया जायगा। इष्टपूजाके षोड़श उपचारोंमेंसे बलिदान प्रधान उपचार है जिसके बिना पूजा पूरी ही नहीं होती। इसका कारण यह है कि उपासकने यदि उपासनाके अन्तमें, पूजकने पूजाके अन्तमे उपास्य पूज्य इष्टदेवमें अपना सब कुछ बलिदान देकर उपास्यदेवसे अपना भेदभाव मिटा ही न दिया, उपास्यमे विलीन, तन्मय होकर तद्रूप ही न हो गया, 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'शिवो भूत्वा शिवं भजेत्' यही भाव न प्राप्त हुआ, 'दासोऽहं' का 'दा' नष्ट होकर 'सोऽहं' ही न होगया तो पूजाकी पूर्णता क्या हुई? इसी कारण बलिदान पूजाका प्रधान अङ्ग है। बलिदानके बिना न जगन्माता ही प्रसन्न होती है और न भारतमाता ही प्रसन्न हो सकती है। जिस देशमें जितने बलिदान करनेवाले देशसेवक, देशनेता उत्पन्न होते हैं, उस देशकी उतनी ही सच्ची उन्नति होती है। यह बलिदान चार प्रकारका होता है। सबसे उत्तम कोटिका बलिदान—आत्मबलिदान—कहलाता है। इसमें साधक जीवात्माको काट कर परमात्मा पर आहुति चढ़ा देता है। इस बलिदानके द्वारा परमात्मासे अज्ञानवश जीवात्माकी जो पृथकता थी सो एकबारगी नष्ट हो जाती है और साधक स्वरूपस्थित होकर अद्वितीय ब्रह्मका साक्षात्कार करता है। जबतक यह न हो सके तब तक द्वितीय कोटिका बलिदान करना चाहिये। इसमें कामरूपी बकरा, क्रोधरूपी भेड़, मोहरूपी महिषका

बलिदान किया जाता है । अर्थात् षड्रिपुका बलिदान ही द्वितीय कोटिका बलिदान है। तृतीय कोटिमें इतना न हो सकने पर किसी न किसी इन्द्रियप्रिय वस्तुका बलिदान होता है । प्रत्येक विशेष पूजाके अन्तमे जिसको जिस वस्तु पर लोभ है उसका बलिदान अर्थात् संकल्पपूर्वक त्याग कर देना चाहिये । यही तृतीय कोटिका बलिदान है। इस प्रकारसे मिठाई, प्याज, लहसुन, मादक वस्तु आदिके प्रति आसक्ति छूट सकती है। यदि ऐसा भी न हो सके तो क्रमशः छुडानेके लिये चतुर्थ कोटिका बलिदान है, यथा श्रीमद्भागवतमें—

> लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना ।
> व्यवस्थितिस्तासु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥

मैथुन, मांसभक्षण, मद्यपान—इनमे लोगोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, इसके लिये किसीको बताना या प्रेरणा करना नहीं पड़ता है । मनुजीने भी 'प्रवृत्तिरेषा भूतानां' कह कर इसी सिद्धान्तकी पुष्टि की है । किन्तु 'निवृत्तिस्तु महाफला' अर्थात् मनुष्यको प्रवृत्ति छोड़ कर क्रमशः मोक्षफलदायक निवृत्तिकी ओर अग्रसर होना चाहिये । इसी कारण व्यवस्था बांधकर इन वृत्तियोंको क्रमशः नियमित करते हुए इनसे निवृत्ति करानेके अर्थ विवाह, यज्ञ, और सोम-पान आदिका विधान राजसिक अधिकारमें किया गया है । यही कारण है कि विवाहके समय स्त्री पुरुष प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं कि संसारसे कामभाव उठाकर अपनेहीमे केन्द्रीभूत करके क्रमशः निवृत्तिपथके पथिक बनेंगे। राजसिक वैदिक, तान्त्रिक यज्ञमें हिंसादिका भी यही समाधान है । अर्थात् स्वभावतः सात्त्विक प्रकृति मनुष्योके लिये यह यज्ञ नहीं है। जो लोग मांसादि सेवन पहिलेसे करते हैं वे पूजादिके नियममे बद्ध होकर क्रमशः मांसाहार छोड़ दें यही इसका आशय है। जब वेद पूर्ण पुस्तक है तो इसमे केवल सात्त्विक नहीं, किन्तु सकल अधि-कारियोंके कल्याणके लिये विविध-विधान होना चाहिये, इसी कारण राज-सिक अधिकारीको क्रमशः सात्त्विक बनानेकी इस प्रकारकी विधियां यज्ञरूपसे शास्त्रमे बताई गई हैं । किसीके संहार, मारण, मोहन आदिके लिये विधिहीन, अमन्त्रक पूजादि तामसिक है। पूजामे भी दक्षिणाचारके अनुकूल सात्त्विक पूजामे पशुबलि नहीं है किन्तु कुष्माण्ड, इक्षु, निम्बू आदिकी बलि है। केवल वामाचारके अनुकूल राजसिक पूजामें पशुबलिका विधान है, यथा महाकालसंहितामें—

सात्त्विको जीवहत्यां हि कदाचिदपि नाचरेत् ।
इक्षुदण्डं च कूष्माण्डं तथा वन्यफलादिकम् ॥
क्षीरपिण्डैः शालिचूर्णैः पशुं कृत्वा चरेद्वलिम् ॥

सात्त्विक अधिकारके उपासक कदापि पशुबलि देकर जीवहत्या नहीं करते हैं, वे ईख, कोहडा या अन्य फलोंको वलि देते हैं अथवा खोआ, आटा या चावलके पिण्डका पशु बनाकर बलि देते हैं। यह सब भी रिपुओंके बलिदानका निमित्तमात्र ही है, यथा महानिर्वाणतन्त्रमें—

कामक्रोधौ द्वौ पशू इमावेव मनसा वलिमर्पयेत् ।
"कामक्रोधौ विघ्नकृतौ बलिं दत्वा जपं चरेत्" ॥

काम और क्रोधरूपी दोनो विघ्नकारी पशुओंका बलिदान करके उपासना करनी चाहिये। यही सब शास्त्रोक्त बलिदान रहस्य है।

अब मन्त्रशास्त्रके विषयमें दिग्दर्शन कराया जाता है। आदि मन्त्र प्रणवके विषयमें 'नित्यकर्म' नामक प्रवन्धमें पहिले ही बहुत कुछ कहा गया है। योग-शास्त्रमें लिखा है—

साम्यस्थप्रकृतेर्यथैव विदितः शब्दो महानोमिति,
ब्रह्मादित्रितयात्मकस्य परमं रूपं शिवं ब्रह्मणः ।
वैषम्ये प्रकृतेस्तथैव बहुधा शब्दाः श्रुताः कालतः,
ते मन्त्राः समुपासनार्थमभवन् बीजानि नाम्ना तथा ॥

सत्त्व रज तम तीनोंकी साम्यावस्थासे जब वैषम्यावस्थाका होना प्रारम्भ हुआ तो सबसे प्रथम हिल्लोल जो हुआ, जिस समय तीनों गुण एक साथ स्पन्दित हुए उस हिल्लोलकी ध्वनि ही ओंकार है जैसा कि पहिले बताया गया है। जिस प्रकार साम्यावस्थासे सम्बन्ध रखनेवाली प्रकृतिका शब्द ब्रह्मा विष्णु शिवात्मक ओंकार है, उसी प्रकार वैषम्यावस्थापन्न प्रकृतिके नाना शब्द हैं, वे ही नाना शब्द उपासनाओंके अनेक बीजमन्त्र हैं।

भगवान् पतञ्जलिने ॐकारको ईश्वरका वाचक कहा है, यथा-योगदर्शनमें—

"तस्य वाचकः प्रणवः" "तज्जपस्तदर्थभावनम्"
"ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च"

ॐकार ईश्वरका वाचक है, ॐकारका जप तथा अर्थभावनाके द्वारा ईश्वरप्राप्ति तथा विघ्नविनाश हुआ करता है। जिस प्रकार प्रिय नाम लेकर पुकारनेसे लोग प्रसन्न होकर उत्तर देते हैं उसी प्रकार श्रीभगवान्का प्रिय नाम ॐकार उच्चारण करके उनको बुलानेसे भगवान् भी प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं। ॐकार ही ईश्वरका मन्त्र है।

अब वर्त्तमान प्रकरणका यह प्रतिपाद्य विषय है कि किस प्रकारसे ऊपर लिखित वर्णनोंके अनुसार शब्द राज्यमें ॐकारके साथ ईश्वरका और अन्यान्य मन्त्रोंके साथ अन्यान्य देवताओंका अधिदैव सम्बन्ध है जिस कारण ॐकारके जपसे ईश्वर तथा अन्यान्य मन्त्रोंके जपसे तत्तद्देवता प्रसन्न होते हैं। यह बात वेदसम्मत है कि प्रलयके समय समस्त जीवोंका संस्कार प्रकृतिमें और प्रकृति ईश्वरमें लय हो रहती है। पुनः प्रलयविलीन जीवोंके समष्टि संस्कार फलोन्मुख होनेसे ईश्वरमें यह स्वतः इच्छा होती है कि "मैं एकसे बहुत हो जाऊं और संस्कारानुसार सृष्टि करूं" उस समय भगवान्में सृष्टिका संकल्प उदय होते ही उनकी अद्वैतसत्तामें त्रिगुण समावेशके अनुसार ब्रह्मा विष्णु-महेश्वर रूपी त्रिभावकी सत्ता परिस्फुट होने लगती है और उनके संकल्पसे उत्पन्न प्राणशक्तिकी प्रेरणासे ब्रह्माण्डप्रकृतिमें जहां पर अभी तक सत्त्वरजस्त-मोगुणकी समता थी त्रिगुणका वैषम्य होने लगता है। त्रिगुणमयी प्रकृतिका गुणसाम्य प्रलयदशाका लक्षण है और वैषम्य सृष्टिदशाका लक्षण है। अतः उस समय परमात्माके सङ्कल्पके साथ साथ मूल प्रकृतिमें कम्पन होने लगता है, जैसा कि योगशास्त्रमें कहा गया है कि जहां कार्य होता है वहां कम्पन होता है और जहां कम्पन होता है वहां शब्द होता है। इस सिद्धान्तके अनु-सार मूल प्रकृतिमें सृष्टिकार्यकी सूचना होते ही त्रिगुणमें कम्पन होता है और जिस प्रकार एक थालीमें जल रखकर थालीके हिलानेसे एकबार समस्त जल हिल उठता है और पश्चात् जलके भिन्न भिन्न देशमें कम्पन होकर भिन्न भिन्न तरङ्ग उठते हैं उसी प्रकार सृष्टिकी सूचना होते ही समस्त ब्रह्माण्डकी मूल प्रकृतिके एकदम हिल जानेसे कम्पनजनित प्रथम एक शब्द होता है उसीका नाम ॐकार है। इस कारण अधिदैव जगत्में प्रथम शब्द होनेसे ॐकारको

साथ ईश्वरका वाच्य वाचक सम्बन्ध है। पहिले कहा गया है कि सृष्टिके समय क्रम यह निश्चय हुआ—परमात्माके अन्तःकरणमें सिसृक्षा—तदनन्तर त्रिगुण समतायुक्त प्रकृतिमें वैषम्यजनित गुणस्पन्दन तथा ॐकार नादका प्रकाश, अतः ॐकारके साथ परमात्माका साक्षात् दैवसम्बन्ध है—मानो ॐकार उनका नाम ही है, क्योंकि गुणातीत साम्यावस्था प्रकृतियुक्त निष्क्रिय ब्रह्मभावमे जब सिसृक्षा उत्पन्न हुई तो वही भाव सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वर-भाव कहाया। उसी भावके साथ जो साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाला शब्द होगा सो अवश्य ही ईश्वरका वाचक अर्थात् प्रथम नाम होगा। इसी प्रकार वैषम्यावस्था प्रकृतिके प्रधान विभागोंके साथ जिन शब्दोंका सम्बन्ध है वे बीजमन्त्र है। यही ॐकारके अकार, उकार, मकारके साथ त्रिदेवसम्बन्ध और समस्त मन्त्रोंके साथ देवताओंके सम्बन्धका कारण है। जब प्रकृति सृष्टि-अभिमुखीन हो गई तो त्रिगुणोंमें पुनः स्पन्दन होगा, क्योंकि त्रिगुणोंके विकारके द्वारा ही समस्त सृष्टि होती है, अतः आधिभौतिक राज्यमें गुण-स्पन्दन द्वारा पञ्चतत्त्व आदिके क्रमविकाशसे जड़चेतनात्मक जगत्की सृष्टि होगी और शब्दराज्यमें प्रकृतिके नाना प्रकारके स्पन्दनोंके द्वारा नाना प्रकारके शब्द उत्पन्न होंगे। यही सब शब्द प्रथम अवस्थामें नाना बीजमन्त्र और उसके बादके परिणाममे देवनागरी वर्णमाला और नाना भाषाके शब्द है। प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन द्वारा ॐ बीज उत्पन्न हुआ और तदनन्तर द्वितीय स्पन्दनमें आठ प्रकृतिके अनुसार अष्ट बीजमन्त्रकी उत्पत्ति हुई। गीतामें लिखा है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार, परमात्माकी मायाशक्ति इसी अष्टभागमें विभक्त है। इसी प्रकार प्रकृतिके अष्ट स्पन्दनानुसार अष्ट बीजमन्त्र हैं और तदनन्तर प्रकृतिके भिन्न भिन्न अङ्गमें अनेक स्पन्दन और तदनुसार अनेक मन्त्र होते है और इससे यह भी बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड प्रकृतिके स्पन्दनजनित शब्द ओंकारके साथ ब्रह्माण्डनायक ईश्वरका अधिदैव सम्बन्ध होनेसे ओंकार उनका मन्त्र है, उसी प्रकार प्रकृतिके जिस विभागके कम्पनसे जो मन्त्र उत्पन्न होंगे उस

विभागके अधिष्ठाता देव या देवीके साथ उस मन्त्रका अधिदैव सम्बन्ध रहनेसे उस देवता या, देवीके साधनके लिये वे ही मन्त्र होगे। महर्षिगणने जिस प्रकार प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागमें सयम करके तत्तद्विभागोपर अधिष्ठात्री देवताओंकी मूर्त्ति बताई है उसी प्रकार प्रकृतिके उन विभागोंके स्पन्दन द्वारा उत्पन्न शब्दोंको भी संयमद्वारा सुनकर तत्तद्देवताओके मन्त्ररूपसे उन उन शब्दोंका विधान किया है। प्रकृतिका जो प्रथम स्पन्दन व्यापक प्रकृतिमें एक महान् शब्द उत्पन्न करता है उसीके ही परिणामरूपसे अनेक शब्द उत्पन्न होते है ऐसा सिद्धान्त ऊपरलिखित शब्दोत्पत्ति विज्ञानके द्वारा स्पष्ट होता है। इसलिये प्रथम महान् शब्द ओंकारसे ही अन्यान्य समस्त मन्त्रोंकी उत्पत्ति हुई है और संसारके जितने शब्द और वर्णमालाके वर्ण हैं सभी ओंकाररूपी महाशब्दके विकारसे उत्पन्न हुए है ऐसा समझना शास्त्रसम्मत होगा।

इस प्रकारसे ॐसे लेकर समस्त मन्त्रोंकी उत्पत्ति समष्टि प्रकृतिकी तरह व्यष्टि प्रकृतिमे होती है। केवल इतना ही नही अधिकन्तु व्यष्टि प्रकृति समष्टि प्रकृतिकी ही प्रतिकृति या प्रतिबिम्ब होनेसे समष्टि प्रकृतिके प्रत्येक स्पन्दनका आघात व्यष्टि प्रकृतिमे और व्यष्टि प्रकृतिके प्रत्येक स्पन्दनका आघात समष्टि प्रकृतिमे होता है और व्यष्टि प्रकृतिके प्रत्येक स्तरका समसम्बन्ध समष्टि प्रकृतिके उसी अधिकारके स्तरके साथ रहता है। इसलिये इसके नादका प्रतिबिम्ब उसमे और उसके नादका प्रतिबिम्ब इसमे आ गिरता है। इसलिये साधक अपनी व्यष्टि प्रकृतिके जिस जिस स्तर पर चित्तको संयत करता है उसीमें ही समष्टि प्रकृतिके तत्तत् स्तरका नाद सुन सकता है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि साम्यावस्था प्रकृतिका प्रथम शब्द प्रणव होनेसे जिस समय साधक अपनी व्यष्टि प्रकृतिको भी साम्यावस्था पर पहुंचावेंगे उसी समय अपनी प्रकृतिमे ही समष्टि प्रकृतिके प्रथम नाद ॐकारको सुन सकेंगे। वह नाद मूलाधार चक्रस्थित कुलकुण्डलिनीसे निकल कर सहस्रारमे जा लय हो जायगा। उसी प्रकार अपनी व्यष्टि प्रकृतिकी पूर्ण साम्यावस्थाके अतिरिक्त जिस जिस स्तरपर संयम करेंगे उस स्तरके साथ समष्टि प्रकृतिके जिस स्तरका समसम्बन्ध है उस स्तरके नादका प्रतिबिम्ब अपनी प्रकृतिमें अनुभव करेंगे। इसी प्रकारसे महर्षिगण अपनी प्रकृतिमें ही समष्टि प्रकृतिके नादको सुनते हैं और उन्हीं नादोंके अनुसार ही श्रीभगवान् तथा उनकी शक्तिस्वरूप भिन्न भिन्न देव-

ताओंके साधनार्थ मन्त्रसमूह और संस्कृत वर्णमालाओंका आविष्कार उन सब अतीन्द्रियदर्शी महर्षियोंके द्वारा हुआ है। समष्टि प्रकृतिके प्रथम स्पन्दन द्वारा प्रणवमन्त्रकी उत्पत्तिके अनन्तर द्वितीय स्पन्दनमे जो गीतोक्त वर्णनके अनुसार अष्टप्रकृतिका कम्पन हुआ है उससे प्रधान अष्ट वीजकी उत्पत्ति हुई है। इनके नाम मन्त्रशास्त्रमे, यथा—

बीजमन्त्रास्त्रयः पूर्वे ततोऽष्टौ परिकीर्तिताः ।
गुरुवीजं शक्तिवीजं रमावीजं ततो भवेत् ॥
कामवीजं योगवीजं तेजोबीजमथापरम् ।
शान्तिवीजं च रक्षा च प्रोक्ता चैषां प्रधानता ॥

बीजमन्त्र प्रथम तीन और तदनन्तर आठ है, यथा—गुरुवीज, शक्तिवीज, रमावीज, कामवीज, योगवीज, तेजवीज, शान्तिवीज और रक्षावीज। क, ल, ई और मकारसे कामवीजका अनुभव होता है। क, र, ई और मकारसे योगवीजका अनुभव होता है। आ, ए और मकारसे गुरुवीजका अनुभव होता है। हकार, रकार, ईकार और मकारसे शक्तिवीजका अनुभव होता है। शकार, रकार, ईकार और मकारसे रमावीज का अनुभव होता है। टकार, रकार, ईकार और मकारसे तेजवीजका अनुभव होता है। सकार, तकार, रकार, ईकार और मकारसे शन्तिवीजका अनुभव होता है और हकार, लकार, ईकार और मकारसे रक्षावीजका अनुभव होता है। योगशास्त्रमें लिखा है—

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ताः कारणब्रह्मणो यथा ।
याभिराविर्भवेदिदं कार्यब्रह्म सनातनम् ॥
तथा प्रधानभूतानि वीजान्यष्टौ मनीषिभिः ।
अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ताः कार्यरूपस्य ब्रह्मणः ॥

जिस प्रकार कारण ब्रह्मकी आठ प्रकृति है, जिससे कार्यब्रह्म उत्पन्न हुआ है, वैसे ही शब्दब्रह्मके ये आठ बीज आठ प्रकृति है। येही प्रधान वीज कहाते है। ये सब प्रकारकी उपासनामे कल्याणकारी है। शास्त्रान्तरमे इनके नामभेद भी पाये जाते है। इसके अनन्तर प्रकृतिके विस्तारके साथ साथ अनेक मन्त्र निर्णीत किये जाते है जो भिन्न भिन्न देवताओंके प्रीत्यर्थ निर्दिष्ट है।

शास्त्रमें मन्त्रोंकी असाधारण शक्ति बताई गई है, जिससे भगवान् प्रसन्न, देवता वशीभूत और अनेक प्रकारकी सिद्धियां प्राप्त होती हैं, यथा योगशास्त्रमें—

मन्त्रयोगी मन्त्रसिद्ध्या तपःसिद्ध्या हठान्वितः।
ऐशीं विभूतिमाप्नोति लययोगी च संयमैः॥
मन्त्रसाधनतो देवा देव्यः संयान्ति वश्यताम्।
विभवाश्चैव जगतो यान्ति तस्योपभोग्यताम्॥

मन्त्रयोगी मन्त्रसिद्धि द्वारा, हठयोगी तपःसिद्धि द्वारा और लययोगी संयमसिद्धि द्वारा ऐशी विभूतियोंको लाभ किया करते हैं। मन्त्रसाधन द्वारा देव देवीगण स्वतः ही वशीभूत हो जाते हैं और मन्त्रयोगमे सिद्धिप्राप्त योगीको संसारके सब वैभव सुलभ हो जाते है। श्रीभगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें मन्त्रके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है ऐसा लिखा है, यथा—

"जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः"

पूर्वकर्मके वेगसे कभी कभी जन्मसे ही सिद्धि प्राप्त होती है, औषधिके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है, मन्त्रके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है और तपस्या और समाधिके द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है। प्रकृति श्रीभगवान्की शक्तिस्वरूपिणी होनेसे उनमें अनन्त शक्ति भरी हुई है। उस शक्तिका विकाश सूक्ष्मसे स्थूलपर्यन्त समस्त प्राकृतिक पदार्थमें विद्यमान है। प्रत्येक वस्तुकी शक्ति जितनी ही वह वस्तु स्थूलसे सूक्ष्मताको प्राप्त होती उतनी ही विकाशको प्राप्त होती है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि अन्तःकरणके विकाशरूप स्थूलदेहमें जितनी शक्ति है उससे अनेकगुण शक्ति सूक्ष्मदेह अन्तःकरणमे विद्यमान है। शरीर तीन वर्षमें जहां पर नही जा सकता है, मन शरीरसे सूक्ष्म होनेसे इतनी शक्ति रखता है कि एक पलमे ही वहांपर चला जा सकता है। इस तरह अन्यान्य सूक्ष्म वस्तुमें भी समझ सकते हैं। जलमे जो शक्ति है, जलके सूक्ष्म परिणामरूप वाष्प तथा वाष्पपुञ्जरूप मेघमें इससे अनेक अधिक शक्ति है जो विजलीके रूपसे मेघमालामे विलास किया करती है। जब प्रकृतिके विविध विकारके द्वारा उत्पन्न लौकिक शब्दके भीतर ही इतनी शक्ति विद्यमान है कि उसके द्वारा मनुष्य वशीभूत होते है और केवल मनुष्य ही नही राग रागिनीके साथ उसे प्रयोग करनेपर क्रूर सर्प और मदमत्त हस्ती पर्यन्त वशीभूत हो जाते है, तो

प्रकृतिके विशेष स्पन्दनके द्वारा उत्पन्न दिव्य शब्दोंके भीतर बहुत ही शक्ति होगी इसमें क्या सन्देह हो सकता है, क्योंकि प्रकृतिके स्पन्दनजनित मन्त्रसमूह प्रकृतिके सूक्ष्मराज्यका परिणाम है इसलिये सूक्ष्म दिव्य नामरूपी मन्त्रोंमे अनन्तशक्तिरूपिणी प्रकृतिमाताकी अनन्तशक्ति भरी हुई है। जिस प्रकार समस्त सूक्ष्म ब्रह्माण्डप्रकृतिको कॅपा कर प्रणव नादकी उत्पत्ति होनेसे उसमे समस्त ब्रह्माण्डप्रकृतिकी अनन्त शक्ति भरी हुई है, उसी प्रकार अन्यान्य जो मन्त्र प्रकृतिके जिस विभागको कॅपाकर उत्पन्न होता है, उस मन्त्रमें प्रकृतिके उस सूक्ष्म विभागकी शक्ति निहित रहती है। प्रत्येक सूक्ष्म राज्यके विभागके जो अधिष्ठात्री देवता हैं वे ही उक्त राज्यसम्बन्धीय शक्तिके अधिनायक हैं, क्योंकि विना दैवसम्बन्धके शक्तिका प्रयोग नही हो सकता है। पहिले ही सिद्ध किया गया है कि जड़ कर्मके चालक देवतागण हैं। दैवी सहायतासे ही शक्ति उत्पन्न होकर कर्मकी उत्पत्ति तथा कर्मफलकी प्राप्ति होती है। अस्तु, मन्त्रके साथ जब दैवीशक्तिका साक्षात् सम्बन्ध है तो मन्त्रकी सहायतासे यथावत् शक्तिका प्रकाश होना स्वतः सिद्ध है। यही मन्त्रोसे शक्तिके आविर्भावका विज्ञान है। जिन अक्षरोके परस्पर समन्वयसे मन्त्र बनते हैं वे इस तरहसे मिलाये जाते हैं कि जिस प्रकार धातु और रासायनिक पदार्थोंको विचारपूर्वक मिलानेसे उसमेंसे विजलीकी शक्ति प्रकाश होती है उसी प्रकार शक्तिमान् उन अक्षरसमूहके सूक्ष्म विचारपूर्वक मिलनेके द्वारा अद्भुत दैवी-शक्ति मन्त्रमें प्रकाशित हो जाती है। इसके सिवाय जिस प्रकार शब्द-प्रयोक्ताकी प्राणशक्ति और हार्दिक शक्तिके द्वारा शब्दमें अपूर्व शक्ति आ जाती है जिसके द्वारा श्रोताओंके ऊपर प्रभाव पड़ जाता है, उसी प्रकार साधकके अन्तःकरणकी शुद्धशक्ति, भावशक्ति, प्राणशक्ति और संयमशक्तिके द्वारा मन्त्र प्रयुक्त होनेपर उसमें असाधारण शक्ति बन जाती है जिससे वह मन्त्र चाहे जहांपर प्रयोग किया जाय ईप्सित फल प्रदान किये विना नही रहता है, परन्तु जिस प्रकार शब्दमें शक्ति होनेपर भी दुष्ट उच्चारण द्वारा तथा प्राणहीन, हृदयहीन मनुष्यके द्वारा उच्चारित होनेसे एतादृश फल प्राप्ति नहीं होती है, ठीक उसी प्रकार मन्त्र भी स्वरसे या वर्णसे ठीक ठीक उच्चारित न होनेपर तथा मन्त्रप्रयोगकर्त्तामें प्राणशक्ति, संयमशक्ति और हार्दिकशक्तिकी हीनता होने-पर यथार्थ फलको नही दे सकता है। उल्लिखित किसी प्रकारका दोष यदि न हो और अन्तःकरणकी पूर्णशक्तिके साथ साध्य वस्तुको लक्ष्य करके प्रयुक्त हो

तो अवश्य ही मन्त्र ईप्सित फलको उत्पन्न करेगा इसमें कोई सन्देह नही है। वर्त्तमान समयमें जो अनेक स्थलपर मन्त्र ठीक फल नही देता है इसके लिये ऊपर लिखित प्रयोग-दोष ही कारण है। जिस साधकने पुरश्चरण आदि प्रक्रिया द्वारा मन्त्रचैतन्य करके ठीक ठीक साधन किया है वह अवश्य ही मन्त्रशक्तिको अपने अनुकूल करके ससारमें असाधारण दैवी शक्तियोको प्राप्त करेगा इसमें अणुमात्र सन्देह नही है। वह अपनी प्राणशक्तिके साथ मन्त्रशक्तिका प्रयोग करके जो चाहे सो कर सकेगा। शास्त्रवर्णित सभी सिद्धियां इस तरहसे प्राप्त होती है। मन्त्रशक्तिके बलसे दैवजगत् पर प्रभाव डालकर तत्तत् प्रकृतिके अधिनायक देवताको इस प्रकारसे मन्त्रद्वारा वशीभूत किया जा सकता है और आसुर प्रकृतिपर विराजमान पिशाच, दैत्य, भूत, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी आदि तामसिक शक्तियोंको भी इस प्रकारसे मन्त्रशक्तिके द्वारा साधक वशीभूत कर सकते है। यथा अथर्ववेद भूतयोनि सूक्त ८६ मे—

> यौ ते मातोन्ममार्ज जातायाः पतिवेदनौ।
> दुर्णामा तत्र मागृधदलिंश उत वत्सपः॥

हे बन्धु। तेरे जन्मसमयमें तेरी माताने जिन दुर्नाम अलिंश वत्सप नामक भूतोंको मन्त्रमार्जनसे भगाया था वे इस गर्भावस्थामे तेरे पास न आवे। सीमन्तोन्नयनमें इस मन्त्रका प्रयोग होता है। इसके सिवाय विविध प्रकारकी अस्त्रसिद्धि भी इस प्रकारसे मन्त्रशक्तिके द्वारा हो सकती है जैसा कि आर्यशास्त्रमे वर्णित किया गया है। रामायण और महाभारतमें जो दिव्यास्त्र, ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र, आग्नेयास्त्र आदि अस्त्रोंके प्रयोगका प्रमाण मिलता है सो इसी प्रकारसे मन्त्रशक्तिके द्वारा सिद्ध अस्त्रसमूह है। मन्त्रसमूहको चैतन्य करके अपनी प्राणशक्तिके साथ शत्रुपर प्रयोग करनेसे प्राणशक्ति और मन्त्रशक्तिसे पूर्ण अस्त्रसमूह लक्ष्यस्थल पर जाकर अवश्य ही ईप्सित फल उत्पन्न करेंगे इसमें कोई भी संदेह नही है। कोई कोई अर्वाचीन पुरुष अस्त्रसिद्धि पर इस तरह कटाक्ष करते है कि जब मंत्रमें शक्ति है तो उच्चारण करनेवालोंकी जिह्वा क्यों नही जल जाती। उनके इस बालवत् प्रलापपर धन्यवाद है! सामान्य दृष्टान्तके द्वारा समझ सकते है कि जिस प्रकार सूर्य्यकिरणमें दग्ध करनेकी शक्ति होने पर भी जहाँ तहाँ वह शक्ति दग्ध नही कर सकती है परन्तु आतशी काँचके द्वारा आकृष्ट होकर जहाँ पर वह शक्ति केन्द्रीभूत (focus) की जाती

है वहाँ पर ही वस्तुको दग्ध करती है, उसी प्रकार मन्त्रमें शक्ति होने पर भी वह शक्ति मन्त्रमें साधारणरूपसे व्याप्त रहती है परन्तु जिस वस्तु पर लक्ष्य करके अन्तःकरणकी एकाग्रता और प्राणशक्तिके द्वारा वह मन्त्र अस्त्रकी सहायतासे प्रयुक्त होता है वही जलाना, मार देना, मुग्ध कर देना, आदि अद्भुत क्रियाओंको कर सकता है। प्रत्येक मन्त्रकी सिद्धि, साध्य वस्तु पर भावशक्तिके द्वारा केन्द्रीकरण (focus) होनेसे तब हो सकती है, जहाँ तहाँ नहीं हो सकती है। जिस साधकके अन्तःकरणमे भावशक्ति तथा प्राणशक्तिकी जितनी प्रबलता होगी, मन्त्रोंके द्वारा अस्त्रप्रयोग, मन्त्रसाधन द्वारा आसुरी शक्ति तथा देवताओंका वशीकरण और श्रीभगवान् तककी भी प्रसन्नता प्राप्ति वह उतना ही कर सकेगा।

अब इन विषयों पर पश्चिमी विद्वानोंके किये हुए विचार उद्धृत किये जाते है—

"In Sanskrit, as well as in Hebrew and all other alphabets, every letter has its occult meaning and its rationale, it is a cause and an effect of a preceding cause, and a combination of these very often produces the most magical effects. The VOWELS especially contain the most occult and magical potencies."

(H P. B —SECRET DOCTRINE)

It is true that when the number-mystic knows the vowels comprising your name centres, he knows not only your weak points, but understands as well your strength and possibilities, how you may unfold your inherent (though perhaps undreamed) talents, and how you may attune your life to rythmic vibration and at what periods of the day you are in harmony with the great Cosmic Color Currents sweeping the Earth's surface

In reading music, the keynote governs the musical composition and in Number-Mysticism, the VOWELS are

the keynotes determining the general trend of planetary influences operating thru the name, relating the individual to a definite Cosmic Color Current and indicating the time of day of his closest attunement with these mighty forces.

All LOSS IS THE RESULT OF A SCATTERING CONSCIOUSNESS. All GAIN is the result of ACCUMULATIVE CONSCIOUSNESS—the focused, concentrated, one-pointed consciousness. It is thru employment of this method, concentrating his powers at his hour of perfect attunement, that man easily wins victories, develops the power or money consciousness and visualizes, develops and materialises the things of his desire on the material plane; but the second form is most desireable for those who would know more of the REAL SELF, who would establish UNION with that self. This latter form is the one employed by those who quickly develop clairsentience, who function consciously upon levels higher than the purely physical, who penetrate the interstellar spaces and who develop Cosmic Consciousness.

STELLAR-NUMEROLOGY.

(ARTIE MAE BLACKBURN, B. L. I.—Kalpaka 11–1924.)

मेडम् ब्लावाटस्कीकी सम्मति है—

"संस्कृत तथा हिब्रु भाषामें प्रत्येक अक्षरके भीतर सूक्ष्म भावपूर्ण अर्थ होता है, वे किसी पूर्व-कारणके कारण तथा फलरूप भी होते हैं और इन अक्षरोंके युक्तिपूर्ण मिलनके द्वारा अनेक समय जादूकासा प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। व्यञ्जनकी अपेक्षा स्वरवर्णकी सूक्ष्म शक्ति अधिक हुआ करती है।"

"संख्या रहस्यके जाननेवाले विद्वान्को यदि पता लग जाय कि तुम्हारे नाममें स्वरवर्ण कितने हैं तो वे तुम्हारी कमजोरीको भी जान जायेंगे और यह भी उनको पता लग जायगा कि तुममें कौन कौन खास शक्तियां हैं और व्यापक

शक्तिके साथ दिनके किस किस समय पर तुम्हारी नैसर्गिक एकता हो जाती है। जिसप्रकार सङ्गीतके कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिन पर सारे सङ्गीतका गाना निर्भर करता है, उसी प्रकार नाममें जो स्वरवर्ण होता है उसीसे ग्रहोंका प्रभाव तथा समष्टि शक्तिके साथ व्यक्तिगत शक्तिके सामञ्जस्यका भाव बना रहता है।

"अपने भीतरकी सूक्ष्म शक्तिको चारों ओर बिखरी हुई रखनेसे ही सकल प्रकार हानि होती है और उसे सब ओरसे बटोर कर एक स्थान पर केन्द्रीभूत करनेसे ही सकल प्रकार लाभ होता है। जो मनुष्य ऐसा कर सकता है उसके लिये सग्राममें विजयलाभ, अर्थप्राप्ति, शक्तिलाभ, मनकी कामनाओंकी पूर्त्ति इत्यादि कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं रह जाती है। इसके अतिरिक्त जो मनुष्य इस शक्तिकी सहायतासे अतीन्द्रिय परमात्माके राज्यमें पहुंचना चाहे उसके लिये भी यह बहुत ही सुगम उपाय है और इस प्रकार शक्तिके केन्द्रीकरण द्वारा साधकके अन्तःकरणमें असीमबलकी प्राप्ति तथा सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की सान्निध्य प्राप्ति अवश्य ही हो जाती है।"

(आर्टि मी ब्लाकबर्न—कल्पक ११—२४)

यही सब दिव्यनामरूपी मन्त्रोंके गूढ रहस्यके विषयमे प्राचीन तथा आधुनिक वैज्ञानिक विचार है। मूर्त्तिकी तरह मन्त्रके आश्रयसे साधना करते करते अन्तमें मन्त्र और देवताका भेद भूलकर साधक दैवी प्रकृति पर विराजमान इष्ट देवतामें अन्तःकरणको लवलीन कर भावसमाधिलाभ करता है। जिस नाम और रूपके द्वारा जीव ससारमें बद्ध हो गया था उसी नाम और रूपके सुकौशल पूर्ण अवलम्बनसे जीव इस तरहसे नामरूपनिर्मुक्त ब्रह्मपदको प्राप्त करता है। नामरूपमय मन्त्रयोगकी साधनाके द्वारा अन्तमें सविकल्प समाधिरूप महाभाव समाधिको प्राप्त करके साधक चिन्मय निराकार तथा निर्गुण ब्रह्मकी राजयोगोक्त साधनाका अधिकार लाभ करता है और गुरुमार्गप्रदर्शित नियमित षोडशाङ्गके साधनद्वारा अन्तमें निर्विकल्प समाधि पदवीको प्राप्त करके साधक मुक्त हो जाता है। यही सकल साधनाका अन्तिम फल है।

मूर्तिविषयक वैदिक प्रमाण।

वेद तथा वेदसम्मत शास्त्रोंमें मूर्त्तिपूजाके विषयमें अनेक प्रमाण मिलते है, जिनपर विचार करनेसे साकार मूर्त्तिके ऊपर किये हुए अर्वाचीन पुरुषोंके सभी कटाक्ष व्यर्थ जान पड़ते है। अब नीचे

उदाहरणार्थ कुछ प्रमाण उद्धृत किये जाते है। बृहदारण्यक उपनिषद्के चतुर्थ अध्यायके तृतीय ब्राह्मणमे लिखा है:—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तंचैवामूर्त्तञ्च, मर्त्यंचामृतं च, स्थितं च यत् च।

ब्रह्मके दो रूप हैं—एक मूर्त्त दूसरा अमूर्त्त, एक मर्त्य दूसरा अमृत, एक स्थिर दूसरा सचल।

उभयं वा एतत् प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च तद् यद् यजुषा करोति यदेवास्य निरुक्तं परिमितं रूपं तदस्य तेन संस्करोत्यथ यत्तुष्णीं यदेवास्यानिरुक्तमपरिमितं रूपं तदस्य तेन संस्करोतीति ब्राह्मणम्।

शतपथ का० १४, अ० १, ब्रा० २, मं० १८।

परमेश्वर दो प्रकारका है, परिमित और अपरिमित, निरुक्त और अनिरुक्त, इस कारण जो यज्ञ उपासनादि कर्म यजुर्वेदके मन्त्रोंसे करता है, उसके द्वारा परमेश्वरके उस रूपका संस्कार करता है, जो निरुक्त और परिमित है और जो तुष्णी अर्थात् सूक्ष्मचिन्तापरायण है, वह उससे परमेश्वरके उस रूपका संस्कार करता है, जो अनिरुक्त और अपरिमित है। इस मन्त्रसे परमात्माके साकार निराकार दोनो रूप सिद्ध होते है। केनोपनिषद्के तृतीय खण्डमें लिखा है—

'स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच'

इत्यादि।

देवराज इन्द्रने आकाशमें परमशोभामयी सुवर्णाङ्गी जगन्माता उमाको देखा और उनसे बात किया। इस मन्त्रसे देवी दुर्गाका साकाररूपमें दर्शन देना सिद्ध होता है।

कैवल्योपनिषद्के ७वें मन्त्रमें लिखा है—

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसं परस्तात्॥

देवी उमाके पति, त्रिलोचन, नीलकण्ठ, प्रशान्तमूर्त्ति परमेश्वर प्रभु शिवका ध्यान करते करते मुनि मायासे परे परमात्मपदको पा लेते हैं। इसमें हरपार्वतीका सम्बन्ध तथा महादेवका साकाररूप बताया गया है। ऋग्वेदके ८।८।१३।३ में मन्त्र है, यथा—

अदो यद्दारुः प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्।
तदारभस्व दुर्हणस्तेन गच्छ परस्तरम्॥

वह जो समुद्र तटपर अलौकिक दारु अर्थात् काष्ठमूर्त्ति जगन्नाथजीकी है, दुर्हण अर्थात् कठिनतासे पाने योग्य उस मूर्त्तिकी उपासना करनेपर परमपद प्राप्त होता है। वेदमें 'प्रतिमा' शब्द कही देवप्रतिमा या ईश्वरप्रतिमा अर्थमें और कही 'उपमा' अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। यथा—कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीयारण्यक ४ प्रपाठक ५ अनुवाकमें—

'मा असि प्रमा असि प्रतिमा असि'

यहां महावीरको ईश्वरकी प्रतिमा करके वर्णन किया गया है।

'सहस्रस्य प्रतिमा असि'—अ० १५।६५

यहां भी परमात्माको सहस्रोंकी प्रतिमा कहा गया है। शतपथ ११। १। ८। ३ में है—

"अथैतमात्मनः प्रतिमामसृजत यद् यज्ञं तस्मादाहुः प्रजापतिर्यज्ञ इत्यात्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत।"

ईश्वरने अपनी प्रतिमा यज्ञनामको उत्पन्न किया, इसलिये कहा जाता है कि, ईश्वर यज्ञरूप है।

'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः'—यजु० अ० ३४ मन्त्र ४२

जिस परमात्माका नाम और यश महत् है उसकी 'उपमा' किसीके साथ नहीं हो सकती है। इस मन्त्रमे प्रतिमाका अर्थ उपमा है मूर्त्ति नहीं है। इसको न समझकर अर्वाचीन जनोंने जो इस मन्त्रमे प्रतिमाका निषेध समझा है यह उनकी पूरी भूल है। वहां प्रकरण देखनेपर भी यही निश्चय होता है। इसी प्रकार—

यद्वाचा नाभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

इत्यादि केनोपनिषद्के मन्त्रोंमे जो उपासनाका निषेध किया गया है वह निर्गुण ब्रह्मके लिये है, सगुण ब्रह्म ईश्वरके लिये नहीं है, क्योंकि मनवाणी प्रकृतिसे परे निर्गुण अद्वैत ब्रह्म उपास्य उपासकरूपी द्वैतभावके द्वारा प्राप्त नहीं हो

सकता है। यही इन मन्त्रोंका तात्पर्य है। अतः इसमें भी अर्वाचीन पुरुषोंने भूल की है। ऋग्वेद, अ ८, अ. ७, व. १८, मं. ३ मे लिखा है—

'कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्' इत्यादि।

यथार्थ ज्ञान कौन है, प्रतिमा कौन है, निखिल जगत्का निदान कौन है और घृतके समान सार वस्तु कौन है? इसमे भी प्रतिमाका अर्थ 'ईश्वरमूर्त्ति' है। यजु, अ. १५ मं ५४ मे लिखा है—

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वं इष्टापूर्त्ते संसृजेथामयञ्च'

हे अग्ने! तुम सावधान तथा जागृत हो, इस यजमानको भी इष्ट तथा पूर्त्त कर्ममे प्रवृत्त करो। स्मृतिशास्त्रमे इष्ट और पूर्त्त कर्मके निम्नलिखित लक्षण लिखे हैं—

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानामुपलम्भनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामः पूर्त्तमित्यभिधीयते॥ (अत्रिस्मृति ४४-४५)

अग्निहोत्र, तप, सत्य, वेदपाठ, आतिथ्य और वैश्वदेव कर्म इष्ट कहाता है। लोकहितार्थ बावड़ो, कुंआ, तालाव, देवमन्दिर, अन्नदान और वगीचे लगा देनेको पूर्त्त कर्म कहते हैं। अतः देवमन्दिर बनाना वेदसम्मत सिद्ध हुआ। शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है—

अथ मृत्पिण्डमुपादाय महावीरं करोति—१४-१-२-१७
अथैनान् धूपयति—१४-१-२-२०
मुखमेवास्मिन्नेतदधाति-१४-३-२-१७
नासिकेएवास्मिन्नेतदधाति-ब्रा. श. १७
अक्षिणी एवास्मिन्नेतदधाति-ब्रा. १७

इन मन्त्रोंमें मिट्टीसे महावीरकी मूर्त्ति बनानी तथा उसमे मुख, नाक आदिका स्थापन करना लिखा है। ऐसे ऐसे वैदिक प्रमाणोंके होते हुए भी मूर्त्तिपूजाका खण्डन करना केवल दुराग्रह मात्र है।

अर्वाचीन पुरुषोंने मूर्त्तिको तरह नामकी भी निन्दा की है, किन्तु वेदादि

नाम माहात्म्य । शास्त्रोंमे नामकी महिमा वहुत कुछ बताई गई है । ऋग्वेदमे सू २४ म १ मे लिखा है—

'कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम'

नाशरहित परमात्माके सुन्दर नाम हम लेते हैं ।

'यस्य नाम महद् यशः' यजु. ३२-३

जिनका नाम तथा यश महत् है । छान्दोग्योपनिषद्में लिखा है—

नाम उपास्व, स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते ''अस्य कामचारो भवति ।

नामकी उपासना करनी चाहिये, नामरूपी ब्रह्मकी जो उपासना करता है वह सर्वत्र इच्छानुसार भ्रमण कर सकता है, जैसा कि देवर्षि नारद करते थे । गीतामें भी लिखा है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥

एकाक्षर ब्रह्मरूपी 'ॐ' मन्त्रका उच्चारण तथा परमात्माका स्मरण करते करते प्राण छोड़नेपर परम गति प्राप्त होती है । नाम नामीका परस्पर सम्बन्ध रहनेसे प्रेमके साथ नाम तथा मन्त्रद्वारा भगवान्को पुकारनेसे भगवान्की कृपा होती है । और इसी परमकृपाको पाकर साधक अनायास ही ससारसिन्धु पार कर जाता है ।

भक्ति और योग ।

भक्ति उपासनाका प्राण और योग उसका शरीर है, इस लिये उपासना-तत्त्व पर विचार करके अब भक्ति और योग पर विचार किया जाता है ।

भक्ति सकल साधनाका प्राण है और योग सकल साधनाका शरीर है, अर्थात् जिस प्रकार प्राणके विना शरीर जीवित नहीं कहलाता उसी प्रकार भक्तिके विना उपासना निर्जीवसी रहती है और जिस प्रकार शरीरके पुष्ट होनेपर ही उसकी सुन्दरता है उसी प्रकार योगके द्वारा ही उपासना पुष्ट हो सकती है । अब उपासनाकी प्राणरूपिणी भक्तिके विषयमें कुछ कह कर पश्चात् योगके विषयमें कहा जायगा ।

भक्तिका लक्षण क्या है इस विषय पर विचार करते हुए अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वतीजीने कहा है कि "द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्पवृत्तिर्भक्तिरिति" अर्थात् भगवद्भावसे द्रव होकर भगवान्‌के साथ चित्तका जो सविकल्प तदाकार भाव है वही भक्तिका लक्षण है। इसी तदाकार भावका प्रमाण श्रीमद्भागवतमे बताया गया है। यथा—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥

गुणगान सुनते ही भगवान्‌के प्रति, समुद्रगामिनी गङ्गाकी अविराम धाराकी नाईं चित्तकी जो अहेतुक, अनवच्छिन्न गति है उसीको भक्तियोगका लक्षण कहा जाता है। भक्तिकी रागात्मिका दशामें भगवान्‌के प्रति साधककी चित्तवृत्ति ऐसी ही हो जाती है, जिसके भूरि भूरि दृष्टान्त भक्तिशास्त्रमें मिलते हैं। भक्तजनमुकुटमणि प्रह्लादने नृसिंहरूपधारी श्रीभगवान्‌के पास इसी पवित्र प्रेमकी प्रार्थना की थी। यथा विष्णुपुराणमे—

या प्रीतिरविवेकाणां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

प्रह्लादकी प्रार्थना यह है कि अज्ञानी विषयी लोग जिस प्रकार विषयके प्रति एकतान होकर प्रीति करते हैं उसी प्रकार अविच्छिन्न अविनाशी प्रेम भगवान्‌के प्रति हो। भगवान्‌के प्रति इस प्रकार प्रेम होना ही भक्तिका लक्षण है। भक्ति-दर्शनके सूत्रकार देवर्षि नारद, महर्षि शाण्डिल्य आदिने इसी सिद्धान्तको लेकर अपने अपने दर्शनोमे भक्तिका लक्षण निर्णय किया है। यथा नारद-सूत्रमें—

"सा कस्मिन्परमप्रेमरूपा" "अमृतस्वरूपा च"

परमेश्वरके प्रति परम प्रेमको ही भक्ति कहते हैं। भक्ति जीवको नित्यानन्दका अधिकारी भी कर देती है। शाण्डिल्यसूत्रमे लिखा है—

"सा परानुरक्तिरीश्वरे" "तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्"

ईश्वरके प्रति परम अनुरागको ही भक्ति कहते है। क्योंकि उनके प्रति प्रेम होनेसे ही जीव अमृतरूप हो जाता है।

भक्ति भगवान्‌के प्रति अनुरागरूप है। लौकिक अनुराग तीन प्रकारके हैं यथा स्नेह, प्रेम और श्रद्धा। अपनेसे छोटोंमें अनुराग स्नेह, समानमें अनुराग प्रेम और श्रेष्ठोंमे अनुराग श्रद्धा कहलाता है। ये तीन प्रकारके प्रेम ही लौकिक तथा नश्वर हैं। परन्तु इससे अतिरिक्त परमेश्वरके प्रति जो अविनश्वर तथा अलौकिक अनुराग है उसे भक्ति कहते हैं।

भक्तिके लक्षणको और भी स्पष्ट करनेके लिये यह कहा जा सकता है कि मनुष्य जितना पशुभावके अधिकारको छोडता हुआ देवभावके अधिकारको प्राप्त करता जाता है उतना ही उसमें प्रेम और अनुराग बढ़ता जाता है। अनुराग अथवा प्रेमके पहचाननेका लक्षण यह है कि मनुष्य जितना अपने स्वार्थोंको भूलकर दूसरेके स्वार्थोंको अपना स्वार्थ समझता जाय उतना वह मनुष्य प्रेमिक कहाता है। माता-पिता, पुत्रकन्याके लिये अपने स्वार्थको भूलकर पुत्रकन्याके सुखसे अपनेको सुखी जितना समझते है उतने ही वे प्रेमिक पिता माता कहलाते हैं। पति स्त्रीके लिये, स्त्री पतिके लिये, मित्र मित्रके लिये जितना अधिक अपना स्वार्थ विसर्जन करता हुआ एक दूसरेके दुःखसे अपनेको दुःखी अनुभव करता है उतना ही वह प्रेम राज्यका अधिकारी माना जाता है। दूसरेके लिये अपनेको भूलना, दूसरेके सुखके लिये अपने सुखको विसर्जन करना, स्वयं दूसरेका बन जाना यही अनुरागकी भित्ति है। यही अनुराग लौकिक जगत्‌में श्रद्धा, प्रेम और स्नेहरूपसे तीन प्रकारका होता है जैसा कि, पहिले कहा गया है। निम्नगामी स्नेह, ऊर्द्ध्वगामी श्रद्धा और समगामी प्रेम, तीनोंमें ही, लौकिक, नाशवान् अवलम्बन होनेसे तीनों ही दुःखके मूल हैं। परन्तु भक्तिमें ऐसा नहीं होता है। भक्तिका अधिकारी भाग्यवान् उपासक संसारको भूलकर अपने अनुराग प्रवाहको अलौकिक अविनश्वर नित्यानन्दरूप भगवान्‌की ओर प्रवाहित करता है। इसलिये दुःखलवलेश-विहीन यह अलौकिक अनुराग ही भक्तिपदवाच्य है।

अब भक्तिके अङ्ग प्रत्यङ्गके वर्णन किये जाते हैं। भक्ति प्रधानतः द्विधा विभक्त है। यथा गौणी और परा। साधनदशाकी भक्ति गौणी और सिद्धिदशाकी

भक्ति परा भक्ति कहलाती है। गौणी भक्तिके पुनः दो भेद हैं, यथा—वैधी और रागात्मिका।

"विधिसाध्यमाना वैधी सोपानरूपा"

विधिके द्वारा जिसका साधन होता है इस प्रकार तथा उन्नत भक्ति भूमिके लिये सोपानरूपसे सहायताकारी भक्ति ही वैधी भक्ति है। गुरूपदेशानुसार विधिनिषेधके वशवर्त्ती होकर वैधी भक्तिके विविध अङ्गोंके नियमित साधन द्वारा साधक भक्तिके उन्नत राज्यमें प्रवेशाधिकार प्राप्त करते हैं। वैधी भक्ति पुनः नौ अंगोमें विभक्त है, यथा—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्च्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन, वैधी भक्तिके ये नौ अङ्ग कहे गये हैं। श्रीभगवान्‌की मधुर गुणकथाओंके श्रवणका नाम श्रवण है। यह वैधी भक्तिका प्रथम अङ्ग है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञेशमखामहोत्सवाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्।

जहां पर सुधासिन्धुकी नाईं श्रीभगवान्‌की गुणकथा नही प्रवाहित होती है, जहां पर परम भागवत साधुगण नही निवास करते हैं, जहां पर यज्ञेश्वरके यज्ञका महोत्सव नही होता है, इन्द्रलोक होनेपर भी ऐसा स्थान सेवनीय नहीं है। इस प्रकार वैधी भक्तिके श्रवणात्मक अङ्ग-सेवन द्वारा भक्तजनचित्त धीरे धीरे श्रीभगवान्‌के चरण-कमलोमें सन्निविष्ट होने लगता है। वैधी भक्तिके द्वितीय अङ्गका नाम कीर्त्तन है। श्रीभगवान्‌के लोकोत्तर मधुर चरित्र-समूहके कीर्त्तनका नाम कीर्त्तन है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः॥

श्रीभगवान् अनन्तदेवकी गुणावलीके कीर्त्तन करनेसे अन्तःकरणमें उनकी मधुर मूर्त्ति विराजमान होकर सूर्य-किरणके प्रतापसे अन्धकार अथवा प्रचण्ड-वायुवेगसे मेघमालाकी तरह हृदयनिहित समस्त व्यसनोंको विदूरित कर देती है। श्रीभगवान्ने निजमुखसे कहा है—

नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

मैं वैकुण्ठमें नहीं रहता हूँ और योगियोंके हृदयमें भी नहीं रहता हू। मेरे भक्तलोग जहांपर कीर्त्तन करते हैं वहां ही मैं रहता हू। इस प्रकारसे श्रीभगवान्के मधुर नाम-कीर्त्तन द्वारा भक्तहृदयमें धीरे धीरे भगवद्भावकी स्फूर्त्ति हुआ करती है। वैधी भक्तिके तृतीय अङ्गका नाम स्मरण है। श्रीभगवान्-की मधुर मूर्त्ति, नाम या मधुर भावके स्मरणको स्मरण कहा जाता है। भगवत्स्मरणके विषयमें श्रीमद्भागवतमें लिखा है :—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥

श्रीभगवान्के चरण-कमलोंके निशिदिन स्मरण करनेसे अमङ्गलनाश और शान्ति, सत्त्वशुद्धि, परमात्मभक्ति और विज्ञान विरागयुक्त ज्ञानकी वृद्धि हुआ करती है। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याऽहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

अनन्यचित्त होकर जो सदा मेरा स्मरण करता है उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं बहुत ही सुलभ हो जाता हूँ।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

मैं सकलभूतोंमें एकभावसे विद्यमान हू। कोई मेरा प्रिय या अप्रिय नहीं है। केवल जो भक्तिके साथ मेरा भजन करता है वे मुझमें और मैं

उनमें हूँ। इस प्रकारसे वैधी भक्तिके स्मरण-अङ्गके साधन द्वारा भक्तहृदयकमल भगवान्‌की कृपाकिरणसे धीरे धीरे प्रफुल्लित हुआ करता है, जिस कमलासनमें श्रीभगवान् आनन्दके साथ आसीन होते है। वैधी भक्तिके चतुर्थ अङ्गका नाम पादसेवन है। श्रीभगवान्‌के चरणकमलकी सेवाका नाम पादसेवन है। इसके फलके विषयमें शास्त्रमें कहा है—

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विनामशेषजन्मोपचितं मलं धियः।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित्॥

जिस प्रकार भगवत्पादनिःसृता जाह्नवी अनुक्षण वर्द्धिता होकर संसारकी मलिनताको दूर करती है उसी प्रकार भगवच्चरण-सरोजसेवा-प्रवृत्तिके द्वारा भी तपस्वियोंके चित्तकी जन्म-जन्मान्तरसञ्चित मलिनता शीघ्र ही क्षीणताको प्राप्त हो जाया करती है। और इस प्रकारसे चित्तकी मलिनता नष्ट होनेपर भक्तचित्तमें भगवद्भावका स्फुरण होने लगता है। यही वैधीभक्तिके पादसेवन रूप अङ्गका फल है। वैधीभक्तिके पञ्चम अङ्गका नाम अर्चन है। मृण्मयी, पाषाणमयी आदि स्थूल मूर्त्ति बनाकर अथवा हृदयमें मनोमयी मूर्त्ति बनाकर बाह्य और मानस पूजाका नाम अर्चन है। भक्तिके साथ इस प्रकार पूजा करनेसे भगवत्प्रसन्नता होती है जिससे भक्तहृदयमें भगवद्भावका धीरे धीरे उदय होने लगता है। यथा गीतामें—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतं गृह्णामि प्रयतात्मनः॥

पत्र, पुष्प, फल या जल जो कुछ हो भक्तिके साथ अर्पण करनेसे मैं सादर ग्रहण करता हूँ। वैधी भक्तिके षष्ठ अङ्गका नाम वन्दन है। श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंकी वन्दनाका नाम वन्दन है, जिसके द्वारा भक्तमें अहङ्कारनाश तथा भगवद्भावका उदय होता है। तदनन्तर दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन-नामक वैधी भक्तिके अन्तिम तीन अङ्गोंका साधन भक्ति-शास्त्रमें विहित किया गया है। इन तीनों अङ्गोंका वास्तविक विकाश भक्तिकी रागात्मिका दशामें होने पर भी वैधी और रागात्मिकाकी सन्धिदशामें अभ्यासके तौर पर रागात्मिका दशाकी प्राप्तिके लिये इन तीनोंका साधन होता है। दास्यभावमें श्रीभगवान्‌का दास बनकर उनकी सेवाके अभ्यास द्वारा अहङ्कारनाश तथा भक्तिप्राप्ति और सख्यभावमें उनके सखारूपसे एकप्राणता प्राप्तिके अर्थ हार्दिक

प्रयत्नके द्वारा भक्तहृदयमें अवश्य ही भगवान्‌के प्रति पुण्यमय मधुर प्रेमका विकाश होने लगता है। तदनन्तर वैधी भक्तिके अन्तिम अङ्ग आत्मनिवेदनभावके अभ्यास द्वारा भक्तकी शारीरिक और मानसिक सकल चेष्टा भगवद्भावमयी ही हो जाती है जिसके फलसे भक्तहृदयमें भगवान्‌के प्रति अपूर्व दिव्य रागका विकाश हो जाता है। आत्मनिवेदन भावके साधनके समय भक्तकी चेष्टायें कैसी होती हैं इस विषयमे शास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते है। यथा श्रीमद्भागवतमें:—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्परशेऽङ्गसङ्गमम्।
घ्राणञ्च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः॥

आत्मनिवेदनभावके उदय होनेसे साधकका अन्तःकरण भगवच्चरणारविन्दमें, वाक्य भगवद्गुणानुवादमें, हस्त उनके मन्दिरोंके मार्जनमें, कर्ण भगवद्विषयिणी मधुर कथाओंके श्रवणमे, दृष्टि उनकी मूर्त्तिके देखनेमे, शरीर उनके भक्तोंके अङ्गस्पर्शमें, घ्राणेन्द्रिय तुलसीके आघ्राणमे, रसना उनके प्रसाद-ग्रहणमें, चरण उनके तीर्थक्षेत्रोंके गमनमें, मस्तक उनके चरणवन्दनमें और काम विषयविलासमे नियुक्त न हो कर साधुजनोंकी तरह श्रीभगवान्‌की सेवामे ही नियुक्त होते हैं। यही वैधी भक्तिके नवधा विभक्त अङ्गोंका साधन है। वैधी भक्तिके नौ भेदोंका स्वरूप दिखाया गया। यह नौ साधन अथवा इनमेंसे कुछ

कुछ साधन भक्तियोगके साधक शिष्यको श्रीगुरुदेव प्रथम उपदेश देते हैं और उसके विशेष विशेष साधनोंका अभ्यास कराते हैं। इसी कारण इस दशाकी भक्तिको वैधी कहते हैं। इस प्रकार साधन द्वारा भगवत्कृपा प्राप्त होनेसे साधकको क्या सिद्धि मिलती है सो नीचे बताया जाता है।

वैधीभक्तिके पूर्ण साधनसे भगवत्कृपाप्राप्त, निशिदिन इष्टदेव-पद-ध्याननिमग्न भक्तका हृदयकमल विकसित होकर श्रीभगवान्‌के प्रति जो अविश्रान्त और अपूर्व अमृतमयी प्रेमधाराका प्रवाह बहने लगता है, जिस प्रेमधाराके मधुर आस्वादनसे परितृप्त भगवान् भक्तके हृदयासनमें विराजमान होकर भक्तहृदयमें निरन्तर आत्मरति, आनन्द तथा शान्तिका उदय कर दिया करते हैं, उसी प्रगाढ़ भगवत्प्रेमका नाम रागात्मिका भक्ति है।

रसानुभाविकाऽऽनन्दशान्तिदा रागात्मिका।

भक्तिके इस भावमें श्रीभगवान्‌के प्रति साधकके चित्तकी निरन्तर प्रीति बनी रहती है। जिस प्रकार नवागता कुलवधूको पतिके प्रति प्रेम उत्पन्न करनेके लिये उनकी सेवाकी अनेक विधियां प्रथमतः बताई जाती हैं, परन्तु जिस समय पतिव्रताका प्रेम पतिके प्रति उत्पन्न हो जाता है, उस समय वे स्वयं ही निशिदिन उस प्रेममें मग्न रहकर विधिके बिना ही समस्त कर्त्तव्यको पालन कर दिया करती है, उसी प्रकार भक्तिकी वैधी दशामें भगवान्‌के प्रति प्रेमाभ्यासके लिये श्रवणकीर्त्तनादि अनेक विधियोंकी आवश्यकता होनेपर भी भक्तिकी रागात्मिका दशामें भगवान्‌के प्रति पतिप्राणा सतीकी तरह प्रेम हो जानेपर विधियोंके अभ्यासका कोई भी प्रयोजन नही रहता है। भक्त भगवान्‌के प्रति पवित्र प्रेमबद्ध होकर उन्हीके चरणकमलके मधुरध्यानमें अहरहः निमग्न रहते है जिससे उनके चित्तमें दुःखलवलेशहीन आनन्द तथा शान्तिकी दिव्य-ज्योत्स्ना सदा हो प्रफुल्लित रहा करती है। यथा भागवतमें :—

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान–
स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते॥

श्रीभगवान्‌के प्रति मधुर प्रेमभावको प्राप्त करके भक्तहृदय द्रवीभूत हो जाता है, आनन्दसे उनका अङ्ग पुलकित होने लगता है। वे गलदश्रु और

गद्गदकण्ठ होकर उन्हीके चरणकमलमे मनोमधुकरको सदैव निमग्न रखते है। एतादृश भक्तके हृदयमें अपूर्व आनन्द उत्पन्न होनेसे नयनपथ द्वारा अनन्त आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगता है और वे श्रीभगवान्‌के प्रेममें उन्मत्त तथा लवलीन हो जाते है। इस प्रकारसे इष्टदेवपदध्याननिमग्न भक्तको ससारके प्रति वैराग्य और भगवद्भाव प्राप्ति होती है जिससे साक्षात् परमशान्ति भक्त-हृदयमें चिरविराजमान हो जाती है।

भक्तिकी रागात्मिका दशामें साधककी वहिश्चेष्टा कैसी रहती है इस विषयमें नारदसूत्रमें कहा है--

"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्" "मूकास्वादनवत्"
"शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च"
"गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानमविच्छिन्नं
सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्"
"तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति
तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति"
"यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति
आत्मारामो भवति।"

भगवत्प्रेमोन्मत्त भक्त गद्गदवाणी तथा भक्तिरसार्द्रचित्त होकर कभी रोते है, कभी हँसते है और कभी उन्मत्तकी तरह निर्लज्ज होकर नाचते गाते है। इस प्रकारसे भगवद्भक्त ससारको पवित्र करते है। उस समय उनकी लोकलज्जा आदि सभी वृत्तियां तिरोहित हो जाती हैं। वे अच्युतचिन्तासे कभी कभी रोते रहते हैं, कभी उनके विषयमे चर्चा करते रहते और कभी आत्माराम होकर मौन हो रहते हैं। उस समय भगवत्प्रेमजनित आनन्दाश्रुके द्वारा उनकी आंखें भर कर निस्पन्द हो जाती हैं। श्रीभगवान्‌की मधुर गुण-कथाओंको तथा उनके विविध अवतारोंकी लीलाओंको सुनकर भक्तहृदय पुलकित तथा गद्गद हो जाता है, वे उच्च स्वरसे गाते, रोते तथा नाचते हैं। उस समय लौकिक दृष्टिमें उनकी चेष्टा विलकुल पागलकी तरह होती है, वे भगवान्‌का ध्यान करते है, ससारको उनका रूप जानकर समस्त जीवोंको प्रणाम करते हैं और निर्लज्ज तथा आत्ममति हो करके हे हरे, हे जगत्पते, हे

नारायण इत्यादि रूपसे कहा करते हैं। उस समय उनके चित्तकी सकल कामना नष्ट हो जाती है। काम क्रोधादि समस्त वृत्तियां समुद्रमे विलीन नदियोंकी तरह भगवत्प्रेमसमुद्रमें विलीन हो जाती है। यथा नारदसूत्रमें :—

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्।

समस्त कर्मोंको श्रीभगवान्मे समर्पण करके काम, क्रोध, अभिमान आदि उन्हींके प्रति करना चाहिये। भक्तिकी उपरोक्त रागात्मिका दशामे भक्त ऐसा ही करते हैं। उनका काम भगवत्प्रेम कामनामें, उनका क्रोध अनीश्वर भावके दमनमे और उनका अभिमान भगवान्के प्रति एकात्मरतिके अभिमानमें चरितार्थताको प्राप्त हो जाता है जिसके फलसे एतादृश भक्तके हृदयकमलमें निशिदिन आनन्द-कन्द सच्चिदानन्दकी मधुरिमामयी परमा स्थिति विराजमान रहती है। वे जब चाहते हैं या प्रार्थना करते है तभी इष्टदेव भगवानकी भावमयी स्थूल मूर्त्तिको स्थूल और मानस नेत्रके सामने देख सकते हैं। भक्तशिरोमणि प्रह्लाद, ध्रुव आदिको रागात्मिका भक्तिकी इस दशामे ही श्रीभगवान्की मधुर मूर्त्तिका दर्शन हुआ था। यथा श्रीमद्भागवतमें :—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति॥

भक्त भगवान्से प्रार्थना कर रहे है—"हे कमललोचन! जिस प्रकार छोटी चिड़िया अपनी माताके दर्शनके लिये लालायित रहती है, जिस प्रकार क्षुधाकातर छोटासा बछड़ा मातृस्तनपानके लिये व्यग्र रहता है और जिस प्रकार प्रवासी पतिके सन्दर्शनके लिये प्रियतमा स्त्रीका चित्त सदैव व्याकुल रहता है उसी प्रकार मेरा चित्त सदा ही आपके दर्शनके लिये लालायित रहता है।"

इस प्रकार श्रीभगवान्‌के दर्शनके लिये जब रागात्मिका भक्तियुक्त भक्तका चित्त लालायित होता है तभी उनको श्रीभगवान्‌का दर्शन होता है। जैसा कि, परवर्त्ती श्लोकमें कहा गया है, यथा—इस प्रकार भगवद्भक्त महात्मा प्रसन्नवदन, मधुर-लोचन, अनन्तरूपाधार, परमसुन्दर श्रीभगवान्‌का दर्शन करते हैं और उनके साथ प्रिय मधुर आलाप करते हैं। इस प्रकार भगवद्दर्शनका क्या फल होता है इसके उत्तरमें श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तद्दर्शनध्वस्तसमस्तकिल्विषः
स्वस्थामलान्तःकरणोऽभ्ययान्मुनिः।
प्रवृद्धभक्त्या प्रणयाश्रुलोचनः
प्रहृष्टरोमानमदादिपूरुषम्॥

श्रीभगवान्‌के दर्शनसे पापसमूह विनष्ट हो जाता है, हृदयमें शान्ति तथा पवित्रताकी मन्दाकिनी बहने लगती है। भक्त भगवान्‌के चरणकमलकी शरण ले लेते हैं और अत्यन्त भक्तिसे रोमाञ्चशरीर होकर श्रीभगवान्‌को पुनः पुनः प्रणाम करते हैं। शान्तस्वरूप श्रीभगवान्‌में आसक्तचित्त इस प्रकारके भक्तको किसी भावमें भी सुखाभाव नहीं होता है। वे श्रीभगवान्‌के साथ प्रिय, आत्मा, वात्सल्य, सखा, गुरु, सुहृद् तथा इष्टदेव भावसे मधुर रागमूलक प्रेममें आसक्त रहते हैं। श्रीभगवान्‌के प्रति इस प्रकार पवित्र प्रेम होनेसे समस्त संसार साधकके लिये आनन्द-कानन बन जाता है। वे जगत्‌में सर्वत्र ही भगवत्प्रेमका उल्लास देखने लगते हैं। उनकी दृष्टिमें समुद्रतरङ्गमें प्रेमका नृत्य, नदीके प्रवाहमें प्रेमका प्रवाह, पवनके सञ्चालनमें उनकी करुणाका प्रवाह, पुष्पोंके विकाशमें आत्मानन्दकी लहरीलीला, सुधाकरके मुखमें प्रेमसुधामय मधुर हास्य, नक्षत्रमण्डलमें प्रेमानन्दकी निर्झरिणी, भ्रमरगुञ्जारमें प्रेमका गुञ्जार, तथा जगज्जीवोंकी निखिल चेष्टाओंमें प्रेममय भगवान्‌की पवित्र पूजा दीखने लगती है। रागात्मिका भक्तिकी इस दशामें भक्त तथा भगवान्‌की परम घनिष्ठता हो जाती है। भक्त भगवान्‌के साथ प्रियतम सखा तथा आदरकी आत्मीय वस्तुकी नाईं हँसते खेलते रहते हैं, उनपर सब प्रकारका 'जोर' तथा मान करते हैं और भक्तवत्सल भगवान् भी उन सब मान तथा प्यारके लक्षणोंको आनन्दके साथ सहन करते रहते हैं। इसी आत्मीयतामूलक जोरके साथ ही

जिस समय श्रीभगवान्ने भक्त सूरदाससे अपना हाथ छुड़ा लिया था उस समय सूरदासने कहा था--

हस्तमुत्क्षिप्य निर्यासि बलादिति किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

हे भगवन्! तुम हाथ छुड़ाकर जाते हो इसमें तुम्हारा पौरुष क्या है। यदि हृदय छोड़कर जा सको तभी तुम्हारा पौरुष मानूँगा। इसी प्रणयमूलक जोर तथा अहङ्कारके साथ भक्त उदयनाचार्य्यने कहा था—

ऐश्वर्य्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्त्तसे।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥

हे भगवन्! तुम ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त होकर मेरी अवज्ञा करते हो और दर्शन नहीं देते हो, परन्तु स्मरण रक्खो कि, जब बौद्ध लोग आकर तुम्हारी सत्ताके नाशके लिये उद्यत होंगे तब तुम्हें मेरे ही आधीन होना पड़ेगा। क्योंकि उस समय मैं ही नास्तिकताप्रकाशक बौद्धमतका खंडन करके तुम्हारी सत्ताकी रक्षा करूंगा। यही रागयुक्त भक्तका श्रीभगवान्के प्रति प्रेम तथा घनिष्ठतामूलक सच्चा भाव है। भक्तहृदयमें इस प्रकार प्रेमभावका उदय होनेपर भक्तवत्सल भगवान् उनके आधीन हो जाते हैं। यथा श्रीमद्भागवतमें--

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियञ्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशे कुर्व्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

श्रीभगवान् कह रहे है "मै भक्तोंका अधीन हू स्वतन्त्र नही हूं। मेरे हृदयपर साधुभक्तोंका सम्पूर्ण अधिकार है। मेरे भक्त साधुओंके बिना मैं अपने आत्माको तथा परमा श्रीको भी नही चाहता हू। मैं साधुओंकी ही परम गति हूं। जिन महात्माओंने स्त्री-पुत्र-परिवार धनादि तथा परलोककी सुखेच्छाको भी छोड़कर मेरा आश्रय लिया है, उनको मै किस प्रकारसे त्याग सकता हूँ। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पतिप्राणताके द्वारा निज पतिको वश किया करती है, उसी प्रकार समदृष्टिपरायण साधुगण भी मुझमें हृदयको बांधकर मुझे वशीभूत कर लेते हैं। साधु मेरे हृदय है और मैं साधुओंका हृदय हूं, वे सिवाय मेरे और कुछ भी नही जानते हैं और मै भी सिवाय उनके और कुछ भी नही जानता हूं।" यही भक्तिकी रागदशामें भक्त और भगवान्का पारस्परिक प्रेमसम्बन्ध है। श्रीभगवान्के प्रति इस प्रकार पवित्र रागमूलक भावके द्वारा भक्त आध्यात्मिक भूमिमें शीघ्र ही विशेष उन्नति लाभ करते हैं। इसी प्रकारके जगत्पवित्रकारी भक्तिरससागरमें उन्मज्जन निमज्जन करनेवाले भक्त भारतवर्षमें समय समयपर वैष्णव उपासक, शक्तिउपासक, शिवोपासक, गणपति उपासक और सूर्योपासक आदि सब उपासक-सम्प्रदायोंमें प्रकट हुए हैं, जिनकी महिमा उक्त सम्प्रदायोंके पुराणोंमें वर्णित है। प्रकृतिके वैचित्र्यानुसार भावका भी वैचित्र्य होनेसे ऊपर लिखित राग किन किन भावोंमे भक्तके द्वारा विकाशको प्राप्त होता है, सो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

भावमय दृश्यसंसार चतुर्दशधा विभक्त होनेसे भावमूलक भक्तिरस भी चतुर्दश प्रकारके होते हैं। प्रकृतिकी स्वाभाविक विचित्रता चतुर्दश प्रकारसे ही प्रकट होती है। इसलिये भक्तिराज्यके जीवोंमें स्वभावतः ही चतुर्दश प्रकारके भक्तिभाव देखनेमें आते हैं, यथा—

हास्य आदि रस गौण हैं और दास्य, सख्य आदि रस मुख्य हैं। इन दोनों प्रकारके रसोंके द्वारा उन्नतिलाभके विषयमे लिखा है, कि—

दास्यादि मुख्य रसोंके द्वारा ही पराभक्ति लाभ हुआ करती है, परन्तु उन्नति मुख्य गौण सभी रसोंके द्वारा होती है। श्रीभगवान् रसरूप होनेसे उनकी ही सत्तासे विकाशप्राप्त मुख्य तथा गौण सकल रसोंके भीतर उनकी आनन्दसत्ता विद्यमान है। इसलिये सकल रसोंके द्वारा ही उन्नतिलाभ हुआ करता है। केवल दोनोंमें भेद इतना ही है कि, हास्य, वीभत्स आदि गौण

रसोंके साथ वहिर्विषयोंका सम्बन्ध रहनेसे तथा उनके आधारके मलिन श्रृंगारमय होनेसे गौण रसके द्वारा अद्वैतभावमय निर्विकल्पसमाधिप्रद परा-भक्तिलाभ नहीं हुआ करता है, उनके द्वारा भक्तिराज्यमें उन्नति और अन्तमें सालोक्य मुक्ति प्राप्त हो सकती है। परन्तु दास्यासक्ति, सख्य सक्ति, कान्तासक्ति आदि सप्त मुख्य रसोंका फल इस प्रकारका नहीं है। क्योंकि इन रसोंके आधार शुद्धश्रृंगारमय होनेसे तथा इनके साथ वहिर्विषयोंका सम्बन्ध नहीं रहनेसे इनके द्वारा साक्षात्रूपसे पराभक्तिलाभ हुआ करता है। अब नीचे गौण तथा मुख्य दोनों रसोंके ही विविध भावोंका वर्णन किया जाता है। गौण रसके सात भाव हैं यथा—हास्य, वीर, करुण, अद्भुत, भयानक, वीभत्स और रौद्र। भक्त अपनी प्रकृतिके अनुसार कहीं वीर भावसे, कहीं करुण भावसे, कहीं रौद्र भावसे और कहीं हास्य आदि रसके साथ श्रीभगवान्‌में अपने चित्तको लवलीन करता है, जिसके परिणाममें तन्मयता उत्पन्न होकर भक्तको भक्तिराज्यमें उन्नतिलाभ हुआ करता है। कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें श्रीभगवान्‌का प्रतिज्ञाभंग कराकर उनके भक्तवत्सल नामको जगज्जनोंके सामने प्रकट कर देनेके लिये भीष्मपितामहका जो कृष्णसखा अर्जुनके साथ घोर संग्रामका भाव था, जिस भावके अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णको अपनी प्रतिज्ञा तकको भङ्ग करना पड़ा था वह भाव वीररसका एक अति मधुर दृष्टान्त है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके ब्रजधाममें रहते समय जिस भावके द्वारा गोपबालकगण उनसे मिलते और हँसते खेलते थे वह भाव हास्यरसका है। इन सब भावोंके अन्यान्य अनेक दृष्टान्त भक्तिशास्त्रमें पाये जाते हैं, यथा—

> भृङ्गारी राधिकायां सखिषु सकरुणः क्ष्वेडदग्धेष्वघाहे
> वीभत्सी तस्य गर्भे व्रजकुलतनयाचैलचौर्ये प्रहासी।
> वीरी दैत्येषु रौद्री कुपितवति तुरासाहि हैयङ्गवीन-
> स्तेये भीमान् विचित्री निजमहसि शमीदामवन्धे स जीयात्॥
> भैष्मीराधादिरूपेषु शृङ्गारः परमोज्ज्वलः।
> भीष्मो वीरे दशरथः करुणे स्थितिमाप्तवान्॥
> वल्यर्ज्जुनयशोदानां विश्वरूपस्य दर्शने।
> अत्यद्भुतरसास्वादः कृष्णानुग्रहतो भवेत्॥

गोपालबाला हासस्य श्रीदामोद्वहनादिषु ।
एवमन्यत्र भीत्यादित्रितयेऽपि विचिन्त्यताम् ॥

इन सब श्लोकोंके द्वारा गौणरसके विविध दृष्टान्त बताये गये हैं। यथा—राधिकामें श्रृङ्गार रस, सखियोंमें करुण रस, अघासुर बकासुरके मारनेमें बीभत्स रस, गोपियोंके वस्त्रहरणमे हास्य, दैत्योंमें वीर रस, इन्द्रके रुष्ट होनेमें रौद्र रस, माखनचोरीमे विचित्र रस, भीष्ममे वीर रस, बलि अर्जुन तथा यशोदाके विश्वरूपदर्शनमें अद्भुत रस, गोपाल बालकोंमें हास्य रस इत्यादि सभी गौण रसके दृष्टान्त हैं। इन सब रसोंके गौण होनेपर भी इनके द्वारा उन्नति तथा सालोक्यादि मुक्ति किस प्रकारसे होती है इसके उत्तरमें श्रीमद्भागवतमें कहा है :—

उक्तं पुरस्तादेतत् ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः ।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे ।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते ॥

जिस प्रकार श्रीभगवान्‌के प्रति द्वेषबुद्धिसे आसक्त होनेपर भी चेदिराज शिशुपालकी मुक्ति हो गई थी उसी प्रकार गौण रसके साधनसे भक्तोंको मुक्ति मिलती है। श्रीभगवान्‌के प्रति काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य या सौहृद्य आदि किसी भावके द्वारा भी अनुरक्त होनेसे श्रीभगवान्‌की लोकोत्तर शक्तिके बलसे उसी भावमें ही भक्तको तन्मयता प्राप्ति हो जाती है। और भगवद्भावमें तन्मयता प्राप्ति होकर मृत्यु होनेसे भगवल्लोक प्राप्ति अवश्य ही होती है। क्योंकि गीताजीमे लिखा है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

जिस भावको स्मरण करके भक्त प्राणको छोड़ता है, परलोकमे उसीके अनुसार गति मिलती है। अतः किसी भी गौणरसके अवलम्बनसे इष्टदेवमें

तन्मय होकर शरीर त्याग होनेसे उन्नति और सालोक्यादि मुक्ति प्राप्त अवश्य ही होगी, इसमें सन्देह ही क्या है ? यही हास्य, करुण आदि सप्त गौण रसका स्वरूप और फल है । अब रागात्मिका भक्तिके अन्तर्गत सप्त मुख्यरसोंका वर्णन किया जाता है । उनके नाम यथा--दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति, गुणकीर्त्तनासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति और तन्मयासक्ति । श्रीभगवान्‌के प्रति मधुर रागका विकाश होनेसे भक्त निज निज प्रकृतिके अनुसार कहीं दास भावसे, कहीं सखा भावसे, कहीं कान्ता आदि भावसे उनके साथ प्रेम करते हैं और इन सब प्रीतियोंके साथ लौकिक भावका नाममात्र भी न होनेसे इस प्रकार प्रेमप्रवाहमें अवगाहन करके भक्तहृदय भावग्राही भगवान्‌के उदार आनन्दमय भावमें तन्मयता प्राप्त हो जाता है और तदनन्तर तन्मयभावकी परिपाकदशामें निर्विकल्पसमाधिका उदय होकर सर्वत्र वासुदेवात्मक अद्वैत ब्रह्ममय जगत्‌का दर्शन होता है । यही शुद्धरागका लक्ष्य और चरम फल है । अब नीचे संक्षेपसे प्रत्येक भावका स्वरूप और परिणाम बताया जाता है । रागात्मिका भक्तिके दासभावमें प्रभुभक्त दासकी तरह भक्त अपने शरीर, मन, प्राण और आत्माके द्वारा श्रीभगवान् और उनके विराट्रूप संसारकी सेवा करता है। इसी प्रकार सख्यभावमें सखारूपसे, वात्सल्यभावमें सन्तानरूपसे और कान्ताभावमें पतिरूपसे श्रीभगवान्‌के साथ भक्त प्रेम करता है । गुणकीर्त्तन भावमें गुणगानमें ही भक्त मग्न रहता है और आत्मनिवेदनासक्तिमें भक्त भगवान्‌में अपने आत्माको निवेदनकर परम प्रेमका आस्वादन करता है। इस विषयमें गीतामें लिखा है, यथा—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

जो मेरे भक्त समस्त कर्म मुझमें ही समर्पण करके मत्परायण होकर अनन्यभावसे ध्यानयोगके द्वारा मेरी उपासना करते हैं, भगवद्भावनिमग्नहृदय

उन भक्तोंको मैं शीघ्र ही संसारसिन्धुके पार कर देता हूं। मदेकचित्त, मद्भक्त, मेरेमे यजनशील और प्रणामपर भक्त अवश्य मुझे प्राप्त करते है। आत्मनिवेदनासक्तिके द्वारा ऊपर लिखित सभी भावोंके उदय होनेसे भक्त शीघ्र ही आत्मरूप तथा आत्मरति होकर श्रेष्ठभक्तकी पदवीको प्राप्त कर लेते हैं। सर्वस्व समर्पण होनेसे जीवभावसुलभ अहङ्कार उनका आमूल उन्मूलित हो जाता है और भक्तहृदय अनन्त भगवान्‌के अनन्तामृतमय प्रेममे निमग्न होकर पराभक्तिके परमानन्दमय पदमें सम्यक् प्रतिष्ठित हो जाता है। यही आत्मनिवेदनासक्तिका मधुर लक्षण तथा अलौकिक परिणाम है।

अनुरागके अन्तिमभावका नाम तन्मयासक्ति है। दास्य, सख्य आदि भावोंके परिपाकमें जिस समय भक्त भगवान्‌के चरणकमलोंका ध्यान करते करते उन्हींमें अपने अन्तःकरणको लय करके श्रीभगवान्‌के साथ अभिन्न भावसे उन्हीमे तन्मय होकर प्रेम करते हैं तभी वह अनुराग तन्मयासक्ति कहलाती है। यह आसक्ति अनुरागका चरमभाव और रागात्मिका तथा पराभक्तिका सन्धिरूप है। इस भावके उदय होनेसे भावपयोधिनिमग्न और आत्मसत्ताकी पृथक्ताको विस्मृत होकर कभी भक्त अपनेको ही प्रणाम करते हैं और कभी अपनी स्थितिका अनुभव करके श्रीभगवान्‌को प्रणाम करते हैं, यथा योगवासिष्ठमे :—

नमस्तुभ्यं परेशाय नमो मह्यं शिवाय च।
प्रत्यक्चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमो नमः॥
मह्यं तुभ्यमनन्ताय मह्यन्तुभ्यं शिवात्मने।
नमो देवादिदेवाय पराय परमात्मने॥

हे परमपुरुष परमात्मन्! तुम्हे नमस्कार और प्रत्यक् चैतन्यरूप मुझको भी नमस्कार। अनन्तशिवरूप देवादिदेव मुझको और तुमको नमस्कार। इस प्रकारसे तन्मय होकर भक्त अपनेको और परमात्माको नमस्कार करते रहते है और भावनिमग्न हो आत्मरूप हो जाते है, यथा श्रीमद्भागवतमें :—

भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र-
मानन्दवाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः।
विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो।
नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः॥

श्रीभगवान्‌के प्रति भक्तिप्रवाहको प्रवाहित करके अजस्रानन्दपूर्णहृदय तथा पुलकिताङ्ग होकर भक्त अपनी पृथक् सत्ताको भूल जाते हैं और यही मुक्तिप्रद तन्मयभावका लक्षण है। इस भावका लक्षण मुकुन्दप्रिया गोपियोंके चरित्रमें कभी कभी देखनेमें आता था। श्रीभगवान्‌ने भी निज मुखसे कहा है:—

ता मा विदन् मय्यनुपङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मनमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥

मेरे प्रेममें समासक्तचित्त होकर गोपियां अपनेको, परिजनोंको और इहलोक परलोकको भी भूल जाया करती थीं। जिस प्रकार मुनिगण समाधिमें निमग्न होकर अपनी पृथक्सत्ता विस्मृत हो जाते हैं और नदियां भी समुद्रमें विलीन होकर नामरूपसे च्युत हो जाया करती हैं। यही सब भाव तन्मयासक्तिका ही दृष्टान्तरूप है। जैसे कान्तासक्तिकी अधिकारिणी व्रजगोपिकाओंमें कभी कभी इस प्रकारकी तन्मयासक्तिका भाव प्रकट हुआ था, उसी प्रकार अन्यान्य आसक्तियोंके अधिकारी भक्तोंमें भी समय समयपर यह सर्वोच्च भाव प्रकाशित होकर भक्तको पराभक्तिके अधिकारकी ओर अग्रसर करता है। यह अधिकार इतना उच्च है कि, इसके दृष्टान्तके लिये हरिमें हर और हरमें हरिकी तन्मयासक्तिके उदाहरणके अतिरिक्त और कोई उदाहरण नहीं दिया जा सकता। हरि हरमें और हर हरिमें अभिन्नरूपसे एकप्राणताके साथ जो निशिदिन रत रहते हैं यह उन दोनोंमें तन्मयभावका ही लक्षण है, यथा देवीभागवतमें:—

शृणु कान्ते प्रवक्ष्यामि यं ध्यायामि सुरोत्तमम्।
आशुतोषं महेशानं गिरिजावल्लभं हृदि॥
कदाचिद्देवदेवो मां ध्यायत्यमितविक्रमः।
ध्यायाम्यहं च देवेशं शङ्करं त्रिपुरान्तकम्॥
शिवस्याहं प्रियः प्राणः शङ्करस्तु तथा मम।
उभयोरन्तरं नास्ति मिथः संसक्तचेतसोः॥

हरि कह रहे है "मैं निशिदिन अपने हृदयमें आशुतोष गिरिजावल्लभ देवाधिदेव हरका ध्यान करता हूँ। कभी देवदेव महादेव मेरा ध्यान करते रहते हैं

और कभी मैं भी त्रिपुरान्तक शूलपाणिका ध्यान करता रहता हूँ। मैं शिवका प्राण हूँ और शङ्कर भी मेरे प्राण है, तन्मयभावमें अन्योन्यासक्त हम दोनोंमें कोई भी भेद नहीं है। यही तन्मयासक्तिका अपूर्व तथा अलौकिक दृष्टान्त है।

इस प्रकार श्रीभगवान्‌में प्रेमासक्तिकी पूर्णता होनेसे भक्तान्तःकरणों मेंसे धीरे धीरे ध्याताध्यानध्येयरूपी त्रिपुटिका नाश हो जाता है और तदनन्तर भक्त भगवद्रूप होकर सर्वत्र विराजमान अपरिच्छिन्न आनन्दमय सच्चिदानन्द सत्ताकी उपलब्धि करनेमें समर्थ हो जाता है। यही अवस्था पराभक्ति की है, यथा—

"स्वरूपद्योतकत्वात्पूर्णानन्ददा परा"

आनन्दमय परमात्माके अखण्ड स्वरूपके प्रकाशक होनेके कारण पराभक्ति पूर्ण आनन्दप्रदा है:—

"रसस्वरूप एवायं भवति भावनिमज्जनात्"

भावसमुद्रमें निमग्न होकर भक्त रसरूप अर्थात् आनन्दमय भगवान्‌के साथ तद्रूपताको प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकारसे सुखदुःखातीत द्वन्द्वातीत और गुणातीत भक्त मायारहित परब्रह्मस्वरूपमें परमा स्थितिको प्राप्त हो जाते हैं। उनके आत्माका देह, मन आदिके साथ कुछ भी अभिमान या अध्यास अवशेष नहीं रह जाता है। वे ब्रह्मरूप ही बन जाते हैं। यही रागात्मिका भक्तिके अन्तमें पराभक्तिप्राप्त सिद्ध भक्तके आनन्दमय सच्चिदानन्द स्वरूपमें अवस्थिति और भक्तिसाधनका चरम फल है। इस दशामें भक्त निर्विकल्प समाधिमें स्थित होकर अलौकिक सुखदुःखरहित परमानन्दका उपभोग करते हैं, यथा उपनिषद्‌मे—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

समाधिके द्वारा निर्मल अन्तःकरण आत्मामें विलीन होकर जो परमानन्दका उपभोग करता है उसका वर्णन वाक्यके द्वारा नहीं हो सकता है, केवल स्वान्तःकरणमें ही उसकी एकान्त अनुभूति होती है। और भी गीतोपनिषद्‌में—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

पराभक्ति दशामें स्वरूपस्थित होकर भक्त जिस आनन्दकी उपलब्धि करते हैं वह आत्यन्तिक अर्थात् दुःखलेशविहीन नित्यानन्द है, जो इन्द्रियोंसे अतीत और सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा ही अनुभव योग्य है। इस आनन्दपर प्रतिष्ठित होनेसे महात्मा पुरुष कभी किसी समय अपनी तात्त्विक स्थितिसे विचलित नही होते, प्रारब्धजनित गुरुतर कष्ट आनेपर भी उनके अन्तःकरण पर उसका कोई भी प्रभाव नही होता, और उस परम वस्तुको प्राप्त करके अन्य किसी वस्तुको उससे अधिक स्पृहणीय नही समझते। उस समय उनकी दृष्टि कैसी होती है ? इसके उत्तरमें श्रीभगवान्ने कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

सर्वत्र अद्वितीयदर्शी योगयुक्तात्मा पूर्णभक्त परमात्माको सकल भूतोंमें और सकलभूतोंको परमात्मामें देखते हैं और आनन्दमय परमात्माको सर्वत्र देख कर सकल अवस्थामें ही समाधिका परमानन्द प्राप्त करते हैं।

इस प्रकारसे सच्चिदानन्दभावमें ज्ञानी भक्त जीवन्मुक्ति दशामें आत्मरति होकर प्रारब्धक्षय पर्यन्त संसारमें अवस्थान करते हैं। और तत्पश्चात् प्रारब्धावसानमें विदेहमुक्ति लाभ करते है। उस समय उनकी प्रकृति विराट् प्रकृतिमें और उनकी आत्मा व्यापक परमात्मामें मिलकर एक हो जाती है, यथा—उपनिषद्में—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

जिस प्रकार समुद्रवाहिनी नदी नामरूपसे च्युत होकर समुद्रमें मिल जाती है, उसकी पृथक् सत्ता नही रहती है उसी प्रकार ज्ञानी भक्त प्रकृतिजनित नाम और रूपको त्यागकर विदेहमुक्ति दशामें परात्पर परब्रह्ममें अपनी पृथक्

सत्ताको भूलकर विलीन हो जाते हैं। उनके लिये संसारमें जन्ममरणचक्र सदाके लिये बन्द हो जाता है। अनन्त दुःखमय संसारमें पुनः उनको आना नहीं पडता है। यही सकल साधनाका लक्ष्य और भक्तिमार्गका चरम परिणाम है।

उपासना काण्डके निम्न अधिकारसे लेकर उच्चतम अधिकार तक भक्ति किस प्रकारसे परमावश्यकीय है, किस प्रकारसे भक्तिके बिना उपासनाका कोई अङ्ग भी पूर्णरीत्या साधित नहीं हो सकता है और बिना प्राणके जिस प्रकार शरीर नहीं रह सकता है उसी प्रकार बिना भक्तिके उपासना बन ही नहीं सकती, ये सब भली भांति ऊपर दिखा चुके हैं। अब उपासनाके शरीररूप योगका वर्णन किया जाता है। शरीरके बिना जिस प्रकार शरीरी आत्माका भोग असम्भव है उसी प्रकार योगकी शैलीके बिना उपासनाका कोई साधन बन ही नहीं सकता है इसी कारण योगको उपासनाका शरीर कहा है। आवरण, विक्षेप आदि भावोंसे अन्तःकरण युक्त रहनेसे परमात्माका स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता है इस कारण सर्वव्यापी परमात्मा जीवके अन्तःकरणमें विराजमान रहनेपर भी उससे दूर हो जाते हैं अथवा यह कहिये कि, अन्तःकरणरूप जलाशय सदसद्वृत्तियोंसे तरङ्गायित और आलोडित रहनेके कारण परमात्मारूपी सूर्यका यथार्थ स्वरूप उस जलाशयमें दिखाई नहीं पड़ता। जब साधककी सुकौशल क्रिया द्वारा उस जलाशयरूपी अन्तःकरणका वृत्तिरूपी तरङ्ग एकबार ही शान्त हो जाता है तभी सूर्य, प्रतिबिम्ब अथवा अपना मुंह-दर्शक उसमे देख सकता है। अतः योगशास्त्रमें कहा है—

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"

"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"

चित्तवृत्ति निरोधके सुकौशलपूर्ण क्रियाओंको योग कहते हैं। योगक्रिया द्वारा क्रमशः अन्तःकरणकी वृत्तियां शान्त होती होती जब एकबार ही शान्त हो जाती हैं उस अवस्थाका नाम योगयुक्त अवस्था है। उसी अवस्थामे द्रष्टा अर्थात् परमात्मा अपने यथार्थ स्वरूपमें प्रकट हो जाते है, हम यह दिखा चुके हैं कि, चित्तवृत्तियोंके चाञ्चल्यके कारण सर्वव्यापक तथा जीव-हृदयविहारी परमात्मा जीवके हृदयसे छिप जाते है, यही उनका जीवसे दूर हट जाना है। जिन जिन साधनोंसे इस प्रकारसे दूर हटे हुए परमात्मासे अनाथ हुआ जीव

उनके निकट होकर सनाथ हो जाता है उसीको उपासना कहते हैं, अर्थात् उप—समीप, आस्यते—प्राप्त होता है, अनया—इस साधनके द्वारा, इति उपासना। अतः जिन जिन क्रियाओंके अवलम्बनसे परमात्माके निकट होनेमें जीव समर्थ होता है, उन्हीको उपासना कहते है और जब चित्तवृत्तिनिरोध होते होते चित्तवृत्तिनिरोधकी पूर्णावस्थामें परमात्मा अन्तःकरणमें प्रकट होकर जीवके निकटस्थ हो जाते है तो यह मानना ही पडेगा कि, उपासनायज्ञमें सर्वथा सर्वरूपसे सहायक योग उपासनाका शरीर रूप है।

योगमार्गके आठ सोपानरूप आठ अङ्गोंमेंसे चार बहिरङ्ग और चार अन्तरंग कहाते है। यम, नियम, आसन और प्राणायाम ये चार बहिरंग हैं और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये चार अन्तरग है। बहिरङ्ग और अन्तरंगको मिलानेवाला प्रत्याहार अग है। जीव बहिरिन्द्रिय और अन्तरिन्द्रियमें फँस कर बद्ध रहता है, इस कारण बहिरिन्द्रिय और अन्तरिन्द्रियसे वीतराग करानेके जो अभ्यास है उनको यथाक्रम यम और नियम कहते हैं। इन दोनोंकी क्रियाशैली विभिन्न आचार्योंके मतानुसार विभिन्न प्रकारकी है। इस प्रकारसे यम और नियमके साधनोंसे उपासनाकाण्डका साधक योगसाधनका अधिकारी बनता है। और तृतीय सोपानमें वह अपने शरीरको योगके उपयोगी करता है। चाञ्चल्यसे बंधन और धैर्य्यसे मुक्ति होती है, अतः शरीरको धैर्य्ययुक्त करनेकी जो शैली है उसको आसन कहते हैं। शरीरको धैर्य्ययुक्त करनेके अनन्तर प्राणको धैर्य्ययुक्त करनेकी जो शैली है उसे प्राणायाम कहते है। प्राणायाम चतुर्थ अंग है। प्राणायाम अंगके साधनके अनन्तर साधकको योगके अंतरंग साधनका अधिकार प्राप्त होता है, क्योंकि, मन और वायु दोनों कारण और कार्यरूपसे एक ही है। प्रत्याहारसाधनके द्वारा साधक अपनी बहिर्दृष्टिको बहिर्जगत्से हटाकर अन्तर्जगत्में ले जाता है। कच्छप जिस प्रकार अपने अङ्गोंको समेट लेता है उसी प्रकार प्रत्याहाररूपी पञ्चम अङ्गके साधनसे उन्नत साधक बहिर्विषयसे अपनी विषयवती प्रवृत्तिको अन्तर् राज्यमें खीचकर बहिर्जगत्से अन्तर्जगत्में पहुंच जाता है। यही योगका पञ्चम अङ्ग है। अन्तर्जगत्में पहुंच कर सूक्ष्म अन्तर्राज्यके किसी विभागको अवलम्बन करके अन्तर्राज्यमें ठहरे रहनेको ही धारणा कहते हैं। इस प्रकारसे षष्ठ अङ्गरूपी धारणा साधन द्वारा योगी जब अन्तर्राज्यको जय कर लेता है तब बहिर् और अन्तर्राज्यके

द्रष्टा परमात्माके सगुण अथवा निर्गुण रूपके ध्यान करनेकी शक्ति योगीको प्राप्त होती है । उस समय ध्याता, ध्यान, और ध्येयरूपी त्रिपुटीके सिवाय और कुछ नहीं रहता है। यही योगका सप्तम अङ्ग है। तत्पश्चात् ध्याताध्यानध्येयरूपी त्रिपुटीका जब विलय हो जाता है और ध्याता ध्यानमें मिलकर दोनों ध्येयमें लय हो जाते हैं उसी द्वैतभाव रहित वृत्तिनिरोधकी अन्तिम अवस्थाको समाधि कहते हैं। यही योगका अष्टम अङ्ग है। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चारों योगोंकी जो क्रियाशैली पूज्यपाद महर्षियोंने कही है, वे सब इन्हीं आठ अङ्गोंकी सहायतासे निर्णीत हुई हैं । भेद इतना ही है कि, किसीमें किसी अङ्गका विस्तार है और किसीमें किसी अङ्गका संकोच है । अब नीचे इन्हीं चार योगोके विषयमें कुछ विस्तारित वर्णन किया जाता है।

(मन्त्रयोग)।

चित्तवृत्तिका निरोध करके आत्मसाक्षात्कार तथा श्रीभगवान्का सान्निध्य लाभ करनेके लिये जितनी साधनप्रणालियाँ हो सकती हैं, उन सबोको चार भागोंमें विभक्त किया गया है। यथा योगतत्त्वोपनिषद्में:—

योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः ।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः ॥

योगके क्रियासिद्धांश चार भागोंमे विभक्त होते है यथाः—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग तथा राजयोग। इन चारोंमेसे अधिकारविचारानुसार मन्त्रयोग प्रथम है। पहिले ही बताया गया है कि, अतिसूक्ष्म इन्द्रियातीत परम तत्त्वको प्राप्त करनेके लिये प्रकृतिपरायण मानवचित्त एकाएक अधिकारयुक्त नहीं हो सकता है। इसलिये मन्त्रयोग, हठयोग और लययोग साधनद्वारा धीरे धीरे स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर चित्तवृत्तिको नियोजित करके अन्तमे राजयोगसाधनद्वारा अद्वितीय निराकार देशकालापरिच्छिन्न परब्रह्मसत्तामे जीवात्माको विलीन किया जाता है। यही अधिकार भेदानुसार चारों योगोंका साधनक्रम है, जो क्रमशः नीचे बताया जाता है।

महर्षि नारद, पुलस्त्य, गर्ग, वाल्मीकि, भृगु, बृहस्पति आदि मुनिगण मन्त्रयोगके आचार्य हुए हैं। उनका सिद्धान्त यह है कि, समस्त दृश्यजगत्

भावका ही विकाशमात्र है। प्रलयावस्थाके अनन्तर प्रकृतिके गर्भमें स्थित जीवोंका संस्कार जब सृष्टिके अनुकूल होता है उसी समय परमात्माके अन्तःकरणमें—

"एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय"

मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ, प्रजाओंकी सृष्टि करूं, इस प्रकारका भाव स्वतः ही उत्पन्न होता है और इसी भावका परिणाम नामरूपात्मक यह दृश्य संसार है। दृश्य संसारके नामरूपात्मक होनेका कारण यह है कि प्रत्येक भाव ही नाम तथा रूपके द्वारा संसारमें प्रकट होता है। जिस किसीके चित्तमें जो भाव हो, वह उसीके अनुसार शब्द द्वारा तथा रूपकल्पना द्वारा उसी दृश्यभावको प्रकट करता है। प्रेमका भाव प्रेममूलक शब्द तथा प्रेममयी मूर्तिके द्वारा संसारमें प्रकट होता है। वीरताका भाव वीरताव्यंजक शब्द तथा वीररूपके द्वारा प्रकट होता है, इत्यादि इत्यादि व्यष्टिभावके विचार द्वारा यह सिद्धान्त निश्चय होता है कि, जिस प्रकार व्यष्टि जगत्में प्रत्येक भावका प्रकाश नाम और रूपके द्वारा देखा जाता है, उसी प्रकार समष्टि सृष्टिमें भी परमात्माके चित्तका सृष्टिके लिये इच्छारूपी भाव नामरूपात्मक जगत्‌रूपसे प्रकट होता है।

अतः सिद्धान्त हुआ कि परमात्मासे भाव, भावसे नामरूप और उसका विकार तथा विलासमय यह संसार है। इसलिये जिस क्रमके अनुसार सृष्टि हुई है, उसके विपरीत मार्गसे ही लय होगा, यह निश्चय है। अर्थात् परमात्मासे भाव, भावसे नामरूप द्वारा जब सृष्टि हुई है जिससे समस्त जीव संसारबन्धनमें आगये है, तो यदि मुक्ति लाभ करना हो तो प्रथम नामरूपका आश्रय लेकर, नामरूपसे भावमें और भावसे भावग्राही परमात्मामें चित्तवृत्तिका लय होने पर तब मुक्ति होगी। इसलिये नारदादि महर्षियोंने नाम और रूपके अवलम्बनसे साधनकी विधियाँ बताई है, जिसका नाम मन्त्रयोग है। तथा योगशास्त्रमें:—

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात् ।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः ॥
तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते ।
उत्तिष्ठति जनः सर्वोऽध्यक्षेणैतत्समीक्ष्यते ॥
नामरूपात्मकैर्भावैर्बध्यन्ते निखिला जनाः ।

अविद्याग्रसिताश्चैव तादृक् प्रकृतिवैभवात् ॥
आत्मनः सूक्ष्मप्रकृतिं प्रवृत्तिं चाऽनुसृत्य वै ।
नामरूपात्मनोः शब्दभावयोरवलम्बनात् ।
यो योगः साध्यते सोऽयं मन्त्रयोगः प्रकीर्तितः ॥

सृष्टि नामरूपात्मक होनेके कारण नामरूपके अवलम्बनसे ही साधक सृष्टिके बन्धनसे अतीत होकर मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। जिस भूमिपर मनुष्य गिरता है उसी भूमिके अवलम्बनसे पुनः उठ सकता है। नामरूपात्मक विषय जीवको बन्धनयुक्त करते हैं, नामरूपात्मक प्रकृति-वैभव जीवको अविद्यासे ग्रास किये रहते हैं, अतः अपनी अपनी सूक्ष्म प्रकृति और प्रवृत्तिकी गतिके अनुसार नाममय शब्द तथा भावमय रूपके अवलम्बनसे जो योगसाधन किया जाय उसको मन्त्रयोग कहते हैं। दिव्यनाम मन्त्र और दिव्यरूप प्रतिमाके विषयमे पूर्व अध्यायमें बहुत कुछ कहा जा चुका है। अब मन्त्रयोगके १६ अङ्गोका संक्षेपसे वर्णन किया जाता है।

भवन्ति मन्त्रयोगस्य षोडशाङ्गानि निश्चितम् ।
यथा सुधांशोर्जायन्ते कलाः षोडश शोभनाः ॥
भक्तिः शुद्धिश्चासनं च पञ्चाङ्गस्यापि सेवनम् ।
आचारधारणे दिव्यदेशसेवनमित्यपि ॥
प्राणक्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं बलिः ।
यागो जपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडश ॥

चन्द्रकी सोलह कलाओंकी तरह मन्त्रयोग भी सोलह अङ्गोसे पूर्ण है। ये सोलह अङ्ग इस प्रकार हैं—भक्ति, शुद्धि, आसन, पञ्चाङ्गसेवन, आचार, धारणा, दिव्यदेशसेवन, प्राणक्रिया, मुद्रा, तर्पण, हवन, बलि, याग, जप, ध्यान और समाधि। नीचे संक्षेपसे प्रत्येक अङ्गका रहस्य वर्णन किया जाता है।

(१) भक्ति—भक्तिके तीन भेद हैं, यथा वैधी, रागात्मिका तथा परा। इन तीनोंका पूर्ण रहस्य पहिले ही बताया गया है। भक्त त्रिगुण भेदसे त्रिविध होते हैं, यथा—आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और चतुर्थ ज्ञानी, जो त्रिगुणातीत हैं। श्रीभगवान्ने गीतामें भी लिखा है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥

ज्ञानी भक्त ही पराभक्तिका अधिकारी हो सकता है । त्रिगुणभेदसे उपासक तीन प्रकारके होते हैं । ब्रह्मोपासक सबमें श्रेष्ठ है । ब्रह्मबुद्धिसे सगुणोपासक और ब्रह्मबुद्धिसे अवतारोपासक इसी श्रेणीमें हैं । सकामबुद्धिसे ऋषि, देवता तथा पितरोंकी उपासना करनेवाले द्वितीय श्रेणीके हैं । और क्षुद्र शक्तियोंकी उपासना करने वाले तृतीय श्रेणीके हैं । उपदेवता, प्रेतादिकी उपासना इसी निम्नश्रेणीमें समझी जाती है ।

(२) शुद्धि—शुद्धिके शरीर, मन, दिक् तथा स्थान भेदसे चार भेद हैं । वे ही स्थानशुद्धि, दिक्शुद्धि, वाक्शुद्धि और आभ्यन्तर शुद्धि कहे जाते हैं ।

दिक्शुद्धि—

आसीनः प्राङ्मुखो नित्यं जपं कुर्याद् यथाविधिः ।
रात्रावुदङ्मुखः कुर्याद्दैवकार्यं सदैव हि ॥
दिक् शुद्ध्या साधकः सिद्धिं साधने लभतेऽञ्जसा ।
मनश्च वश्यतां यातीत्यतः कार्या प्रयत्नतः ॥

पूर्वमुख अथवा उत्तरमुख बैठकर नित्य यथाविधि जप करें और रात्रिको उत्तर मुख बैठकर देवकार्य सदा करें । दिक्शुद्धि द्वारा साधकको साधनमें सिद्धिकी प्राप्ति होती है और साधकका मन वशीभूत होता है । अतः दिक्शुद्धिका विचार रखना चाहिये ।

कायशुद्धि—

साधन क्रियाके अर्थ मनुष्यको स्नान कार्य्य सबसे प्रथम करना चाहिये । शास्त्रमें सात प्रकारका स्नान कहा है—

मान्त्र, भौम, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण तथा मानस—स्नानके सात भेद हैं । 'आपोहिष्ठा' आदि मन्त्र और जल आदि से जो स्नान किया जाता है उसको मान्त्रस्नान कहते हैं । शरीरको वस्त्रसे भली प्रकार पोछनेको भौमस्नान कहते है । भस्मधारण करनेसे आग्नेयस्नान कहते हैं । गोरजको शरीरपर लेपन अथवा शरीरमें उसका स्पर्श वायव्यस्नान है । वर्षा होते समय यदि सूर्यका आतप हो तो उस समय वृष्टिजलमें स्नान करनेसे दिव्यस्नान कहाता है और

अनन्तसूर्य्यके समान प्रभायुक्त, चतुर्भुज सत्त्वगुणमयभगवान्‌के रूपका ध्यान ही मानसस्नान है। इस प्रकार वाह्यशुद्धि द्वारा आत्मप्रसाद तथा इष्टदेवकी कृपा उपलब्ध होती है।

स्थानशुद्धि—

गोमयेन यथा स्थानं कायो गंगोदकेन च।
पञ्चशाखायुतो देशस्तथा सिद्धिप्रदायकः॥
गोशाला वै गुरोर्गेहं देवायतनकाननम्।
पुण्यक्षेत्रं नदीतीरं सदा पूतं प्रकीर्त्तितम्॥

जिस प्रकार गङ्गाजलसे शरीरकी शुद्धि होती है और गोमयसे स्थानकी शुद्धि होती है उसी प्रकार पंचशाखायुक्त स्थान अर्थात् अश्वत्थ, वट, विल्व, आमलकी तथा अशोक यह पञ्चवृक्षयुक्त पञ्चवटीके नीचेका स्थान सिद्धियोंका देनेवाला है। गोशाला, गुरुगृह, देवमन्दिर, वनस्थान, तीर्थादि पुण्यक्षेत्र और नदीतीर ये सदा ही पवित्र समझे जाते हैं। स्थानशुद्धिके द्वारा पवित्रता तथा पुण्यवृद्धि होती है।

अन्तःशुद्धि—

अभय, सत्त्वसंशुद्धि, ज्ञानयोग, निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति आदि जो गीताजीमें दैवीसम्पत्तिके लक्षण कहे गये हैं उनके अवलम्बन द्वारा अन्तःशुद्धि अर्थात् अन्तःकरण निर्मल हुआ करता है। गीतोक्त आसुरी-सम्पत्तिको छोड़कर दैवीसम्पत्तिका लाभ करना ही अन्तःशुद्धि है, जिसके द्वारा इष्टदेवका दर्शन और समाधिकी प्राप्ति होती है।

(२) आसन—मन्त्रयोगमे हितप्रद होनेके कारण प्रधानतः दो आसन लिये गये हैं। यथा-स्वस्तिक तथा पद्मासन। आसनभेद, आसनशुद्धि और आसनक्रिया इन तीनोंके द्वारा आसनसिद्धि होती है। सकाम निष्काम-विचार, उपासनापद्धति और कामनाके तारतम्यसे आसनभेद निर्णीत हुए हैं। पटवस्त्र, कम्बल, कुशासन, सिंहचर्म और मृगचर्मके आसन अतिशुद्ध कहाते हैं। ये सब ही सिद्धिफलके देनेवाले हैं। काम्यकर्मके अर्थ कम्बलासन श्रेष्ठ है, परन्तु रक्त कम्बलनिमित आसन ही सबसे उत्तम समझा जाता है। कृष्णाजिन

अर्थात् काले मृगके चर्मके आसनसे ज्ञानकी सिद्धि, व्याघ्रचर्मसे मोक्षकी सिद्धि, कुशासनसे आयुकी प्राप्ति और चैल अर्थात् रेशमके आसनसे व्याधिका नाश हुआ करता है। और प्रथम चैल, उसके नीचे अजिन और सबसे नीचे कुशासन इस प्रकार गीतोक्त—"चैलाजिनकुशोत्तरम्" के क्रमसे आसन निर्माणकरनेसे योगसाधनमें सिद्धिकी प्राप्ति होती है। पृथ्वीको आसन बनानेसे दुःखकी प्राप्ति, काष्ठासनसे दुर्भाग्यका उदय, वंशनिर्मित आसनसे दरिद्रता, पाषाणनिर्मित आसनसे व्याधिकी उत्पत्ति, तृणके आसनसे यशकी हानि, पल्लवके आसनसे चित्तविभ्रमकी प्राप्ति और वस्त्रनिर्मित आसनसे जप, ध्यान और तपकी हानि हुआ करती है, इस कारण ये सब आसन निषिद्ध हैं। सिंहचर्म, व्याघ्रचर्म और कृष्णसारचर्मपर गुरुदीक्षाविहीन गृहीको कदापि बैठना उचित नहीं है। ऐसे आसनोंपर गृहस्थगण केवल गुरुआज्ञा पानेसे ही बैठ सकते हैं। परन्तु स्नातक ब्रह्मचारिगणको इन आसनोंपर उदासीनके समान बैठना चाहिये। उचित आसनपर बैठकर 'पृथ्वी' इस मन्त्रके ऋषिका नाम उच्चारण पूर्वक, यथा—'मेरुपृष्ठ' आदि क्रमसे छन्द आदिका उच्चारण कर "आसने विनियोगः" इस मन्त्रके द्वारा आसनकी शुद्धि करके सुखपूर्वक जप पूजा आदि करनेसे सिद्धिकी प्राप्ति होती है और अन्यथा करने से साधनकार्य्य निष्फल हुआ करता है। इन सब विषयोंका प्रमाण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(४) पञ्चाङ्गसेवन—योगशास्त्रमें लिखा है—

गीतासहस्रनामानि स्तवः कवचमेव च।
हृदयं चेति पञ्चैते पञ्चाङ्गं प्रोच्यते बुधैः॥

गीता, सहस्रनाम, स्तव, कवच और हृदय इन्हें विद्वानोंने पञ्चाङ्ग कहा है। स्व स्व उपासना सम्प्रदायके अनुसार गीता और स्व स्व पद्धतिके अनुसार सहस्रनाम, स्तव, कवच और हृदयके प्रतिदिन पाठ करनेसे योगी कल्मषरहित होता हुआ योगसिद्धिको प्राप्त करता है। पञ्चोपासनाके अनुसार गीता पांच हैं—भगवद्गीता, गणेशगीता, भगवतीगीता, सूर्य्यगीता तथा शिवगीता। इसी प्रकार सहस्रनाम भी पृथक् पृथक् पांच है। और अनेक पद्धतियोंके अनुसार स्व स्व उपासनामूलक स्तव, कवच और हृदय अनेक है, सो साधकको गुरूपदेशद्वारा प्राप्त करने योग्य हैं। सब गीताओंमें जगज्जन्मादिकारणके विचारसे एक अद्वितीय ब्रह्मके विचित्र भावमय विज्ञानका वर्णन किया है, क्योंकि पञ्चोपासना ब्रह्मोपासना ही है।

(५) आचार—साधकोंके अर्थ त्रिविध आचारोंका वर्णन आचार्योंने किया है। यथा—दिव्य, दक्षिण और वाम। साधकके अधिकार सात कहे गये हैं। यथा—दीक्षा, महादीक्षा, पुरश्चरण, महापुरश्चरण, अभिषेक, महाभिषेक और तद्भाव। आचारोंके विषयमे विस्तृत वर्णन तंत्रग्रन्थोंमे द्रष्टव्य है।

(६) धारणा—बाह्य तथा आभ्यन्तरभेदसे धारणा दो प्रकारकी होती है। मंत्रयोगमें धारणा परम सहायक है। बहिः पदार्थोंमें मनके योगसे बहिर्धारणाका साधन और सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर्जगत्के विषयोंमें मनके योगसे अन्तर्धारणाका साधन होता है। धारणाकी सिद्धि श्रद्धा और योगमूलक है।

(७) दिव्यदेशसेवन—योगशास्त्र मे लिखा है:—

यथा गवां सर्वशरीरजं पयः
पयोधराग्निःसरतीह केवलम्।
तथा परात्माऽखिलगोऽपि शाश्वतो
विकाशमाप्नोति स दिव्यदेशकैः॥

जिस प्रकार गौके सर्वशरीरमें दुग्ध व्याप्त रहनेपर भी केवल स्तनद्वारा ही क्षरित होता है, उसी प्रकार परमात्माकी शक्ति सर्वव्यापक होनेपर भी उसका विकाश दिव्यदेशोंके द्वारा ही होता है। योगशास्त्रमें सोलह प्रकारके दिव्यदेश कहे गये हैं, यथा—

वह्नि, अम्बु, लिङ्ग, स्थण्डिल, कुडय, पट, मण्डल, विशिख, नित्ययन्त्र, भावयन्त्र, पीठ, विग्रह, विभूति, नाभि, हृदय तथा मूर्द्धा ये ही सोलह दिव्यदेश हैं। इन दिव्यदेशोंमें किस प्रकारसे भगवत्शक्तिका विकाश होता है, सो 'विग्रह' या प्रतिमारूप दिव्यदेशमें शक्तिविकाशके प्रसङ्गमें पूर्णरूपसे पहिले ही वर्णन किया गया है। साधकके अधिकारानुसार इन दिव्यदेशोंमें उपासना करनेका उपदेश उसको प्राप्त होता है। योगसिद्धि प्राप्त करनेमे ये सभी परम हितकर हैं। धारणाकी सहायतासे दिव्यदेशोंमें इष्टदेवताका आविर्भाव होता है। मृण्मय आदि मूर्त्तिमें प्रथम देवताका आवाहन करके पूजा आरम्भ करना उचित है, परन्तु प्रतिष्ठित देवविग्रह, सस्कृत अग्नि अथवा जलमें आवाहन और विसर्जनकी आवश्यकता नही रहती।

(८) प्राण क्रिया—मन, प्राण और वायु ये तीन एक सम्बन्धसे युक्त है।

वायु और प्राण, कार्य और कारणरूप हैं। इस कारण प्राणायाम क्रियाके साथ न्यास क्रियाका एकत्व-सम्बन्ध है। प्राणायामके विस्तारित भेद हठयोगके आचार्योंने वर्णन किये हैं जो आगे बताये जायेंगे। मन्त्रयोगमें सहित प्राणायाम ग्रहण किया गया है और सहज प्राणायामका भी उपदेश कोई कोई आचार्य करते हैं। न्यासके कई भेद हैं उनमेंसे सात प्रधान हैं, जो यथाधिकार गुरुदेवसे सीखने योग्य हैं। साधारण उपासनामें करन्यास और अङ्गन्यास ही उपयोगी होते हैं। विस्तारित उपासनामें ऋष्यादिन्यास तथा मातृकान्यास अवश्य करणीय हैं। इन सबोंके प्रमाण तथा विस्तृत वर्णन योगशास्त्रमे द्रष्टव्य है।

(९) मुद्रा—योगशास्त्रमें लिखा है:—

मोदनात्सर्वदेवानां द्रावणात्पापसन्ततेः।
तस्मान्मुद्रेति विख्याता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः॥

मुद्राओंके द्वारा देवताओंका आनन्दवर्द्धन होता है और साधकके पापोंका भी नाश होता है। इस कारण मुनियोंने इनकी मुद्रासंज्ञा की है। पूजन, जप, ध्यान, आवाहन आदि कार्योंमें उन कार्योंके लक्षणानुसार मुद्राओंका प्रदर्शन करना उचित है। आवाहन आदि नौ प्रकारकी मुद्रा सर्वसाधारणी मानी गई है। अन्यान्य देवदेवियोंके प्रीत्यर्थ अनेक मुद्राओंका वर्णन शास्त्रमें पाया जाता है। ज्ञानमुद्रा, भक्तिमुद्रा, तपोमुद्रा, कर्ममुद्रा, दानमुद्रा—इन सब मुद्राओंसे ऋषिगण प्रसन्न होते हैं। वरमुद्रा और अभयमुद्रा आदिसे ऋषि, देवता और पितर तथा लोकत्रयवासी प्रसन्न होते हैं।

(१०) तर्पण—योगशास्त्रमें वर्णन है, यथा:—

तर्पणाद्देवताप्रीतिस्त्वरितं जायते यतः।
अतस्तत्तर्पणं प्रोक्तं तर्पणत्वेन योगिभिः॥

देवतागण तर्पण द्वारा शीघ्र तृप्त होते हैं, इस कारण इसका नाम तर्पण है। तर्पण निष्काम तथा सकामभेदसे दो प्रकारका होता है। कामनाके अनुसार तर्पण करनेके द्रव्य भी स्वतन्त्र स्वतन्त्र होते हैं। तर्पण मन्त्रयोगका एक प्रधान अङ्ग है। इष्ट तर्पणके अनन्तर ऋषितर्पण, अन्य देवतर्पण और पितृतर्पण करनेकी विधि है। तर्पणकी विशेषता यह है कि, विधिपूर्वक तर्पण करनेसे देवयज्ञ, भूतयज्ञ और पितृयज्ञ करनेकी आवश्यकता ही नही रहती। अपने इष्टदेवको शीघ्र

प्रसन्न करनेकी इच्छा यदि कोई रक्खे तो विधिपूर्वक प्रतिदिन तर्पण किया करे। मधुसे तर्पण करनेसे सकल अभीष्ट पूर्ण होते हैं, मन्त्रकी सिद्धि होती है और सम्पूर्ण महापातक नष्ट हो जाते हैं। घृतसे तर्पण करनेसे पूर्ण आयु होती है। आरोग्य प्राप्तिके लिये दुग्धसे तर्पण करना चाहिये। नारिकेलजलयुक्त जलसे तर्पण करनेसे निखिल अभीष्टोंकी सिद्धि होती है। इत्यादि इत्यादि भिन्न भिन्न प्रकार के तर्पणके फल आर्य्यशास्त्रमें वर्णित किये गये हैं।

(११) हवन—योगशास्त्रमे हवनविधि निम्नलिखित रूपसे वर्णित की गई है—

अर्घ्योदकसे भूमिशोधन करके तीन रेखा खींचे और विधि पूर्वक अग्नि लाकर—"क्रव्यादेभ्यो नमः" इस मन्त्रका तथा मूल मन्त्रका उच्चारण करके कुण्डमे, स्थण्डिलमे अथवा भूमिपर व्याहृतित्रयसे अग्नि स्थापन करे। स्वाहान्त-मन्त्रसे तीन बार हवन करके षडङ्ग हवन करे और स्व स्व सम्प्रदायानुसार इष्टदेवका आवाहन करके मूलमन्त्रसे षोड़श आहुति देवे। इस प्रकार हवन करके स्तुति करे और चन्द्रमण्डलमे उसका विसर्जन कर देवे। नित्य होमके द्वारा इष्टदेव प्रसन्न होते हैं, सब देवियोंकी तृप्ति तथा अभीष्टसिद्धि होती है। वैष्णव, शाक्त, शैव आदि सभी सम्प्रदायोंके साधकोंको नित्य हवन करना उचित है। प्रथम इष्टदेवके प्रीत्यर्थ आहुति देकर अन्य देवदेवियोंको इष्टदेवके अङ्गीभूत समझ कर उनके संवर्द्धनार्थ भी आहुति प्रदान करना उचित है।

(१२) बलि—इष्ट उपासनामे बिना विघ्नोंकी शान्तिके सफलता नहीं होती। विघ्नोंकी शान्तिके लिये बलिदान किया जाता है। बलिके साधनमे आत्मबलि सबसे श्रेष्ठ है। आत्मबलि द्वारा अहङ्कारका नाश होकर साधक कृतकृत्य होता है। बलिके साधनमे काम क्रोधादिक रिपुओंकी बलि द्वितीय स्थानीय है। ये सब अन्तर्यागसे सम्बन्ध रखने वाले विषय हैं। पूजाके अनन्तर अवशिष्ट द्रव्य द्वारा जो बलि दी जाय, तो इष्टदेवकी प्रसन्नताके अर्थ उत्तम फलोंकी बलि दी जाती है। किसी किसी सम्प्रदायमे यज्ञपशुओंकी बलि देनेकी भी विधि प्रचलित है। ये सब बलिके भेद त्रिगुणभेदसे माने गये हैं जिसका वर्णन तथा स्वरूपनिर्णय पहिलेके अध्यायमे किया जा चुका है। प्रथम विधिपूर्वक अपने इष्टदेवको बलि समर्पण करके अन्य देवताओंको बलि देवे और भक्तियुक्त-साधक तदनन्तर पितरोंके तृप्त्यर्थ बलिदान करे। पुनः भूतोंकी तृप्तिके लिये

कुत्ता तथा चाण्डालको अन्न दे और पक्षियोंकी तृप्तिके लिये भूमिपर अन्न रक्खे। यह वैश्वदेवविधि प्रातः और सन्ध्याके समय करना उचित है।

(१३) याग—अन्तर्याग और बहिर्याग भेदसे याग दो प्रकारका होता है। अन्तर्यागकी महिमा सर्वोपरि है। मानस याग, मानस जप तथा मानस कर्मके लिये कालशुद्धि, देशशुद्धि और शरीरशुद्धिकी कुछ भी अपेक्षा नहीं रहती। वह सब समयमें समानरूपसे हो सकता है। षोडश दिव्यदेशोंमेंसे किसी देशके अवलम्बनसे यागका साधन करना उचित है। स्थूलदेशसे सूक्ष्मदेश कोटिगुण फलप्रद है। यागकी सिद्धिके अनन्तर जपकी सिद्धिके साथ ही ध्यानकी सिद्धि होती है और ध्यानकी सिद्धिसे समाधिकी प्राप्ति होती है। यागकी सिद्धिके द्वारा देवताका साक्षात्कार और दिव्यदेशोंमे इष्टदेवका आविर्भाव भी होता है।

(१४) जप—योगशास्त्रमें लिखा है—

मननात् त्रायते यस्मात्तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्त्तितः।
जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः॥

जो मनन करनेसे त्राण करे उसे मन्त्र कहते हैं। जप करते करते साधक सिद्धि प्राप्त कर लेता है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। सांसारिक विषयोंसे मनको हटा कर मन्त्रके अर्थका अनुगमन करता हुआ और उच्चारणमें न बहुत शीघ्रता तथा न विलम्ब किन्तु मध्यम वृत्तिसे जप करे। मन्त्रका बार बार आवर्त्तन करनेको जप कहते हैं, वह तीन प्रकारका होता है। यथा—मानस, उपांशु और वाचिक। जिस मन्त्रको जप करने वाला भी न सुन सके वह मानसिक जप है। उपांशु जप उसे कहते है कि जो जप करने वालेको सुनाई पड़े, और जो मन्त्र वचनसे उच्चारण किया जाय और दूसरेको भी सुनाई पड़े वह वाचिक जप है। वाचिक जपसे उपांशु जप और उपांशुसे मानस जप श्रेष्ठ है। अति शनैः शनैः जप करनेसे रोग होता है और अति शीघ्रतासे जप करनेसे धनक्षय होता है। अतः परस्परमें मिला हुआ मौक्तिकहारकी नाई जप करे। जो साधक जप करते समय मन, शिव, शक्ति और वायुका संयम न कर सके, वह चाहे कल्प पर्यन्त क्यों न जप करे परन्तु सिद्धि दुर्लभ ही है। उपासकोंको उचित है कि देवमन्दिर अथवा साधन उपयोगी पवित्र एकान्त घरमें बैठ कर साधन करे। साधनस्थान गोमय, गङ्गाजल आदिसे संशोधित रहना उचित है। और उत्तम भावपूर्ण चित्रोंसे परिशोभित रहना उचित है जिससे

चित्तमें पवित्रता उत्पन्न हो। साधनगृहमें तामसिक और राजसिक कार्य तथा असत् पुरुषोंका प्रवेश होना उचित नहीं है। मोक्षाभिलाषी साधक गंगातट, पञ्चवटी, अरण्य, स्मशान, तीर्थ आदि प्रदेशोंको स्व स्व सम्प्रदायके अनुसार सेवन करके साधन करें। विशेष सिद्धिलाभ करनेकी इच्छा हो तो भूगर्त्तमे योगगुहा बनाकर निरुपद्रव हो साधन करे।

उपासनाभेदसे बीजमन्त्र अलग अलग है। यथा कृष्णबीज, रामबीज, शिवबीज, गणपतिबीज इत्यादि। ये सब आठ प्रकारके मूलबीजसे अतिरिक्त हैं। पुनः बीजके साथ मूलबीज मिलकर अथवा एक बीजके साथ अन्य बीज मिलनेसे मन्त्रौंकी शक्तिका वैचित्र्य उत्पन्न होता है और पुनः मन्त्र शाखा पल्लवसे संयुक्त होनेपर अन्यभावको धारण करता है। मन्त्रविशेषमे बीज, शाखा और पल्लव तीनो होते हैं। शान्ति पुष्प है, इष्ट साक्षात्कार फल है, शाखा और पल्लव केवल भावमय हैं और शक्ति बीजमें निहित रहती है। दृष्टान्तरूपसे कहा जाता है कि, जैसे "ॐ क्लीं कृष्णाय नमः" इस मन्त्रमें ॐ प्रणवरूप सेतु है, क्लीं बीज है, 'कृष्णाय' शब्द शाखा है और 'नमः' पल्लव है। चित्तवृत्तिकी शान्ति साधकके लिये पुष्परूप है और श्रीकृष्णरूप इष्टदेवका साक्षात्कार फलस्वरूप है। यही मन्त्रविज्ञानका गूढ़ रहस्य है। कोई कोई मन्त्र बीजरहित और शाखा पल्लवसे युक्त रहता है। वह भावप्रधान मन्त्र कहाता है। साधककी प्रकृति, प्रवृत्ति, उपासनाधिकार और चित्तसवेगकी परीक्षा करके मन्त्रोपदेश देनेपर अवश्य ही साधकको पूर्ण फलकी प्राप्ति होती है। उपनिषद् और मन्त्रशास्त्रोके ज्ञाता योगी ही मन्त्रका विस्तार और यथाधिकार उपदेश देनेमें समर्थ होते हैं। प्रणव, प्रधानबीज उपासनाबीज, शाखापल्लवसंयुक्तबीज, बीजरहित शाखापल्लवयुक्त मन्त्र इस प्रकार मन्त्रके पाँच भेद हैं। साधककी प्रकृति, प्रवृत्ति और अधिकारकी परीक्षा द्वारा यथावत् मन्त्रोपदेश दिया जाता है। इन विषयोंका प्रमाण योग-शास्त्रमें द्रष्टव्य है।

(१५) ध्यान—अध्यात्मभावसे ही मन्त्रयोगके ध्यानोंका आविर्भाव हुआ है। जैसा कि पहिले विशदरूपसे वर्णन किया गया है। अपने अपने इष्टदेवके रूपको मनसे जाननेको ध्यान कहते हैं। ध्यान ही मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण है। जैसे जैसे मनुष्य आत्मध्यान करता है, वैसे ही उसको समाधिकी प्राप्ति होती है। आत्मा केवल ध्यानके ही द्वारा वशीभूत होता है। इस प्रकार

जिस मनुष्यकी आत्मा जहाँ लग जाती है, वही उसे समाधि प्राप्त होती है। नदीका जल जिस प्रकार समुद्रमें जानेसे समुद्रजलसे अभिन्न होता है उसी प्रकार मनुष्यकी आत्मा ध्यानके परिणाममें तद्भाव प्राप्त करके परमात्मासे अभिन्न हो जाती है।

(१६) समाधि—जिस प्रकार लययोगकी समाधिको महालय और हठयोगकी समाधिको महाबोध कहते हैं, उसी प्रकार मन्त्रयोगकी समाधिको महाभाव कहते है । जबतक त्रिपुटी रहती है तबतक ध्यानाधिकार रहता है, त्रिपुटीके लय हो जानेसे महाभावका उदय होता है। मन्त्रसिद्धिके साथ ही साथ देवतामें मनका लय होकर त्रिपुटीका नाश होनेपर योगीको समाधिकी प्राप्ति होती है । प्रथम मन, मन्त्र और देवताका स्वतन्त्रबोध रहता है । परन्तु ये तीनौ बोध एक दूसरेमें लय होते हुए ध्याता ध्यान ध्येय रूपी त्रिपुटी लय हो जाती है । इसी अवस्थामें आनन्दाश्रु और रोमाञ्च आदि लक्षणोंका विकाश होता है। क्रमशः मन लय होकर समाधिका उदय होता है। समाधिप्राप्ति द्वारा साधक कृतकृत्य हो जाता है। महाभावप्राप्ति ही मन्त्रयोगका चरम लक्ष्य है।

(हठयोग)।

चित्तवृत्तिनिरोधके द्वारा आत्मसाक्षात्कार लाभ करनेके लिये अनुष्ठित द्वितीय श्रेणीकी क्रियाओंका नाम हठयोग है। यह विषय स्मरण रखने योग्य है कि मन्त्र, हठ, लय, राज इन चारों प्रकारके योगोंके भीतर जितने प्रकारकी क्रियाएँ बताई गई हैं उनमेंसे अधिकांश क्रियाएँ गुप्त तथा गुरुमुखवेद्य होनेके कारण प्रकाशित शास्त्रीय ग्रन्थोंमें उनकी सम्यक् विधियाँ नही मिल सकती हैं। और शास्त्रोंमें कही कही जो कुछ क्रियाएँ वर्णित देखनेमें भी आती हैं, उनमेंसे बहुतसे वर्णन असम्पूर्ण रक्खे गये है क्योकि क्रियाओंको गुप्त न रखनेसे पूर्णफलकी प्राप्ति नही होती है और अनधिकारीके लिये बुद्धिभेद भी होता है। वे सब क्रियाएँ जब गुरुदेवके द्वारा प्राप्त हो जाती हैं तभी पूर्णस्वरूपमें परिज्ञात होकर पूर्णफल प्रदान कर सकती है। यह बात पहिले ही कही गई है कि श्रीभगवान् पतञ्जलि-कृत योगदर्शनमे जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि अष्टाङ्ग योगके लक्षण बताये गये हैं ये ही आठ अङ्ग चतुर्विध योगविधियोंके मूलरूप हैं। केवल क्रियाराज्यमें सुविधाके लिये कहीं कहीं अङ्गोंकी वृद्धि या अल्पता

देखनेमें आती है। जहाँपर अङ्गोंकी वृद्धि है वहाँ उन्हीं आठ अङ्गोंके आश्रयपर ही वृद्धि की गई है और जहाँ ह्रास है, वहाँ एक अङ्गमें दूसरेका अन्तर्भाव किया गया है ऐसा समझना चाहिये।

योगके अष्टाङ्गोंका वर्णन केवल योगदर्शनमें ही नहीं अधिकन्तु श्रुतिमें भी कई स्थानोंमें इसका वर्णन साक्षात् या परोक्षरूपसे किया गया है।

"हठाच्चेतसो जयम्" "हठेन लभ्यते शान्तिः"

हठयोगके द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध तथा शान्तिलाभ होता है इत्यादि प्रमाणोंके द्वारा श्रुतिने हठयोगका समर्थन किया है।

हठयोग के लक्षणके विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है:—

प्राणाऽपाननादबिन्दुजीवात्मपरमात्मनाम्।
मेलनाद्घटते यस्मात्तस्माद्वै घट उच्यते॥
आमकुम्भमिवाऽम्भःस्थं जीर्यमाणं सदा घटम्।
योगानलेन संदह्य घटशुद्धिं समाचरेत्॥
हठयोगेन प्रथमं जीर्यमाणमिमां तनुम्।
दृढयन् सूक्ष्मदेहं वै कुर्याद् योगयुज पुनः॥
स्थूलः सूक्ष्मस्य देहो वै परिणामान्तरं यतः।
कादि वर्णान् समभ्यस्य शास्त्रज्ञानं यथाक्रमम्॥
यथोपलभ्यते तद्वत् स्थूलदेहस्य साधनैः।
योगेन मनसो योगो हठयोगः प्रकीर्त्तितः॥

प्राण, अपान, नाद, बिन्दु, जीवात्मा और परमात्माके मेलसे उत्पन्न होनेके कारण स्थूल शरीरका नाम घट है। जलमध्यस्थित आमकुम्भकी तरह शरीररूपी यह घट सदा ही जीर्ण रहा करता है। इसलिये योगरूपी अनलके द्वारा दग्ध करके इस घटकी शुद्धि करनी चाहिये। जीर्णभावयुक्त स्थूलशरीरको हठयोगके द्वारा दृढ़ करके सूक्ष्मशरीरको भी योगानुकूल किया जाता है। स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीरका ही परिणाममात्र है। इसलिये जिस प्रकार ककारादि वर्णोंके

अभ्यास द्वारा क्रमशः शास्त्रज्ञान लाभ होता है, उसी प्रकार जिन सुकौशलपूर्ण क्रियाओंके द्वारा प्रथमतः स्थूल शरीरको वशमें लाकर क्रमशः सूक्ष्मशरीरपर आधिपत्य स्थापन पूर्वक चित्तवृत्तिका निरोध किया जा सकता है उन साधनोंकी हठयोग संज्ञा होती है।

योगाचार्य्य महर्षियोंने कहा है कि अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन भावत्रयोंके अनुसार मन, वायु तथा वीर्य्य ये तीनों ही एक हैं। इसी लिये मनको वशीभूत करनेसे वीर्य्य और वायु आपसे आप वशीभूत हो जाते हैं। वायुको वशीभूत करनेसे मन तथा वीर्य्य अपने आप ही अधीन हो जाते हैं। और सुकौशलपूर्ण क्रियाओंके द्वारा वीर्य्यको वशीभूत करके ऊर्द्ध्वरेता हो जानेसे मन तथा प्राणवायु अनायास उस योगीके वशमें आ जाते हैं। राजयोगमें बुद्धिसे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाओंसे अधिक सम्बन्ध रक्खा गया है। और मन्त्र, हठ तथा लय इन तीन प्रकारकी योगप्रणालियोंमें मन, वायु तथा वीर्य्य इन तीनोंका सम्बन्ध अधिकरूपसे है। इनमेंसे लययोगमें मनकी क्रियाका आधिक्य और मन्त्र तथा हठयोगमें वायुधारण तथा रेतोधारण सम्बन्धीय क्रियाओंकी अधिकता देखी जाती है। शास्त्रोंमें मन्त्रयोगोके लिये ब्रह्मचर्य्य रक्षा और रेतोधारणकी विशेष आवश्यकता वर्णन की गई है। और हठयोगीके लिये वे सब तो चाहियें, उपरान्त प्राणायामसिद्धि तथा वायुनिरोधके लिये विशेष व्यवस्था रक्खी गई है, जो नीचे क्रमशः बताई जायगी।

अब हठयोगके अङ्गोंका वर्णन किया जाता है। योगशास्त्रमें लिखा है—

षट्कर्मासनमुद्राः प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः।
ध्यानसमाधी सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य॥

षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि हठयोगके ये सात अङ्ग हैं। इन सब अङ्गोंके क्रमानुसार साधन द्वारा क्या क्या फल प्राप्ति होती है सो योगशास्त्रमें वर्णित है—

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढम्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता॥
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनः।
समाधिना निर्लिप्तं च मुक्तिरेव न संशयः॥

षट्कर्म द्वारा शरीरशोधन, आसनके द्वारा दृढता, मुद्राके द्वारा स्थिरता, प्रत्याहारसे धीरता, प्राणायाम-साधन द्वारा लाघव, ध्यान द्वारा आत्माका प्रत्यक्ष और समाधि द्वारा निर्लिप्तता तथा मुक्तिलाभ अवश्य होता है। इन सब मानसिक और आध्यात्मिक लाभोंके सिवाय हठयोगके प्रत्येक अङ्ग और उपाङ्गके साधन द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य विषयक भी विशेष लाभ होता है जो योगिराज श्रीगुरुदेवसे जानने योग्य है। हठयोगका प्रथम अङ्ग षट्कर्मसाधन है। जिसके लिये योगशास्त्रमे लिखा है:—

धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्लौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्॥

धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक तथा कपालभाति षट्कर्मके ये छः साधन हैं। इन सबके पृथक् पृथक् लक्षण योगशास्त्रमे द्रष्टव्य हैं।

हठयोगके द्वितीय अङ्गका नाम आसन है। जिसके विषयमे योगशास्त्रमें लिखा है:—

अभ्यासाद् यस्य देहोऽयं योगौपयिकतां व्रजेत्।
मनश्च स्थिरतामेति प्रोच्यते तदिहासनम्॥
आसनानि समस्तानि यावत्यो जीवयोनयः।
चतुरशीतिलक्षाणि शिवेन कथितानि तु॥
तेषां मध्ये विशिष्टानि षोडशोनं शतं कृतम्।
आसनानि त्रयस्त्रिंशन्मर्त्यलोके शुभानि वै॥

जिसके अभ्याससे शरीर योगोपयुक्त तथा मन स्थिर हो जाता है उसका नाम आसन है। जगत्में जितनी जीवयोनियाँ हैं उतने ही आसन हैं। महादेवजीने पुराकालमें चौरासी लाख आसनोंका वर्णन किया था, उनमें चौरासी आसन विशेष हैं और मर्त्यलोकमें तेंतीस आसन मङ्गलजनक है। इन तेंतीसोंके नाम यथा—

सिद्धासन, स्वस्तिकासन, पद्मासन, बद्धपद्मासन, भद्रासन, मुक्तासन, वज्रासन, सिंहासन, गोमुखासन, वीरासन, धनुरासन, मृतासन, गुप्तासन, मत्स्यासन, मत्स्येन्द्रासन, गोरक्षासन, पश्चिमोत्तानासन, उत्कटासन, संकटासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, कूर्मासन, उत्तानकूर्मासन, उत्तानमण्डूकासन, वृक्षासन,

मण्डूकासन, गरुड़ासन, वृषासन, शलभासन, मकरासन, उष्ट्रासन, भुजङ्गासन और योगासन ये तेंतीस सिद्धिदायक आसन हैं।

कैसे देशमें आसन करके साधन करना चाहिये इसके विषयमें योगशास्त्रका उपदेश है कि सुराज्य, सुधार्मिक, सुभिक्ष तथा उपद्रवरहित देशमें, शिला, अग्नि और जलसे अलग रहकर एकान्तस्थानमें छोटीसी कुटी बनाकर उसके बीचमें बैठ कर योगसाधन करना चाहियें। साधनगृहका द्वार छोटा होना चाहिये, उसमें कोई गर्त्त नही होना चाहिये। बहुत ऊँचा या बहुत नीचा नहीं होना चाहिये, उसमें मकड़ीका जाला वगैरह नही होना चाहिये, वह गोमयसे लीपा हुआ तथा कीटोंसे रहित होना चाहिये। इस प्रकारके स्थानमें चित्तको अन्यान्य चिन्ताओंसे रहित करके गुरूपदेशानुसार आसन बांधकर साधन करना योगीका कर्त्तव्य है। आसनोंके विस्तृत लक्षण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य हैं।

हठयोगके तृतीय अङ्गका नाम मुद्रा है। इसके विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है—

प्राणायामस्तथा प्रत्याहारो धारणध्यानके ।
समाधिः साधनाङ्गानामेषां सिद्धौ हि या हि ता ॥
साहाय्यमादधातीह सुकौशलभरा क्रिया ।
मुद्रा सा प्रोच्यते धीरैर्योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
सहायिका भवेन्मुद्रा सर्वाङ्गानां हि काचन ।
काचिच्च तत्तदङ्गानामुपकारं करोति वै ॥
महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धो महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ॥
विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालिनी ।
ताडागी चैव माण्डूकी शाम्भवी पञ्चधारणा ॥
आश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी ।
पञ्चविंशतिमुद्राः स्युः सिद्धिदा योगिनां सदा ॥

जिन क्रियाओंके द्वारा प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि

रूपी साधनाङ्गोंकी सिद्धिमे सहायता प्राप्त होती है ऐसे सुकौशलपूर्ण क्रियाओं-को मुद्रा कहते है। कोई मुद्रा इनके सब अङ्गोंकी सहायता करती है और कोई कोई इनमेंसे विशेष अङ्गोकी सहायता करती है। महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान-मुद्रा, जालन्धरबन्धमुद्रा, मूलबन्धमुद्रा, महाबन्धमुद्रा, महावेधमुद्रा, खेचरीमुद्रा, विपरीतकरणीमुद्रा, योनिमुद्रा, वज्रोलिमुद्रा, शक्तिचालिनीमुद्रा, ताडागीमुद्रा, माण्डूकीमुद्रा, शाम्भवीमुद्रा, पञ्चधारणामुद्रा, आश्विनीमुद्रा, पाशिनीमुद्रा, काकीमुद्रा, मातङ्गीमुद्रा और भुजङ्गिनीमुद्रा ये पच्चीस मुद्राये हैं, इनके साधनसे योगियोंको योगसिद्धि प्राप्त होती है। सब मुद्राओका वर्णन योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

मुद्राओके साधन द्वारा योगमार्गमे अग्रसर होनेवाले साधकोंको अनेक लाभ प्राप्त होते है। मुद्राओंके द्वारा प्राणायामसिद्धिकी सहायता, प्रत्याहारमे सहायता, धारणामें सहायता और बिन्दुध्यानमे सहायता इस प्रकारसे अनेक क्रियाओंमें सहायता प्राप्त होती है। प्रथमतः प्राणायामकी सिद्धिमे मुद्राये विशेषरीत्या सहायक होनी हैं और प्रत्याहार उत्पन्न करके धारणामे विशेष सहा-यक होती है। इसीकारण मुद्रा द्वारा स्थिरता उत्पन्न होती है ऐसा कहा गया है।

हठयोगके चतुर्थ अङ्गका नाम प्रत्याहार है। षट् कर्म, आसन तथा मुद्राके साधनोमें सिद्धि प्राप्त करके गुरुआज्ञानुसार साधक प्रत्याहारका साधन करेंगे। जिसके फलसे शीघ्रही प्रकृतिजय तथा कामादि रिपुओंका नाश हो जायगा। श्रीभगवान्ने गीताजीमे लिखा है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

चञ्चल मन जहाँ जहाँ पर भागने लगता है, उन सभी स्थानोंसे मनको हटाकर आत्मामे ही संयत करे। यही प्रत्याहारकी क्रिया है। तदनुसार हठयोग शास्त्रमें लिखा है—

यत्र यत्र गता दृष्टिर्मनस्तत्र प्रगच्छति।
ततः प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
शीतं वापि तथा चोष्णं यन्मनः स्पर्शयोगतः।
तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

सुगन्धे वाऽपि दुर्गन्धे घ्राणेषु जायते मनः।
तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
मधुराम्लकतिक्तादिरसं याति यदा मनः।
तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

जहाँ जहाँपर दृष्टि जाती है वहाँ मन भी जाता है। इसलिये प्रत्याहार द्वारा मनको वहाँसे हटाकर आत्मामें वशीभूत करें। शीत हो या उष्ण, मन स्पर्शयोगसे विषयमें सम्बद्ध होता है, इसलिये मनको विषयसे हटाकर आत्मामें संयत करे। सुगन्ध हो अथवा दुर्गन्ध मन घ्राणेन्द्रियके योगसे विषयमें बद्ध हो जाता है, इसलिये मनको विषयसे हटाकर आत्मामें एकाग्र करें। मधुर, अम्ल, तिक्त आदि रसोंमें रसनेन्द्रियकी सहायतासे मन जाता रहता है, इसलिये वहाँसे मनको हटाकर आत्मामें केन्द्रीभूत करें। यही सब प्रत्याहारकी क्रियाएँ हैं।

जब योगी बहिर्जगत्की आसक्तिको छिन्न करके अन्तर्जगत्में प्रवेश करनेमें समर्थ होने लगता है, तभी प्रत्याहारकी सिद्धि उत्पन्न होती है और इसी कारण प्रत्याहारके द्वारा आध्यात्मिक धैर्य उत्पन्न होता है और इसी समयसे योगीको अन्य प्रकारकी दैवी सिद्धियोंके प्राप्त करनेकी सम्भावना रहती है। किन्तु सिद्धियाँ परम सुखकर होनेपर भी सर्वथा निन्दनीय तथा हेय हैं। आत्मोन्नतिके इच्छुक योगी वैराग्यकी सहायतासे उनमें विमोहित न हों ऐसा ही योगानुशासन है। क्योंकि स्थूलजगत्की रजतकाञ्चनादि स्थूल सम्पत्तियोंकी तरह सिद्धियाँ भी सूक्ष्मजगत्की सम्पत्तिविशेष हैं। अतः इनमें फँस जानेपर विषयबद्ध जीवोंकी तरह सिद्धिरूप सूक्ष्मविषयबद्ध योगी परमात्माके राज्यमें अग्रसर नहीं हो सकते हैं। उनकी सारी उन्नतियोंका पथ रुद्ध हो जाता है और पतनकी भी सम्भावना हो जाती है। इसलिये श्रीभगवान् पतञ्जलिजीने योगदर्शनमें लिखा है—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

सिद्धियाँ समाधिदशाके लिये विघ्नमात्र हैं परन्तु व्युत्थानदशामें हितकर हैं। क्योंकि व्युत्थानदशामें सिद्धियोंका चमत्कार देखनेसे साधकके हृदयमें दैवजगत्के प्रति विश्वास दृढ़ होता है और साधनमार्गमें रुचि बढ़ती है। जिस प्रकार बालकको मिठाईका लोभ देकर पढ़नेमें रुचि बढ़ाई जाती है, उसी प्रकार

साधन मार्गमें प्राथमिक दशाके साधकोंके लिये सिद्धिका लोभ साधनमार्गमें प्रवृत्ति उत्पन्न करनेवाला है। इसका इतना ही प्रयोजन हृदयङ्गम करके मुमुक्षुसाधकको विचलित तथा मोहग्रस्त नहीं होना चाहिये और अनायासप्राप्त सिद्धियोंके प्रति उपेक्षा करके आध्यात्मिक मार्गमे धीरताके साथ पुरुषार्थपरायण होना चाहिये।

हठयोगके पञ्चम अङ्गका नाम प्राणायाम है। जिसके विषयमे योग-शास्त्रमें वर्णन है:—

प्रधानशक्तयः प्राणास्ते वै संसाररक्षकाः।
वशीकृतेषु प्राणेषु जीयते सर्वमेव हि॥
प्राणास्तु द्विविधा ज्ञेयाः स्थूलसूक्ष्मप्रभेदतः।
यथा जयः स्यात्प्राणानां प्राणायामः स चोच्यते।
मन्त्रे स्याद्धारणा मुख्या त्रिभेदास्तु जपक्रियाः।
हठे वायुप्रधाना वै प्रोक्ता प्राणजपक्रियाः॥
मनःप्रधानो भवति साध्या सूक्ष्मक्रिया लये।
सा च वायुप्रधाना हि सर्वश्रेयस्करी मता॥
आदौ स्थानं तथा कालं मिताऽऽहारं ततः परम्।
नाडीशुद्धिं ततः पश्चात् प्राणायामे च साधयेत्॥

प्राण ही महाशक्ति है, प्राण ही जगत्के रक्षक हैं, प्राणके वशीभूत करनेसे सब कुछ जय हो जाता है। स्थूल सूक्ष्म भेदसे प्राणके दो भेद हैं। प्राण जय करनेवाली क्रियाको प्राणायाम कहते हैं। मन्त्रयोगमे प्राणजयक्रिया धारणाप्रधान है। हठयोगमें वायुप्रधान है और लययोगमें जो सूक्ष्म प्राणजय क्रिया होती है, वह मनःप्रधान है। वायुप्रधान प्राणजय क्रिया ही सर्वहितकर है। अब प्राणायाम का वर्णन किया जाता है। प्राणायाम–साधनके लिये चार बातोकी आवश्यकता है। यथा-प्रथम उपयुक्त स्थान, द्वितीय नियमित समय, तृतीय मिताहार और चतुर्थ नाड़ीशुद्धि। हठयोगशास्त्रमें आठ प्रकारके प्राणायाम बताये गये हैं। यथा:—

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाऽष्टकुम्भकाः॥

सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली

ये आठ प्राणायाम हैं। इन प्राणायामोंके पृथक् पृथक् लक्षण योगशास्त्रमें द्रष्टव्य हैं। हठयोगमें प्राणायामको सर्वोत्कृष्टसाधन करके माना गया है। हठयोगका ज्योतिध्यान और हठयोगकी महाबोध—समाधि दोनोंमें ही प्राणजयका साक्षात् सम्बन्ध रहनेसे प्राणायामकी इस प्रकार मुख्यता हठयोगमें मानी गई है। प्राणायामसिद्धि द्वारा प्राणजय होकर मनोवृत्तिका निग्रह शीघ्र हो जाता है।

हठयोगके षष्ठ अङ्गका नाम ध्यान है। इसके विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है—

मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगः पृथक् पृथक्।
स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानन्तु त्रिविधं विदुः॥
स्थूलं मूर्त्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं भवेत्।
विन्दुं विन्दुमयं ब्रह्म कुण्डली परदेवता॥
ध्यानं वै ब्रह्मणस्तेजोमयं रूपं प्रकल्पयेत्।
ज्योतिर्ध्यानं भवेत्तद्धि प्राप्यं गुरुकृपावशात्॥

मन्त्रयोग, हठयोग और लययोगमें पृथक् पृथक् स्थूलध्यान, ज्योतिर्ध्यान और विन्दुध्यान ये तीन प्रकारके नियत किये गये हैं। इनमेंसे मूर्तिमान् इष्टदेवमूर्त्तिका जो ध्यान है वह स्थूल ध्यान, जिसके द्वारा तेजोमय ब्रह्मका ध्यान होता है वह ज्योतिर्ध्यान और विन्दुमय ब्रह्म और कुण्डलिनीशक्तिका जो ध्यान किया जाता है वह विन्दुध्यान कहाता है। ब्रह्मके तेजोमयरूपकल्पना द्वारा ज्योतिर्ध्यानकी विधि गुरुदेवसे प्राप्त करने योग्य है। नाभि, हृदय और भ्रूयुगल ये तीनों स्थान ज्योतिर्ध्यानके लिये निर्दिष्ट हैं। साधकके अधिकार-भेदसे ही ऐसा निर्देश है। कोई कोई योगवित् आधारपद्मरूपी चतुर्थ स्थानका भी निर्देश करते हैं। ज्योतिर्ध्यानकी सिद्धावस्थामें आत्माका प्रत्यक्ष होता है।

हठयोगके अन्तिम अर्थात् सप्तम अङ्गका नाम समाधि है। इसके विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है—

समाधिर्मन्त्रयोगस्य महाभाव इतीरितः।
हठस्य च महाबोधः समाधिस्तेन सिध्यति॥
प्राणायामस्य सिद्धया वै जीयन्ते प्राणवायवः।
ततोऽधिगम्यते शक्तिः पूर्णा कुम्भकसाधने॥

समाधिर्हठयोगस्य त्वरितं प्राप्यते ततः।
शुक्रं वायुर्मनश्चैते स्थूलकारणसूक्ष्मतः॥
अभिन्नास्तत्र प्राधान्यं वायोरेव विदुर्बुधाः।
शक्तिस्वरूपकत्वाद्धि तन्निरोधान्मनोजयः॥
तस्मान्मनोजयाच्चैव समाधिः समवाप्यते।
प्राणायामे तथा ध्याने सिद्धे वै सोऽधिगम्यते॥
अद्वितीयमहं ब्रह्म सच्चिदानन्दरूपधृक्।
नित्यमुक्तोऽस्मीति सदा समाधावनुभूयते॥

मन्त्रयोगकी समाधिको महाभाव और हठयोगकी समाधिको महाबोध कहते है। प्राणायाम सिद्धिके द्वारा वायुजय हो जानेपर कुम्भक करनेकी पूर्णशक्ति प्राप्त होनेसे हठयोग समाधि लाभ होता है। वीर्य, वायु और मन ये तीनों स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण सम्बन्धसे एक ही हैं। इन तीनोंमें वायु ही प्रधान है, क्योंकि वायु शक्तिरूप है। वायुके निरोध द्वारा मनका निरोध हो जाता है। इसलिये वायुके निरोधसे मनोलय और मनोलयसे समाधिकी प्राप्ति होती है। प्राणायाम और ध्यानकी सिद्धिके साथ ही समाधि दशाका उदय होता है। समाधि दशामें मनका लय हो जाता है और "मैं ही अद्वितीयब्रह्म सच्चिदानन्दरूप तथा नित्यमुक्त हूँ" ऐसा अनुभव होता है। यही हठयोगकी समाधि और अन्तिम साधन है।

(लययोग)।

"चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा आत्मसाक्षात्कार लाभके लिये निर्दिष्ट क्रियाओंका नाम योग है। यौगिकक्रियाओंमे लययोग तृतीयस्थानीय है और इस कारण मन्त्र तथा हठयोगसे सूक्ष्मविज्ञानयुक्त है। वेदमें भीः—

"तस्मिन्नेव लयं यान्ति" "ते लयं यान्ति तत्रैव"

इत्यादि वचनोंके द्वारा लययोगकी पुष्टि की गई है। योगशास्त्रोंमें लययोगका निम्नलिखित लक्षण बताया गया हैः—

ब्रह्माण्डपिण्डे सदृशे ब्रह्मप्रकृतिसम्भवात्।
समष्टिव्यष्टिसम्बन्धादेकसम्बन्धगुम्फिते॥

ऋषिदेवौ च पितरो नित्यं प्रकृतिपूरुषौ ।
तिष्ठन्ति पिण्डे ब्रह्माडे ग्रहनक्षत्रराशयः ॥
पिण्डज्ञानेन ब्रह्माण्डज्ञानं भवति निश्चितम् ।
गुरूपदेशतः पिण्डज्ञानमाप्य यथायथम् ॥
ततो निपुणया युक्त्या पुरुषे प्रकृतेर्लयः ।
लययोगाभिधेयः स्यात् प्रोक्तमेतन्महर्षिभिः ॥
आधारपद्मे प्रकृतिः सुप्ता कुण्डलिनी स्थिता ।
सहस्रारे स्थितो नित्यं पुरुषश्चोपगीयते ॥
प्रसुप्तायां कुण्डलिन्यां वाह्यसृष्टिः प्रजायते ।
योगांगैस्ताम्प्रबोध्यैव यदा तस्मिन्विलोपयेत् ॥
कृतकृत्योभवत्येव तदा योगपरो नरः ।
पुराविदो वदन्तीमं लययोगं सुखावहम् ॥

प्रकृतिपुरुषात्मक शृंगारसे उत्पन्न हुए ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों एकही हैं। समष्टि और व्यष्टिसम्बन्धसे ब्रह्माण्ड और पिण्ड एकत्त्वसम्बन्धसे युक्त है। सुतरां ऋषि, देवता, पितर, ग्रह, नक्षत्र, राशि, प्रकृति, पुरुष सबका स्थान समानरूपसे ब्रह्माण्ड और पिण्डमें है। पिण्डज्ञानसे ब्रह्माण्डज्ञान हो सकता है। श्रीगुरूपदेश द्वारा सब शक्तिसहित पिण्डका ज्ञानलाभ करके तदनन्तर सुकौशलपूर्णक्रिया द्वारा प्रकृतिको पुरुषमें लय करनेसे लययोग होता है। पुरुषका स्थान सहस्रारमें है और कुलकुण्डलिनी नाम्नी महाशक्ति आधारपद्ममें प्रसुप्ता हो रही है। उनके सुप्त रहनेसे ही वहिर्मुखी सृष्टिक्रिया होती है। योगाङ्ग द्वारा उनको जाग्रत करके पुरुषके पास लेजाकर लय कर देनेसे योगी कृतकृत्य होता है, इसीका नाम लययोग है।

योगतत्त्वज्ञ महर्षियोंने लययोगके नौ अंग वर्णन किये है। यम, नियम, स्थूलक्रिया, सूक्ष्मक्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि ये नव अंग लययोगके हैं। स्थूलशरीरप्रधान स्थूलक्रिया और वायुप्रधानक्रियाको सूक्ष्मक्रिया कहते हैं। बिन्दुमय प्रकृतिपुरुषात्मक ध्यानको बिन्दुध्यान कहते हैं, यह ध्यान लययोगका परमसहायक है। लययोगानुकूल अतिसूक्ष्म सर्वोत्तमक्रिया

जो केवल जीवन्मुक्त योगियोंके उपदेशसे ही प्राप्त होती है ऐसी सर्वोन्नतक्रियाको लयक्रिया कहते हैं। लयक्रियाओंके साधन द्वारा प्रसुप्ता महाशक्ति प्रबुद्ध होकर ब्रह्ममें लय होती है। इनकी सहायतासे जीव शिवत्वको प्राप्त होता है। लयक्रिया-की सिद्धिसे महालयरूपी समाधिकी उपलब्धि होती है, जिससे साधक कृतकृत्य हो जाता है।

अब इन अंगोंका पृथक् पृथक् वर्णन किया जाता है। लययोगके प्रथम अंगका नाम यम है, जिसका लक्षण यह है:—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचन्त्वेते यमा दश॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच ये दश यम हैं।

लययोगके द्वितीय अङ्गका नाम नियम है। इसका निम्नलिखित लक्षण योगशास्त्रमें बताया गया है।

तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणञ्चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्॥

तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप और व्रत ये नियम हैं।

लययोगके तृतीय अङ्गका नाम स्थूलक्रिया है, जिसमें आसन मुद्रादि सम्मिलित हैं। आसनके विषयमें कहा है:—

आसनाभ्यासतः कायोऽनुकूलः साधनस्य वै।

आसनके साधन द्वारा शरीर योगसाधनानुकूल बन जाता है। हठयोगमें प्रधानतः तैंतीस आसन हैं। वे सब ही हठयोगमें सहायक हैं। परन्तु लययोगके आचार्योंने केवल तीन आसन लययोगसहायक समझे हैं। स्वस्तिकासन, पद्मा-सन और सिद्धासन।

मुद्राके विषयमें योगशास्त्रमें कहा है:—

योगकौशलपूर्णा या स्थूलकायपरा क्रिया।
मुद्रा निर्दिश्यते सा वै योगशास्त्रविशारदैः॥

योगके सुकौशलसे पूर्ण स्थूलशरीरप्रधान क्रियाको मुद्रा कहते हैं। हठ-

योगके ज्ञाता महर्षियोंने पच्चीस प्रकारकी मुद्राओंका हठयोगके लिये विधान किया है। परन्तु लययोगतत्त्वदर्शी महर्षियोंने लययोगसिद्धिके अर्थ केवल आठ मुद्राओंका विधान किया है। प्रत्याहारसिद्धिके लिये शाम्भवीमुद्रा, धारणासिद्धिके लिये पञ्चधारणाकी पांच मुद्रा और ध्यानसिद्धिके लिये शक्तिचालिनी और योनिमुद्रा।

लययोगके चतुर्थ अङ्गका नाम सूक्ष्मक्रिया है, जिसमें प्राणायाम आदि विविध क्रियाएँ सम्मिलित हैं।

कार्यकारणसम्बन्धात्प्राणः स्थूलो मरुत्तथा।
अभिन्नौ,वायुमुख्या या क्रिया सूक्ष्माभिधीयते॥
अन्तर्भवन्तौ सूक्ष्मायां,प्राणायामस्वरोदयौ।
वर्णितावृषिभिर्नूनं लययोगविशारदैः॥

प्राण और स्थूलवायु यह कार्यकारणसम्बन्धसे एक ही हैं। वायु-प्रधानक्रियाको सूक्ष्म कहते हैं। सूक्ष्मक्रियामें प्राणायाम और स्वरोदय अन्तर्गत है, ऐसा लययोगाचार्य महर्षियोंने वर्णन किया है। लययोगके लिये केवल एकही प्राणायाम कहा गया है। उसको केवलीप्राणायाम कहते हैं। इन्द्रियोंके विषयको मनसे हटाकर भ्रूयुगलके मध्यमें चक्षु स्थिर करके नासिका और आभ्यन्तरचारी प्राण और अपानको समभावमें परिणत करनेसे केवलीप्राणायामका साधन होता है। जो साधक केवलीप्राणायामका साधन करते हैं, वेही यथार्थमें योगी हैं। केवलीप्राणायामके साधनसे साधकको इस संसारमें कुछ भी असाध्य नहीं रहता है। इस प्राणायामके साधनको करते हुए तत्कालमें क्रमशः प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि भूमियोंका अनुभव हो सकता है।

स्वरोदय नामक सूक्ष्मक्रियाका वर्णन योगशास्त्रमें द्रष्टव्य है।

लययोगके पञ्चम अङ्गका नाम प्रत्याहार है। इसके लक्षण तथा साधनके विषयमें योगशास्त्रमें निम्नलिखित वर्णन पाये जाते हैं:—

यथा कूर्म्मो निजांगानि समाकुञ्च्य प्रयत्नतः।
प्रापय्यादृश्यतां तेषां निश्चिन्तस्तिष्ठति ध्रुवम्॥
इन्द्रियेभ्यः परावृत्त्य मनःशक्तिं तथा दृढम्।
अन्तर्मुखविधानं यत्प्रत्याहारः प्रकथ्यते॥

अन्तर्जगद्द्वारभूतः प्रत्याहारोऽस्ति तेन वै।
अन्यान्युच्चैः साधनानि लभ्यन्त इति योगिभिः॥
शाम्भवीमुद्रयाभ्यासः प्रत्याहारस्य जायते।
सिद्धये चास्य विविधाः क्रियाः प्रोक्ता मनीषिभिः॥

जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्गोंको सिकोड़ कर अदृश्य कर देता है, उसी प्रकार मनकी शक्तिको इन्द्रियोंसे हटाकर अन्तर्मुख करनेको प्रत्याहार कहते हैं। प्रत्याहार अन्तर्जगत्का द्वार रूप है। प्रत्याहारकी सहायतासे अन्य सब उच्चसाधनोंकी सिद्धि होती है। इसी कारण प्रत्याहारकी महिमा अधिक है। शाम्भवी मुद्रा द्वारा प्रत्याहारअभ्यास किया जाता है। प्रत्याहार सिद्धिके लिये अनेक प्रकारकी क्रियाओंका वर्णन महर्षियोंने किया है।

प्रत्याहारकी सिद्धि प्रारम्भ होते ही नादका प्रारम्भ होता है। नादकी सहायतासे समाधितककी प्राप्ति होती है। इस कारण प्रत्याहारकी महिमा अनन्त है। योगीके स्थिर हो बैठ कर अपने कर्णोंको अंगुलि द्वारा बन्द करते हुए कर्णध्वनिको श्रवण करनेसे भी नादानुसन्धानक्रिया होती है और इस क्रियासे क्रमशः चित्तमे लयका उदय होता है। नादके अभ्याससे योगीके चित्तमें वाह्यध्वनिका आवरण हो जाता है और एक पलमें ही योगीके चित्तकी चञ्चलता दूर होकर वह आनन्दको प्राप्त हो जाता है। प्रथमाभ्यासमें नाना प्रकारके नाद सुननेमें आते हैं। अनन्तर अभ्यास वृद्धिके साथ साथ अनेक सूक्ष्मनाद सुननेमें आते हैं। यथा—आदिमें समुद्र तरङ्गध्वनि, मेघध्वनि, भेरी और झर्झर ध्वनियाँ सुनाई दिया करती हैं। अनन्तर मध्यावस्थामें मर्दल, शंख, घण्टा आदिके शब्द सुननेमें आया करते हैं और अन्तमें प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्रमें स्थिर हो जानेपर देहमध्यसे नाना प्रकारके किङ्किणी, वंशी, वीणा और भ्रमरगुंजनके नाईं शब्द श्रवण होते हैं।

नादानुसन्धानकी भूमि प्रत्याहारसे लेकर समाधि पर्य्यन्त है और नाद श्रवणकी क्रमोन्नति क्रमशः होती है, जैसे जैसे योगी अन्तर्जगत्मे अग्रसर होता है। नाद ही ब्रह्मस्वरूप है।

लययोगके षष्ठ अङ्गका नाम धारणा है। जिसमें षट्चक्र आदि क्रिया भी अन्तर्भुक्त है। धारणाके लक्षणके विषयमें योगशास्त्रमें कहा है—

-अन्तर्जगत् समासाद्य पञ्चतत्वेषु कुत्रचित्।
सूक्ष्मप्रकृतिभावेषु यदा शक्नोति योगवित्॥
आधातुमन्तःकरणं तदा सा धारणा भवेत्॥

योगी जब अन्तर्जगत्में पहुंच कर पञ्चसूक्ष्मतत्त्वोंमेंसे किसी सूक्ष्म प्रकृतिके भावमें अन्तःकरणको ठहरा सकता है, तब उसीका नाम धारणा है। पञ्चधारणामुद्राओंकी सहायतासे पञ्चतत्त्वोंपर अधिकार जमा कर गुरूपदेशलभ्य धारणक्रिया द्वारा योगवित् साधक अन्तरराज्यको वशीभूत कर सकते हैं। उससे विविध शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पांच भूत हैं। इस कारण धारणा भी पांच प्रकारकी हुआ करती है। पैरोंसे लेकर जानुपर्य्यन्त पृथिवीका स्थान है। जानुसे लेकर गुदापर्य्यन्त जल तत्त्वका स्थान है, गुदासे लेकर हृदयपर्य्यन्त अग्नितत्त्वका स्थान है, हृदयसे लेकर भ्रूपर्य्यन्त वायुतत्त्वका स्थान है और भ्रूसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्य्यन्त आकाशतत्त्वका स्थान है। श्रेष्ठमुनिगण पञ्चधारणा नामक मुद्रा द्वारा इस प्रकार पञ्चतत्त्वधारणाका अभ्यास करते हैं।

अब धारणाक्रियाके अन्तर्गत षट्चक्रभेद प्रकरणका वर्णन किया जाता है। योगशास्त्रमें वर्णित है—

गुदात्तु ह्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः।
चतुरङ्गुलविस्तारं कन्दमूलं खगाण्डवत्।
नाड्यस्तस्मात्समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः॥

पायुसे दो अंगुलि ऊपर और उपस्थसे दो अंगुलि नीचे चतुरंगुलिविस्तृत समस्त नाडियोंके मूलस्वरूप पक्षीके अण्डकी तरह एक कन्द विद्यमान है, जिसमेंसे बहत्तर हजार नाडियाँ निकल कर सर्वशरीरमें व्याप्त हो गई हैं। उन नाडियोंमेंसे योगशास्त्रमें तीन नाडियां मुख्य कही गई हैं। यथा—

मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे।
मध्ये नाडी सुषुम्ना त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा॥

मेरुदण्डके बहिर्देशमें इडा तथा पिंगला नामिका दो योगनाडियाँ हैं, जो चन्द्र और सूर्य्यरूपिणी तथा मेरुदण्डके वाम तथा दक्षिण दिशामें विराजमान

रहती है और मेरुदण्डके मध्यदेशमें सत्त्वरजस्तमोगुणमयी तथा चन्द्रसूर्याग्निरूपा सुषुम्ना नाडी स्थित है। मूलसे उत्थित इन तीन नाडियोंकी गति कहांसे कहां तक है, इसके विषयमें योगशास्त्रमे बताया गया है, यथाः—

इडा च पिंगला चैव तस्य वामे च दक्षिणे।
सर्वपद्मानि संवेष्ट्य नासारन्ध्रगते शुभे॥

मूलसे उत्थित होकर मेरुदण्डके वाम और दक्षिण दिशामें समस्त पद्मों अर्थात् चक्रोंको वेष्टन करके आज्ञाचक्रके अन्त पर्यन्त धनुषाकारसे इडा तथा पिङ्गला नाडी जाकर भ्रूमध्यके ऊपर ब्रह्मरन्ध्रमुखमें सङ्गता हो नासारन्ध्रमें प्रवेश करती है। भ्रूमध्यके ऊपर जहां पर इडा और पिङ्गला मिलती है वहां पर मेरुमध्यस्थित सुषुम्ना भी जा मिलती है। इस लिये वह स्थान त्रिवेणी कहलाता है। क्योंकि शास्त्रमे इन तीनों नाडियोंको गङ्गा, यमुना तथा सरस्वती कहा गया है, यथा योगशास्त्रमें—

इडा भोगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥

इडा भोगवती गङ्गा, पिङ्गला यमुना और इन दोनोंके मध्यमे सुषुम्ना सरस्वती है। मेरुदण्डके मध्यस्थित सुषुम्ना अत्यन्तसूक्ष्म तथा स्थूलनेत्रके अगोचर होनेसे अन्तःसलिला सरस्वती रूप है। जिस प्रकार गङ्गा, यमुना तथा सरस्वतीके सङ्गमस्थान त्रिवेणीमें स्नान करनेसे मुक्ति होती है, उसी प्रकार जो योगी योगबलसे अपनी आत्माको ब्रह्मरन्ध्रमुखमें सङ्गता त्रिवेणीमे स्नान करा सकते हैं, उनको मोक्ष मिलता है, यथा शास्त्रमें :—

त्रिवेणीयोगः सा प्रोक्ता तत्र स्नानं महाफलम्।

त्रिवेणीमें स्नान करनेसे महाफलकी प्राप्ति होती है। भ्रूमध्यके पास इडा तथा पिङ्गलाके साथ सुषुम्नासे मिलनेके विषयमें योगशास्त्रमे लिखा है—

चापाकारे स्थिते चान्ये सुषुम्ना प्रणवाकृतिः।
पृष्ठास्थिघुण्टितो भिन्ना तिर्यग्भूता ललाटगा।
भ्रूमध्ये कुण्डलीलग्ना मुखेन ब्रह्मरन्ध्रगा॥

धनुषाकार इडा तथा पिङ्गलाके बीचमें से प्रणवाकृति सुषुम्ना मेरुदण्डके अन्त तक जाकर मेरुदण्डसे अलग हो वक्राकार धारण करके भ्रूयुगलके ऊपर

ब्रह्मरन्ध्रमुखमें इडा और पिङ्गलाके साथ त्रिवेणीमें जा मिलती है और तदनन्तर वहांसे ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त जाती है। इडा तथा पिङ्गलाकी तरह सुषुम्ना भी मूलाधार पद्मान्तर्वर्त्ती कन्दमूलसे निकल कर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त गई है। इसका और भी प्रमाण है, यथा योगशास्त्रमें :—

मेरुमध्ये स्थिता या तु मूलादाब्रह्मरन्ध्रगा।

मेरुदण्डके मध्यस्थित सुषुम्ना कन्दमूलसे निर्गत होकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त जाती है। अब ब्रह्मज्ञानप्रदानकारिणी अतः ब्रह्मनाडी सुषुम्नाके विषयमे योगशास्त्रकी सम्मति कही जाती है, यथा—

विद्युन्मालाविलासा मुनिमनसि लसत्तन्तुरूपा सुसूक्ष्मा।
शुद्धज्ञानप्रबोधा सकलसुखमयी शुद्धबोधस्वभावा॥
ब्रह्मद्वारं तदास्ये प्रविलसति सुधाधारगम्यप्रदेशम्।
ग्रन्थिस्थानं तदेतद्वदनमिति सुषुम्नाख्यनाड्यालपन्ति॥

विद्युत्‌की मालाओंकी तरह जिसका प्रकाश है, मुनियोंके चित्तमें सूक्ष्मप्रदीप्त मृणालतन्तुरूपसे जो शोभायमान होती है, शुद्ध ज्ञानकी प्रबोधकारिणी, सकलसुखमयी तथा शुद्धज्ञानस्वभावा यह ब्रह्मनाडी सुषुम्ना है। इसी नाडीके मुखमें ब्रह्मद्वार अर्थात् कुलकुण्डलिनीशक्तिके शिवसन्निधानमें जाने आनेके लिये पथ विद्यमान है और वह स्थान परमशिवशक्तिसामरस्यके द्वारा निर्गत अमृतधाराके प्राप्त करनेका भी स्थान है। यही ब्रह्मद्वार ग्रन्थिस्थान अर्थात् कन्द तथा सुषुम्नाका सन्धिस्थान होनेसे सुषुम्ना नाडीका मुख है, ऐसा योगी लोग कहते है। इस मूलसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त विस्तृत सुषुम्नानाडीकी छः ग्रन्थियां हैं, जो षट्‌चक्र कहलाती हैं। उनके नाम—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र हैं। योगक्रियाके द्वारा मूलाधारस्थिता निद्रिता कुलकुण्डलिनीको जागृत करके इन छः चक्रोंके द्वारा सुषुम्नापथमे प्रवाहित करके ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर सहस्रदलकमलस्थित परमशिवमें लय कर देना ही लययोगका उद्देश्य है। इसीको षट्‌चक्रभेद कहते हैं।

लययोगके सप्तम अङ्गका नाम ध्यान है। इसका निम्नलिखित लक्षण और फल योगशास्त्रमें बताया गया है—

अवलोकनसाहाय्याद्ध्यानवृत्तिपुरस्सरम्।
साक्षात्कारो हि ध्येयस्य ध्यानमित्युच्यते बुधैः॥

अवलोकनकी सहायतासे ध्यानवृत्ति द्वारा ध्येयके साक्षात्कारको ध्यान कहते हैं। लययोगके लिये महर्षियोंने जिस ध्यानकी विधि वर्णित की है उसको सूक्ष्मध्यान अथवा विन्दुध्यान कहते हैं। शक्तिचालिनीमुद्रा दोनों ही विन्दुध्यान-की सिद्धिमें परमसहायक हैं। साधन द्वारा कुलकुण्डलिनीमहाशक्तिका जब उद्बोधन होने लगता है तो वे दर्शनपथमें आती हैं। परन्तु प्रकृतिके स्वाभाविक चाञ्चल्यके कारण अस्थिर रहती है। क्रमशः महाशक्तिका परमपुरुषके साथ संयोग होनेपर प्रकृतिका चाञ्चल्य दूर हो जाता है। ब्रह्म अथवा ब्रह्मशक्ति अतीन्द्रिय वा रूपविहीन होनेपर भी अधिदैवज्योतिके रूपमें साधकको लयोन्मुख करनेके अर्थ युगलरूपमें दर्शन देते हैं। अधिदैव ज्योतिःपूर्ण विन्दुमय उस ध्यानको विन्दुध्यान कहते हैं, मुद्रा आदिकी सहायतासे ध्यानका प्रारम्भ करके निश्चल निर्द्वन्द्व होकर ध्यानकी दृढ़ता की जाती है।

स्थूलध्यानसे शतगुण फल ज्योतिर्ध्यानमें है और ज्योतिर्ध्यानसे शतगुण फल विन्दुध्यानमें है। प्रत्याहारकी दृढता होते ही नादश्रवण होना प्रारम्भ हो जाता है। अवस्थाभेदसे उत्तरोत्तर नादकी उन्नति होती जाती है। नादकी सहायतासे धारणासिद्धि और ध्यानसिद्धि होती है। ज्योतिका विकाश धारणाभूमिमें होता है। धारणाकी क्रमोन्नतिके साथ ज्योतिकी क्रमोन्नति होती है। निहार, धूम्र, खद्योत, चन्द्र, अग्नि, सूर्य आदि भेदसे ज्योतियोंका विकाश पञ्चतत्त्वभेदानुसार होता है। धारणाभूमिकी दृढ़तासे इनकी दृढ़ता होती है और अन्तमें धारणाकी सिद्धा-वस्थामें प्रकृतिपुरुषात्मक आत्मदर्शन विन्दुध्यानमे होता है। विन्दुध्यान ही सगुणरूपका रहस्य है। अनेक जन्मजन्मान्तरके साधन द्वारा योगीको विन्दुध्यान-की सिद्धि होती है।

लययोगके अष्टम अंगका नाम लयक्रिया है, जिसके साथ लययोग-समाधिका घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान है। इसके विषयमे योगशास्त्रमें निम्नलिखित वर्णन मिलते हैं, यथाः—

सूक्ष्मा योगक्रिया या स्याद्ध्यानसिद्धिं प्रसाध्य वै।
समाधिसिद्धौ साहाय्यं विदधाति निरन्तरम्॥
दिव्यभावयुता गोप्या दुष्प्राप्या सा लयक्रिया।
महर्षिभिर्विनिर्दिष्टा योगमार्गप्रवर्तकैः॥

लयक्रिया प्राणभूता लययोगस्य साधने ।
समाधिसिद्धिदा प्रोक्ता योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
षट्चक्रं षोडशाधाराद्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
पीठानि चोनपञ्चाशज्ज्ञात्वा सिद्धिरवाप्यते ॥
समाधिसिद्धिर्ध्यानस्य सिद्धिश्चाप्यनया भवेत् ।
आत्मप्रत्यक्षतां याति चैतया योगविज्जनः ॥

जो सूक्ष्मयोगक्रियायें ध्यानकी सिद्धि करा कर साधककी समाधिसिद्धिमें सहायक होती हैं, अलौकिकभावपूर्ण अतिगोप्य और अति दुर्लभ उक्त क्रियाओंको महर्षियोंने लयक्रिया करके वर्णन किया है । लयक्रिया ही लययोगका प्राणरूप है और समाधिसिद्धिका कारण है । षट्चक्र, षोडश आधारसे अतीत व्योमपञ्चक और उनचास पीठ इनको जाननेसे लययोगमें सिद्धि प्राप्त होती है । लयक्रियाके द्वारा ध्यानसिद्धि, समाधिसिद्धि होती है और आत्मसाक्षात्कार होता है ।

लययोगके नवम अर्थात् अन्तिम अंगका नाम समाधि है । उसके लिये योगशास्त्रमें वर्णन है, यथा—

सरित्पतौ पतित्वाम्बु यथा भिन्नमियाल्लयम् ।
तथाभिन्नं मनस्तत्र समाधिं समवाप्नुयात् ॥
सलिलं सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥
प्रशस्ता लययोगस्य समाधिर्हि महालयः ।
नादस्य विन्दोः साहाय्यात्समाधिरधिगम्यते ॥
नादस्य विन्दोश्चैकत्वे मनस्तत्र विलीयते ।
दृश्यनाशात्तदाद्रष्टृरूपमेति प्रकाशताम् ॥

जिस प्रकार जलका विन्दु समुद्रमें मिलकर समुद्रसे अभिन्न हो जाता है, उसी प्रकार ध्येयरूप परमात्मामें संलग्न हुआ अन्तःकरण उसी ध्येय अर्थात् परमेश्वरके अभिन्नरूपको धारण कर लेता है; इस अवस्थाको समाधि कहते हैं । जिस प्रकार जलमें निक्षिप्त हुआ लवण क्रमशः जलके सम्बन्धसे

जलमें ही मिल जाता है, उसी प्रकार विषयसे स्वतन्त्र हुआ मन ध्येयवस्तु परमात्मामें युक्त होकर अन्तमें परमात्माके स्वरूपको ही प्राप्त हो जाता है और यह आत्मस्वरूपप्राप्ति ही समाधि कहाती है। लययोगकी सर्वोत्तमसमाधिको महालय कहते हैं। नाद और विन्दुकी सहायतासे इस समाधिकी सिद्धि होती है। प्रथम नाद और विन्दुका एकत्व हो कर उनके साथ मन भी लय हो जाता है। उसी समय दृश्यका नाश हो कर द्रष्टाका स्वरूप प्रकट हो जाता है। इसी सर्वोत्तमसाधनको समाधि कहते हैं।

(राजयोग)।

क्रियामूलक योगसाधनोंमेंसे अन्तिम साधन राजयोग है।

'राजत्वात्सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः'

सब योगोंके राजा या सब योगोंमें श्रेष्ठतम होनेसे ही इसका नाम राजयोग है, ऐसा कहकर योगशास्त्रमें राजयोगकी सर्वोत्कृष्टता बताई गई है। महर्षि याज्ञवल्क्यजीने निजसंहितामें लिखा है:—

'अयन्तु परमोधर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्'

समस्त धर्मोंमें श्रेष्ठ धर्म यही है, कि योगबलसे परमात्माका साक्षात्कार किया जाय। राजयोगकी सिद्धदशामें जीवब्रह्मकी एकतासिद्धि हो कर सर्वत्र अद्वितीय परब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है, इसीलिये राजयोग सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। वेदान्तप्रतिपाद्य निर्गुण मायासे अतीत परब्रह्मकी उपलब्धि ही इस योगका उद्देश्य है। इसलिये जिस प्रकार वेदान्तभूमिमें अधिकारलाभ करनेके अर्थ साधकको नित्यानित्यवस्तु-विवेक, शमदमादि षट् सम्पत्ति, इहामुत्रफल-भोगविराग तथा मुमुक्षुत्त्व इन साधन चतुष्टयसे सम्पन्न होना पड़ता है; उसी प्रकार राजयोगसाधनके पहिले भी योगीको साधनचतुष्टय सम्पन्न होना पड़ता है। अन्यथा राजयोगमें कदापि सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

अब नीचे योगशास्त्रोंमें वर्णित राजयोगलक्षण और साधनक्रम बताये जाते हैं:—

सृष्टिस्थितिविनाशानां हेतुता मनसि स्थिता।
तत्साहायात्साध्यते यो राजयोग इति स्मृतः॥

अन्तःकरणभेदास्तु मनोबुद्धिरहङ्कृतिः ।
चित्तञ्चेतिविनिर्दिष्टाश्चत्वारो योगपारगैः ॥
तदन्तःकरणं दृश्यमात्मा द्रष्टा निगद्यते ।
विश्वमेतत्तयोः कार्यकारणत्वं सनातनम् ॥
दृश्यद्रष्ट्रोश्च सम्बन्धात्सृष्टिर्भवति शाश्वती ।
चाञ्चल्यं चित्तवृत्तीनां हेतुमत्र विदुर्बुधाः ॥
वृत्तीर्जित्वा राजयोगः स्वस्वरूपं प्रकाशयेत् ।
विचारबुद्धेः प्राधान्यं राजयोगस्य साधने ॥
ब्रह्मध्यानं हि तद्ध्यानं समाधिर्निर्विकल्पकः ।
तेनोपलब्धिसिद्धिर्हि जीवन्मुक्तः प्रकथ्यते ॥
उपलब्धमहाभावा महाबोधान्विताश्च वा ।
महालयं प्रपन्नाश्च तत्त्वज्ञानावलम्बतः ॥
योगिनो राजयोगस्य भूमिमासादयन्ति ते ।
योगसाधनमूर्द्धन्यो राजयोगोऽभिधीयते ॥

सृष्टि, स्थिति और लयका कारण अन्तःकरण ही है, उसकी सहायतासे जिसका साधन किया जाता है, उसको राजयोग कहते हैं । मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार ये अन्तःकरणके चार भेद हैं । अन्तःकरण दृश्य और आत्मा द्रष्टा है । अन्तःकरणरूपी कारणदृश्यसे जगत्‌रूपी कार्य्यदृश्यका कार्य-कारणसम्बन्ध है । दृश्यसे द्रष्टाका सम्बन्ध स्थापित होनेपर सृष्टि होती है । चित्तवृत्तिका चाञ्चल्य ही इसका कारण है । वृत्तिजयपूर्वक स्वस्वरूपका प्रकाश करना राजयोग कहाता है । राजयोगसाधनमें विचारबुद्धिका प्राधान्य रहता है। विचारशक्तिकी पूर्णता द्वारा राजयोगका साधन होता है । राजयोगके ध्यानको ब्रह्मध्यान कहते हैं । राजयोगकी समाधिको निर्विकल्पसमाधि कहते है । राजयोगसे सिद्धिप्राप्त महात्माका नाम जीवन्मुक्त है । महाभावप्राप्त योगी, महाबोधप्राप्त योगी या महालयप्राप्त योगी तत्त्वज्ञानकी सहायतासे राजयोगभूमिमें अग्रसर होते हैं। राजयोग सब योगसाधनोंमें श्रेष्ठ है और साधनकी चरमसीमा है, इस कारण इसको राजयोग कहते हैं ।

यह बात पहिले ही कही गई है कि, श्रीभगवान् पतञ्जलिके द्वारा वर्णित अष्टांगयोग ही सब योगसाधनोंका भित्तिरूप है। इस लिये राजयोगके साधनाङ्गोंके मूलमे भी योगदर्शनोक्त अष्टांगका सन्निवेश है। परन्तु राजयोगका साधन केवल अन्तःकरण द्वारा सूक्ष्मरूपसे होनेसे और उसमें स्थूलशरीर तथा वायुसम्बन्धीय कोई भी क्रिया न रहनेसे मन्त्र-हठ-लययोगोक्त साधनोंकी तरह राजयोगमे कथित आसन, प्राणायाम आदिके साथ कोई भी स्थूलक्रियाका सम्बन्ध नही है। वे सब अन्तःकरणके द्वारा सूक्ष्म तथा विचित्ररूपसे ही साधित होते है, जैसा कि नीचे बताया जाता है—

यमः—सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥

समस्त जगत् ब्रह्म है—ऐसा जानकर इन्द्रिय-सयमको यम कहते हैं। इसका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये।

नियमः—सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः।
नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः॥

स्वजातीय प्रवाह और विजातीय तिरस्कृति अर्थात् चेतनरूपी सद्भावका ग्रहण और जड़रूपी असद्भावका त्याग करने योग्य विचारको नियम कहते है।

त्यागः—त्यागः प्रपञ्चरूपस्य चिदात्मत्वावलोकनात्।
त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षमयो मतः॥

चिदात्मभावके अवलोकनसे प्रपञ्चस्वरूपके त्यागको त्याग कहते हैं। महात्मा लोग इस साधनका बहुत ही आदर करते हैं। क्योकि, इससे शीघ्र मोक्षप्राप्ति होती है।

मौनम्—यस्माद्वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
यन्मौनं योगिभिर्गम्यं तद्भवेत्सर्वदा बुधः॥
वाचो यस्मान्निवर्त्तन्ते तद्वक्तुं केन शक्यते।
प्रपञ्चो यदि वक्तव्यः सोऽपि शब्दविवर्जितः॥
इति वा तद्भवेन्मौनं सतां सहजसंज्ञितम्।
गिरामौनं तु बालानां प्रयुक्तं ब्रह्मवादिभिः॥

जिसको वाणी और मन नहीं प्राप्त कर सकते है और जिसका अनुमान केवल योगी लोग ही कर सकते है, ऐसे परमब्रह्मपदकी ही मौन संज्ञा है। उस भावको लाभ करनेके लिये पण्डितोंको सदा प्रयत्न करना चाहिये। जिसके वर्णनमें वाक्‌शक्ति थक जाती है—अर्थात् जिस पदका कोई भी वर्णन नहीं करता, यदि प्रपञ्चका ही वर्णन किया जाय, तो भी वर्णनमें शब्द समर्थ नहीं हो सकता। अतः साधुओंकी यह सहजावस्था ही मौन कहाती है वाणी रोकनेको जो मौन कहा जाता है, वह ब्रह्मवादियोंके अर्थ बालकका खेल ही है।

देशः—आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते।
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः॥

जिस देशके न तो आदिमें, न मध्यमे और न अन्तमें जनताका सम्बन्ध पाया जाय, जो देश सदा परमात्मासे व्याप्त रहता हो, वही संसारसम्बन्धशून्य देश विजनदेश कहाता है।

कालः—कलनात्सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां निमेषतः।
कालशब्देन निर्दिष्टश्चाखण्डानन्द अद्वयः॥

जिसके निमेषमात्रमे ब्रह्मादिसे लेकर सब भूतोंके सृष्टिस्थितिलय हुआ करते हैं, वही अखण्डानन्दरूप अद्वितीयभाव काल कहाता है।

आसनम्—सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।
आसनं तद्विजानीयान्नेतरत्सुखनाशनम्॥
सिद्धं यत्सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमव्ययम्।
यस्मिन् सिद्धाः समाविष्टास्तद्वै सिद्धासनं विदुः॥

जिस अवस्थामें सुखके साथ ब्रह्मचिन्तन होता हो उसे आसन कहते हैं। उस भावके अतिरिक्त जो इतर स्थूलभाव है उनमें सुखनाश ही हुआ करता है। जो सब भूतोंके आदि, विश्वके अधिष्ठान और अव्यय है और जिस स्वरूपमें सिद्ध लोग स्थित हैं, उसे सिद्धासन कहते है।

देहसाम्यम्—अङ्गानां समतां विद्यात् समे ब्रह्मणि लीयते।
नोचेन्नवसमानत्त्वमृजुत्वं शुष्कवृक्षवत्॥

समभावापन्न ब्रह्ममें लीन होनेको ही देहसाम्य कहते हैं। शुष्कवृक्षकी नाईं ऋजुताको देहसाम्य नही कहा जाता है।

दृक्स्थितिः– दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद्ब्रह्ममयं जगत् ।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ॥
दृष्टिदर्शनदृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत् ।
दृष्टिस्तत्रैव कर्त्तव्या न नासाग्रावलोकिनी ॥

दृष्टिको ज्ञानमयी करके समस्त प्रपञ्चमय जगत्‌को ब्रह्ममय देखनेको ही दृक्स्थिति कहते हैं, वही दृक्स्थिति परम मङ्गलकारी है, नासाके अग्रभागमें देखनेको दृक्स्थिति नहीं कह सकते । जिस अवस्थामें अथवा जिस भावमें दृष्टि, दर्शन तथा दृश्यका एकीकरण द्वारा विराम हो जाय, उसी भावको यथार्थमें दृक्स्थिति कह सकते हैं, वैसी दृक्स्थितिका अभ्यास करना ही योग्य है। नासाग्र अवलोकन करनेवाली दृक्स्थिति यथार्थ नहीं है ।

मूलबन्धः—यन्मूलं सर्वभूतानां यन्मूलं चित्तबन्धनम् ।
मूलबन्धः सदा सेव्यो योग्योऽसौ राजयोगिनाम् ॥

जो सर्वभूतौका मूल है और जो चित्तवृत्तिनिरोधका कारण है वही मूलबन्ध कहाता है। यह अवस्था सदा राजयोगके योगियोंको सेवन करने योग्य है ।

प्राणसंयमनम्–चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वे सर्वभावनात् ।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ॥
निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरणः ।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरीरितः ॥
अतस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः ।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां घ्राणपीडनम् ॥

चित्त आदि सब प्रकारके सृष्टि सम्बन्धीय भावोंको ब्रह्मभावमें परिणत करके जब सब प्रकारकी वृत्तियोंका निरोध कर लिया जाता है, तो उसी अवस्था-का नाम प्राणायाम है। भावना द्वारा सब प्रपञ्चोंका नाश कर देनेको रेचक-प्राणायाम और मैं ब्रह्म हूं इस प्रकार वृत्तिको पूरकप्राणायाम कहते है। तदनन्तर निश्चलरूपसे ब्रह्मभावमें स्थिर रहनेको कुम्भकप्राणायाम कहते हैं । यही ज्ञानियौंके लिये प्राणायामक्रियाएँ है; किन्तु अज्ञानिगण नासिका इन्द्रियको पीड़ा देकर प्राणायाम किया करते हैं ।

प्रत्याहार :— विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चितिमज्जनम् ।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः ॥

विषयोंके बीच आत्मतत्त्वको देखते हुए मनको चैतन्य स्वरूपमें लगाने से प्रत्याहार कहाता है । मुमुक्षुगणोंको इस प्रत्याहार-क्रियाका अवश्य साधन करना उचित है ।

धारणा — यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात् ।
मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता ॥

जहां जहां मन जाय वहां वहां ही ब्रह्म स्वरूप दर्शन करते हुए जो मनकी स्थिरताका साधन है, उसीको सर्वोत्तम धारणा कहते हैं ।

आत्मध्यानम्—ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः ।
ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी ॥

मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार सद्वृत्तिके द्वारा निरालम्बरूपसे जो स्थिति है उसे ध्यान कहते हैं । इससे परमानन्दकी प्राप्ति होती है ।

समाधिः—निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः ।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिर्ज्ञानसंज्ञकः ॥
ऊर्द्ध्वपूर्णमधः पूर्णं मध्यपूर्णं तदात्मकम् ।
सर्वपूर्णं स आत्मेति समाधिस्थस्य लक्षणम् ॥

निर्विकार चित्त हो कर अपने आप को ब्रह्मस्वरूप ज्ञान करके सम्पूर्णवृत्ति-सहित सृष्टिभावसे रहित हो जानेको समाधि कहते हैं । जो ऊर्द्ध्वपूर्ण, अधःपूर्ण, मध्यपूर्ण और सर्वपूर्ण अर्थात् सकल स्थानमें पूर्णरूपसे विराजमान है वही परमात्मा हैं । उन्हीको जान लेनेसे साधक समाधिप्राप्त हो जाता है और उनका वह पूर्णभाव ही समाधिका लक्षण है ।

राजयोगके उन्नततम अधिकारको समझानेके लिये योगशास्त्रमें योगके अंग तथा उपांगोंके ये सब लक्षण वर्णन किये गये हैं । राजयोगके स्वरूपकी उपलब्धिके लिये योगाचार्योंका इस प्रकारसे प्रयत्न है । मन्त्रयोग, हठयोग तथा लययोग ये तीनों साधनावस्थाके योग हैं और राजयोग सिद्धावस्था है । इसी कारण ऊपर कथित राजयोगके योगांगोंके लक्षणमें अन्य योगोंके योगांगोंका

कुछ खण्डनसा प्रतीत होता है, वास्तवमें अन्य योगमार्गोंके क्रियासिद्धांशका यह खण्डन नही है, केवल राजयोगका अधिकार किस प्रकार आत्मज्ञान मूलक है, उसको स्पष्टरूपसे बतानेके लिये यह दिग्दर्शन कराया गया है।

जीवकी व्यष्टिसत्ता परमात्माकी समष्टिसत्तामे राजयोगसाधनकी अन्तिम-दशामें किस प्रकारसे विलीन की जाती है, वह योगशास्त्रमे निम्नलिखित रूपसे बतलाया जाता है, यथाः—

जले संलीयते पृथ्वी जलमग्नौ विलीयते।
अग्निर्वायौ लयंयाति खें वायुश्च प्रलीयते॥
एवं स्थूलेषु भूतेषु लयं यातेषु वै मिथः।
मनो बुद्धावहंकारे बुद्धेश्चित्तेत्वहंकृतिः॥
क्षेत्रज्ञे विलयं याति चित्तं क्षेत्रज्ञ आत्मनि।
सर्वं तरति पाप्मानं कल्पकोटिशते कृतम्॥
घटसंवृतमाकाशं लीयमानं यथा घटे।
घटे नष्टे महाकाशे तद्वज्जीवः परात्मनि॥

पृथिवी जलमें लयको प्राप्त होती है, अग्निमें जल लय हो जाता है, अग्नि वायुमें लय होती है और वायु आकाशमे लय-प्राप्त हो जाता है। इस तरहसे विलोमक्रमके अनुसार स्थूलभूतोंके लयके अनन्तर बुद्धिमें मन, अहङ्कारमें बुद्धि, चित्तमें अहङ्कार, क्षेत्रज्ञमें चित्त और परमात्मामे क्षेत्रज्ञ लयको प्राप्त हुआ करते हैं। इस अवस्थामें कोटिकल्पशतमें किये हुए पापसमूहसे भी साधक उत्तीर्ण हो सकता है। घट नष्ट होने पर तदन्तर्गत आकाश जिस प्रकार महाकाशमे लयको प्राप्त होता है, उसी रूपसे अविद्या विनाशके अनन्तर जीव भी परमात्मामें लय प्राप्त हुआ करता है।

अब गुरूपदेशानुसार राजयोगके विविध अगों के साधन द्वारा उल्लिखित परमपदप्राप्ति कैसे होतीहै, सो नीचे क्रमशः बताया जाता है। राजयोगके षोड़श अग योगशास्त्रमें बताये गये हैं।

सप्त ज्ञानभूमिकाओंके अनुसार सात अंग हैं। वे सब विचारप्रधान है। उनके साधन अनेक प्रकारके है। धारणाके अंग दो हैं। एक प्रकृति-धारणा और

दूसरी ब्रह्मधारणा। ध्यानके तीन अंग हैं। विराट्ध्यान, ईशध्यान और ब्रह्मध्यान। ब्रह्मध्यानमें ही सबकी परिसमाप्ति होती है। समाधिके चार अंग हैं, दो सविचार और दो निर्विचार। इस प्रकारसे राजयोगके षोड़श अंगोंके साधनद्वारा राजयोग कृतकृत्य होता है। मंत्रयोग, हठयोग और लययोग इन तीनोंमे सिद्धिलाभके अनन्तर अथवा किसी एकमें सिद्धिलाभ करनेके अनन्तर साधकको राजयोगका पूर्णाधिकार प्राप्त होता है।

इन षोड़शअंगोंमें से सप्तज्ञानभूमिके अनुसार प्रथम सप्तांग निम्नलिखित हैं—

निमित्तकारणीभूतं सृष्टेर्ब्रह्मेति बोधनम्।
षोडशानां पदार्थानां तत्वाप्तिर्ज्ञानतःस्फुटम्॥
परमाणोश्च नित्यत्वं प्रथमं भूमिदर्शनम्।
धर्म्माधर्म्मौ विनिर्णीय षट्पदार्थान्विचार्य्य वै॥
परतत्त्वोपलब्धिश्च द्वितीयं भूमिदर्शनम्॥
वृत्तयो जगतोमूलं रुद्ध्वा ता यत्नपूर्वकम्।
परतत्त्वोपलब्धिर्हि तृतीया भूमिका मता॥
विदित्वा प्रकृतिं सम्यक् परतत्त्वावबोधनम्।
कथयन्ति बुधा एतत्तुरीयं भूमिदर्शनम्॥
प्राधान्यात् कर्म्मणो ब्रह्म जगदेवेति निश्चयः।
पञ्चमी भूमिका सेयं निर्दिष्टा तत्ववेदिभिः॥
भक्तेः प्रधानताहेतोर्ब्रह्मैवनिखिलं जगत्॥
येयं बुद्धिर्विनिर्दिष्टा सा षष्ठी भूमिका मता।
ज्ञानाधिक्यादहंब्रह्मास्मीति धीः सप्तमी भवेत्॥

परमाणुकी नित्यता, ब्रह्मको सृष्टिका निमित्तकारण देखना, षोड़श पदार्थके ज्ञान द्वारा परमतत्त्वकी प्राप्ति करना यह प्रथम भूमिकाका दर्शन है। धर्माधर्मनिर्णय और षट्पदार्थके ज्ञान द्वारा परमतत्त्वका ज्ञानलाभ करना यह दूसरी भूमिकाका दर्शन है। जगत्का मूल वृत्ति है। अतः चित्तवृत्तिके निरोध द्वारा परमतत्त्वका लाभ करना तृतीय भूमिकाका दर्शन है। प्रकृतिको सम्यक्प्रकारसे जानकर परमतत्त्व साक्षात्कार करना चतुर्थ भूमिकाका दर्शन है। कर्मकी प्रधानता

से जगत् ही ब्रह्म है यह दर्शन पञ्चम भूमिकाका है। भक्तिकी प्रधानतासे ब्रह्म ही जगत् है, यह दर्शन षष्ट भूमिकाका है। और मैं ही ब्रह्म हूं, ज्ञानकी प्रधानतासे यह दर्शन सप्तम भूमिकाका है।

जिन सप्त ज्ञानभूमियोंके अनुसार राजयोगके प्रथम सप्तांगोंका साधन होता है, उनके नाम निम्नलिखित रूपसे योग-शास्त्रमें वर्णित किये गये हैं, यथा :—

ज्ञानदा ज्ञानभूमेर्हि प्रथमा भूमिका मता।
सन्यासदा द्वितीया स्यात्तृतीया योगदा भवेत्॥
लीलोन्मुक्तिश्चतुर्थी वै पंचमी सत्पदा स्मृता।
षष्ठ्यानन्दपदा ज्ञेया सप्तमी च परात्परा॥
यत्किंचिदासीत् ज्ञातव्यं ज्ञातं सर्वं मयेति धीः।
आद्या या भूमिकायाश्चानुभवः परिकीर्तितः॥
त्याज्यं त्यक्तं मयेत्येवं द्वितीयोऽनुभवो मतः।
प्राप्या शक्तिर्मया लब्धानुभवो हि तृतीयकः॥
मायाविलसितंचैतत्तद्दृश्यते सर्वमेव हि।
न तत्र मेऽभिलाषोऽस्ति चतुर्थोऽनुभवो मतः॥
जगद्ब्रह्मेत्यनुभवः पंचमः परिकीर्त्तितः।
ब्रह्मैवेदं जगत् षष्ठोऽनुभवः किल कथ्यते॥
अद्वितीयं निर्विकारं सच्चिदानन्दरूपकम्।
ब्रह्माहमस्मीतिमतिः सप्तमोऽनुभवो मतः।
इमां भूमिं प्रपद्यैव ब्रह्मसारूप्यमाप्यते॥

प्रथम ज्ञानभूमिका नाम ज्ञानदा, दूसरीका नाम सन्यासदा, तीसरीका योगदा, चतुर्थीका नाम लीलोन्मुक्ति, पचमका नाम सत्पदा, षष्ठका नाम आनन्द-पदा और सप्तम ज्ञानभूमिका नाम परात्परा है। मुझे जो कुछ जानना था, सो सब कुछ जान लिया है यह प्रथम भूमिका अनुभव है। मुझे जो कुछ त्यागना था सो सब त्याग दिया है यह दूसरीका अनुभव है। मुझे जो शक्ति प्राप्त करनी थी

सो करली है, यह तीसरीका अनुभव है। मायाकी लीला मुझे सब कुछ दिखाई देती है मैं उसमें मोहित नहीं होता, यह चतुर्थका अनुभव है। जगत् ही ब्रह्म है, यह पंचमका अनुभव है। ब्रह्म ही जगत् है, यह षष्ठका अनुभव है। और मैं ही अद्वितीय निर्विकार विभु सच्चिदानन्द ब्रह्म हूं यह सप्तमका अनुभव है। इस भूमिको प्राप्त करके साधक ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

योगशास्त्रमें राजयोगकी धारणा निम्नलिखितरूपसे बताई गई है। प्रथम पंचधारणामुद्राके अभ्यास द्वारा योगिराज क्षिति, अप, तेज, मरुत, आकाश इन पांचों तत्त्वोंकी धारणामें सिद्धिलाभ करता है और साथ ही साथ पंच-सूक्ष्मक्रियाके साधन द्वारा इन पांचतत्त्वोंको जय करनेमें समर्थ होता है। राज-योगकी धारणाकी सिद्धिमें पंचधारणामुद्रा और पंचसूक्ष्मलयक्रिया परमसहायक है। तत्पश्चात् योगिराज उन्नतभूमिमें पहुँचकर त्रिविध ब्रह्मध्यानके साधनमें समर्थ होता है। अपरिपक्वदशामें धारणाभ्यासकी सहायतासे ही ब्रह्म, ईश्वर, विराट्रूपी त्रिविध धारणासे साधक अग्रसर होता है। धारणाके वास्तवमें दो अंग हैं। एक प्रकृतिधारणा और दूसरा ब्रह्मधारणा। ये दोनों धारणाके अंग जीवन्मुक्त गुरुके द्वारा साधकको प्राप्त हो सकते हैं।

धारणाके अनन्तर ध्यानका अभ्यास होता है, जिसके विषयमें योगशास्त्र-में निम्नलिखित वर्णन मिलते हैं, यथाः—

राजयोगी ध्यानाभ्यास करते समय वेद, शास्त्र और गुरुकी सहायतासे ब्रह्म, ईश और विराट् रूपी त्रिविध ध्यान करनेमें समर्थ होता है। राजयोगके ध्यानकी यह विलक्षणता है कि मन्त्रयोग, हठयोग और लययोगके साधकको केवल एक प्रकारका ही ध्यान करना होता है और उनको ध्यानान्तरसे हानि होती है, परन्तु राजयोगीके लिये त्रिविध ध्यान हितकर है। मैं ही सच्चिदानन्द ब्रह्म हूं, मैं ही दृश्यका द्रष्टा हूं, मैं ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड हूँ इत्यादि भाव राजयोग-ध्यानमें होते है। जीवन्मुक्त गुरुदेवकी सहायतासे शास्त्रोंका रहस्य और राज-योग साधनोंका रहस्य साधकको प्राप्त होता है। इस ध्यानकी सिद्धिसे निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति होती है। राजयोगमें सिद्धिलाभ करनेके अर्थ अनेक साधन-क्रियाएँ योगतत्त्ववेत्ताओंने वर्णन की है।

अब राजयोगोक्त समाधिका वर्णन किया जाता है—

साधनं राजयोगस्य धारणाध्यानभूमितः।
आरभ्यते समाधिर्हि साधनं तस्य मुख्यतः॥
समाधिभूमौ प्रथमं वितर्कः किल जायते।
ततो विचार आनन्दानुगता तत्परा मता॥
अस्मितानुगता नाम ततोऽवस्था प्रजायते॥
द्वैतभावास्तु निखिला विकल्पश्च तथा पुनः।
क्षीयन्ते यत्र सा ज्ञेया तुरीयेति दशा बुधैः॥
समाधिसाधनं शास्त्राभ्यासतो न हि लभ्यते।
गुरोर्विज्ञाततत्त्वात्तु प्राप्तुं शक्यमिति ध्रुवम्॥

राजयोगका साधन प्रथमावस्थामें धारणा और ध्यानभूमिसे प्रारम्भ होता है और राजयोगकी साधनभूमि प्रधानतः समाधिभूमि ही है। समाधिभूमिमें पहिले वितर्क रहता है। तदनन्तर अग्रसर होने पर विचार रहता है। उससे आगेकी अवस्थाका नाम आनन्दानुगत अवस्था है और उससे आगेकी अवस्थाका नाम अस्मितानुगत अवस्था है। प्रथम दो भेद सविचार और द्वितीय दो भेद निर्विचार समाधिके है। मै ब्रह्म हूँ, यह भाव भी निर्विकल्प समाधिमे नहीं रहता। कोई द्वैतभाव अथवा कोई विकल्प जब शेष न रहे वही तुरीयावस्था है। समाधिभूमिका साधनक्रम शास्त्रसे ज्ञात नही हो सकता है जिनको अपरोक्षानुभूति हुई है ऐसे जीवन्मुक्त ही उसका भेद बता सकते हैं।

योगशास्त्रमें लिखा है—

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"
"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"

और संहितामे लिखा है—

परजीवात्मनोरेव मेलनं योग उच्यते।

इन शास्त्रीय वचनोका तात्पर्य यह है कि चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा जो अवस्था प्राप्त होती है और जिस अवस्थामे जीवात्मा परमात्माका एकीकरण होकर स्वरूपकी प्राप्ति होती है ऐसे साधनको योग कहते हैं। इन वचनोंसे यही सिद्धान्त निश्चय होता है कि चित्तवृत्तियोंका जब तक निरोध नही होता

है तब तक जीवकी पृथक् सत्ता विद्यमान रहती है। परन्तु चित्तवृत्तिका जितना जितना निरोध होता जाता है उतना ही अज्ञानमूलक जीवत्वका नाश होकर स्वरूपका विकाश होता है और चित्तवृत्तिके सम्पूर्णरूपसे निरुद्ध हो जानेपर जीवके जीवत्वका कारण नष्ट हो जाता है और तभी स्वरूपका पूर्ण विकाश हो जाता है। मन्त्रयोगकी सिद्धावस्थारूपी महाभावसमाधिमे, हठयोगकी सिद्धावस्थारूपी महाबोधसमाधिमे और लययोगकी सिद्धावस्थारूपी महालयसमाधिमें साधकको जो सफलताएँ प्राप्त होती हैं, उन सफलताओसे साधकको चित्तवृत्तिके निरोध करनेमें बहुत कुछ सहायता मिलती है। इन तीनो सविकल्प समाधियोकी दशामें साधक लौकिक पुरुषार्थ द्वारा चित्तवृत्तियोंको दबाकर निरोध करनेमें समर्थ होता है। इन तीनो सविकल्प समाधियोकी दशामे पूर्णरीत्या न चित्तवृत्तियोंका विलय होता है और न उनका मूलनाश ही हो सकता है। मन्त्र और इष्टदेवके रूपके एकीकरण द्वारा मन्त्रयोगके महाभाव समाधिका उदय होता है।

वायुनिरोध द्वारा हठयोगके महाबोध नामक समाधिका उदय होता है और नाद तथा विन्दुके एकीकरणसे लययोगके महालय नामक समाधिका उदय होता है। ये तीन समाधियां लौकिक उपायसम्भूत होनेसे, हठपूर्वक अनुष्ठित होनेसे और ज्ञानसम्बन्ध रहित होनेसे यद्यपि बलपूर्वक चित्तवृत्ति निरोध करनेमें समर्थ होती हैं, परन्तु चित्तवृत्तिके मूलोच्छेद करनेमे समर्थ नही होती हैं, सुतरां इन तीनों समाधिदशामें वृत्तियोका पुनरुत्थान होना सम्भव है। साधक इन तीनोंमेंसे किसी समाधिको प्राप्त करके जब योगकी उन्नत भूमिमे पहुंच जाता है तभी वह देवदुर्लभ साधनकी उन्नत अवस्थाको प्राप्त करके राजयोगका अधिकारी बन जाता है। वस्तुतस्तु मन्त्रयोग, हठयोग तथा लययोग जहां समाप्त होते है, राजयोग का श्रेष्ठ अधिकार वहांसे प्रारम्भ होता है।

राजयोगके साधनक्रमकी समालोचना करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि प्रथम परम भाग्यवान् राजयोगी सप्तदर्शनोक्त सप्तज्ञानभूमियोको एकके बाद दूसरा इस तरह क्रमशः अतिक्रम करता हुआ जैसे मनुष्य सोपान द्वारा छत पर चढ़ जाता है उसी प्रकार सप्तज्ञान भूमियोंका रहस्य समझ जाता है। यही राजयोगोक्त १६ अङ्गोंमेंसे प्रथम सप्ताङ्गका साधनक्रम है। उसके अनन्तर वह सौभाग्यवान् योगी सत् और चित् भावपूर्ण प्रकृतिपुरुषात्मक दो राज्यके दर्शन करके उनकी धारणासे अनन्तरूपमय प्रपञ्चकी विस्मृति सम्पादन करनेमें समर्थ

होता है। यही राजयोगके अष्टम और नवम अङ्गका साधनक्रम है। उसके अनन्तर वह योगिराज परिणामशील प्रकृतिके स्वरूपको सम्पूर्ण रूपसे परिज्ञात कर ब्रह्म, ईश और विराट् रूपमे अद्वितीय ब्रह्मसत्ताका दर्शन करके ध्यानभूमिकी पराकाष्ठामें पहुच जाता है। यही राजयोगोक्त १६ अङ्गोंमेंसे दशम एकादश और द्वादश अङ्गका साधनक्रम है। उसके अनन्तर वह परमभाग्यवान् योगाचार्य यथाक्रम वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत इन चारों आत्मज्ञानयुक्त (ये चारों समाधिकी दशाएँ पूर्वकथित मन्त्रहठलययोगोक्त महाभाव, महाबोध, महालय समाधिसे विभिन्न हैं) समाधि दशाको अतिक्रमण करते हुए स्वस्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। इसी दशाको जीवन्मुक्त दशा कहते हैं। यही सब प्रकारके योगसाधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। यही उपासना राज्यकी परिधि है और यही वेदान्तका चरम सिद्धान्त है। राजयोगमे सिद्धिलाभ करके इस परम दशाको प्राप्त होनेपर जीवका जनन-मरणचक्र एकबार ही शान्त हो जाता है। वह प्रारब्धक्षयपर्यन्त जीवनमुक्ति अवस्थामें रहकर पश्चात् विदेहमुक्तिदशामें परब्रह्ममें विलीन हो जाता है।

इन सब परम कल्याणोंके अतिरिक्त योगके बलसे और भी अनेक प्रकारके लौकिक अलौकिक कल्याण प्राप्त हो सकते हैं; जिनके विषयमे पश्चिमी विद्वानोंने भी बहुत कुछ अनुसन्धान कर लिया है, यथा—

The practice of deep breathing is necessary to all who would gain the greatest power, for without breath, life ceases to manifest. The Science of breathing is the science of health. When you can master and control your breathing you can render yourself impervious to disease.

(Uriel Buchanan—Kalpaka 2-22)

यूरायल बुचानन साहबकी सम्मति है कि शक्तिलाभके लिये प्राणायाम जैसे गभीर श्वासके अभ्यासकी बड़ी आवश्यकताहै, क्योंकि बिना श्वासके प्राण ही नही रहता है। श्वासविज्ञानमें ही स्वास्थ्यका विज्ञान है। श्वास पर जिसने अपना प्रभाव जमा लिया है उसको रोग नही हो सकता है।

प्राणतोषिणी तन्त्रमें लिखा है:—

षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिम्।
अजपानामगायत्री जीवो जपति सर्वदा॥

अर्थात् दिन रातके भीतर २१६०० बार श्वास निकलता है जिसमें श्वास घुसते समय 'सो' और निकलते समय 'हं' यह जीवब्रह्मकी एकतारूपी अजपा जप होता रहता है। इसी श्वासको १२ अङ्गुलसे कम कर देने पर आयु तथा स्वास्थ्य बढ़ता है और अधिक हो जाने पर आयु घटती है तथा स्वास्थ्य नाश हो जाता है। वैद्यशास्त्रमें भी लिखा है :—

वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम्।
वायुः सर्वमिदं विश्वं प्रभुर्वायुः प्रकीर्तितः॥

वायु ही आयु है, वायु ही बल है और शरीरका धारक है, समस्त विश्व वायुमय है अतः वायु ही सबका प्रभु है।

इसी वायुके नियमनरूप प्राणायामद्वारा संसारमें सकलरोगनाश तथा पापनाश होता है, यथा—

यथा हि शैलधातूनां धाम्यतां नश्यते रजः।
इन्द्रियाणां तथा दोषान् प्राणायामैश्च निर्दहेत्॥

(वृहद् यम)

और भी—

निरोधाज्जायते वायुस्तस्मादग्निस्ततो जलम्।
त्रिभिः शरीरं सकलं प्राणायामैर्विशुध्यति॥

(विष्णुधर्मोत्तरे)

और भी—

क्रमेण सेव्यमानोऽसौ नयते यत्र चेच्छति।
प्राणायामेन युक्तेन सर्वव्याधिक्षयो भवेत्॥
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वव्याधिसमुद्भवः।
हिक्का श्वासश्च काशश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः॥
जायन्ते विविधा रोगाः पवनस्य व्यतिक्रमात्॥

(घेरण्ड संहिता)

जिस प्रकार आगमें तपाकर स्वर्णादि धातु निर्मल किये जाते हैं, ऐसे ही प्राणायामद्वारा इन्द्रियदोष नष्ट होते हैं। कुम्भकसे प्राण निरोध करनेपर वायु, अग्नि और जल क्रमशः होता है और इसीसे शरीरकी शुद्धि हो जाती है। नियमित प्राणायाम करते करते वायुपर अधिकार जम जानेपर हाथ, पांव, हृदय, मस्तक सर्वत्र योगी वायुको रोक सकता है और इससे सकल रोगाका नाश हो जाता है। किन्तु नियम भङ्ग कर देने पर उलटा रोग उत्पन्न हो जाता है और वायुके विगड़ जानेसे हिक्का, श्वास काश, सिर कान आँख सबमें दुःख उत्पन्न हो जाता है।

योगद्वारा भीतर सूक्ष्म शक्ति उत्पन्न होने पर उससे क्या क्या उपकार होता है इस विषयमें प्रोफेसर आर. ई डटन साहबने कहा है:--

"This magnetism is always present in your body, but you can start its action by thought. When the current starts, the tips of the fingers trigh To cure disease by this magnetic current you should lay one hand upon the afflicted part and the other opposite of it and drive the current through."

(Prof. R. E Dutton—Kalpaka 6-24)

वह सूक्ष्म यौगिक शक्ति अपने भीतर ही रहती है, उसकी प्रेरणा चिन्ता शक्तिके द्वारा की जाती है। सूक्ष्मशक्तिका प्रवाह जब चलने लगता है तो अङ्गुलियोंके अग्रभागमें स्फुरण होने लगता है। इसके बलसे किसी का रोग आराम करना हो तो एक हाथ रोगके स्थान पर और दूसरा हाथ उसके दूसरी ओर रखकर सूक्ष्मशक्तिके प्रवाहको इच्छाशक्तिके द्वारा भीतर प्रवेश कराना होता है। इस प्रकार से योग शक्तिके बलसे रोग आराम किया जाता है।

भिक्टर ई. क्रोमर (Victor E. Cromer) साहबने इस शक्तिको 'भ्रिल' शक्ति कहा है और अपनी पुस्तकमें इसके अनेक गुण वर्णन किये हैं, यथा:—

The Vrillic force, which is a soul-force, seems to well up from within, and rushes out of the body through the extremities, the feet, the hands, and the top of the head. When demonstrating the operator can often be seen with

the force extending from the ends of the fingers for a considerable distance. Under the impulse of emotion the ventral blue light of the vrillic fluid changes with lightning rapidity to all the varying moods of the emotion generated by the individual concerned Every emotion has its specific color, from the beautiful pink of the emotion of love to the green of jealousy and the black of hate. On the other hand, thought power directly influences the vrillic fluid, forming it into shape, so that one's ideas take definite form under the consciously directed thought-power of the operator. In addition this vrillic force can be concentrated upon an individual or a group of individuals so that they will feel its vibrations. It can be projected as an energising current that makes one feel as though one is under an electric battery, or a soothing current can be directed that soothes and quietens the jangled and tired nerves.

Under certain conditions this energy can be transformed into a healing force, and can be used in such a manner, for instance, as to place the individual concerned in what is for all the world like an electric bath, the person being completely enveloped in the magnetism or vrillic fluid. In other cases, where specific treatment is desired, it can be concentrated down to a single ray, and be projected with great force upon a local trouble. By certain processes, also individuals can be made to see the force they are dealing with. By means of this vrillic fluid it is possible to project one's thought, focuss it upon an object, and see as in a vision the place thought of The vrillic fluid bringing back a three-dimensional image of the place upon which or the

person uponwhom the thought was projected. Another power that this vrillic fluid gives its happy possessors is a form of x-ray vision by means of which the working of the organs of the body can be seen, and any disorders can be noted This vrillic fluid is an intensely vital force. To the person who is able to generate it, it acts as a recuperative and regenerative force acting as a dynamic quality against fatigue and disease, and gives one an added power of control over all the bodily functions. By means of the will-power the vrillic fluid can be directed to any part of the body. For instance, if one has a headache, the concentration of the vrill to the head by means of certain processes will rapidly remove the headache; and likewise to any other disorders of the physical frame It acts as a vibrant electro-vital force with a tendency to oppose disease germs by giving the subject increased vitality The possessor of an excess of vrill, or one who understands how to scientifically utilise the vrillic fluid is able to impart it to others lacking in vitality or subject to disease Herein lies the secret of all the schools of healing by spiritual means, from Christian Science to the laying on of hands.

(Kalpaka—10-25)

योगकी यह सूक्ष्म शक्ति भीतरसे प्रकट होती है और हाथ, पांव, सिरके केश या शिखा द्वारा निकला करती है। मनोभावके परिवर्त्तनके साथ साथ इस शक्तिकी ज्योतिमें भी परिवर्त्तन हो जाता है और तदनुसार मानसिक वेगके रङ्ग भी बदलते रहते हैं।।प्रेमका मधुर लालिमा रङ्ग, ईर्ष्याका हरा रङ्ग, घृणाका काला रङ्ग यह सभी मनोवृत्तिके अनुसार देखनेमें आता है। चिन्ता शक्तिका इस शक्ति पर बडा प्रभाव होता है और कहीं कहीं भावके आकार भी इसके बलसे देखनेमें आजाते हैं। एक या अनेक मनुष्यों पर इस शक्तिका प्रभाव केन्द्रीभूत

कर देने पर उन्हें इसका प्रभाव मालूम होने लगता है और वे शक्तिके प्रभावमें प्रभावित होकर अपनी क्लान्ति तथा कमजोरी को दूर कर सकते हैं।

रोग आराम करनेमें यह शक्ति दो प्रकारसे काममें लाई जा सकती है। एक विजली स्नानकी तरह इसी शक्तिसे रोगीके समस्त शरीरको भर कर उसे रोगमुक्त कर देना और दूसरा समस्त शक्तिको रोग स्थानपर केन्द्रीभूत करके उसके जोरसे रोग आराम कर देना। ऐसे प्रयोगके समय यह शक्ति देखनेमें भी आ सकती है।

चिन्ताके साथ 'भ्रिल' शक्तिकी योजना करके दूरवर्त्ती स्थान या वस्तुको देखा भी जा सकता है। शक्ति उस स्थान या वस्तुकी प्रतिमूर्त्तिको प्रयोगकर्त्ताके नेत्रपथमें लाकर डाल देती है। वैज्ञानिक 'एक्स-रे' की तरह शक्ति भी 'भ्रिल' से उत्पन्न हो जाती है जिससे भ्रिलवाले योगी मनुष्य शरीरके भीतरके यन्त्रोंको देख सकते और कही कुछ रोग हो उसे भी जान सकते हैं। भ्रिलमें प्राणशक्ति भरी पड़ी है। इस लिये जिसने इसे जगाया उसको यह सञ्जीवनी शक्तिकी तरह बल देनेमें, क्लान्ति दूर करनेमे और प्रत्येक शारीरिक व्यापार पर नियमन करानेमें समर्थ हो जाती है। इच्छाशक्तिके प्रयोग द्वारा 'भ्रिल' को शरीरके जहां तहां ले जाकर रोग दूर किया जा सकता है जैसा कि सिर दर्द करने पर सिरमें ले जाकर दर्द आराम करना, या और किसी अङ्गमें कष्ट होने पर वहां ले जाकर कष्ट दूर करना इत्यादि। यह शक्ति शरीरमें अधिक प्राणशक्ति प्रदान कर रोगके कीटाणुको दबानेका बल भी मनुष्योंको दे देती है। अधिक भ्रिलवाले विज्ञ मनुष्य वैज्ञानिक रीतिसे इस शक्तिको अपनेसे दूसरेमे डालकर दूसरेका रोगनाश तथा उनमें प्राण-शक्ति सञ्चार भी कर सकते हैं। क्रिश्चियन विज्ञानजगत्‌से लेकर हाथके प्रयोगसे रोगादि आराम या शक्ति सञ्चार करने तक की जो प्रथा देखनेमें आती है इन सबकी यही गूढ़ रहस्य है।

भक्ति और योगके अवलम्बनसे उपासक इस प्रकारसे लौकिक, पारलौकिक, अलौकिक, आध्यात्मिक सकल कल्याणको प्राप्त कर दुर्लभ मानव जन्मको सफल बना सकते हैं।

अवतार-मीमांसा ।

सर्वव्यापक, निराकार परमात्माका किसी स्थूल लौकिक रूप धारण करके ससारमें प्रकट होना एक अपूर्व वस्तु है, इस लिये अवतारके विषयमें अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ तथा अनेक प्रकारकी शङ्काएँ हुआ करती है। इच्छा-रहित भगवान्के अन्तःकरणमें ससारमे प्रकट होकर संसारीकी तरह लीला करनेकी इच्छा कैसे हो सकती है? मायानिर्मुक्त निराकार परमात्मा मायामय स्थूल शरीर कैसे ग्रहण कर सकते है? देशकालवस्तुके द्वारा सीमारहित जो परमात्मा पहिले ही सर्वत्र विद्यमान हैं, वे कहीसे कही आ कैसे सकते है? क्योंकि यदि वे कही पर होते और कही न होते तो, जहां पर हैं वहांसे जहां पर नही थे, वहां आ सकते थे, परन्तु जब परमात्मा पहिलेसे सर्वत्र विराजमान है तो, किसी स्थानसे स्थानान्तरमे जाना आना उनके लिये कैसे सम्भव हो सकता है? और यदि किसी कारणसे उनका आना सम्भव ही मान लिया जाय, तो भी यह सन्देह नही निवृत्त होता है कि, उनको इस प्रकारसे स्थूल शरीरके चक्रमें आनेका प्रयोजन क्या हो सकता है? क्योंकि, जब वे सर्वशक्तिमान् हैं तो, बिना स्थूल शरीर धारण किये ही इच्छामात्रसे दुष्टदमन तथा ससारकी रक्षा कर सकते हैं। इस प्रकारसे अलौकिक भावमय अवतार-तत्त्वके विषयमें अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ तथा शङ्काएँ होती हैं। इसलिये वर्त्त-मान प्रबन्धमें अवतारका तत्त्वनिरूपण करते हुए उल्लिखित सन्देहोंका निराकरण किया जायगा। अवतारके विषयमें शास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा—ऋग्वेद, मं० ६, अ० ४, सू० ४७, म० १८ मे :—

"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥"

भक्तोंकी प्रार्थनानुसार प्रख्यात होनेके लिये श्रीभगवान् मायाके सयोगसे जीव, अवतार आदि अनेक रूप धारण करते हैं, उनके शत शत रूप हैं, उनमेंसे दस अवताररूपमें दस रूप मुख्य है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी लिखा है:—

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य सम्भवाम्यात्ममायया॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥"

अजन्मा, अव्यय और भूतोंके ईश्वर होनेपर भी मायाके आश्रयसे परमात्मा संसारमें अवतार रूपसे उत्पन्न होते है। धर्मकी ग्लानि और अधर्मकी वृद्धि जिस जिस कालमें होने लगती है, उसी समय भगवान् अवतार धारण करते है। साधुओंकी रक्षा, पापियों का नाश और युगानुसार धर्मव्यवस्थाके लिये युग युगमे परमात्माका अवतार होता है। इस प्रकारसे अवतारके विषयमें आर्यशास्त्र-में अनेक प्रमाण मिलते है। अब नीचे अवतारका विज्ञान बताकर ऊपर उक्त प्रमाणोंकी सत्यता बताई जाती है।

परमात्माकी सत्ताके विभु होनेसे वे सर्वत्र व्याप्त हैं; इसलिये कहीसे कही जाना-आना उनके लिये अवश्य ही असम्भव तथा विज्ञानविरुद्ध है; परन्तु इससे अवतार होना असम्भव है—यह बात ठीक नही है। 'अवतार' कहींसे कंही आ जाने या उतर आनेका नाम नही है। परन्तु सर्वव्यापक परमात्माकी किसी विशेष केन्द्र द्वारा शक्ति प्रकट होनेका नाम अवतार है। इसमे अवतार शब्द द्वारा जो अवतरण अर्थात् नीचे उतर आनेका भाव प्रकट होता है, उसका तात्पर्य भावमूलक है। उनकी विशेष शक्तिका मायाके द्वारा सम्बन्धित होना और ऐसा होकर प्रकट होना ही भावराज्यमें अवतरण कहा जा सकता है। इसीलिये शक्तिके प्राकट्यको 'अवतार' शब्दसे कहा गया है। अब इस प्रकारसे भगवत्शक्तिका विकाश कैसे होता है, सो विचार करने योग्य है। परमात्माके सर्वव्यापक होनेसे उनकी शक्ति भी सर्वव्यापिनी है। उनके ऊपर स्थित जड़-चेतनात्मक दृश्य संसारके द्वारा उनकी वह शक्ति विकाशको प्राप्त होती है। इसलिये जड़चेतनात्मक समस्त संसारमें जो कुछ शक्ति देखी जाती है सो उन्हीकी शक्ति है। और अधिक कहना ही क्या जब शक्तिके आधारभूत महा-शक्ति जगदम्बा ही उनकी शक्तिस्वरूपिणी है तब संसारमें विकाशशील समस्त शक्तियाँ उन्हीकी होंगी, इसमे कोई भी सन्देह नहीं हो सकता है। उनकी यह शक्ति अग्निमें, जलमें, ओषधियोंमें, वनस्पतियोंमें तथा समस्त संसारमे व्याप्त होरही है। इस शक्तिका प्रकाश कैसे होता है, इस विषयमें पञ्चदशीकारने लिखा है:—

सर्वशक्तिमयं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम्।
यथोल्लसति शक्त्यासौ प्रकाशमधिगच्छति॥

अद्वितीय ब्रह्ममें शक्ति पूर्ण है। इस शक्तिका दृश्यके आश्रयसे जब उल्लास होता है, तभी दृश्य जगत्में इसका प्रकाश होता है। विकाश प्राप्त यह शक्ति शास्त्रमे 'कला' नामसे कही जाती है और 'सोलह' शब्द पूर्णताका प्रकाशक होनेसे जहां पर पूर्णशक्तिका उल्लास या विकाश हो वहाँ सोलह कला शक्तियाँ प्रकट हुई—ऐसा कहा जाता है। जिस प्रकार पूर्णचन्द्र षोडशकलापूर्ण कहे जाते है उसी प्रकार पूर्णशक्ति भी षोडशकलाकी शक्ति कही जाती है। इसलिये परमात्मामे पूर्णशक्तिके विद्यमान रहनेसे परमात्मा षोडशकलासे पूर्ण कहे जाते है। यथा छान्दोग्योपनिषद्में:—

"षोडशकलः सोम्य पुरुषः"

परमात्मा षोडशकलाशक्तिसे युक्त है। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें भी—

"षोडशकलो वै पुरुषः"

परमात्माकी षोडशकलाएँ है। परमात्माकी यह षोडशकलाशक्ति जड़-चेतनात्मक समस्त जगत्मे व्याप्त है और जितना जितना जीव अपनी योनिमें उन्नत होता जाता है, उतनी उतनी ही परमात्मा की यह कला जीवके आश्रयसे विकाशको प्राप्त होने लगती है। बल्कि यह भी कह सकते है कि कलाविकाशकी छुटाई बडाई ही जीवयोनिकी उन्नति या अवनतिकी सूचक है। एक योनिका जीव अन्ययोनिके जीवसे उन्नत इसलिये है कि, उसमे अन्ययोनिके जीवोसे भगवद्कलाका विकाश अधिक है। चेतनसृष्टिमे उद्भिज्जसृष्टि ही प्रथम है। इसलिये षोडशकलाओंमेंसे एक कलाका विकाश अन्नमयकोषयुक्त उद्भिज्जमें ही होगा—यह सिद्धान्त निश्चय है। श्रुतिने भी इसी सिद्धान्तको प्रमाणित किया है। यथा छान्दोग्योपनिषद्में—

"षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टाभूत् सोऽन्नेनोपस-
माहिता प्राज्वालीत्।"

षोडश कलाओंमेसे एक कला अन्नमे मिलकर अन्नमयकोष द्वारा प्रकट हुई। इसी क्रमके अनुसार परवर्त्ती जीवयोनि स्वेदजमें दो कला, अण्डजमें तीन कला और जरायुजके अन्तर्गत पशुयोनिमें चार कलाका विकाश होता है।

तदनन्तर मनुष्ययोनिमें आकर साधारण मनुष्यसे विभूतियुक्त मनुष्य पर्यन्त पांच कलाओंसे आठ कला तक भगवत्शक्तिका विकाश होता है। इस प्रकारसे एक कलासे लेकर आठ कलातक शक्तिका विकाश लौकिकरूपसे होगा अर्थात् पूर्णकलाके आधे तक लौकिक कोटि है। तदनन्तर नौ कलासे लेकर षोडशकला तक शक्तिका विकाश जिन केन्द्रों द्वारा होगा वह आधेसे अधिक होनेसे, अलौकिक कोटिके अन्तर्गत है। इसलिये ९ कलासे १६ कलातक जीवकोटि न हो कर अवतारकोटि कहलाती है; अर्थात् जिन केन्द्रोंके द्वारा भगवान्की शक्ति नौ कलासे लेकर षोडशकला तक विकाशको प्राप्त होगी वे सब केन्द्र जीव न कहलाकर अवतार कहलावेंगे। चाहे वे सब केन्द्र ऊपरके मनुष्य अथवा मनुष्ययोनिके नीचेके जीवोंकी शरीरकी तरह क्यों न दिखें, तथापि, अलौकिक-शक्तिका आधार होनेसे, वे सब असाधारण केन्द्र हैं; साधारण मनुष्य अथवा उससे नीचेके जीवोंके केन्द्र नहीं हैं, क्योंकि, साधारण तथा विभूतिपर्यन्त जीवशरीरमें इस प्रकारकी अलौकिक शक्ति धारण करनेकी योग्यता या उपादान (सामान) नहीं है। अतः ये सब अवतारके ही केन्द्र हैं—ऐसा आर्यशास्त्रमें सिद्धान्त निश्चय किया गया है। नौ कलासे लेकर पन्द्रह कलातक अंशावतार और षोडशकलासे पूर्ण केन्द्र ही पूर्णावतारका केन्द्र है—ऐसा समझना चाहिये। अब कलाविकाशके तारतम्यानुसार चेतनजीवोंमें क्या क्या विशेषता देखनेमें आती है, सो नीचे कुछ बताया जाता है।

पञ्चकोषोंमेंसे अन्नमय कोषका उद्भिज्जयोनिमें अपूर्वरूपसे प्रकट होना एक कलाविकाशका ही फलरूप है। ओषधि, वनस्पति, वृक्ष तथा लताओंमे जो संसारके जीवोंकी प्राणधारण करनेवाली तथा पुष्टि देनेवाली शक्ति है, सो भगवत्शक्तिकी एक कलाके विकाशका ही फलरूप है। स्वेदज, अण्डज, जरायुज, पशु, मनुष्य तथा देवता पर्यन्तकी तृप्ति अन्नमयकोष-द्वारा उद्भिज्जगण ही किया करते हैं। संसारकी मनोहारिता ब्रह्माण्डप्रकृतिमें स्थितिदशाकी अपूर्व शोभा, विष्णु भगवान्का अनेक वैचित्र्यभरा रूपविलास—ये सभी उद्भिज्जजगत्में ईश्वरीय एक कलाके विकाशका मधुर फलरूप है। केवल एक कलाका विकाश होते ही उद्भिज्जोंमे जीवभावका विकाश तथा सकल इन्द्रियोंकी क्रिया तक देखनेमे आती है—जो आजकल वैज्ञानिक यन्त्रों द्वारा भी प्रमाणित हो चुकी है।

तदनन्तर स्वेदज योनिमे दो कलाका विकाश होता है। जिससे अन्नमय

और प्राणमय दोनौ कोषौका विकाश स्वेदजोंमें देखनेमें आता है। उद्भिज्जोंमें प्राणमय कोषका विकाश न रहनेसे उद्भिज्ज चल फिर नही सकते, परन्तु स्वेदजोंमें इस कोषका विकाश होनेसे स्वेदजयोनिके जीव अच्छी तरहसे चल फिर सकते हैं। उनमे प्राणशक्तिका कही कहीं अपूर्व विकाश भी देखनेमे आता है। दीमक आदि कीटोंमे जो अद्भुत गृहनिर्माणकी शक्ति देखनेमें आती है, विसूचिका (हैजा), ग्रन्थिज्वर (प्लेग) आदि रोगोंमें जो स्वेदज कीटोकी प्राणशक्ति-द्वारा बड़े-वडे शक्तिमान् मनुष्योंके प्राण तक क्षणकालमें ही कालके ग्रासमें पतित होते हुए देखनेमें आते हैं, जीव शरीरके भीतर उत्पन्न स्फोटकादि (फोडे) के कीटोंमें जो शरीर, मन, प्राणको अनन्त दुःखसमुद्रमें डाल देनेकी शक्ति देखी जाती है, रक्तके भीतरके कीटोंमें जो रोग उत्पन्न करने वाले कीटोंके साथ भीषण युद्ध करके शरीररूपी दुर्गकी रक्षा करनेकी सामर्थ्य विद्यमान है और वीर्यके कीटोंमें जो जीवशरीर उत्पन्न करने तथा जीवात्माको आकृष्ट करके गर्भाशयमे ले आने तककी अपूर्व शक्ति है—वह सब स्वेदजयोनिमे भगवत्-शक्तिकी दो कलाओंके विकाशका ही अपूर्व फलरूप जानना चाहिये।

तदनन्तर अण्डजयोनिमें तीन कलाकी भगवत् शक्तिका विकाश होता है जिससे अन्नमय, प्राणमय कोषोंके साथ मनोमय कोषका भी विकाश अण्डजयोनिमें हो जाता है। मनोमय कोषका विकाश होनेसे अण्डजयोनिमें मानसिकप्रेम आदि बहुतसी वृत्तियां देखनेमें आती है। कपोत (कबूतर), कपोती, शुक, सारिका, चक्रवाक (चकवा) चक्रवाकीका प्रेम मनुष्योमें भी दुर्लभ है। पक्षियों-में मनोमय कोषका विकाश होनेसे ही वात्सल्यभावका अपूर्व विकाश देखनेमें आता है। पक्षिजाति बहुत ही प्रेमके साथ अपनी सन्तानोंका प्रतिपालन करती है और स्वयं विपद्ग्रस्त हो कर भी अपनी सन्तानौको विपत्तिसे बचाती है। यह पक्षियोंमें भगवत्-शक्तिके विकाशका ही लक्षण है कि—

"वैनतेयश्च पक्षिणाम्"

कहकर श्रीभगवान्ने अण्डजयोनिमें अपनी विभूति बताई है।

तदनन्तर जरायुजके अन्तर्गत पशुयोनिमें भगवत्-शक्तिकी चार कलाऔंका विकाश होता है। चार कलाऔंका विकाश होनेसे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय कोषों-के साथ विज्ञानमय कोषका भी विकाश पशु योनिमें देखनेमें आता है। निकृष्ट पशु, उत्कृष्ट पशु, दोनौ प्रकारके जीव ही निज निज अधिकारके अनुसार बुद्धिकी

चालना कर सकते हैं। उत्कृष्ट पशुओंमें तो कहीं कहीं इतना बुद्धिका विकाश देखनेमें आता है कि, वे बहुतसे कर्म मनुष्यकी तरह करने लगते हैं। मनोमय कोषका विशेष विकाश होनेसे प्रेम करना, प्रेम समझना, स्नेह बताना तथा समझना आदि कार्य पशुओंमें विशेष देखनेमें आते हैं। इतिहासमें अनेक दृष्टान्त पाये गये हैं कि, प्रभुभक्त अश्व, श्वान, हस्ती आदिने कितनी बार घोर विपत्तिसे प्रभुकी रक्षा की है, प्रभुके लिये अपना प्राण आनन्दके साथ समर्पण कर दिया है, मृत प्रभुके पास अनाहारव्रत धारण करके दिनरात खड़ा रहकर अन्तमें प्राणत्याग कर दिया है। यह सब बातें पशुयोनिमें भगवान्‌की चार कलाओंके मधुर-विकाशके ही फलरूप हैं।

तदनन्तर मनुष्यकोटिमें जीवकी उन्नतिके तारतम्यानुसार इस ईश्वरीय कलाका विकाश ५ से ८ तक हो सकता है। पांच कलाओंसे मनुष्यकी साधारण शक्तिका विकाश हो जाता है और छः कलाओंसे विशेष शक्तिका विकाश होने लगता है, जिसको शास्त्रमें विभूति कहा गया है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है:—

"यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥"

संसारमें जो कुछ ऐश्वर्ययुक्त, श्रीयुक्त अथवा शक्तियुक्त पदार्थ है सो सभी भगवान्‌की शक्तिके विकाश द्वारा उत्पन्न हुए हैं—यह जानना चाहिये। श्रीभगवान्‌की विशेष शक्तिको प्राप्त विभूतियोंके द्वारा संसारमें धर्मसम्बन्धीय अनेक कार्य हुआ करते हैं और ऐसा भी कहा जा सकता है कि, जबतक प्रकृतिराज्यमें अवतारके आनेकी आवश्यकता नहीं होती है तबतक इस प्रकारकी विभूतियोंके द्वारा ही सामयिकरूपसे धर्मकी रक्षा हुआ करती है। अनेक साम्प्रदायिक आचार्य तथा देशनेता शक्तिसम्पन्न पुरुषोंकी गणना इस विभूति-कोटिमें कर सकते हैं। किन्तु यह बात अवश्य स्मरण रखने योग्य है कि, विभूतियोंमें आंशिक अर्थात् अपूर्ण शक्ति होनेके कारण उनके द्वारा धर्मजगत्‌में जो कुछ कार्य होते हैं वे भी उन सब आंशिक देशकालोंके अनुकूल ही होते हैं।

षोडश कलाओंसे पूर्ण सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्‌की आठ कला पर्यन्त शक्ति लौकिक मनुष्यादि केन्द्रों द्वारा प्रकट होती रहती है; परन्तु अष्टकलासे अतिरिक्त शक्ति-धारण करना किसी लौकिक केन्द्र द्वारा सम्भव नहीं हो सकता है। इस लिये नौ कलाओंसे लेकर सोलह कलाओं तक भगवत्-शक्तिका विकाश मनुष्य-

पश्वादि जिन अलौकिक केन्द्रोंके आधारसे होता है, उन केन्द्रों का नाम अवतार है । श्रीमद्भागवतमें लिखा है:—

"भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः ।
लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्नरादिषु ॥"

लोकपालक भगवान् देव, तिर्यक्, मनुष्यादि शरीरके आधारसे लीलावतार धारण करके सत्त्वगुणके द्वारा ही संसारकी रक्षा करते हैं । इस प्रकारके अवतार कितने होते हैं ? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीमद्भागवत्के प्रथम स्कन्धके तृतीय अध्यायमें कहा है:—

"अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः ।
यथा विदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः ॥
ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः ।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयः स्मृताः ॥
एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ॥

जिस प्रकार अगाधजलसे युक्त सरोवरसे सहस्र सहस्र जलकी नालियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार सत्त्वगुणाश्रय भगवान्‌से भी अनन्त अवतारोंकी उत्पत्ति होती है । ऋषिगण, मनुगण, देवगण, महातेजा मनुपुत्रगण, प्रजापतिगण—इन सभोंमें भगवत् कलाका विभूति रूपसे विशेष विकाश है । अन्यान्य अवतारोंमें भगवान्‌की आंशिक शक्तिका विकाश है, परन्तु श्रीकृष्णमें पूर्ण भगवत्-शक्तिका विकाश होनेसे श्रीकृष्ण स्वयं भगवद्‌ रूप हैं । दैत्यपीडित संसारकी रक्षाके लिये ही युग युगमें अंशावतारों तथा पूर्णावतारोंकी उत्पत्ति होती है । इस प्रकारसे अनन्त अवतारोंकी उत्पत्ति-कथा बताकर पश्चात् शास्त्रमें इन अवतारोंमेंसे २४ और २४ मेंसे भी दश अवतारोंकी मुख्यता बताई गई है, यथा:—

"मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नृसिंहो वामनस्तथा ।
रामो रामश्च रामश्च बुद्धः कल्किर्दश स्मृताः ॥"

मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्णबलराम, बुद्ध और कल्कि—ये दस अवतार हैं । साधारणरूपसे शास्त्रमें प्रायः दस अवतारों

अथवा चौवीस अवतारोंका वर्णन पाया जाता है। और यह भी पहिले शास्त्रीय वचन द्वारा सिद्ध हो चुका है कि, भगवान्‌के अवतारोंकी संख्याएँ अनेक हैं। इस कारण यहांपर यह वर्णन करना आवश्यक है कि सगुण-पञ्चोपासनाके अनुसार भगवद्‌वतारके भेद शास्त्रमे अनेक कहे गये हैं। शैवपुराणोंमें अनेक शिवावतारोंका वर्णन पाया जाता है। गणेशपुराणमें और गाणपत्यतन्त्रोंमें अनेक गणपति-अवतारोंका वर्णन मिलता है। शक्ति पुराण और शक्तिप्रधान-तन्त्रोंमें शक्तिके अनेक अवतारोंका वर्णन देखनेमें आता है और उसी प्रकार पूर्वकथित वैष्णव-पुराणके वर्णनानुसार सूर्योपासनासम्बन्धीय ग्रन्थोंमें सूर्य्य-देवके अवतारोंका भी वर्णन मिलता है। फलतः पञ्चोपासनाके सिद्धान्तानुसार विष्णु, शिव, गणपति, सूर्य्य और देवी–इन सबके अवतार होनेका प्रमाण शास्त्रमें पाया जाता है। जगत्-कारण जगदीश्वर भगवान्‌के एक ही होनेपर भी और उनके अवतारतत्त्वका रहस्य एक ही होनेपर भी, पञ्चगुणोपासकोंकी उपासनाओंके महत्त्वसे पञ्चोपासनाके स्वतन्त्र स्वतन्त्र भावको लेकर इस जगत्‌की रक्षाके लिये स्वतन्त्र स्वतन्त्र भावसे पूर्ण स्वतन्त्र स्वतन्त्र कलामे श्रीभगवान्‌के ऐसे अवतार समय समयपर प्रकट हुए हैं और होते रहते हैं। अस्तु, चाहे महाविष्णुभावको लेकर अवतार हो, चाहे महाशक्तिभावको लेकर अवतार हो, चाहे महागणपतिभावको लेकर अवतार हो, चाहे महादेवभावको लेकर अवतार हो और चाहे महासूर्य्यभावको लेकर अवतार प्रकट हो, सभी सर्वशक्तिमान् अद्वितीय सगुणब्रह्मके अवतार कहावेंगे और सभी ब्रह्मा, विष्णु, महेशमेंसे विष्णुशक्तिके द्वारा जगत् रक्षणार्थ अवतीर्ण होंगे। अब अवतारके विषयमें वैदिक प्रमाण बताकर पश्चात् अवतार-कारणवर्णन और अवतार लीलावर्णन किया जायगा।

शतपथ ब्राह्मण का. १, अ. ८, ब्रा. १, कण्डिका १–६ में मायावतारका विशेष वर्णन मिलता है। अथर्ववेद का १२, अनु १ में लिखा है—

'वराहेण पृथिवी संविदाना शूकराय विजिहीते मृगाय'

वराहरूपी भगवान्‌ने इस पृथिवीका उद्धार किया है। ऋग्वेदसंहिता म० १, अ० २१, सू० १५४ में वर्णन है—

'प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।'

नृसिंह रूपधारी पृथिवीचारी भयानक भगवान् निज तेजसे स्तुतिको प्राप्त करते है। सामवेदके १८-२-८-२-५-१-२ मे वर्णन है—

"त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्॥"

'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधानिदधे पदम्' १८।२।१

संसारके रक्षक विष्णु भगवान् धर्मरक्षाके लिये वामनावतारमे तीन पादसे त्रिलोक आवृत करते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण ३-५-३४ मे लिखा है—

'प्रोवाच रामो भार्गवेयो विश्वन्नराय।'

भृगुकुलतिलक परशुरामने विश्वन्नरको कहा।

सामवेदसंहिता उत्तरार्चिक १५-२-१-३ मे लिखा है—

भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसारञ्जारो अध्येति पश्चात्।

भगवान् रामचन्द्र सीताके साथ वनमे गये थे, जार रावण रामचन्द्रके परोक्षमें सीताको हरण करनेके लिये आया था। छान्दोग्योपनिषद् प्र० ३ खण्ड १७ में—

एतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकी-पुत्रायोक्त्वोवाचेति'

घोर आङ्गिरसने यह वचन देवकी-पुत्र कृष्णसे कहकर मुझे कहा।

अवतारके विषयमे शास्त्रसम्मति है कि:—

"समष्टिकर्माधीनं तत्।"

अवतार किसी एक जीवके कल्याणके लिये नही होता है, परन्तु समष्टि-जीवोंके कल्याणके लिये होता है। इस प्रकार समष्टिजीवोका कल्याण श्रीभगवान्‌की अवतारकरूपमें प्रकट शक्ति द्वारा पाँच प्रकारसे होता है। इसलिये अवतार पांच प्रकारके होते हैं, यथा:—

"कलाभेदेनापूर्णांशत्वम्"

"निमित्ताद् विशेषाविशेषौ"

"अन्तराविर्भावस्य नित्यत्वम्"

कलाभेदसे पूर्णावतार और अंशावतार होते है। जो कलाओंसे पन्द्रह कलाओं तक अंशावतार कहलाते हैं और सोलह कलाओंके अवतार पूर्णावतार

कहलाते हैं । निमित्तभेदसे विशेष अवतार और अविशेष अवतार होते हैं । अन्तःकरणमें प्रकट श्रीभगवान्‌का नित्यावतार होता है । इस प्रकारसे पूर्णावतार, अंशावतार, विशेषावतार, अविशेषावतार और नित्यावतार—ये पांच प्रकारके अवतार हुए । अब इनके प्रकट होनेका कारण कहा जाता है । प्रत्येक युगमे धर्मका विकाश उस युगमे उत्पन्न जीवोंके समष्टिकर्मानुसार रहा करता है । यही प्रकृतिराज्यमें धर्माधर्मका सामञ्जस्य है । जबतक इस सामञ्जस्यके नियममे किसी प्रकारकी बाधा नही रहती है तबतक संसारमे अवताररूपमें अलौकिक शक्तिके प्रकट होनेकी कोई भी आवश्यकता नही रहती है और यदि यथा तथा कही पर कुछ असामञ्जस्यका आभास कभी देखनेमे भी आता है, तो आठ कलाओं तक भगवद्विभूति द्वारा ही उस विषयभावके नष्ट होनेपर पुनः समष्टि प्रकृतिका सामञ्जस्य हो जाता है और युगानुसार धर्मका विकाश भी अक्षुण्ण रहता है । परन्तु यदि किसी कारणवश ऐसा हो जाय कि, युगानुसार धर्मका विकाश न होने पावे—जैसे कि कोई असुर या राक्षस उत्पन्न हो कर कठिन तपस्या आदि द्वारा शक्ति लाभ करे और उसी शक्ति द्वारा जीवके समष्टि कर्मपर प्रभाव डाल कर युगानुसार अवश्य होनेवाली धर्मकी धाराको रोक देवे या दुर्बल कर देवे और वह रोकना इस प्रकारका बलवान् हो कि, आठ कलाओं तककी विभूति द्वारा धर्मका प्रवाह ठीक न हो सके तो, उस समय समष्टिप्रकृतिके नियमानुसार या भगवान्‌के जगत्‌रक्षाकारी नियमके अनुसार यह आवश्यकता प्रकृतिराज्यमें उत्पन्न होती है कि, अष्टकलाओंसे अधिक भगवत्‌शक्ति किसी अलौकिक केन्द्रके द्वारा प्रकट हो कर युगानुसार धर्मकी धारा—जो कि आसुरी या राक्षसी, विरुद्धशक्तिके द्वारा रोकी गई थी—उसको युगानुसार पुनः प्रवाहित कर देवे । यही प्राकृतिक नियमानुसार धर्मकी धाराको युगानुसार ठीक करनेके लिये अंश या पूर्णरूपमें अवतारके प्रकट होनेका कारण है । इस प्रकारके कारणके विषयमे शास्त्रोंमे अनेक प्रमाण मिलते हैं । यथा राक्षस-रावणके वधके लिये रामावतारके विषयमें रामायणके बालकाण्डके १५वे और १६वे सर्गमे वर्णन है:—

"स हि तेपे तपस्तीव्रं दीर्घकालमरिन्दमः ।
येन तुष्टोऽभवद्‌ब्रह्मा लोककृल्लोकपूर्वजः ॥
संतुष्टः प्रददौ तस्मै राक्षसाय वरं प्रभुः ।
नानाविधेभ्यो भूतेभ्यो भयं नान्यत्र मानुषात् ॥

अवज्ञाताः पुरा तेन वरदाने हि मानवाः।
एवं पितामहात्तस्माद् वरदानेन गर्वितः॥
उत्सादयति लोकांस्त्रीन् स्त्रियश्चाप्युपकर्षति।
तस्मात्तस्य वधो दृष्टो मानुषेभ्यः परन्तप!
उद्वेजयति लोकांस्त्रीनुच्छ्रितान् द्वेष्टि दुर्मतिः।
शक्रं त्रिदशराजानं प्रधर्षयितुमिच्छति॥
ऋषीन् यक्षान् सगन्धर्वान् ब्राह्मणानसुरांस्तथा।
अतिक्रामति दुर्धर्षो वरदानेन मोहितः॥
नैनं सूर्यः प्रतपति पार्श्वे वाति न मारुतः।
चलोर्मिमाली तं दृष्ट्वा समुद्रोऽपि न कम्पते॥
तन्महन्नो भयं तस्माद्राक्षसाद् घोरदर्शनात्।
वधार्थं तस्य भगवन्नुपायं कर्त्तुमर्हसि॥

राक्षसराज रावणने दीर्घकाल तक कठिन तपस्या की थी, जिससे सन्तुष्ट हो कर आदिपुरुष ब्रह्माजीने उसको यह वरदान दिया कि, 'मनुष्योंके सिवाय अन्य प्राणियोंसे उसको कोई भय नहीं होगा।' इस प्रकार वरदानसे गर्वित हो कर रावण समस्त संसार तथा स्त्रियोंपर बहुत ही अत्याचार करता है, जिससे संसारमे धर्मकी धारा नष्ट होने लगी है। अतः मनुष्योंके द्वारा ही उसका वध होना निश्चित है। रावण समस्त लोक, स्त्रीगण, सम्पत्तिशाली पुरुषगण तथा इन्द्र पर्यन्तको पीडित करता है। ऋषि, यक्ष, गन्धर्व, ब्राह्मण, असुर आदि सभीको वरदानसे मुग्ध रावणने दबा लिया है। उसको देख कर डरसे सूर्य भी अधिक ताप नहीं देता है, वायु भी अधिक हिल नहीं सकता है और तरङ्गयुक्त समुद्र भी कम्पित नहीं होता है। इस राक्षससे सुर, नर—सभीको विशेष भय हुआ है। इसलिये श्रीभगवान्से प्रार्थना है कि, इसका शीघ्र वधोपाय विधान करें। यही सब अवतार प्रकट होनेके कारण है।

अब श्रीभगवान्के दस अवतारके विषयमे संक्षेपसे वर्णन किया जाता है। दस अवतारोंमेसे प्रथम मत्स्यावतार है। उनका आविर्भाव नैमित्तिक प्रलयके समय जब सृष्टि जलमग्न हो जाती है तो सृष्टि बीजकी रक्षाके लिये होता है।

जलसे सृष्टि बचानेके कारण ही जलचर जन्तु मछली-रूप केन्द्र द्वारा भगवान् अवतार रूपसे प्रकट होते हैं । इस विषयमें अग्निपुराणमें वर्णन है कि 'पूर्व कल्प के अन्तमें नैमित्तिक प्रलयके उदय होने पर पृथिवी आदि लोक समूह जलमग्न हो गये थे । उस समयके कुछ पहिले वैवस्वत मनु कठिन तपस्या करते थे । एक दिन कृतमाला नदीमें मनु तर्पण कर रहे थे, इतनेमें तर्पण जलके साथ एक छोटा सा मत्स्य मुनिकी अञ्जलिके बीचमें आगया । मनुजीने उसे नदीमें छोड़ना चाहा, पर मत्स्यने कहा—'राजन् ! मुझे नदीमें मत फेंको, क्योंकि मैं मगर आदि जन्तुओंसे बहुत डर रहा हूं ।' तब मनुजीने उसे एक कलसेके भीतर रक्खा । थोडी देरमें वह मत्स्य बढ़ गया और मनुजीसे कहा— 'मुझे रहनेके लिये इससे बड़ा स्थान चाहिये ।' तो मनुजीने उसे एक सरोवरमें डाल दिया । किन्तु जब इस प्रकार बढ़ते बढते थोड़ी ही देरमें वह मत्स्य पर्वताकार हो गया, तो मनुजीने उनसे कहा—हे 'भगवन् ! आप नारायण विष्णु हैं—इसमे सदेह नही । आप मुझे मुग्ध क्यों कर रहे हैं ?' मनुका वाक्य सुनकर मीन रूपी भगवान्ने कहा—"मै दुष्ट दमन और धार्मिकोंकी रक्षाके लिये मत्स्य रूपमे अवतीर्ण हुआ हूं । आजसे सातवें दिनमें समस्त संसार समुद्रजलमें निमग्न हो जायगा । उस समय तुम्हारे पास एक नाव आवेगी । उसमें ओषध आदि तथा भावी जीवोंके बीज रखकर सप्तर्षियोंके साथ तुम निवास करना और इस प्रकारसे ब्रह्माकी रात्रिके काल तक रह जाना । मैं जिस समय आऊंगा—मेरे सीगमे उस नावको नागपाश द्वारा बांध देना ।" इतना कह कर मीन रूपी भगवान् अन्तर्धान हो गये । तदनन्तर यथा समय समुद्र उमड़ पड़ा और साथ ही एक नाव आगई । सप्तर्षियोके साथ मनुजी उसमें विराज गये और सृष्टिबीज भी उसमे रख लिया । तदनन्तर विशाल शरीरधारी मत्स्य भगवान्का दर्शन हुआ । मनुजीने उनके सीगमें नावको बांध-कर स्तुति की । समस्त ब्राह्मी रात्रि तक भगवान्ने उस नावको आकर्षण कर विचरण किया । पश्चात् हयग्रीव नामक दानवको मारकर वेदोंकी रक्षा की, यही मत्स्यावतारकी कथा है ।

कूर्मावतार दैवराज्यका अवतार है । उसका रहस्य यह है कि, किसी समय दैवीशक्ति आसुरी शक्तिसे परास्त हो गई थी । इससे विश्वमें अधर्म बढ़ गया । तब भगवान्ने देवताओंसे कहा—'तुम सब असुरोंसे सन्धि करके

दोनों मिलकर समुद्र मथो। उससे जो अमृत निकलेगा उसके पान करने पर तुम असुरोंको पराहत कर पुनः धर्म स्थापन कर सकोगे।' ऐसा ही हुआ। किन्तु मथनेके समय मन्थनदण्डरूपी मन्दर पर्वत जब नीचे जाने लगा तब भगवान्‌ने कूर्मरूप धरकर उसे पीठ पर रोका। इस तरह समुद्र मन्थन हो सका और उसीसे लक्ष्मी, पारिजात, धन्वन्तरि, अमृत, आदि सब कुछ निकले। संसारमें भी ऐसा ही होता है। दो विरुद्ध शक्तियोंके टक्करके विना कोई कार्य नहीं होता है। किन्तु उसके Balance (सामञ्जस्य) रखनेके लिये यदि धर्म-शक्ति उन्हें पीठ पर धारण करे तभी सभी उत्तम वस्तुएँ निकल सकती हैं। यही कूर्मावतारका रहस्य है।

तृतीय अवतारका नाम वाराहावतार है। इस अवतारका आविर्भाव पातालमें गई हुई पृथ्वीके उद्धारके लिये हुआ था। जय विजय नामक भगवान् विष्णुके दो द्वारपाल सनकादि ब्रह्मर्षियोंके शापसे विष्णुलोकसे च्युत होकर दितिके गर्भमें दैत्यरूपसे उत्पन्न हुए थे। उनके नाम हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु हुए। हिरण्याक्ष पृथ्वी पर अधिकार जमाकर उसे रसातलको ले गया था और बहुत ही मैलेसे पृथ्वीको भर दिया था। इस कारण श्रीभगवान् विष्णुने वाराहरूप धारण कर जलमग्न पृथ्वीका उद्धार किया था और हिरण्याक्षका वध करके स्वर्ग राज्यका उद्धार किया था। यही वाराहावतार धारणका इतिहास है।

चतुर्थ अवतारका नाम नृसिंहावतार है। यह अवतार हिरण्याक्षके कनिष्ठ भ्राता हिरण्यकशिपुको मारकर पृथ्वीमें धर्मका उद्धार तथा स्वर्गराज्यको निरापद करनेके लिये हुआ था। हिरण्याक्षके वध करनेके बाद भाईके वधके कारण हिरण्यकशिपु भगवान् पर बहुत ही द्वेष-भावयुक्त होगया और ब्रह्माजीके बलसे गर्वित होकर समस्त स्वर्गराज्य पर अधिकार जमा लिया तथा देवताओंको स्वर्गसे निकाल दिया। देवताओंने विष्णु भगवान्‌से प्रार्थना की तो उन्होंने कहा कि जब वेद, धर्म तथा अपने भगवद्भक्त पुत्र पर अत्याचार करेगा तब उसका नाश होगा। उसको ब्रह्माजीने यह वर दिया था कि न नरसे और न पशुसे वह मरेगा। इस कारण भगवान्‌को अर्द्ध नर और अर्द्ध सिंह रूपी नृसिंह मूर्ति धारण करके उसे मारना पड़ा था। वह कथा इस प्रकार है।

हिरण्यकशिपुका प्रह्लाद नामक एक पुत्र था। एक समय गुरुगृहसे आये प्रह्लादसे उसने पाठ पूछा तो प्रह्लादने उत्तर दिया—

तत्साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां
सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।
हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं
वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत॥

हे असुरपति, मिथ्या संसारमें मुग्ध चञ्चल जीवोंके लिये मैं यही अच्छा समझता हूं कि आत्माके गिराने वाले अन्धकूप तुल्य घरको छोड़ कर वनमें जा श्रीभगवान् विष्णुकी शरण ले। इतना सुनते ही हिरण्यकशिपु क्रोधसे भुन गया और प्रह्लादको सताया कि यदि विष्णुको न छोड़ेगा तो मारा जायगा। प्रह्लादने विष्णु भगवान्को छोड़नेसे इनकार किया, तब हिरण्यकशिपुने उन्हें मार डालनेके लिये बहुत कोशिशकी। वे हाथीके पैरके नीचे डाले गये, उन्हें विषैले सांपोंसे डसाया गया, भोजनमें विष दिया गया, वे आग और जलमें फेंके गये, पहाड़ोंसे गिराये गये इत्यादि। किन्तु श्रीभगवान्की कृपासे प्रह्लादकी जब किसी प्रकार भी मृत्यु न हुई तो अत्यन्त क्रुद्ध होकर हिरण्यकशिपु अपने हाथसे प्रह्लादके मारनेको उद्यत हुआ और कहा, 'रे मंदात्मन्! निश्चय ही तेरा मरणकाल उपस्थित हुआ है, इसलिये तू इस प्रकार प्रलाप बक रहा है। यदि तेरा ईश्वर सर्वव्यापी है तो इस स्तम्भमें क्यों नही दीखता है?' इतना कह कर हिरण्यकशिपु हाथमें तलवार ले सिंहासनसे कूद पड़ा और सजोर स्तम्भ पर मुका मारा। मुक्का मारते ही भीषण शब्द हुआ और—

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिञ्च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥

अपने भृत्य प्रह्लादके वाक्यको सत्य करनेके लिये तथा समस्त विश्वमें अपनी व्यापक सत्ताको जतानेके लिये श्रीभगवान् अपूर्वरूप न मृग न मनुष्य—अर्थात् नृसिंहरूप धारण करके सभास्थलमें स्तम्भके ऊपर प्रकट होगये! तपे हुए सोनेकी तरह कराल उनके नेत्र थे, जटा और केशरसे उनका मुखमण्डल चमकता था, दांतोंकी लहरें अति भयानक थी, तलवारकी तरह तीखी उनकी जिह्वा थी और भौंहोंकी लहरोंसे भयानक उनका मुख था। नृसिंह भगवान्का

इस प्रकार भयकर आकार देखने पर भी हिरण्यकशिपुके हृदयमें भय नहीं हुआ और वह गदा लेकर उन्हें मारनेको दौड़ पड़ा। किन्तु गरुड़ जिस प्रकार सर्पको अनायास ही पकड़ता है उसी प्रकार श्रीभगवान् नृसिंहदेवने उसे पकड़ लिया और अपने उरु पर रख कर नखोंसे फाड कर उसे मार डाला। इस प्रकारसे दैत्यका निधन, देवराज्यमें शान्तिस्थापन तथा भक्तकी रक्षा करके नृसिंह भगवान् अन्तर्धान हो गये। यही नृसिंहावतारकी कथा है।

पञ्चम अवतारका नाम वामनावतार है। इस अवतारमें श्रीभगवान्ने दैत्यराज वलिको त्रिलोकसे च्युत करके सुतललोकमें भेज दिया था और देवराज्यका उद्धार किया था। दैत्यराज वलिने अपने पराक्रमद्वारा स्वर्ग पर अधिकार जमा कर इन्द्रादि देवताओंको स्वर्गच्युत तथा राज्यच्युत कर दिया था, जिस कारण ब्रह्माण्ड प्रकृतिमें अशान्ति तथा धर्मकी हानि हो रही थी। इस लिये परम दानी तथा सत्यव्रत होने पर भी ब्रह्माण्डकी व्यवस्थाके लिये श्रीभगवान्को वामनावतार लेकर दैत्यराज वलिसे भूर्लोक, भुवर्लोक तथा स्वर्गलोक छिनना पड़ा था। इस प्रकारसे वलिको राज्यच्युत करके श्रीभगवान्ने देवताओंको निरापद कर दिया और पश्चात् वलिकी सत्यप्रतिज्ञा तथा दानधर्मके पुरस्कार रूपसे उनके द्वार पर द्वारपालका कार्य किया और आगामी कल्पमे वलिको इन्द्रत्व प्रदान किया। इस तरहसे वामनावतार द्वारा दोनों ओरकी व्यवस्था द्वारा धर्मरक्षा की गई। यही वामनावतारका सक्षिप्त इतिहास है।

षष्ठ अवतारका नाम परशुराम अवतार है। इस अवतारमें श्रीभगवान्ने अत्याचारी तथा ब्राह्मणद्वेषी क्षत्रिय वंशका नाश किया था। श्रीभगवान् मनुजीने कहा है—

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते।
ब्रह्म क्षत्रञ्च सम्पृक्तमिह चामुत्र वर्द्धते॥

ब्रह्मशक्तिके विना क्षात्रशक्ति पुष्ट नही हो सकती है और क्षात्रशक्तिके विना ब्राह्मणशक्ति वृद्धिको प्राप्त नही हो सकती है। दोनोंकी परस्पर सहायता तथा सहानुभूति द्वारा ही दोनोंका कल्याण तथा ससारका कल्याण हो सकता है। किन्तु त्रेता युगमें ऐसा समय आगया था जिस समय क्षत्रिय और ब्राह्मणोकी परस्पर सहानुभूति नष्ट हो गयी थी और क्षत्रिय लोग अत्यन्त अत्याचारी हो कर निरपराध ब्राह्मणोंका हनन, सम्पत्ति हरण- आदि करने लग गये थे

जिस कारण संसारमें धर्मपर बहुत ही ग्लानि आगयी थी। दत्तात्रेयके वरसे पराक्रमी सहस्रबाहु कार्त्तवीर्यार्जुन आदि क्षत्रिय नरपतियोंने अपनी तपः शक्तिको धर्मनाश तथा ब्रह्मनाशमें ही लगा दिया था, जिससे समस्त विश्वमें बड़ी ही अशान्ति फैल गई थी। इसलिये श्रीभगवान्‌को उस समय अवतार धारण कर अधार्मिक क्षत्रिय शक्तिके नाश द्वारा संसारमें शान्ति स्थापन तथा धर्मकी रक्षा करनी पड़ी थी। महर्षि जमदग्निके द्वारा माता रेणुकाके गर्भमें परशुराम भगवान्‌ने प्रकट होकर इक्कीस बार पृथ्वीको दुष्ट क्षत्रियोंसे हीन कर दिया था। श्रीभगवान् रामचन्द्रके प्रगट होनेपर परशुरामकी अवतार शक्ति रामचन्द्रमें चली गई थी, यथा रामायणमें:—

ततः परशुरामस्य देहान्निर्गत्य वैष्णवम्।
पश्यतां सर्वदेवानां तेजो राममुपागमत्।

परशुरामके द्वारा प्रदान किये वैष्णव धनुमें बाणकी योजना करते ही वैष्णवी शक्ति परशुरामको छोड़कर रामचन्द्रमें आगई, देवतागण इस अलौकिक दृश्यको देखने लगे। यही परशुरामावतारका संक्षिप्त इतिहास है।

दश अवतारोंमेंसे सप्तम अवतारका नाम रामावतार है। परशुरामावतारके बाद ब्रह्माण्डप्रकृतिमें इस अवतारके प्रकट होनेका विशेष प्रयोजन हुआ था। इसलिये रामावतारके द्वारा संसारमें जो आदर्शजीवनका दृष्टान्त स्थापित हुआ है, इससे मनुष्यलोकमें अनन्तकाल तक अनेक प्रकारके कल्याणसाधन हो सकेंगे इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। रामावतारमें श्रीभगवान् विष्णु किस प्रकारसे चार भागमें प्रकट हुए थे, इस विषयमें रामायणके बालकाण्डके १८ वें सर्गमें वर्णन है:—

"कौसल्याजनयद्रामं दिव्यलक्षणसंयुतम्।
विष्णोरर्द्धं महाभागं पुत्रमैक्ष्वाकुनन्दनम्॥
भरतो नाम कैकेय्यां जज्ञे सत्यपराक्रमः।
साक्षाद् विष्णोश्चतुर्भागः सर्वैः समुदितो गुणैः॥
अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत् सुतौ।
वीरौ सर्वास्त्रकुशलौ विष्णोरर्द्धसमन्वितौ॥"

अयोध्याधिपति महाराजा दशरथकी तीन रानियाँ थी। उनमेंसे कौसल्या नामिका रानीने दिव्य-लक्षणोंसे युक्त रामचन्द्रको प्रसव किया, जो विष्णु भगवान्के अर्द्धांश थे। दूसरी रानी कैकेयीने सत्यविक्रम सर्वगुणसम्पन्न भरतको प्रसव किया, जो विष्णु भगवान्के चतुर्थांश थे। तीसरी रानी सुमित्राने वीर, सकल अस्त्रमें निपुण लक्ष्मण और शत्रुघ्न नामक दो पुत्र प्रसव किये जो विष्णु भगवान्के अष्टमांश थे। इस प्रकारसे रामावतारमे अर्द्धांश, चतुर्थांश और दो अष्टमांश मिलकर विष्णु भगवान्का पूर्णरूपमें अवतरण हुआ। माया परमात्माकी नित्य-सङ्गिनी है। इसलिये महामायाने भी सीतादेवीरूपसे नारीजीवनका पूर्ण आदर्श संसारमें प्रकट करनेके लिये श्रीभगवान् रामचन्द्रकी अर्द्धाङ्गिनी बनकर अवतार धारण किया। यथा रामोत्तरतापिन्युपनिषद्में :—

"श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदाधारकारिणी।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम्॥
सा सीता भवति ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता॥"

परमात्मारूपी श्रीरामके सान्निध्यसे जगत्की आधाररूपिणी सृष्टि-स्थिति-प्रलयकारिणी मूलप्रकृतिरूपा श्रीसीता देवी है। रामावतारमे नरदेवरूपसे भगवान्का अवतार आदर्श मानव-जीवन बतानेके लिये हुआ था, और नारीदेवीरूपसे प्रकृतिमाताका सीतारूप अवतार आदर्श नारी-जीवनका दृष्टान्त ससारमें स्थापन करनेके लिये हुआ था। इसलिये समस्त अंशावतारोंमेंसे रामावतार मुख्यतम है और इसीलिये ससारमे रामावतारकी इतनी पूजा है। जिस समय श्रीभगवान् रामरूपमें प्रकट हुए थे उस समयके देशकालपर विचार करनेसे रामावतारकी आवश्यकता ठीक ठीक समझमें आती है। पूर्वावतार परशुरामके द्वारा इक्कीस बार पृथिवी क्षत्रियशून्य हो चुकी थी, जिससे ससारमें क्षात्रशक्तिका बहुत अभाव हो गया था। यह बात पहिले ही कही गई है कि, ससारमें धर्मकी स्थिति और ब्रह्माण्ड प्रकृतिमें नियम और व्यवस्था तभी तक रह सकती है, जब तक ब्राह्मशक्ति और क्षात्रशक्तिके बीचमें सामञ्जस्यकी रक्षा हो। परशुराम अवतारके समय क्षात्रशक्तिके अत्याचारसे यह सामञ्जस्य बिगड़ गया था। इसलिये श्रीभगवान्को परशुराम रूपसे क्षात्रशक्तिका नाश करके उस समयके लिये दोनों शक्तियोंके बीचमे सामञ्जस्य स्थापन करना पड़ा। परन्तु यद्यपि उस प्रकार क्षात्रशक्तिके नाशके द्वारा उस कालके लिये ब्राह्म, क्षात्र—दोनों शक्तियोंमें समता स्थापित हुई, तथापि

परवर्ती कालमें क्षत्रियवंशनाशके कारण क्षात्रशक्ति धीरे धीरे हीनवल होने लगी, जिससे संसारमें धर्मरक्षाके कार्य्यमें बहुतही बाधा हो कर युगानुकूल धर्मकी कमी होगई, अन्यपक्षमें धर्मरक्षक क्षात्रशक्तिके नाशसे ब्राह्मशक्ति बहुत अन्याय-रूपसे बढ़ने लगी, जिस कारण ब्राह्मणवंशमे भी रावण जैसे अत्याचारी पापी दुर्दान्त राक्षस उत्पन्न होने लगे। इसलिये त्रेतायुगके उस कालमें ब्रह्माण्डप्रकृतिकी ओरसे यह प्रेरणा उत्पन्न हुई कि, ऐसी कोई अलौकिक भगवत्शक्ति अवताररूपसे प्रकट हो जो हीनवल क्षत्रियशक्ति पुनः जीवित करके क्षत्रियकुलमें एक आदर्श मानवचरित्र स्थापन कर सके और अन्य पक्षमें आसुर तथा राक्षसभावापन्न ब्राह्मणशक्तिको नष्ट करके क्षात्रशक्तिके साथ ब्राह्मशक्तिका धर्मानुकूल सामञ्जस्य स्थापन कर सके। इन्हीं दोनों उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये श्रीभगवान् रामरूपमें क्षत्रिय-वंशमें प्रकट हुए। महामायाके भी सीतारूपमे अवतीर्ण होनेका कारण अति महान् है। दुर्दान्त कामुक रावणके अत्याचारसे अनेक सती स्त्रियाँ भ्रष्ट हो रही थी, पातिव्रत्यका परम आदर्श संसारसे प्रायः लुप्त हो रहा था, सती स्त्रियोंके मर्मभेदी रोदन तथा अभिसम्पातसे दशों दिशाएँ गूंज उठी थीं। इसलिये उस समय ब्रह्माण्ड-प्रकृतिमे यह आवश्यकता उत्पन्न हुई थी कि ऐसी एक आदर्श सती उत्पन्न हो, जिसके आदर्शको देख कर सतियोंके चित्तमे बल प्राप्त हो जाय और सती-धर्मका आदर्शस्थापन तथा सतीत्वके प्रतापका चमत्कार संसार-मे प्रकट हो जाय, जिससे रावण जैसे प्रतापी राक्षस भी अग्निमें पतङ्गकी तरह जलकर खाक हो सके और जो अटल अचल पातिव्रत्यका आदर्श भविष्यत् कालमें भी संसारकी नरनारियोंके लिये कल्याणकारी हो जाय। ब्रह्माण्डप्रकृति-में उत्पन्न इसी महान् प्रेरणाको सफल करनेके लिये महामायाका सीतारूपमें अव-तार हुआ था।

रामावतारका चरित्र शिक्षाका भाण्डार है। विष्णु भगवान्के अंशसे उत्पन्न राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आदि चारो भ्राताओने अपने अपने चरित्रोंसे संसारमें अपूर्व आदर्श स्थापन किया है। रामचन्द्रके चरित्रमे पूर्ण मानवका आदर्श प्रकट हुआ है और माता सीताके चरित्रमें पूर्ण नारीका आदर्श प्रकट हुआ है। पूर्ण मानव कौन है, जिसके आदर्शको देखकर प्रत्येक गृहस्थ अपने जीवनको पूर्ण जीवन बना सकते है तथा प्रत्येक क्षत्रिय नरपति अपने राजधर्मके पूर्णानुष्ठान द्वारा इहलोक-परलोकमे कृतकृत्य हो सकते हैं। इस प्रकारसे महामुनि

वाल्मीकिके प्रश्न करनेपर देवर्षि नारदने श्रीभगवान् रामचन्द्रको ही ऐसे पूर्ण मानवके आदर्शरूपसे वर्णन किया था। यथा रामायणके बालकाण्डमे :—

"इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी॥
बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्च्छत्रुनिबर्हणः।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः॥
महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिंदमः।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः॥
समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्।
पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः॥
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्॥
प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता॥
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः॥
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान्।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः॥
सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः॥
स च सर्वगुणोपेतः कौशल्यानन्दवर्धनः।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव॥
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः॥
धनदेवसमस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः॥"

इक्ष्वाकुवंशमें जगत्-प्रसिद्ध श्रीरामचन्द्र उत्पन्न हुए हैं, जिनके भीतर एकाधारमें पूर्ण मानवके समस्त गुण विद्यमान हैं। वे संयतात्मा, महावीर्यवान्, कान्तिमान्, धृतिमान्, जितेन्द्रिय, बुद्धिमान्, राजनीति आदिके पूर्णज्ञाता, वक्ता, श्रीमान्, बहिरन्तर शत्रुओंके नाशकर्त्ता, विपुलमस्तक, महाबाहु, शङ्खकी तरह रेखात्रयविशिष्ट ग्रीवावान्, मांसपूर्णहनुयुक्त, विशालवक्ष, महाधनुर्धर, मांसोंसे पूर्ण वक्षास्थिसे युक्त शत्रुदमनकारी, आजानुलम्बित बाहु, सुशील, सुललाट, गजेन्द्रगति, समान अङ्ग प्रत्यङ्गोंसे युक्त, समविभक्ताङ्ग, स्निग्ध, श्यामलवर्ण, प्रतापवान्, उन्नतवक्ष, विशालनेत्र, लक्ष्मीवान्, शुभलक्षण, धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ, प्रजाहितपरायण, कीर्त्तिसम्पन्न, शौचसम्पन्न, बाह्याभ्यन्तरशुद्ध, विनयशील, योगयुक्त, प्रजापतितुल्य, ऐश्वर्यवान्, प्रजापोषणसामर्थ्ययुक्त, बाह्याभ्यन्तररिपुनाशक, जीवोंके रक्षक, मर्यादा पालन द्वारा धर्मरक्षक, स्वधर्मके रक्षक, स्वजनोंके रक्षक, वेदवेदाङ्गोंके मर्मज्ञाता, धनुर्वेदके सम्यग्ज्ञाता, श्रुति स्मृति आदि सकल शास्त्रोंके तत्त्वज्ञाता, पठित शास्त्रोंके स्मरणकर्ता, उपस्थित-बुद्धि, सर्वलोकप्रिय मृदुमधुरस्वभाव, अदीनस्वभाव, लौकिकालौकिकसकल-क्रियाकुशल, नदियोंके द्वारा समुद्रकी तरह सदा सत्पुरुषोंके द्वारा सेवित, सर्व-पूज्य, सुखदुःखादिद्वन्द्वविकाररहित, सकल अवस्थामें प्रियदर्शन, सर्वगुणोंसे युक्त, नरपतिकी योग्यतासे युक्त, समुद्रके तुल्य गाम्भीर्ययुक्त, हिमाचलके तुल्य धैर्ययुक्त, विष्णुके तुल्य वीर्ययुक्त, चन्द्रके तुल्य प्रियदर्शन, युद्धकालीन क्रोधके समय कालाग्निके तुल्य, क्षमामें पृथ्वीके तुल्य, धनदानमे कुबेरके तुल्य और सत्यपालनमें साक्षात् धर्मराजके तुल्य हैं। इतने गुण एकाधारमें होनेके कारण ही श्रीरामचन्द्र समस्त मनुष्य, समस्त क्षत्रिय, समस्त नृपति तथा गृहस्थमात्र-के पूर्णादर्शस्वरूप थे। क्षत्रिय नृपतिका सार्थक जीवन तभी होता है जब उनके शासनमें प्रजा सकल प्रकारके सुखकी अधिकारी हो। श्रीरामचन्द्रके राजत्वमें इस आदर्शका पूर्ण विकाश हुआ था। रामराज्यके समय प्रजा जिस प्रकार सुखी हुई थी ऐसा न कभी हुआ है और न कभी होने की आशा है। जैसा कि युद्धकाण्डके अन्तमे रामायणमें बताया गया है, यथा—

न पर्यदेवन् विधवा न च व्यालकृतं भयम्।
न व्याधिजं भयं चासीद्रामे राज्यं प्रशासति॥
निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं कश्चिदस्पृशत्।

न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते ॥
सर्वं मुदितमेवासीत् सर्वो धर्मपरोऽभवत् ।
राममेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन्परस्परम् ॥
आसन् वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः ।
निरामया विशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति ॥
नित्यमूला नित्यफलास्तरवस्तत्र पुष्पिताः ।
कामवर्षी च पर्जन्यः सुखस्पर्शश्च मारुतः ॥
स्वकर्मसु प्रवर्त्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कर्मभिः ।
आसन् प्रजा धर्मपरा रामे शासति नानृताः ॥
सर्वे लक्षणसम्पन्नाः सर्वे धर्मपरायणाः ॥

श्रीरामचन्द्रके राज्यकालमें स्त्रियोंको वैधव्यदुःख नही देखना पड़ता था और किसीको भी सर्पभय तथा रोगका भय नही होता था। चोर दस्यु आदिका कोई भी अत्याचार नहीं था, किसी प्रकारका उपद्रव नही था और वृद्ध पिता-माताको कभी उनके जीते हुए मृतपुत्रका श्राद्धकर्म नही करना पड़ता था। सभी लोग आनन्दपूर्ण और सभी धर्मपरायण थे। श्रीरामचन्द्रके धार्मिकभावका आदर्श पाकर कोई भी परस्पर हिंसामें लिप्त नही होते थे। सहस्रों पुत्रोंके साथ सहस्रों वर्षोंतक नीरोग तथा शोकशून्य हो कर मनुष्य जीवित रहते थे। वृक्षगण सदा ही फल फूल मूलोंसे सुशोभित रहा करते थे, इच्छामात्रसे ही मेघ जल-वर्षण करता था और शीतळ, मन्द, सुगन्ध, सुखस्पर्श वायु वहा करता था। अपने कर्मसे तृप्त हो कर प्रजा अपने कर्ममे ही तत्पर रहती थी, सभी लोग धर्मपरायण थे और कही भी मिथ्या-व्यवहारका प्रचार नही था, सभी शुभलक्षण औरस्वधर्म से विभूषित थे। यही आदर्श नरपति श्रीरामचन्द्रके पुण्यबलसे रामराज्यमें प्रजासुखकी पराकाष्ठाका अपूर्व दृष्टान्त है। प्रजापालन तथा प्रजारञ्जनके लिये ही आठ लोकपालोंके अंशसे राजाका जन्म होता है। प्रजारञ्जन करनेवाले राजा ही वास्तवमें देवता है। प्रजापीड़क राजा असुरोके अंशसे अथवा राक्षसोंके अंशसे उत्पन्न है ऐसा शास्त्रका सिद्धान्त है। प्रजा जिनका प्राण है ऐसे राजाका ही जीवन यथार्थ है, अन्यथा राजाका जीवन-धारण करना ही वृथा है। इस परमधर्मकी पूर्णता श्रीरामचन्द्रके जीवनमे ही पाई गई थी। श्रीरामचन्द्र अत्यन्त प्रजावत्सल थे,

प्रजारञ्जन ही उनका एकमात्र व्रत था, प्रजाके सुखके लिये ही उनका जीवन धारण था और संसारमें ऐसा कोई कार्य्य नहीं था जो प्रजारञ्जनके लिये वे कर नही सकते थे। उनका समस्त प्राण, समस्त सुख प्रजारञ्जनरूपी होमाग्निमें पवित्र घृतकी तरह आहुति प्राप्त हो गया था। संसारमें ऐसे कोई नरपति नहीं मिलेंगे जो केवल प्रजारञ्जनके लिये पूर्ण निर्दोषा परमप्रिया पतिव्रता अपनी सहधर्मिणीको भी परित्याग कर सके। परन्तु श्रीरामचन्द्रजीके जीवनमें ऐसा भी हुआ था। उन्होंने सब ओरके कर्त्तव्योंको तिलाञ्जलि देकर, यहां तक कि अपने हृदयके शुद्ध ज्ञानका भी गला घोटकर, पूर्ण पवित्रा जाननेपर भी केवल प्रजारञ्जनके लिये ही परमसती परमप्रेमवती निर्दोषा सीताको भी वनवास दिया था। यही सब उनके जीवनमें आदर्श क्षत्रिय तथा आदर्श नरपतिके लक्षण हैं।

यदि अब भी ऐसे प्रजापालक प्रजाहित-प्राण राजा भारतमें मिल जायें तो भारतकी यह दीन दशा जिसमें लाखों मनुष्य रोगसे, शोकसे तथा दुर्भिक्षसे नित्य मर रहे हैं एकबार ही नष्ट होकर भारतमें नन्दनकाननकी आनन्द धारा वह निकले और शान्तिरूपिणी मन्दाकिनी प्रजाके दग्ध हृदयको शीतल करदे। न जाने भारतके भाग्यरूपी आकाशमें ऐसे शुभ नक्षत्रका उदय कब होगा!

आदर्श राजाके अतिरिक्त आदर्श मानव तथा आदर्श गृहस्थके भी सभी गुण श्रीरामचन्द्र में सुशोभित थे। उनकी पितृभक्ति, मातृभक्ति भ्रातृप्रेम, जितेन्द्रियता, एक-पत्नी व्रत, सहन-शीलता, धैर्य्य, भक्तवत्सलता, शरणागतके प्रति दया, उदारता, सच्चरित्रता, शीलता, भद्रता, निष्कपट प्रेम, दरिद्रोंपर कृपा, सत्यव्रत आदि सभी गुण नरलोकमें दुर्लभ तथा प्रत्येक गृहस्थके लिये आदर्शरूप हैं। रामचन्द्रजी वर्णाश्रमके कितने प्रतिपालक थे सो परशुरामके प्रति उनके वाक्यसे ही पता लग जाता है परशुरामने जब उनसे संग्राम करना चाहा तो उन्होंने उत्तर दिया थाः—

ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्रकृतेन च।
तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम्॥

आप ब्राह्मण होनेके कारण पूज्य हैं और महर्षि विश्वामित्रके साथ सम्बन्ध रहनेसे भी पूज्य हैं। इसलिये आपका प्राणनाशकारी बाण मैं नही चलाऊंगा। इसी प्रकार केवल वर्ण धर्मकी रक्षाके लिये ही उन्होंने शम्बूकका

गला काट दिया था। यही सब भगवान् रामचन्द्रके जीवनमें अपूर्व आदर्श है जिनके यथाशक्ति अनुकरण करनेपर भी समस्त ससार धन्य हो सकता है।

रामावतारमें वानरोसे बहुत सहायता मिली थी, इस कारण वे सब वानर कौन थे और किस किस आकारके थे सो निर्णय करने योग्य है। रामायण बालकाण्ड १७वें सर्गमें लिखा है:—

पुत्रत्वं तु गते विष्णौ राज्ञस्तस्य महात्मनः ।
उवाच देवताः सर्वाः स्वयम्भूर्भगवानिदम् ॥
सत्यसन्धस्य वीरस्य सर्वेषां नो हितैषिणः ।
विष्णोः सहायान् बलिनः सृजध्वं कामरूपिणः ॥

महाराजा दशरथके पुत्ररूपमें भगवान् विष्णुके उत्पन्न होनेके अनन्तर ब्रह्माजीने देवताओंसे कहा कि आप सब भगवान्की सहायताके लिये अपने अपने तेजसे बलवान् कामरूपी जीवोंको उत्पन्न करें। इस प्रकारसे ब्रह्माजीकी आज्ञा पाकर देवताओंने निज तेजसे गन्धर्वी, यक्षी, विद्याधरी, वानरी आदि स्त्रियोंमें वानर रूपधारी अनेक पुत्रोंको उत्पन्न किया। यथा इन्द्रने वालिको, सूर्यने सुग्रीवको, कुबेरने गन्धमादनको, विश्वकर्माने नलको, पवनदेवने हनुमानको इत्यादि। क्योंकि रावणको यह वर मिला हुआ था कि, देवताओंके हाथसे नही मरेगा, इसलिये विष्णु तथा अन्यान्य देवताओंको नर तथा वानरका रूप धारण करना पड़ा था। वे सब कामरूपो थे इसलिये जब जैसा प्रयोजन होता रूप धारण कर सकते थे, यथा रा० यु० का० १२७-१२८ सर्गमें:—

ते कृत्वा मानुषं रूपं वानराः कामरूपिणः ।
कुशलं पर्यपृच्छंस्ते प्रहृष्टा भरतं तदा ॥
नवनागसहस्राणि ययुरास्थाय वानराः ।
मानुषं विग्रहं कृत्वा सर्वाभरणभूषिताः ॥

कामरूपी वानरोंने मनुष्यरूप धारण करके भरतसे कुशल पूछा। अनेक भूषणोंसे भूषित वानरगण मनुष्यरूप धारण करके नौ हजार हाथियों पर चढ़कर चले। रामायणके सु० काण्डके द्वितीय सर्गमें हनुमानके लिये लिखा है—

सूर्ये चास्तं गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारुतिः ।
वृषदंशकमात्रोऽथ बभूवाद्भुतदर्शनः ॥

सूर्यास्त होनेके बाद् हनूमानने अपने शरीरको छोटा बना कर विल्लीका रूप धारण किया और उसी अपूर्व रूपमें रावणके अन्तःपुरमें घुस गये । यही सब देवता स्वरूप वानरोंके कामरूपी होनेके प्रमाण है । श्रीरामचन्द्रके निज-धाम चले जानेके बाद् ये सभी वानर जो जिस देवतासे निकले थे उसमें लय हो गये ।

निष्कलंक रामचरित्रमें कोई कोई यह कलंक लगाते है कि, उन्होंने छिप-कर वालिको मारा था । अतः यह शंका समाधान करने योग्य है । पहिले ही कहा गया है कि, रामावतारके कार्यमें सहायता करनेके लिये देवांशसे वानरों-का जन्म हुआ था । इस प्रकार इन्द्रदेवने वालिको उत्पन्न किया था । अतः वालिको उचित था कि, सुग्रीव आदिके साथ मित्रता कर वह रामावतार कार्यमें सहायता करता । किन्तु ऐसा न करके उलटा उसने सबसे विरोध किया और कामुक होकर सुग्रीवकी स्त्रीको ही छीन लिया । अतः जब अवतार कार्य्यमें सहायता न करके विरोध ही किया, तो, उसका जीवित रहना उचित न था, यही वालिवधमें दैव कारण था । 'उसको छिपकर क्यों मारा' इसके दो उत्तर है । प्रथम—वानर शाखामृग होते हैं, मृग मारनेमें क्षत्रियगण युद्धधर्मका आचरण नहीं करते हैं, जैसे तैसे सामने या छिपे ही मार देते हैं । इस कारण शाखामृग वालिको छिपकर मारनेमें कोई दोष नहीं हो सकता है । द्वितीयतः वालिको यह वर था कि, जो सामने आवेगा, उसका आधा बल वालिको प्राप्त हो जायगा । ऐसा होनेसे सम्मुख आकर उसे मारना असम्भव था । यही कारण है, कि, श्रीरामचन्द्रको युद्धनीतिका अवलम्बन करके उसे छिपकर मारना पड़ा । अतः रामचरित्रमें वालिवधके कारण कोई दोष स्पर्श नही कर सकता है । यही निष्कलंक गुणधाम श्रीरामका आदर्श चरित्र है ।

दस अवतारोंमें अष्टम अवतारका नाम बलराम और कृष्णावतार है, इनमेंसे बलराममें अंशकलाका विकाश और कृष्णमें पूर्ण कलाका विकाश हुआ था, यथा भागवतमें—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।

और सब अंशावतार हैं, किन्तु कृष्णमें पूर्ण कलाका विकाश होनेसे वे साक्षात् ईश्वररूप हैं । इस प्रकार अंशकला तथा पूर्णकलामें भगवान्‌के प्रकट होनेका क्या कारण उपस्थित हुआ, सो द्वापर और कलिके उस सन्धिकालकी

भीषणताके विषयमें थोड़ा विचार करनेपर ही पता लग सकता है। उस समय चारों ओरसे असुरोंके अत्याचार द्वारा धरा भाराक्रान्ता हो उठी थी। एक ओर महापापी कंसने शिशुहत्या, गोहत्या, पिताको, बहिनको, बहनोईको कारावास दुःखप्रदान, धर्मनाश, भगवान्‌के नामपर भीषण विद्वेष, प्रजापीड़न आदि महापापोंसे संसारको भर दिया था, दूसरी ओर शिशुपाल दन्तवक्रने अपने आसुरी प्रभावसे पृथ्वी माताके दिलको दहलाना शुरू किया था, तीसरी ओर जरासन्ध, अघासुर, बकासुर, धेनुकासुर, केशी, प्रलम्ब, चाणूर, तृणावर्त, नरकासुर, पंचजन, कालयमन, शम्बर आदि कितने ही प्रजापीड़क नरघातक असुर उस समय भीषण अत्याचारी हो उठे थे, और चौथी ओर आसुरी शक्तिसे उत्पन्न दुर्योधन, दुःशासन आदिके गुरुभारसे पृथ्वी बहुत ही पीड़ित हो रही थी। जहांपर रजस्वला कुलवधू सभाके बीचमे विवस्त्रा की जाय, भीष्म जैसे महात्मा वीर भी बैठे बैठे देखते ही रह जाय, झूठे खेलमे परास्त कर भाईकी सम्पत्ति हर ली जाय और उन्हें बनवास क्लेश दिये जायं, जहां पर सप्तरथी मिलकर निरस्त्र बालकको, क्षत्रिय धर्मको तिलाञ्जलि दे, असहाय अवस्था-में मार डाले, जहांपर निद्रित अवस्थामें भी मनुष्योंकी हत्या की जाय, गुरु शिष्यका और शिष्य गुरुका प्राणसंहार करें, गर्भमें स्थित बालकपर भी अस्त्र प्रयोग किया जाय, वहां पर कितना पाप बढ़ गया था थोड़े ही विचारसे मनुष्य उसे समझ सकते हैं। इन्ही पाप तथा पापियोंका नाश करके ससारमें पुण्यमयी शान्तिसुधा बहानेके लिये ही भगवान्‌का अंशकला तथा पूर्णकला दोनों ही भावमें अवतार हुआ था। वसुदेव देवकीने पूर्वजन्ममें भगवान्‌को पुत्ररूपमें पानेके लिये घोर तपस्या की थी, इसी कारण उनके द्वारा भगवान् ससारमें अवतीर्ण हुए थे, यथा—

> एतद्वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे।
> नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिंगेन जायते॥
> युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत्।
> चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम्॥

कृष्ण रूपमें प्रकट होकर श्रीभगवान्‌ने वसुदेव तथा देवकीसे कहा 'पूर्व जन्ममें जो मुझे पानेके लिये आप दोनोंने तपस्या की थी—उसका स्मरण करानेके

अर्थ मैंने चतुर्भुज रूपमें दर्शन दिया। आप दोनों पुत्रभाव तथा ब्रह्मभावमें मेरा चिन्तन तथा मुझमें स्नेह कर उत्तम गतिको पावेंगे।

जिस प्रकार वसुदेव देवकीने भगवान्‌को पुत्रभावमें पानेके लिये तपस्या की थी, उसी प्रकार अनेक ऋषियोंने पतिभावमे उनको पानेके लिये तपस्या की थी। ये ही सब गोपी बनकर पूर्वजन्मकी साधनाके अनुसार कृष्णावतारके समय उत्पन्न हुए थे, यथा-पद्मपुराणके पाताल खण्डमें—

मानसे सरसि स्थित्वा तपस्तीव्रमुपेयुषाम्।
जपतां सिद्धिमंत्राश्च ध्यायतां हरिमीश्वरम्॥
मुनीनां काङ्क्षतां नित्यं तस्य एव पदाम्बुजम्।
एकसप्ततिसाहस्रसंख्यातानां महौजसाम्॥
तदहं कथयाम्यद्य तद्रहस्यं परं वने॥

मानस सरोवरमें श्रीभगवान्‌के चरण सेवाकी इच्छा करके इकहत्तर हजार मुनियोंने तीव्र तपस्या की थी। उन्होंने सिद्ध मन्त्रका जप और हरिका निरन्तर ध्यान किया था। उनमेसे जिन मुनियोने श्रीभगवान्‌को शरीर-मन-प्राण आत्मा सभीके द्वारा सम्भोग करनेकी इच्छासे उनका ध्यान किया था उनका जन्म गोपवंशमे गोपीरूपमें हुआ था, क्योकि बिना स्त्री शरीर धारण किये ऐसा हो ही नही सकता था। इसी प्रकार बहुतसी देवी तथा बहुतसी श्रुतियोंका भी गोपीरूपमे जन्म हुआ था। और 'भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम्' इस वचनके द्वारा भागवतमें कहा गया है कि, गोप रूपमें तथा यदुवंशमें अनेक देवता भी उत्पन्न हुए थे। इससे सिद्ध हुआ कि, गोप तथा गोपीगण सामान्य स्त्री पुरुष नही थे किन्तु देवांशसे उनकी उत्पत्ति हुई थी।

श्रीभगवान्‌ने कृष्णावतारमें क्या क्या किया था, यह सब हिन्दुमात्रको विदित ही है, इसलिये इसका विस्तृत वर्णन यहां नही किया जायगा। केवल उनके अलौकिक चरित्रके विषयमें अति जटिल जो कुछ भाव है, उसीका थोड़ा बहुत रहस्य बताया जायगा। अवतार श्रीभगवान्‌का होता है। भगवान् सच्चिदानन्दरूपमें होनेसे उनमें सत् भाव, चित् भाव और आनन्द भाव पूर्ण है। इस कारण पूर्णावतारमें भी तीन भाव पूर्णरूपसे रहते हैं। सत् भावके साथ कर्मका, चित् भावके साथ ज्ञानका और आनन्द भावके साथ भक्तिका सम्बन्ध-

है । इसलिये पूर्णावतारके जीवनमें कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनोंकी ही लीला प्रकट होती है । वे पूर्ण कर्मी, पूर्ण ज्ञानी और सभी रसके रसिक होते है और ऐसा होते हुए भी त्रिगुणातीत होनेके कारण सबसे अलग तथा निर्लिप्त होते हैं । भगवान् श्रीकृष्णके पूर्णावतार होनेके कारण उनके जीवनमें कर्म, ज्ञान, भक्ति सभीके उच्च अलौकिक आदर्श प्रकट हुए थे । अंशावतारमे अंशकला-का विकाश रहनेसे उनका सभी काम किसी एक भावको मुख्य रखकर होता है, जैसा कि श्रीरामचन्द्रने मर्यादा भावको मुख्य रखकर सब काम किया था, जिस कारण सीतामाताके पूर्ण निर्दोषी होनेपर भी केवल वंश-मर्यादा रक्षाके लिये उन्होंने उनको वनवास दिया था । किन्तु पूर्णावतार भावातीत होनेके कारण किसी एक भावको लेकर काम नहीं करते । वे केवल जगत् कल्याण और समष्टिरूपसे धर्मरक्षाका विचार रखकर काम करते है। इसी कारण युधिष्ठिरसे मिथ्या कहलाकर द्रोणको मरवा देनेपर भी श्रीकृष्णको पाप नही लगा । और भी ऐसे ऐसे अनेक कार्य करते रहे जो सब लौकिक दृष्टिसे अच्छा न होने पर भी जगत्का कल्याण तथा जगत्मे धर्मरक्षाके विचारसे सम्पूर्ण निर्दोष थे । यही पूंर्णावतारके जीवनमे कर्मका रहस्य है। उनके जीवनमे भक्तिका रहस्य यह है कि, सभी रसके भक्त उनकी लीलामें अवश्य ही उत्पन्न होते हैं, क्योकि पूर्णावतार होनेसे रसमे भी वे पूर्ण है । इसी कारण श्रीकृष्ण लीलामें पाण्डवादि सख्य रसके भक्त, विदुरादि दास्य रसके भक्त, यशोदादि वात्सल्य रसके भक्त, भीष्म आदि वीर रसके भक्त और व्रजगोपियां आदि कान्ता रसके भक्त, प्रकट हुए थे । इनमेसे कान्तारस कुछ रहस्यमय होनेके कारण रासलीला आदिके रहस्यको न समझकर मूढ़ लोग श्रीकृष्णके महान चरित्रपर कहीं कहीं कलङ्क लगाते हैं। अतः यह विषय समा-धान करने योग्य है। रासलीला प्रसङ्गमें श्रीमद्भागवतमें लिखा है :—

योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ॥

अर्थात् रासलीलाके समय योगेश्वर श्रीकृष्णने अनेक शरीर धारण करके दो दो गोपियोंके बीचमे एक एक होगये थे। उसी प्रसङ्गमें यह भी लिखा है कि जो गोपियां घरसे भाग आई थीं उनके पतियोंके पास एक एक गोपीका सा रूप धारण करके श्रीकृष्ण रह गये थे, ताकि उन पतियोको पता न लगे कि

उनकी स्त्रियां भाग गई है । विना योगीके कोई भी इतने शरीर धारण नहीं कर सकता, कामुक विषयी एक शरीरको इतना नही बना सकता, इसलिये भगवान् वेदव्यासने श्रीकृष्णको यहां पर 'योगेश्वर' कहा है, कामेश्वर या रतीश्वर नही कहा है। अब यह बात विचारने योग्य है कि जो योगी स्वयं स्त्री भी बन सके या पुरुष भी बन सके उसके भीतर काम हो सकता है कि नही। सभी लोग जानते है कि, किसीको अपने ऊपर काम नही हो सकता, अपनेसे भिन्न दूसरेपर ही काम हो सकता है। रमण द्वैतमें ही सम्भव है अद्वैतमें नही, अपनेमें रमण आत्माराम योगी ही कर सकते हैं, विषयी दूसरेके साथ रमता है। अपने साथ नही रम सकता है। अतः एक ही कृष्ण जब स्त्री भी बनते है और पुरुष भी बनते हैं और दोनों ही रूपोंमें अद्वितीय रूपसे रहते है, तो उनकी योग स्थिति काम दशा या वैषयिक दशासे ऊपर है, यह निःसन्देह प्रमाणित हो गया। इस कारण भागवतमें लिखा है:—

गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषाञ्चैव देहिनाम् ।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीड़नेनेह देहभाक् ॥
अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः ।
भजतैतादृशीः क्रीड़ाः याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥

जो भगवान् गोपियोंके भीतर भी है और उनके पतियोंके भीतर भी है उनका शरीर धारण और इस प्रकार लीला केवल भक्तोंके प्रति कृपा करने के लिये है। जिससे भक्त मात्र इन लीलाओंके रहस्यको जानकर उनके प्रति अनुरक्त हो सकें। अतः श्रीकृष्णके प्रति काम आदि वैषयिक भावोंकी आशङ्का अज्ञान मात्र है। इसी कारण रासलीला-प्रसङ्गमे भगवान् वेदव्यासने कहा है—'आत्माराम कृष्णने रमण किया' 'योगेश्वरने रमण किया' 'अपनेमें वीर्यको रोककर रमण किया' इत्यादि इत्यादि अर्थात् वह सभी रमण योगीका सर्वत्र आत्मा देखकर आत्म रमणकी तरह था, भोगीका विषय-भोग नही था। किन्तु ऐसा होने पर भी रासपञ्चाध्यायीमें जो इस प्रकारके श्लोक मिलते हैं जिससे स्थूल रमण ही प्रतीत होता है इसका रहस्य भेद करना चाहिये। पहिले ही कहा गया है कि, पूर्वजन्मके अनेक ऋषि मुनि भगवान्के साथ स्थूल शरीर द्वारा सम्बन्ध करनेकी इच्छासे गोपी बन कर आये थे। अतः पूर्व संस्कारके अनुसार श्रीभगवान् कृष्णकी अति मधुर मूर्तिको देखते ही उनके

भीतर स्थूल रूपमें मिलनेकी इच्छा उत्पन्न होना स्वाभाविक था। किन्तु भगवान् भागवतमें कहते हैं:—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जितः कथितो धानः प्रायो बीजाय नेष्यते॥

भगवान्के प्रति काम भावसे प्रीति करने पर भी वह काम भुने हुए बीजकी तरह अङ्कुर न जमाकर नष्ट हो जाता है। सो कैसे होता है परीक्षितके प्रश्नके उत्तरमें ब्रह्मर्षि शुकदेवने बताया था, यथा:—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेऽश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते॥

अर्थात् काम, क्रोध, भय, स्नेह आदि किसी भी भावके द्वारा भगवान्में नित्य आसक्त रहते रहते भक्त उनमें तन्मय हो जाता है और उसी तन्मयता द्वारा मन भगवान्में लवलीन हो जाने पर भक्तको मुक्ति मिलती है। गोपियोंमें भी ठीक ऐसा ही होता था। वे पूर्व संस्कारके अनुसार श्रीकृष्णको देखते ही अनुरक्त हो जाती थी और उनसे स्थूल रमण करना चाहती थी। किन्तु श्रीकृष्ण भगवान्की अलौकिक शक्ति द्वारा अत्यन्त आकृष्ट होकर थोड़ी ही देरमें तन्मय हो जाती थीं। और जब तन्मय हो गईं, अपनेको भूल ही गईं, मन ही नष्ट हो गया तो मनमें उत्पन्न कामादि कैसे रह सकता है? इस प्रकारसे तन्मयता द्वारा मन तथा मनोवृत्तियोंको खोकर भगवान्मे लवलीन होकर गोपियोंने उच्चगति पाई थी। यही रासलीलाका गूढ रहस्य है जिसको यथार्थरूपसे समझ जाने पर श्रीकृष्ण-चरित्र पर कोई भी आशङ्का नही कर सकता है।

इसी प्रकार 'वस्त्रहरण' के विषयमें भी जो शङ्का होती है वह भी इसके रहस्यके न समझनेका ही फल है। वह रहस्य यह है कि, कुछ गोपियोंने श्रीभगवान् कृष्णको पतिरूपसे पानेके लिये कात्यायनी व्रत किया था, यथा भागवतमें—

'नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः'

माता कात्यायनि! नन्दसुत भगवान् कृष्णको मेरा पति कर दो तुम्हें नमस्कार। जब श्रीकृष्ण साक्षात् परमात्मा थे तो परमात्माके पानेके लिये

जितनी योग्यता होनी चाहिये उसके हुए विना श्रीकृष्ण कभी उनके पति नहीं हो सकते थे। उन्होंने वस्त्र-हरण द्वारा उस योग्यताकी परीक्षा की थी। शास्त्रका सिद्धान्त है, कि जब तक जीव शरीरके प्रति अभिमान रखता है तब तक परमात्माको नहीं पा सकता है। काम, लज्जा, भय आदि तभी तक रहता है, जब तक शरीरके प्रति अभिमान है, बालकमें काम नही होता है इसलिये वे नग्न होनेमें लज्जा नही करते। इसी प्रकार परमहंस महात्मा परमात्माको पाकर शरीरके अभिमानको काटते हैं इस कारण वे भी नग्न रहते हैं। जब तक यह दशा न हो, तभी तक काम, लज्जा आदि रहती है, तभी तक वस्त्रसे लज्जाको रखनी होती है और तभी तक शरीरके प्रति अभिमान रहनेके कारण परमात्मा नही मिलते हैं। गोपियोंकी उच्च आशा तो परमात्माको पतिरूपसे पानेकी थी, परन्तु शरीरके प्रति अभिमान उनका नष्ट नही हुआ था। इसी विषयको 'वस्त्र-हरण' करके श्रीकृष्ण भगवान्‌ने स्पष्ट दिखा दिया, कि जब वस्त्रहीन होनेमें उनको लज्जा मालूम होती है, तो अभी तक शरीरके प्रति उनका अभिमान नष्ट हुआ नही और जब नष्ट नहीं हुआ तो, परमात्माको पतिरूपमें पानेका समय अभी तक उनका आया नहीं। यह परीक्षा केवल उपदेश द्वारा उतनी पूरी नही होती जितनी वस्त्र-हरण द्वारा प्रत्यक्षरूपसे हो सकी। बाकी श्रीकृष्ण स्वयं कैसे थे सो पहिले ही कह चुके हैं। यही वस्त्रहरणका रहस्य है। इस प्रकारसे पूर्णावतार होनेके कारण उनके जीवनमें भक्तिके सभी रसोंके विकाशका माका आया था। उनके जीवनमें ज्ञानकी पूर्णता कैसी थी सो गीतापर मनन करनेसे पूरा पता लग जाता है। इन सबके विषयमे आगेके अध्यायमें बहुत कुछ कहा जायगा।

पुरुष-धर्म-विज्ञान, राजधर्म-विज्ञान, समाजनीति-विज्ञान, साधारण-धर्म-विज्ञान, आपद्धर्म-विज्ञान, धर्मयुद्ध-नीति-विज्ञान, वर्णाश्रमधर्म-विज्ञान इत्यादि ज्ञानकाण्डके सब अंगोंका पूर्ण विकाश श्रीभगवान्‌के लीला-विग्रहकी कथाओं और उनके उपदेश समूहके द्वारा महाभारत आदि ग्रन्थोंमें प्रकट है। यही सब श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके ज्ञानमय जीवनका अपूर्व आदर्श रूप है। इस प्रकारसे श्रीभगवान्‌के पूर्णावतार होनेके कारण श्रीकृष्णके जीवनमें कर्म, उपासना और ज्ञानका अपूर्व सामञ्जस्ययुक्त पूर्ण आदर्श प्रकट हुआ था। यही संक्षेपसे वर्णित अंशावतार श्रीबलराम तथा पूर्णावतार श्रीकृष्णकी अति गूढ़ रहस्यमयी लीला है।

दस अवतारोंमेंसे नवम अवतारका नाम बुद्धावतार है। इस अवतारके विषयमें बौद्धशास्त्रोंमे तथा श्रीमद्भागवत, विष्णुपुराण आदि पुराणोंमें अनेक प्रमाण मिलते है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

तत. कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नामाञ्जनसुतः कीकटेषु भविष्यति॥

बुद्धावतार कलियुगमें हुआ था। कीकट प्रदेशमें (वर्त्तमान गोरखपुर जिलेमें) शुद्धोदनके पुत्ररूपमें बुद्ध भगवान् उत्पन्न हुए थे।

उनके प्रकट होनेमें अध्यात्म कारण यह है। बुद्धावतारके प्रकट होनेके पूर्वसमयमें समष्टिजगत्में विशेष हलचल उत्पन्न हो गया था। उपासना और ज्ञानहीन कर्मकाण्डका प्रचार तथा दुष्ट उपयोग इतना बढ़ गया था कि, मनुष्य वैदिक यज्ञ तथा ईश्वरके नामसे लक्ष लक्ष पशुबलि तथा नरबलि तक प्रदान करने लग गये थे। इस प्रकारसे जीवहत्या अत्यन्त बढ़ जानेपर समष्टिजगत्की धर्मधारामें बाधा उत्पन्न हो गई थी जो उस समयके देशकालके लिये बहुत ही हानिकर तथा आसुरभावकी वृद्धि करनेवाली थी। इसीलिये श्रीभगवान्को बुद्धावतार धारण करके पशुहत्यासे उत्पन्न अधर्मकी धाराको रोकना पड़ा था और आसुरभावको नष्ट करके दैवभावको पुष्ट करना पड़ा था। बुद्धदेवने श्रीभगवान्के अवतार होनेपर भी जो वेद और ईश्वर सत्ताके विरोधी धर्मका प्रचार किया था, इसके भी मूलमें वैज्ञानिक तत्त्व है। यह बात पहिले ही कही गई है कि, अंशावतारके समस्त कार्य प्रायः थोड़े देशकालके अनुकूल होते है और इस प्रकारसे एकदेशी धर्मका स्थापन उनके द्वारा होनेके कारण परवर्त्ती कालमें जाकर अनेक समय उनका किया हुआ धर्म समष्टिजीवोंके लिये कल्याणकर नही रहता और यह भी प्रयोजन हो जाता है कि, अन्य कोई अवतार प्रकट होकर उनके चलाये हुए धर्मको तोड़ दे तथा वर्त्तमान देशकालके अनुकूल धर्ममर्यादा सस्थापित करे, बुद्धावतारके समय ठीक ऐसी ही घटना हुई थी। उस समय वैदिक यज्ञ तथा ईश्वरके नामसे अनेक हत्या होनेके कारण उस समय समष्टि जगत्में धर्मधाराकी रक्षाके लिये बुद्धदेवको वेद तथा ईश्वरका निषेध करना पड़ा था। क्योंकि जब वेद और ईश्वरके नामसे ही इस प्रकार अत्याचार होने लगा था और उसमे अन्य प्रकारसे प्रतीकार होना असम्भव हो उठा था तो उस विषमय देशकालमे वेद और ईश्वरके उड़ानेके सिवाय और

कोई उपाय नहीं था। जिस प्रकार विषके प्राणघातक होनेपर भी कठिन विकारमय रोगके समय विष भी औषधिका काम करके प्राणरक्षाका कारण बन जाता है, ठीक बुद्धदेवके अवतार कालमें जीवहत्यारूपी अति कठिन जातीय रोग उत्पन्न होनेके कारण नास्तिकता रूपी विषप्रयोग बुद्धभगवानको उस कठिनतम रोगके नाशके लिये करना पड़ा था। उन्होंने इस प्रकार विषप्रयोग द्वारा उस समयके लिये धर्मकी रक्षा कर दी थी और अहिंसा तथा ज्ञानमूलक बौद्धधर्मका उपदेश करके जीवोंको हत्यारूपी पापसे हटा लिया था। परन्तु जिस प्रकार विकारके रोगमें विष औषधिका काम करनेपर भी विष तो विष ही है, इसलिये नीरोग अवस्थामें खानेपर प्राणघातक होता है, ठीक उसी प्रकार बुद्धदेवके द्वारा चलाये हुए वेद तथा ईश्वरके विरोधी बौद्धधर्मने उस समयके लिये धर्मकी रक्षा करदी परन्तु परवर्त्ती कालमें वेदविहीन नास्तिक प्रजाओंमें अवैदिकता तथा आस्तिकताके अभावके कारण बहुत ही पाप बढने लगा। इसलिये पूर्वकथनानुसार उस समय और एक ऐसे अवतारकी आवश्यकता प्रकृतिराज्यमें हुई कि, जिनके द्वारा वेदमर्यादा, सत्ययज्ञमर्यादा तथा ईश्वरभावकी महिमाका प्रचार संसारमें हो। इसलिये श्रीभगवान् शङ्करकी कलासे भगवान् शङ्कराचार्य्यका अवतार हुआ जिन्होंने अपने शाङ्करी प्रचण्ड प्रतापके प्रभावसे बौद्धोंको भारतवर्षसे निकाल दिया और शाङ्करी ज्ञानके प्रभावसे वैदिकधर्म, वैदिकयज्ञ तथा ईश्वरभावकी पुनः प्रतिष्ठा कर दी। यही बुद्धावतार तथा शङ्करावतारके प्रकट होनेके मूलमें आध्यात्मिक कारण है।

दस अवतारोंमेंसे अन्तिम अवतारका नाम कल्कि अवतार है। इस अवतारका आविर्भाव अभी तक नहीं हुआ है। अभी कलियुगके पांच हजारसे ऊपर वर्ष बीत चुके है और पूर्ण कलियुग चार लक्ष बत्तीस हजार वर्षका है। इसलिये अभी कल्कि अवतारके प्रकट होनेमें बहुत विलम्ब है। अभी तक देश, काल उनके प्रकट होने लायक नही हुआ है। अभी तक सामयिक धर्म स्थापन तथा पापनाशके लिये अनेक भगवद्विभूति, आवेशावतार, ऋषि तथा देवताओंके अवतार आदि द्वारा ही कार्य चल सकेगा। इसलिये अभी तक कल्कि भगवानके आनेका समय तथा प्रयोजन उपस्थित नही हुआ है। वह समय कब आवेगा और उस समयका देशकाल कैसा कैसा होगा सो श्रीमद्भागवतादिमें स्पष्टरूपसे लिखा है कि, जब संसारमें प्रबलरूपसे पाप छा जायगा, मनुष्य धर्मच्युत, महा-

पापग्रस्त, राजा प्रजापीड़क म्लेच्छाचारसम्पन्न होंगे और वसुन्धरा पापके गुरु-भारसे अति पीड़ित होगी, तभी श्रीभगवान् कल्कि अवतार धारण करके म्लेच्छनिधन, पापियोंका नाश तथा पुण्यात्माओंका परित्राण करेंगे। उनके आनेके बाद ही पुनः सत्ययुग प्रकट होकर सर्वत्र धर्मका विस्तार होगा। यही संक्षेपसे वर्णित अंशावतार तथा पूर्णावतारके चरित्र हैं।

अंशावतार और पूर्णावतारके अतिरिक्त और भी तीन प्रकारके अवतार होते हैं जैसा कि पहिले बताया गया है—

"निमित्ताद् विशेषाविशेषौ।"

"अन्तराविर्भाव नित्यत्वम्।"

किसी निमित्तसे विशेषावतार और अविशेषावतार होते हैं। अन्तःकरणमें श्रीभगवान्का नित्यावतार होता है। विशेषावतारको आवेशावतार भी कहते हैं। इसके लिये पद्मपुराणसे प्रमाण मिलता है, यथा—

"आविष्टोऽभूत् कुमारेषु नारदे च हरिर्विभुः"

"आविवेश पृथुं देवः शंखी चक्री चतुर्भुजः"

भगवान् हरि सनत्कुमारादि मुनिगण तथा नारदमें आविष्ट हुए थे और पृथुमें भी आविष्ट हुए थे। अतः सनकादि, नारद और पृथु आवेशावतार हुए। वे ही पुरुष आवेशावतार कहलाते हैं जिनमें कभी कभी भगवद्भावका आवेश हो जाता है। अन्य समय वे प्राकृतजनोंकी तरह रहते हैं। परन्तु आवेश होनेपर अलौकिक भगवत्कार्य कर सकते हैं। वङ्गदेशके अन्तर्गत नवद्वीपमें उत्पन्न चैतन्य-देव भी इस प्रकार आवेशावतार थे, जो सकल समय भगवद्भक्तिमें मग्न रहने पर भी कभी कभी भगवद्भावके आवेश द्वारा आविष्ट होकर अवतारकी तरह अलौकिक जगत्कल्याणकारी अनेक कार्य कर दिया करते थे। यही शास्त्रकथित विशेषावतार या आवेशावतारका रहस्य है। श्रीभगवान्का अविशेषावतार श्रीगुरुमें दीक्षा देते समय प्रकट होता है। आर्यशास्त्रमें प्रतिपादित किया गया है कि, यथार्थमें गुरु श्रीभगवान् ही हैं। परन्तु भगवान् निराकार होनेसे एकाएक मनुष्य उनसे साक्षात्रूपसे सम्बन्ध नहीं कर सकता है। इस लिये जिस मनुष्यरूपी केन्द्र द्वारा श्रीभगवान् अपनी ज्ञानशक्तिको प्रकट करके शिष्यको अपनी ओर आकर्षण करते हैं वही केन्द्र लौकिक जगत्में गुरु कह-लाता है। इससे यह सिद्धान्त अनायास ही निश्चय होता है कि, जिस समय

श्रीभगवान्की ज्ञानशक्ति किसी मनुष्यरूपी केन्द्रद्वारा दीक्षारूपमें शिष्यके कल्याण-के लिये प्रकट होगी उस समय उस केन्द्रमे भगवद्भावका अवश्य ही विकाश होगा। यही जो गुरुरूपी केन्द्रमें दीक्षा देते समय भगवद्भावका विकाश है उसीको अविशेषावतार कहते हैं। इस प्रकारसे विशेष और अविशेष दोनों प्रकारके अवतार द्वारा संसारमें अधर्मका नाश और धर्मका उन्नतिसाधन होता है। इसके सिवाय अन्तःकरणमें श्रीभगवान्का नित्यावतार होता है। सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान्, ज्ञानमय, आनन्दमय परमात्मा संसारमें सर्वत्र विराजमान होने के कारण प्रत्येक जीवके हृदयासनमें उनका स्थान है। उसी हृदयासनमें विराज मान होकर श्रीभगवान् सदा ही जीवको पापकर्मसे रोकते हैं, पुण्यकी ओर चित्तवृत्तिको प्रेरित करते है, पाप करनेपर भी अनुतापकी अग्निमें पापसंस्कार को भस्म कर देते हैं और जीवको सदा ही अधोगतिसे सावधान बना रखते हैं। यही अन्तःकरणमे उनका नित्यावतार है जिसके कारण पापसे सदा ही जीवको संकोच रहता है। घट घटमें विराजमान परमात्माके नित्यावतार द्वारा समष्टिरूपसे इस प्रकार समस्त जगत् मे धर्मकी वृद्धि होती रहती है जिससे समष्टि प्रकृतिकी सदा ही ऊद्र्ध्वगति बनी रहती है। जिस प्रकार अंशावतार और पूर्णावतार कलाभेदसे इस अध्यायमे कहे गये है और अवतारोंके जीवनचरित्रोंके द्वारा कलाओंके विकाशका स्वरूप दिखाया गया है, उसी शैलीके अनुसार कलाकी क्रमाभिव्यक्ति और षोडशकलाका पूर्ण विकाश इन ऊपरकथित अवतारोंमें भी हुआ करता है। आवेशावतार यद्यपि आविष्ट होकर उस समयके लिये अपनी आवेशावस्थामें विशेष विशेष भगवत्कार्य्यके करनेमें समर्थ होता है परन्तु आविष्ट केन्द्रकी छुटाई बड़ाईके अनुसार श्रीभगवान्के कलाविकाशका भी तारतम्य हुआ करता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते है कि, चैतन्य महाप्रभुमें आवेशकी कलाके साथ देवर्षि नारदकी आवेशकलाका अवश्य ही अन्तर होगा इसमे सन्देह ही क्या ? देवर्षि नारदमें श्रीभगवान् जिस समय आवेशरूपमें प्रकट होंगे उस समय षोड़शकलामे भी प्रकट हो सकते है। अविशेषावतार श्रीगुरुदेवमें भी यह विज्ञान समझा जा सकता है। यद्यपि शिष्यके लिये उसके गुरु जब अपनी अन्तर्मुख वृत्तिको धारण करके उपदेश देंगे तो, उस समयके लिये प्रत्येक गुरुमें ही भगवत्कलाका विकाश होना सम्भव है। परन्तु यदि शिष्यकी श्रद्धा और अधिकार सर्वोत्तम हो और जिस महापुरुषमें गुरुपद्का अधिकार प्रकट हुआ है, उस महापुरुषका अन्तःकरण योगयुक्त हो, तो, ऐसे गुरुदेवके अन्तःकरणमे

भी श्रीभगवान्‌की पूर्णकलाका आविर्भाव होना निश्चित ही है। नित्यावतारमे भी यही सिद्धान्त समझा जाय। प्रत्येक मनुष्य में सत्कर्ममे प्रवृत्ति और असत्कर्म की ओरसे अप्रवृत्तिरूपी रुकावटकी जो चेष्टा है वह मनुष्यान्तःकरणमें भगवान्‌का नित्यावतार है। सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक भगवान् प्रत्येक जीवकेन्द्रमें विद्या शक्तिकी सहायतासे अवतीर्ण होकर उसको सबसे प्रथम पापसे बचाकर पुण्य-मार्ग दिखाया करते हैं। उस समय यदि वह जीव भगवदिङ्गितको न माने तो अवश्य ही पापमें फँसा करता है। यद्यपि इस प्रकारसे भगवान्‌का नित्यावतार होना स्वाभाविक है परन्तु यदि वह जीव—जिसके अन्तःकरणमें इस प्रकारसे नित्यावतारका प्राकट्य होगा—उन्नत हो, तो, नित्यावतारकी कला भी अधिक प्रकट होगी। उदाहरणरूपसे समझा जा सकता है कि, साधारण जीवसे शकुनज्ञ मनुष्यमें अधिक कला प्रकट होगी, उससे भक्तमें अधिक कला प्रकट होगी और पूर्णज्ञानी जीवन्मुक्तमे भगवान्‌की पूर्ण कलाका आविर्भाव समय विशेषपर होसकेगा। यही षोडशकलासम्पूर्ण सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्‌के कलाभेदानुसार पञ्चप्रकारके अवतारोंका तत्त्व है। श्रीभगवत्‌शक्तिके विकाशकेन्द्र होनेसे वे सभी अवतार पूज्य हैं और इसीलिये 'अवतारोपासना' नवधाविभक्त उपासना-का एक प्रधान अङ्ग है।

—०—

श्रीकृष्णचरित्ररहस्य।

श्रीभगवान्‌के मधुर चरित्रवर्णन प्रसङ्गमे प्रथमतः उनके प्रकट होनेका कारण बताया जाता है। अग्निपुराणमें लिखा है। यथा—

यदोः कुले यादवाश्च वासुदेवस्तदुत्तमः।
भुवो भारावतारार्थं देवक्यां वसुदेवतः॥

आविर्भाव कारण।

यदुवंशमें जो यादवगण उत्पन्न हुए थे, उनमेंसे वासुदेव श्रीकृष्ण प्रधान थे। वसुदेव और देवकीके द्वारा उनका जन्म हुआ था। पृथिवीके भारहरणके लिये ही उनका अवतार हुआ था। अवतारकी उत्पत्तिके विज्ञानके प्रसङ्गमें यह बात पहिले ही बताई गई है कि, श्रीकृष्णके अवतारके पहिले पृथिवी किस प्रकार असुरभारसे पीडित हो गई थी और गौका रूप धारण करके उन्होंने रोती रोती ब्रह्माजीकी शरण ली थी और ब्रह्मा

आदि देवताओंने भी श्रीभगवान् विष्णुकी शरण ली थी। उस समय एक ओर तो कंस, जरासन्ध आदि प्रबल असुरोंके अत्याचारसे ससार अत्यन्त पीड़ित हो रहा था, संसारसे भगवान्का नाम लोप हो रहा था, धर्मकी धारा एक वार ही नष्ट हो चली थी और दूसरी ओर दुर्योधन आदि कौरव राजाओंके पापाचरणसे राजा और प्रजा दोनोंहीमें भयंकररूपसे पापकी वृद्धि हो रही थी। यह बात पहिले ही कही गई है कि, सनकादि मुनियोंके शापवश जय और विजय नामक विष्णु भगवान्के दो द्वारपाल विष्णुलोकसे पतित हो गये थे और उनको यह वर मिला था कि, यदि विष्णुके साथ शत्रुताका आचरण करेंगे, तो तीन जन्ममें उनकी मुक्ति होगी। इसके अनुसार जय और विजयका प्रथम जन्म हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु रूपमें हुआ था, जिनको वाराहावतार और नृसिंहावतारमें श्रीभगवान्ने मार दिया था। उनका दूसरा जन्म रावण और कुम्भकर्णरूपमें हुआ था, जिनको श्रीरामावतारमें भगवान्ने मार दिया था। उनका तृतीय जन्म शिशुपाल और दन्तवक्रके रूपमें हुआ था, जिनको श्रीकृष्णावतारमें भगवान्ने मार दिया था। इसलिये कृष्णावतारके पहिले शिशुपाल और दन्तवक्र नामक असुरोंके अत्याचारसे भी पृथिवी उत्पीड़िता हो उठी थी। इसके सिवाय अघासुर, बकासुर, धेनुकासुर, गर्दभासुर, अरिष्ट, वृषभ, केशी, प्रलम्ब, चाणुर, तृणावर्त्त, मुष्टिक, नरकासुर, पञ्चजन, कालयवन, शम्बर, वाण आदि कितने ही असुर उस समय उत्पन्न हो गये थे, जिनके पापाचरण और अत्याचारसे पृथिवी बहुत ही दुःखिता हो गई थी और संसारमें धर्मका एक वार ही लोप हो चला था। अतः इन सब असुरोंके पापके बड़े बोझसे पृथिवीको बचानेके लिये और पापका नाश करके समयके योग्य धर्मकी धाराको प्रवाहित करनेके लिये पूर्णकलामें श्रीकृष्णका अवतार हुआ था। धर्मकी व्यवस्था कितनी गिर गई थी, सो इसीसे समझ सकते हैं कि, तुरन्त उत्पन्न बालकको मारनेमें, अपनी सहोदरा बहिन और बहनोईको अन्यायरूपसे कैद करके लगातार उनकी सन्तानोंको जन्म लेते ही मार देनेमें और अपने पिता उग्रसेनको भी कैद करनेमें दुरात्मा कंसको कोई भी संकोच नहीं था। आज हिन्दुसमाज इतना गिर गया है तो भी अपनी रजस्वला एकवस्त्रा भौजाईको भरी हुई सभाके बीचमें नग्न करनेकी पाप इच्छा कभी भाईके हृदयमें आज भी नहीं उत्पन्न हो सकती है। परन्तु जहांपर रजस्वला द्रौपदी भरी सभाके बीचमें नग्न की जाय और भीष्मपितामह जैसे महात्मा उसको देखते रहें और एक शब्द उनसे

न कहा जाय, वहांपर समाजकी दशा कितनी शोचनीय हो गई थी इसको विचारवान् मनुष्य मात्र ही समझ सकते हैं। जहांपर बालब्रह्मचारी भीष्मपितामहकी बुद्धिपर भी अज्ञानका मेघ घिर जाय और द्रोण आदि सात रथी एकाकी अस्त्र शस्त्रसे रहित असहाय अभिमन्युको भीरुकी तरह मारकर भी अपनी वीरता समझें, वहांपर क्षत्रियधर्म कितना नष्ट हो गया था यह सभी अनुमान कर सकते हैं। पिताकी सम्पत्तिके आधा अंश प्राप्त करनेका अधिकार पाण्डवोंको अवश्य था इसलिये धर्मतः युधिष्ठिरको भी राज्यका अधिकार था। परन्तु राज्य देना तो दूर रहा, जुआमें हरा करके कितने वर्षोंतक पाण्डवोंको कौरवोंने जंगलमें घुमाया और संसारमें ऐसा कोई अन्यायका बर्ताव नहीं है जो उनके साथ नहीं किया गया और बारह वर्ष वनवास तथा एक वर्ष अज्ञातवासके अनन्तर जब पाण्डवोंने आधी सम्पत्ति मांगी तो दुष्ट दुर्योधनने अस्वीकार कर दिया। फिर भी पांच ग्राम जब श्रीकृष्णजीने उनके लिये मांगे तब भी अस्वीकार कर दिया और दुर्योधनने कहा--

सूच्यग्रेण सुतीक्ष्णेन भिद्यते या च मेदिनी।
तदर्द्धं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव॥

एक सूईके आगे जितनी भूमि आती है उसका भी आधा भाग युद्ध किये विना नहीं मिलेगा और केवल इतना ही नहीं, घमण्डी दुर्योधनने, जिनके चरणकमलोंके आश्रयसे जीव संसारके बन्धनसे मुक्त होता है, उन्ही श्रीकृष्णचन्द्रको बांधनेकी आज्ञा दी। इसीसे सभी लोग समझ सकते हैं कि, कृष्णावतारके पहिले संसारमें कितना पाप बढ गया था। इन्हीं पापियोंका नाश करके पृथ्वीका पापभार दूर करके धर्मको धाराकी वृद्धिके लिये ही पूर्णकलामें श्रीभगवान्का अवतार हुआ था। गुरु सबके पूज्य होते हैं, शिष्यपर उनका ममत्व होता है, परन्तु जहांपर गुरु शिष्यका तथा शिष्यके पुत्रका प्राणविनाश करें और गुरुपुत्र अश्वत्थामा नींदकी अवस्थामें शिष्यपुत्रोंका प्राणविनाश करनेमें संकोच न करें, वहांपर कितना पाप बढ गया था, इसको सभी लोग अनुभव कर सकते हैं। आर्यशास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार बालककी हत्याके समान पाप नहीं है और निद्रित अवस्थामें मनुष्यकी बात ही क्या, वृक्षपर चोट लगाना भी पाप है, परन्तु द्रोणके पुत्र अश्वत्थामाने निद्रित अवस्थामें ही द्रौपदीके पांच बालकोंका प्राणविनाश कर दिया था और गर्भमें ही परीक्षित-

को मार डालनेके लिये उत्तराके गर्भमें ऐषीकास्त्रका प्रयोग किया था। ऐसे ऐसे भयंकर पाप द्वापर और कलिके सन्धिकालमें भारतवर्षमें फैल गये थे। और और अवतार जिस कालमें प्रकट हुए थे उस समय केवल कलावतार-रूपमें भगवान् उस समयके विघ्नोंको दूर करनेमें समर्थ हुए थे। परन्तु द्वापर युगका अन्त और कलियुगका प्रारम्भरूप सन्धिका समय इतना भयानक हो गया था कि, उस समय श्रीबलराम अवतारके कलारूपसे प्रकट होनेपर भी पूरा कार्य न होता हुआ देखकर श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके सोलह कलाओंसे युक्त पूर्णावतारके प्रकट होनेकी भी आवश्यकता हुई थी।

यथा भागवतके दशम स्कन्धमें—

देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः।
आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः॥
तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं
चतुर्भुजं शंखगदार्युदायुधम्।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं
पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्॥
महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डल-
त्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम्।
उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभि-
र्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत॥

भादोंमासके कृष्णपक्षकी अष्टमी तिथिको आधी रातके समय जिसमें सब जीवोंका निवास है ऐसे श्रीविष्णु जिस प्रकार पूर्व दिशामें चन्द्रमाका उदय होता है उसी प्रकार देवीरूपिणी देवकीके गर्भसे प्रकट हो गये। कमल-लोचन, चतुर्भुज, शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी, श्रीवत्सचिह्नसे युक्त, कण्ठमें कौस्तुभ भूषित, पीताम्बर, मेघवर्ण, वैदूर्यमणिसे सुशोभित, किरीट कुण्डलकी ज्योतिसे प्रकाशमान, घुंघरूवाले केश धारण किये हुए, करधनी, बिजावट और वलय आदि गहनोंसे परम शोभायमान उस अद्भुत बालक भगवान्‌को वसुदेवजीने देखा और देखकर स्तोत्र पाठ किया। तदनन्तर माता देवकीने भी श्रीभगवान्‌की

स्तुति की। वसुदेव देवकीके स्तुति पाठके अनन्तर श्रीभगवान्‌ने उन दोनोंको पूर्वजन्मका वृत्तान्त स्मरण कराया कि, किस प्रकारसे उन दोनोंने पूर्वजन्ममें घोर तप किया था और श्रीभगवान्‌के प्रसन्न हो जानेपर उन दोनोंने यही वर मांगा था कि, श्रीभगवान् जैसे पुत्र उनको प्राप्त हो जांय। उनके जैसे तो वे ही हैं, ऐसा सोचकर उन्होंने कृष्णावतारमें वसुदेव और देवकीके पुत्ररूपमें उत्पन्न होना स्वीकार किया था। उसी बातका इस समय उन्होंने वसुदेव देवकीको स्मरण दिलाया और पश्चात् कहा—

एतद्वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे।
नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जायते॥
युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत्।
चिन्तयन्तो कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम्॥

पूर्वजन्मके स्मरणके लिये मैंने यह अपना स्वरूप बताया, क्योंकि, ऐसा किये बिना लौकिक जीव मुझे पहचान नहीं सकता। आप दोनों मुझे पुत्रभाव और ब्रह्मभाव दोनों भावोंसे स्मरण तथा मेरेपर प्रेम करके उत्तम ब्रह्मगतिको प्राप्त कर सकेंगे। इतना कहकर श्रीभगवान्‌ने निजरूपको छिपाकर लौकिक शिशुका रूप धारण कर लिया।

जिस प्रकार श्रीभगवान् रामचन्द्रकी अवतारलीलाको पूर्ण करनेके लिये अनेक देवता आदि वानरादिके रूपमें उत्पन्न हुए थे और लक्ष्मी भी सीतारूपमें उत्पन्न हुई थीं, उसी प्रकार श्रीभगवान् कृष्णकी कर्मोपासनाज्ञानमयी पूर्ण अवतारकी लीलाको कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनोंसे परिपूर्ण करनेके लिये कृष्णावतारके समय भी अनेक देवता, देवियां, श्रुतियां और ऋषि महर्षिगण भी विविध स्त्री पुरुषके रूपमें उत्पन्न हुए थे और स्वयं प्रकृतिमाता भी राधारूपमें गोकुलमें उत्पन्न हो गई थी, यथा श्रीमद्भागवत दशमस्कन्धमें—

गिरं समाधौ गगने समीरितां
निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह।
गां पौरुषीं मे शृणुतामराः पुन-
र्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम्॥

पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो
भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम्।
स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः
स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद्भुवि ॥
वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः ॥
वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट्।
अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया ॥
विष्णोर्माया भगवती यया संमोहितं जगत्।
आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सम्भविष्यति ॥

आकाशवाणी सुनकर ब्रह्माजीने देवताओंको कहा—"हे देवतागण ! मेरी बातको सुनो और शीघ्र उसी प्रकार आचरण करो। श्रीभगवान्ने पृथिवीकी पीड़ा जान ली है और पृथिवीका भार उतारनेकेलिये अवतीर्ण होंगे। आप सब भी मनुष्यरूपसे पृथिवीमें उनकी सहायताके लिये उत्पन्न हो जाओ और जब तक वे पृथिवीमें रहें तब तक उनके अवतारकार्यमें सहायता करो। वसुदेवके गृहमें साक्षात् भगवान्का आविर्भाव होनेवाला है इसलिये उनके प्रिय कार्य्य करनेके लिये सुरपुरीकी देवियां उत्पन्न हो जायं। वासुदेवके अंशसे उत्पन्न अनन्तदेव भी बलरामरूपसे उनके कार्यमें सहायता देनेके लिये पहिले ही उत्पन्न होंगे। महामाया भी उनकी आज्ञासे उनके ही कार्यके लिये संसारमें उत्पन्न होंगी। इस प्रकारसे श्रीकृष्णावतारके समय उनकी अवतारलीलाको पूर्ण करनेके लिये अनन्तदेव, अन्यान्य देवतागण, देवीगण और स्वयं महामायाका नरनारीरूपमें आविर्भाव हुआ था। ये ही सब अनेक गोप, गोपी, गोपबालकगण, यादवगण, बलराम और श्रीमती राधिकाके नामसे प्रसिद्ध हुए थे। महामायाकी उत्पत्तिके विषयमें शास्त्रमें कहा गया है कि, कृष्णजन्मके समय यशोदाके गर्भसे महामाया उत्पन्न हुई थीं और कंसके हाथसे पृथक् होकर उसको कृष्णजन्मका वृत्तान्त सुनाकर चली गई थी। इसके सिवाय श्रीराधामें भी महामायाका विशेष अंश था इसका प्रमाण शास्त्रमें मिलता है; यथा पद्मपुराणके पातालखण्डमें—

द्योतमाना दिशः सर्वाः कुर्वती विद्युदुज्ज्वलाः।
प्रधानं या भगवती यया सर्वमिदं ततम्॥
सृष्टिस्थित्यन्तरूपा या विद्याविद्या त्रयी परा।
स्वरूपा शक्तिरूपा च मायारूपा च चिन्मयी॥
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां देहकारणकारकम्।
चराचरं जगत् सर्वं यन्मायापरिरम्भितम्॥
वृन्दावनेश्वरी नाम्ना राधा धात्रानुकारणात्।
तामालिङ्ग्य वसन्तं तं मुदा वृन्दावनेश्वरम्॥
ध्यायेदेतद्विधं देवं स च सिद्धिमवाप्नुयात्॥

जिनके अपूर्व तेजसे विजलीके प्रकाशकी तरह दशो दिशायें प्रकाशित हो रही हैं, जो प्रधानरूपिणी भगवती सर्वत्र व्याप्त है, जो सृष्टिस्थिति और प्रलय करनेवाली और विद्या तथा अविद्यारूपिणी अपने रूपमे, शक्तिरूपमें, मायारूपमें एवं चिन्मयभावमें सुशोभित होती है, जो ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवताओंके कारणके भी कारण हैं, जिनकी मायासे चर और अचर समस्त संसार परिव्याप्त है, वे ही, वृन्दावनकी ईश्वरी राधा हैं और परमात्मारूप वृन्दावनके ईश्वर श्रीकृष्ण आनन्दसे उनको आलिङ्गन कर रहे हैं। इस प्रकार राधासे आलिङ्गित कृष्णका जो भक्त ध्यान करता है उसको मुक्तिपद प्राप्त होता है। यही श्रीराधामें महामायाका अंश था इसका प्रमाण है। गोपियोंके पूर्वजन्मके विषयमें शास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। ऊपर कथित श्रीमद्भागवतके प्रमाणसे तो यह सिद्ध होता है कि, बहुत गोपियां पूर्वजन्मकी देवियां थी जिन्होंने ब्रह्माजीके कथनानुसार पूर्णावतारकी लीलामें सहायता करनेके लिये गोपीरूपमें जन्मग्रहण किया था। इसके सिवाय और भी अनेक प्रमाण मिलते हैं जिससे सिद्ध होता है कि, बहुत गोपियां पूर्वजन्मकी श्रुतियां थीं और बहुतोंका शरीर पूर्वजन्ममे ऋषि महर्षियोंका था। अनेक गोपियोंके पूर्वजन्ममे महर्षि होनेके विषयमे कृष्णोपनिषद्में लिखा है, यथा—

"श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरं मुनयो वनवासिनो विस्मिता बभूवुः। तं होचुर्नोऽवद्यमवतारान्वै गण्यन्ते

आलिङ्गामो भवन्तमिति । भवान्तरे कृष्णावतारे यूयं गोपिका भूत्वा मामालिङ्गथ ।”

सर्वाङ्गसुन्दर सच्चिदानन्दलक्षण रामचन्द्रको देखकर वनवासी मुनिगण विस्मित हो गये और उन्होंने उनके साथ अङ्गसङ्ग करनेकी इच्छा प्रकट की । श्रीभगवान् रामचन्द्रजीने मुनियोंसे कहा कि, उनका रामावतार मर्यादा-मूलक है इसलिये इस अवतारमें अङ्गसङ्ग नहीं हो सकता है । आगे जब वे कृष्णावतार धारणकर पृथिवीमें आवेंगे, उस समय मुनिगण गोपीरूपसे व्रजमें उत्पन्न होंगे और उसी समय श्रीभगवान्के साथ उनका अङ्गसङ्ग हो सकेगा । ये ही वनवासी अनेक मुनि, ऋषि कृष्णावतारके समय गोपिका बनकर व्रजमें उत्पन्न हुए थे । गोपियोंके पूर्वजन्मके विषयमे पद्मपुराणके पातालखण्डमें अपूर्व वर्णन मिलता है । उसमें हरपार्वतीसंवादप्रसङ्गमें शिवजी पार्वतीसे कह रहे हैं—

मानसे सरसि स्थित्वा तपस्तीव्रमुपेयुषाम् ।
जपतां सिद्धिमन्त्रांश्च ध्यायतां हरिमीश्वरम् ॥
मुनीनां काङ्क्षतां नित्यं तस्य एव पदाम्बुजम् ।
एकसप्ततिसाहस्रसंख्यातानां महौजसाम् ॥
तत्तेऽहं कथयाम्यद्य तद्रहस्यं परं वने ॥

मानस-सरोवरमें श्रीभगवान्की चरणारविन्दसेवाकी आकांक्षा करके इकहत्तर हजार मुनियोंने तीव्र तपस्या की थी । उन्होंने सिद्ध मंत्रका जप और हरिका निरन्तर ध्यान किया था । उनमेंसे जिन मुनियोंने श्रीभगवान्को शरीर, मन, प्राण, आत्मा सभीके द्वारा सम्भोग करनेकी इच्छासे भगवान्का ध्यान किया था उनका जन्म गोपवंशमें गोपीरूपमें हुआ था क्योंकि, विना स्त्री-शरीर प्राप्त किये इस प्रकार शरीर, मन, प्राण, आत्मा सभी प्रकारसे जीव श्रीभगवान्में उत्तमा रति नहीं कर सकता है । यही कारण है कि, तपस्वी मुनियोंका गोपीरूपमें व्रजमें जन्म हुआ था । श्रीभगवान्ने भी गीतामें लिखा है कि:—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

जिस प्रकार सङ्कल्पको लेकर जीव शरीरको छोड़ता है उसी प्रकार आगेका जन्म जीवको प्राप्त होता है। इसी प्रकारसे पद्मपुराणके पातालखण्डके इकतालीसवें अध्यायमें गोपी बननेवाले अन्यान्य मुनियोंका भी वृत्तान्त दिया हुआ है। यथा–सत्यतपा नामक मुनिने इस प्रकार तप और ध्यान किया था जिसके फलसे दशकल्पके बाद वे सुभद्र नामक गोपकी कन्या भद्रा नामक गोपी बने। हरिधामा नामक एक मुनि थे जिन्होंने उग्र तपस्या और उसी प्रकार ध्यान जप किया था, वे तीन कल्पके अन्तमे सारङ्ग नामक गोपकी कन्या रङ्गवैनी नामक गोपी बने। जाबालि नामक एक मुनि थे। उन्होंने नौ कल्पतक तपस्या और ध्यान करके प्रचण्ड नामक गोपकी कन्या चित्रगन्धा नामसे व्रजमें जन्मग्रहण किया था। इस प्रकारसे अनेक मुनियोंने पूर्वतपस्या और सङ्कल्पके अनुसार श्रीभगवान्‌के साथ सर्वथा रतिलाभके लिये व्रजमे गोपीरूपसे जन्मलाभ किया था जिनका विवरण पद्मपुराणमे मिलता है, इस प्रकार उच्च प्राक्तन संस्कार होनेके कारण ही गोपियां इस प्रकारसे गोविन्दमे अपने प्राणोंको लगानेवाली हो गई थी और श्रीभगवान्‌की पूर्णावतार-लीलामें उपासना-भावके मधुर विकाशका अवकाश प्रदान किया था। मुनियों-के अतिरिक्त कुछ गोपियां श्रुतियां थी ऐसा भी प्रमाण शास्त्रमें मिलता है। यथा पद्मपुराण पातालखण्डमे:—

अतः परं श्रुतिगणास्तासां काश्चिदिमाः शृणु।
उद्गीतैसा सुगीतेयं कलगीता त्वियं प्रिया॥
एषा कलसुराख्याता बालेयं कलकण्ठिका।
विपञ्चीयं क्रमपदा ह्येषा बहुहुता मता॥
एषा बहुप्रयोगेयं ख्याता बहुकलावला।
इयं कलावती ख्याता मता चैषा क्रियावती॥

गोपियोंके रूप धारण करनेवाली श्रुतियोंके नाम यथा–उद्गीता, सुगीता, कलगीता, कलसुरा, कलकण्ठिका, विपञ्ची, क्रमपदा, बहुहुता, बहुप्रयोगा, बहु-कला, कलावती और क्रियावती। ये सब स्त्रियां मुख्य है। और भी अनेक गोपीरूपधरनेवाली श्रुति-स्त्रियां गौणी हैं।

इस प्रकारसे अनेक देवियाँ, अनेक श्रुतियां, अनेक मुनिगण मिलकर

अपने अपने पूर्वजन्मके कर्मके अनुसार व्रजमें गोपीरूपमें उत्पन्न होगईं थीं और उन्होंने अनेकभावमें श्रीकृष्ण भगवान्‌के साथ रति करके अन्तमें अनन्त धामको प्राप्त किया था। अतः व्रजगोपियां साधारण गोपकन्या नहीं थी परंतु उन्नतकोटिकी भगवान्‌की उपासना करनेवाली थी जिन्होंने कृष्णावतारमें उपासनामयी लीलाको पूर्ण किया था, यह सिद्धान्त स्पष्ट होता है।

महाभारत और भागवतके श्रीकृष्ण।

वृन्दावनकी समस्त लीला और महाभारतकी समस्त लीला एक ही श्रीकृष्णके द्वारा सम्पन्न हुई थी, इस विषयका प्रमाण द्रोणपर्वमें सञ्जयके प्रति धृतराष्ट्रकी उक्तिमें मिलता है, यथाः—

शृणु दिव्यानि कर्माणि वासुदेवस्य सञ्जय।
कृतवान् यानि गोविन्द यथा नान्यः पुमान् क्वचित्॥
गोकुले वर्द्धमानेन वालेनैव महात्मना।
विख्यापितं बलं वाह्वोस्त्रिषु लोकेषु सञ्जय॥
उच्चैःश्रवस्तुल्यबलं वायुवेगसमं जवे।
जघान हयराजं तं यमुनावनवासिनम्॥
दानवं घोरकर्माणं गवां मृत्युमिवोत्थितम्।
वृषरूपधरं वाल्ये भुजाभ्यां निजघान ह॥
प्रलम्बं नरकं जम्भं पीठञ्चापि महासुरम्।
मुरञ्चामरसङ्काशमवधीत् पुष्करेक्षणः॥
तथा कंसो महातेजा जरासन्धेन पालितः।
विक्रमेणैव कृष्णेन सगणः पातितो रणे॥
सुनामा नरविक्रान्तः समग्राक्षौहिणीपतिः।
भोजराजविमध्यस्थो भ्राता कंसस्य वीर्यवान्॥
बलदेवद्वितीयेन कृष्णेनामित्रघातिना।
तपस्वी समरे दग्धः ससैन्यः शूरसेनराट्॥
चेदिराजश्च विक्रान्तं राजसेनापतिं बली।
अर्घ्ये विवदमानश्च जघान पशुवत् तदा॥

यच्च तन्महदाश्चर्यं सभायां मम सञ्जय।
कृतवान् पुण्डरीकाक्षः कस्तदन्य इहार्हति॥
यमाहुः सर्वपितरं वासुदेवं द्विजातयः।
अपि वा ह्येष पाण्डूनां योत्स्यतेर्थाय सञ्जय॥
स यदा तात संनह्येत् पाण्डवार्थाय सञ्जय।
न तदा प्रतिसंयोद्धा भविता तस्य कश्चन॥
यदि स्म कुरवः सर्वे जयेयुर्नाम पाण्डवान्।
वार्ष्णेयोऽर्थाय तेषां वै गृहीयाच्छस्त्रमुत्तमम्॥
ततः सर्वान्नरव्याघ्रो हत्वा नरपतीन् रणे।
कौरवांश्च महाबाहुः कुन्त्यै दद्यात् स मेदिनीम्॥
यस्य यन्ता हृषीकेशो योद्धा यस्य धनञ्जयः।
रथस्य तस्य कः संख्ये प्रत्यनीको भवेद्रथः॥
मोहाद्दुर्योधनः कृष्णं यो न वेत्तीह केशवम्।
मोहितो दैवयोगेन मृत्युपाशपुरस्कृतः॥
न वेद कृष्णं दाशार्हमर्जुनञ्चैव पाण्डवम्।
पूर्वदेवौ महात्मानौ नरनारायणावुभौ॥

भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णके दिव्य कर्मोंको सुनो, जिनके ऐसे कर्म कोई नहीं कर सकता है। बाल्यावस्थामें जब श्रीकृष्ण गोकुलमें थे उस समय उनकी अलौकिक शक्ति व्रजगोपिकाओंमे तथा संसारमें प्रकट हुई थी। इन्होंने यमुना वनवासी अति वेगवान् शक्तिमान् हयासुरको मार दिया था। गौओंके शत्रु बैलके रूप धरनेवाले दानवको भी मार दिया था। प्रलम्ब, नरक, जम्भ, पीठ और मुर नामक असुरोंको निहत किया था। महाबल कंसराजको अपने गणोंके साथ निहत किया था। अक्षौहिणी सेनाओंके अधिपति कंसभ्राता सुनामाको बलरामको साथ लेकर श्रीकृष्णजीने मार दिया था। उन्होंने चेदिराज शिशुपालको युधिष्ठिरके यज्ञमे अर्घ्यसम्बन्धीय विवादमें पशुकी तरह मार दिया था। मेरी ही सभामें उन्होंने जो आश्चर्यजनक कार्य किया था

ऐसा कौन कर सकता है! जिनको द्विजगण परमपिता कहते हैं, अब वे ही श्रीकृष्ण पाण्डवोंके पक्षमें होकर युद्ध करेंगे। उनके पाण्डवपक्षमें युद्ध करने पर कौन उनसे युद्ध कर सकता है! यदि कौरवगण पाण्डवोंको पराजित भी कर दे, तो भी, श्रीकृष्ण जब अस्त्रग्रहण करेंगे तो सबको मारकर पाण्डवोंको पृथिवीका राज्य दिलावेंगे। जहांपर श्रीकृष्ण सारथि और अर्जुन योद्धा है वहां कौन उनके सामने युद्ध कर सकता है? दैवविमूढ़ दुर्योधन श्रीकृष्णके स्वरूपको जान न सका, उसका नाश सन्निकट है। वे दोनों नर नारायण ऋषि थे, अब उन्हींके अवतार रूपसे आये हैं। अतः यह बात सिद्ध हुई कि, वृन्दावनमें लीला करनेवाले तथा महाभारतकी लीला करनेवाले श्रीकृष्ण एक ही परमपुरुष थे। अब नीचे एक ही कृष्णके जीवनमें इस प्रकार विविध भावोंसे भरी हुई लीलाएँ कैसे संघटित हो सकती हैं सो क्रमशः बताया जाता है। यह बात विज्ञानसिद्ध है कि, कार्यब्रह्मके भीतर अनेक विचित्र चेष्टाएं उसमें उत्पन्न जीवोंके संस्कार-मूलक स्वरूपके अनुकूल ही होती हैं। इसलिये जिस समय समष्टि संस्कारका आश्रय करके कोई अवतार इस कार्यब्रह्ममें प्रकट होंगे, तो उस समय भी कार्यब्रह्ममें उत्पन्न प्राकृतिक चेष्टासमूह उस अवतारके स्वरूपानुकूल ही होंगे इसमें सन्देह नहीं हो सकता और जब इन अवतारोंमें कोई पूर्णावतार प्रकट होंगे तो उनकी लीलाके समय समस्त चेष्टाएं कार्यब्रह्ममें ठीक उसी प्रकारसे अवश्य संघटित होंगी जो उस पूर्णावतारके स्वरूपके अनुकूल हो। अवतार जब सच्चिदानंदमय श्रीभगवान्‌के सत्, चित्, आनन्दरूपी तीनों भावोंको लेकर होता है तो पूर्णावतारमें इन तीनों भावोंका पूर्ण विकाश रहेगा इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। इसी कारण यह भी निश्चय है कि, पूर्णावतारके जीवनमें कार्यब्रह्मके भीतर सद्भावके अनुसार कर्मकी पूर्णलीला, चित् भावके अनुसार ज्ञानकी पूर्णलीला और आनन्दभावके अनुसार उपासना तथा रसकी पूर्ण लीला प्रकट होगी। यही कारण है कि, पूर्णावतार श्रीकृष्णके लीलाकालमें कार्यब्रह्मके भीतर नाना प्रकारके अनन्त विचित्र कर्म संघटित हुए थे, उपासनाभावके अन्तर्गत मुख्यरस और गौणरसरूपसे जो चतुर्दश प्रकारके रसोंका वर्णन पाया जाता है। सभीके साधक भक्त उनके लीलाकालमें देखनेमे आये थे और अनन्त] ज्ञानसमुद्रके जितने तरङ्ग हो सकते हैं, सभीके प्रभाव उनके विचार तथा कार्य समूहमे प्रकट हुए थे, यही अनन्त विस्तारमयी कर्मोपासना और ज्ञानसम्बन्धी उनकी पूर्णावतारलीलाका रहस्य है। अतः

श्रीकृष्णके विषयमें इस प्रकार प्रश्न करना व्यर्थ है कि, उन्होंने इस प्रकारसे इतने कर्म क्यों किये ? इस प्रकारसे रासलीला आदि क्यों की ? इसका कारण यह है कि, पूर्णावतार होनेके कारण उनके जीवनमें कार्यब्रह्मके भीतर इस प्रकार जीवोंका उत्पन्न होना और इस प्रकारसे अनन्त कर्म, चतुर्दश रसोंका मधुर विलास, गूढ ज्ञानका अपूर्व विलास सभीका होना प्राकृतिक नियम तथा विज्ञानके अनुकूल ही था। वल्कि यदि इस प्रकारसे अनन्तकर्म, अनन्तरस और अनन्तज्ञानका विस्तार उस समय न होता, तो, उनकी पूर्णावतारकी लीला अधूरी रह जाती और वे पूर्णावतार नहीं कहला सकते। अतः शास्त्रज्ञ गम्भीर पुरुषोंको इस प्रकार सन्देहजालमें फंसना नही चाहिये। अब नीचे क्रमशः उनकी कर्मोपासनाज्ञानमयी लीलाओंका पृथक् पृथक् स्वरूप निर्णय किया जाता है।

अंशावतारके साथ पूर्णावतारके स्वरूपका भेद यह है कि, अंशावतारका समस्त कार्य किसी एक भावकी मुख्यता लेकर होता है, परन्तु पूर्णावतारके कार्यमें किसी भी भावका पक्षपात नही रहता है। उनके सभी कार्य भावातीत होते हैं।

श्रीकृष्णकी कर्मलीला।

भावातीत कोटिके होनेसे ही उनके कार्यमे लौकिक धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, सत्य-मिथ्या, न्याय-अन्याय, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि कोई भी बन्धन या भाव नही रहता है। उनके भावातीत स्वरूपमें ये सभी लौकिक द्वन्द्वमूलक भाव लय हो जाते है। केवल समष्टिजगत्के चिरस्थायी कल्याणको लक्ष्य करके ही इनके सब कार्य अनुष्ठित होते है और समष्टि जगत्के कल्याणका विचार करके ही उनके कार्यमें धर्माधर्मका स्वरूप निर्णय होता है। जिस कार्यमें व्यक्तिगत धर्मका सम्बन्ध है परन्तु समष्टि जगत्कल्याणका सम्बन्ध नही है इस प्रकार कार्यको पूर्णावतार कदापि नही करते हैं। वल्कि व्यक्तिके विचारसे यदि अधर्म भी हो और उस व्यक्तिगत अधर्मके द्वारा समष्टिगत कल्याण या धर्म सिद्ध होता हो, तो, पूर्णावतार उस कार्यको अवश्य करेंगे और व्यक्तिगत धर्माधर्मके प्रति उपेक्षा करेंगे। इस प्रकार व्यक्तिगत अधर्म या धर्मका संस्कार पूर्णावतारके केन्द्रको कदापि स्पर्श नही करेगा। यही कारण है कि, अंशावतारके कार्यसमूहके लौकिक जीवोंके जानने योग्य होनेपर भी पूर्णावतारके कार्य्यरहस्यको लौकिक जीव जान नहीं सकता है। क्योंकि,

अलौकिक चरित्र-रहस्यको जानना लौकिक जीवोंकी बुद्धिकोटिके बाहर की बात है। इसलिये रामादिचरित्रपर सन्देह कम होता है और कृष्णचरित्रपर इतनी शङ्कायें होती हैं। अब श्रीभगवान्के पूर्णावतार श्रीकृष्णके द्वारा किये हुए कुछ जटिल कर्मोंका तथा धर्मसङ्कटोंका वर्णन करके उल्लिखित अलौकिक कर्मके विज्ञानका रहस्य बतलाया जाता है। श्रीभगवान् कृष्णके कर्मजीवनमे ऐसे ऐसे अवसर कई बार आये हैं जिनमें उनके वैसे पूर्णावतारके सिवाय और कोई भी कर्तव्यका निश्चय नही कर सकता। महाभारतमें लिखा है कि, जिस समय अनेक संग्रामके बाद भी द्रोणाचार्यकी मृत्यु न हुई और उनके भयानक अस्त्रप्रहारसे पाण्डव सैन्योंका क्षय होने लगा, उस समय उनको मारनेके लिये यह उपाय देखा गया कि, उनके पुत्र अश्वत्थामाकी मृत्युका समाचार यदि वे सुनेंगे, तो, संग्राम करना छोड़ देंगे और उस दशामें द्रोणाचार्यका वध हो सकेगा। तदनुसार द्रोणसे लोगोंने जाकर कहा कि, अश्वत्थामा मर गये। अन्य पुरुषोंके मुखसे पुत्रकी मृत्युका समाचार सुननेपर भी द्रोणाचार्यको विश्वास नही हुआ और उन्होने कहा कि, जबतक धर्मराज युधिष्ठिर इस बातको अपने मुखसे नही कहेंगे तबतक उनको पूर्ण विश्वास नही होगा। तदनुसार श्रीकृष्णजीने जाकर युधिष्ठिरसे कहा—"आप झूठ कह दीजिये कि अश्वत्थामाकी मृत्यु हुई है।" धर्मराज युधिष्ठिर सत्यप्रतिज्ञ थे इसलिये उन्होंने असत्य कहना अस्वीकार किया। बहुत समझानेपर तब युधिष्ठिरजीने स्वीकार किया कि:—

"अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा"

अश्वत्थामा मारे गये हैं, मनुष्य या हस्ती ऐसा शब्द कहेंगे क्योंकि, उस दिन अश्वत्थामा नामक एक हाथी मारा गया था, इसलिये 'कुञ्जर' शब्दके साथ अश्वत्थामाकी मृत्यु कहना युधिष्ठिरने स्वीकार किया जिससे उनके शब्दमें असत्य बात न होने पावे। परन्तु श्रीकृष्णचन्द्रजीने कहा था कि, 'अश्वत्थामा हतः' इतना जोरसे कहना और 'नरो वा कुञ्जरो वा' हाथी या मनुष्य इस बातको धीरेसे कहना, क्योंकि, 'नरो वा कुञ्जरो वा' जोरसे कहेंगे तो द्रोणाचार्यजीको अश्वत्थामाकी मृत्युपर ठीक विश्वास न होगा और विश्वास न होने से युद्धसे न हटेंगे और उनकी मृत्यु भी न होगी। इस प्रकार कृष्ण भगवान्के उपदेशसे प्रेरित होकर युधिष्ठिरजीने वैसा ही किया; 'अश्वत्थामा हतः' इस पूर्वार्द्धको

बहुत जोरसे और 'नरो वा कुञ्जरो वा' इसको बहुत धीरेसे कह दिया, जिससे द्रोणाचार्य्यको. अश्वत्थामाकी मृत्यु होनेमें कुछ भी सन्देह न रहा। इसलिये अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार युद्धसे विरत हुए और मृत्युको प्राप्त किया। महाभारतमें लिखा है कि, आजन्मसत्यवादी होनेपर भी इसी मिथ्याभाषण के कारण युधिष्ठिरको नरकदर्शन करना पडा था। परन्तु श्रीकृष्णजी जिन्होंने असत्य भाषण युधिष्ठिरसे कराया था, उनको नरक देखना नही पड़ा और वे सीधे ही अपने धामको चले गये। अब इसमें विचार यह आता है कि, जब लौकिक नीति शास्त्रके अनुसार भी पापके सिखानेवालेके लिये दण्डप्राप्तिकी आज्ञा लिखी है तो श्रीकृष्णजीको नरकदर्शन क्यो नही हुआ ? पूर्णावतारके कार्य्यविधिके विषयमें यही सिद्धान्त निश्चय किया गया कि, पूर्णावतार किसी भावके अधीन न होकर जगत्कल्याणबुद्धिसे काम करते हैं, इसलिये यहांपर भी उसी बुद्धिके अनुसार श्रीकृष्णचन्द्रजीने सोचा था कि, द्रोणाचार्य्य जब अधार्म्मिक दुर्योधनके पक्षमें है, तो उनकी मृत्युके बिना धर्मकी जय और ससारका कल्याण होना असम्भव है, इसलिये एक तरफ तो युधिष्ठिरकी सत्यप्रतिज्ञाकी रक्षा द्वारा व्यक्तिगत धर्म्मका पालन है और दूसरी ओर पापियोंके नाश और भूभार हरणके द्वारा समस्त ससारका कल्याण है। इसलिये समष्टि और व्यष्टिगत धर्म्मके विचारसे द्रोणाचार्य्यका मरण होना ही उस समय धर्म्म था और यदि उसके लिये किसीको असत्य भी बोलना पडे तो असत्य भी धर्म था। पूर्णज्ञानी पूर्णावतार श्रीकृष्णके हृदयमे इस धर्मसकटकी मीमांसा दृढ़मूल थी, इसलिये उनको इस ससारके कल्याणकी बुद्धिसे किसीसे असत्य कहलानेमें भी सकोच नही था, इसके सिवाय स्वाभिमान और स्वार्थशून्य होनेके कारण उनके भावातीत स्वरूपके साथ सत्यासत्य भाषणका, पुण्य पापका कोई सम्पर्क नही था, यही कारण है कि, श्रीकृष्णजीपर मिथ्या भाषण करानेका कोई पाप न हुआ और वे सीधे अपने धामको चले गये। परन्तु युधिष्ठिरमे इस प्रकारकी ज्ञानमयी उदार बुद्धि नही थी। युधिष्ठिरको कभी नरकदर्शन नही करना पडता, यदि स्वाभिमानको छोडकर भगवान् श्रीकृष्णकी तरह ज्ञानमयी बुद्धिसे विचार करते कि, व्यक्तिगत धर्म्मके साथ समष्टिगत धर्म्मकी तुलनाके तथा उस देश कालमें जगत् कल्याणके विचारसे झूठ बोलना ही उस समय धर्म्म है। दूसरी बात ज्ञानका इतना ऊंचा अधिकार न होनेपर भी भक्तिके पक्षका भी आश्रय लेकर महात्मा युधिष्ठिर इस प्रकार विचार करते

कि, श्रीकृष्णचन्द्र पूर्णब्रह्म नारायण और परमज्ञानी गुरु हैं, संसारमें धर्म्मरक्षाके लिये इनका अवतार हुआ है, इसलिये अपना यह कर्त्तव्य है कि, जैसी वे आज्ञा करें गुरुबुद्धिसे उसको मानते जायँ और फलाफल उन्हींमें अर्पण करते जायँ। इस प्रकार भक्तिमूलक समर्पण-बुद्धि होनेपर भी युधिष्ठिरको नरक देखना नहीं पड़ता। सो उनमे दोनों भावोमे कोई भाव भी नही था अर्थात् न उनमें श्रीकृष्णकी तरह ज्ञानमयी उदारबुद्धि ही थी और न भक्तिके द्वारा समर्पण बुद्धि ही थी, उनमें केवल कार्पण्यदोष था जिसके कारण, ऐसा कहे कि न कहें इस प्रकार उनके चित्तमें सन्देह था और अन्तमें कर्मचक्रके अनुसार श्रीकृष्णके प्रभावमे भी आ गये, जिस कारण 'अश्वत्थामा हतः' इतना शब्द जोरसे और 'नरो वा कुञ्जरो वा' इतना धीरेसे कहना स्वीकार कर लिया। इसी कार्पण्यदोषके कारण मिथ्याभाससे युधिष्ठिरको नरक-दर्शन करना पड़ा। यही पूर्णावतार श्रीकृष्णके जीवनमें निष्काम कर्म्मयोगकी भावातीत गति है, जिसका आश्रय करके अपूर्व रूपसे संसारका कल्याण-साधन कर दिया था और धर्म्माधर्म्म सत्यासत्य और पाप पुण्य आदि द्वन्द्वके सम्पर्कसे रहित होकर अनायास अनन्त धामको प्राप्त भी हो गये थे। ऐसे ऐसे अनेक धर्मसंकटोंकी मीमांसा इनके कर्मजीवनमें मिलती है, जिससे कर्मके साथ साथ ज्ञानका सामञ्जस्य उनके जीवनमें पाया जाता है।

इस प्रकारसे उनके जीवनके स्तर स्तरमे उदार धर्मनीति, पूर्णज्ञान, पूर्ण-कर्मयोग, भावातीत अलौकिक भाव तथा जगत् कल्याण करनेके बहुत बहुत दृष्टान्त मिलते है जो पूर्व वर्णित विज्ञानके अनुसार विचार करनेपर सम्पूर्ण युक्तियुक्त सिद्ध हो जाते है। अपनी अवतारलीलाके बीचमें श्रीकृष्णजीको कई सहस्र कन्याओका पाणिग्रहण करना पड़ा था। परन्तु उन सभी विवाहोंका मूल खोजनेपर यह पता लगेगा कि, उन्होंने अपनी किसी लौकिक इच्छाको चरितार्थ करनेके अभिप्रायसे लौकिक जनोंकी तरह कोई भी विवाह नहीं किया था। उनके सभी विवाह पतिभावमें तपस्यापरायण स्त्रीपुरुषोंको तपः-फल प्रदानके अर्थ ही हुए थे। जिस प्रकार 'श्रीभगवान् जैसे मेरे पुत्र हो,' इस कामनासे तपस्या करनेके कारण श्रीभगवान्‌को वसुदेव देवकोका पुत्र बनना पड़ा था, जिस प्रकार, "श्रीभगवान्‌से शरीर, मन, प्राण द्वारा रमण प्राप्त हो" इस भावसे तपस्यापरायण मुनियोंको और श्रुतियोंको गोपीरूपसे जन्मदान

करके पतिभावमें उनसे प्रेम करना पड़ा था, ठीक उसी प्रकार रुक्मिणी आदि अनेक स्त्रियोंको जिन्होंने "श्रीभगवान् मेरे पति हो जांय" इसी कामनासे तपस्या की थी, केवल उनको तपःफल देनेके लिये ही कृष्णावतारमे श्रीभगवान्को पत्नीरूपमें ग्रहण करना पड़ा था। उसमे अपनी ओरकी कामना कारण नही थी, क्यौंकि आत्माराम, भावातीत भगवान्में कामना ही क्या हो सकती है, केवल भक्तोंकी ओरकी ही कामना इन सब विवाहमें कारणस्वरूप थी और जब भगवान् धर्मार्थकाममोक्षके चतुर्वर्ग फल प्रदानके लिये चतुर्हस्त है, तो यदि श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र इस प्रकारसे भक्तोंका मनोरथ उनके अधिकार, तपस्या तथा साधनानुसार पूर्ण न करते, तो उनके भगवत्स्वरूपमें असम्पूर्णता रह जाती। यही श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रका षोडश सहस्र रानियौंको ग्रहण करनेका कारण था। केवल भक्तके मनोरथकी पूर्ति ही लक्ष्य होनेके कारण उन सब स्त्रियोसे मायाके आश्रय द्वारा उत्पन्न लक्ष लक्ष यादवगणको अवतारलीलाके समाप्त होते समय देशद्रोही और प्रमादी जानकर उन्होंने ब्रह्मशापके छलसे स्वय ही मरवा दिया था और स्वय भी अपने धामको सिधार गये थे। यही सब उनके जीवनमें कर्म और ज्ञानका अपूर्व सामञ्जस्य है।

कर्मके सदृश उपासनाका भी पूर्ण आदर्श श्रीभगवान्के पूर्णावतार कृष्णचन्द्रके जीवनमें पूर्णरूपसे प्रकट हुआ था। यह सिद्धान्त पहिले ही निर्णय किया गया है कि, श्रीभगवान् सत्, चित् और आनन्दरूप होनेसे पूर्णावतारमे इन तीनो भावोंका पूर्ण विकाश होना स्वतः सिद्ध है। इसी कारण श्रीकृष्णके जीवनमें जैसा कि पहिले बताया गया है, सत् भावसे कर्मका और चिद्भावसे ज्ञानका पूर्णविकाश हुआ था। आनन्दभाव सत् और चित्में व्यापक है, इसलिये उनके कर्म्म और ज्ञानमय जीवनके भीतर आनन्दभावका भी पूर्णविकाश हुआ था। श्रीभगवान् रसरूप है, उनकी यह रसमय आनन्दसत्ता ही संसारमें स्नेह, प्रेम, भक्ति, काम, मोह, श्रद्धा, वात्सल्य, ममता आदि नाना भावसे मायाके द्वारा विकाशको प्राप्त होती है। भक्तिशास्त्रमें इन सब रसोंको चतुर्दश भागोंमे विभक्त किया गया है। यथा—वीर, करुण, हास्य, भयानक आदि सप्त गौणरस और दास्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्या-

श्रीकृष्ण जीवनमें उपासना लीला।

सक्ति आदि सप्त मुख्यरस। अतः श्रीभगवान्‌मे जब सर्व रस विद्यमान है, तो उनके पूर्णावतारमे इन सभोंकी लीला अवश्य ही प्रकट होगी इसमें अणुमात्र सन्देह नही है। यही कारण है कि, पूर्णावतार श्रीकृष्णके जीवनमें समस्त मुख्यरस और समस्त गौणरसकी लीला प्रकट हुई थी। उनकी लीलामें सात प्रकारके मुख्यरसके द्वारा साधन करनेवाले अनेक भक्त हुए थे और सात प्रकारके गौणरसके द्वारा भी साधन करनेवाले अनेक भक्त हुए थे। अतः रासलीला, विश्वरूप प्रदर्शन, वस्त्रहरण, बाललीला आदियोंके द्वारा मधुर, अद्भुत, हास्य, वात्सल्य, कान्त, दास्य आदि चतुर्दश रसोंका विकाश होना पूर्णावतार श्रीकृष्णके जीवनमें स्वतःसिद्ध था। अब इनका विकाश पूर्णावतार श्रीकृष्णके जीवनमें कैसे हुआ था उसका दिग्दर्शन कराया जाता है। यथा-वीररसके लिये भीष्मपितामह, करुणरसके लिये सखोगण, वीभत्सरसके लिये अघासुर, रौद्ररसके लिये इन्द्रदेव, अद्भुतरसके लिये अर्जुन और यशोदा, हास्यरसके लिये गोपाल बालकगण और भयानकरसके लिये कंस, यह सातों उनके जीवनमें गौणरसके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। इसी प्रकार वात्सल्यरसके लिये नन्दयशोदा, दास्यरसके लिये अक्रूर, सख्यरसके लिये अर्जुन और कान्तरस, गुणकीर्तनरस, आत्म-निवेदनरस तथा तन्मयरसके लिये ब्रजगोपिकाओंका माहात्म्य जगत्प्रसिद्ध है। इस प्रकारसे सप्त गौणरस और सप्त मुख्यरसरूपसे सब रसोंका विकाश श्रीकृष्णभगवान्‌की लीलासे प्रकट हुआ था। ईश्वरमे ऐश्वर्य और माधुर्य दोनोंकी पूर्णता है, इसलिये पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्रमे भी ऐश्वर्य और माधुर्यकी पूर्णता प्रकट हुई थी। कर्मजीवनमें उनका ऐश्वर्य प्रकट हुआ था। उपासनाजीवनमें उनका माधुर्य प्रकट हुआ था। उसी माधुर्यकलाके विकाशके लिये ही श्रीकृष्णकी बांसुरी है, जिसमेसे समस्तरसोंके राग निकलकर समस्तरसोंके द्वारा उपासनापरायण भक्तजनोंका मनोमोदन करते थे। संसारमे जीवोंकी चित्तवृत्ति पूर्व कर्मानुसार हुआ करती है। इसी सिद्धान्तके अनुसार कृष्णा-वतारके समय जितने प्रकारके भक्त कृष्णलीलाक्षेत्ररूप भारतवर्षमें प्रकट हुए थे उनकी चित्तवृत्ति अनेक पूर्वकर्मोंके वैचित्र्यके कारण नाना प्रकारकी हुई थी, अर्जुनके साथ नर नारायणरूपमें पूर्वजन्मसे सख्यभावका ही सम्बन्ध था, इसलिये अर्जुनने सख्यभावसे ही श्रीभगवान्‌के साथ प्रेम किया। गोपाल बालकोंके साथ दैवराज्यमे पूर्व सम्बन्ध रहा था इसलिये उन्होंने हास्य, सख्य आदि रसोंके द्वारा ही श्रीभगवान्‌की भजना की। कंस शिशुपाल आदिके

साथ द्वेषभावका ही पूर्व सम्बन्ध रहा इसलिये उन्होंने द्वेषभावके द्वारा ही श्रीभगवान्में तन्मय होकर वैष्णवी मुक्ति प्राप्त करली। वसुदेवदेवकीके साथ वात्सल्यभावका ही पूर्वकर्मसम्बन्ध रहा इसलिये उन दोनोंने वात्सल्यभावके द्वारा ही श्रीभगवान्के साथ प्रेम करके परमागति प्राप्त की। परम प्रेमवती ब्रजगोपिकाओंके पूर्वकर्मोंके विषयमें पहिले ही प्रमाणोंके साथ विस्तारितरूपसे वर्णन किया है कि, गोपियां सामान्य गोपकन्या नही थी, उनमेसे राधिका तो साक्षात् मायारूपिणी थीं और अन्यान्य गोपियां कोई श्रुति थी, कोई मुनि थी, कोई देवी थी। उन सभोंने शरीर मन प्राणके द्वारा श्रीभगवान्के साथ स्थूल रूपमें मिलनेके लिये ही पूर्वजन्ममें सहस्रों वर्षोंतक घोर तपस्या की थी। अतः पूर्व तपस्याके अनुसार उनका कृष्णावतारके समय ब्रजमें जन्म होना और स्थूल सूक्ष्म आदि समस्त शरीरोंके साथ प्रेम करनेका संस्कार रहनेके कारण स्त्रीशरीरमें जन्म होना उन सभोंके पूर्वकर्मानुकूल ही था। इसी कारण ब्रजगोपिकाओंने श्रीभगवान् मन्मथको भी मंथन करनेवाले कृष्णचन्द्रके साथ कांताभावसे प्रेम किया था। श्रीमद्भागवत, पद्मपुराण आदि ग्रंथोंमें जो कही कही ऐसा वर्णन देखनेमें आता है कि, ब्रजगोपिकागण श्रीकृष्णके साथ स्थूल शरीरका सम्बन्ध करना चाहती है और उनमे कामका भी आवेश हुआ है सो उनके पूर्व संस्कारके अनुसार अवश्यम्भावी है। क्योंकि, यह बात पहिले ही कही गई है कि, उन मुनियोंने तथा श्रुतियोंने स्थूल शरीरके द्वारा श्रीभगवान्के साथ रमण करनेकी वासनासे ही पूर्वजन्मोंमें कठोर तपस्या की थी। अतः श्रीभगवान् कृष्णचंद्रके अलौकिक, परम सुन्दर मनोरम स्थूल शरीरकी कान्तिके देखनेसे उनके हृदयमें अवश्य ही पूर्व जन्मका संस्कार जाग उठेगा और स्थूल शरीरसे उनको आलिङ्गन आदि करनेकी इच्छा उत्पन्न होगी, अनङ्गका भी आवेश हो जायगा इसमें कोई सन्देह नही है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस प्रकार स्थूलभावसे प्रेमवती गोपियोंका उद्धार श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रजीने किस प्रकारसे किया था। श्रीभगवान्ने अपने ही श्रीमुखसे कहा है—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जितः क्वथितो धानः प्रायो बीजाय नेष्यते॥

मुझमें मग्नचित्त होकर यदि जीवमें काम भी हो जाय तथापि वह काम वृद्धिप्राप्त हो नही सकता है। जिस प्रकार भुने हुए बीजसे अंकुरकी उत्पत्ति

नही होती है, उसी प्रकार मुझमें अर्पित काम भी वासनाको उत्पन्न न करके शीघ्र ही शान्त हो जाता है । इसी वचनके अनुसार श्रीभगवान् चतुर्दश रसोंमेंसे चाहे किसी रसके द्वारा उनके प्रति प्रेम करनेवाला क्यों न हो, सभीका उद्धार भक्तोंकी प्रकृतिके अनुसार करते थे । जीवकी प्रकृतिपर बलात्कारके द्वारा कार्य करना पूर्ण पुरुषके स्वरूपके अनुकूल नहीं हो सकता है । क्योंकि, उसमें प्रकृतिके विरुद्ध होनेके कारण अनिष्ट और अवनतिकी आशङ्का रहती है। प्रकृतिको सरल करते हुए उसीके द्वारा ही उसीका नाश करना यथार्थ धर्म और ज्ञानानुकूल कार्य है, इसलिये ज्ञानी गुरु श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने इसी प्रकारसे पूर्व कर्मानुकूल प्रकृति तथा प्रवृत्तिको देखकर उसीके अनुसार समस्त भक्तोंका यथोचित उद्धार किया था । किसी भी भावके द्वारा श्रीभगवान्में आसक्त होनेपर भी श्रीभगवान्के सर्वशक्तिमान् होनेसे भक्त उसी भावके द्वारा भगवान्में तन्मय हो सकता है और तन्मयता होनेपर मनका लय हो जाता है, जिससे भक्तका भाव ही नष्ट होकर भावातीत भगवान् उनको प्राप्त हो जाते हैं। यथा—श्रीमद्भागवतके १०वें अध्यायमें—

> कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
> नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥
> न चैवं विस्मयः कार्य्यो भवता भगवत्यजे ।
> योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते ॥

काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य, मैत्री आदि किसी भावके द्वारा श्रीभगवान्में आसक्त होनेपर उनकी सर्वशक्तिमत्ताके प्रभावसे भक्त उनमें तन्मय हो जाता है। कामादि किसी मानसिक भावका अस्तित्व तबतक जीवमें रहता है जबतक उन भावोंके उत्पत्तिस्थान मनका अस्तित्व विद्यमान रहे। परन्तु जिस समय कामादि भावके द्वारा भगवान्में आसक्तचित्त भक्तको श्रीभगवान् अपनी शक्ति द्वारा आकर्षण करके अपनेमे तन्मय कर लेते हैं, उस समय तन्मयता द्वारा मनोनाश होनेसे मनमें रहनेवाले कामादि भाव समूल नाशको प्राप्त हो जाते हैं भक्त समस्त लौकिक वासनाओंसे रहित होकर लोकातीत भगवद्भावमें लवलीन हो मुक्ति पदवीको प्राप्त कर लेते है। 'यही भाव अनेक प्रकारके पूर्व कर्मोंके अनुसार अनेक प्रकारके भक्तोंके द्वारा श्रीकृष्णभगवान्की उपासनामयी लीलामें प्रकट हुआ था और द्वेष, काम, वात्सल्य आदि सभी भावों

को इसी प्रकारके श्रीकृष्ण भगवान्‌ने अपनी सर्वशक्तिमत्ताके प्रभावसे तन्मयभाव द्वारा नाश करके भक्तोंको परमा वैष्णवी गति प्राप्त कराई थी। अचल गम्भीर समुद्रकी तरह उनके धीर पूर्ण स्वरूपमें सभी भाव चञ्चल नदियोंकी तरह लयको प्राप्त हो जाया करते थे और इसी प्रकारसे गोपिकादि भक्तगण पूर्व कर्मोंसे उत्पन्न समस्त लौकिक चांचल्योंसे रहित होकर परमपदको प्राप्त हो गये थे। यही श्रीभगवान्‌के पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्रके जीवनमें उपासनाकी पूर्णतामयी चतुर्दशरसमयी मधुर लीला है।

कृष्णजीवनमें ज्ञानलीला।

कर्म और उपासनाकी तरह ज्ञानका भी पूर्ण प्रकाश श्रीकृष्णचन्द्रकी अवतारलीलामें हुआ था इसमें सन्देह नही है। पूर्णज्ञानकी पराकाष्ठा संशय-दोषयुक्त जड़ताग्रस्त अर्जुनको गीता और अनुगीताके उपदेशछलसे संसारकी शिक्षाके लिये उन्होंने प्रकट की थी उसकी तुलना संसारमे कही नहीं हो सकती है। अर्जुनका मोह दूर करनेके लिये उतने उपदेशोंकी आवश्यकता नही थी, जितना उन्होंने गीताके भीतर दिया है। वह उपदेश केवल समस्त संसारके कल्याण-साधनके लिये ही था। जिस प्रकार भूभारहरणके लिये कुरुक्षेत्रके युद्धमें अर्जुन निमित्त मात्र थे, उसी प्रकार संसारके प्रति गीताके उपदेशके लिये भी अर्जुन निमित्त मात्र ही थे।

गीता पूर्ण ज्ञानकी गङ्गा है, गीता अमृतरसकी अजस्र धारा है। गीतामें कर्मोपासनाज्ञानकी त्रिधारा गङ्गा, यमुना, सरस्वतीकी त्रिधाराकी तरह परस्पर सम्मिलित होकर दिव्य प्रयागकी सृष्टि हुई है जिसमें भावुक भक्त अवगाहन स्नान करके अनन्तानन्दमय निःश्रेयस पदको अनायास ही प्राप्त कर सकते हैं। गीता दुस्तर संसार सागरसे पार उतरनेके लिये अमोघ तरणी है। गीता भावुक जनोंके लिये गम्भीर तरङ्गमय भावसमुद्र है। गीता, कर्मयोग-परायण महात्माको उत्तरायण गति द्वारा सत्यलोकमें ले जानेके लिये दिव्य विमानरूप है। गीता ज्ञानयोगनिष्ठ महात्माको जीवन्मुक्त बनानेके लिये अमृत समुद्ररूपहै, गीता संसार मरुभूमिमें जले हुए दुःखित जीवनके लिये मधुर जलसे पूर्ण मरूद्यान (मरुस्थलका बगीचा) है। कितना कहा जाय, संसारमें गीताकी अपूर्व माधुरीका वर्णन ही नहीं हो सकता है। संसारमें श्रीमद्-भगवद्गीताके प्रकाश द्वारा श्रीभगवान्‌ने उपनिषदोंका सारतत्त्व प्रकट किया

है। कर्म, उपासना, ज्ञान तीनोंका विज्ञानांश और तीनोंका सामञ्जस्य गीतामें प्रकट है। परन्तु ज्ञानप्रकाशकार्य्यमें इतना ही करके वे निवृत्त नहीं हुए थे उनकी मनुष्य लीलामय जीवनी ज्ञानके सब विभागोंकी पूर्णतासे पूर्ण थी। यद्यपि समष्टिरूपसे ज्ञानके सब विभागोंका सारांश और धर्मके सब विभागोंका विज्ञान और वेदके तीनो काण्डोंका रहस्य श्रीगीताजीमें प्रकट है, परन्तु श्रीभगवान्ने पृथक् पृथक् रूपसे ज्ञानके सब विभागोंका प्रकाश अपने आदर्श जीवन द्वारा करके दिखला दिया था। साधारण धर्मके गूढ़ रहस्योंका विज्ञान उन्होंने अर्जुन और महाराज युधिष्ठिरके सम्मुख प्रकट किया था। महाभारतमें उन प्रकरणोंके पाठ करनेसे विदित होता है, कि, धर्मके पूर्ण रहस्यको उन्होंने इस प्रकारसे प्रकट किया है, मानों धर्मसम्बन्धमें वेदका विज्ञान जगत्के सम्मुख प्रकट करनेके लिये ही उनका अवतार हुआ था। नारीधर्मका जगत्-पवित्रकर रहस्य और नारीधर्मसे अतीत लोकोत्तर प्रेमका विज्ञान श्रीभगवान्-ने व्रजलीलाके प्रसङ्गसे गोपिकाओंको उपदेश दिया था जिसका विवरण श्रीविष्णुभागवत्में देखनेसे धर्मज्ञमात्र ही समझ सकेंगे कि, नारीधर्मरूपी विशेष धर्मका विज्ञान इस प्रकारसे उन्होंने जगत् कल्याणार्थ प्रकाशित किया है, मानों नारीधर्मकी मर्यादारक्षाके अर्थ ही उनका अवतार हुआ था और मानौ नारीधर्मको पवित्र रखकर प्रेमकी अपूर्व माधुरीसे जगत्को तृप्त करनेके अर्थ ही वे अवतीर्ण हुए थे। इसके सिवाय पुरुषधर्मविज्ञान, राजधर्मविज्ञान समाजनीति विज्ञान आदि उनके सब कुछ उपदेश महाभारतमें भरे पड़े है, जिनके पाठ करनेसे उनकी पूर्णज्ञानसत्ताका पूरा पता लग जाता है।

अब प्रसङ्गोपात्त मनुष्यजीवनमें उसकी पूर्णता सिद्धिके लिये कर्म–उपासना–ज्ञानके सामञ्जस्यके हेतु बताये जाते हैं। मानवी प्रकृति त्रिगुणमयी तथा प्रतिक्षणपरिणामिनी है। इतना तक कि, दिवारात्रिके भीतर भी समष्टि प्रकृति तथा व्यष्टि प्रकृतिमें तीन गुणौके परिवर्त्तन होते रहते हैं। इस परिवर्त्तन नियमके अनुसार यदि व्यष्टि प्रकृति यथोचित व्यापारमें रत रहे तो, समष्टिप्रकृतिके प्रवाहमें स्वतः ही वह वहा करेगी और समष्टि प्रकृति उसे अपनेमें मिलाकर अन्तमें प्रकृतिराज्यसे परे तथा प्रकृतिके पति परमात्मामें पहुंचा देगी। इसी कारण व्यष्टि प्रकृतिको समष्टि प्रकृतिमें मिलानेके लिये ज्ञानदृष्टि-सम्पन्न पूज्यपाद महर्षियौने गुणपरिणामके नैसर्गिक नियमानुसार कर्म-उपासना-ज्ञानका विधान

किया है। जिस समय प्रकृति पर तमोगुणका प्रबल आवेश हो जाय उस समय निद्रा ही प्रकृतिके अनुकूल व्यापार है, क्योंकि, उतने तमोगुणमे कोई भी क्रिया नही बन सकती। उससे ऊपर जब तमोगुण रजोगुणोन्मुखी हो तब कर्मका समय है। इस प्रकृतिके लिये महर्षियोंने वेदविहित कर्मोंका विधान किया है। तदनन्तर प्रकृतिके और थोडा आगे बढ़ने पर जब तमोगुण दब जाय तथा रजोगुण सत्त्वोन्मुखी हो जाय तब मनुष्यका अन्तःकरण सत्त्वगुणोदयमें स्वतः भगवान्की ओर जाता है। इसीलिये इस प्रकृतिमे उपासनाका विधान है। तदनन्तर रजोगुण और तमोगुणका पूर्ण अभाव तथा सत्त्वगुणके विशेष विकाशके समय ज्ञान ही एकमात्र अवलम्बनीय होता है। व्यष्टि तथा समष्टि दोनों प्रकृतिमे ही २४ घण्टेके भीतर नैसर्गिकरूपसे ऊपर लिखित नियमानुसार त्रिगुणपरिणाम होता रहता है। इसलिये सत्यदर्शी पूज्यचरण महर्षियोंने व्यष्टिसमष्टि प्रकृतिके सामञ्जस्यविधानार्थ आर्य्यजीवनको कर्म-उपासना-ज्ञानमय बनानेका उपदेश दिया है। इसी कालज्ञानके विचारसे ही दिन व रातमे चार सन्धियाँ शास्त्रोंमें मानी गई है। वेही चार सन्ध्या कहाती है और उनमें सात्त्विक, राजसिक, तामसिक भेदसे कर्म और उपासना करनेको भी विधि रक्खी गई है। यही कारण है कि, दिनके भी तीन विभाग मानकर देवता और पितरोंको पूजाके काल बताये गये है। इसमें समष्टि प्रकृतिके साथ व्यष्टि प्रकृतिकी समता सिद्ध होकर परोक्षरूपसे ब्रह्मसागरमें मिलना सुलभ ही हो जाता है, इसके सिवाय साक्षात्रूपसे आत्मज्योति प्रकाशनार्थ इसमे सभी कुछ अवकाश रक्खा गया है, यथा—

(क) समस्त मनुष्यप्रकृति साधारणतः तीन नैसर्गिक भागोमे विभक है, यथा स्थूलवृत्तिमयो (Physical), मनोवृत्तिमयी (Emotional) और बुद्धिवृत्तिमयी (Intellectual) इन तीनों वृत्तियोंके द्वारा ही जीवजगत् सदा चञ्चल रहा करता है और इनके शान्त होनेसे ही समाधि द्वारा ब्राह्मी स्थिति लाभ हुआ करती है। मनुष्ययोनिके प्रथम उन्नति स्तर (Evolution) में मन बुद्धिका साधारण विकाश रहनेसे वहां स्थूलवृत्तिमयी प्रकृतिका ही प्रभाव अधिक रहता है। तदनन्तर क्रमशः मनोवृत्ति और विशेष उन्नत अवस्थामें बुद्धिवृत्तिका बल अधिक हो जाता है। किन्तु तीनो वृत्तियोका स्वल्प विस्तर प्रभाव मनुष्ययोनिके सभी जीवोंमें रहता है। अब ब्राह्मी स्थिति लाभके लिये यही एकमात्र अवलम्बनीय उपाय होगा, जिससे तीनो वृत्तियां सामञ्जस्यके

साथ क्रमशः शान्त हो जायँ। कर्मके साथ स्थूलजगत्का सम्बन्ध अधिक रहनेसे स्थूलवृत्तिमयी प्रकृतिके साथ कर्मका नैसर्गिक सम्बन्ध है और वह वेद-विहित कर्मके द्वारा ही उन्नतिशील हो सकती है। उपासनाके साथ अन्तः-करणका सम्बन्ध विशेष रहनेसे मनोवृत्तिका निरोध उपासनाके द्वारा ही सम्भव है और ज्ञानके साथ बुद्धिवृत्तिका साक्षात् सम्बन्ध रहनेसे बुद्धिवृत्तिकी सूक्ष्म-गतिमें ऋतम्भरा प्रज्ञावस्था ज्ञानद्वारा ही लभ्य है। तीनोंके सामञ्जस्यानुसार अवलम्बन द्वारा ब्राह्मी स्थिति हुआ करती है, इस कारण आर्य्यजीवनको पूर्ण-जीवन बनानेके लिये कर्म, उपासना, ज्ञानकी नैसर्गिक आवश्यकता है।

(ख) आस्तिक जगत्में साधारणतः मनुष्य तीन प्रकारके होते हैं—काम-परायण, अर्द्धनिष्काम, पूर्णनिष्काम। इन तीनोंकी आध्यात्मिक क्रमोन्नतिके लिये आर्य्यशास्त्रमें तीन उपाय बताये गये हैं, यथा भागवतमे—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥

मनुष्योंके श्रेयोविधानके लिये कर्म, उपासना और ज्ञान ये तीन योग कहे गये हैं। संसारासक्तिशून्य कामनारहित व्यक्तियोंके लिये ज्ञानयोग तथा सकाम व्यक्तियोंके लिये कर्मयोग आध्यात्मिक उन्नतिप्रद है और जो भगवत्कथामें रुचि रखते है तथा न अधिक विषयासक्त ही है या अत्यन्त विरक्त ही है, ऐसे मनु-ष्योंके लिये उपासनायोग सिद्धिप्रद है। चूंकि संसारके सभी लोग इन तीनों प्रकृतियोंमें बँटे हुए हैं इसी कारण सत्यदर्शी महर्षियोंने आर्यजीवनको पूर्णजीवन बनानेके लिये सामञ्जस्यानुसार कर्मोपासनाज्ञानका विधान किया है।

(ग) आत्मा स्वयंप्रकाश है, किन्तु जिस प्रकार मेघके द्वारा दृष्टि आच्छन्न होनेपर सूर्य देखनेमें नहीं आते उसी प्रकार स्थूलशरीरका मल, सूक्ष्म-शरीरका विक्षेप और कारणशरीरका आवरण आत्मदर्शन पथमें इन तीनों बाधाओंके रहनेसे परमात्मा प्रत्यक्ष नहीं होते। कर्मके द्वारा मल नाश,

उपासनाके द्वारा विक्षेपनाश और ज्ञानके द्वारा आवरणनाश होता है, तब यथार्थतः आत्मसत्ताका अनुभव होता है। इसी कारण आर्यजीवनको पूर्णजीवन बनानेके लिये महर्षियोंने उसे कर्म-उपासना ज्ञानमय बनाया है और इस लिये वेदके भी तीन काण्ड हैं।

(घ) कार्यब्रह्म कारणब्रह्मका ही विकाशमात्र है। इस लिये कारणब्रह्ममे जो भाव है सो कार्यब्रह्ममें भी होता है। अध्यात्म अर्थात् निर्गुण ब्रह्मभाव, अधिदेव अर्थात् ईश्वरभाव, अधिभूत अर्थात् विराट् भाव कारणब्रह्मके ये तीन भाव है। इसलिये कार्यब्रह्मके प्रत्येक अङ्गमें भी अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये तीन भाव हुआ करते है। जीवमे तीन भाव अपूर्ण हैं, ब्रह्ममे ये तीन भाव पूर्ण हैं। इसलिये अपूर्ण जीव पूर्णब्रह्मके भावको तभी प्राप्त कर सकते हैं, जब अध्यात्म, अधिदेव, अधिभूत इन त्रिविध शुद्धियोका सम्पादन कर सकें। कर्मके द्वारा अधिभूतशुद्धि, उपासनाके द्वारा अधिदैव शुद्धि और ज्ञानके द्वारा अध्यात्म शुद्धि होती है। जीवमे स्थूलशरीर अधिभूत है, मन अधिदैव है और बुद्धि अध्यात्म है। कर्मके द्वारा स्थूलशरीरकी शुद्धिसे अधिभूतशुद्धि होती है, उपासना द्वारा मनोनिरोधसे अधिदैवशुद्धि होती है और ज्ञान द्वारा बुद्धिकी शुद्धिसे अध्यात्म शुद्धि होती है। वेदविहित नित्य, नैमित्तिक कर्मोका ईश्वरार्पण बुद्धिसे नियमित अनुष्ठान करते करते आधिभौतिक शुद्धिके साथ साथ चित्तशुद्धि भी होती है और इस प्रकारसे शुद्ध चित्त द्वारा उपासना तथा ज्ञानका साधन सम्यकरूपसे हो सकता है, जिसके फलरूपसे आत्मसाक्षात्कार सुलभ हो जाता है। यही आर्यजीवनको पूर्णजीवन बनानेके लिये ऋषिप्रदर्शित कर्म-उपासना-ज्ञानकी साधना तथा उनका प्रयोजन है।

(ङ) श्रीभगवान् सत्-चित्-आनन्दरूप है। उनकी अद्वितीय सत्सत्ता पर ही द्वैतभावमय निखिल प्रपञ्चका विलास है। उनकी चित् सत्ता लौकिक, अलौकिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक, तटस्थ, स्वरूप सकल प्रकारके ज्ञानका निदान है। उनकी अद्वितीय मौलिक आनन्द सत्ता ही द्वैत जगत्में दुःखमिश्रित सकल प्रकारके सुख तथा अद्वैतावस्थाके निर्मल सुखकी जननी है। जब ब्रह्म सत् चित् आनन्द रूप है और जीव ब्रह्मका अंशरूप है तो जीवमें भी तीन सत्ताये आंशिकरूपसे विद्यमान है। इसलिये जीव ब्रह्म तभी बन सकता है जब जीव

उपलब्धि द्वारा अपनी सत्सत्ताके साथ व्यापक चित्सत्ताकी अभिन्नताको समझे, अपनी चित्सत्ताके साथ व्यापक चित्सत्ताकी एकताको समझे और अपनी आनन्दसत्ताको पूर्ण करके व्यापक आनन्दसत्तामें लवलीन हो जाय। निष्काम कर्मयोगके अनुष्ठान द्वारा अपनी क्षुद्र सत्सत्ता क्रमशः विस्तृत होकर व्यापक सत्सत्तामें जा मिलती है, उपासनायोगके अनुष्ठान द्वारा चित्तवृत्ति निरुद्ध होकर परमात्माकी आनन्दसत्ताका अखण्ड अनुभव होता है और ज्ञानयोगके अनुष्ठान द्वारा परमात्माकी चित्सत्ताकी उपलब्धि होती है। इसी प्रकारसे कर्म-उपासना-ज्ञानके सामञ्जस्य द्वारा जीव अपने जीवत्वको छोड़कर शिवत्व लाभ कर सकता है। यही कारण है कि, मनुष्यजीवनमें तथा श्रीगीतामें कर्म-उपासना-ज्ञानके सामञ्जस्यका उपदेश किया गया है।

करال कलिकालकी विपरीत गति है, जिससे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी भक्तिमयी मधुरलीलाको कलिकालके मनुष्योंने न समझकर बहुत प्रकारके दोषारोप करना प्रारम्भ कर दिया है। इसलिये श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र और गोपियोंके चरित्रोंका वर्णन करके उन सब शङ्काओंका समाधान किया जाता है। रासलीलामें जिस प्रकार कार्य्य हुए थे उन सबोंपर विचार करके देखनेसे श्रीकृष्णके स्वरूपका ज्ञान पूर्णतया हो सकता है। यह बात भागवत्में प्रसिद्ध है—

शंका समाधान।

योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः॥

श्रीकृष्णजीने रासलीला करते समय दो दो गोपियोंके बीच एक एक होकर हजारों मूर्त्तियां धारण कर ली थी और जिस रात्रिको रासलीला हुई थी उस रातको जो गोपियां घरको छोड़कर चली आई थी, उन गोपियोंकी भी एक एक मूर्त्ति धारण करके उनके पतियोंके पास भगवान् विद्यमान थे। जैसा कि भागवतमें लिखा है—

नाऽसूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्स्वान्स्वान्दारान्व्रजौकसः॥

भगवान्की मायासे मुग्ध होकर व्रजके गोपोंने अपने पास अपनी अपनी स्त्रियोंको देखा था जिससे उनको नहीं जान पड़ा कि, उनकी स्त्रियां

चली गई है। अतः इससे सिद्ध होता है कि, उस रात्रिको भगवान्‌ने हजारों स्त्रियोंका रूप और पुरुषोंका रूप धारण किया था। अब विचार करनेका विषय यह है कि, एक स्थूल शरीर और एक सूक्ष्म शरीरको हजारों स्थूल शरीर और हजारों सूक्ष्म शरीर बनादेना जब योगशास्त्रका विषय है तो योगके किस अधिकारमें योगी इस प्रकार कर सकता है। योगदर्शनमें एक सूत्र है कि:—

निर्म्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्।

स्वरूपस्थ जीवन्मुक्त योगी यदि अपने प्रारब्ध कर्म्मको शीघ्र भोग करके समाप्त करना चाहे तो, अनेक स्थूल शरीर और अनेक सूक्ष्म शरीरको बनाकर भोग कर सकते हैं। दृष्टान्तरूपसे समझा जाय कि, यदि प्रारब्धकर्म्मके अनुसार किसी योगीकी आयु पचास वर्षकी हो, परन्तु वह योगी योगरूपी अलौकिक पुरुषार्थके द्वारा तीस वर्षमें जीवन्मुक्त होजाय तो उनकी आयु पचास वर्ष होनेके कारण बीस वर्षमें भोगे जानेवाले प्रारब्धकर्म्म बाकी रहेंगे, यह समझना होगा, क्योंकि यह शास्त्रका सिद्धान्त है कि:—

प्रारब्धकर्म्मणां भोगादेव क्षयः।

प्रारब्धकर्मोंका क्षय भोगसे ही हो सकता है। अब यह बीस वर्षका कर्म्म वह योगी चाहे तो बीस वर्षमे ही भोग कर सकता है, या उससे कम समयमें भी भोग कर सकता है। यथा—यदि उस योगीकी प्रकृति वैसी ही हो कि, बीस वर्षके भोगको चार वर्षमें भोग करना चाहे, तो एक स्थूल सूक्ष्म शरीरको पांच स्थूल सूक्ष्म शरीर बनाकर योगी बीस वर्षके कर्म्मोंको चार वर्षमें ही भोग कर डालेंगे, परन्तु इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म शरीर बनाना उन्हीं योगीके लिये ही सम्भव है जो स्थूल और सूक्ष्म शरीरके बन्धनसे मुक्त है, अर्थात् जीवन्मुक्त है। स्थूल भूतोंको इकट्ठा करके स्थूल शरीर तभी बनाया जा सकता है कि, जब स्थूल भूतोंपर अधिकार जमजाय। उसी प्रकार सूक्ष्म तत्त्वोंको इकट्ठा करके अन्तःकरण आदि सूक्ष्म शरीरको बनाना योगीके लिये तभी सम्भव हो सकता है कि, जब सूक्ष्म तत्त्वों पर भी उनका अधिकार जमजाय। स्थूल, सूक्ष्म दोनों तत्त्वोंपर अधिकार तभी जम सकता है कि, जब योगी दोनों तत्त्वोसे अलग होजाय, क्योंकि, जो जिससे पृथक् है या ऊँचा है वही उसपर अधिकार जमा सकता है।

विषयी पुरुष ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि, विषयी लोगोंके आत्मा, मन, इन्द्रियों और सूक्ष्म शरीरके अधीन होनेसे, तत्त्वोंपर अधिकार जमानेकी शक्ति उनमें नही हो सकती है । यह काम वीतराग जितेन्द्रिय योगी कर सकते हैं, विषयी पुरुष नही कर सकते । इससे सिद्ध हुआ कि, श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र निर्लिप्त, जितेन्द्रिय, ज्ञानी और योगी थे, क्योंकि, ऐसा न होता तो श्रीकृष्णचन्द्र कभी स्थूल सूक्ष्म तत्त्वोंपर अधिकार जमाकर हजारों स्थूल, सूक्ष्म शरीर धारण नही कर सकते थे । इसलिये जिस रासलीला पर लोग कटाक्ष करते हैं, उसी रासलीला पर विचार करनेसे यह सिद्ध हुआ कि, श्रीकृष्णचन्द्र पूरे जितेन्द्रिय योगी थे उनमें कामका लेशमात्र नही था। इसलिये भगवान् वेदव्यासने कहा है कि :—

योगेश्वरेण कृष्णेन ।

योगेश्वर श्रीकृष्णने इतने शरीर धारण किये। यदि उनमें काम होता तो "योगेश्वर" न लिखकर "कामेश्वर" लिखते । यही अकाट्य योगकी युक्ति श्रीकृष्णके चरित्रको अच्छी तरह प्रमाण कर देती है, क्योंकि, जब पुरुष जितेन्द्रिय हो तो स्त्री उसका क्या कर सकती है । इसलिये गोपियाँ किसी प्रकारकी हीं क्यों न हों उसमें श्रीकृष्णकी कोई हानि नही थी और इसीलिये ही भागवतमें लिखा है कि :—

सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः ।

अपनेमें ब्रह्मचर्य्यको रोककर उनको सन्तुष्ट किया । श्रीकृष्णचन्द्रजीमें काम नही था। वे कैसे थे सो संसार जानता है। और जानता ही क्या है भगवान्ने गीतामें स्वयं ही कहा है कि वे कौन थे, यथा—गीतामें :—

आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठं,
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्व्वे,
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

जिस प्रकार नदियां स्थिर, गम्भीर, पूर्ण और विशाल समुद्रमें प्रवेश करके अपनेको समुद्रमें मिला देती हैं, उनकी पृथक् स्थिति नहीं रहती, उसी प्रकार जिस महान् पुरुषके उदार चित्तरूपी महान् समुद्रमें समस्त कामना

आकर लय हो जाय, वही शान्तिको प्राप्त करता है, कामनापरायण जीवको शान्ति नहीं मिलती। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र सामान्य कामनापरायण जीवके समान स्त्रियोंको देखकर भाग नहीं जाया करते थे, किसी दूसरेमें कामको देखकर दुर्बलकी तरह भाग जानेवाला मनुष्य पूर्ण नहीं बन सकता, क्योंकि, श्रुति में लिखा है कि:—

नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

दुर्बल मनुष्य आत्माको नहीं प्राप्त कर सकते, तेजस्वी पुरुष ही आत्माको प्राप्त कर सकते हैं। श्रीकृष्णका उदार हृदय इस प्रकार तेजस्वी और पूर्ण था कि, जिस पर अपनी कामनाकी तो बात ही क्या है, किसीकी कामना भी प्रभाव विस्तार नहीं करती थी। परन्तु जो भक्त जिस प्रकारकी कामनाको लेकर आया करते थे, समुद्रमें नदीकी तरह उनके पास आकर सबोंकी सब कामनाएं नष्ट हो जाती थीं, जिससे भक्तोंकी मुक्ति हो जाती थी, यही भगवान्का स्वरूप था और भगवान्का स्वरूप क्या था सो शास्त्रोंमें मुक्त पुरुषके लक्षणरूपसे वर्णन किया गया है। मुक्त पुरुष स्फटिक मणिकी तरह होते हैं और कमलदलस्थित जलके सदृश निर्लिप्त होते हैं। जिस प्रकार स्फटिक मणिके सामने लाल फूल आनेसे स्फटिक लाल वर्ण प्रतीत होता है, पीला फूल सामने आनेसे स्फटिक पीला रङ्गका दिखाई देता है, इस प्रकार जो रङ्ग सामने लाया जाय वही रंग स्फटिकका दिखाई देने लगता है, परन्तु वास्तवमें स्फटिकके वे सब रग नहीं हैं, स्फटिक स्वच्छ निर्म्मल है, मुक्त पुरुषका अन्तःकरण ऐसा ही होता है। वे जिसके साथ मिलते हैं, उनके सदृश ही बनजाते हैं, यथा:—

बाले बाला विदुषि विबुधा, गायके गायकेशाः,
शूरे शूरा निगमविदि चाऽऽम्नायलीलागृहाणि।
सिद्धे सिद्धा मुनिषु मुनयः सत्सु सन्तो महान्तः,
प्रौढे प्रौढाः किमिति वचसा तादृशा यादृशेषु॥
मौने मौनी गुणिनि गुणवान्पण्डिते पण्डितोऽसौ,
दीने दीनः सुखिनि सुखवान्भोगिनि प्राप्तभोगः।
मूर्खे मूर्खो युवतिषु युवा, वाग्मिषु प्रौढवाग्मी,
धन्यः कश्चित्त्रिभुवनजयी योऽवधूतेऽवधूतः॥

समस्त प्राकृतिक भावोंसे परे स्थित ब्रह्मरूप मुक्त पुरुष बालकके सामने बालक, विद्वान्‌के सामने विद्वान्, गायकके सामने श्रेष्ठ गायक, वीरके सामने वीर, वेदज्ञके सामने वेदज्ञ, सिद्धोंके सामने सिद्ध, मुनिके सामने मुनि, महात्माओंके सामने महात्मा और प्रौढके सामने प्रौढ बन जाते हैं, अधिक कहना ही क्या है, जो जिस प्रकारका है उसके सामने उसी प्रकार बन जाते हैं। उनके अपने स्वरूपमें कोई हानि नहीं होती, और न उनका अपना स्वरूप ही बदलता है। अतः स्वरूपमें स्थित होकर ही मौनीके सामने मौनी, गुणीके सामने गुणवान्, पण्डितके सामने पण्डित, दीनके सामने दीन, सुखीके सामने सुखी, भोगीके सामने भोगी, मूर्खके सामने मूर्ख, युवतीके सामने युवक, वक्ताके सामने प्रौढ वक्ता और अवधूतके सामने अवधूत बन जाते हैं; इस प्रकारके त्रिभुवनविजयी मुक्त पुरुष धन्य हैं। यही निर्लिप्तता—सब कुछ करनेपर भी कुछ भी न करनेका भाव, मुक्त पुरुष और पूर्ण पुरुषका लक्षण है। भगवान् कृष्णचन्द्र पूर्ण थे, इसलिये उनमें भी यही भाव था। यथा—भागवतमें:—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः
स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्,
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजाम्
शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराड विदुषाम्
तत्त्वं परं योगिनाम्,
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो
रङ्गंगतः साग्रजः॥

स्फटिक मणिकी तरह पूर्ण निर्लिप्त भगवान् कृष्णचन्द्र मल्लोंके लिये वज्ररूप थे, मनुष्योंके लिये श्रेष्ठ मनुष्य थे, स्त्रियोंके लिये मूर्त्तिमान् मन्मथ थे, गोपोंके लिये आत्मीय थे, दुष्ट राजाओंके लिये दमन करनेवाले थे, अपने माता पिताके लिये छोटे शिशु थे, भोजपति कंसके लिये मृत्युरूप थे, सगुण उपासकके लिये विराट्‌रूप थे, निर्गुण उपासक योगियोंके लिये निराकार परमात्मा थे, और यादव कुलके लिये परम देवता थे। इसी प्रकार एक ही

भगवान् अनेकरूप थे। यही पूर्णताका लक्षण है । भागवतके वर्णनको देखनेसे सिद्ध होता है कि, गोपियां भी जानती थी कि, श्रीकृष्ण सामान्य पुरुष नही हैं, किन्तु साक्षात् परमात्मा ईश्वर हैं । उन्होंने रासलीलामे या और स्थानोंमें, जैसा कि पहिले कहा गया है, श्रीकृष्णको विभु, परमात्मा, परमेश्वर करके सम्बोधन भी किया है । उनका इस प्रकार सम्बोधन करना प्रेमका पागलपन नही था, परन्तु यथार्थ ज्ञान था, जिस ज्ञानके होनेसे ही उन्होंने कात्यायनी व्रतका अनुष्ठान किया था । अब इस बात पर विचार कर सकते है कि, संसारमें ऐसी कोई स्त्री नही है जो कि, पुरुषको दुर्वल और कामुक जाननेपर भी उसके अधीन वन जाय और ऊचे ऊचे सम्बोधन करे। इस विषयको विषयी लोग खूब जानते हैं। स्त्रीजाति अभिमानिनी हुआ करती है । कामुक पुरुषोंको अपने अधीन करनेमें उनको आनन्द आता है। केवल जितेन्द्रियके पास वे दवती है । अजितेन्द्रिय पुरुषको वे वशमें रखकर स्वेच्छाचार करती है । इसलिये यदि श्रीकृष्णमें किसी प्रकारका कामभाव होता तो, गोपियां उनकी इतनी प्रशसा नही करती और न उनके लिये रो रो कर इतनी प्रार्थना ही करती। ईश्वर और जीवमें भेद यह है, योगदर्शनमें लिखा है किः—

क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।

ईश्वर अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, इन पांचों क्लेशों से और कर्म्म, कर्म्मफल तथा सस्कारोंसे परे होते है। ईश्वर प्रकृतिके अधीन नही होते, माया ईश्वरकी अधीन होती है। जीव ही मायाका दास होता है, इसलिये स्त्रीके वशमें होना जीवके लिये सम्भव है। ईश्वर स्त्रीके वशमें नही होते। इसी भावको लक्ष्मी, जो क्षीरसमुद्रमे सोये हुए विष्णु भगवान्के पांव दवाया करती हैं, उनके द्वारा दिखाया गया है और इसी भावको ही रासलीलामे स्पष्टरूपसे दिखाया गया है। यथा—जहां गोपियोंमे थोड़ासा भी अभिमान आया कि, उसी समय भगवान् उनको छोड़कर अन्तर्धान हो गये। उनमेंसे जो अभिमानिनी नहीं थीं और इसीलिये जो श्रीकृष्णको और भी थोड़ी देर तक देख सकती थी, उन्होंने भी जब थोड़ी देरके बाद, अपनेको सबसे भाग्यवती समझ, अभिमान किया और श्रीकृष्णके कन्धे पर चढ़ना चाहा, तो श्रीकृष्णजी उनके अहंकारको तोड़नेके लिये, कन्धा बताकर नीचेसे अन्तर्धान हो गये, क्योकि, श्रीकृष्ण तो ईश्वर थे, मायाके वश नही थे, इसलिये उनसे दब जाना उनके

स्वरूपके विरुद्ध था। यदि श्रीकृष्ण सामान्य मनुष्य होते तो एकान्तमें रातके समय उस प्रकारकी परस्त्रीको पाकर रात भर आनन्दसे कन्धे पर लिये फिरते, परन्तु भगवान् ऐसे न थे, भगवान् भगवान् थे, इसलिये उस गोपीने जब धृष्टता की, तो उसी समय उसको दण्ड दिया, यह सब उनके ईश्वर-भावका लक्षण है। इसलिये ही रासलीलाका वर्णन सुनकर जब महाराजा परीक्षित-ने शुकदेवजीसे पूछा कि, यह कैसी बात है कि, धर्म्मके स्थापनके लिये अवतीर्ण भगवानने दूसरोंकी स्त्रियोंके साथ इस प्रकार वर्ताव किया, जिसको परीक्षितने परदाराऽभिमर्षण करके कहा है। तब शुकदेवजीने परीक्षितको श्रीकृष्णजीके यथार्थ रूपको समझाकर समस्त शंकाओंका समाधान कर दिया और मन्दमति कलियुगके जीवोंके लिये भी अपूर्व धर्म्मका उपदेश किया, यथाः—

धर्म्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणाञ्च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्व्वभुजो यथा॥
नैतत्समाचरेज्जातु मनसाऽपि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याऽऽचरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्॥
कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते।
विपर्ययेन वाऽनर्थो निरहङ्कारिणां प्रभो॥
किमुताऽखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम्।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाऽकुशलान्वयः॥
यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता,
योगप्रभावविधुताऽखिलकर्म्मबन्धाः।
स्वैरञ्चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना-
स्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः॥
गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्व्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥
अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥

लौकिक जगत्के लिये जो धर्म्म है, ईश्वरमें उस धर्म्मका व्यतिक्रम देखनेमें आता है, क्योंकि ईश्वरमें शक्ति अधिक होनेसे साहस भी अधिक है। जैसा कि अग्नि समस्त वस्तुओंको दग्ध कर सकती है, इसी प्रकारसे तेजस्वी पुरुष भी लौकिक धर्म्मसे विरुद्ध धर्म्मके धक्केको भी सहन कर सकते है, इसीलिये उस प्रकारके विरुद्ध आचारसे उनको दोष नही लग सकता। जो ईश्वर नही है, अर्थात् जीवको इस प्रकारका आचार मनसे भी नही करना चाहिये, करने पर उसका नाश हो जाता है। जैसा कि शिवजी विषपान करने पर भी नीलकण्ठ बने हुए है, परन्तु साधारण जीव विषपान करनेसे मर जाता है। प्रत्येक धर्म्म या अधर्म्म तभी तक जीवको स्पर्श कर सकता है, जब तक जीवका जीवत्व रहे, अर्थात् अन्तःकरण, इन्द्रियों और स्थूल शरीरके साथ जीवका अहम्भाव या ममता रहे। परन्तु जिस समय ममताके नष्ट होनेसे आत्मा, शरीर और मनसे पृथक् हो जाता है, उस समय शुभ या अशुभ कोई भी कर्म्म जीवको स्पर्श नही करता है। इसलिये श्रीकृष्णचन्द्रजी जब साक्षात् नित्य मुक्त परमात्मा थे, स्थूल सूक्ष्म और कारणशरीरके साथ उनका कोई ममत्व सम्बन्ध नही था, तो कुशल या अकुशल, कोई भी कर्म्म उनको स्पर्श नही कर सकता है। जो परमात्मा मनुष्य, देवता और समस्त प्राणियोंमे व्यापक, सबके प्रभु और प्रार्थनीय हैं, उनको कुशल अकुशल कैसे स्पर्श कर सकता है। जिनके चरणकमलके प्रभावसे योगी लोग कर्म्मबन्धनसे मुक्त होकर ससारको पवित्र करते हुए विचरण करते हैं, निराकार, केवल मायासे शरीरधारी उन परमात्माको बन्धन कैसे लग सकता है। जो स्वय बद्ध है, वह दूसरेको मुक्त नही कर सकता है।

स्वयमसिद्धः कथं परान्साधयति।

स्वयं असिद्ध होनेसे दूसरोंको सिद्ध नही बना सकता है। श्रीकृष्णजी यदि स्वय बद्ध होते तो दूसरोंको मुक्त नहीं कर सकते थे, परन्तु हजारो योगी उनके चरणकमलके प्रतापसे मुक्त होगये, इसलिये श्रीकृष्ण बद्ध नही थे। बन्धन हो कैसे, क्योंकि, भगवान् गोपियोंके पतियोंमे और सकल जीवोंमे व्यापक सर्वान्तरात्मा थे। उनका शरीर धारण करना केवल भक्तोंपर दया करनेके लिये ही था। पुरुष स्त्रीसे तभी बद्ध हो सकता है कि, जब पुरुष अपनेको भोक्ता और स्त्रीको भोग्या समझे; अर्थात् स्त्रीमें या पुरुषमें परस्पर

कामभोगकी इच्छा तभी तक रहसकती है जबतक स्त्री अपनेको पुरुषसे भिन्न समझे और पुरुष अपनेको स्त्रीसे भिन्न समझे। मुक्त पुरुषको कामकी इच्छा इसलिये नही होती है कि, उनका द्वैतरूप अज्ञान नष्ट हो जानेसे वे स्त्री पुरुष सभीको अद्वितीय ब्रह्मरूप मे देखते है। उनकी स्त्री पुरुष-भेददृष्टि नष्ट हो जाती है, इसलिये कामकी इच्छा भी मूलसे ही नष्ट हो जाती है। श्रीकृष्णमें काम तभी हो सकता था यदि श्रीकृष्णजी गोपियोंसे भिन्न होते। परन्तु जब श्रीकृष्ण परमात्मा थे तो गोप भी वही थे, गोपी भी वही थे, पुरुष भी वही थे, स्त्री भी वही थे, तो स्वयं जब स्त्री पुरुष दोनो ही है, तो, स्त्रीमें कामबुद्धि कैसे हो सकती है। और यह बात भी हम पहिले कह चुके है कि एक ही श्रीकृष्णने रासलीलाके दिन हजारों पुरुष और हजारों स्त्रियोंका रूप धारण कर लिया था, तो गोपियों-के प्रति उनका काम भाव कदापि नही हो सकता है क्योंकि कामभाव अपने-से पृथक् किन्ही दूसरोपर होता है, अपना कामभाव अपनेपर नही होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद्में लिखा है कि:—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि।

हे भगवन्! तुम स्त्री हो, तुम कुमार हो, तुम कुमारी हो और तुम्ही जीर्ण वृद्ध होकर हाथमे दण्ड ले वञ्चना करते हो। इस प्रकारसे परमपुरुष सर्व्वव्यापी अन्तर्यामी श्रीकृष्ण भगवान् स्वय ही गोपी बनकर स्वयं ही हजारों रूप धरकर भक्तोंकी अपने अपने अधिकारके अनुसार मनोवासना पूर्ण करते हुए, सबके काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य्यको अपनेमें लय करते हुए, सभीको परमानन्दमय मुक्ति पदको प्रदान करते थे। उनमें किसीका काम असर नही करता था और न उनमें काम ही हुआ करता था। दूसरोंका कठिन काम भी उनमें आकर समुद्रमें नदीके तुल्य लय हो जाता था। यही श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका स्वरूप है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र पर और एक दोष लगाया जाता है कि, वे सामान्य चोरकी तरह गोपियोंके घरसे मक्खन चुराते थे। यह बात भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपको न जानकर ही कही जाती है। क्योंकि जहां गोपियोंके घरसे मक्खन चुरानेकी बात लिखी है, वहां यह बात भी लिखी है कि, श्रीकृष्णचन्द्रको उस प्रकार से मक्खन लेनेमें किसी गोपीने कभी मना नही किया, अपिच सभी-

गोपियां चाहती थी कि श्रीकृष्ण मक्खन ले जायं। और मक्खन निकालते तथा दधि मन्थन करते समय सब गोपियां भगवान्‌के गुण गान करती थी, एवं मन्थनके बाद सब कुछ चीजें भगवान्‌को निवेदन करती थी, यथा—भागवतके दशमस्कन्धमें :—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥

भगवान्‌में अनुरक्त गोपियां धन्य है, जो कि दूध दोहनेके समय और मक्खन निकालनेके समय मथनके शब्दके साथ साथ अपने प्रेम भरे शब्दोंको मिलाती हुईं अश्रुकण्ठी हो भगवान्‌के मधुर गुणोंको गाती थी। जिनका समस्त कर्म्म, समस्त प्राण, समस्त मन भगवान्‌के प्रेममे ही निमग्न था, जिन्होंने अपने सर्व्वस्वको भगवान्‌के चरणकमलमें अर्पण कर दिया था, उनके लिये भगवान्‌को थोडासा मक्खन देना क्या बडी बात थी। इसलिये गोपियोंके घरसे श्रीकृष्णका मक्खन लेना चोरी नही हो सकता। चोर दूसरेकी चीजको उसकी अनिच्छासे चोरी करता है, उसकी इच्छासे नही। इच्छासे लेना चोरी नही कहलाता है। अब प्रश्न यह हो सकता है कि श्रीकृष्णजीकी माताके घरमें इतना दूध दही मक्खन था तो, दूसरेके घरसे इस तरह लेनेकी आवश्यकता क्या थी? इसका पहिला उत्तर यह है कि जब गोपियां भगवान्‌के नामसे सब कुछ समर्पण करती थी, तो, भक्तवत्सल भगवान्‌के लिये उनकी समर्पित वस्तुओंका ग्रहण करना अपना कर्त्तव्य था। दूसरा उत्तर यह है कि, अपनी माताकी चीजोंको छोडकर ससारकी और चीजोंके लेनेमें संसारको तृप्त करना भगवान्‌का लक्ष्य था। शास्त्रोंमें कहा है कि:—

तस्मिँस्तुष्टे जगत्तुष्टं प्रीणिते प्रीणितं जगत्।

जिस विराट् पुरुषके उदरमें समस्त ब्रह्माण्ड भरा हुआ है, उनके पेट भरनेसे ब्रह्माण्डकी तृप्ति होती है। जिस समय दुर्योधनके कहने पर दुर्व्वासा ऋषि अपने शिष्योंके साथ वनवासी पाण्डवों के यहां अतिथि हुए थे, उस समय भी द्रौपदीके घरमें अन्नकण खाकर जगत्‌की तृप्ति करके श्रीभगवान्‌ने इसी सत्य

सिद्धान्तको प्रमाणित किया था। यशोदाके घरमें मक्खन खानेसे, वहां विशेष आत्मीय सम्बन्ध होनेके कारण उससे यशोदाका ही कल्याण होता, समस्त संसारका कल्याण नहीं होता, परन्तु श्रीकृष्ण जब भगवान्‌के पूर्णावतार थे, तो उनकी महिमा यह होनी चाहिये, कि, जब तक श्रीकृष्णजी संसारमें रहें तब तक संसारका कोई मनुष्य भूखा न रहे, सभीका कल्याण और पूर्ण तृप्ति होती रहे और इस प्रकारसे समस्त संसारकी तृप्ति तभी होना सम्भव था, जब भगवान् दूसरेके घरसे मक्खन खाते, इसीलिये श्रीकृष्णचन्द्रजी यशोदाके घरमें मक्खन प्रचुर होने पर भी गोपियों के द्वारा समर्पित मक्खनको खाया करते थे। यही माखनलीलाका रहस्य है।

भगवान् श्रीकृष्णकी हजारों स्त्रियां थीं और उनकी कई हजार सन्तानें भी उत्पन्न हुई थी, तो क्या, प्राकृत जनोंकी तरह वे भी स्थूल स्त्रीसम्बन्ध द्वारा सृष्टि उत्पन्न करते थे? यह एक महान् सन्देहका विषय है, जिसका समाधान किया जाता है। उनको इतने विवाह क्यों करने पड़े और किस प्रकारसे पतिभावमें उपासनापरायण स्त्रियोंको उपासनाका फल देनेके लिये ही उन्हें ऐसा करना पड़ा था, इसका वृत्तान्त पहिले ही कहा जा चुका है। अब उतनी स्त्रियोंके साथ उनका वर्ताव किस प्रकारका था यही विचार्य विषय है। मानसी आदि भेदसे सृष्टिके सात स्तर होते हैं। प्रथम स्तरमें मानसी सृष्टि होती है जिसके विषयमें सती-धर्म-रहस्य नामक प्रबन्धमें पहिले ही बताया जा चुका है। द्वितीय स्तरमें लिङ्गभेद विचारहीन सृष्टि और तृतीय स्तरमें एकही शरीरमें अर्द्धनारीश्वरकी तरह स्त्री पुरुष दोनोंकी सृष्टि—यह भी उसी पूर्ववर्त्ती प्रबन्धमें कहा जा चुका है। चतुर्थ स्तरमें स्त्री पुरुषसे अलग तो हो जाती है, किन्तु स्थूल सम्बन्धके द्वारा मैथुनी सृष्टिकी आवश्यकता न स्त्रीके लिये और न पुरुषके लिये हुआ करती है। इस विषयमें पश्चिमी विद्वानोंने भी बहुत कुछ चिन्ता की है। यथा—

In the great work "The evolution of Sex", there is the discussion of 'parthenogenesis' in which the phenomena of virgin-conception is accepted to be possible in an ideal state. F. Talbot in the "Contemporary Science Series" declared it to be "Though not probable, but not scientifically impossible." Hartoss believes similarly. It means that in an

ideal state of humanity, men and women may remain in form but propagation may go on without conjugation only through the women. In the psychic science it is plainly seen that thought can work telekinetically and can produce effects without the direct contact of the individual who thinks If, thus, thoughts can move tables, lift flower-pots and drive pencils to write, will it be difficult for them to quicken the womb of a woman whom the individual loves for-wife. Just as she has the germ of independent development, he has the germ of that perfection of thought-force. An interesting illustration is quoted of a kind of lice, where for some generations they are all only females and without conjugation they multiply only females But in this parthenogenetic arrangement they soon reach a point of racial starvation, when they become at once busy about making males out of themselves and then combine with them to save their race until they become once more able to stand by themselves.

(The law of Alternate Generation)

लिङ्गाभिव्यक्ति (Evolution of Sex) नामक ग्रन्थमें इस विषय पर वहुत चर्चा की गई है कि, सृष्टिकी आदर्श उत्तम दशामें विना पुरुष सम्वन्धसे ही स्त्री सन्तान उत्पन्न कर सकती है। एफ टेवट साहबने कहा है कि, ऐसी सृष्टिका होना असम्भवसा प्रतीत होनेपर भी वैज्ञानिक रीतिसें असम्भव नही है। हर्टग् साहबकी भी यही सम्मति है । आप कहते हैं कि, मनुष्योंकी उन्नत दशामें स्त्री पुरुष दोनों साथ रह सकते है किन्तु सन्तान उत्पन्न करनेके लिये मैथुन सम्वन्धकी आवश्यकता नही होती है। यह कार्य पुरुषकी मानसिक प्रेरणा मात्र पाकर स्त्रियां स्वय ही कर सकती है। जब सूक्ष्म वैज्ञानिक प्रक्रियामें यह देखा गया है कि विना स्पर्श किये दूरसे ही केवल चिन्ताशक्तिके द्वारा टेबल हिलाया जा सकता है, फूलके वर्त्तन उठाये जा सकते है, पेन्सिलसे लिखा जा

सकता है तो उसी प्रकार प्रबल चिन्ताशक्तिके द्वारा स्त्रीके गर्भाशयमें भी सन्तानोत्पत्तिके लिये प्रेरणा की जा सकती है। क्योंकि जिस प्रकार पुरुषमें पुर्णोन्नत चिन्ताशक्तिका बीज विद्यमान है, ऐसे ही स्त्रियोंमें भी पुरुषके स्थूल सम्बन्धके बिना उनकी प्रेरणा मात्रसे सृष्टि उत्पन्न करनेका बीज विद्यमान है। इसके प्राकृतिक दृष्टान्तरूपसे एक प्रकार 'जूआं' का इतिहास कहा जाता है। ये जीव कई वंश तक स्त्री ही स्त्री रहती है और बिना पुरुष सम्बन्धके स्त्री जोंक उत्पन्न करती रहती है। किन्तु कुछ समयके बाद ही उनका वंश जब समाप्त होने लगता है तो वे अपने ही में से पुरुष 'जूआं' उत्पन्न कर लेती हैं। और पुनः उनसे स्थूल सम्बन्ध करके अपने वंशकी रक्षा कर लेती हैं। यह सब सृष्टिके चतुर्थ स्तरका इतिहास है। देवताओंकी मानसी प्रेरणा मात्रसे कुन्ती देवीने जो पाण्डवोंको उत्पन्न किया था, सो इसी विज्ञानके अनुकूल सत्य घटना थी। सृष्टिके पञ्चम स्तरमें यज्ञीय सृष्टि होती है, जिसमें यज्ञद्वारा प्राप्त चरु ही वीर्यका कार्य कर देता है। श्रीभगवान् रामचन्द्र, महर्षि विश्वामित्र आदिकी उत्पत्ति इसी स्तरकी सृष्टिके द्वारा हुई थी। सृष्टिके षष्ठ स्तरमें इन सब उत्तम शक्तियोंके ह्रास हो जाने पर मैथुनी सृष्टि ही अन्तिम उपाय रह जाता है। किन्तु स्त्री पुरुष दोनोंके ही सच्चरित्र, आचारवान् तथा संयमशील रहनेसे प्रथमतः ऐसी सृष्टिभी अमोघ रहती है। और इससे सुसन्तानकी उत्पत्ति हुआ करती है। अन्तमें सृष्टिके सप्तम स्तरमें ब्रह्मचर्य, सदाचार, संयम सभीका अभाव होने लगता है जैसा कि आजकल हो रहा है जिसके फलसे स्त्री वन्ध्या और पुरुष निर्वीर्य्य होकर जनन शक्तिहीन हो रहे है। ये ही सृष्टिके क्रमावनत सात स्तर है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके द्वारा स्थूलरूपसे सृष्टि हो ही नही सकती इसका कारण पहिले ही विस्तारित रूपसे बताया गया है। अतः उनके द्वारा या तो प्रथम स्तरकी मानसी सृष्टि अथवा चतुर्थ स्तरकी मानसिक प्रेरणाजन्य सृष्टि हुई थी। यही सिद्धान्त निश्चित होता है। इसी प्रकार सृष्टि द्वारा कान्ताभावसे उपासना परायणा उनकी सहस्रों स्त्रियोंमें लाखों यादव देवांशसे उत्पन्न हो गये थे और उन भूभारहरणकार्यमें इन सब यादवोंके द्वारा श्रीभगवान्को बहुत कुछ सहायता प्राप्त हुई थी।

यह सिद्धान्त पहिले ही हो चुका है कि, ब्रह्ममें तीनों भावोंकी पूर्णता होनेसे संसारकी समस्त वस्तुओंमें तीन भाव भरे हुए है। ये तीन भाव

अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत है । इस सिद्धान्तके अनुसार पूर्ण अवतार वे ही होंगे जिनमें आध्यात्मिक पूर्णता, आधिदैविक पूर्णता और आधिभौतिक पूर्णता हो, अर्थात् जिनमें शरीरकी पूर्णता, शक्तिकी पूर्णता और ज्ञानकी पूर्णता हो। श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीमें ये तीनो पूर्णताएँ स्पष्ट प्रमाणित होती हैं।

श्रीकृष्णचन्द्रजीके स्थूल शरीरकी पूर्णता थी, अर्थात् स्थूल प्रकृतिकी पूर्णताके लिये जो कुछ बातें होनी चाहियें, वे सब कृष्णचन्द्रजीमें थी । स्थूल प्रकृतिकी पूर्णता होनेसे सौन्दर्य्य, ब्रह्मचर्य्य आदि पूरा होता है, कोई अङ्गहीन या विकल नहीं होता है, या किसी प्रकारकी दुर्बलता नहीं होती है, ये सब गुण श्रीकृष्णमें पूरे थे । उनके सौन्दर्य्यकी तुलना ही कहां मिल सकती है । ऐसे सुन्दर पुरुष न कभी हुए थे और न होंगे । जिनके सौन्दर्य्यसे समस्त संसार मुग्ध हो रहा है, जिनके रूपसमुद्रमें चित्तको डुबाकर साधक ससारके समस्त रसोंको भूल सकता है, मानो प्रकृति माताने अपने खजानेमें जितना रूप था सब लेकर एकाधारमें भर दिया है । समस्त अङ्ग प्रत्यङ्ग श्रीकृष्णके पूर्ण थे, किसी अङ्गमें विकलता न थी । और श्रीकृष्णजीके ब्रह्मचर्य्यके विषयमें क्या कहा जाय, हजारों परस्त्रियोंके बीचमें होकर मन्मथमन्मथ, आत्माराम, अवरुद्ध-सौरत और योगेश्वरेश्वर, अर्थात् कामदेवके मथन करनेवाले शरीर, मन और बुद्धिसे परे आत्मामें रमण करनेवाले, अपनेमें वीर्य्यको रोकनेवाले और योगेश्वरोंके भी ईश्वर, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र थे । मनुष्योंकी बुद्धि सामान्य कामकी चिन्तासे व्याकुल हो जाती है, चित्तका धैर्य्य नष्ट होने लगता है, फिर एकान्तमें परस्त्रीके प्रार्थना करनेसे जो दशा होती है, उसकी तो बात ही क्या है। परन्तु यह श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके ब्रह्मचर्य्यकी पूर्णताकी शक्ति थी, जिससे वे हजारों परस्त्रियोंके बीचमें होकर भी अपने स्वरूपमें स्थित रह सकते थे। यही उनके स्थूल शरीरकी पूर्णता अर्थात् आधिभौतिक पूर्णताका लक्षण है।

श्रीकृष्णचन्द्रजीकी आधिदैविक पूर्णता शक्तिकी पूर्णतामें थी। श्रीमद्भागवत-के पढ़नेसे उनमें दैवीशक्तिकी पूर्णता कैसी थी, यह निश्चय हो सकता है। उन्होंने बालककालमें ही किस प्रकार अलौकिक शक्तिका परिचय दिया था। यथा—पूतनावध, शकटासुरवध, कालीयदमन, गोवर्द्धनधारण आदि। इन सबों से उनकी शक्तिकी पूर्णता प्रकट होती है । अज्ञानी लोग भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपको न जानकर इन विषयोंमे बहुत प्रकारके सन्देह करते है। कई लोगोंने

तो ऐसी स्पर्द्धा की है कि, इन सब अलौकिक लीलाओंको उड़ा दिया है तथा और तरहका अर्थ किया है, यह सब उनके अज्ञानका ही फल है। जिन जिन दैवी-शक्तियोंके प्रतापसे समस्त संसारचक्र घूम रहा है और जो शक्ति पत्तों पत्तोंमें जाकर संसारकी रक्षा कर रही है, वह दैवीशक्ति तो भगवान्‌की ही शक्ति है। अवतार उसी शक्तिका ही स्थूल केन्द्रके द्वारा विकाश है। प्रकृतिमें धर्म्मकी रक्षा और दैवी क्रियाओंकी रक्षाके लिये आवश्यकता के अनुसार, कभी अंश-रूपसे और कभी पूर्णरूपसे, किसी केन्द्रके द्वारा विकाश होकर वह शक्ति संसारकी रक्षा करती है और धर्म्मकी धाराको ठीक कर देती है। जब श्रीकृष्णचन्द्रजी पूर्णावतार थे, तो उनमें भगवान्‌की पूर्ण शक्ति विद्यमान थी, फिर भगवान्‌के लिये एक पहाड़ उठा लेना, या किसी सांपका दमन करना, क्या बड़ी बात थी। क्योंकि जब उन्हीं भगवान्‌की शक्तिसे हजारों पहाड़, अनन्त ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य्य आदि शून्यमें टंगे हुए हैं और हजारों हिंस्रजन्तु मारे जाते हैं, या दबाये जाते हैं, तो एक छोटासा पहाड़ उठा लेना और दो चार असुरोंको मार देना, क्या बड़ी बात है, यह सब कार्य्य भगवान्‌की व्यापकशक्तिसे होता ही है और यह कार्य्य उसी व्यापकशक्तिके किसी केन्द्रमेंसे प्रकट होनेसे हुआ। इनमें अन्तर कुछ भी नहीं है, केवल अज्ञानी लोगोंके समझनेका ही अन्तर है। वास्तवमें श्रीकृष्णके जीवन भरके समस्त अलौकिक कार्य्य उनमें दैवीशक्तिकी पूर्णताको ही बतलाते हैं।

श्रीकृष्णचन्द्रकी तीसरी पूर्णता आध्यात्मिक अर्थात् ज्ञानकी पूर्णता है, सो गीताके पाठ करनेसे ही मालूम पड़ सकता है। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको गीताका उपदेश किया था। गीतामें समाधि-भाषा पूर्ण है, जिसमें समस्त उपदेशोंका ज्ञान भरा हुआ है। इस प्रकारकी ज्ञानमयी भाषाको पूर्ण ज्ञानीके सिवाय और कोई नहीं कह सकता है, क्योंकि समाधिभाषाके कहनेवाले समा-धिस्थ पुरुष ही हुआ करते हैं, इतर पुरुष समाधिभाषाको नहीं कह सकते हैं। और दूसरा कारण यह है कि, गीता पूर्ण होनेसे ही श्रीभगवान्‌का वाक्य कही जाती है। यह सिद्धान्त शास्त्रमें कहा गया है कि, पूर्ण वस्तु वही है, जिसमें जीवकी पूर्णता विधान करनेके लिये पूर्ण उपदेश किया गया हो। जीवकी पूर्णता त्रिभावकी पूर्णताके द्वारा हुआ करती है। उसमे शरीर आधिभौतिक भाव है, मन अधिदैवभाव है और बुद्धि अध्यात्मभाव है, इसलिये शरीर, मन

और बुद्धि तीनोंकी पूर्णतासे ही साधक पूर्णब्रह्मरूप बनसकते है। शरीरकी पूर्णता कर्म्मसे, मनकी पूर्णता उपासनासे और बुद्धिकी पूर्णता ज्ञानसे होती है। इसलिये जिस पुस्तकमें कर्म्म, उपासना और ज्ञान, तीनों ही पूर्णतया वर्णन किये गये है, वही पूर्ण पुस्तक है, और पूर्ण होनेसे भगवान्‌का वाक्य है, क्योकि भगवान् पूर्ण हैं। वेदमें कर्म्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड जीवोके उद्धारके लिये पूरे पूरे वर्णन किये गये है, इसलिये वेद भगवान्‌का वाक्य है, इसी प्रकार गीतामें भी अठारह अध्यायोंमें कर्म्म, उपासना और ज्ञानका वर्णन किया गया है। इसके सब अध्यायोंमें सब तरहकी बाते होनेपर भी प्रधानतः पहिले छः अध्यायोंमें कर्म्मकी बात, दूसरे छः अध्यायोंमें उपासनाकी बात और तीसरे छः अध्यायोंमें ज्ञानकी बात कही गई है, इसलिये गीता पूर्ण है। पूर्णताका और एक लक्षण यह है कि, जिसमें साम्प्रदायिक भाव न हो और निष्पक्ष उदार भाव हो। ऋषियोंकी बुद्धि और साम्प्रदायिक पुरुषोंकी बुद्धिमें इतना ही अन्तर है। ऋषियोंकी बुद्धि पूर्ण होनेसे उसमें साम्प्रदायिक पक्षपात नही रहता एवं उसमें किसी एक भावकी प्रधानता मानकर और भावोंकी निन्दा नही की जाती। जैसा कि श्रीभगवान् वेदव्यासके नाना प्रकारके पुराण लिखनेके विषयमें कहा गया है कि, भगवान् वेदव्यासने पूर्ण ऋषि होनेसे भिन्न भिन्न पुराणोंमें सभी बातोका वर्णन किया है, किसीको गौण और किसीको मुख्य नही किया। परन्तु साम्प्रदायिक पुरुषोंकी बुद्धि इस प्रकारकी नहीं होती, वे एक ही भावको प्रधान मानकर औरोंकी निन्दा करते हैं। भारतवर्षमें जबसे इस प्रकारके साम्प्रदायिक मतोंका प्रचार हुआ है, तभीसे भारतमें अशान्ति और मतद्वैधता फैल गई है, और परस्परकी निन्दा व ईर्षा फैलकर धर्म्मके नामपर अधर्म्म होने लग गया है। परन्तु गीतामें इस प्रकारकी बातें नही है, क्योंकि, गीता भगवान्‌के मुखसे निकला हुआ पूर्ण ग्रन्थ है, इसलिये गीता सकल प्रकारके अधिकारियोंका समान रूपसे कल्याण करनेवाली है। इसमें कर्म्मीके लिये निष्काम कर्म्मका उदारभाव, भक्तके लिये भक्तिका मधुरभाव और ज्ञानीके लिये परमज्ञानका गम्भीरभाव, एकाधारमे सभी भाव सामञ्जस्यके साथ भरे हुए हैं, जिससे गीताका पाठ करके सभी धर्म्मके लोग सन्तुष्ट होते हैं और सकल देश तथा सकल धर्म्मोंमें गीताकी प्रतिष्ठा हुआ करती है। श्रीकृष्णचन्द्रजी पूर्णावतार नहीं होते तो, गीता जैसे विज्ञानशास्त्रको कभी नही बोल सकते। गीताकी और पूर्णता यह है कि, गीतामें भक्तिके छः अध्याय बीचमें रक्खे गये

है, क्योंकि भक्तिके वीचमें होनेसे कर्म्ममिश्रा, शुद्धा और ज्ञानमिश्रा, यह तीन प्रकारकी भक्ति, सकल प्रकारके अधिकारियोंका कल्याण कर सकती है। भक्ति सकल साधनोंका प्राणरूप है, चाहे कर्म्मी हो, चाहे ज्ञानी हो, भक्ति मूलमें न होनेसे दोनोंमें वन्धनकी आशङ्का रहती है। भक्तिहीन कर्म दम्भ और कर्तृत्व उत्पन्न कर सकता है, परन्तु यदि कर्म्मी अपनेको भगवान्‌का निमित्तमात्र मानकर, जगत्सेवामें भगवत्सेवा समझकर, भक्तिके साथ कर्म्म करे तो, उस कर्म्मसे दम्भ या वन्धन उत्पन्न नहीं होगा। उसी प्रकार भक्तिहीन शुष्क ज्ञान चित्तमें तर्कबुद्धि और अभिमान उत्पन्न करके, ज्ञानमार्गी पुरुषको वन्धनमें डाल सकता है, परन्तु ज्ञानके मूलमें भक्ति रहनेसे ज्ञानी भक्त आत्मरति वन जायगा, शुष्क तार्किक और अभिमानी नहीं रहेगा, जिससे उसको पूर्णज्ञानकी प्राप्ति होगी। इस प्रकारकी पूर्णता तभी आ सकती है जब कर्म्म और ज्ञान दोनोंके वीचमें भक्ति आजाय, इसलिये ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने गीताके वीचके अध्यायोंमें भक्तिको रक्खा है। भक्तिके कर्म और ज्ञानके वीचमें रखनेका और भी उदार हेतु यह है, कि, जिस प्रकार उदार पुरुषका भाव निरन्तर विवाद नष्ट करके शान्ति प्रचार करना होता है; उसी प्रकार उदार श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका गीता प्रचार करनेका उद्देश्य संसारमें शान्तिप्रचार करना था, इसलिये उन्होंने भक्तिका उपदेश कर्म्म और ज्ञानके वीचमें किया था। क्योंकि जहां दोनों विरुद्ध पक्षमें विवाद होता है, वहां वीचमे एक शान्त पुरुष विवादको मिटानेवाला हो तो विवाद नहीं वढ़ता है; अपिच शान्ति प्राप्त होती है। कर्म्म और ज्ञानमें सदा ही विवाद है। कर्म्म जो कुछ कहता है ज्ञान उससे उल्टा कहता है। कर्म्मके मतमें जगत् सत्य है और ज्ञानके मतमें जगत् मिथ्या है। कर्म्मके मतमें कर्मी होना चाहिये और ज्ञानके मतमें निष्कर्मी होना चाहिये। इस प्रकार ज्ञान और कर्म्मका विवाद सदा ही वना हुआ है, इसलिये श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने वीचमें भक्तिको रखकर कर्म्मी और ज्ञानका विवाद मिटा दिया है। वीचमें भक्तिके रहनेसे संसार व्यावहारिक दशामे मिथ्या होनेपर भी संसारको भगवान्‌का रूप जानकर ज्ञानी महात्मा जगत्कल्याणरूप निष्काम कर्म्मको कर सकते हैं और कर्म्म सकल प्रकारके कर्म्मोंको करने पर भी, जगत्को पारमार्थिक सत्ता अर्थात् ब्रह्मरूपताको जानकर कर्ममार्गमें अहङ्कार आदि वन्धनोंसे मुक्त हो सकते हैं। इसी प्रकार भक्तिने वीचमें आकर ज्ञान और कर्म्ममें सामञ्जस्य और दोनोंको

निर्विरोध कर दिया है । यही गीताकी पूर्णताका लक्षण है । इसलिये गीताके वक्ता श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रमें इस प्रकार आध्यात्मिक पूर्णता होनेसे वे पूर्ण परमात्मा थे, इसमें कोई सन्देह नही है।

पूर्णताका और एक लक्षण यह है कि, द्वन्द्व अर्थात् दोनों विरुद्धभावोंमें सामञ्जस्य रखना । पूर्ण पुरुष अर्थात् मुक्त पुरुष वेही होते है जिनमें सुख-दुःखादि-द्वन्द्व-सहिष्णुता होती है । उनके चित्तमें सुखमें हर्ष वा दुःखमें विषादका संस्कार नही लगता है, क्योंकि वे सुख दुःखसे परे आनन्दमय साम्यदशाको प्राप्त करते है । पूर्णावतारमें भी यही लक्षण पाया जाता है, क्योंकि, पूर्णज्ञानी होनेके कारण उनमें सकल प्रकारके विरुद्ध भावोंका सामञ्जस्य रहता है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रमें इसी प्रकार परस्पर विरुद्ध भावोंका सामञ्जस्य था, जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि, वे भगवान्‌के पूर्णावतार थे । अब इन विषयोंका दृष्टान्त दिया जाता है । क्षत्रियकी यह प्रकृति है कि युद्धमें अस्त्र लेकर शत्रुओंको मार देना । गीतामें अर्जुनको भगवान्‌ने उपदेश किया है, कि, हे अर्जुन ! तुम युद्ध किये विना नही रह सकते हो, क्योंकि :—

" प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति "

प्रकृति वलात् तुमको युद्धमें नियुक्त कर देगी। लड़ाई देखनेसे क्षत्रियोंके हाथोंमें स्फुरण होने लगता है, यह क्षत्रियकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है । परन्तु श्रीकृष्णके जीवनमें क्या देखते है ? कुरुक्षेत्रमें इतना युद्ध उन्होंने कराया, अठारह अक्षौहिणी सैन्यको मरवाकर ससारका भार हरण किया, किन्तु क्षत्रिय होनेपर भी, युद्धमें अस्त्र तक धारण नहीं किया । यदि श्रीकृष्णजी सामान्य मनुष्य होते तो, ऐसा कभी नही कर सकते थे। यही उनके पूर्ण चरित्रमें दोनों विरुद्ध भावोंका सामञ्जस्य है । क्षत्रिय लोग प्रतिज्ञाशूर होते है, उनकी प्रतिज्ञा प्राण जानेपर भी नही टूटती है । भगवान् सत्यके रूप होने-पर भी भक्तके अधीन हुआ करते है, इसलिये युद्धमें अस्त्र धारण न करनेकी प्रतिज्ञा सर्वत्र अटूट रहनेपर भी, परमभक्त भीष्मदेवकी प्रतिज्ञा रखनेके लिये अस्त्र धारण करके दोनों विरुद्ध भावोंका सामञ्जस्य किया था । कर्म्म ससारमें वन्धनका कारण होता है, कर्मी लोगोंमें अपने कर्तृत्वका अभिमान होता है और दूसरी ओर निष्क्रिय होकर लोग आलस्य-परायण होते हैं, इन दोनों भावोंका

सामञ्जस्य निष्काम कर्म्म है; अर्थात् कर्म्म करते हुए भी उसमें वासनाको न रखकर कर्म्मके लिये ही कर्म्म करना है, यथा—गीतामें कहा है कि:—

कर्म्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥

मनुष्यका अधिकार कर्म्म करनेमें है, परन्तु कर्म्मके फलमें अधिकार नही है, फलकी इच्छासे कर्म्म नही होना चाहिये और कर्म्मको छोड़ना भी नही चाहिये, यही निष्कामकर्म्मका आदर्श है । इस आदर्शको पूर्ण भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अपने जीवनमें पूर्णरूपसे दिखा दिया था कि, किस प्रकारसे सर्व कर्म करते हुए भी कमलदलस्थ जलके सदृश मनुष्य निर्लिप्त रह सकता है। जितना कर्म्म श्रीकृष्णचन्द्रजीने अपने अवतारमें किया था, उतना कर्म यदि किसी मनुष्यको करना पड़ता तो, वह कर्म्मके चक्रमें पड़कर विक्षिप्त (पागल) हो जाता । परन्तु अनन्त जटिल-कर्म होनेपर भी श्रीकृष्णचन्द्रजीके मन और बुद्धिपर उन कर्म्मोंने कुछ भी असर (प्रभाव) नही किया था और उनका वंशी बजाना नही छूटा था जो कि, आनन्द और निश्चिन्तताका चिह्न-स्वरूप था। योगदर्शनमें ईश्वरके लक्षणके लिये लिखा है कि :—

"स एव पूर्व्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्"

कालके द्वारा परिच्छिन्न न होनेसे ईश्वर परम ज्ञानी ऋषियोंके भी गुरु है, वह ज्ञान भगवान् कृष्णचन्द्रके भीतर था । समस्त उपनिषदोंकी सारभूता गीता जिनकी वाणी है, उनके ज्ञानका क्या ठिकाना है ? इतना ज्ञान होनेपर भी और सबके गुरु होनेपर भी जब लौकिक जगत्में आये थे, तब लोकाचार-को पूरा पूरा निबाहना उनका कर्त्तव्य था, क्योंकि—

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः"

श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करते हैं और लोग उनका ही अनुकरण किया करते है । इसलिये संसारमे आदर्श स्थापन करनेके लिये सबके गुरु होनेपर भी गुरु सान्दीपनि मुनिके पास पढ़नेको गये थे और गुरुदक्षिणारूपसे उनके मृत पुत्रको जिला दिया था । इसमें भी दोनों विरुद्ध भावोंका सामञ्जस्य और पूर्णताका लक्षण है । संसारमें अहङ्कार और धृष्टताका लक्षण बहुत बढ़ा हुआ है, मनुष्य सामान्य-शक्ति होनेपर भी वर्णधर्मोंको मिथ्या कहकर कुछसे

कुछ करनेको प्रस्तुत हो जाते हैं। विचार करनेकी वात है कि, श्रीकृष्णमें जितनी शक्ति थी, उतनी शक्ति किस ब्राह्मणमें थी? और इसीलिये ही भीष्म-देवने श्रीकृष्णचन्द्रजीको ही सबसे पहिले यज्ञभाग देनेका प्रस्ताव किया था, परन्तु इतनी शक्ति होनेपर भी वर्णधर्मकी मर्यादाको श्रीकृष्णचन्द्रजीने नहीं तोड़ा था, क्योंकि वर्णधर्म जन्म और कर्मसे किस प्रकार सम्बन्ध रखता है, यह श्रीकृष्णचन्द्र अच्छी तरहसे जानते थे, इसलिये क्षत्रियका शरीर होनेके कारण युधिष्ठिरके यज्ञमें ब्राह्मणोंका सत्कार करनेका कार्य्य उन्होंने लिया था। सर्वशक्तिमान् होनेपर भी इस प्रकार सब ओर विचार रखकर काम करना यही उनके चरित्रमें विरुद्ध भावोंका सामञ्जस्य और पूर्णताका लक्षण है। आजकल तीस तीस रुपये पानेवाले आफिसोंके क्लर्क अपने मरनेके वाद स्त्रीके गुजारेके लिये लाइफइन्शुरेन्स कम्पनीमें रुपया जमा करते हैं। वे स्वय आधे पेट खाकर भी स्त्रीके मोहमें बद्ध होकर इस प्रकार करते हैं। कर्मोंपर दृष्टि नहीं डालते। क्या श्रीकृष्णचन्द्रजी चाहते, तो, अपनी धर्मपत्नियोंके लिये इस संसारमें अपनी लीला समाप्त करनेसे पहिले कुछ रक्षाकी व्यवस्था नहीं कर सकते थे? तीस रुपया पानेवाले क्लर्कमें इतनी शक्ति है, तो, उनमें क्या कुछ शक्तिकी कमी थी? परन्तु श्रीकृष्णजी इस प्रकार सामान्य विषयीकी तरह मोहग्रस्त नहीं थे और न कर्मविज्ञानको भूलकर नियतिपर हाथ डालनेकी इच्छा करते थे, इसलिये उनके अपने धाममें सिधार जानेके वाद अर्जुनकी भी शक्ति नष्ट हो गई और स्त्रियोंकी भी रक्षा नहीं हो सकी। यह भी श्रीकृष्णके दोनों विरुद्ध भावोंका सामञ्जस्य और उनकी पूर्णताका लक्षण है। ससारमें मोहान्ध पुरुषका यह लक्षण है कि, अपने आत्मीयजनोंको छोड़नेके समय उसको वहुत दुःख होता है। जिसके साथ जितना प्रेम हो, उससे पृथक् होनेके समय उतना ही कष्ट होता है। संसारके मोह, काम, प्रेम आदिमे चित्तको वांध लेना जीवका लक्षण है और इनसे निर्लिप्त रहना, प्रेम करनेपर भी उसमें बद्ध न होना एवं मोहादिमें वद्ध होकर अपने कर्त्तव्यको भूल नहीं जाना, यही मुक्त पुरुषका स्वरूप है। यह भाव श्रीकृष्णचन्द्रजीमें पूर्णरूपसे था, क्योंकि गोपियोंका प्रेम जिस प्रकार उनमें था, अक्रूरके ले जाते समय वे सब जिस प्रकार अत्यन्त दुःखके साथ रो रोकर उनके रोकनेका प्रयत्न करती थीं, सामान्य पुरुषकी ऐसी शक्ति नहीं थी कि, इस प्रकारके प्रेमको छोड़कर चला जाय, परन्तु श्रीकृष्णजीको अपनी व्रजलीला समाप्त करके और और

कर्त्तव्यके लिये मथुरा आदि स्थानोंमें जाना था, इसलिये पूर्णज्ञानी श्रीकृष्ण-चन्द्रजीके चित्तपर गोपियोंके प्रेम और प्रार्थनाका कुछ भी प्रभाव न पड़ा और वे उनको छोड़कर चले गये। यह भी भगवान्‌के चरित्रमें दोनों भावोंका सामञ्जस्य है, इस प्रकार निष्पक्ष विचारके साथ जितना ही सोचा जायगा, उतना ही श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके लोकातीत चरित्र और पूर्णताकी महिमा पूर्णरूपसे प्रकट होगी।

गोपी-चरित्र।

गोपियोंके भी चरित्रपर मनन करनेसे अद्भुत रहस्य जान पड़ता है। उनका मधुर भाव और उनका भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण ही उनके प्रति भगवान्‌की कृपाका कारण था। पहिले ही कहा गया है कि, गोपियां कई श्रेणीकी थीं। सभी गोपियोका भगवान्‌के प्रति प्रेम कान्ताभावसे था। भक्तिशास्त्रमें १४ चौदह प्रकारके रस लिखे हैं, उनमें, वीर, करुण, हास्य, वीभत्स आदि सात गौण और दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति आदि सात रस मुख्य हैं। इन सब रसोंके द्वारा प्रेम करनेके विषयमें भक्तिशास्त्रका यह भी सिद्धान्त है किः—

"माहात्म्यज्ञानमपेक्ष्यम्" "तदभावे जारवत्"

कान्तासक्ति हो, अथवा और किसी प्रकारकी आसक्ति हो, सभीमें माहा-त्म्य-ज्ञानपूर्व्वक प्रेम होना चाहिये। ईश्वरमें माहात्म्यबुद्धि न रखकर प्रेम करनेसे वह प्रेम जारसे प्रेम करनेके सदृश होता है। गोपियोंकी श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति प्रेम करनेमें कान्तासक्ति थी, परन्तु बहुतसी गोपियोंको श्रीकृष्णका माहात्म्यज्ञान था। वे गोपियां जानती थी कि, श्रीकृष्णचन्द्र साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं। जैसा भागवतमें कहा है किः—

"प्रेष्ठो भवाँस्तनुभृताङ्किल बन्धुरात्मा"
"न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्"।

आप सकल भूतोंके आत्मा हो, सर्व्वव्यापी अन्तरात्मा भगवान् हो, आदि बहुतसे पहिले कहे हुए श्लोकोंसे गोपियोंका श्रीकृष्णमें ईश्वरज्ञान सिद्ध होता है, इसलिये कान्ताभावसे प्रेम करनेसे माहात्म्यज्ञान रहनेके कारण

गोपियां उन्नत हुई थी। अब प्रश्न यह हो सकता है कि, जब गोपियोंने अपने अपने पतियोंको छोड़कर श्रीकृष्णको ही पति वनाया तो, गोपियां व्यभिचारिणी और पापिनी क्यों नही कहलायँगी? इसका उत्तर यह है कि, यदि गोपियां अपने अपने पतियोंको छोडकर और किसी दूसरे मनुष्यको पति वनाती तो वे अवश्य व्यभिचारिणी और पापिनी कहलाती और उनको नरक होता, परन्तु जब गोपियोंने सकल पतियोंके अन्तरात्मा परमपति भगवान्मे शरीर, मन, प्राण और आत्माको समर्पण किया था, तो, गोपियोंपर व्यभिचारदोष नहीं लग सकता है, क्योंकि, भगवान् ही जब वहुरूप धारण करके समस्त संसारके पति हैं तो:—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन,
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः
प्राणोपहारैश्च यथेन्द्रियाणि,
तथैव सर्व्वाऽर्हणमच्युतेज्या॥

जिस प्रकार वृक्षके मूलमें जल सेचन करनेसे शाखा पत्रादि सबकी तृप्ति हुआ करती है और जिस प्रकार प्राणके तृप्त होनेसे इन्द्रियां भी तुष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार भगवान्की सेवा करनेसे समस्त पति और समस्त संसारकी सेवा हो जाती है। विवाहका उद्देश्य यह है कि, स्त्री पुरुषमें परस्पर-के प्रति प्रेम वढाकर भगवान्के प्रति प्रेमका अभ्यास करना। सच्चा प्रेम भगवान्के साथ ही होता है, क्योंकि, वही प्रेम नित्य है और भगवान् प्रेमके रूप हैं। भगवान्के प्रेममें दुःख नही है, विरह नही है, विषाद नही है, किसी प्रकारका शोक नहीं है और अशान्ति नही है। जीवका हृदय भी इसी नित्य प्रेमके लिये लालायित रहता है। समस्त ससारके जीव इसी परम शान्तिमय प्रेममय भगवान्के चरण कमलको प्राप्त करनेके लिये ही अनन्तकालसे कालचक्र में घूम रहे हैं। संसारकी समस्त अशान्ति और ससारका समस्त चाञ्चल्य इसी निश्चल शान्तिमय परमपदको प्राप्त करनेके लिये है। श्रीभगवान्के साथ यही मिलन यथार्थ मिलन और अध्यात्मिक विवाह है। यही विवाह सकल विवाहोंका लक्ष्य है। इसीलिये ही समस्त संसार घूम रहा है और अनन्त कर्म्मोंका स्रोत वह रहा है। परन्तु भगवान्के निराकार और इन्द्रियोंसे अतीत होनेसे एकाएक भगवान्के साथ प्रेम होना कठिन है, इसलिये ससारमें स्त्री-

पुरुष आपसमें प्रेम करके हृदयमें जो छिपा हुआ प्रेम है उसको जगा करके भगवान्‌के प्रति प्रेमका अभ्यास करते हैं। शरीरके साथ शरीरका सम्बन्ध व मनके साथ मनका सम्बन्ध, यह सभी उसी आध्यात्मिक विवाह अर्थात् भगवान्‌के साथ प्रेम करनेका उपायमात्र है, लक्ष्य आध्यात्मिक विवाह ही है। इसलिये जिसका इस प्रकार आध्यात्मिक विवाह हो गया है; अर्थात् जिसने संसारके प्रेमको तुच्छ समझकर भगवान्‌के साथ जो प्रेम है उसको ही जीवनका एकमात्र लक्ष्य समझ लिया है, उसके जीवनका उद्देश्य पूर्ण हो चुका है, इसलिये उसको संसारकी किसी वस्तुके साथ किसी प्रकारके सम्बन्ध रखने की आवश्यकता नहीं रहती है, क्योंकि भगवान्‌से प्रेम हो जानेपर सर्व कर्त्तव्य पूर्ण हो जाते हैं, फिर उसको किसी बातकी जिम्मेवरी नहीं रहती है। भगवान्‌के प्रति परम प्रेमवती गोपियोंके चित्तका यही भाव था। उनकी जीवनतरणि सच्चिदानन्दसमुद्रमें बह गई थी। उनके सब कर्त्तव्य भगवान्‌के चरण कमलोंमें विलीन हो गये थे। उनका सब विवाह आध्यात्मिक विवाह में जाकर लय हो गया था, क्योंकि, वे श्रीकृष्णचन्द्रको परमपति परमात्मा जानकर उनमें ही शरीर, मन और प्राणको समर्पण कर चुकी थीं। समस्त धर्म्मोंको त्याग करके धर्म्मरूप शाश्वत भगवान्‌में आत्माको अर्पण कर चुकी थी। इसलिये इस प्रकारकी कान्तासक्तिमें कोई पाप या व्यभिचार नहीं था। श्रीभगवान्‌ने श्रीगीतामें कहा है कि:—

ये तु सर्व्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ! मय्यावेशितचेतसाम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
सर्व्वधर्म्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहन्त्वां सर्व्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

जो भक्त मेरेमें ही समस्त कर्म्मोंको अर्पण करके मेरेमें चित्तको रखकर अनन्य योगके साथ मेरी उपासना करेंगे उनका मैं शीघ्र ही संसार-समुद्रसे

उद्धार करूँगा। हे अर्जुन! तुम मेरेमें चित्त रखो, मेरे भक्त बन जाओ, मेरी ही पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो, इससे तुम निश्चय ही मुझे प्राप्त करोगे। समस्त धर्म्मोंको त्याग करके केवल मेरी ही शरण लो, धर्म्मत्याग करनेसे जो कुछ पाप होगा उससे तुम्हें मै ही उद्धार करूगा। गोपियोंने भी इसी प्रकार भगवान्के प्रति आत्मसमर्पण करके सांसारिक स्त्रीधर्म्मको त्याग दिया था और आत्मसमर्पण करनेके कारण धर्म्मत्याग करनेसे जो कुछ पाप हुआ था, भगवान्ने उनका उससे उद्धार किया था। यही गोपियोंके प्रेमका रहस्य है। गोपियोंके प्रेमके रहस्यके विषयमें अधिक क्या कहा जाय। गोपियां वेद वेदान्त नही पढ़ी हुई थी, परन्तु केवल भक्तिके द्वारा ही भगवान्को उन्होंने अपने वशमें कर लिया था, क्योंकि, भगवान्ने कहा है कि:—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाऽहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियश्चाऽऽत्यन्तिकीं ब्रह्मन्! येषां गतिरहं परा॥
मयि निवद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः।
वशे कुर्व्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥

मै भक्तोंका अधीन हूँ, मेरी स्वतन्त्रता भक्तोंके सामने नही है, साधुओंके पास मेरा हृदय बँधा हुआ है, साधुओंके विना मै अपनी आत्मा और श्रीको नही चाहता हूं, मै साधुओंका परम गतिस्वरूप हूं, मुझमें चित्तको बांधकर समदर्शी साधुलोग जिस प्रकार सती स्त्री पतिको वशमे करती है उसी प्रकार मुझको भी वशमें कर लेते हैं। गोपियोंका भी भगवान्के प्रति प्रेम ऐसा ही था, यथा:—

वाणी गुणाऽनुकथने श्रवणौ कथायाम्,
हस्तौ च कर्म्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे,
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥

गोपियोंकी वाणी भगवान्के गुणगानके लिये थी, उनके कर्ण भगवान्के मधुर गुणगान सुननेके लिये थे, उनके हाथ भगवान्के कार्य्य करनेके लिये थे

उनका चित्त भगवान्‌के चरणकमलोंके ध्यान करनेके लिये था, उनका मस्तक भगवान्‌की मूर्त्ति और तीर्थोंमे प्रणामके लिये था, उनकी दृष्टि भगवद्भक्तोंके दर्शनके लिये थी । इस प्रकार शरीर, मन और प्राणसे गोपियां भगवान्‌के प्रति प्रेम करती थी, इसलिये ही भगवान्‌ने उनपर इतनी कृपा की थी और अपने मुखसे उद्धवको व्रजमे भेजते समय उनके प्रेमका वर्णन किया था, यथा— भागवतमें :—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदेहिकाः ।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः ॥
ये त्यक्तलोकधर्म्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम् ।
मयि ताः प्रेयसाम्प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ॥
स्मरन्त्योऽङ्ग ! विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ।
धारयन्त्यपि कृच्छ्रेण प्रायः प्राणान्कथञ्चन ॥

गोपियाँ मुझमें मन व प्राणको समर्पण किये हुई है, मेरे ही लिये उन्होंने पति पुत्रौको त्याग कर दिया है, उनका स्थूल शरीर व्रजमें रहने पर भी उनके चित्त आत्मास्वरूप मेरेमें ही लवलीन रहते हैं, उन्होंने मेरे ही लिये लोकधर्म्मको त्याग कर दिया है इसलिये उनकी रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है, मैं दूर पर हूँ इसलिये मेरे प्रति प्रेमवती गोपियां मेरे विरहमें बहुत ही दुःखको पा रही हैं और "मै फिर लौटकर आऊगा" इसी आशासे ही अत्यन्त कष्टके साथ किसी भी प्रकारसे प्राणोंको धारण कर रही है। यही भगवान्‌के प्रति गोपियोंका प्रेम था, जिसको भगवान्‌ने उद्धवके सामने अपने मुखसे प्रकट किया था।

श्रीमद्भागवतमें रासलीलाके वर्णनमें जितने श्लोक लिखे गये हैं, उनमें सभी स्थानोंपर श्रीकृष्णजीके लिये योगेश्वर, मन्मथमन्मथ, आत्माराम, आदि विशेषण होनेपर भी गोपियौंके प्रेमके विषयमें कही कही ऐसे वर्णन मिलते है कि जिससे गोपियोंमें कामादिभावोंकी प्रतीति होती है । कामकी दशा शरीर और मनपर कहांतक अधिकार जमा सकती है और किस दशा पर पहुंचनेसे जीव कामसे अतीत हो सकता है इसके तत्त्वको न जानकर श्रीमद्भागवतके उन सब श्लोकोंके आश्रयसे गोपियोंके भावपर बहुत प्रकारकी शङ्काएं हुआ करती हैं, इसलिये गोपियोंके भावौका वर्णन करके शङ्का समाधान किया जाता है।

यह बात भागवतमें लिखी है, कि, दो प्रकारकी गोपियाँ थीं। एक प्रकारकी ऐसी थीं कि, जिनको उनके पतियोंने रासलीलाकी रातमें श्रीकृष्णजीके पास जाने नही दिया था और इसी दुःखसे उन्होंने उसी समय प्राण त्याग दिया था। इन गोपियोंके लिये भागवतमें कहा है कि:—

अन्तर्गृहगताः काश्चिद्गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताऽशुभाः।
ध्यानप्राप्ताऽच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्याऽपि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥

कोई कोई गोपियां जिनके पतियोंने श्रीकृष्णचन्द्रजीके पास उनको जाने नही दिया, घरके भीतर जाकर आँखें बन्दकरके श्रीकृष्णका ही ध्यान करने लग गईं, इस दशामें उनकी मुक्तिके लिये जो शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके कर्म्मोंका क्षय होना चाहिये था, सो होगया, क्योंकि, प्रियतम भगवान्‌के विरहमें उनको जो अत्यन्त कष्ट हुआ उससे उनका समस्त अशुभ कर्म्म क्षय होगया और ध्यानके द्वारा परमात्माके साथ मानसिक रूपसे उन्होंने जो सम्बन्धजनित परम सुख भोग किया उससे उनका शुभकर्म्मका बन्धन भी टूटगया, इस प्रकार शुभ अशुभ दोनों प्रकारके कर्म्मोंके क्षय होनेसे मुक्तबन्धन होकर उन गोपियोंने गुणमय देहको उसी समय त्यागकरके मुक्तिपदको प्राप्त कर लिया। भगवद्भावसे सम्बन्धयुक्त गोपियोंके ये सयोग वियोगरूपी दोनो भाव होनेके कारण तज्जनित सुख और दुःख भी असाधारण था इसमें सन्देह ही क्या है? अतः कर्म्मबन्धनसे छूटकर मुक्त होना भी स्वतःसिद्ध है। इन गोपियोंका भगवान्‌के प्रति परमात्माका ज्ञान नही था, तौ भी, जब भगवान् के संगसे इनकी मुक्ति हो गई थी, तो, जो गोपियाँ घरसे निकलकर भगवान् के पास चली गई थी और भगवान्‌के प्रति जिनका माहात्म्यज्ञान अर्थात् परमात्मभाव था उनकी मुक्तिके विषयमें सन्देह क्या हो सकता है? अब बात इतनी ही समझने की है कि, गोपियां दो प्रकार की थी। पहिली श्रेणीकी गोपियोंका भगवान्‌के प्रति केवल पतिका भाव था, ब्रह्मका भाव नही था और दूसरी गोपियोंका भगवान्‌के प्रति

पतिभाव था और ब्रह्मभाव भी था एवं दोनो प्रकारकी गोपियोंमें ही कामभाव था। इन दोनों विषयोंमें ही महाराजा परीक्षित्‌ने श्रीमद्भागवतमें सन्देह किया है कि, श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति ब्रह्मभाव न रहनेपर भी और कामभाव रहने परभी सब गोपियोंकी मुक्ति कैसे हो गई थी, यथा–भागवतमें:—

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने!
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्॥

जिन गोपियौंकी मुक्ति घरहीमें ध्यानके द्वारा होगई थी उनमें श्रीकृष्णजीके प्रति ब्रह्मभावना न होनेपर भी उनको ऐसी गति कैसे प्राप्त होगई? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीशुकदेवजीने कहा है कि:—

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताऽधोक्षजप्रियाः॥
नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप!
अव्ययस्याऽप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
न चैवं विस्मयः कार्य्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते॥

जब भगवान्‌के प्रति द्वेष करनेपर भी शिशुपाल आदिकोंको सिद्धिलाभ हुआ था तो, भगवान्‌के प्रति शरीर व मनके साथ प्रेम करनेवाली गोपियोंको सिद्धिप्राप्ति क्यों न होगी, क्योंकि, अव्यय निर्गुण परमात्माका संसारमें प्रकट होना केवल मनुष्योंको मुक्ति देने के लिये ही है। जिसप्रकार अमृतको कोई जानकर पीवे या न जानकर भी पीवे तो उससे अमरत्वप्राप्ति होती है, उसी प्रकार भगवान्‌के स्वरूपको जानकर या न जानकर भी यदि मनुष्यका प्रेम भगवान्‌के प्रति हो तो सर्व्वशक्तिमान् भगवान् की शक्तिसे जीवके समस्त विषयभाव नष्ट होकर अन्तमें मुक्ति प्राप्त होती है। भगवान्‌के प्रति काम हो या क्रोध, भय हो या स्नेह हो, ऐक्य हो या मैत्री हो; अर्थात् किसी भी भावसे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध हो तो, उसी भावको लेकर नित्य भगवान्‌का चिन्तन करते करते जीव तन्मय हो जाते हैं। शास्त्रोंमें कहा है कि:—

सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया।
कीटको भ्रमरं ध्यायन्भ्रमरत्वाय कल्पते ॥

जैसे एक प्रकारका कीट जिसको तैलपायी (तिलचट्टा) कहते हैं, वह भ्रमरकीट (कुम्हार) से पकडे जानेपर डरसे उसीकी ही चिन्ता करता करता भ्रमरकीट वन जाया करता है, उसी प्रकार चाहे किसी भावसे हो भगवान्का ध्यान करते करते जीव भगवान्में तन्मय होकर अन्तमें मुक्तिपद्को प्राप्त करते हैं। इसी प्रकारसे शिशुपाल आदिको सिद्धि मिली थी और इसी प्रकारसे गोपियोंको भी मुक्ति मिली थी। यद्यपि भागवत के वर्णनसे प्रतीत होता है कि, गोपियां स्थूल शरीरके साथ भी भगवान्से मिलना चाहती थी अर्थात् उनमें स्थूल शरीरके सुखकी इच्छा थी परन्तु वह इच्छा तभीतक सम्भव है जवतक मनके साथ सम्वन्ध इन्द्रियौं और स्थूल शरीरका रहे, क्योंकि, स्थूल शरीरका भोग तभीतक सम्भव हो सकता है। मन ही इन्द्रियौं और स्थूल शरीरसे मिलकर स्थूल शरीरके भोगोंको अनुभव करता है, इसलिये जिनका मन जिस समय स्थूल शरीर और इन्द्रियों से पृथक् होकर और किसी ऊँची वस्तुमें तन्मय हो जाय, उनके लिये उस समय स्थूल शरीरका भोग या उस भोगकी चिन्ता कुछ भी नही रह सकती है, क्योंकि, तन्मय हो जाने से मन शरीरसे पृथक् हो जाता है। गोपियोंकी दशा ठीक इसी प्रकारकी थी। पूर्व्वजन्मकी वासना प्रवल होनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णको देखतेही पहिले पहिले गोपियोंके चित्तमें भले ही भगवान्के साथ स्थूल शरीरसे मिलने की इच्छा हो जाय, परन्तु भगवान् तो श्रीकृष्ण थे, समस्त ससारके आकर्षण करनेवाले थे, काम क्रोध आदि समस्त इन्द्रियवृत्तियों को खींचकर अपनेमें लय करनेवाले थे, इसलिये गोपियोंके चित्तमें पहिले पहिले कुछ कामभाव रहनेपर भी सर्व्वशक्तिमान् सकल रसके आधार सकल वृत्तियोंको अपनेमें लय करने वाले भगवान्में इस भावसे चित्तको डालते ही, जिस प्रकार नदी समुद्रमें लय होकर अपनेको भूल जाती है, उसी प्रकार सच्चिदानन्द समुद्र भगवान् श्रीकृष्णमें गोपियोंकी चित्तरूपी नदी मिलकर तन्मय हो जाया करती थी, अर्थात् भगवान्की शक्तिसे मुग्ध होकर उन्हींमें ही मन और प्राणको समर्पणकर गोपियां जव तन्मय हो जाया करती थी, उस समय गोपियोंका पहिला भाव छूट जाया करता था, क्योंकि, जव चित्त शरीर और इन्द्रियोंसे पृथक् होकर

भगवान्में लय हो जाय तो स्थूल शरीरके भोगका ध्यान नहीं रह सकता है, यही दशा गोपियोंकी थी । और इसी भावमें गोपियां अपने मन और प्राणको भगवान्में तन्मय कर दिया करती थी, जिससे उनका समस्त कामभाव नष्ट होकर अन्तमे उन्हें मुक्तिपद प्राप्त होगया था। इस प्रकार विषयभाव छूटकर विषयोंसे अतीत तन्मयभाव आना और उन्नति होना सामान्य मनुष्यके साथ प्रेममे कदापि सम्भव नहीं हो सकता है, क्योंकि, सामान्य मनुष्यके विषयी और प्रकृतिके अधीन होनेके कारण अपनेमें प्रकृतिको लय करनेकी शक्ति उसमें नही हो सकती है । यह शक्ति समस्त संसारको आकर्षण करनेवाले भगवान्में ही हो सकती है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र पूर्णावतार होनेके कारण ऐसे ही सर्व्वशक्तिमान् थे, इसलिये गोपियां उनके चरणकमलका आश्रय करके संसार-समुद्रसे पार होगई थीं। गोपियोंकी भगवान् श्रीकृष्णमें तन्मयताके विषयमें भागवतमें कहा गया है कि:—

ता माऽविदन्मय्यनुषङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये,
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥

जिस प्रकार मुनिगण समाधिदशामें या नदी समुद्रमें लय होनेसे नामरूपमय द्वैतभाव नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार गोपियां मुझमें चित्तको प्रेमके साथ ऐसा लय कर देती थीं कि, उनमें अत्यन्त तन्मयताके कारण द्वैत-भाव नहीं रहता था। वे अपनेको पूर्ण रूपसे भूल जाती थी । इस प्रकारकी दशामें स्थूल शरीरका भाव नही रहता है, इसलिये कामभाव भी पूर्णरूपसे नष्ट हो जाता है। इस प्रकारसे गोपियां शरीर, मन और प्राणसे भगवान्में प्रीति करके मुक्त हो गई थी । इसको एक दृष्टान्तके द्वारा समझाया जाता है। यदि तख्ते और लोहेकी कीलोंसे बनी हुई किसी नावको ऐसे एक समुद्रमें बहा दिया जाय कि, जिसके एक तटपर एक बड़ा भारी चुम्बकका पहाड़ हो, तो वह नाव समुद्रमें बहती हुई जब चुम्बकके पहाड़के पास आ जायगी, उस समय चुम्बककी आकर्षणशक्तिसे समस्त कीलें नावसे खुलकर पहाड़में जाकर लग जायंगी और वह नाव खण्ड खण्ड होकर समुद्रमें डूब जायगी । ठीक उसी प्रकार गोपियोंकी अपनी शरीररूपी नाव, जो कि काम, मोह, अभिमान,

अहङ्कार आदि कीलोंसे बनी हुई थी, उसको उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके प्रेमसमुद्रमें बहा दिया था, उसी प्रेमसमुद्रके किनारेपर चुम्बकके पहाड़रूपी समस्त संसारको आकर्षण करनेवाले श्रीकृष्णजी थे, इसलिये जिस समय गोपियां अपने अपने शरीररूपी नावको प्रेमसमुद्रमें बहाती हुई श्रीकृष्णके पास आ जाया करती थी, तो उनकी आकर्षणशक्तिसे उनके शरीररूपी नावकी कामकी कील, मोहकी कील, अभिमानकी कील, अहङ्कारकी कील सब एक बार ही निकलकर श्रीकृष्णमें जाकर लय हो जाया करती थी और गोपियां शरीरका सुखभोग, अहङ्कार, मोह आदि सब कुछ भूलकर श्रीकृष्णमें तन्मय हो जाती थीं। उनका शरीर प्रेमसमुद्रमें विलीन हो जाता था और उनका द्वैतभाव पूर्णतया नष्ट हो जाता था। यही गोपियोंके प्रेमका रहस्य है, जिससे सब प्रकारके भावोंके भीतरसे भी उनकी मुक्ति हो गई थी। यही श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके अलौकिक चरित्र तथा गोपीचरित्रका गूढ़ रहस्य है।

ब्रह्म-ईश्वर-जीव-माया-तत्त्व ।

पूर्ववर्त्ती चार प्रबन्धोंमें उपासनाकाण्डके अन्तर्गत विविध विषयोंका वर्णन करके अब आगेके पांच प्रबन्धोंमें ज्ञानकाण्डके अनेक विषयोंका वर्णन किया जाता है। ज्ञानरूप तथा निखिलज्ञानका लक्ष्य परमात्मा ही है, अतः प्रथम प्रबन्धमें ब्रह्म, ईश्वर, जीव रूपी परमात्माके विविध भावोंपर विवेचन किया जाता है। प्रबल कलिके प्रतापसे मनुष्योंके अन्तःकरण पर अज्ञानकी घनघोर घटा आच्छन्न हो गई है। इस कारण आजकल प्रायः मनुष्य परमात्माके अस्तित्वके स्वीकार करनेमें ही बहुधा सकोच करते है और भौतिक सायन्सका आश्रय लेकर जगत्की उत्पत्ति आदि को केवल जड़ प्रकृतिका परिणाम ही कहकर टाल दिया करते है। पश्चिम सोभियेट रूस (Soviet Russia) वालो ने तो ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें वोट लेकर कम वोटके कारण ईश्वरका इनकार ही कर डाला है और ईश्वर के उपासना स्थान तथा उपासक दलकी दुर्दशा ही कर रक्खी है। इस देशमे भी पश्चिमीय धूम्रकेतुकी छाया कुछ न कुछ पड़ने लग गई है, जिस कारण नास्तिक सोभियेट दल अब इधर भी जहां तहां देखनेमें आरहे हैं। अतः इस प्रबन्धमे इन सब नास्तिकवादोंका निराकरण करके परमात्माके विविध भावौका शास्त्रसङ्गत वर्णन किया जायगा।

भौतिक सायन्सकी पहुंच कहां तक है और सायन्सज्ञानकी ही पूर्णतामें ईश्वरसत्ताका अनुमान हो सकता है कि नहीं, इस विषयमें लार्ड केल्भिन आदि विज्ञ वैज्ञानिकोंने बहुत कुछ प्रकाश डाला है, यथा:—

Many indeed invoke the name of science to discredit religion! Lord Kelvin,—one of the greatest men of modern science,—said —"Science positively affirms Creative Power. We are absolutely forced by science to believe with perfect confidence in a Directive Power, in an Influence other than physical or dynamical or electrical forces. If you think strongly enough you will be forced by science to the belief in God which is the foundation of all religion,—you will find it not antagonistic but helpful to religion. I believe that the more thoroughly science is studied, the further does it take us from anything comparable to atheism. "I have heard some say Evolution accounts for it all! But evolution but names a process, and far from denying would seem rather to declare a Power within the process Prakriti masks but also reveals the Purusha. Sir Oliver Lodge rightly observes·—"Evolution itself is a revelation full of hopefulness." Evolution discloses law, order, regularity, rationality. Evolution points to a mind that broods and builds Lichig, the great Chemist, said:—"Grass and flowers grow by a mere chemical forces no more than I believe a book on Botany could grow by mere chemical forces They both need a designing and directing Power'

(T. L Vaswani—A. B. Patrika)

सायन्सके नामसे बहुत लोग धर्म पर अविश्वास करते हैं। आधुनिक विज्ञानजगत्‌के प्रसिद्ध पुरुष लार्ड केलभिन कहते है—"सायन्सके द्वारा निश्चित रूपसे प्रमाणित होता है कि, विश्वजगत्‌का कोई कर्त्ता है। निखिल विश्व-रचना-

के मूलमें कोई नियामक तथा सञ्चालक शक्ति है जो स्थूल तथा विद्युत् शक्तिसे परे है। सायन्सके द्वारा ही पूर्ण विश्वासके साथ हम इस तत्त्वके माननेको वाध्य होते हैं। गंभीर चिन्ता करने पर सायन्सके द्वारा ही यह विश्वास उत्पन्न हो जाताहै कि, समस्त दृश्यके मूलमें परमात्मा है और इस दशामें सायन्स धर्मका विरोध न करके उसकी सहायता ही करता है। मेरा यह विश्वास है, कि, सायन्स-का यथार्थ ज्ञान जितना वढ़ेगा, नास्तिकताके वदले आस्तिकता ही उतनी अधिक वढ़ेगी। वहुत लोग विकाशवादसे ही सव कुछ होता है, ईश्वरकी आवश्यकता नही, ऐसा कहते हैं, किन्तु विकाश या क्रमाभिव्यक्ति एक प्राकृतिक क्रियामात्र है और इस क्रियाके मूलमें क्रियाका कर्त्ता चेतन सञ्चालक शक्ति है, यह सिद्धान्त उस विकाशवादके द्वारा ही स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है।" सर आलिभर लजने ठीक ही कहा है कि, "क्रमविकाशके भीतर ही आत्मतत्त्वविकाशका पूर्णतत्त्व भरा हुआ है। क्रमविकाशका तात्पर्य ही यह है कि, उसके मूलमें कोई चेतन नियामक सत्ता है जो नियमितरूपसे अपनी चेतनशक्तिकी सहायता देकर सृष्टिका क्रमविकाश कराती रहती है।" प्रसिद्ध रसायन शास्त्रवित् लीविग साहव कहते है—"घास तथा फूल केवल जड़ रासायनिक शक्तिद्वारा ही उत्पन्न होते हैं ऐसा कहना उतना ही सत्य है, जितना कि विना किसीके वनाये केवल जड़शक्तिद्वारा उद्भिद्शास्त्रका कोई ग्रन्थ वन जाना सत्य है। इन दोनों ही के लिये कोई चेतन रचयिता और नियामक अवश्य ही होना चाहिये, केवल जड़ शक्तिद्वारा सृष्टि उत्पन्न नहीं हो सकती है।" अव इस चेतन रचयिताके विषयमें आर्यशास्त्रका सिद्धान्त नीचे क्रमशः वताया जाता है।

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यस्तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"।

आत्माका दर्शन करना चाहिये, उनके विषयमें श्रवण, मनन और निदि-ध्यासन करना चाहिये, आत्माके जाननेसे ही जीव मृत्युको अतिक्रम करके निः-श्रेयस पदवीपर, प्रतिष्ठा लाभ करता है, घोरसंसारसिन्धुसे पार होनेके लिये आत्मदर्शनके विना और कोई भी उपाय नही है। इस प्रकारसे भगवती श्रुतिने गम्भीरभावसे आत्मदर्शनकी परमावश्यकताका उपदेश किया है। श्रीभगवान् मनुजीने कहा है:—

सर्वेषामपि चैकेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
प्राप्यैतत् कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा॥
यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान्॥

समस्त धर्मोंसे आत्मज्ञान ही श्रेष्ठ धर्म है; क्योंकि, इसीको प्राप्त करके द्विजगण कृतकृत्य होते हैं। अन्यथा नहीं। अन्यान्य समस्त कर्मोंको भी परित्याग करके ब्राह्मणको आत्मज्ञान, शम और वेदाभ्यासके लिये यत्नवान् होना चाहिये। महर्षि याज्ञवल्क्यजीने कहा है:—

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्॥

यागयज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय आदि धर्म कर्मोंमेंसे योग-द्वारा आत्मदर्शन करना ही परम धर्मकार्य है। सामवेदीय तलवकारोप-निषद्में लिखा है:—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माँल्लोकादमृता भवन्ति॥

यदि इस संसारमें आकर आत्माका साक्षात्कार लाभ हुआ तभी मनुष्य-जन्म सार्थक है; अन्यथा जीवको जननमरणचक्रमें बहुत ही कष्ट उठाना पड़ेगा। इसलिये धीर योगिगण सर्वत्र आत्माकी अद्वितीय सत्ताको उपलब्ध करके दृश्यप्रपञ्चसे अतीत होकर अमृतत्व लाभ करते हैं। श्रीभगवान् शंकराचार्यने कहा है:—

लब्ध्वा कथञ्चिन्नरजन्म दुर्लभं
तत्रापि पुँस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
यः स्वात्ममुक्त्यै न यतेत मूढधीः
स आत्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्॥

अनेक कष्टसे दुर्लभ मनुष्यजन्म और उसमें भी पुरुषशरीर तथा वेद-विद्याको प्राप्त करके जो मूढ़बुद्धि मानव आत्माके उद्धारके लिये प्रयत्न नहीं करता है वह आत्मघाती है। नीतिशास्त्रकारोंने कहा है:—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

कुलकी रक्षाके लिये एकको, ग्रामके लिये कुलको, देशके लिये ग्रामको और आत्माके लिये पृथिवीको त्याग करें। क्योंकि, श्रुतिमें कहा है:—

'तदेतत् प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मा
दन्तरतरो यदयमात्मा'।

हृदयविहारी आत्मा, पुत्र, धन, जन और संसारके समस्त वस्तुओंसे प्रिय है। इसीलिये श्रीभगवान्ने गीताजीमें आत्माके उद्धारके लिये आज्ञा की है, यथा:—

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्"

मनुष्यजन्मको पाकर आत्माका उद्धार करना चाहिये, उसे कभी दीन-दशामें रखना उचित नहीं है।

वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंमें आत्मा, जीव तथा प्रकृतिके विषयमें अनेक प्रकार मतभेद पाये जाते हैं और इन्हीं मतभेदोंके अवलम्बनसे पृथक् पृथक् सम्प्रदाय तथा पन्थोंका विस्तार हुआ है। किन्तु निरपेक्ष ज्ञानकी सहायतासे विचार करनेपर यही सिद्धान्त निश्चय होगा कि, यह सब मतभेद वास्तविक नहीं है, केवल ज्ञानभूमि तथा आत्माकी अनुभूतिके अवस्थाभेदके अनुसार ही ऐसे मतभेद प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार एक ही सूर्यका फोटो पृथिवीसे लेनेपर थालीसा दीखेगा, किन्तु लाखों मील ऊपर जाकर ले सकनेपर और ही तरह मालूम पड़ेगा, ठीक ऐसा ही एक ही आत्मा भिन्न भिन्न ज्ञानभूमिसे भिन्न प्रकार प्रतीत होता है। और इसी तरह सम्प्रदाय भी अनेक बन गये हैं। अब नीचे परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृतिके विषयमें संक्षेपसे कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

वेदमें परमात्माको सत्, चित् और आनन्दरूप कहा गया है, यथा:—

"सच्चिदानन्दरूपं परं ब्रह्म"

"सर्वपूर्णस्वरूपोऽस्मि सच्चिदानन्दलक्षणः"

परब्रह्म सत्, चित् और आनन्दमय है। सत्, चित् और आनन्दलक्षण परमात्मा सर्वतः पूर्णस्वरूप है। और भी:—

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"

"सदेव सौम्येदमग्र आसीत्"

"आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्"

"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"

"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन"

ब्रह्म सत्स्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्त हैं। सृष्टिके पहिले सद्रूप ब्रह्म एकाकी थे। ब्रह्म आनन्दरूप और ज्ञानरूप है। उनके आनन्दरूपका परिज्ञान होनेपर सब प्रकारका भय नष्ट होता है। स्मृतिमें भी लिखा है—

सत्ता चितिः सुखञ्चेति स्वभावा ब्रह्मणस्त्रयः।
मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते नेतरद्वयम् ॥

सत्, चित् और आनन्द ब्रह्मके ये तीन स्वभाव हैं। उनमेंसे मृत्तिका और प्रस्तरादि अचेतन पदार्थमें केवल सत्तामात्रका ही विकाश रहता है, चित्भाव और आनन्दभावका विकाश नहीं रहता है। और भी स्मृतिमें लिखा है—

अस्ति भाति प्रियं नाम रूपञ्चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥

सत्, चित् आनन्द, नाम और रूप ये पांच वस्तुएँ हैं। इनमेंसे प्रथम तीन ब्रह्मके रूप अन्य दो जगत्के रूप है। और भी विष्णुपुराणमें—

"ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येके सर्वसंस्थितौ"

विश्वाधार परमात्मामें ह्लादिनी अर्थात् आनन्दसत्ता, सन्धिनी अर्थात् सत्सत्ता और संवित् अर्थात् चित्सत्ता स्थित है। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें परमात्माको सत्, चित् और आनन्दरूप कहा गया है। अब नीचे इन तीनों रूपोंका विशेष वर्णन किया जाता है।

प्रत्येक परिणामशील वस्तुकी सत्ता आपेक्षिक होती है, निर्विशेष नहीं होती है अर्थात् प्रत्येक परिणामी वस्तु अपनेसे अपेक्षाकृत कम परिणामी वस्तुके साथ तुलनामें परिणामी होती है, यही परिणामशील वस्तुकी आपेक्षिक सत्ता है। इस प्रकारसे विचारका सूत्र अवलम्बन करके प्रत्येक वस्तुकी

आपेक्षिक सत्ताका पता लगाने पर यही सिद्धान्त निकलेगा कि सबके अन्तमें सबके मूलकारणरूप ऐसी एक आपेक्षिकताविहीन निर्विशेष मूलसत्ता विद्यमान है जो नित्य, पूर्ण, अजर, अमर और परिणामहीन है और जिसके ऊपर समस्त परिणामशील, अनित्य, अपूर्ण और देशकालपरिच्छिन्न सत्ताकी स्थिति निर्भर करती है। वही परिणामहीन सर्वतः पूर्ण, नित्य सत्ता सच्चिदानन्दमय ब्रह्म है। उन्हींकी परिणामहीन सत्सत्ता पर निखिल प्रपञ्चकी परिणामशील आपेक्षिक सत्ता निर्भर करती है। उन्हींकी परिणामहीन स्वप्रकाशशील चित्सत्ता पर निखिल प्रपञ्चमें प्रतिभासित विविधविलासमयी ज्ञानसत्ता निर्भर करती है और उन्हींकी परिणामहीन विभुतापूर्ण, सुख-दुःख-द्वन्द्वरहित आनन्दसत्ता पर आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त प्रत्येक जीव हृदयमें कर्मके मूलकारणरूप, परिणामशील, वियोगदुःखपूर्ण सुखसत्ताकी विविधविलासकला प्रत्यक्ष हो रही है। इस प्रकारसे अपरिणामी, पूर्ण और नित्य परमात्माकी सत्, चित् और आनन्द-सत्ताके ऊपर दृश्य प्रपञ्चकी आपेक्षिक तथा परिणामी सत्सत्ता, ज्ञानसत्ता और आनन्दसत्ता निर्भर करती है, परन्तु उनकी सच्चिदानन्दसत्ताके विकाशके लिये किसी अन्य सत्ताकी अपेक्षा नहीं रहती है, यथा केनोपनिषद्में—

यद्वाचा नाभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

(इत्यादि)

जिसका स्वरूप वचनके द्वारा प्रकट नहीं हो सकता है, परन्तु जिसके कारण ही वाक्शक्तिकी स्फूर्ति होती है, स्वरूपलक्षणवेद्य वही परमपुरुष ब्रह्म है जिसका स्वरूप मनका गोचर नहीं है, परन्तु जिसके कारण ही मनमें मनन-शक्ति उत्पन्न होती है, स्वरूपलक्षणवेद्य वही परमपुरुष ब्रह्म है। और भी कठोपनिषद्में :—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

परमात्माके स्वरूप प्रकाशके लिये वहांपर सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र या विद्युत् किसीकी ज्योति नहीं है, प्रत्युत उन्हींकी ज्योतिके द्वारा सूर्य, चन्द्र आदिमें ज्योति आती है और उसीसे संसार आलोकित होता है ।

"स यथा सैन्धवघनो अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरे अयमात्मा अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव ।"

जिस प्रकार सैन्धवखण्ड भीतर बाहर सर्वत्र ही लवणमय है उसी प्रकार आत्मा भी भीतर बाहर सर्वत्र ज्ञानमय है । उसीकी चित्सत्ताका आध्यात्मिक विलास ज्ञानरूपसे वेदके द्वारा, अधिदैव विलास शक्तिरूपसे सूर्यात्माके द्वारा और अधिभूत विलास स्थूल ज्योतिरूपसे सूर्यगोलक, अग्नि तथा अन्यान्य ज्योतिष्कगणके द्वारा दृश्यसंसारमें विलसित है । श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें कहा है:—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥
यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

परमात्माका वह परमपद जहांसे साधकको संसारमें पुनरावृत्ति नहीं प्राप्त होती है, सूर्य चन्द्र या अग्निकी सहायतासे भासमान नहीं होता है, क्योंकि वह स्वयंप्रकाश और समस्त प्रकाशका आकररूप है । सूर्यका जो प्रचण्ड तेज समस्त विश्वको प्रकाशित करता है, जो तेज चन्द्र और अग्निमें विद्यमान है वह सभी तेज परब्रह्म परमात्माका है । बृहदारण्यकोपनिषद्में लिखा है:—

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते
शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किं ज्योतिरेवायं पुरुष
इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीति ।

सूर्य और चन्द्रके अस्त हो जानेपर अग्निकी ज्योतिसे कार्य्य हो सकता है । अग्निके भी शान्त हो जानेपर वाक्यकी ज्योतिसे दिङ्‌निर्णय हो सकता है । परन्तु गम्भीर रजनीमें स्वप्नदर्शनके समय सूर्य्य, चन्द्र, अग्नि अथवा किसीकी भी ज्योति न होनेपर भी जीव जो इस देशसे उस देशमें जाता रहता है और

विचित्र स्वप्ननगरीकी शोभाको देखता रहता है, उसमें केवल हृदयगुहामें भासमान आत्माकी ही ज्योति कार्यकारिणी होती है, अन्य कोई भी ज्योति नहीं। अतः जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति दशामें आत्मज्योति ही सर्वथा जीवका एकमात्र अवलम्बन है, इसमें सन्देह नहीं। श्रीभगवान्‌की यही स्वयप्रकाश गुणातीत तथा देशकाल और वस्तुके द्वारा अपरिच्छिन्न सत्, चित् और आनन्दसत्ता अघटनघटनापटीयसी त्रिगुणमयी मायाके द्वारा विविध परिच्छिन्न और परिणामी रूपमें समस्त दृश्य ससारमे परिव्याप्त है। उनकी अद्वितीय सत्सत्ता ही मायाके द्वारा नाना जीवसत्ता तथा जगत्सत्तारूपमें भासमान है, यथा श्रुतिमें :—

"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"
"अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥"

एकरूप परमात्मा मायाके द्वारा बहुरूप धारण करके संसारके दृश्यमान समस्त रूपोंमें विभक्त होते हैं। जिस प्रकार एक अग्नि संसारमें प्रकट होकर अनेक रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार परमात्मा मायाके द्वारा अपनी अद्वितीय सत्सत्ताको विश्वप्रपञ्चके अनन्त सत्तारूपमें विभक्त कर देते हैं। इसी प्रकारसे परमात्माकी सत्सत्ताके द्वारा अनन्त जीवसत्ताका विस्तार होता है। उनकी चित्सत्ता त्रिगुणमयी मायाके द्वारा विविधज्ञानरूपमें विश्वब्रह्माण्डमें विलसित है। मायाकी सत्त्वगुणमयी, विद्याभावपर प्रतिबिम्बित वही चित्सत्ता आध्यात्मिक ज्ञानरूपमें मुमुक्षुजनोंके हृदयाकाशमे प्रकाशित होकर उनको निःश्रेयसपदवीपर प्रतिष्ठित कर देती है। मायाकी रजोगुणमयी परिणामिनी स्थितिपर वही चित्सत्ता प्रतिबिम्बित होकर विविध शिल्पकला, विज्ञान आदि शास्त्ररूपसे अपनी अपूर्व छटाका विस्तार किया करती है। मायाकी तमोगुणमयी अविद्याविलसित भूमिपर वही चित्सत्ता प्रतिफलित होकर विविध तामसिक ज्ञानरूपमे जगत्‌को मुग्ध कर रही है। इसीलिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है:—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥

बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम और शम आदि जीवराज्यगत समस्त भाव मुझसे ही उत्पन्न होते है। और भीः—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्॥

मैं सबके हृदयमें विद्यमान रहता हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और उसका अभाव भी प्रकट होता है। मै सकल वेदके द्वारा वेद्य हूं और वेदान्तकर्त्ता तथा वेदका यथार्थ अर्थवेत्ता मै ही हूं। अतः सिद्धान्त हुआ कि परमात्माकी चित्सत्ता ही त्रिगुणमयी मायाके भिन्न भिन्न भाव और प्रवाहमें प्रतिबिम्बित होकर विश्वजगत्के विविधज्ञानरूपसे जीवकेन्द्रके द्वारा प्रकट होती है। इसी प्रकार उनकी आनन्दसत्ता भी त्रिगुणमयी प्रकृतिके द्वारा प्रतिफलित होकर प्रकृतिसे उत्पन्न जीवजगत्में विविध विषयसुखरूपसे भासमान हो रही है। यथा श्रुतिमेंः—

"रसो वै सः" "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति"
"एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति"

विकारहीन सुखदुःखद्वन्द्वहीन परमानन्दकी स्थिति उन्हींमें है और उनकी ही आनन्दसत्ताका कुछ कुछ अंश विषय सुखरूपसे प्रकृतिके द्वारा प्राकृतिक जीव संसारमें उपभोग करता है। दम्पतिके हृदयमें पारस्परिक प्रेमका मधुर आनन्द, मित्रोंके हृदयमें एकप्राणताका पवित्र आनन्द, माता पिताके हृदयमें निष्कलङ्क स्नेह और वात्सल्यजनित उदार आनन्द, काम-लोभमोहादिविषयपाशबद्ध विषयी जनोके हृदयमे दुःखपरिणामयुक्त विविध विषयानन्द इत्यादि सभी प्रकारका आनन्द, अनन्त आनन्दके नित्य प्रस्रवणरूप परमात्माकी आनन्दसत्ताके बिन्दुमात्रको लेकर त्रिगुणमयी मायाके द्वारा अनित्य सुखरूपसे संसारमें विलसित हो रहा है। यही मायातीत सत्, चित् और आनन्दरूप परमात्माकी मायाके द्वारा उत्पन्न नाना भावोंके संसारमें विकाश की महिमा है, जिसके सम्यक् परिज्ञानसे सान्त जीव अपनी अनन्त सत्ताको उपलब्ध करके दुःखमय संसारसे मुक्तिलाभ कर सकता है।

जिस मायाके प्रभावसे एकरस, अद्वितीय परमात्मामें निखिल प्रपञ्चका विस्तार होता है, वह माया क्या परमात्मासे पृथक् वस्तु है? नही। वह विश्व प्रसविनी प्रकृति उन्हींकी शक्ति रूपसे उन्हींसे उत्पन्न होती है, यथा श्रुतिमेंः—

"यतः प्रसूता जगतः प्रसूती"

जगत्प्रसविनी प्रकृति परमात्मासे ही उत्पन्न होती है। गीतोपनिषद्में कहा गया है:—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया"

दैवी तथा त्रिगुणमयी मेरी माया दुरत्यया है। मनुसंहितामें लिखा है:—

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः॥

सृष्टिके समय परमात्मा अपने ही अर्द्धअङ्गसे प्रकृतिको निकालकर उसमें समस्त सृष्टिकी उत्पत्ति करते हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है:—

"त्वं देवशक्त्यां गुणकर्मयोनौ रेतस्त्वजायां कविरादधेऽजः"

गुण और कर्मकी योनि, स्वकीय शक्तिरूपी अजा प्रकृतिमें अज परमात्मा सृष्टिवीजको अर्पण करते हैं।

योगेनात्मा सृष्टिविधौ द्विधारूपो वभूव सः।
पुमांश्च दक्षिणार्द्धाङ्गो वामार्द्धा प्रकृतिः स्मृता॥
सा च ब्रह्मस्वरूपा च नित्या सा च सनातनी।
यथात्मा च तथा शक्तिर्यथाग्नौ दाहिका स्थिता॥

सृष्टिकार्यके लिये योगवलसे परमात्मा द्विरूप होते हैं। उनका दक्षिणाङ्ग पुरुष और वामाङ्ग प्रकृति होती है। वह प्रकृति ब्रह्मरूपिणी नित्या, सनातनी और अग्निमें दाहिकाशक्तिकी तरह परमात्माकी शक्तिरूपिणी है। इसी प्रकृतिको ज्ञान भूमिके भेदानुसार सांख्यदर्शनमें अनादि, अनन्त और वेदान्त दर्शनमें अनादि सान्त कहा गया है।

सच्चिदानन्दमय परमात्मा स्वरूपतः सदा एक भावमें विराजमान होने पर भी प्रकृति सम्बन्धसे तीन भावोंमें प्रतीयमान होते हैं। यथा—ब्रह्म, ईश्वर और विराट्। इन तीनोंको यथाक्रम अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतभाव कह-कर शास्त्रमें वर्णन किया गया है। छान्दोग्यश्रुतिमें अध्यात्म और अधिदैव भावके विषयमें लिखा है:—

"आकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च"

निर्लिप्त और व्यापक ब्रह्मके अध्यात्म और अधिदैव दोनों ही भाव बताये जाते है। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है:—

"अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्म उच्यते।"

"अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्॥"

अक्षर परब्रह्मका जो मायासम्पर्करहित अपना भाव है वही अध्यात्म है। उनका क्षरसंज्ञक जो प्रकृतिविलासमय भाव है वही अधिभूत है और उनका पुरुषसंज्ञक जो प्रकृति पर नियन्तृत्वका भाव है वही अधिदैव भाव है। इस प्रकारसे अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन तीनों भावोंका प्रमाण शास्त्रमें मिलता है।

ब्रह्मकी जो सच्चिदानन्दमयी सत्ता त्रिगुणतरङ्गमयी मायासे परे है, जहांपर माया जाकर लय होती है तथा जीवकी मुक्तिदशामें जहां पर जीवका चिरविश्रान्तिलाभ हुआ करता है व्यक्त तथा अव्यक्त प्रकृतिसे चिरसम्पर्कविहीन, निर्गुण, निरञ्जन तथा स्वाराज्यमें विराजमान ब्रह्मकी वही सत्ता अध्यात्म है। श्रुतिमें इस भावको 'तत्' पदके द्वारा शब्दित किया है। यह निर्गुण ब्रह्मभाव प्रकृतिविलासरहित होनेसे निर्विशेष ब्रह्मभाव कहलाता है। उनका सविशेष अर्थात् सगुण तथा अधिदैव भाव वह है, जिसमें उनकी विकाररहित दृष्टि सृष्टिकी ओर आकृष्ट होनेसे उन्हींकी अर्द्धाङ्गिनीरूपसे जगज्जननी महामाया प्रकट होकर अनन्त सृष्टिका विस्तार कर रही है और वे महामायाके प्रेरकरूपसे समस्त विश्वमें विराज रहे हैं। यही परमात्माके 'सः' शब्द द्वारा संज्ञित, सविशेष अधिदैव भाव अर्थात् सगुण ब्रह्म ईश्वरभाव है। इन दोनों भावोंकी परस्पर तुलनाके युगपत् वर्णनके लिये अनेक श्रुतियां मिलती हैं।

यथा मुण्डकोपनिषद्में:—

"यत् तद् अद्रेश्यं अग्राह्यं अगोत्रं अचक्षुःश्रोत्रं तद् अपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥"

और भी ईशावास्योपनिषद्में:—

स पर्यगात् शुक्रं अकायं अव्रणं अस्नाविरं शुद्धं अपापविद्धं कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः यथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

इन दोनों मन्त्रोंमेंसे प्रथम मन्त्रके 'अद्रेश्य अग्राह्य' से लेकर 'अपाणिपाद' तक शब्द, निर्विशेष ब्रह्मके बोधक होनेसे उनमें क्लीवलिङ्गका प्रयोग किया गया है और बाकी मन्त्र सविशेष ब्रह्मका बोधक होनेसे उसके शब्दोंमें पुलिंगका प्रयोग किया गया है। उसी प्रकार द्वितीय मन्त्रमें भी 'अपापविद्ध' पर्यंत सभी शब्द निर्विशेष ब्रह्मके बोधक होनेसे क्लीवलिंग हैं और बाकी शब्द सविशेष होनेसे पुलिंग हैं। इसी प्रकारसे भगवद्वाक्यरूपी वेदमें दोनों भावोंका परस्पर सामञ्जस्य और पार्थक्य बताया गया है।

ब्रह्मका निर्गुणभाव प्रकृतिसे परे होनेके कारण समस्त इन्द्रियाँ, मन, वाणी तथा बुद्धिसे भी अतीत है।

"नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा"

"न विद्मो न विजानीमः"

"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"

इत्यादि श्रुतियाँ निर्गुण ब्रह्मके इस प्रकार मायातीत भावको सूचित करती हैं। जब निर्गुण ब्रह्म समस्त प्रकृतिसे परे है और किसी विशेषणसे विशेषित तथा किसी लक्षणसे लक्षित नहीं किये जा सकते हैं, तो उनका परिचय शब्द द्वारा देनेका कोई उपाय नही हो सकता है। इसीलिये शास्त्रमें 'नेति नेति' शब्द द्वारा निर्गुण ब्रह्मका परिचय दिया गया है, यथा बृहदारण्यक उपनिषद्में:—

"अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादन्यत् परमस्ति"

परब्रह्मके परिचयके लिये इतना ही कहा जा सकता है, कि, वह यह नहीं है, यह नही है। इससे अतिरिक्त और कुछ नही कहा जा सकता है। कठोपनिषद्में:—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्ध, अक्षर, अनादि, अनन्त, और महत्‌से परे ध्रुव वस्तु ब्रह्मको जानने पर जीव मृत्युमुखसे मुक्त होता है। यही परमात्माका निर्गुण भाव है।

परमात्माके अधिदैवभाव अर्थात् ईश्वरभावके लक्षणके विषयमें पहिले ही कहा गया है जिस भावके साथ समष्टि प्रकृतिका द्रष्टादृश्य सम्बन्ध है और जिस भावके ईक्षण या अधिष्ठानके द्वारा चेतनवती होकर प्रकृतिमाता अनादि अनन्त सृष्टिधाराका विस्तार कर रही है वही भाव परमात्माका अधिदैव अर्थात् ईश्वरभाव है। परमात्माका यह भाव प्रकृतिसे अतीत सृष्टिसम्बन्धहीन उनके अध्यात्म अर्थात् निर्गुण ब्रह्मभावसे वस्तुतः पृथक् न होने पर भी भावराज्यमें बहुत ही पृथक् है । इसीलिये वेदादि शास्त्रोंमें इन दोनों भावोंका पृथक् पृथक् वर्णन किया गया है। यथा पुरुषसूक्तमें :—

"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"

परमात्माके एक पादमें समस्त विश्व स्थित है और तीन पाद सृष्टिसे अतीत और अमृत है। मैत्री उपनिषद्में वर्णन है:—

त्रिष्वेकपात् चरेद् ब्रह्म त्रिपात् चरति चोत्तरे।
सत्यानृतोपभोगार्थो द्वैतीभावो महात्मनः ॥

त्रिलोकके बीचमें परमात्माका एकपादमात्र विद्यमान् है उनके और तीन पाद सृष्टिसे बाहर है। सत्य और अनृतके उपभोगके अर्थ ही परमात्माके ये दो भाव है। श्रीगीताजीमें लिखा है:—

"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्"

परमात्मा अपने एक अंशके द्वारा जगत्को व्याप्त किये हुए हैं।

इन सब वर्णनोंके द्वारा यही सिद्ध होता है कि, परमात्माके जिस पाद अर्थात् जिस भावके साथ सृष्टिका सम्बन्ध है वह ईश्वरभाव और जो सृष्टिसे अतीत है तथा जिस भावमें मुक्तात्माकी प्रकृति विलीन हो जाती है वही भाव उनका ब्रह्मभाव है। ये दो भाव पृथक् पृथक् अंश या सीमा पर बटे हुए नहीं हैं क्योंकि असीम विभु अनादि अनन्त ब्रह्ममें इस प्रकार अंश या सीमाकी कल्पना उनके स्वरूपसे विरुद्ध होगा। अनादि मायाके विकाश और विलयके अनुसार एक ही भावमें दो भावोंकी स्फूर्ति होती है। यथा—प्रलयकालमें प्रकृतिका ब्रह्ममें विलय हो जानेसे द्रष्टा-दृश्य-सम्बन्धयुक्त ईश्वरभाव नही रहता और वही ब्रह्म पुनः सृष्टिके समय अनादि मायापर अधिष्ठान करके ईश्वरभावको प्राप्त कर लेते है।

"तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत्"

अपनी शक्तिरूपिणी प्रकृतिके उपाधिसंयोगसे निर्गुण ब्रह्म ही सगुण ईश्वर भावको प्राप्त हो जाते हैं। यही ब्रह्म भाव और ईश्वरभावकी भावराज्यमें पृथक् पृथक् सत्ताका रहस्य है। अनन्त महोदधिकी जो निवात निष्कम्प प्रशान्तिमय अवस्था है वही ब्रह्मके निर्गुणभावके साथ उपमित हो सकती है और उसी महासमुद्रकी जो अनन्ततरङ्गमयी वीचिविक्षुब्ध अवस्था है, उसीके साथ ब्रह्मके सगुणभावकी तुलना हो सकती है। एक ही ब्रह्म महासमुद्रके मायापवनप्रवाहजनित दो भाव हैं, वास्तवमें दोनों एक ही हैं।

उल्लिखित विज्ञानके ऊपर संयम करनेसे ईश्वर सत्तामें दो महान् भावोंका अपूर्व समन्वय देखनेमें आता है। एक ऐश्वर्य और दूसरा माधुर्य। जिस भावमें ईश्वर अदृष्टके विधाता, पापीके दण्डदाता, जगत्के नियन्ता, साधुओंके परित्राता, धर्मके प्रतिष्ठाता, सृष्टिस्थितिप्रलयकर्त्ता, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् हैं वही उनका ऐश्वर्यभाव है। जिस भावमें कभी नररूप धारण करके असुरनिधन, वेदोद्धरण, क्षत्रियकाननदहन और दशानन-वशलताको छिन्न विच्छिन्न करते हैं और कभी भुवनमोहिनी नारीरूप धारण करके लेलिहान लोल रसनाके द्वारा असुरोंका उष्ण शोणित पान और हुङ्कारसे त्रिभुवन विकम्पित करके अनन्त प्रहरण द्वारा शुम्भनिशुम्भमथन करते हैं वही उनका ऐश्वर्य भाव है। इस भावमें शशि, सूर्य उनका नेत्र है, अनन्त समुद्र उनका उदर है, नदियाँ स्नायुराशि हैं, प्रदीप्त हुताशन आनन है, अनन्तकोटिब्रह्माण्ड रोमकूपमें है और लोकक्षयकृत् प्रवृद्ध काल स्वरूपमें है। यही महामूर्त्ति ईश्वरकी ऐश्वर्यसत्ताकी प्रचण्ड विकाशभूमि है। परन्तु उनके माधुर्यभावमें इस प्रकार प्रचण्डता नहीं है, प्रत्युत उनके ऐश्वर्यभावमें जिस प्रकार कठोरता है, माधुर्यभावमें ठीक उसी प्रकार कोमलता है। इस भावमें भगवान् दयामय, स्नेहमय, करुणामय और प्रेममय हैं। इस भावमें भक्तके निकट उनका प्राण विक्रीत है, करुणाधारा जाह्नवी यमुना रूपसे प्रवाहित है, जीवोंके दुःखनिवारणके लिये स्वयं अनन्त दुःखभोग उनका परम व्रत है। इस भावमें भृगुपदाघात उनके हृदयका भूषण है, द्रौपदीका लज्जा-निवारण परम पौरुष है, करुणाकी होमाग्निमें समस्त ऐश्वर्यकी आहुतिप्रदान जीवनका महाव्रत है। इस भावमें भगवान् भक्तवत्सल प्रभु हैं, करुणामय स्वामी हैं,

प्रीतिमय सखा हैं, स्नेहमय पुत्र हैं और प्रेममय कान्त हैं । उपनिषद्में ईश्वरके ऐश्वर्यभाव वर्णनके साथ साथ माधुर्यभावका भी वर्णन देखनेमें आता है। परमात्मा माधुर्यभावमें रसरूप हैं इसलिये उपनिषद्में कहा है:—

"रसो वै सः"

परमात्माकी कृपासे ही भक्तको मुक्ति प्राप्त होती है इसलिये उपनिषद्में कहा है:—

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्"

परमात्मा जिसको वरण करते हैं वही परमात्माको प्राप्त करता है । उसीके निकट परमात्मा निज स्वरूप प्रकट करते है। और भी—

"तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः"

उन्हींके प्रसादसे अक्रतु जीव उनकी महिमाको जानकर वीतशोक होता है।

"तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति"

उसी ईशान और वरदाता पूज्य देवको जाननेसे जीव अनन्त शान्तिका अधिकारी हो जाता है।

"रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यं"

हे भगवन्! तुम्हारा जो दक्षिण मुख है उससे मेरी रक्षा करो। इत्यादि इत्यादि समस्त वर्णन परमेश्वरके माधुर्यभावका प्रकाशक है । परमेश्वरमें इन दोनों भावोंका अपूर्व समन्वय रहनेसे ही परमेश्वर पूर्ण हैं, प्राकृतिक सृष्टि और आत्यन्तिक प्रलय दोनोंके विधानमें समर्थ है, द्वैतमय संसारके समस्त द्वन्द्वभावके चरम परिणामस्थान है और अनन्त शान्ति तथा अनन्त आनन्दके चिर निकेतन है। यही सगुण ब्रह्म ईश्वरके स्वरूपका पूर्ण परिचय है, जिसका ऐश्वर्य-माधुर्यसमन्वय रूपसे संसारमें पूर्ण भावसे विकाश, केवल भगवान्के पूर्णावतार श्रीकृष्णके जीवनमें ही हुआ था । इसीलिये महाभारतका कर्मक्षेत्र, गीताका ज्ञानक्षेत्र और वृन्दावनका भक्तिलीलाक्षेत्र ऐश्वर्यमाधुर्यके अपूर्व समन्वय रूपसे उन्हींके जीवनमें पाया जाता है । भारत माता धन्य है जिसको इस प्रकारके पूर्ण पुरुषको कोमल अङ्कमें धारण करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

अब परमात्माके आधिभौतिक भावका वर्णन किया जाता है । उनका आधिभौतिक स्वरूप अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमय कार्यब्रह्म है । कारणब्रह्मके

साथ कार्यब्रह्मकी अभिन्नता होनेसे कारणब्रह्म परमात्मामें उनकी मायाशक्ति द्वारा जो कार्यब्रह्मकी नित्य स्थिति विद्यमान है वही विराट्रूप परमात्माका आधिभौतिक स्वरूप है । वेदादि शास्त्रोंमें इस रूपके अनेक वर्णन मिलते है । यथा छान्दोग्योपनिषद्में :—

"स एव अधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वम्"

परमात्मा नीचे है, ऊपर हैं, पीछे और सामने है, दक्षिण और उत्तरमें है, समस्त विश्व वे ही है । मुण्डकोपनिषद्में लिखा है :—

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

द्युलोक उनका मस्तक है, चन्द्र सूर्य चक्षु है, दिक् कर्ण है, वेद वाणी है, वायु प्राण है, विश्व हृदय है और पृथ्वी उनका चरण है, यह विराट् पुरुष सकल भूतोंके अन्तरात्मा भी हैं । स्मृतिमें वर्णन है :—

द्यां मूर्द्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिः चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे ।
दिशः श्रोत्रं विद्धि पादौ क्षितिश्च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता ॥

वे ही अचिन्त्यात्मा सकलजीव-प्रणेता विराट् पुरुष है जिनका मस्तक द्युलोक कह करके पण्डितोंने वर्णन किया है, जिनकी नाभि आकाश है, नेत्र चन्द्र सूर्य हैं, दशदिशाएं कर्णेन्द्रिय है और पृथिवी चरणयुगल है । इसी प्रकारसे शास्त्रमें परमात्माको विराटरूप बताया गया है ।

अब ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें कुछ विचार करके प्रकरणका उपसंहार किया जायगा ।

देवीभागवतमें लिखा है—

जड़ाऽहं तस्य सान्निध्यात्प्रभवामि सचेतना ।
अयस्कान्तस्य सान्निध्यादयसश्चेतना यथा ॥

जिस प्रकार चुम्बकके सान्निध्यमें रहनेसे जड़ लोहामें सञ्चलन शक्ति आती है उसी प्रकार ईश्वरके अधिष्ठानके द्वारा जड़ प्रकृतिमें चेतनाजन्य सृष्टिस्थितिप्रलयशक्ति आती है । परन्तु वास्तवमें प्रकृति जड़ है । प्रकृतिका यह जड़त्व अर्थात् स्वयं कर्तृत्वशक्तिका अभाव केवल समष्टि प्रकृतिमें ही नहीं

अधिकन्तु, उसके परिणामजात पदार्थोंके अङ्ग अङ्गमें देखनेमें आता है । पृथिवी, जल, वायु, अग्नि आदि प्रकृतिपरिणामसे उत्पन्न समस्त पदार्थ ही जड़ है । उनमेंसे किसीमें भी स्वयं कार्य करनेकी शक्ति नहीं है । पृथिवी स्वेच्छासे भिन्न भिन्न प्रकारका शस्य उत्पन्न नही कर सकती, जल स्वयं नही बरस सकता, वायु स्वयं नही वह सकती और अग्नि स्वयं तरह तरहका कार्य नही कर सकता । इनके भीतर अवश्य कोई व्यापक चेतन सत्ता होगी, जिसके सञ्चालनसे ये सब जड़वस्तु निज निज कार्यको करती हैं । वही सर्वव्यापक सर्वाधिष्ठाता प्रकृतिके प्रेरक चेतनसत्ता ईश्वर है । इसमें यदि यह सन्देह हो कि, प्रकृतिपरिणामजात पृथिवी, जल, वायु आदिका स्वभाव ही है कि, शस्य उत्पन्न करे, बरसे, बहे या दग्ध करे इत्यादि तो इसका समाधान यह है कि, किसी प्राकृतिक वस्तुका स्वभाव तभी नियमित रूपसे कार्य कर सकता है जब उसकी नियामक कोई चेतनशक्ति हो । पृथिवीका स्वभाव ही शस्य उत्पन्न करना है, परन्तु किस देशमें, किस कालमें तथा किस ऋतुमें कैसा शस्य उत्पन्न होना चाहिये, इसका नियमन कौन करेगा ? यह नियमन जड़ पृथिवीके द्वारा कदापि नही हो सकता है । इसके लिये पृथिवीके अन्तर्विहारी नियामक चेतनसत्ता होनी चाहिये । जड़ स्वभावका परिणाम या क्रिया, अन्धपरिणाम या अन्धक्रिया है, चेतनसत्ताके अस्तित्वसे ही उसकी अन्धता नष्ट होकर उसमें नियमानुसारिता आ सकती है । जलका स्वभाव बर्साना हो सकता है, परन्तु, ऋतुके अनुसार ठीक ठीक बर्साना और जिस देशमे जितनी वर्षा होनी चाहिये उसको उसी नियमसे ठीक ठीक बर्साना तभी सम्भव हो सकता है, जब जलराज्यके अन्तर्विहारी कोई चेतन सञ्चालक शक्ति हो। उसी प्रकार वायुमें प्रवाहित होनेका अन्धस्वभाव रह सकता है, परन्तु, वसन्त ऋतुमें मलय पवन बहना, वर्षामें पूर्व दिशासे प्रवाहित होना, शीत कालमें उत्तरसे वायुका प्रवाह होना, ग्रीष्मऋतुमें पश्चिमसे बहना आदि नियमित वायुप्रवाह अन्धस्वभावके द्वारा कदापि सम्भव नही हो सकता है । इसके लिये अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा, कि, वायुमण्डलको नियमित सञ्चालित करनेवाली कोई नियामक चेतनसत्ता है । हम संसारके सामान्य कार्य्यमें देखते हैं, कि, जब तक चेतनकी सहायता और प्रेरणा न हो, तब तक किसी जड़ वस्तु द्वारा नियमानुसार कार्य नही हो सकता है । दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं, कि, अग्नि में अवश्य यह शक्ति है, कि, जलको वाष्प बनाकर उसी

वाष्प के द्वारा नाना प्रकारके यन्त्र और इञ्जिन आदि चला सके। परन्तु जिस हिसाबसे वाष्प बननेपर और जिस तरहसे इञ्जिन या मशीनमें उसका संयोग होनेपर तब इञ्जिन या मशीन ठीक ठीक कार्य कर सकेगी, वह हिसाब या नियमानुसार वाष्पसंयोग करनेकी शक्ति जड़ अग्निमे नही है। वह शक्ति अग्निका नियोग तथा वाष्पका सयोग करनेवाले चेतन मनुष्यमें ही है, जो नियमके अनुसार जलमें अग्निसंयोग द्वारा वाष्प बनाता है और उसी वाष्पको हिसाबके साथ प्रयोग करके समस्त वाष्पीय यानो तथा यन्त्रौको चलाता है। इसमें और भी विचारनेका विषय यह है कि, यद्यपि वाष्पमें इञ्जिन चलानेकी और इञ्जिनमें गाड़ी खीचनेकी शक्ति है तथापि यदि जड़ इञ्जिनका चलाने वाला कोई चेतन मनुष्य न होगा तो, योग्य शक्तिसे निर्दिष्ट समयानुसार रेल गाड़ीका चलना, नियमित स्टेशनपर ठहरना, पुनः नियमित वेगके अनुसार स्टेशनसे चलना, आवश्यकतानुसार वेगका न्यूनाधिक्य होना इत्यादि बातें कभी जड़ इञ्जिनके द्वारा स्वतः नहो हो सकती हैं। जड अन्धशक्तिसे यह हो सकता है कि, यदि इञ्जिन चल पड़े तो चलता ही रहेगा, कभी ठहरेगा नही और यदि कभी ठहर जाय तो फिर चल नही सकेगा। नियमित चलने, ठहरने तथा वेगवान् होनेके लिये नियामक किसी चेतनशक्तिके अधिष्ठानकी अवश्य ही आवश्यकता होती है। अब विचार करनेका विषय यह है कि, जब संसारके साधारण लौकिक कार्य्यके नियमित चलानेके लिये भी चेतनसत्ताकी आवश्यकता होती है, तो इस अनादि अनन्त प्रकृतिका महान् सृष्टिस्थितिकार्य, जिसमें इतना अमोघ नियम सदा प्रत्यक्ष हो रहा है कि, एक पत्ती तक उसी नियमके विना हिल नही सकती है, उसमें कोई सर्वव्यापी नियामक चेतन सत्ता नही है, इस प्रकार कल्पना करना उन्मत्तचिन्ता और उन्मत्तप्रलापके सिवाय और कुछ भी नही कहा जा सकता। यदि जड़ प्रकृतिके सञ्चालक या अधिष्ठाता चेतन ईश्वर न होते तो कभी अनन्तकोटिब्रह्माण्डमयी विराट् प्रकृतिमें सृष्टिस्थितिप्रलयको नियमित क्रम नहीं रह सकता। सृष्टिस्वभावमयी प्रकृति अनन्तकाल तक सृष्टि ही करती रहती, कभी प्रलयका समय नही आता और यदि कभी प्रलय हो जाता तो, प्रलयके गर्भसे नियमानुसार तथा निर्दिष्ट कालानुसार पुनः सृष्टिका उदय नही हो सकता, जीवोंकी कर्मानुसार उच्चनीच गति, रवि, शशिका नियमित उदय, ऋतुओंका नियमित विकाश, शस्यसमृद्धिकी नियमित देशकाल पात्रानुसार उत्पत्ति, दिवारात्रि,

अमानिशा और पौर्णमासीका चक्रवत् परिवर्त्तन, चन्द्रकलाका नियमित् विकाश, भगवान् भास्करका राशिचक्रमें नियमित संक्रमण आदि सर्वतोजाज्वल्यमान प्राकृतिक कोई भी क्रिया नियमित संघटित नहीं हो सकती। यह सभी विश्वनिदान विश्वकर्त्ता जगत्पाता अनन्तकरुणावरुणालय परमपिता ज्ञानरूप चैतन्यमय परमेश्वरकी अनादि अनन्त प्रकृतिके अन्तर्हृदयमें सर्वव्यापिनी नित्यस्थिति और अधिष्ठानका कल्याणमय फल है जिसको श्रद्धावान् भक्तजन प्रति मुहूर्त्तमें अनुभव करके परमानन्दसागरमें लवलीन हो सकता है, मिथ्या कुतर्ककर्कशचित्त अज्ञानी जनोंके अन्धकारमय हृदयमें इस ज्ञानज्योतिका विस्तार होना कठिन तथा उन्हीके कृपाकटाक्ष सापेक्ष है। परमात्माके विविध भावोंका वर्णन करके अब जीवात्माका तत्त्व वर्णन किया जाता है। जीवात्माके विषयमें जितने प्रकारके मतवाद भिन्न भिन्न साम्प्रदायिक शास्त्रोंमें पाये जाते हैं, उन सबोंको दो भागोंमें विभक्त कर सकते है। एक जीव ही ब्रह्म हैः—

"जीवो ब्रह्मैव नापरः"

जीव और ब्रह्ममें कोई भी भेद नहीं है। इसलिये ब्रह्मके सदृश जीव भी नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभाव है और दूसरे पक्षके अनुसार जीव और ब्रह्म पृथक् पृथक् वस्तु हैं। जीव दुःखत्रयके अधीन है, ब्रह्म क्लेशलेशविहीन है। जीव अनित्य, अशुद्ध, अबुद्ध और अमुक्त है। ब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। जीव नियम्य है, ब्रह्म नियामक है। जीव व्याप्य है, ब्रह्म व्यापक है। इन दोनों मतवादोंकी पुष्टिमें वेदान्तदर्शनके तथा श्रुतिशास्त्रमें भिन्न भिन्न प्रकारके प्रमाण भी मिलते है। वेदान्तदर्शनके अनुसार इन दोनों मतवादोंका नाम अविच्छिन्नवाद और प्रतिविम्बवाद रक्खा गया है। अवच्छिन्नवादके विषयमें वेदान्तदर्शनमें सूत्र हैः—

"अंशो नानाव्यपदेशात्"

जीवात्मा परमात्माका अंशरूप है। जिस प्रकार सर्वव्यापक आकाश एक होनेपर भी घट, पट आदि उपाधिभेदानुसार घटाकाश, पटाकाश आदि उसकी संज्ञा होती है, परन्तु, वास्तवमें घटाकाश और व्यापक आकाशमें कोई स्वरूपतः भेद नहीं है, ठीक उसी प्रकार जीव और ब्रह्ममें स्वरूपतः कोई भेद नहीं है, केवल अन्तःकरणरूपी उपाधिके योगसे एक ही ब्रह्म नानाजीवरूपमें व्याप्त हो रहे है। प्रतिविम्बवादके विषयमें वेदान्तदर्शनमें सूत्र हैः—

"आभास एव च"

जीवात्मा परमात्माका अंश नहीं है, केवल आभास मात्र है। जिस प्रकार आकाशस्थित सूर्य्य या चन्द्रका प्रतिविम्ब जलमें पड़ता है, वह प्रतिबिम्ब सूर्य्य या चन्द्रकी तरह देखनेमें होनेपर भी वास्तवमें सूर्य्य या चन्द्र नहीं है, ठीक उसी प्रकार परमात्माका प्रतिविम्ब जो अन्तःकरण पर पड़ता है, वही जीवात्मा है, वह वास्तवमें ब्रह्म नहीं है। इन दोनों मतोंकी पुष्टिमें अनेक श्रुति आदि शास्त्रोंके प्रमाण भी मिलते हैं। श्वेताश्वतरउपनिषद्में लिखा है :—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥

ब्रह्म स्त्री है, ब्रह्म पुरुष है, ब्रह्म कुमार है, कुमारी है और वृद्धरूपमें दण्ड लेकर ब्रह्म ही चलता है, संसारमें नानारूप धारण करके ब्रह्म ही सर्वत्र विराजमान है। और भी मुण्डकोपनिषद्में :—

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षरात् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति॥

जिस प्रकार सुदीप्त अग्निसे सहस्र सहस्र अग्निरूप विस्फुलिङ्ग निर्गत होते हैं, उसी प्रकार अक्षर ब्रह्मसे विविध जीव उत्पन्न होकर पुनः ब्रह्ममें ही लयको प्राप्त होते हैं। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है :—

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"

ब्रह्मके ही अंश, जीवलोकमें सनातन जीवरूपसे स्थित हैं। इसी प्रकार प्रतिविम्बवादके विषयमें भी प्रमाणका अभाव नहीं है। यथा ब्रह्मविन्दूपनिषद् में :—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

एक ही ब्रह्म समस्त जीवोंमें अवस्थान कर रहे हैं। जलमें चन्द्रप्रतिविम्बकी तरह समस्त जीवोंके अन्तःकरणमें उनका प्रतिविम्ब है। वही जीवात्मा है।

अब जीवात्मा क्या वस्तु है, इस पर विचार करनेसे इन दोनों वादोंके रहस्यका पता लग जायगा। जीव ब्रह्मका अंश होनेके कारण स्वरूपतः अनादि

अनन्त है। किन्तु जीवत्व अर्थात् जीवभावका विकाश और विलय सादिसान्त है। यह विकाश कब होना है इस विषयमें अनुभवी पुरुषोंका सिद्धान्त यह है कि, तमोभावकी अन्तिम सीमासे जब प्रकृतिका रजोगुणकी ओर प्रथम परिणाम होता है उस समय प्रकृतिमें जो चित्सत्ताके आभासका उदय होता है, वही जीवात्मा है। वह आभास अविद्याच्छन्न होनेसे अपने यथार्थ रूपको प्रकट नहीं कर सकता है, इसलिये उनका नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त-स्वभाव प्रच्छन्न होकर प्रकृतिसम्पर्कजनित बन्धनभावका समावेश उनमें हो जाता है। प्रकृति अपनी क्रमोन्नतिशील गतिके अनुसार अविद्याराज्यसे विद्याराज्यकी ओर जितनी अग्रसर होती जाती है, प्रकृतिप्रतिबिम्बित वह चेतनसत्ता भी उतनी ही अविद्यामेघनिर्मुक्त होकर अपने स्वरूपके ज्ञानको प्राप्त करती जाती है। यही प्रकृतिप्रवाहमें जीवक्रमोन्नतिकी धारा है। इस प्रकार प्रकृतिकी ऊर्द्ध्वगतिके साथ अपने यथार्थ स्वरूपका, ज्ञानलाभ करते करते जब प्रकृति अपने सात्त्विकप्रवाहके अन्तमें पहुँचकर चित्सत्तामें लय हो जाती है, उस समय पूर्णरूपसे प्रकृतिके आवरणसे निर्मुक्त जीवात्मा भी अपने पूर्ण स्वरूपको अनुभव कर लेता है और उसी समय उसको यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि, वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव है और निर्विकार पूर्णज्ञानमय सच्चिदानन्दसे उसका कोई भी भेद नहीं है। जो कुछ भेदका भाव उसके भीतर अब तक था, सो केवल प्रकृतिके द्वारा ज्ञानके आवृत रहनेसे भ्रान्तिमूलक ही था। उसी समय जीव अपने यथार्थ स्वरूपको पहचान कर कह सकता है कि, 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूं। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंकी चरितार्थता जीव निजभावमें उसी समय कर सकता है। अब इस विचारके साथ अवच्छिन्नवाद या प्रतिबिम्बवादका सिद्धान्त मिलानेसे यह बात स्पष्ट होगी कि, उक्त दोनों वाद एक ही हैं, दोनोंमें कोई भी भिन्नता नहीं है। केवल प्रतिबिम्बवादिगण आत्माके अविद्यायुक्त अतः ब्रह्मभावविहीन बद्ध स्वरूपकी ओर लक्ष्य करके जीवको ब्रह्मसे पृथक् कहते हैं और अवच्छिन्नवादिगण आत्माके उन्नतिशील स्वरूपकी ओरके शुद्धभावको लक्ष्य करके जीवको ब्रह्मका ही अंश कहते हैं। दोनों वादोंमें भेद, केवल आत्माके प्रकाशतारतम्यजनित अवस्थाभेदकी ओर भिन्न भिन्न प्रकार दृष्टिभेद द्वारा संघटित हुआ है। वास्तवमें दोनों वादोंके भीतर कोई भी भेद नहीं है। अविद्यामयी प्रकृतिके द्वारा आत्माका जो प्रथम विकाश होता है उसमें भस्माच्छादित अग्निकी तरह यद्यपि ब्रह्मभावका कोई भी लक्षण दृष्टिगोचर नहीं हो

सकता है तथापि आत्माको यह विकसित सत्ता तो ब्रह्मसत्तासे पृथक् कोई वस्तु नहीं है; अतः अवच्छिन्नवादिगण जो उसे ब्रह्मका अंश कहते हैं उसमें कोई भी भ्रान्ति नहीं है। अन्य पक्षमें अविद्याविलासित आत्मामें ब्रह्मका कोई भी गुण न देखकर प्रतिविम्बवादिगण जो जीवको ब्रह्मसे पृथक् बताते हैं वह जीवकी उस अवनत अवस्थाके विचारसे ठीक ही है। अतः दोनों वाद ही ठीक हैं। दोनोंके द्वारा केवल आत्माके अविद्याके ओर-की ओर स्वरूपके ओरकी दो अवस्थापर दृष्टि डाली गई है, वास्तवमें दोनों एक ही हैं। अतः अवच्छिन्नवाद और प्रतिविम्बवादका समाधान तथा समन्वय उक्त विचारके द्वारा स्पष्ट सिद्ध हुआ। दयामयी श्रुतिने इन दोनों भावोंको प्रकट करनेके लिये सुन्दर मन्त्र कहे हैं, यथा कठश्रुतिमें:—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥

इस शरीरमें दो चेतनसत्ता हैं, उनमेंसे एक स्वकृतकर्मोंका फलभोग करती है और दूसरी कर्मफलोंका भोग कराती है। दोनों ही हृदयाकाशमें बुद्धि गुहामें प्रविष्ट हैं। उनमेंसे एक संसारी और दूसरा असंसारी है। ब्रह्मवेत्तागण और गृहस्थगण उन दोनोंकी छाया और आतपकी तरह परस्पर विभिन्न कहते हैं। इस मन्त्रके द्वारा जीवात्माके साथ ब्रह्मका अविद्याग्रस्त दशामें जो पार्थक्य रहता है सो बताया गया है। इसी प्रकार मुण्डकोप-निषद्में लिखा है:—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्-अन्योऽभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः, अनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यति अन्यमीशं अस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

सुन्दर दो पक्षी एक ही वृक्षमें अधिष्ठित हैं। वे दोनों परस्पर के सखा हैं। उनमेंसे एक सुस्वादु फल खाता है और दूसरा नहीं खाकर केवल बैठे बैठे देखता है। एक ही वृक्षमें पुरुष अर्थात् जीव निमग्न होकर ब्रह्मभावके अभावसे मोहाच्छन्न होकर शोक करता है, परन्तु जिस समय दूसरे अर्थात् ब्रह्मको देखता है उस समय उनकी महिमाको जानकर शोकातीत पदको प्राप्त

करता है। इस श्रुतिमें जीव और ब्रह्मको परस्पर सखा कहकर दोनोंकी एक-जातीयता प्रतिपादन की गई है, परन्तु जब तक अविद्यान्धकार द्वारा जीवका शिवत्व प्रच्छन्न रहता है तब तक उसे बन्धन प्राप्त रहता है और वह अपने को ब्रह्मसे भिन्न समझता हुआ शोकार्त्त रहता है यह भी कहा गया है। जीव-का शोकनाश अर्थात् त्रिविध दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति, अपने सखा ब्रह्मसे अपनी अभिन्नताको जानकर ही होती है; ऐसा भी इस श्रुतिमें कहा गया है।

जिस प्रकार मनुष्य पुरातन जीर्ण वस्त्रको परित्याग करके नूतन वस्त्रको धारण करता है, उसी प्रकार सूक्ष्म तथा कारणशरीरयुक्त जीव भी पुरातन जीर्ण स्थूल शरीरको त्याग करके नूतन स्थूल शरीरको धारण करता है। जीवभावके विकाशके बाद प्रथम उद्भिज्ज योनिसे लेकर अन्तिम उद्भिज्ज योनि तक सूक्ष्म और कारण शरीरसम्बद्ध जीव एकके बाद दूसरा, इस तरहसे स्थूल उद्भिज्ज शरीरोंको प्रत्येक जन्ममें बदलता हुआ क्रमोन्नतिको प्राप्त करता है। तदनन्तर उद्भिज्जोंकी बीस लक्ष योनियोंको समाप्त करके सूक्ष्म और कारण-शरीरसम्बद्ध जीव स्वेदज योनिके पृथक् पृथक् स्थूल शरीर ग्रहण करता हुआ ग्यारह लक्ष स्वेदजयोनियोंको अतिक्रम करता है। तदनन्तर इसी प्रकारसे १६ लक्ष अण्डजयोनि और जरायुजान्तर्गत ३४ लक्ष पशुयोनियोंको अतिक्रम करके जीव मनुष्ययोनिमें प्रवेश लाभ करता है। जिस प्रकार मनुष्येतर समस्त योनियोंमे कितने बार जीवको स्थूल शरीर धारण करना पड़ेगा इसका हिसाब शास्त्रमें किया गया है, उस प्रकार मनुष्ययोनिमें शरीरधारणका हिसाब नहीं बन सकता है। इसका कारण यह है, कि, जीव मनुष्येतर समस्त योनियोंमें ही स्वतन्त्र न रहकर ब्रह्माण्डप्रकृतिके अधीन रहता है। मनुष्येतर समस्त योनियोंमें बुद्धितत्त्वके सम्यग् विकाशका अभाव रहनेसे तथा निज निज शरीर पर अहङ्कारमूलक स्वामित्वकी उत्पत्ति न होनेसे उन सब योनियोंमें जीव स्वेच्छावश कोई भी कार्य नहीं कर सकता। उसको ब्रह्माण्डप्रकृतिके अनुसार ही सर्वथा चलना पड़ता है। यह बात पहिले ही कही है कि, ब्रह्माण्डप्रकृतिका प्रवाह तमोगुणसे सत्त्वगुणकी ओर क्रमोन्नतिको प्राप्त करता है। अतः उसी प्रवाहमें पतित स्वाहङ्कारहीन जीव मनुष्येतर समस्त योनियोंमें क्रमशः उन्नतिको ही प्राप्त करेगा और मनुष्ययोनि प्राप्तिपर्यन्त, कभी पतन अथवा अटकनेकी सम्भावना नहीं उत्पन्न होगी इसमें क्या सन्देह है? यही कारण है जिससे

मनुष्येतर समस्त योनियोंका हिसाब बन सकता है, क्योंकि, महर्षिलोग उन सब योनियोंमें जीवकी क्रमोन्नतिके क्रम पर संयम करके भिन्न भिन्न योनियोंकी संख्याको गिनकर बता सकते हैं। परन्तु मनुष्ययोनिमें इस प्रकार हिसाब नहीं हो सकता है क्योंकि, मनुष्ययोनिमें आते ही जीवमें बुद्धितत्त्वका विशेष विकाश हो जानेसे स्वशरीर और इन्द्रियो पर जीवका स्वामित्वभाव उत्पन्न हो जाता है। इसलिये जीव मनुष्ययोनिमें आकर स्वेच्छासे इन्द्रियसेवादि द्वारा अपना संस्कार स्वयं ही उत्पन्न करने लगता है और ब्रह्माण्डप्रकृति-के क्रमोद्र्ध्वगतिशील सहज कर्मजनित संस्कारधाराको छोड़ देता है। अतः उस धाराको छोड़ देनेसे क्रमोन्नतिके हिसाबसे जीव पृथक् हो जाता है और अपने उत्पन्न किये हुए अच्छे बुरे संस्कारोंके अनुसार कभी उन्नत कभी अवनत होता हुआ अनेक योनियोंको प्राप्त करता रहता है।

यह बात पहिले ही कही गई है कि, मनुष्येतर योनियोंमें कर्मस्वातन्त्र्य न रहनेसे उन योनियोमें सभी जीव एकमात्र प्राकृतिक संस्कार द्वारा क्रमोन्नत होते हैं और तदनुसार मनुष्येतर योनिगत प्रत्येक श्रेणीके जीवकी चेष्टा प्रायः एकही सी होती है। परन्तु मनुष्ययोनिमें स्वयं कर्तृत्वशक्ति रहनेसे तथा कर्मस्वातन्त्र्यके कारण प्रत्येक मनुष्य वासनाके अनुसार पृथक् पृथक् कर्म करने लगता है। इसलिये मनुष्ययोनिमें कर्मकी इतनी विशालता है और इसमें किसीके साथ किसीके कर्मका संपूर्ण मेल नहीं रहता है। कर्मस्वातन्त्र्यवश मनुष्य जितने प्रकारके कर्म करते हैं उन सबोंको तीन भागोंमें विभक्त किया गया है, यथा—संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध। जन्मजन्मान्तरसे मनुष्य जिन कर्मको करता आया है, जिनके भोगका समय अभी तक नहीं आया है, इसलिये जो कर्म समूह संस्काररूपसे अभीतक चिदाकाश अर्थात् चित्तके गभीर देशमें सञ्चित है, उसको सञ्चित कर्म कहते हैं। मनुष्य प्रत्येक जन्ममे जितने कर्म करता है, उन सबका भोग तत्तद् जन्ममे नहीं हो सकता है, क्योंकि, भोग केवल प्रबलतम कर्मोंका ही होता है, अन्यान्य कर्मोंका भोगकाल धीरे धीरे जन्मजन्मान्तरमें आता है, इसलिये प्रथम भोग होने योग्य प्रबलतम कर्मके अतिरिक्त और जितने कर्म भविष्यत्मे भोगके लिये चिदाकाशमे रह जाते है, उनका नाम सञ्चित कर्म है। क्रियमाणकर्म उसे कहते है, जो हरएक जन्ममे नवीन नवीन वासनाओंके अनुसार नवीन नवीन रूपसे मनुष्य करता है और इन्हीं सञ्चित तथा क्रियमाण कर्मोसे प्रबलतम होनेके कारण सबसे पहिले

भोग्य जितने कर्म चित्ताकाश अर्थात् चित्तके ऊपरके देशको आश्रय करके भोगायतनरूप स्थूलशरीरको उत्पन्न करते हैं, उनका नाम प्रारब्ध कर्म है। मनुष्य प्रारब्ध कर्मानुसार जन्म ग्रहण करके कर्मस्वातन्त्र्यके कारण प्रारब्धभोगतेसमय स्वस्ववासनानुसार अनेक प्रकारके क्रियमाण कर्म करता है, जिनमेंसे प्रथम भोग्य प्रवलतमकर्म मृत्युके समय चित्ताकाशको आश्रय करके प्रारब्धरूपसे उन्नत या अवनत जन्म मनुष्यको प्रदान करता है और शेष कर्मसमूह जो प्रबलतम न होनेसे प्रारब्ध बनने लायक नहीं हैं, वे सब सञ्चितकर्मरूपसे चिदाकाशको आश्रय करके कर्माशयमें लवलीन रहते हैं और प्रबलतम कर्मोंके भोग हो जानेपर अवसर पाकर आगेके अन्य किसी जन्ममें प्रारब्ध बनकर भोगार्थ अन्य स्थूलशरीरको प्रदान करते हैं। इस प्रकारसे उन्नत-अवनत वासनाओंके अनुसार उन्नत-अवनत कर्मसंस्कारोंको प्राप्त करता हुआ उन्नत-अवनत योनियोंमें मनुष्य घटीयन्त्रवत् घूमता रहता है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है:—

ऊर्द्ध्वं गच्छंति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

सात्त्विक कर्मके द्वारा मनुष्य ऊर्द्ध्व स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त करता है, राजसिक कर्मोंके द्वारा मनुष्यलोक और तामसिक कर्मोंके द्वारा पश्वादि अधो योनियोंको प्राप्त करता है। मनुसंहितामें लिखा है:—

देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
तिर्य्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषां त्रिविधा गतिः॥

सत्त्वगुणी जीव देवत्वको, रजोगुणी जीव मनुष्यत्वको और तमोगुणी जीव तिर्य्यक्योनिको प्राप्त करता है। यही कर्मानुसार जीवोंकी त्रिविधगति है। छान्दोग्योपनिषद्‌में लिखा है:—

"तद्य इह रमणीयाचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ या इह कपूयाचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा"

पुण्यमयकर्मानुष्ठानकारी मनुष्य पुण्यमय योनि अर्थात् ब्राह्मणयोनि या क्षत्रिययोनि या वैश्ययोनिको प्राप्त करता है और पापाचरणकारी मनुष्य गर्हित

योनियोंको प्राप्त करता है, यथा—कुक्कुरयोनि, शूकरयोनि या चाण्डालयोनि इत्यादि। हिन्दुशास्त्रमे मनुष्यादि उन्नत योनियोंसे इस प्रकार वेद कथित मूढ़योनिप्राप्तिके विषयमें अनेक इतिहास भी मिलते है, यथा—भरतमुनिकी मृगयोनिप्राप्ति और नहुषको सर्पयोनिप्राप्ति आदि। योगदर्शनमें लिखा है:—

"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः"

प्रारब्ध कर्मके मूलमें रहनेसे उसीके ही परिणामरूप जाति, आयु और भोग जीवको मिलते है। जिस श्रेणीका प्रारब्ध कर्म होता है, उसी तरहकी जातिमें जीवका जन्म होता है, उतनी ही आयु जीवको प्राप्त होती है जितनीमें प्रारब्ध भोग हो और भोग भी प्रारब्धके अनुसार ही अच्छा बुरा मिलता है। अतः यह बात निश्चय है कि, यदि मनुष्य शास्त्रसङ्गत वर्णाश्रमधर्मविधिके अनुसार आचरण करके अपने सस्कारोंको उन्नत करता जायगा तो उत्तरोत्तर उसको उन्नत कोटिका स्थूलशरीरलाभ, उन्नत जातिलाभ, मन और बुद्धिकी उन्नत स्थिति, सात्त्विक भोगप्राप्ति और आध्यात्मिक उन्नतिलाभ होगी। उद्दाम इन्द्रियप्रवृत्तिको दमन करके शास्त्रानुकूल आचरण द्वारा अपने संस्कारोंको परिशुद्ध करता हुआ जीव इसी प्रकारसे मुक्तिकी ओर अग्रसर होता है। सच्चिदानन्दमय ब्रह्म आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिकरूपी भावत्रयमें पूर्ण हैं। अतः स्वरूपसाक्षात्कार द्वारा जीवको पूर्णतालाभ करनेके लिये अपनेमें भी भावत्रयकी पूर्णता सम्पादन करना होता है। जीवमे कर्मके द्वारा आधिभौतिक पूर्णता, उपासनाके द्वारा आधिदैविक पूर्णता और ज्ञानके द्वारा आध्यात्मिक पूर्णता होती है। अतः सिद्धान्त हुआ कि, निष्काम कर्मयोगका अनुष्ठान, अधिकारानुसार नवाङ्गयुक्त उपासनाका अनुष्ठान और ज्ञानसाधन द्वारा जीव अपने समस्त सस्कारोंको परिशुद्ध और उन्नत करता हुआ अन्तमें जीवत्वको नष्ट करके सर्वत्र विराजमान, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप सच्चिदानन्द सत्तामें विलीन होकर समस्त पुरुषार्थके चरमलक्ष्यरूप निःश्रेयसपदको प्राप्त कर सकता है। जीव और ब्रह्मकी एकता तथा तत्त्वमसि आदि महावाक्योंकी चरितार्थता यहाँ पर हो जाती है। उस समय उस सिद्ध, जीवन्मुक्तका क्रियमाण सस्कार, स्वरूपज्ञान द्वारा वासनानाशके साथ साथ आमूल नाशको प्राप्त हो जाता है, सञ्चितकर्मसंस्कार उसके केन्द्रको छोड़कर अनन्तव्यापी महाकाशका आश्रय कर लेता है, केवल विदेहमुक्तिके पूर्वपर्यन्त भोगद्वारा

क्षय होनेके लिये प्रारब्ध संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाता है। वासनाका नाश हो जानेसे उस अवशिष्ट प्रारब्ध भोगके द्वारा क्रियमाण संस्कारकी उत्पत्ति नहीं होती है। वह प्रारब्ध संस्कार भर्जित बीजवत् जीवन्मुक्त योगीके स्वरूप स्थित अन्तःकरणमें रहकर क्रमशः क्षय हो जाता है और जिस समय इस प्रकारसे समस्त प्रारब्ध क्षय हो जाते हैं, उस समय जीवन्मुक्त महात्माको विदेह मुक्ति लाभ हो जाती है। उस समय आकाशपतित विन्दुकी नाई उनकी आत्मा व्यापक आत्मामें मिल जाती है और उनकी प्रकृति महाप्रकृतिमें विलीन हो जाती है। प्रकृतिके स्वाभाविक परिणामसे जो चिज्जडग्रन्थि उत्पन्न हुई थी, उसका सम्पूर्ण भेदन यहाँ पर हो जाता है। अनादि कालसे जो आवागमनचक्र चल रहा था यहाँ पर वह चक्र सम्पूर्ण शान्त हो जाता है और उस भाग्यवान् योगीकी आत्मा अनन्तकालके लिये अनन्त आनन्दमय परब्रह्म-भावमें विलीन हो जाती है। यही वेद और वेदसम्मत समस्तशास्त्रानुसार ब्रह्म, ईश्वर, विराट्, प्रकृति और जीवका तत्त्व है।
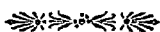
सृष्टि-स्थिति-प्रलय-तत्त्व।

सृष्टि होती क्यों है, प्रशान्त ब्रह्ममहासमुद्रमें सृष्टितरङ्गमालाका कारण क्या है और कर्त्ता कौन है, परमात्माको प्रयोजन क्या था कि, अनन्त सुख-दुःखमय संसारकी उत्पत्ति करके जीवको घटीयन्त्रकी तरह घुमाने लग गये। इस प्रकारके प्रश्न सृष्टि रहस्यके समझनेके समय मनुष्यके हृदयमें स्वतः ही उत्पन्न हुआ करते हैं, इसलिये ब्रह्माण्ड सृष्टिका वर्णन करनेके पहिले ऊपर उक्त संशयोंका निराकरण करना अत्यावश्यकीयहै। माण्डूक्यकारिकामें श्रीमद्गौड़पादाचार्यने लिखा है :—

"विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः।
स्वप्नमायास्वरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता॥
इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः।
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः॥
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीड़ार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा॥"

सृष्टिके विषयमें कोई कहते है कि, परमात्माने अपनी विभूतिको प्रकट करनेके लिये सृष्टि रची है, दूसरेकी उक्ति है कि, जिस प्रकार विना विचारे ही स्वप्न अकस्मात् उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार जगत् भी अकस्मात् उत्पन्न हुआ है, तीसरा कोई कहता है कि, जगत् मायाका विकाश मात्र है, चौथेकी राय है कि, परमात्माकी इच्छा ही सृष्टिका कारण है, कालचिन्तनशील अन्य कोई कालसे ही भूतोंकी उत्पत्ति बताते हैं, कोई भोगार्थ और कोई परमात्माके क्रीड़ार्थ ही सृष्टिकी उत्पत्ति कहते है, परन्तु यह सब कल्पनाएँ निर्मूलक है, क्योंकि, आप्तकाम परमात्माको उक्त कोई भी स्पृहा स्पर्श नही कर सकती है, सृष्टि केवल स्वभावसे ही उत्पन्न होती है। इसमें कारण कुछ भी नहीं है। इसी लिये वेदमें कहा है:—

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥"
(मुण्डक० उप०)

जिस प्रकार उर्णनाभ (मकडी) विना प्रयोजन ही तन्तुओंको फैलाता और सिकोड़ता रहता है, जिस प्रकार पृथ्वीमें विना कारण ही ओषधिसमूह उत्पन्न होते रहते हैं और जिस प्रकार जीवित पुरुषके केशलोम स्वतः ही निर्गत होते रहते है उसी प्रकार अक्षर पुरुष ब्रह्मसे समस्त विश्व स्वयं ही उत्पन्न होते रहते हैं। विभु परमात्माकी सत्ता सर्वत्र विद्यमान है इसलिये उनकी शक्ति-स्वरूपिणी प्रकृति भी सर्वत्र विद्यमान है। प्रकृति स्पन्दन-धर्मिणी है अर्थात् त्रिगुणानुसार स्पन्दित होते रहना प्रकृतिका स्वभाव है और परमात्माकी चित्सत्ताके सर्वव्यापी होनेसे जडप्रकृतिमें इस प्रकारकी स्वाभाविक स्पन्दन क्रियाके लिये सदा ही अवकाश है। अतः परमात्माकी चित्सत्ताके आश्रय-से स्पन्दनधर्मिणी महाप्रकृतिमें स्वाभाविक स्पन्दनानुसार अनन्त सृष्टि का विकाश होना स्वाभाविक ही है, इसमें कारणान्तरकी कोई भी अपेक्षा नहीं होती है।

इसमें परमात्माकी अपनी ओरसे कोई भी इच्छा, प्रेरणा या क्रिया नहीं है। यथा विष्णुपुराणमें:—

"निमित्तमात्रमेवासीत् सृज्यानां सर्गकर्मणि।
प्रधानकारिणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः॥

निमित्तमात्रमुक्त्वैकं नान्यत् किञ्चिदवेक्षते ।
नीयते तपसां श्रेष्ठ ! स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम् ॥"

सृष्टि-क्रियामें परमात्मा निमित्तमात्र है। वस्तुओंकी निज निज प्रकृति ही महाप्रकृति द्वारा प्रेरित होकर सर्गकार्यको सम्पादन करती है। ईश्वरकी निमित्तकारणताके सिवाय इसमें और कोई भी अपेक्षा नहीं है और महाप्रलयानन्तर ब्रह्माण्डसृष्टिके विषयमें ईश्वरकी जो एकसे बहुत होनेकी इच्छा वेदादि-शास्त्रोंमें वर्णित की गई है, वह भी उनकी अपनी इच्छा नहीं है। वह केवल प्रलयविलीन समष्टि-जीवोंके समष्टिकर्मानुसार इच्छाअनिच्छारूप स्वतः इच्छा-मात्र है। अतः समस्त सृष्टि ही परमात्माकी चित्सत्ताके अवलम्बन-मात्रसे प्रकृतिके स्वाभाविक स्पन्दन द्वारा स्वाभाविक विकाश मात्र है।

ब्रह्माण्ड सृष्टिके पहिले क्या था, इस विषयमें वेदादि समस्त शास्त्रोंकी एक वाक्यता है, यथा ऋग्वेदमें—

तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्यपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिमा जायतैकम् ॥
(मं० १० सू० १२९)

प्रलयकालमें समस्त ब्रह्माण्डमें अगाढ़ तम था, प्रकृति ब्रह्ममें विलीन थी, सर्वत्र तमसे आच्छादित था और कुछ भी नहीं था। बाइबिलमें भी 'The Earth was waste and void' 'It was all darkness' इत्यादि वचनोंसे इसी बातका ही प्रतिपादन किया गया है। छान्दोग्योपनिषद्में लिखा है—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम् ।

सृष्टिके पहिले अद्वितीय ब्रह्म एकाकी ही थे। ऐतरेयोपनिषद्में लिखा है—

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चनमिषत् ।"

सृष्टिके पूर्व अद्वितीय आत्मा ही था, व्यापारवान् और कोई भी वस्तु नहीं थी। इसके बाद सृष्टि कैसे हुई इस प्रश्नके उत्तरमें श्रुतिने कहा है—

सोऽकामयत बहु स्याम् प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत ।
यस्य ज्ञानमयं तपः, तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ॥

परमात्माने इच्छा की कि, मैं एकसे बहुत हो जाऊँ और प्रजाओंकी सृष्टि

करूँ, इस प्रकार इच्छा करके परमात्माने तप किया। उनका तप ज्ञानरूप ही है, साधारण तपश्चर्या नहीं है। ज्ञानमय तपके अनन्तर ब्रह्ममें ईश्वरभावका अभिनिवेश हुआ जिससे प्रलयविलीन ब्रह्माण्ड-प्रकृतिमें अव्याकृतसे व्याकृता-वस्थाकी सूचना हुई। इस तरहसे अद्वितीय परमात्माकी इच्छासे उनकी शक्तिरूपिणी प्रकृतिका विकाश होता है और तदनन्तर त्रिगुणमयी प्रकृतिके गुणस्पन्दन द्वारा क्रमशः ब्रह्माण्डसृष्टिका विकाश होता है। अब इस विषयमें पाश्चात्य विज्ञानशास्त्रका अबतक निश्चित सिद्धान्त बताकर पश्चात् आर्यशास्त्रीय सिद्धान्तोंका क्रमशः वर्णन किया जायगा।

"Kant pictures to himself the universe as once an infinite expansion of *formless* and diffused matter. In vivid language he depicts the great world—maelstrom widening the margins of its prodigious eddy in the slow progress of millions of ages, gradually reclaiming more of the molecular *waste*, and converting chaos into cosmos"—*Huxley remarks with the spirit of approval, Lay Sermons, p 208 9, 1891 Ed.*

पश्चिमी विद्वान् कान्ट तथा हक्सलेकी सम्मति है कि, सृष्टिसे पहिले आकारहीन बिछुड़े हुए पदार्थ शून्यमें विद्यमान थे और इन्हींसे कोटि कोटि वर्षोंमें धीरे धीरे प्रलयगर्भसे सृष्टिका विकाश हुआ है। विज्ञानशास्त्र (Science) के मतानुसार समस्त सृष्टि दो भागोंमें विभक्त की जा सकती है यथा स्थावर (Inorganic) और जङ्गम (Organic)। समुद्र, नदी, जल, स्थल, पर्वत आदि सभी स्थावर हैं और पशु, पक्षी, कीट, मनुष्य आदि सभी जङ्गम हैं। समस्त स्थावर पदार्थ सत्तर मूलभूत वस्तु (Elements) के संयोग द्वारा उत्पन्न हैं और समस्त जंगम पदार्थको विश्लेषण करनेपर उनके शरीरके उपादान रूपसे कोषाणु (Cell) पाये जाते हैं। उन कोषाणुओंको भी विश्लेषण करनेपर उनमें कुछ मूलभूत वस्तु (Elements) प्राप्त होती है। अतः सिद्धान्त हुआ कि, अनन्त वैचित्र्यमय स्थावरजङ्गमात्मक समस्त जगत ही उल्लिखित हाईड्रोजेन, अक्सिजेन, कारबन आदि ७० मूलभूतोंके संयोग द्वारा उत्पन्न है। बहुत दिनों तक पाश्चात्य वैज्ञानिकोंकी यह धारणा थी, कि, इन सब मूलभूतोंके परमाणु पृथक् पृथक् हैं और नित्य हैं। अर्थात् अक्सिजेनके परमाणु चिर दिन अक्सिजेनके

ही रहेंगे, हाईड्रोजेनके परमाणु उसीके रहेंगे इत्यादि और उनमें एक भूतके परमाणुओंके साथ दूसरे भूतके परमाणुओंका कुछ मेल नही है। परन्तु अब सर उईलियम क्रुक्स साहबने यह प्रमाणित कर दिया है जिसको सभी वैज्ञानिक जगतने मान लिया है, कि, रसायनोक्त वे ७० मूलभूत वास्तवमें चरम मूलभूत नहीं हैं और उनकी नित्यता भी नही है। वे सब प्रोटाईल (Protyle) नामक एक चरम भूतके विकार मात्र हैं। प्रोटाईल ही सृष्टिका चरम उपादान है; जिसके संयोगसे समस्त विश्वकी उत्पत्ति हुई है। ७० मूलभूत वस्तुएं सभी परमाणु अद्वितीय प्रोटाईलसे ही उत्पन्न हुए हैं। वे परस्पर मौलिक पृथकतासे युक्त नही हैं परन्तु एक ही के विकार मात्र हैं। इस प्रकारसे अनन्त वैचित्र्यमय स्थूल जगत्के मूलमें अद्वितीय प्रोटाईलकी सत्ता प्रमाणित करके पाश्चात्य वैज्ञानिकाने सांख्यदर्शनोक्त "प्रकृतेः सर्वोपादानता", "मूले मूलाभावादमूलं मूलम्" इस सूत्रका कुछ सार्थक्य अनुमान किया है, यथा—

"The Atomic theory refers all bodies to one homogenous basic substance, which has been termed *protyle* from which, by means of a process loosely defined as differentiation, all the elements are derived.........The hyloidealists have therefore regarded all matter as but the ultimate expression of spirit and primarily of a spiritual origin."—*Second sight, p. 15*

अर्थात् औसविक सिद्धान्तके अनुसार मौलिक पदार्थ सब प्रोटाईलसे क्रमशः प्रकट हुए हैं और प्रोटाईलकी उत्पत्तिके मूलमें भी कोई सूक्ष्म अतीन्द्रिय शक्ति विद्यमान है। स्थूलजगत्के विषयमे इस प्रकार सिद्धान्त करके तदनन्तर पाश्चात्य वैज्ञानिकोंकी दृष्टि शक्तिराज्यकी ओर पड़ी, जिससे शक्तिके अनन्त भेदोंका तत्त्वानुसंधान करते करते उन्होंने यह पता लगाया कि, समस्त भौतिक शक्ति ही छः विभागके अन्तर्गत है, यथा गति (motion), ताप (heat), प्रकाश (light), विद्युत् (electricity), चुम्बकशक्ति (magnetism) और रसायनशक्ति (chemical affinity) इनके सिवाय और भी दो शक्तियां हैं, यथाः—प्राणशक्ति (vital force) और जीवशक्ति (Paychicforce)। बहुत दिनों तक पाश्चात्य वैज्ञानिकोंका यह विश्वास रहा कि, ये अष्टविध शक्तियां परस्पर विभिन्न और

स्वतन्त्र पदार्थ है। वे आठ ही एक महाशक्तिके भावान्तरमात्र है ऐसा अनुमान उन लोगोंको नही हो सका। तदनन्तर सर उइलियम ग्रोभ नामक एक वैज्ञानिक पण्डितने प्रतिपादन कर दिया कि, उल्लिखित ताप आदि छः प्रकारकी शक्ति परस्पर रूपान्तर भावको प्राप्त हो सकती है। अर्थात् विद्युत्से ताप, प्रकाश या चुम्बक शक्ति उत्पन्न हो सकती है, पुनः ताप, प्रकाश आदिको विद्युत रूपमें परिणत किया जा सकता है इत्यादि। इस प्रक्रियाको उन्होंने शक्तिसमवर्त्तन (Co-relation of physical force) नाम दिया। हेलम्होल्स और मायर साहबने इस तत्त्वको और भी दृढ़मूल किया। अन्तमें प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक हार्बर्ट स्पेन्सरने स्पष्ट प्रमाणित कर दिया कि, केवल भौतिक शक्ति ही नहीं, अधिकन्तु प्राणशक्ति तथा जीवशक्ति भी इसी समावर्त्तन विधिके अन्तर्गत है अर्थात् सभी प्रकारकी शक्ति ही एक दूसरेमें रूपान्तरित हो सकती है। वास्तवमें शक्तिका ह्रास या वृद्धि नहीं है, केवल आविर्भाव, तिरोभाव तथा रूपान्तर भावान्तर मात्र है। हार्बर्ट स्पेन्सर कहते है कि, विश्वमें विकाशशील समस्त शक्तियोंके मूलमें कोई अज्ञेय अचिन्तनीय व्यापक शक्ति है, जिसका कदापि नाश नही होता है और जिसके ही रूपान्तर तथा भावान्तर रूपसे तापशक्ति, तड़ितशक्ति, चौम्बकशक्ति आदि अनन्त विकारप्राप्त अनन्त शक्तियोंका संसारमें आविर्भाव तिरोभाव होता रहता है। इतना कहकर अन्तमें हार्बर्ट स्पेन्सर तथा वालेस साहबने यह भी कह दिया है, कि, केवल शक्ति-राज्यमें ही नही अधिकन्तु स्थूल भौतिक राज्यमें भी उक्त महाशक्तिका समावेश है अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म समस्त जगत् एक ही अद्वितीय शक्तिका घनीभाव मात्र है। इस प्रकारसे अनेक मनस्वी पाश्चात्य पण्डितोंने स्थूल सूक्ष्म वैचित्र्यपूर्ण सृष्टिके मूलमें अतिमहान् नित्य विभु एक अद्वितीय महाशक्तिके अस्तित्वका अनुमान किया है और उसके विषयमें कुछ भी जाननेकी शक्ति न होनेसे उस महाशक्तिको अज्ञेय, अचिन्तनीय कहकर छोड़ दिया है। यह एक अतीव आनन्द और विस्मयकी बात है, कि, जहांपर पाश्चात्य दार्शनिक तथा वैज्ञानिक पण्डितोंने हताश होकर छोड़ दिया है, वहींसे हमारे पूज्यपाद त्रिकालदर्शी, ज्ञानदर्शी, तत्त्वदर्शी महर्षियोंने अपनी गम्भीर गवेषणाको प्रारम्भ करके उस महिमामण्डित महाशक्तिका पूर्ण स्वरूप तथा जड़चेतनात्मक समस्त जगत्में अपूर्व लीलाको योग-दृष्टि द्वारा प्रत्यक्ष करके जिज्ञासु तथा मुमुक्षु जनोंके लिये निःश्रेयस द्वारको उन्मुक्त कर दिया है।

अब इस विषयमें पश्चिमी विद्वानोंकी भी कुछ चिन्ताएं बताई जाती हैं।

The conclusion to which we seem driven, as the result of investigations, is, therefore, this:— That material forms are moulded into shape by directing Energy, which in turn is governed by mind. If this be true of these observed cases, and if there exists, as Doctor Geley believes, a definite connection between normal and supernormal physiology, it is also probably true that the same laws apply in very much the same manner in the former case, and that ALL visible forms are constructed in much the same way—that is to say, they too are build-up by a governing energy, directed by a mind lying behind them. And, if this be true, it is at once apparent that any form of materialism would be definitely and finally repudiated. For, in a similar manner, our whole visible universe may be build-up from existent matter, moulded by a governing energy which, in turn, is directed by a Cosmic Mind. It will thus be seen that these phenomena, should they prove to be true, afford a new light upon the very structure of our Cosmos, and enable us to see that there may be after all, a directive, creative Mind, governing all things, which controls those Energies, which in turn mould or influence our material world

(Hereward Carringten—Kalpaka 8-23)

There is a hue and cry in the world of science over a paper on the '*recent discoveries of the exploding atom*' read at the British Association in Edinburgh. The new theory is claimed to explain satisfactorily very many of the facts discovered during the last one hundred years about the constitution of the elements, "Matter is composed of little

whorls of electricity placed in various orders The elements are probably not chemicaly different in the old sense but may change and be changed by a mere breaking down of the 'electrical bits' of which they are composed." This (strangely corroborating the doctrine of the Indian Alchemists) was first known to the world of science in the case of radium. Science now knows it of other elements

(Kalpaka 1-22)

These are the interesting speculations of a trained scientific mind concerned with the future of Chemistry. Astronomy asks itself if the Universe is infinite or finite and what lies beyond the colossal distances Einstein considers that the universe is finite but un-bounded, 'space being affected with a curvature which makes it return upon itself' Outside, there may be other Universes–admits Einstein. Our own Universe – we mean this limited Einsteinian Universe— is a thousand million times larger than the region now telescopically accessible to us—says the *Literary Digest* And Prof. A Henderson of North Carolina University estimates that it would take ray of light a billion years to go 'around' the Universe, travelling at the rate of 186,000 miles per second. The sun is the supreme existence in the whole solar system All of the sun we are fitted to receive comes to us as the sunshine, illuminating, vivifying, pleasant, bringing into existance all that is living on this plane

(Kalpaka 1 24.)

हेरेवार्ड केरिंगटन साहबने कहा है—"अनेक अनुसन्धान करने पर हम लोग इस सिद्धान्त पर पहुचे हैं कि, दृश्यमान् जगत्के समस्त पदार्थोंको अपने अपने आकारमें लानेके लिये उन सबके भीतर एक सञ्चालक प्राणशक्ति काम

करती है और उस व्यापक प्राणशक्तिके पीछे भी एक सर्वतोव्याप्त इच्छा शक्ति है । विचार करने पर यह भी निश्चय होता है जैसा कि डा० गेली साहबका विश्वास है, कि, स्थूल दृश्य और सूक्ष्म दृश्यके भीतर पारस्परिक सम्बन्ध है और समस्त विश्वरचनाके मूलमें वही व्यापक, सञ्चालक प्राणशक्ति और इच्छाशक्ति विद्यमान है । इस सिद्धान्तसे भौतिक वादका पूर्ण निराकरण हो जाता है । और परमात्माको इच्छाशक्ति तथा चेतनशक्तिकी प्रेरणासे ही अद्भुत विश्वरचना होती है यही सत्य प्रकट हो जाता है ।"

"इसी विषयका एक निबन्ध एडिनबर्गकी ब्रिटिश महासभामें पढ़ा गया था, जिससे वैज्ञानिक जगत्मे हलचल मच गया है । उस निबन्धमें प्रधानतः यह दिखाया गया है, कि, गत सौ वर्षोंमे पदार्थ समूहकी उत्पत्तिके विषयमें जो तरह तरहके मतवाद चल रहे है, उन सबका मौलिक समाधान अब मालूम हो गया है । विद्युत् शक्ति अर्थात् सूक्ष्मशक्तिके घनीभावसे ही स्थूल पदार्थ बना करते है । इन पदार्थों में भी कोई मौलिक भेद नही है, वे विद्युत् शक्तिके भिन्न भिन्न प्रयोगसे भिन्न भिन्न आकार और प्रकारके बन सकते है । अतः इसके द्वारा भी निखिल स्थूलके मूलमें एक सूक्ष्म ही प्रतिपादित हुआ ।"

"इन सब पदार्थों की संहति या सघट्ट ही हमारा यह अनन्तव्यापी विश्व है । यह कितना बड़ा है, इस विषयमें इन्ष्टीन् साहब कहते हैं कि, ब्रह्माण्डकी सीमा तो है किन्तु सीमाका पता लगाना असम्भव है । इसके चारों ओर और भी अनेक ब्रह्माण्ड होंगे । साहित्यसार (Literary Digent) की सम्मति है कि दूरबीनके द्वारा जहां तकका पता लगता है उससे कई करोड़ मीलतक ब्रह्माण्डका विस्तार है । प्रोफेसर हेन्डरसन कहते है कि, ब्रह्माण्ड इतना बड़ा है कि, प्रति सेकेण्ड १८६००० मील चलने वाली एक रश्मिको ब्रह्माण्ड प्रदक्षिण करनेमें करोड़ वर्ष लग जायगा । ब्रह्माण्डमें सबसे उत्तम वस्तु सूर्य है । उसी-की किरणमें जो प्राणशक्ति है उसके बलसे ही विश्वके सब जड़ चेतन पदार्थ उत्पन्न हुए है ।

अब इस विषयमें आर्यशास्त्रीय सिद्धान्त बताया जाता है । आर्यशास्त्रमें प्रकृतिको ब्रह्मशक्ति कहकर शक्तिसे शक्तिमानका अभेद तथा अनन्त विश्वमें विविधरूपमें अभिव्यक्त विविध शक्तियोका मूलकेन्द्र शक्तिमान् परमात्माको ही माना गया है, यथा श्रुतिमें :—

ब्रह्मणः सकाशान्नानाविचित्रजगन्निर्माणसामर्थ्यबुद्धिरूपा ब्रह्मशक्तिरेव प्रकृतिः।"

जिसमें विचित्र जगन्निर्माण सामर्थ्य है और जो ब्रह्मसे ही उत्पन्न होती है, उस ब्रह्मशक्तिको प्रकृति कहते हैं। योगवाशिष्ठमें भीः—

चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम! शरीरेषूपलभ्यते।
स्पन्दशक्तिश्च वातेषु दार्ढ्यशक्तिस्तथोपले॥
द्रवशक्तिस्तथाम्भःसु दाहशक्तिस्तथाऽनले।
शून्यशक्तिस्तथाकाशे नाशशक्तिर्विनाशिनी॥

जीवशरीरमें चेतनशक्ति, पवनमें स्पन्दनशक्ति, प्रस्तरमें काठिन्यशक्ति, जलमें द्रवशक्ति, अग्निमें दाहिकाशक्ति, आकाशमे शून्यशक्ति तथा विनाशीमें नाशशक्ति ये सभी परमात्मासे स्वतः निर्गत मायाके आश्रयसे अभिव्यक्त शक्ति-समूह हैं। इसी प्रकार गीतामें भी लिखा है, यथा:—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

जो तेज सूर्यमें स्थित होकर समस्त संसारको उद्भासित करता है, जो तेज चन्द्रमा तथा अग्निमें स्थित है, वे सभी मेरे तेज हैं।

अतः यह सिद्धान्त हुआ कि, जिस सर्वतोव्यापिनी महाशक्तिको हार्बर्ट स्पेन्सर आदि पाश्चात्य पण्डितोंने अचिन्त्य अज्ञेय कहकर छोड़ दिया था वही महाप्रकृति है, जिसके त्रिगुण परिणाम द्वारा निखिल सृष्टिका विस्तार होता है।

आर्यशास्त्रमें महाप्रकृतिसे सृष्टिविकाशके विषयमें अनेक वर्णन मिलते हैं। सांख्यदर्शनमें लिखा है—"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि"। इसीको विष्णुपुराणमें विस्ताररूपसे बताया गया है, यथाः—

परमात्माके अधिष्ठान द्वारा साम्यस्थ प्रकृतिमें वैषम्य होकर महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ। महत्तत्त्व सात्त्विक, राजसिक और तामसिक है। महत्तत्त्वसे अहंतत्त्वकी उत्पत्ति होती है अहंतत्त्व भी सात्त्विक, राजसिक, तामसिक भेदसे त्रिविध है। अहंतत्त्वके त्रिगुणात्मक होनेसे ही वह भूतेन्द्रियों-का उत्पत्तिकारण हो सकता है तामसिक अहंतत्त्वसे शब्दतन्मात्रा और

उससे शब्दगुण-विशिष्ट आकाशकी उत्पत्ति होती है। तामस अहंकार द्वारा आकाश आवृत्त होता है। आकाशके क्षोभित होनेसे स्पर्शतन्मात्रा और उससे स्पर्शगुणयुक्त वायुकी उत्पत्ति होती है। आकाश वायुको आवृत करता है। तदनन्तर वायुके क्षोभसे रूपतन्मात्रा और उससे रूपगुणविशिष्ट अग्निकी उत्पत्ति होती है। वायु अग्निको आवृत करता है। तदनन्तर अग्निके क्षोभसे रसतन्मात्रा और उससे रसगुणयुक्त जलकी उत्पत्ति होती है, अग्नि जलको आवृत करती है। तदनन्तर जलमें क्षोभ होनेसे गन्धतन्मात्राकी उत्पत्ति होती है, जिससे गन्धगुणयुक्त पृथिवी उत्पन्न होती है। जल पृथिवीको आवृत करता है। उल्लिखित पञ्च सूक्ष्म तत्त्वोंमें शब्दादि गुणमात्रा रहनेसे उन गुणोंका नाम तन्मात्रा हुआ है। तदनन्तर राजसिक और सात्त्विक अहंकारके परिणाम द्वारा सृष्टि तथा स्थूलमहाभूत-सृष्टिके विषयमें विष्णुपुराणमें लिखा है:—

"भूततन्मात्रसर्गोऽयमहंकारात्तु तामसात्।
तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवा वै कारिकादश॥
एकादशं मनश्चात्र देवा वै कारिका स्मृताः।
त्वक् चक्षुर्नासिका जिह्वा श्रोत्रमत्र च पञ्चमम्॥
शब्दादीनामवाप्त्यर्थं बुद्धियुक्तानि वै द्विज।
पायूपस्थौ करौ पादौ वाक् च मैत्रेय! पञ्चमी॥
विसर्गशिल्पगत्युक्तिः कर्म तेषांच कथ्यते।
आकाशवायुतेजांसि सलिलं पृथिवी तथा॥
शब्दादिभिर्गुणैर्ब्रह्मन् संयुक्तान्युत्तरोत्तरैः।
शान्ता घोराश्च मूढाश्च विशेषास्तेन ते स्मृताः॥

तामसिक अहंकारसे भूत तन्मात्राओंकी उत्पत्ति होती है। राजस अहंकारसे पञ्चकर्मेन्द्रिय और पञ्चज्ञानेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। सात्त्विक अहंकारसे दश इन्द्रियोंके दश देवता, मन तथा मनके देवता उत्पन्न होते हैं। त्वक्, चक्षु, नासिका, जिह्वा और श्रोत्र-ये पञ्चज्ञानेन्द्रिय शब्दादि ग्रहणार्थ बुद्धियुक्त हैं। पायु उपस्थ, कर, पाद और वाक्-ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं जिनके कार्य विसर्ग, शिल्प, गति और उक्ति है। ये ही सब राजसिक सात्त्विक अहंकारके परिणाम द्वारा

उत्पन्न सृष्टि है। तदनन्तर पञ्चतन्मात्राओं या सूक्ष्म पञ्चतत्त्वोंसे स्थूल पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती है। उसमें आकाश, वायु, तेज, सलिल, पृथिवी उत्तरोत्तर शब्दादि गुणयुक्त हैं और शान्त, घोर, मूढधर्मी होनेसे इनको विशेष भूत कहते हैं। इनके गुणोंके विषयमें मनुसंहितामें लिखा है:—

"आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः॥

परपरके महाभूत पूर्व पूर्वके महाभूतोंसे उनके गुणोंको प्राप्त करते हैं। प्रथम महाभूत एक गुणविशिष्ट, द्वितीय दो गुणविशिष्ट और तृतीय तीन गुणविशिष्ट इत्यादि रूपसे महाभूतोंके गुण समझने चाहिये।

आकाशका गुण केवल शब्द है, वायुके गुण शब्द और स्पर्श हैं, अग्निके गुण शब्द, स्पर्श और रूप हैं, जलके गुण शब्द, स्पर्श, रूप और रस हैं। पृथिवीके गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध है। श्रीमद्भागवतमें इन सब तत्त्वोंके विषयमें सुन्दर वर्णन मिलता है, यथा:—

"ईश्वराधिष्ठित कालसे गुणोंका क्षोभ, स्वभावसे परिणाम और कर्मसे महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है। रजःसत्त्वगुणोंकी वृद्धिसे महत्तत्त्वमें विकार उत्पन्न होकर तमःप्रधान द्रव्यज्ञानक्रियात्मक अहंतत्त्वकी उत्पत्ति होती है। अहंतत्त्व तमःप्रधान होनेपर भी त्रिगुणमयी प्रकृतिका ही परिणाम होनेके कारण उसमें तीनों गुणोंका सम्बन्ध रहता है। अतः अहंतत्त्व भी सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भेदसे त्रिधा विभक्त है। सात्त्विक अहंकार ज्ञानशक्ति प्रधान, राजसिक अहंकार क्रियाशक्ति-प्रधान और तामसिक अहंकार द्रव्यशक्ति-प्रधान है। विकारप्राप्त तामसिक अहंकारसे आकाश उत्पन्न होता है, जिसका गुण शब्द है। विकृत आकाशसे स्पर्शगुणात्मक वायुकी उत्पत्ति होती है। आकाशके परवर्त्ती होनेसे वायुमें शब्दगुण भी है। देहधारण और इन्द्रिय, मन तथा शरीरकी पटुता वायुका कार्य है। विकारप्राप्त वायुसे रूपवान् अग्निकी उत्पत्ति होती है। आकाश और वायुके परवर्त्ती होनेसे अग्निमें शब्द और स्पर्श—ये दो गुण भी हैं। विकृत अग्निसे रसात्मक जल उत्पन्न होता है। इसमें पूर्वोक्त तीनों तत्त्वोंके गुण—शब्द, स्पर्श और रूप भी हैं। विकारप्राप्त जलसे गन्धगुणयुक्त पृथिवीतत्त्वकी उत्पत्ति होती है। सकलतत्त्वके अन्तिम होनेसे पृथिवीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँचों गुण विद्यमान हैं। इस तरहसे

तमःप्रधान अहंतत्त्व द्वारा पञ्चतत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है। सत्त्वप्रधान अहंतत्त्वसे अन्तःकरण तथा दशइन्द्रियाधिष्ठात्री देवताओंकी उत्पत्ति होती है, उनके नाम—दिक्, वात, अर्क, प्रचेता, अश्विनीकुमार, वह्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र और प्रजापति है। रजः प्रधान अहतत्त्वसे पांच कर्मेन्द्रियों और पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। सांख्यकारिकामें तीन गुणोंके लक्षणके विषयमें कहा है:—

"सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः, गुरुवरणकमेव तमः।"

सत्त्वगुण लघु और प्रकाशक है, रजोगुण प्रेरक और सक्रिय है, तमोगुण गुरु और आवरणकारी है। इसी कारणसे अहंतत्त्वमें सत्त्वगुणकी प्रधानता द्वारा लघु तथा प्रकाशक अन्तःकरणकी उत्पत्ति होती है, रजोगुणकी प्रधानता द्वारा प्रेरक तथा क्रियाशील इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है और तमोगुणकी प्रधानता द्वारा परमाणुपुञ्जके समावेशसे गुरु अर्थात् भारी और आवरणशील पञ्चतत्त्वों तथा उनके भी पञ्चीकरणसे पृथिवी, अप्, तेज आदि पञ्चीकृत महाभूतोंकी उत्पत्ति होकर सर्वत्र परिदृश्यमान स्थूल ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति हो जाती है। यही समस्त आर्यशास्त्रके मौलिक सिद्धान्तानुसार भौतिकब्रह्माण्ड-सृष्टि-विस्तारका क्रम है।

अपञ्चीकृत सूक्ष्म पञ्चतत्त्वोंसे स्थूल पञ्चीकृत महाभूत कैसे उत्पन्न होते हैं, इसके विषयमे पञ्चदशीमें लिखा है:—

"तद्भोगाय पुनर्भोग्यभोगायतनजन्मने।
पञ्चीकरोति भगवान् प्रत्येकं वियदादिकम्॥
द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्द्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते॥
तैरण्डस्तत्र भुवनभोग्यभोगाश्रयोद्भवः।
हिरण्यगर्भः स्थूलेऽस्मिन् देहे वैश्वानरो भवेत्॥

सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राएँ या पञ्चतत्त्व त्रिगुणमय होते हैं। इसलिये उनसे जीवभोगार्थं स्थूल पञ्चभूतनिर्माणके समय परमात्मा तमोगुणपर अधिष्ठान करके अपञ्चीकृत महाभूतोंको पञ्चीकरणकी विधि द्वारा स्थूल इन्द्रियगम्य बनाते हैं। वह विधि यह है:—प्रथमतः आकाशादि पञ्च सूक्ष्म भूतोंमेंसे प्रत्येकको समान दो भागमें विभक्त करके तदनन्तर द्विधा विभक्त उस प्रत्येक अंशको भी चतुर्धा

विभक्त करना चाहिये। तदनन्तर प्रथमोक्त अर्द्धांशोंके साथ द्वितीयोक्त चार भागोंके एक एक अंशकी योजना करनेपर पञ्चीकरण हो जाता है। इसमें प्रत्येक पञ्चीकृत महाभूतोंमें अपने अंशका अर्द्ध और बाकी चार भूतोंमेंसे प्रत्येकका अष्टांशरूपसे मिलित अर्द्धभाग—इस प्रकारसे भाग होता है। यथा, पञ्चीकृत पृथ्वीमें पृथ्वीका अर्द्धांश और बाकी जल, अग्नि, वायु और आकाश इन चार भूतोंमेंसे प्रत्येकका अष्टमांश करके मिलित अर्द्धांश रहेगा। इसी प्रकार पञ्चीकृत जलमें जलका अर्द्धांश और बाकी चार भूतोंके मिलित अर्द्धांश होंगे। इसी प्रकार अन्य तीन पचीकृत महाभूतोंका भी उपादान समझ लेना चाहिये। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंसे लेकर चतुर्दशभुवनमय एक ब्रह्माण्ड तथा एक स्थूलशरीररूपी पिण्डतक सभी इसी पञ्चीकृत पञ्च महाभूतोंके उपादान द्वारा निर्मित हुए हैं। समस्त स्थूल शरीर तथा भोग्यवस्तुएँ पञ्चीकृत महाभूतोंसे ही बनी हुई होती है और पञ्चीकृत महाभूतमय इस समष्टि शरीरपर हिरण्यगर्भ अधिष्ठान करते हैं। यही त्रिगुण परिणाम द्वारा हिरण्यगर्भके अधिष्ठान के उत्पन्न ब्रह्माण्ड-पिण्डमय भौतिक सृष्टि है, जिसके स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप तीन विभाग किये जाते हैं और इन्हीं तीन विभागोंको अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय इन पञ्चकोश नामसे पांच भागमें भी विभक्त किया जाता है।

अब ज्योतिःशास्त्रके सिद्धान्तानुसार स्थूल ब्रह्माण्डका कुछ वर्णन किया जाता है। प्रत्येक ब्रह्माण्डकी केन्द्रशक्ति सूर्य है। तदनुसार यह ब्रह्माण्डवर्ती सूर्य ही इस ब्रह्माण्डका केन्द्रस्थानीय है। समस्त ग्रह, उपग्रह उसीकी आकर्षण-विकर्षणशक्तिके प्रभावसे उसीके चारों ओर अनुक्षण प्रदक्षिणा किया करते हैं। समस्त ब्रह्माण्डमें ज्योतिष्मान् कोई भी वस्तु नहीं है। समस्त ज्योतिके आधार-रूप सूर्यसे ही ब्रह्माण्डके अन्तर्गत समस्त ग्रह, उपग्रहमें ज्योतिका सञ्चार होता है। हमारे सूर्यपरिवारमें अबतक ऐसे २६८ ग्रह, उपग्रह देखे गये है जो सूर्यकी ज्योतिसे ज्योतिष्मान् होकर सूर्यके चारों ओर घूमते है। ग्रहगण सूर्यको प्रदक्षिण करते हैं और उपग्रहगण ग्रहों को प्रदक्षिण करते है। इन सब ग्रह, उपग्रहोंको लेकर सूर्य भी ध्रुवके चारों ओर प्रदक्षिण करते है। समस्त ग्रह-उपग्रहोका स्थूलशरीर पृथ्वी, जल आदि पञ्चभूतोंसे बना हुआ है। केवल किसीमे कोई भूत प्रधान हैं और किसीमें कोई भूत प्रधान है। समस्त ग्रह-उपग्रहोंमें ही नाना प्रकारके जीवोंका वास है। कोई भी जीवशून्य नहीं है। उल्लिखित २६८ ग्रह

उपग्रहोंमेंसे प्रधान ग्रह ८ हैं, क्षुद्र ग्रह २४० हैं और उपग्रह या चन्द्र २० हैं। पृथ्वी ग्रहका एक चन्द्र है, मङ्गलको दो, बृहस्पतिको ४, शनिको ८, यूरेनसको और नेपचुनका एक—इस प्रकारसे २० चन्द्र हैं। आठ प्रधान ग्रहोंमेंसे बुधग्रह सूर्यके सबसे अधिक निकटस्थ है, वह ग्रह सूर्य से प्रायः ३७०००००० मीलकी दूरीपर रहकर प्रति मिनिट १८०० मीलके हिसाब से ८८ दिनोंमें एकवार सूर्य को प्रदक्षिण कर लेता है। अतः बुधग्रहवासी जीवोंका संवत्सर ८८ दिनोंमें ही पूर्ण होता है। बुधका व्यास ३१४० मील है और उसका आयतन पृथ्वीके एक तृतीयांश-तुल्य है। बुध ग्रहका दिन पृथ्वीके दिनसे बड़ा है और सूर्यज्योति तथा सूर्यौत्तापका भी प्रभाव पृथ्वीसे बुधग्रहपर अधिक पड़ता है। बुधग्रहके बाद शुक्रग्रह है। यह ग्रह सूर्यसे प्रायः ६८०००००० मील दूर पर रहकर प्रति मिनिट १२६० मीलके हिसाबसे २२५ दिनोंमें सूर्य के चारों ओर प्रदक्षिण करता है। इसका व्यास ७६६० मील है और आयतन पृथ्वीके आयतन के समान ही है। इसका दर्शन पृथ्वीसे सायंकाल तथा प्रातःकाल दोनों समय पर ही होता है, शुक्रग्रह सूर्यालोकसे बड़ा ही उद्भासित होता है। पश्चिमदेशीय-शास्त्रमें रूप तथा प्रेमकी अधिष्ठात्री भिनस देवतारूपसे इसकी पूजाका वर्णन पाया जाता है। शुक्रग्रहके बाद पृथ्वी ग्रह है। यह ग्रह सूर्यसे ९२७००००० मील की दूरी पर रहकर प्रति मिनिटमें प्रायः १०८० मीलके हिसाबसे ३६५¼ दिनोंमें ५८३०००००० मील पथके परिभ्रमण द्वारा एकवार सूर्यको प्रदक्षिण करता है। पृथ्वीका व्यास ७९१८ मील है और परिधि २४८७७ मील है। बुध और शुक्रग्रहका चन्द्र नहीं है परन्तु पृथ्वीग्रह एक चन्द्रके द्वारा आलोकित होता है। यह चन्द्र पृथ्वीसे २४०००० मीलकी दूरीपर रहकर प्रायः २८ दिनोंमें एकवार पृथ्वीको प्रदक्षिण करता है। चन्द्रका व्यास प्रायः २१६० मील है और परिधि प्रायः ६७८५ मील है। चन्द्र पृथ्वीसे बहुत छोटा है और इतना छोटा होनेसे ही पृथ्वी उसको लेकर सूर्यको प्रदक्षिण कर सकती है। पृथ्वीके बाद मङ्गलग्रह है। यह ग्रह सूर्यसे प्रायः १४४०००००० मीलकी दूरीपर रहकर प्रति मिनिट ६१६० मीलके हिसाबसे ६८७ दिनोंमें एकवार सूर्यको प्रदक्षिण करता है। मङ्गल ग्रहका व्यास पृथ्वीग्रहके व्यासार्द्धसे कुछ बड़ा है। अतः उसका आयतन पृथ्वीके आयतनसे बहुत ही छोटा है। मङ्गलग्रहका दिन-परिमाण प्रायः पार्थिव दिन परिमाणके समान ही है परन्तु पृथ्वीके दो वर्षमें मङ्गलका एक वर्ष होता है। पृथ्वी अपने कक्षमें जितने वेगके साथ भ्रमण करती है, मङ्गलका भ्रमणवेग प्रायः

उसका आधा है क्योंकि वह सूर्यसे कुछ दूरपर है और इसलिये उसपर सूर्यकी आकर्षणशक्तिका प्रभाव भी कुछ कम पड़ता है। ज्योतिर्विद् पण्डितोंने निश्चय किया है कि, मङ्गलग्रह ठीक पृथ्वीकी तरह जलस्थलपर्वतादिसे सुशोभित है, इसलिये वहाँके निवासी जीव भी मनुष्योंकी तरह होंगे—ऐसा अनुमान बहुत लोग करते हैं। पृथ्वीका जिस प्रकार एक चन्द्र है, उसी प्रकार मङ्गलके भी दो चन्द्र हैं। परन्तु उनकी ज्योति चन्द्रज्योतिकी तरह मधुर नहीं है। पाश्चात्य शास्त्रमें मङ्गलको रणदेवता करके वर्णन किया गया है । हिन्दूशास्त्रमें भी मङ्गलग्रहका ध्यान उसी प्रकार किया जाता है, यथा :— .

धरणीगर्भसम्भूतं विद्युत्पुञ्जसमप्रभम् ।
कुमारं शक्तिहस्तं च लोहिताङ्गं नमाम्यहम् ॥

बुध और शुक्रग्रह अन्तश्चर ग्रह हैं, क्योंकि, सूर्य और पृथिवीके अन्तर्वर्त्ती स्थानोंमे ही वे भ्रमण करते है । बाकी मङ्गलसे लेकर सब ग्रह बहिश्चर हैं; क्योंकि, इन सभोंका भ्रमणकक्ष पृथिवीके भ्रमण-कक्षसे बाहर है । मङ्गलके बाद बृहस्पति ग्रह है । परन्तु इन दोनों ग्रहोंका कक्षमध्यवर्त्ती स्थान ३३८००००० मील परिमित है । सौरजगत्का यह मध्यवर्त्ती स्थान २४० छोटे छोटे ग्रहोंका भ्रमण स्थान है और वे सभी अपने अपने कक्षपर भ्रमण करते हुए तेजोनिधान सूर्यदेवको प्रदक्षिण करते हैं। वे सब ग्रह इतने छोटे छोटे हैं कि, इनमेंसे किसी किसीका व्यास ४० मीलसे भी कम है । इन सभोंके बाद बृहस्पतिका भ्रमण-स्थान है । बृहस्पति आर्यशास्त्रमें सुरगुरु कहे जाते हैं । पाश्चात्य शास्त्रमे भी जुपिटर कहकर इनकी पूजा होती है । यह ग्रह सब ग्रहोंसे बृहत् तथा विचित्र-शरीर है । इसका आयतन पृथिवीके आयतनसे प्रायः तेरह सौ गुना बड़ा है। इसका व्यास ८५००० मील है, परिधि २६७०३६ मील है और जिस कक्षपर यह सूर्यको प्रदक्षिण करता है उसकी परिधि ३०८०००००० मील है, इसका दिन-परिमाण पृथिवीका दस घण्टा है और वर्ष-परिमाण ४३३३ दिन अर्थात् पृथिवी-ग्रहके प्रायः १२ वर्ष हैं। यह ग्रह सूर्य्यसे ४८८०००००० मीलकी दूरीपर रहकर प्रति मिनिट ४८० मीलके हिसाबसे प्रायः १२ वर्षमें एकबार सूर्य्यको प्रदक्षिण करता है । पृथिवीके एक चन्द्रकी तरह बृहस्पतिके चार चन्द्र हैं, उसका प्रथम चन्द्र एक दिन अठारह घण्टेमें, द्वितीय चन्द्र तीन दिन तेरह घण्टेमें, तृतीय चन्द्र सात दिन तीन घण्टेमें और चतुर्थ चन्द्र सोलह दिन

सोलह घण्टेमें वृहस्पतिग्रहको प्रदक्षिण करते है । वृहस्पतिपर सूर्यालोक विशेषरूपसे प्रतिफलित होता है, इस कारण उन सब स्वल्पज्योतिर्युक्त चन्द्रोंमें भी वृहस्पतिकी किरण पहुंचती है। चन्द्रचतुष्टयवेष्टित वृहस्पति ग्रहचतुष्टयवेष्टित सूर्यकी तरह प्रतीत होता है । वृहस्पतिग्रहके बाद शनैश्चर ग्रह है। यह ग्रह वृहस्पतिसे कुछ छोटा होनेपर भी पृथिवी ग्रहसे ७२१ गुना बड़ा है। इसका व्यास ७१००० मील है और परिधि २२३००० मील है। यह ग्रह सूर्यसे ८८४०००००० मीलकी दूरीपर रहकर प्रति मिनिट ३५८ मीलके हिसाबसे पार्थिव दिन परिमाणानुसार १०७५६ दिन अथवा साढ़े उनतिस वर्षमें सूर्य्यको एकवार प्रदक्षिण कर लेता है । शनैश्चर ग्रहका दिन-परिमाण साढ़े दस घण्टा है अर्थात् पृथिवीके दिन परिमाणके आधेसे भी कम है । दूरवीक्षण यन्त्र-योगसे शनैश्चरकी बड़ी ही शोभमाना मूर्त्ति देखनेमें आती है। इस अपूर्व ग्रहमें अनेक रङ्गका विचित्र समावेश है। यथा-इसके दो प्रान्त अर्थात् उत्तर और दक्षिण मेरुके सन्निहित देश नीलाञ्जनपुञ्जकी तरह प्रगाढ़ नीलवर्णमय हैं। इसके अन्यान्य स्थानमें तरल पीतवर्ण है। मध्यभाग श्वेतवर्णमय और समस्त शरीर ही पिङ्गल, नील, लोहित तथा रक्तवर्णसे रञ्जित है । पृथिवी-ग्रहको एक चन्द्र सुशोभित करता है, परन्तु शनैश्चरग्रह आठ चन्द्रकी सुशीतल किरणसे प्रफुल्लित रहता है । जिस समय आठ चन्द्र पूर्णकलासे सुशोभित होकर शनि ग्रहपर अपने अपने किरणजालका विस्तार करते हैं, उस समय शनैश्चरकी मूर्त्ति बड़ी ही सुन्दर हो जाती है। केवल इतनेहीमें शनैश्चरकी शोभासम्पत्ति समाप्त नहीं होती है । उसका चारु-चित्रित मनोहर कलेवर परस्पर असंलग्न तीन अपूर्व आलोकवलयके द्वारा वेष्टित रहता है। ये सब वलय इतने वृहदाकार हैं कि, इनमेंसे प्रत्येकमें पृथिवी जैसे शत शत ग्रह पिण्डकी तरह टंगे रह सकते है । ज्योतिर्विद् पण्डितोंने निर्णय किया है कि, ये सब वलय छोटे छोटे असंख्य चन्द्रोंके संयोग द्वारा निर्मित है । अष्टचन्द्रसुशोभित शनैश्चर भी वृहस्पतिकी तरह अष्टग्रहसमन्वित सूर्यवत् प्रतीत होते है । शनैश्चरके परवर्त्ती ग्रहका नाम यूरेनस है । इसका व्यास ३१७०० मील है, और पृथिवीसे यह ग्रह प्रायः चौसठ गुना बड़ा है। यह ग्रह शनैश्चरके कक्षसे ६१६०००००० मील और सूर्य्यसे प्रायः १८०००००००० मीलकी दूरीपर रहकर ३०६८७ दिवस अर्थात् मनुष्यमानके ८४ वर्ष २७ दिनोंमें सूर्यको प्रदक्षिण कर लेता है । अन्यान्य ग्रहोंकी तरह यूरेनस ग्रहके भी चार चन्द्र हैं। यूरेनसके बाद नेपच्युन ग्रह है । इसका व्यास ३४५०० मील है। यह

ग्रह पृथिवीसे बहुत बड़ा है और यूरेनससे भी बड़ा है। इसके पृष्ठसे सूर्य एक समुज्ज्वल तारेकी तरह दीखते हैं। नेपच्युनका अभी तक एक चन्द्र आविष्कृत हुआ है। यह ग्रह यूरेनसके कक्षसे ९८०००००० मील तथा सूर्यसे २७८००००००० मीलकी दूरीपर रहकर प्रति मिनिट १८० मीलके हिसाबसे ६०१२६ दिन अर्थात् पृथिवीके प्रायः एक सौ पैंसठ वर्षोंमें एक बार सूर्यको प्रदक्षिण करता है। नेपच्युनके आगे और कोई भी ग्रह अबतक आविष्कृत नहीं हुआ है। इसलिये यदि नेपच्युनको ही सूर्यमण्डलका सीमाग्रह अर्थात् अन्तिमग्रह कहा जाय तो इस सौर जगत् अर्थात् ब्रह्माण्डका व्यास ५७२००००००० मील और इसकी परिधि १७०००००००००० मील होती है। यही अनन्त आकाशमें अविराम भ्रमणशील हमारे ब्रह्माण्डका आनुमानिक परिमाण है, जिसकी केन्द्रशक्ति तथा समस्त प्रकाशके एक मात्र आकर रूपसे भगवान् भास्करदेव उल्लिखित परिधिके अन्तर्गत २६८ ग्रहोपग्रहमालाओंको स्वकीय अनुपम शक्तिजाल तथा किरणजालके द्वारा उद्भासित करते हुए अपने समस्त परिवार सहित द्रुततम वेगसे महासूर्यरूप ध्रुवकी चारों ओर निशिदिन नियमितरूपसे प्रदक्षिण कर रहे हैं। सूर्यका व्यास ८५२६०० मील है और परिधि २६७६४७० मील है। अपने परिवारस्थित समस्त ग्रहउपग्रहोंको साथ लेकर सूर्य भी प्रति सेकण्ड ४ मील अथवा प्रति घण्टा १४४०० मीलके हिसाबसे चक्रभ्रमण कर रहे हैं। यही पञ्चभूतमय स्थूल ब्रह्माण्ड है। ऐसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों द्वारा श्रीभगवान्का विराट् स्थूल देह सुशोभित है। यही अनादि, अनन्त, आध्यात्मिक सृष्टिका मनवचनबुद्धिसे अगोचर लोकोत्तर चमत्कार स्वरूप है। अतः पर ब्रह्माण्डमें दैवीसृष्टिका वर्णन किया जायगा।

प्रत्येक ब्रह्माण्डमें चौदह भुवन हुआ करते हैं। भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक— ये सातदैव ऊर्ध्वलोक कहाते हैं, तथा रसातल, पाताल आदि सात दैव अधोलोक कहाते हैं। ऊपरके सातलोकोंमें देवता बसते हैं और नीचेके सात लोकोंमें असुर बसते हैं। देवता और असुर दोनों ही देवयोनि हैं। केवल इतना भेद है कि, देवता सत्त्वगुण प्रधान होते हैं और असुर तमोगुण प्रधान होते हैं।

जब इस ब्रह्माण्डके चलानेका भार देवताओंपर रहता है, तब ब्रह्माण्डकी दशा अच्छी रहती है। जब कभी देवतागण भोगसे अपने तपको क्षय कर डालते

हैं और प्रमादी बनजाते हैं, तब असुरगण अपने नीचेके सातों लोकोंसे आगे बढ़कर उच्च लोकोंमे अपना राज्यविस्तार करनेका यत्न करते हैं। जब कभी असुर जीत जाते हैं तभी ब्रह्माण्डमें अनेक प्रकारके विप्लव दिखाई देने लगते हैं। देवराजकी राजधानी तीसरे ऊर्ध्वलोक अर्थात् स्वर्लोक में है और असुरराज्य की राजधानी सातवें अधोलोक अर्थात् पाताल में है। देवताओंका पराजय होनेपर देवराजको अपनी राजधानीसे भागना पड़ता है। इतना है कि, असुरगण देवताओंकी राजधानीको छीनना चाहते हैं, परन्तु देवतागण कभी असुर लोगोंको जय करनेका यत्न नहीं करते। देवतागण यह भलीभांति जानते है कि, जब देवतागण और असुरगण अपने अपने लोकोंमें वास करेंगे तभी उस ब्रह्माण्डका कल्याण बना रहेगा। इन दोनों प्रकारकी देवयोनियोंके अतिरिक्त और भी बहुत प्रकारकी देवयोनियां हैं, जो इन लोकोंमें बसती हैं। उनमें ऋषि और पितृलोकमें जो बसते है ये सर्व प्रधान है। आगे के अध्यायोंमें इसपर विशेष विवेचन किया जायगा।

अब मनुष्यादि सृष्टि बताई जाती है, यथा पैङ्गलोपनिषद् में—

"पृथिव्यादि-महाभूतानां समवायः शरीरम्। यत्कठिनं सा पृथिवी अस्थिचर्मनाड़ीरोममांसश्चेति पृथिव्यंशाः। यद्द्रवं तदापः मूत्रश्लेष्मरक्तशुक्रस्वेदा अपंशाः। यदुष्णं तत्तेजः क्षुत्तृष्णाऽऽलस्यमोहमैथुनान्यग्नेः। यत्सञ्चरति स वायुः। प्रचारणविलेखनस्थूलाऽऽद्युन्मेषनिमेषाऽऽदिवायोः। यत्सुषिरं तदाकाशम्। कामक्रोधलोभमोहभयान्याकाशस्य।

"एतत्संघातं कर्मणि सञ्चितं त्वगादियुक्तं बाल्याऽऽद्यवस्थाऽभिमानास्पदं बहुदोषाऽऽश्रयं स्थूलशरीरं भवति।

अन्नरसेनैव भूत्वाऽन्नरसेनाभिवृद्धिं प्राप्याऽन्नरसमयपृथिव्यां यद्विलीयते सोऽन्नमयकोशः। तदेव स्थूलशरीरम्॥

कर्मेन्द्रियैः सह प्राणादिपञ्चकं प्राणमयकोशः॥
ज्ञानेन्द्रियैः सह मनो मनोमयकोशः॥
ज्ञानेन्द्रियैः सह बुद्धिर्विज्ञानमयकोशः॥
एतत् कोशत्रयं लिङ्गशरीरम्॥
बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया।

शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मन्तल्लिङ्गमुच्यते ॥
अशनायापिपासाशोकमोहजरामरणानीति षडूर्मयः ॥

"कोशचतुष्टयसंसक्तं स्वकारणाऽज्ञाने बटकर्णिकायामिव वटवृक्षो यदा वर्त्तते तदाऽऽनन्दमय कोशः ॥

"स्वरूपाऽज्ञानमानन्दमयकोशस्तत्कारणशरीरम् ॥"

पृथिवी, अप्, तेज, मरुत, व्योम-इन पांच पञ्चीकृत महाभूतोंकी समष्टिसे ब्रह्माण्ड तथा पिण्डका स्थूलशरीर बनता है। उसमे जो कठिन अंश है सो पृथिवीका है, जैसा कि पिण्डशरीरमें अस्थि, चर्म, नाड़ी, रोम और मांस हैं। द्रव अंश अप्का है। यथा पिण्डदेहमें मूत्र, श्लेष्मा, रक्त, शुक्र और स्वेद। उष्ण अंश तेजका है। यथा-पिण्ड देहमे क्षुधा, तृष्णा, आलस्य मोह, मैथुन। सञ्चरणशील अंश वायुका है। यथा पिंड शरीरमे प्रचारण, विलेखन, उन्मेष, निमेष आदि। अवकाशयुक्त अंश आकाशका है। यथा पिण्डशरीरमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि। इस प्रकारसे प्राक्तनकर्मोत्पन्न पञ्चभूतमय त्वगादियुक्त बाल्यादि अवस्थाओंके अभिमानका निदान अनेक दोषाश्रय स्थूल शरीर होता है। अन्नरस-से उत्पन्न होकर अन्नरसके द्वारा ही वृद्धि प्राप्त होकर अन्नरूमय पृथिवीमें ही लय होजाता है। इसलिये पञ्चभूतमय स्थूलशरीरको अन्नमयकोश कहा गया है। ब्रह्माण्डप्रकृतिमें भी जो पञ्चभूतमय स्थूल विभाग है वह ब्रह्माण्ड प्रकृतिका स्थूल-शरीर या समष्टि स्थूलशरीर है। इसको समष्टिअन्नमयकोश भी कहते हैं। पञ्च कर्मेन्द्रिय और पञ्चप्राण मिलकर प्राणमयकोश कहलाता है—यह ब्रह्माण्ड पिण्ड दोनोंमें ही व्याप्त है। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और मन मिलकर मनोमयकोश कहलाता है—यह ब्रह्माण्ड, पिण्ड दोनोंमें ही व्याप्त है। पञ्चज्ञानेन्द्रिय और बुद्धि मिलकर विज्ञानमयकोश कहलाता है—यह ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनोंमें ही व्याप्त है। प्राण-मय, मनोमय और विज्ञानमय इन तीनो कोशौको मिलाकर लिङ्गशरीर या सूक्ष्म-शरीर कहलाता है। पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चप्राण, मन और बुद्धि ये सप्तदश मिलकर सूक्ष्मशरीर या लिङ्गशरीर कहलाता है—यह ब्रह्माण्ड पिण्ड दोनों में ही व्याप्त है। अशन, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मरण पिण्ड और सूक्ष्मशरीरमें ये छः तरङ्ग हैं। पूर्वोक्त चार कोशोंसे संयुक्त वटकर्णिकामें वटवृक्ष-की तरह ब्रह्माण्डपिण्डसृष्टिका बीजरूप अविद्यामय जो कोश है उसे आनन्दमय-

कोश कहते हैं। आनन्दमयकोश ही कारण शरीर है जो ब्रह्माण्ड पिण्ड दोनोंमें व्याप्त है। विभु आत्माके साथ सिसृक्षा सम्बन्धयुक्त विकृतिकी ओर अग्रसर होनेवाली जो समष्टि प्रकृति है वही ब्रह्माण्डप्रकृतिका कारणशरीर है। इसी कारणशरीरमें ही ईश्वर प्रतिबिम्बित होते हैं, जिससे ब्रह्माण्ड सृष्टि प्रारम्भ होने लगती है। इस प्रकारसे ब्रह्माण्डप्रकृति स्थूलसूक्ष्मकारणरूपी त्रिविध शरीर अथवा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय, इन पञ्चकोशोंमें विभक्त है, और समस्त पिण्डशरीरकी उपादानरूप होनेसे प्रत्येक पिण्डशरीरमें भी ये तीन शरीर अथवा पांच कोश होते है। वेदमें लिखा है—

"मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥"

(श्वेताश्वतर उप०)

"तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।"

"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥"

(मुण्डक उप०)

प्रकृति माया और परमात्मा उसके प्रेरक मायी हैं। उन्हीके शरीरसे उत्पन्न अगणित जीवोंके द्वारा समस्त जगत् परिव्याप्त है। समस्त देवतागण, साध्यगण, मनुष्यगण तथा पशुपक्षी आदि चराचर समस्त जीव उन्हींसे उत्पन्न हुए हैं। पञ्चप्राण, अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, आकाश, वायु, अग्नि, जल और विश्वधात्री पृथिवी सभी उनसे उत्पन्न हुए हैं। महाभूतादि समस्त तथा सकल प्राणी किस आधारसे नवीन ब्रह्माण्डसृष्टिके समय प्रकृतिमें उत्पन्न होते हैं, इसके लिये श्रुति कहती है कि:—

"यथापूर्वमकल्पयद्दिवं च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥"

द्युलोक, पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक तथा चराचर समस्त जीव, पूर्व सृष्टिके अनुसार ही नवीन ब्रह्माण्ड सृष्टिके समय उत्पन्न होते हैं। महाभूतादि तो स्वाभाविकरूपसे पूर्वकी तरह उत्पन्न हो ही जाते हैं, एतदतिरिक्त मनुष्यादि समस्त जीव भी प्रलयके समय जो जिस दशामें जिन जिन कर्मोंके साथ लय हो गये थे, उन्हीं उन्ही कर्मोके वेगसे ठीक तदनुसार योनियोंको प्राप्त हो जाते हैं। पूर्व सृष्टिमें जो मनुष्य थे वह मनुष्य ही बनते है, जो देवता थे वह

देवता ही बनते है, जो पशु थे सो पशु ही बनते हैं, जो उन्नत लोकके जीव थे वह उन्नत लोकमें ही उत्पन्न होते हैं, जो अधोलोकके जीव थे वह अधोलोकमें ही उत्पन्न होते हैं, यही श्रुत्युक्त 'यथापूर्व' शब्दका तात्पर्य है। श्रीभगवान् मनुजीने भी अपनी संहितामे लिखा है:—

यं तु कर्माणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः ॥
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमान पुनः पुनः ॥
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ॥
यद्‌ यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥
यथर्त्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्त्तुपर्यये ॥
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥
एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः ॥
यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥

स्वभावके अनुसार जिस जीवका जो कर्म प्रथम उत्पन्न हुआ था प्रत्येक सृष्टिमें उसीके अनुसार उसकी चेष्टा तथा जन्म होता है । हिंस्र सिंहादि, हिंसाशून्य हरिणादि, मृदुप्रकृति ब्राह्मणादि, क्रूरप्रकृति क्षत्रियादि, धर्म, अधर्म, सत्य, मिथ्या—जिसमें पूर्व सृष्टिमे जो बातें थीं उसीके अनुसार सृष्टि होती है और ऐसी ही प्रकृति तथा प्रवृत्तिको जीव प्राप्त करते हैं । जिस प्रकार भिन्न भिन्न ऋतुओंके आगमनके समय प्रकृतिमें स्वतः ही तदनुसार वृक्षलतादिकौका परिवर्त्तन हो जाता है, ऐसे ही पूर्वकर्मानुसार स्वतः ही जीवोंका जन्म तथा उनमें भिन्न भिन्न प्रवृत्ति होने लगती है । श्रीभगवान् ब्रह्माकी आज्ञासे मरीचि अत्रि आदि प्रजापतिगण तपोनुष्ठान द्वारा स्थावर जङ्गमात्मक समस्त सृष्टि इसी प्रकारसे समष्टि जीवोंके प्राक्तनानुसार करते हैं । यह सब सृष्टि बैजी है या मानसी, इसके विषयमें आर्यशास्त्र कहता है, कि, समस्त प्राथमिक सृष्टि मानसी ही हुआ करती है । श्रुतिमें लिखा है—

"मनसा साधु पश्यति मानसाः प्रजा असृजन्त"

सृष्टिके समय प्रजापति ब्रह्माजीने मन संयम द्वारा समष्टि-जीवोंके प्राक्तन कर्मोंको ठीक ठीक देखकर मानसी सृष्टिकी । महाभारतमें लिखा है—

प्रजापतिरिदं सर्वं मनसैवासृजत् प्रभुः ।
तथैव देवानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥

आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाऽक्षयाऽव्यया।
सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा॥

प्रजापति ब्रह्माने समस्त जीवों तथा देवताओंकी सृष्टि मनसे ही की थी और महर्षियोंने भी आदि कालमें तपस्याके द्वारा मानसी सृष्टि की थी। आदिदेव ब्रह्मासे जो अक्षय, अव्यय, वेदमूलक, धर्म्मतन्त्रपरायण सृष्टि हुई थी, जो सनक, सनन्दन आदि सिद्ध, मरीचि, अत्रि आदि प्रजापति तथा उनसे उत्पन्न आदिपुरुष ब्राह्मणगण थे। ये सब सृष्टि ब्रह्माजीकी मानसी सृष्टि थी। इन सब सृष्टियोंको आर्यशास्त्रमें कई भागोंमें विभक्त किया गया है, यथा श्रीविष्णुपुराणमे—

पञ्चधावस्थितः सर्गो ध्यायतोऽप्रतिबोधवान्।
बहिरन्तोऽप्रकाशश्च संवृतात्मा नगात्मकः॥
मुख्यानगा यतश्चोक्ता मुख्यसर्गस्ततस्त्वयम्।
तं दृष्ट्वाऽसाधकं सर्गममन्यदपरं पुनः॥
तस्याभिध्यायतः सर्गं तिर्यक्स्रोताभ्यवर्त्तत।
यस्मात्तिर्यक्प्रवृत्तः स तिर्यक्स्रोतास्ततः स्मृतः॥
पश्वादयस्ते विख्यातास्तमप्राया ह्यवेदिनः।
उत्पथग्राहिणश्चैव तेऽज्ञाने ज्ञानमानिनः॥
अहंकृता अहम्माना अष्टाविंशद्वधात्मकाः।
अन्तःप्रकाशास्ते सर्वे आवृताश्च परस्परम्॥

तदनन्तर सृष्टिके विषयमें ध्यान करते करते अज्ञानयुक्त, भीतर बाहर प्रकाशहीन, मूढ़स्वभाव स्थावरसृष्टि पञ्चधा प्रकट हुई। जीव सृष्टिमें इसलिये स्थावर उद्भिज्जमयी सृष्टि ही मुख्य है। तदनन्तर इस सृष्टिको असम्पूर्ण जानकर ब्रह्माजीने पुनरपि ध्यान किया जिससे तिर्यक्स्रोत स्वेदज, अण्डज तथा पश्वादिकी सृष्टि प्रकट हुई। यह सृष्टि तमःप्रधान, ज्ञान-लक्ष्य-शून्य, नियमित उद्र्ध्वपथगामी, अज्ञानमे अभिमानयुक्त, अहङ्कृत, अभिमानी, अट्ठाइस प्रकारके वधसे युक्त और ऐसा होनेपर भी अन्तः प्रकाश और परस्परावृत हैं अर्थात् मनुष्यके नीचेकी जितनी सृष्टि है उन सब जीवोंमें पञ्चकोशोंका पूर्णविकाश न होनेसे,

उनमें आत्माकी कलाका पूर्ण विकाश न होनेपर भी उनके अन्तःकरणमें आत्माकी कला विद्यमान रहती है। यही अन्तःप्रकाश शब्दका तात्पर्य है और परस्परावृत शब्दका तात्पर्य यह है कि, मनुष्यमें जैसी स्वाधीनता (individuality) आ जाती है वह भाव अन्य अन्य जीवोंमें नहीं है और अन्य सब जीवोंकी श्रेणियां एक एक देवता द्वारा चालित होनेसे आत्मसंघ (Group Soul) विशिष्ट हैं। यही परस्परावृतका तात्पर्य है। तदनन्तर कौन सृष्टि हुई, इसके विषयमें विष्णुपुराणमें लिखा है:—

तमप्यसाधकं मत्वा ध्यायतोऽन्यस्ततोऽभवत्।
ऊर्द्ध्वस्रोतास्तृतीयस्तु सात्त्विकोर्द्ध्वमवर्त्तत॥
ते सुखप्रीतिबहुला बहिरन्तस्त्वनावृताः।
प्रकाशा बहिरन्तश्च ऊर्द्ध्वस्रोतोभवा स्मृताः॥
तुष्टात्मनस्तृतीयस्तु देवसर्गस्तु स स्मृतः।
तस्मिन् सर्गेऽभवत् प्रीतिर्निष्पन्ने ब्रह्मणस्तदा॥
ततोऽन्यं स तदा दध्यौ साधकं सर्गमुत्तमम्।
असाधकांस्तु तान् ज्ञात्वा मुख्यसर्गादिसम्भवान्॥
तथाभिध्यायतस्तस्य सत्याभिध्यायिनस्ततः।
प्रादुर्बभूव चाव्यक्तादर्वाक्स्रोतस्तु साधकम्॥
यस्मादर्वाक् प्रवर्त्तन्ते ततोर्वाक्स्रोतसस्तु ते।
ते च प्रकाशबहुलास्तमोद्रिक्ता रजोऽधिकाः॥
तस्मात्ते दुःखबहुला भूयोभूयश्च कारिणः।
प्रकाशा बहिरन्तश्च मनुष्याः साधकाश्च ते॥

पश्चादि सृष्टिको भी असाधक जानकर पुनरपि ब्रह्माजीने ध्यान किया जिससे ऊर्द्ध्ववासी ऊर्द्ध्वस्रोता सात्त्विक सृष्टि प्रकट हुई। यह सृष्टि सुख-प्रीतियुक्त बहिरन्त प्रकाश देवसृष्टि है जिससे ब्रह्माजीको सन्तोष प्राप्त हुआ। तदनन्तर इन सभीको असाधक जानकर एक साधक-सृष्टिके लिये ब्रह्माजीने ध्यान किया। सत्याभिध्यानशील ब्रह्माके ध्यान करनेपर अव्यक्तसे निम्नस्रोत साधक मनुष्योंकी सृष्टि हुई। यह सृष्टि प्रकाशबहुल, तमोयुक्त रजोधिक है।

इसलिये मनुष्यगण दुःख-बहुल पुनः पुनः कर्मकारी, वहिरन्तःप्रकाश और साधक होते हैं । इस तरहसे जीव सृष्टिका क्रम बताया गया है । मनुष्य सृष्टिके क्रमके विषयमें श्रीमद्भागवत्में लिखा है:—

भगवद्ध्यानपूतेन मनसाऽन्याँस्ततदाऽसृजत् ।
सनकञ्च सनन्दञ्च सनातनमथात्मभूः ॥
सनत्कुमारं च मुनीन् निष्क्रियानूर्ध्वरेतसः ।
तान् बभाषेस्वभूः पुत्रान् प्रजाः सृजत पुत्रकाः ॥
ते नैच्छन्मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः ।

परमात्माके ध्यानसे पवित्रचित्त ब्रह्माजीने मनसे सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार नामक चार पुत्र प्रथमतः उत्पन्न किये । ब्रह्माण्ड-प्रकृतिकी प्रथम अभिव्यक्ति होनेसे ये चार पुत्र ऊर्द्ध्वरेता और कर्ममार्गमें पूर्ण अनासक्त थे । इसलिये इनसे ब्रह्माजीने जब प्रजासृष्टि करनेको चाहा तो इन्होंने अस्वीकार किया और मोक्षधर्मपरायण हो परमात्मामें रम गये । यह पूर्ण सात्विक प्रथम सृष्टि है । इसके बाद कौन सृष्टि हुई थी, इसके विषयमें भागवतमें लिखा है—

अथाभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे ।
भगवच्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तान-हेतवः ॥
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
भृगुर्वशिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः ॥
उत्संगान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात् स्वयम्भुवः ।
प्राणाद् वशिष्ठः सञ्जातो भृगुस्त्वचि करात् क्रतुः ॥
पुलहो नाभितो जज्ञे पुलस्त्यः कर्णयोर्ऋषिः ।
अङ्गिरा मुखतोऽक्ष्णोऽत्रिर्मरीचिर्मनसोऽभवत् ॥

परमात्माकी शक्तिसे युक्त होकर ब्रह्माजीने जब पुनरपि ध्यान किया तो, प्रजावृद्धि-कर दश पुत्र उत्पन्न हुये । उनके नाम मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वशिष्ठ, दक्ष और नारद हुये । ब्रह्माजीके अङ्कसे नारद उत्पन्न हुए, अगुष्ठसे दक्ष, प्राणसे वशिष्ठ, त्वकसे भृगु, करसे क्रतु, नाभिसे

पुलह, कर्णसे पुलस्त्य, मुखसे अङ्गिरा, चक्षुसे अत्रि और मनसे मरीचि उत्पन्न हुये। ब्रह्माण्डप्रकृतिकी गति निम्नाभिमुखिनी होनेसे इन दस मानस पुत्रोंकी इच्छा सृष्टि करनेकी ओर हुई। ये पूर्वोक्त चार पुत्रोंकी तरह पूर्णनिष्काम नहीं हुए। इसलिये इनको प्रजापति कहते हैं। इन्होंने ब्रह्माजीकी आज्ञासे उनके द्वारा असृष्ट अनेक मानसी सृष्टि की, यथा-मनुसंहितामें—

एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः।
देवान् देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः॥

इस प्रकारसे दस प्रजापतियोंमें ब्रह्माण्ड-प्रकृतिके द्वितीय स्तरमें उत्पन्न होनेके कारण शुद्ध सत्त्वगुण न होकर कुछ रजोगुणका भी सम्पर्क हुआ, जिससे उनमें सृष्टि करनेकी इच्छा हुई। परन्तु परमतेजस्वी होनेके कारण उनको मैथुनी सृष्टि नहीं करनी पड़ी। उन्होंने मनके ही बलसे प्रलयविलीन जीवोंको उनके कर्मानुसार त्रिविध शरीरयुक्त करके यथादेश-काल संस्थापित कर दिया। उनके द्वारा ब्रह्माण्ड-प्रकृतिके तृतीय स्तरमें जो मानुषी सृष्टि हुई, वह भी पूर्ण ब्राह्मणकी सृष्टि हुई, क्योंकि, ब्रह्माण्डप्रकृतिके तृतीय स्तरमें भी सत्त्वगुणका विशेष प्रकाश और रजोगुणका स्वल्प प्रकाश रहनेके कारण सत्त्वगुण-प्रधान ब्राह्मणके लिये ही ब्रह्माण्ड-प्रकृतिका वह देशकाल अनुकूल था, इसलिये उस सृष्टिमें ब्राह्मण ही उत्पन्न हुए, जैसा कि महाभारतमें कहा है—

"न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्रह्ममिदं जगत्"

प्रथम सृष्टिमें चातुर्वर्ण्यकी पृथक्ता नहीं थी, समस्त जगत् ब्राह्मणमय ही था। तदनन्तर ब्राह्मण-प्रकृति जितनी निम्नाभिमुखिनी होती गई उतना ही उसमें रजोगुणका तथा तमोगुणका प्राधान्य और सत्त्वगुणका अप्राधान्य होता गया और तदनुसार एक ही सत्त्वप्रधान ब्राह्मणजातिके स्थानमें रजःसत्त्वप्रधान क्षत्रियजाति, रजस्तमः-प्रधान वैश्य जाति और तमः प्रधान शूद्रजाति—इस तरहसे चार जातियां बन गईं। चार वर्ण बन जानेपर भी उनमें वेद-विहित आर्यजातीय आचार बहुत वर्षोंतक बना रहा। पश्चात् प्रकृति जितनी जितनी निम्नाभिमुखिनी होती गई, उतनी उतनी इन चारों वर्णोंमें निज निज आचारके प्रति भी उपेक्षा होती गई जिससे आर्यभावविच्युत म्लेच्छभाव-प्राप्त अनेक जातियां इन चारोंमेंसे बन गईं और वे सब भिन्न भिन्न देशमें जाकर हूण, दरद, खश, चीन आदि अनेक जातियां बन गईं, यथा महाभारतमें—

इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्राह्मणा पूर्वं लोभात्त्वज्ञानतां गताः॥
ब्राह्मणा ब्रह्मतन्त्रस्थास्तपस्तेषां न नश्यति।
ब्रह्म धारयतां नित्यं व्रतानि नियमांस्तथा॥
ब्रह्म चैव परं सृष्टं ये न जानन्ति तेऽद्विजाः।
तेषां बहुविधास्त्वन्यास्तत्र तत्र हि जातयः॥
पिशाचा राक्षसाः प्रेता विविधा म्लेच्छजातयः।
प्रनष्टज्ञानविज्ञानाः स्वच्छन्दाचारचेष्टिताः॥

ब्रह्माण्ड-प्रकृतिके तृतीय स्तरमें उत्पन्न ब्राह्मणगण क्रमशः हीनवर्ण होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-इन चार वर्णोंमें विभक्त हो गये। तथापि इन चार वर्णोंके धर्मानुकूल आचार तथा यज्ञक्रियादि नष्ट नहीं हुई। वे अपने अपने अधिकारानुसार वैदिक क्रिया-कलापोंका अनुष्ठान करते रहे। परन्तु कुछ वर्षोंके बाद लोभके कारण उनमें भी बहुत अज्ञान फैल गया। उनमेंसे जो ब्राह्मणगण वेदानुसार व्रतनियमादिमें तत्पर रहे, वे तो अपने वर्णमें स्थित रहे और जो पीछेसे कुछ लोग उनमे उत्पन्न हुए वे सब आचारभ्रष्ट, वेदभ्रष्ट, नियमभ्रष्ट होनेके कारण अनेक प्रकारके अनार्य-जातीय बन गये। उन्हीकी पिशाच, राक्षस, म्लेच्छ आदि संज्ञा हुई। वे सब स्वच्छन्द आहार-विहार-शील, ज्ञानविज्ञानशून्य, परमात्मासे विमुख तथा इन्द्रियसेवी होते हैं। और ये ही सब भारतवर्षसे बाहर जाकर समस्त पृथिवीमें फैल गये हैं। इस प्रकारसे परमात्मा और प्रकृतिके सम्बन्धसे चराचर ब्रह्माण्डकी सृष्टि होती है।

विश्व संसारकी सृष्टि तो होगई, किन्तु, इसकी स्थिति किस प्रकारसे होगी-इस प्रश्नके उत्तरमें बृहदारण्यकके चतुर्थ ब्राह्मणमें श्रुतिने विश्वके पालकरूपसे धर्मकी ही महिमा वर्णित की है।

"धारणाद्‌ धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
"धर्मेणैव जगत्सुरक्षितमिदं धर्मो धराधारकः॥"

इत्यादि धर्मकी विश्वरक्षिणी शक्तिके विषयमें अनेक प्रमाण शास्त्रोंमें मिलते हैं। ब्रह्माण्डकी स्थिति-दशामें धर्मकी यह महती शक्ति समस्त विश्वके सब विभागोंमें व्याप्त होकर सभीकी रक्षा किया करती है।

जिसका जन्म है उसकी मृत्यु भी होती है इस सिद्धान्तके अनुसार स्थिति दशाके बाद ब्रह्माण्डकी प्रलय-दशा भी आती है। आर्यशास्त्रमें चार प्रकारके प्रलय बताये गये हैं, यथा विष्णुपुराणमें :—

"नैमित्तिकः प्राकृतिकस्तथैवात्यन्तिको द्विज।
नित्यश्च सर्वभूतानां प्रलयोऽयं चतुर्विधः॥
ब्राह्मो नैमित्तिकस्तत्र यच्छेते जगतः पतिः।
प्रयाति प्राकृते चैव ब्रह्माण्डं प्रकृतौ लयम्॥
ज्ञानादात्यन्तिकः प्रोक्तो योगिनः परमात्मनि।
नित्यः सदैव जातानां यो विनाशो दिवानिशम्॥"

नैमित्तिक, प्राकृतिक, आत्यन्तिक और नित्य—ये चार प्रकारके प्रलय हैं। ब्राह्म-प्रलय अर्थात् खण्ड प्रलयको नैमित्तिक प्रलय कहते हैं, जो ब्रह्माजीके एक दिनके बाद एक रात्रिके समय होता है, जिसमें ब्रह्माजी निद्रित होजाते हैं। प्राकृतिक प्रलय महाप्रलयको कहते हैं, जिसमें ब्रह्माण्ड महाप्रकृति में लय हो जाता है। ज्ञान द्वारा योगिगण जो ब्रह्ममें लय होजाते हैं उसीको आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं। और उत्पन्न पदार्थोंका जो रातदिन नाश या क्षय हो रहा है उसको नित्य प्रलय कहते हैं। इन चारों प्रलयोंमेंसे नित्य और आत्यन्तिक प्रलय पिण्डके सम्बन्धसे होते हैं और नैमित्तिक तथा प्राकृतिक प्रलय ब्रह्माण्डके सम्बन्धसे होते हैं।

ब्रह्माण्डकी आयुके विषयमें आर्य्यशास्त्रमें जैसे गम्भीर, विशाल, अकाट्य सिद्धान्तका निरूपण किया गया है ऐसा और किसी शास्त्रमें आजतक नहीं हुआ है। बाइबल, कुरान आदि ग्रन्थोंके विश्वासिगण अबतक यही मानते थे कि, पृथिवीकी सृष्टि केवल तीनसे चार हजार वर्षके भीतर ही हुई है। परन्तु अब विज्ञानशास्त्रकी उन्नतिके साथ साथ उनके ये सब भ्रम धीरे धीरे दूर होने लगे हैं। भूतत्त्ववित् पण्डितोंने पृथ्वीकी प्रस्तर परीक्षा द्वारा यह सिद्धान्त कर लिया है कि, प्राकृतिक नियमके अनुसार उनमें ऐसा परिवर्तन लाखों वर्षों में होसकता है। इस कारण बाध्य होकर वे बाइबल और कुरानके मतको भ्रमपूर्ण समझने लगे हैं। आजकलके नाना शास्त्रोंके वेत्ता वैज्ञानिकगणने यह निश्चय किया है कि, सूर्यगर्भसे पृथ्वीकी उत्पत्ति और पृथ्वीगर्भसे चन्द्रकी उत्पत्ति हुई है, जिसमेंसे

पृथ्वीगर्भसे चन्द्रकी उत्पत्तिका प्रमाण वे ५०००००००० वर्ष अनुमान करते हैं और इसी रीतिपर यदि सूर्यसे पृथ्वीसृष्टिका अनुमान कियाजाय तो, संख्या बहुत कुछ बढ़ जायगी। अतः पश्चिमी वैज्ञानिकोंके इन अनुसन्धानोंको देखकर अब कोई भी आर्यशास्त्रोक्त सृष्टि प्रमाणको मिथ्या नही मान सकता। अब आर्य-शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार ब्रह्माण्डकी आयुका निर्णय किया जाता है। विष्णुपुराण-में कालके विषयमें लिखा है:—

"काष्ठाः पञ्चदश ख्याता निमेषा मुनिसत्तम।
काष्ठास्त्रिंशत्कलास्तातु त्रिंशन्मौहूर्त्तिको विधिः॥
तावत्संख्यैरहोरात्रं मुहूर्त्तैर्मानुषं स्मृतम्।
अहोरात्राणि तावन्ति मासः पक्षद्वयात्मकः॥ इत्यादि॥

पन्द्रह निमेषोंमें एक काष्ठा होती है, तीस काष्ठाओंमें एक कला होती है, तीस कलाओंमें एक घटिका और दो घटिकाओंमें एक मुहूर्त होता है। तीस मुहूर्तोंमें मनुष्यलोकका एक अहोरात्र होता है और तीस अहोरात्रोंमें पक्ष-द्वयात्मक मास होता है, छः मासोंमें एक अयन और उत्तर, दक्षिण नामक दो अयनोंमें एक वर्ष होता है। दक्षिणायन देवताओंकी रात्रि और उत्तरायण देवताओंका दिन है। इस प्रकारसे सदैव दिवारात्रिके हिसाबसे दैव द्वादश सहस्र वर्षोंमें सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि—ये चार युग होते हैं, इनके विभाग इस प्रकारके हैं। सत्यादि चार युगोंका परिमाण यथाक्रम चार, तीन, दो और एक सहस्र वर्ष है। प्रत्येक युगके पूर्व सन्ध्याका परिमाण यथाक्रम चार, तीन दो और एक सौ वर्ष है और सन्ध्यांश भी उतना ही है। सन्ध्या और सन्ध्यांश का मध्यवर्ती (बीचका) जो काल है वह सत्यादि चार युग है। इस हिसाबसे मानवीय परिमाणके अनुसार १७२८००० वर्षका सत्ययुग, १२९६००० वर्षका त्रेता युग, ८६४००० वर्षका द्वापरयुग और ४३२००० वर्षका कलियुग होता है। इन चार युगोंके सहस्रों बार होने पर ब्रह्माका एक दिन होता है। ब्रह्माके एक दिन में १४ मनु होते हैं। उनका कालपरिणाम इस प्रकार है। सप्तर्षिगण, सुरगण, इन्द्र, मनु और उनके पुत्र नृपगण-सब एक ही कालमें उत्पन्न और एक ही कालमें विनष्ट होते हैं। कुछ अधिक ७१ चतुर्युगोंमें मनु और सुरगणोंका काल है जिसको मन्वन्तर कहते हैं। दिव्य संख्यामें मन्वन्तरका परिणाम अष्ट लक्ष द्विपञ्चाशत् सहस्र (८५२०००) वर्ष है। मानुषी संख्यामें उसका परिमाण

त्रिंशत् कोटि सप्तषष्टिलक्ष विंशति सहस्र (३०६७२००००) वर्ष है। इस कालका चतुर्दश गुण एक ब्राह्म दिन है। इसके अन्तमें ब्रह्माकी रात्रि होती है जिसमें नैमित्तिक प्रलय हो जाता है। ब्रह्माकी जाग्रतदशामें उनकी प्राणशक्तिकी प्रेरणासे ब्रह्माण्डका चक्र चलता है। इसलिये जैसे निद्राके समय इन्द्रियां निश्चेष्ट हो जाती हैं वैसे ही ब्रह्माके निद्राके समय समस्त ब्रह्माण्डमे क्रिया बन्द हो जाती है, इसीको नैमित्तिक प्रलय कहते है। उस समय 'भूर्भुवःस्वः' ये तीन लोक दग्ध हो जाते हैं और महर्लोकके निवासिगण तापसे पीड़ित होकर जनलोकमें चले जाते हैं। तदनन्तर त्रैलोक्यके जलमय हो जानेपर ब्रह्माण्डव्यापी प्राणशक्तिको अपने भीतर भरकर ब्रह्माजी विष्णुके साथ शेषशय्यापर योगनिद्रामे सो जाते हैं। क्रियाके अनन्तर निष्क्रियता भी स्वाभाविक ही है। इसलिये महाप्रकृतिके स्वाभाविक नियमानुसार ही ब्रह्माजीमें इस प्रकारकी अन्तर्मुखीनता तथा निश्चेष्टता आ जाती है; जिस कारण ब्रह्माण्ड-शरीरमें भी निश्चेष्टता आ जाती है। केवल प्रलयमें भी रहनेकी शक्ति रखनेवाले कुछ योगिगण जनलोकमें जीवित और ध्यान परायण रहते है। जनलोकस्थ इन योगियोंके द्वारा चिन्त्यमान कमल-योनि ब्रह्मा इस प्रकारसे ब्रह्मदिवाके तुल्य ब्रह्मरात्रिको योगनिद्रामें बितानेके अनन्तर फिर ब्रह्मदिवाके उदयमें जागकर समस्त ब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं। इस प्रकार दिवारात्रिकी गणनासे सौ वर्ष ब्रह्माजीकी आयु है, जिसके अन्तमें ब्रह्माजी परब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं और प्राकृतिक प्रलय का उदय हुआ करता है। वर्त्तमान समयमें ब्रह्माकी आयुका एक परार्द्ध बीत चुका है। उस परार्द्धके अन्तमें पद्म नामक महाकल्प हो गया है। वर्त्तमान द्वितीय परार्द्धका यह प्रथम दिन अर्थात् प्रथम कल्प चल रहा है, जिसको 'वराह-कल्प' कहते है। इस वराह-कल्पमें भी कृष्णवराह-कल्प, रक्तवराह-कल्प आदि कई कल्प बीत चुके हैं। अब वर्त्तमान समयमें 'श्वेतवराहकल्प' चल रहा है। यही आर्य-शास्त्रके सिद्धान्तानुसार कालका विभाग है जिसके अनुसार ब्रह्माण्डप्रकृति महाकालके महान् चक्रमें अनादिकालसे घूम रही है।

नैमित्तिक प्रलय तथा प्रलयानन्तर पुनः सृष्टि—इस प्रकारसे ब्रह्माण्ड प्रकृतिकी गति नीचेकी ओर होती होती सहस्रों बार चतुर्युग बीत जाया करते हैं और जैसा कि पहिले संख्या बताइ गई है, उसके अनुसार दिवारात्रिके क्रमसे ब्रह्माकी आयु भी घटती जाती है। अन्तमे ब्रह्माकी आयु जब सौ वर्षो-

में पूर्ण हो जाती है तब समस्त ब्रह्माण्ड प्रकृतिपर प्राकृतिक प्रलय अर्थात् महा-प्रलयका उदय हो जाता है, यथा श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धमें :—

"द्विपरार्द्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै॥
एषा प्राकृतिको राजन्! प्रलयो यत्र लीयते।
अंडकोशस्तु संघातो विघात उपसादिते॥ इत्यादि॥

ब्रह्माजीकी आयुके दो परार्द्ध अर्थात् सौ वर्ष जब बीत जाते हैं तब ब्रह्माजी ब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं। ब्रह्माजीके साथ साथ समस्त देवता, ऋषि तथा पितृगणभी ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। इसलिये उस समय ब्रह्माण्ड प्रकृतिकी सञ्चालिनी समष्टि प्राणशक्तिका लय होनेपर कार्यभूत ब्रह्माण्ड स्थित नहीं रह सकता है; क्योंकि, जिस प्राणशक्तिने ब्रह्माण्डके स्थूल-सूक्ष्म शरीरको संयुक्त तथा धारण किया था उसीके लय हो जानेसे प्राणनाशसे जीवके स्थूल देहकी तरह समस्त ब्रह्माण्ड–शरीर पृथक्-पृथक् होकर अदृश्य तथा निजकारणमें लयको अवश्य ही प्राप्त हो जायगा। इसीको प्रकृतिक प्रलय कहते हैं, जिसमें महत्तत्त्व और पञ्चतन्मात्राओंकी मूल समस्त प्रकृति नष्ट हो जाती है। इस प्रकार नाश कैसे होता है, सो यह है:—महाप्रलयका समय आनेसे प्रथमतः शत वर्षोंतक जल नहीं बरसता है, जिससे अन्नहीन होकर भूखसे पीड़ित प्रजा परस्परको भक्षण करके नाशको प्राप्त हो जाती है। तदनन्तर 'सांवर्त्तक' रवि अपनी प्रचण्ड किरणोंसे समुद्र, देह और भूमिके सब रसोंको पी जाते हैं, जिससे समस्त विश्व रसहीन हो जाता है। तदनन्तर संकर्षणके मुखसे निकली संवर्त्तक अग्नि वायुवेगसे प्रचण्ड होकर प्राणिहीन पृथिवी, पातालादि समस्त लोकको दग्ध कर डालती है। अग्नि और सूर्यकी शिखाओंके द्वारा ऊपर, नीचे, चारो ओरकी दिशाओंके जल जानेसे समस्त ब्रह्माण्ड जल कर गोबरके कण्डे की तरह दीखने लगता है। तदनन्तर सांवर्त्तक प्रचण्ड पवन सौ वर्षसे अधिक कालतक बहता रहता है जिससे धूलिसे युक्त आकाश धूम्रवर्ण दीखता है। तद-नन्तर विविध वर्णकी मेघमाला भीषण शब्दके साथ भीषण धारासे शत वर्षों-तक वर्षण करती रहती है जिससे समस्त विश्व समुद्रसा हो जाता है। उस समय सर्वत्र व्याप्त जल पृथिवीके गन्धगुणको ग्रास कर लेता है जिससे

गन्धहीन पृथिवी नष्ट हो जाती है। तदनन्तर जलका भी रस अग्निके द्वारा ग्रस्त हो जाता है जिससे रसहीन जल नाशको प्राप्त हो जाता है। तदनन्तर तेजका रूप वायु ग्रास कर लेता है जिससे रूपहीन तेज वायुमें लीन हो जाता है। तदनन्तर वायुका भी स्पर्शगुण आकाश ग्रास कर जाता है और वायु आकाशमें लीन हो जाता है। तदनन्तर तामस अहङ्कार आकाशके शब्दगुणको ग्रास कर लेता है जिससे आकाश भी लय हो जाता है। तदनन्तर इन्द्रियोंको राजसिक अहंकार और इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओंको सात्त्विक अहंकार ग्रास कर लेता है। तदनन्तर अहकारको महत्तत्त्व ग्रास कर लेता है, महत्तत्त्वको त्रिगुण ग्रास कर लेता है और त्रिगुणको कालसे प्रेरित अव्याकृत (विकारहीन) प्रकृति ग्रास कर लेती है। इस प्रकारसे समस्त व्याकृत (विस्तृत) सृष्टि अव्याकृत प्रकृति द्वारा विलोम (उल्टी) विधिसे ग्रस्त हो जाती है। सूक्ष्म लोकोंके प्रथम चार लोक नैमित्तिक प्रलयदशामें अभिभूत हो जाते है। परन्तु उस समय ब्रह्मा, विष्णु, महेश—त्रिमूर्त्ति रहती है और ऊपरके तीन सूक्ष्मलोक अर्थात् जनलोक, तपलोक और सत्यलोक यथावत् विद्यमान रहते हैं। परन्तु महाप्रलयके रहस्यका तात्पर्य यह है, कि, प्रत्येक ब्रह्माण्डमें महाप्रलयके होते समय उस ब्रह्माण्डमें जितनी रहने लायक भूमियां है उनमेंसे स्थूल देहधारी जीव पिण्डोंका नाश हो जाता है। उसके अनन्तर जलके प्रकोपसे स्थूलपृथ्वीका, अग्निके प्रकोपसे स्थूल जलका और इसी प्रकारसे सब स्थूल पञ्चभूतोंके अपने अपने कारणोंमें लीन हो जानेपर ब्रह्माण्डके स्थूल स्वरूपका लय हो जाता है। उसके अनन्तर सब ऋषि, देवता और पितरोंके साथ दैवलोकोंका अपने अपने कारणमें लय होते हुए पूर्वकथित रीतिके अनुसार विस्तृत व्याकृत प्रकृति अव्याकृत दशाको प्राप्त हो जाती है। उस प्रलीन ब्रह्माण्डके सृष्टिस्थितिप्रलयकर्त्ता ब्रह्मा, विष्णु और महेश तब ब्रह्मीभूत हो जाते हैं।

Kant in his famous theory of the heavens declare the end of the world and its reduction to a formless condition to be a necessary consequence of the causes to which it owes its origin and continuance Huxley writes this with entire approval in his Essays on Controversial Questions p. 248.

पश्चिमी वैज्ञानिक काण्टने अपने ग्रन्थमें लिखा है कि, जिन कारणोंसे

विश्वकी उत्पत्ति और स्थिति होती है उनका अवश्यम्भावी परिणाम यही होगा कि, अन्तमे दृश्यमान् संसार किसी अदृश्य भावमें लय हो जायगा। हक्सले साहबने भी अपने निबन्धोंमें इस सिद्धान्तको स्वीकार किया है।

अव्याकृत प्रकृति तथा उसके प्रेरक ईश्वर कहां रह जाते है, इसके विषयमें विष्णुपुराणमें कहा हैः—

"प्रकृतिर्या मयाख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी।
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयते परमात्मनि॥"

व्यक्ताव्यक्त प्रकृति और ईश्वर—दोनों ही निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्मभावमें लीन हो जाते है। महाप्रकृतिके अन्तर्गत ब्रह्माण्डप्रकृतिके साथ मायी प्रकृतिके प्रेरक ईश्वरका जो बहिर्दृष्टिसे युक्त अभिमान-सम्बन्ध था उसके नष्ट होनेपर निष्क्रिय अन्तर्दृष्टिका भाव उनमें हो जाता है। यही प्रलय-दशामें ईश्वरभावमें ब्रह्मभावकी प्राप्ति है और यही अधिदैवसृष्टिरूप ब्रह्माण्डका महाप्रलय है। जितने दिनोंतक ब्रह्माण्ड प्रकृतिमें सृष्टि-स्थितिकी लीलाका विस्तार होता था—महाप्रलयके गर्भमें उतने ही दिनोंतक ब्रह्माण्डप्रकृति रह जाती है। समष्टि स्थूलशरीर, समष्टि सूक्ष्मशरीर—दोनों ही अव्याकृत प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं। समष्टि कारण-शरीर तथा प्रतिबिम्बित चैतन्य सहित अव्याकृत प्रकृति ब्रह्ममें विलीन रहती है। समष्टि जीवोंकी अनन्त कर्मराशियां वटबीजमें वटवृक्षकी तरह महाकाशको आश्रय कर लेती है। यही लीलामय भगवान्‌के द्वारा बनाये हुए ब्रह्माण्डकी सृष्टि, स्थिति तथा प्रलयका अपूर्व रहस्य है, जिसके ज्ञानसे जीव अनायास संसारसिन्धुके पार जा सकता है।

परलोक और जन्मान्तरतत्त्व।

मृत्युके अनन्तर जीवकी गति और कहीं होती है, अथवा स्थूलशरीर नाशके साथ ही साथ सब कुछ समाप्त हो जाता है, इस विषयमें ज्ञानी, अज्ञानी, मूर्ख, पण्डित, सुखी, दुःखी सभीके हृदयमें कभी कभी प्रश्न उठा करता है। उद्दाम इन्द्रियवृत्तिके वशीभूत होकर जो लोग इहलोकके विषयभोगको ही सब कुछ समझते है, उनके भी हृदयमे विषयभोगकी दुःखमय प्रतिक्रियाके समय

अवश्य ही यह प्रश्न उठता है कि,—"क्या इसी प्रकारसे हमारा चिरकाल कटेगा या इन सब सुखके सामानोंको छोड़ हमें किसी अदृश्यलोकमें अपने कुकर्मोंके फलभोगके लिये जाना पड़ेगा ?" धर्मपरायण दुःखी जनोंके जीवनमें तो परलोक-चिन्ता तथा विश्वास परम अवलम्बनरूप ही है। क्योंकि, धर्माचरण करनेपर भी जब वे देखते हैं कि, दुःखसे ही दिन कटता है तथा यह भी देखते हैं कि, अधार्मिक दुराचारी पुरुष आनन्दसे आयु बिताते हैं, तो, उनके दुःखदग्ध हृदयमें परलोकपर विश्वास ही शान्तिसुधाका सिञ्चन कर सकता है और उनको यह समझा सकता है कि, धर्मपरायण होनेपर भी उनके इस जन्मका दुःख पूर्व जन्मके किसी दुष्कृतिका ही फल है और इहलोकमें अनुष्ठित पुण्य कर्म्मोंका सुखमय सुफल उन्हें परलोकमें तथा परजन्ममें अवश्य ही प्राप्त होगा। इस प्रकारसे सुखी, दुःखी, धार्मिक, अधार्मिक सभीके हृदयमें परलोकचिन्ता तथा परलोकपर विश्वास होना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त जिस भाग्यवान् ज्ञानी पुरुषके हृदयाकाशमें ज्ञानसूर्य्यका उदय हुआ है, जिसने ऋतम्भरा प्रज्ञाकी सहायतासे समस्त संशयजालको निवृत्त करके इहलोक परलोक तथा जन्मजन्मातर-के रहस्योंको करतलामलकवत् आयत्त कर लिया है, जिस आत्मदर्शी श्रेष्ठ पुरुषके विचार तथा अनुभवमें आत्मा जननमरणहीन नित्य वस्तु तथा मृत्यु केवल स्थूलशरीरका परिवर्तन और निद्राका रूपान्तर मात्र है, वह भी परलोकतत्त्वको एक रहस्यपूर्ण तथा अवश्य मीमांसायोग्य विषय समझकर, इस गम्भीर तत्त्वके समस्त सिद्धान्तोंको लोककल्याणके लिये प्रकट किया करता है। ऐसे ज्ञानी पुरुषोंको जीवका परलोकगमन या जन्मान्तरग्रहण कैसे अनुभवमें आता है, इस विषयमें श्रीभगवान् वेदव्यासने महाभारतके अश्वमेध पर्वके १७ अध्यायमें लिखा है:—

यथान्धकारे खद्योतं लीयमानं ततस्ततः।
चक्षुष्मन्तः प्रपश्यन्ति तथा च ज्ञानचक्षुषः॥
पश्यन्त्येवंविधं सिद्धा जीवं दिव्येन चक्षुषा।
च्यवन्तं जायमानञ्च योनिं चानुप्रवेशितम्॥

जिस प्रकार नेत्रसे युक्त मनुष्य अँधेरेमें जुगनुओंको इधर उधर घूमते देख सकते हैं, उसी प्रकार ज्ञानचक्षुसम्पन्न सिद्ध महात्मागण जीवात्मा तथा

सूक्ष्मशरीरको भी दिव्यदृष्टि द्वारा एक स्थूलदेह छोड़कर देहान्तरमें प्रवेश करते हुए देखते हैं। गीतामें भी श्रीभगवान्‌ने कहा है:—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥

जीवात्मा किस प्रकारसे शरीरमें ठहरता है, शरीरमेंसे निकलता है या त्रिगुणके आश्रयसे विषयोंका उपभोग करता है, इसको ज्ञानदृष्टिसम्पन्न महात्मा ही देख सकते हैं, मूढ मनुष्य नही देख सकते।

ऊपर लिखित विचारोंसे सिद्ध हुआ कि, परलोकके अस्तित्वके विषयमें चिन्ता तथा विश्वास करना जीवकी नैसर्गिक प्रवृत्ति है। वास्तवमें विवेकका गला घोंटे विना यह विश्वास हृदयमें नही जमने पाता है कि, अनन्त संसारका यह अनन्त असीम उद्यम सभी क्षणविध्वंसी होगा, इसका कुछ भी अवशेष या संस्कार आगे नही चलेगा, समुद्रतरङ्गमें बुलबुलेकी तरह प्रकट होकर पुनः समुद्रजलमें ही वे सब विलीन हो जायँगे, इतना जीवनसंग्राम, पुण्यसञ्चय, सत्पुरुषार्थ, तपस्या, साधना, इन्द्रियसंयमकी प्रबल चेष्टा, प्रियके प्रति हृदयभरा प्रेम, स्नेहपात्रके प्रति हार्दिक स्नेह, श्रद्धा, भक्ति सभी पाँच भूतोंके अलग अलग होते हवामें ही मिल जायँगे, अनन्तशून्यमें अनन्तकालके लिये लयप्राप्त हो जायँगे। इस प्रकारकी कठोर कल्पनाओंको हृदयवान् तथा बुद्धिमान् मनुष्य कभी हृदयमें स्थान नही दे सकते हैं।

ठीक इसी भावको लेकर जेम्स् टम्सन साहबने कहा है—

If there be no continued life, what strange aspect is cost thereby on the obligation that an honest man feels to tell the truth at all costs ! How foolish seems the honesty of a bankrupt whom a lie might have kept rich ! What a mistake is the voluntary death for another's sake of the sea-man or the patriot who might have served himself or the martyr's death at the stake, in order to be loyal to truth, Faith or Conscience ! Unless we are ready to accept as the models of wise and true men those who brazenly throw over-board all inconvenient scruply about integrity, justice,

patriotism, we must accept those commending ideals as pointing to a realm above the senses and beyond the view of death (James Thomson Bisry Ph D)

यदि जन्मान्तर न होता तो किसी भले आदमीके सत्यपर रहनेके लिये इतने कष्ट करनेका प्रयोजन क्या था और जहांपर एक मिथ्या कह देनेसे कोई व्यापारी दिवाले होनेसे बच जाय, वहां उसे सत्य कहकर निर्धन बने रहनेका प्रयोजन क्या होता। इस दशामें दूसरेके लिये प्राण देना, देशभक्तका देशके लिये कष्ट सहना, धर्मप्रेमीका धर्मके लिये मरना-यह सभी-बेवकूफीमें शामिल गिना जायगा। जो लोग सत्य, न्याय तथा धर्मके मार्गको उसकी कठिनाईको देखकर निःसंकोच त्याग दिया करते हैं, उनके जीवनादर्शको यदि यथार्थ आदर्श न माना जाय तो, अवश्य ही यह स्वीकार करना पड़ेगा कि, मृत्युके बाद दूसरा कोई लोक मिलता है जिसमें शुभाशुभ कर्मके फल प्राप्त होते हैं।

इसी कारण परलोक तथा जन्मजन्मांतरकी नियमबद्ध श्रृंखलाके स्वीकार करनेमें अपनी अपनी आध्यात्मिक स्थितिके अनुसार असमर्थ होनेपर भी मुसलमान, ईसाई आदि अनेक उपधर्मियोंने मरणानन्तर चिरसुखमय या चिरदुःखमय किसी प्रकारकी जीवदशाको अवश्य ही स्वीकार किया है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक पण्डित बैल्फोर्ड, स्टुआर्ट तथा पी० जी० टेट साहबने अपने प्रणीत 'अनसीन यूनिवर्स' नामक पुस्तकमें लिखा है—

The *great majority* of mankind have always believed in some fashion in a life after death; many in the essential immortality of the soul. But it is certain that we find many disbelievers in such doctrines, who yet retain the nobler attributes of humanity It may, however, be questioned whether it be possible even to imagine the great bulk of our race to have lost their belief in a future state of existence and yet to have retained the virtues of civilized and well-ordered communities.—*The Unseen Universe.*

"संसारके अधिकांश मनुष्य ही मृत्युके अनन्तर किसी न किसी प्रकारकी जीवित अवस्थाके विषयमें विश्वास रखते हैं तथा बहुत मनुष्य आत्माको चिर

अमर कहते हैं। और यह निश्चय है कि, इस सिद्धान्तपर अविश्वास रखनेवाले भी अनेक मनुष्य, मनुष्यत्वके उच्च गुणोंसे युक्त होनेका दावा रखते हैं। परन्तु यह एक गहरा प्रश्न है कि, परलोक तथा जन्मान्तरपर विश्वास न रखनेपर भी हमारी जातिके अधिकांश लोग सुसभ्य तथा सुव्यवस्थित जातिके सद्गुणोंको कैसे सुरक्षित रख सकते हैं।" प्राचीन ग्रीक तथा इजिप्सियन जातिके धर्मग्रन्थोंकी आलोचना करनेपर भी परलोक तथा पुनर्जन्मसम्बन्धीय सिद्धान्तकी बहुत कुछ पुष्टि होती है। दि डे आफ्टर डेथ् नामक उनके एक ग्रन्थमें लिखा है—

The re-incarnation of souls is not a new idea, it is on the contrary, an idea as old as humanity itself. It is the metampsychosis, which from the Indians passed to the Egyptians from the Egyptians to the Greeks and which was afterwards professed by the Druids—*The Day after Death.*

जीवका पुनर्जन्म नवीन सिद्धान्त नहीं है, यह सिद्धान्त जबसे जीव उत्पन्न हुआ है तभीसे है। इसका पता भारतवासी आर्य्यजातिसे ही इजिप्सियन जातिको लगा था, तदनन्तर ग्रीकजातिने इजिप्सियन जातिसे इसको पाया था और पीछेसे ड्रुईदोंने इस सिद्धान्तको स्वीकार किया था।" इस प्रकारसे गवेषणापरायण अनेक उपधर्मियोंके प्राचीन ग्रन्थोंमें परलोकवाद तथा जन्मान्तर-वादकी स्वीकृतिके विषयमें यथेष्ट प्रमाण प्राप्त होते हैं। केवल अति स्थूलदृष्टिपरायण नित्यप्रत्यक्षवादी अविवेकी जन ही परलोक तथा पुनर्जन्मपर विश्वास करनेमें कुण्ठित होते है और इसी लिये आर्य्यशास्त्रमें नास्तिकोंकी कोटिमें इनकी गणना की गई है, यथा—शिवपुराणमें—

यथेहास्ति सुखं दुःखं सुकृतैर्दुष्कृतैरपि।
तथा परत्र चास्तीति मतिरास्तिक्यमुच्यते।

जैसा कि पुण्य-पापकर्मानुसार इस लोकमें जीवोंको सुख दुःख मिलते हैं, वैसा परलोकमें भी मिलते हैं, इस प्रकार जिसका विश्वास है, वही आस्तिक है। कैयटने भी लिखा है—

'परलोकोऽस्तीति-मतिर्यस्य स आस्तिकस्तद्विपरीतो नास्तिकः'

परलोकपर जिसका विश्वास है वह आस्तिक है, और उससे विपरीत विश्वास रखने वाला नास्तिक है। इस नास्तिक्यमेघको विदूरित करके श्रीभगवान् पतञ्जलिदेवने अलौकिक योगकी सूक्ष्म संयमक्रिया द्वारा परलोक तथा जन्मान्तर विज्ञानको योगीके नेत्रके सामने पूर्णरूपसे प्रकट कर दिया है और अपने योगदर्शनके तृतीय तथा द्वितीय पादमें स्पष्टाक्षरसे कह दिया है कि—

"संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्"
"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः"

संस्कारपर संयम करनेसे पूर्व जन्मका ज्ञान होता है। मनुष्य इहलोकमें जो कुछ कर्म करता है उसीके तीव्र संस्कारसे उसको आगामी जन्ममें भिन्न भिन्न प्रकारकी जाति, आयु तथा सुखदुःखादि भोग प्राप्त होते हैं।

इसलोक अर्थात् इस मृत्युलोकसे भिन्न सभी लोकोंको परलोक कहते हैं। इस कारण पूर्वअध्यायमें वर्णित भुवः स्वरादि कर्मानुसार प्राप्तव्य सभी ऊर्द्ध्व-लोक तथा अतल, वितलादि आसुरकर्मानुसार प्राप्तव्य सभी अधोलोक और असत्कर्मके द्वारा प्राप्तव्य दुःखमय नरकादि लोक सभी परलोक कहे जा सकते हैं। परन्तु साधारण तौरपर परलोक नामसे केवल पितृलोक, नरकलोक और प्रेत-लोक ही कहाते हैं, क्योंकि, असत्कर्मके लिये दुःख-भोगके लोक केवल प्रेतलोक और नरकलोक हैं और साधारण सत्कार्य्यके फलभोगके लिये पितृलोक ही यथेष्ट समझा जाता है और विना असाधारण बडे बडे कर्म किये जीव अन्य लोकोंमें नही जा सकता है। अतः इस निबन्धमें प्रेत–पितृ–नरक लोकोंका वर्णन करके पौराणिक-शंका-समाधान प्रसङ्गमें अन्य लोकोंका वर्णन किया जायगा।

परलोकके विषयमें अनेक अनुसन्धान आजकल पाश्चात्य जगत्में हो रहे हैं। जैसा कि आर्थर कोनन डायल साहबने अपने 'दि न्यू रेभेलेशन' नामक ग्रन्थकी प्रस्तावनामें लिखा है—

In the next century this will be astonishingly perceptible to the minds of men I will also make a statement which you will surely see verified Before the clear revelation of spirit communication there will be a terrible war in different parts of the world.—*The New Revelation P. 12.*'

मिस पाइपार नामिका मेमने परलोकविषयिणी दृष्टिके आश्रयसे कहा था कि, यूरोपमें पहिले एक बड़ा भारी युद्ध होगा और उसके बाद परलोकके आत्माओंके साथ सम्बन्ध स्थापन तथा बात चीत करनेके अनेक उपाय मनुष्योंको विदित हो जायगे; ठीक ऐसी ही घटना आजकल यूरोप तथा अमेरिकामें देखनेमें आ रही है।

इस प्रकार से परलोकसम्बन्धीय चर्चाकी अवतारणा करके कोनन डायल साहवने अपने ग्रन्थमे परलोकगत आत्माओंके साथ बात चीत करनेके बहुतसे उपाय भी बताये हैं। उन्होंने लिखा है ।

It comes in the main through automatic writing where the hand of the human medium is controlled, either by an alleged dead human being, as in the case of Miss Julia Ames or by an alleged higher teacher, as in that of Mr. Stainton Moses. These written communications are supplemented by a vast number of trance utterances and by the verbal messages of spirits, given through the lips of mediums Sometimes it has even come by direct voices, as in the numerous cases detailed by Admiral Usborne Moore in his book "The Voices." Occasionally it has come through the family circle and tabletilting as for example in the two cases I have previously detailed within my own experience. Sometimes as in a case recorded by Mrs De morgan, it has come through the hand of a child —*The New Revelation, pages 61-62*

अर्थात् प्रधानतः परलोकगत आत्मा किसी व्यक्तिके हाथको वशीभूत करके उसके द्वारा अपने वक्तव्य विषयोंको लिखाते हैं। और अनेक समय मुग्धवाणी वशीभूत व्यक्ति द्वारा उच्चारित वाणी और कही कही प्रत्यक्ष वाणी द्वारा भी परलोकके सवाद जाने जाते है। पीठासन, दो चार व्यक्तियोंके सर्कल, बालकोंके हाथ आदिके द्वारा भी यह कार्य कभी कभी हो सकता है। इन बातोंपर यदि कोई अविश्वास करें और यह शंका करें कि, ऐसी बातें या तो जाग्रत

अवस्थामें या किसी प्रकारकी मुग्ध अवस्थामें उक्त पात्र (medium) के द्वारा या उसके उन्नत आत्माके द्वारा लिखी जाती है, तो इसके उत्तरमें डायल साहब लिखते है—

Again, if Miss Julia Ames can tell Mr. Stead things in her own earth life of which he could not have cognisance and if those things are shown, when tested, to be true, then one is more inclined to think that those things which cannot be tested are true also. Or once again, if Raymond can tell us of a photograph no copy of which had reached England and which proved to be exactly as he described it and if he can give us, through the lips of strangers all sorts of details of his home life which his own relatives had to verify before they found them to be true, is it unreasonable to suppose that he is fairly accurate in his description of his own experiences and state of life at the very moment at which he is communicating ? Or when Mr. Arthur Hill receives messages from folk of whom he never heard and afterwards verifies that they are true in every detail, is it not a fair inference that they are speaking truths also when they give any light upon their present condition ?—*The New Revelation, page 64-65*

अर्थात् जब मिस जुलिया ऐंड साहबको ऐसी बातें कहती हैं, जिनका पता तक उनको नही था और पीछेसे अनुसन्धान करनेपर वे सब सत्य निकलीं, या, जब रेमण्डका आत्मा ऐसी फोटोकी बात कहता है जिसकी कोई भी कापी इङ्गलैण्डमें नही थी और पीछेसे वह सब सत्य प्रमाणित हुआ, या, जब उसने किसी अनजान व्यक्तिके द्वारा अपने घरकी सब बात कही, जो परीक्षा करनेपर सत्य प्रमाणित हुई, या जब अर्थर हिल साहब ऐसे व्यक्तिके द्वारा परलोकका संवाद पाते है, जिसके विषयमें उनको कुछ भी ज्ञात न था, किन्तु पश्चात् ये सब विषय ठीक प्रमाणित होते है, तो इस प्रकार परलोक सम्बन्धीय बातोंपर कोई भी शंका नही रह सकती है और पूर्ण विश्वास किया जा सकता है।

ऊपर कथित विषयोंकी सत्यताके प्रमाणरूपसे पाश्चात्य जगत्में अनेक घटनाओंका संग्रह हो रहा है, जिसके द्वारा स्पष्ट सिद्ध होरहा है कि, परलोकगत आत्मा इहलोकके जीवोंके साथ नाना प्रकारसे बात चीत करते हैं। तथा आत्मीय जनोंके साथ मृत्युके बाद मिलने भी आते हैं। सर अलिभर लाजके पुत्र रेमण्ड गत यूरोपियन युद्धमें मृत्युके बाद उनके मातापिता तथा कुटुम्बियोंके साथ किस प्रकारसे बात चीत करते थे, इसका पूरा वृत्तान्त अलिभर लजकृत 'रेमण्ड' नामक ग्रन्थमें दिया गया है, जिससे परलोकके विषयमे पूर्ण विश्वासके साथ सर अलिभर लज साहबने अपने ग्रंथमें लिखा है—

*There is no real breach of continuity between the dead and the living I and some others have been gradually convinced. My son has given me convincing evidence, moreover he wants me to speak out and I shall. I am as convinced of continued existence on the other side of death, as I am of existence here... I shall go further and say I am reasonably convinced of the existence of grades of being not only lower in the scale than man but higher also, grades of every order of magnitude from zero to infinity.—*Raymond or Life and Death by Sir Oliver Lodge.*

"मैने तथा कुछ और लोगोने क्रमशः यह यथार्थ ज्ञान पाया है कि, मृत तथा जीवित जीवोंके बीचमे वास्तविक कोई पार्थक्यजनक अन्तर नही है। मेरे पुत्रके द्वारा मुझे इस विषयमे विश्वासयोग्य प्रमाण प्राप्त हुए हैं और उसकी इच्छा है कि, मै इस विषयका ज्ञान संसारमें भी प्रकट करूँ और इस लिये मैं अपना अनुभव जगत्के सम्मुख अवश्य रक्खूंगा। मैं मरणानन्तर जीवनके विषय में उतना ही विश्वास रखता हूँ, जितना मरणसे पूर्व जीवनके विषयमें मेरा विश्वास है। केवल इतना ही नही अधिकन्तु मुझे यह पूर्ण विश्वास है कि, मनुष्यलोकके नीचे तथा मनुष्यलोकके ऊपर ऐसे अनेक लोक हैं, जिनमें अनेक प्रकारके उच्च तथा नीच कोटिके जीव निवास करते हैं।" परलोकगत आत्मा किस प्रकारसे बात चीत करते है, इस विषयमें अर्थर हिलके 'मैन ईज ए स्पिरिट' नामक पुस्तकमें एक घटना बताई गई है। उसमें कैप्टेन जेम्स बर्टनने लिखा है—

A week after my father's funeral I was writing a business letter, when something seemed to intervene between my hand and the motor centres of my brain and the hand wrote at an amazing rate a letter, signed with my father's signature and purporting to come from him For a year after this letters came frequently and always at unexpected times I never knew what they contained until I examined them with a magnifying glass They were microscopic. And they contained a vast amount of matter with which it was impossible for me to be acquainted.

Unknown to me, my mother, who was staying some sixty miles away, lost her pet dog which my father had given her. The same night I had a letter from him condoling with her and stating that the dog was now with him. 'All things which love us and are necessary to our happiness in the world are with us here. A most sacred secret known to no one but my father and mother, concerning a matter which occurred years before I was born, was afterwards told me in the script with the comment.—'Tell your mother this and she will know, that it is I, your father, who am writing'—*The New Revelation, Pages 156-157.*

"मेरे पिताकी मृत्युके एक सप्ताह बाद मैं एक पत्र लिख रहा था, इतनेमें मुझे जान पड़ा कि, मेरे हाथ और मस्तिष्कके बीचमें कोई तीसरी चीज़ आ रही है और उसी समय मेरे हाथके द्वारा बड़ी शीघ्रता के साथ एक पत्र लिखा गया जिसमें मेरे मृत-पिताका हस्ताक्षर था। एक वर्षके बाद ऐसे अनेक पत्र मेरे पिताने मेरे हाथके द्वारा प्रकट किये, जिनके अक्षर बहुत छोटे छोटे थे और विषय भी मुझसे ठीक ठीक समझे नही गये। मैं जहाँ रहता था उससे ६० मीलकी दूरीपर मेरी माता रहती थी। उनके पास मेरे पिताका दिया हुआ जो एक कुत्ता था, वह अचानक मरगया, उसी रातको मेरे पिताने मुझे लिख दिया कि, मेरीमाता

दुःख न करें क्योंकि, यह कुत्ता अब पिताके पास है । जिन वस्तुओंसे उनको आनन्द मिलते हैं, वे उनके पास रहा करते हैं । एक अति गुप्त विषय जो मुझे मालूम नहीं था, केवल मेरे पिता और माताको ही मालूम था, वह भी एक दिन पिताने मेरे हाथसे लिखवाया और यह भी लिखा कि "तुम अपनी मातासे यह गुप्त विषय कहदो जिससे उसे मालूम पड़े कि मैं ही लिखरहा हूं, " इस प्रकारसे परलोकगत आत्माके दर्शनके विषयमें भी कई एक प्रमाण पश्चिमदेशीय लोगोंको प्राप्त हुए है । सर अलिभर लज साहबने स्वप्रणीत सरहैवल आफ् मैन नामक ग्रथमें ऐसी ही एक घटनाका वर्णन किया है । यह घटना मिस पैकेट साहेबाके विषयमें डाक्टर हड्सन् साहबने बताई है । उसमें यह लिखा है—

Mrs. Paquet on the morning of October 24th, 1889, after her husband had gone to work, was making some tea for herself when she saw a vision of her brother, Edmund Dunn, standing only a few feet away and her report continues :—

The apparition stood with back towards me or rather partially so and was in the act of falling forward away from me The vision lasted but a moment disappearing over a low railing, but was very distinct. I dropped the tea, clasped my hands to my face and exclaimed, 'My God ! Edmund is drowned '

At about half past ten A. M my husband received a telegram from Chicago announcing the drowning of my brother When he arrived home, he said to me 'Edmund is sick in hospital at Chicago' to which I replied 'Edmund is drowned, I saw him go overboard '—*Statement of accident.*

On October 24th, 1889, Edmund Dunn, brother of Mrs. Agnes Paquet, was serving as fireman on the tug Wolf, a small steamer engaged in towing vessels in Chicago harbour. At about 3 o'clock A. M. the tug fastened to a

vessel, inside the piers to tow her up the river. While adjusting the two-line Mr. Dunn fell or was thrown overboard by the tow-line and drowned.—*The Survival of Man pages 81-82*.

मिस पैकेट १८८६ सालके १४ अक्टूबरको प्रातःकाल चा बना रही थी, इतने में उन्होंने उनके भ्राता एड्मण्डकी मूर्तिको देखा। वह समुद्रमें डूब रहा था। थोड़ी देर बाद उनके पतिको तार मिला कि, एड्मण्ड डूबकर मरगया है और ठीक उसी समय मरा है, जिस समय उसकी भगिनी पैकेट साहेबाको उसकी मूर्ति देख पड़ी थी। इस घटनासे मृतपुरुषकी आत्मा दिखाई दे सकती है, यह बात सिद्ध होती है।

अब इस विषयमें एडवर्ड सि रण्डल साहबका अनुभव कहा जाता है—

Since mankind came up out of savagery, the great problem has been. What is the ultimate end? What, if anything, awaits on the other side of deaths mysterious door? What actually happens when the hour strikes that closes man's career, when, leaving all the gathered wealth of land and goods, he goes out into the seeming dark alone? Is death the end, annihilation and forgetfulness, or do we awake in some other sphere or condition, where, retaining personality, we progress toward the infinite?

In humble homes and in the halls of learning, the search for truth has been carried forward. The demand is for fact. Men of science have blazed the trail and led the way—Lombroso of Italy; Dr. Richet of France; Alfred Russell Wallace, co-worker with Darwin; Sir William Crookes, Stead, Sir Oliver Lodge, Sir Arthur Conan Doyle, and others working under the most exacting scientific conditions, have discovered and come in touch with the next world, peopled with those who have lived in this, and, with the courage of their

convictions, have given us the results of research and dignified this philosophy.

On the cover of Frontiers Of The After Life appears over my signature, this most remarkable statement.

"ON OVER 700 NIGHTS, COVERING A PERIOD OF 22 YEARS, IN MY OWN HOME, UNDER SCIENTIFIC CONDITIONS, I TALKED VOICE TO VOICE WITH THE LIVING DEAD."

The statement that the so-called dead can speak, and their voices he heard distinctly, is so beyond ordinary experience that it carries little weight unless we come to understand how such a thing is possible. When that is comprehended, we find it is as simple as any other of nature's processes. The facts stated in Frontiers of the After Life were obtained by me from spirit people who spoke as when in the physical body. Their voices were clear and distinct and at times rang through my whole house.

I have seen spirit bodies materialize, have touched them and found them as the natural, I have heard them speak and tell over and over again that they had bodies, the same bodies as when they lived the earth life. Still I was not satisfied, and sought to know the character of the two, how they blended, how they worked as one, what natural law was involved, what happened in the dissolution process why two were necessary, to the end that I might comprehend the fact, for until such knowledge was acquired I had only a very hazy idea, if any, of the situation.

"Life is expressed in form; without form it would not function. We cannot see the mighty oak in the heart of the

acorn, but it is there in all its splendid promise. We cannot see man, the wonder of creation, in the fluid that first clothes it in its conception, but man is there with form and feature, strength and character, which will ever have continuity With mankind the spirit body is clothed, in the beginning, with a flesh garment, a material vibrating more slowly than the ether of which it is composed, and the process of growth commences. The next change is the physical birth; then comes earth life and the development, physical and spiritual; next is the separation of the spiritual from the outer covering in the change called death—no more wonderful and not half so mysterious as birth; then on, to climb the heights in everlasting life Such are the teachings that have come to me, voice to voice, from spirit people—some whom I personally have known, and others whom I have come to know and respect in this work.

"This inner spirit body, during this stage of its development, is simply clothed, covered or housed in a visible, slow vibrating garment that we call flesh, which has no sensation. This is evident from the fact that when the one is separated from the other, the outer body has no sensation or motion, so that it decays and loses form.

"That experience called death is natures process by which the two are separated. The habitation, for some cause, becomes unfit for further occupancy. The spirit, or the inner body, is released for further progression from the tenement which is no longer habitable. The earth body goes back into its element, to be used again to clothe the other forms of life, The inner or spirit body, holding its-

same form, invisible then as before, but functioning as before, labours and finds further opportunity for growth and spirituality. This it finds in the zones or belts that surround this globe, and, when proper conditions are made, it answers to our call, and tells us of life in its new plane, invisible to mortal eye.

"I asked this question of Dr. David Hossack, who has been in spirit life nearly a century.

"The spirit answered: 'It is difficult to explain to you who know little of matter, the location and boundaries of the various planes where we live. First let me impress upon you the fact that energy, that is, life, cannot express itself in substance The idea that spirit people function without substance and that they and the plane in which they live are unsubstantial, is preposterous and illogical. The gases that compose water, taken separately, are as substantial as when united Why should it be thought impossible, since matter was created, for Nature to create other material than physical, to create spirit material? There are millions of worlds inhabited by human beings in that space you call the sky. Don't for a moment think that yours is the only world, and that God made the universe for you alone.

"This spirit world is in reality just as much a part of your planet as the earth and rocks you tread upon. Around and about your globe, and forming a part of it, are separate, material, concentric belts or zones, varying in width and vibratory action, and therefore in density, into which all mankind and all planetary life passes, on the happening of that event you call death.

"I only know the boundaries of these planes in which I live and labor. I do not know any more about the boundaries of the planes beyond me than you know of the planes beyond you'

"Others have reported of these localities as follows: 'Your earth has belts, but they exist in a cruder condition than those of Jupiter aud Saturn. The belts or zones that lie around your earth are designed for the habitation of spirits out of the body, and as they outgrow the passions of earth and become more refined, they pass to another or higher zone.'

"This is another spirt's report:

"There are seven concentric rings called spheres. The region nearest the earth is known as the first or rudimentary sphere. It really blends with your earth sphere. It is just one step higher in vibration. Growing more intense and increasing in action are six more, distinguished as the spiritual spheres. These are all zones or circles of exceeding fine matter encompassing the earth like belts or girdles—each separate from the other and regulated by fixed laws. They are not shapeless fancies or mental projections, but absolute entities, just as tangible as the planets of the solar system, or the earth on which you reside They have latitude and longitude and atmosphere of peculiarly vitalized vapor. The undulating currents, soft and balmy, are invigorating and pleasurable.

"What appears as space about your earth is composed of ether. There are three distinct circles, the outer filled with more radiant vibrations than those within. Beyond

these, the spheres or circles blend with those of other planets. Each circle is very, very many miles in depth, according to your standard of measurement.'

"The light we have is obtained from the action of our minds on the atmosphere. We think light, and there is light That is why people who come over in evil condition are in the dark; their minds are not competent to produce light enough for them to see

"There is greater intensity of light as we go up through the spheres, which comes from the blending of the more spiritual minds.

"Thought is a fluid, which becomes substance to us when once it is formed into an expression. It is a vibrant, living thing, and should be recognized as such and controlled accordingly "

Another spirit speaks of light as follows:

"When you speak of the sun in the spirit world, you mistake, for there is no such thing. There is light here radiated from the atoms. Our light is very different from your sun. Your light is grosser than ours; it is unnatural to us, and, therefore, painful to the spirit. Our light is soft, radiant and very brilliant. Your physical eye can never behold it; it is so ethereal, so beautiful that it blends with sensation."

Various spirit people have described what they sensed and observed as they passed from one state to another and described the belts or zones in which they live, close about this earth, where they move with freedom among us, know out thoughts, ambitions and desires, share our sorrows and

misfortunes and aid us by mental suggestion. While they apparently are lost to us we are not lost to them, they say, for they keep in touch with us and welcome us as we pass into the great beyond.

EDWARD C. RANDALL

Frontier of the after Life Kalpaka 11-23

ऊपरके लेखका तात्पर्य यह है—रएडल साहव कहते हैं कि, असभ्यतासे सभ्यताकी कोटिमें आते ही जन्ममृत्युका प्रश्न अवश्य ही सामने आता है। इटालीके लमब्रोसो, फ्रान्सके डाक्टर रिचेट, अलफ्रेड रसले वालेस, सर विलियम क्रुक्स, स्टेड, अलिभर लज, कोननडायल इत्यादि विद्वानोंने इस प्रश्नके वैज्ञानिक समाधानके लिये वहुत कुछ अनुसन्धान किया है और परलोकवासी आत्माओंके साथ वातचीत करके विज्ञान भण्डारको अपने अनुभवसे पुष्ट किया है । वाईस वर्ष तक परलोकगत आत्माओंके साथ मैंने भी वहुत वातकी है और इससे मुझे निम्नलिखित अनुभव प्राप्त हुए हैं । सूक्ष्मशरीरधारी आत्मा वुलानेपर स्थूल शरीर लेकर आसकते हैं और वातचीत भी कर सकते हैं। उनका शरीर ऐसा ही होता है जैसा कि मृत्युसे पहिले था। स्थूल शरीर स्थूल पञ्चमहाभूतका वनता है और सूक्ष्मशरीर सूक्ष्म तत्त्वका वनता है । मृत्युके समय सूक्ष्मशरीर स्थूलसे निकल जाता है और अन्य शरीरमें प्रवेश करता है । पृथिवी लोकके ऊपर और नीचे अनेक सूक्ष्म लोक होते है ओर सभीमें तरह तरहके प्राणि निवास करते हैं। पृथिवीके ऊपर सात लोक और नीचे सात लोक होते है । सूक्ष्मतत्त्व प्रधान होनेसे मनुष्य स्थूल नेत्रोंसे उन्हे देख नहीं पाता है । ये सव लोक कल्पनामात्र नहीं है, किन्तु, अपने लोककी तरह इनका अस्तित्त्व है । सूक्ष्म लोकके जीवोंको सूर्यसे रोशनी नहीं मिलती है । वे अपने मनोवलसे इच्छाशक्तिद्वारा रोशनीका सग्रह करते है। इसी कारण मनोवलहीन नारकी जीवोंको अन्धकारमय स्थानोंमें रहना पड़ता है। स्थूललोककी रोशनीसे परलोकके आत्माको कष्ट होता है, क्योंकि, सूक्ष्मलोककी रोशनी कोमल, उज्ज्वल और सुखप्रद है। मर्त्य लोकके आत्मीयजनोंके साथ सूक्ष्मलोकके प्राणि प्रेम सम्वन्ध रखते है और अनेक समय उन्हें सहायता करते हैं। इत्यादि, इत्यादि ।

कल्पक—११।२३

A Strange Proof of Re-birth

A two years-old boy.

Pandit Ram Gopal Misra, Deputy Collector, Gorakhpore, writes :—

Two years back a male child was born to Ram Charan Mahajan in village Kaurar Some 3 months back, the boy used to have his coat on and throw an Angochha (towel) over his shoulder, and used to attempt to make his way to Pharha. On being questioned as to where he was going, he used to say that he was Gopi Bania of Pharha and wanted to go home. On further questions being put to him, he gave out his story that he had a shop at Pharha and one day when he went in to take out some colour powder for a customer he was bitten by a snake and died of snake-bite, that he had his wife, one son and one daughter at Pharha and that he had left some money burried under ground in his house there. Now the fact that one Gopi had died of snake-bite at Pharha in the circumstances detailed by the boy, was known to most of the village people in Kaurari, as this village is only 3 miles from Pharha so the news took no time in reaching the widow of Gopi, deceased, at Pharha, who came to village Kaurari with her children and was identified by the boy from among a number of persons present. He also identified his alleged children. *Sanatanist 7-2-1930.*

The *Theosophic Gleaner*, Bombay, quotes a most remarkable article from the Rangoon Gazette, which, records an indubitable case of re-incarnation. The case, briefly, is as follows: Mr. Tucker, D. P. S, Pegu, was hacked to pieces

by dacoits on August 20, 1894. A boy was born between two and three years afterwards of Burmese parents, in Pegu district, who, between three and four years of age, spoke accurately on legal and other difficult points, *he bore on his body marks of wounds similar to those inflicted on Mr. Tucker, was short of the right little finger, cut off in the murder, and was fair and blue-eyed.* Taken to Pegu he pointed out a bungalow he had lived in, spoke by name of some English friends of Mr Tucker, described the murder, and pointed out Mr. Tucker's grave in the cemetry, which he had not previously visited. *Sanatanist 11-1-1931*

ऊपरकी इन दोनों घटनाओंसे पुनर्जन्मको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता । इनका अनुवाद निम्नलिखित है । गोरखपुरके डिपटी कलेक्टर पं० रामगोपाल मिश्र लिखते है—दो वर्ष पहिले कौरारी ग्राममें रामचरन महाजनका एक पुत्र हुआ था । करीब तीन मास पूर्व वह लड़का कपड़ा, कुर्त्ता पहिन कर वहांसे तीन मील दूरके फारहा नामक गांवमें जाने लगा । कारण पूछने पर उत्तर दिया कि, वह फारहा ग्रामका गोपी बनिया है और अपने घर जाना चाहता है । और भी उसने कहा कि, फारहामें उसकी एक दुकान थी, एक दिन जबकि एक खरीदारके लिये कुछ रक्ष लानेको गया तो उसको सांप ने काटा, जिससे उसकी मृत्यु होगई, फारहामें उसकी स्त्री, एक लड़का और एक लड़की है और उसके मकानमें कुछ गड़ा हुआ उसका रुपया भी है । पता लगाने पर यह सभी बात सत्य निकली और संवाद पाकर जब उसकी पूर्वजन्मकी स्त्री, लड़की और लड़का सब उसके पास पहुंचे, तो, उसने सबको अच्छी तरहसे पहचान लिया ।

सनातनिष्ट ७-१-३०

रङ्गून गेज़टमें ऐसा ही एक संवाद निकला है । यथा—सन् १८९४ बीस अगस्तको पेगूके डी. पी. एल. टकार साहबको डाकुओंने मार दिया था । इसके दो तीन वर्षके बाद ज़िला पेगूमें ब्रह्मदेशवाले पिना मातासे एक लड़का पैदा हुआ, जो तीन-चार वर्षकी उमरमें ही कानूनके विषयमें बहुत कुछ बात कहने लगा । डाकुओंने टकार साहबके शरीर पर जितने आघात किये थे सबके

ऐसेही दाग उस लड़केके बदन पर थे, उन्होंने टकारके दाहिने हाथकी कनिष्ठ अङ्गुली काट दी थी और इस लड़केकी भी कनिष्ठ अङ्गुली नहीं थी, वह गौर वर्ण था और आंखें नील रङ्गकी थी। वह जब पेगू में लाया गया तो, उसने एक बङ्गला बताया जहांपर वह टकार साहब रूपसे पूर्वजन्ममें रहा करता था, टकारके कुछ मित्रोंका नाम भी बताया, कैसे डाकुओंसे वह मारा गया था सो भी बताया, और जिस कबर में टकार का मृत देह गाड़ा गया था उसको भी दिखा दिया।

सनातनिष्ट ११-१-३१

ऊपर वर्णित घटनाओंसे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि, पुनर्जन्म सत्य वस्तु है और परलोकके विषयमें अनुसन्धान करना आजकल पाश्चात्य जगत्का एक अत्यावश्यकीय व्यापार हो चला है। अध्यवसायी पश्चिम देशियोंने इस कार्य्य-में बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त कर ली है और यूरोपीय महायुद्धके बाद तो बहुत लोगोंकी दृष्टि इस अलौकिक सत्यपर पड़ी है। यहांतक कि ईसाई धर्मा-वलम्बी बड़े बड़े विद्वान् जो ईसाई मतके रहस्यको न समझकर इन बातोंको एक बार ही नहीं मानते थे, अब वे भी इस मतके समर्थनमें बड़े बड़े ग्रंथ लिखते जाते हैं। अब नीचे इस अत्यावश्यकीय तथा रहस्यपूर्ण विषयमें आर्य्यशास्त्रमें कैसे कैसे प्रमाण तथा सिद्धान्त मिलते हैं, सो ही बताया जायगा। पहिले ही कहा गया है, कि, इस मृत्युलोकके सिवाय और सभी लोकोंकी परलोक संज्ञा होनेपर भी प्रेतलोक, नरकलोक और पितृलोकको ही साधारणतः परलोक कहते हैं। इसी लिये प्रथमतः इन तीनों लोकोंके विषयमें ही आर्य्यशास्त्रके सिद्धान्त कहे जायेंगे। कठश्रुतिमें:—

'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके'

अर्थात् परलोक है या नहीं, इस विषयमें मनुष्योंको शङ्का होती है, इस प्रकार प्रश्न नचिकेताके मुखसे उठा कर, पश्चात् यह सिद्धान्त किया गया है कि:—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

अर्थात् अज्ञानीप्रमादग्रस्त धनादि विषयोंमें आसक्त मूढ़ जनोंको परलोकके विषयमें ज्ञान नहीं हो सकता है। वे इहलोकको ही सब कुछ समझकर परलोक-

पर अविश्वासी हो, पुनः पुनः जन्ममरण-चक्रमें परिभ्रमण करते रहते हैं। भगवती श्रुतिके इस सिद्धान्तके अनुसार स्मृति पुराणादि शास्त्रोंमें प्रेतलोक, नरकलोक तथा पितृलोकके विषयमें बहुत कुछ बातें कही गई हैं, जो नीचे क्रमशः बताई जाती है।

यह बात पहिले ही कही गई है कि, आर्य्यशास्त्रमें भूर्लोकके अन्तर्गत चार लोक माने गये है। यथा—मृत्युलोक, प्रेतलोक, नरकलोक और पितृलोक। इन में से मृत्युलोक स्थूल है, और तीनों लोक सूक्ष्म है। इनके स्थानोंके विषयमें श्रीमद्भागवतके ५म स्कन्धमें लिखा है, यथा :—

'नरकं नाम भगवन् किं देशविशेषा अथवा बहिस्त्रिलोक्या आहोस्विदन्तराल इति।'

'अन्तराल एव त्रिजगत्यास्तु दिशि दक्षिणस्यामधस्ताद्भूमेरुपरिष्टाच्च जलाद्यस्यामग्निष्वात्तादयः पितृगणा निवसन्ति।'

'यत्र ह वाव भगवान् पितृराजो वैवस्वतः स्वविषयं प्रापितेषु स्वपुरुषैर्जन्तुषु परेतेषु यथाकर्मावद्यं दोषमेवानुल्लङ्घितभगवच्छासनः सगणो दमं धारयति।'

'तत्र हैके नरकानेकविंशतिं गणयन्ति'

भूर्लोकके भीतर ही दक्षिण-दिशामें पृथिवीके नीचे तथा जलके ऊपर अग्निष्वात्तादि पितृगण निवास करते है। यही पितृलोकका स्थान है। वही पर राजा वैवस्वत यमका भी राज्य है। इसी यमलोकमें यमदूतगण मृत्युके बाद पितृलोकके जीवगणको लाते हैं और वहीसे विचार होकर पापपुण्यानुसार जीवोंको सुख या सजा मिलती है। वही पर २१ नरक भी है। इससे सिद्ध हुआ कि, नरकलोक तथा पितृलोक पृथिवीकी दक्षिण-दिशामें हैं और दोनो ही भूर्लोकके भीतर है। श्रीभगवान् वेदव्यासने योगदर्शनभाष्यमें भी लिखा है :—

"अवीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावत् इत्येष भूर्लोकः। तत्रावीचेरुपर्युपरिनिविष्टाः षण्महानरकभूमयो महाकालाम्बरीषरौरवमहारौरवकालसूत्रान्धतामिस्राः, यत्र स्वकर्मोपार्जितदुःखवेदनाः प्राणिनः कष्टमायुर्दीर्घमाक्षिप्य जायन्ते, ततः सप्त पातालानि।"

ऊपरके सप्त लोकोके नीचे अवीचि नामक नरक स्थान है। उस अवीचिसे सुमेरुपृष्ठपर्य्यन्त स्थानको भूर्लोक कहते है। अवीचिसे ऊपर तथा पृथिवीसे

नीचे छः नरकके स्थान हैं, जिनके नाम महाकाल, अम्बरीष, रौरव, कालसूत्र और अन्धतामिस्र हैं। इनमें जीव निजकृत पापकर्मजन्य तीव्र दुःख भोगते हुए दीर्घजीवन व्यतीत करते हैं। अवीचिके नीचे अतल वितलादि सप्त अधोलोक हैं। देवी भागवतमें प्रेतलोक तथा नरकलोक और पितृलोकके विषयमें अनेक प्रमाण मिलते हैं, यथा:—

पिशाचप्रेतभूतानां विहाराजिरमुत्तमम्।
अन्तरिक्षं च तत्प्रोक्तं यावद् वायुः प्रवाति हि॥

भूत प्रेतगण भूलोकके अन्तर्गत शून्यस्थानोंमें रहते हैं। इनका शरीर वाय-वीय होनेके कारण जहाँ तक वायु है, वहां तक वे रह सकते हैं। पितृलोकके विषयमें उसी पुराणमें वर्णन है:—

त्रिजगत्या अन्तराले दक्षिणस्यां दिशीह वै।
भूमेरधस्तादुपरि त्वतलस्य च नारद॥
अग्निष्वात्ताः पितृगणा वर्त्तन्ते पितरश्च ह।
पितृराजोऽपि भगवान् संपरेतेषु जन्तुषु॥
विषयं प्रापितेष्वेषु स्वकीयैः पुरुषैरिह।
सगणो भगवत् प्रोक्ताज्ञापरो दमधारकः॥
नरकानेकविंशत्या संख्यया वर्णयन्ति हि।
अष्टाविंशमितान् केचित्ताननुक्रमतो ब्रुवे॥

भूलोंकके भीतर ही दक्षिण दिशामें पृथिवीके नीचे तथा अतल लोकके ऊपर अग्निष्वात्तादि नित्य पितृगण और नैमित्तिक पितृगण रहते हैं। पितृलोकके राजा यम भी वहीं पर रहते और भगवानकी आज्ञानुसार पापियोंका दण्ड विधान करते हैं। उनके दण्ड विधानस्थान इक्कीस या अन्य मतानुसार अट्ठाइस नरक भी उसी भूलोंकके अन्तर्गत हैं। इन सब प्रमाणोंके द्वारा स्पष्ट सिद्ध हुआ कि, भूलोंकके भीतर प्रेतलोक, नरकलोक तथा पितृलोक है केवल मृत्यु लोक स्थूल है तथा बाकी तीन लोक सूक्ष्म हैं। यमलोक, पितृलोक आदिके विषयमें वेदमें भी प्रमाण मिलते हैं। यथा अथर्ववेद ६-१२-११६ में यमलोकके विषय में लिखा है:—

'ऋणान्नो नर्णमेत्संमानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत् ।

हम लोगोंको ऐसा ऋण न हो जिससे ऋण देनेवाला उत्तमर्ण हाथमें रज्जु लेकर यमलोकमें हमें बाँधने आवे । इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद्में पितृलोकके विषयमें लिखा है—

'ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दः ।

अर्थात् मर्त्यलोकके आनन्दका शत गुण आनन्द पितृलोकमें मिलता है । पितृलोकके विषयमें श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है कि—

'भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।'

प्रेतके उपासक प्रेतलोकको जाते हैं और भगवान्‌के उपासक भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार नरकलोकके विषयमें भी श्रीभगवान्‌ने 'पतन्ति नरकेऽशुचौ' इस वचनके द्वारा अशुचि आदि नरकलोकके स्थानोंका वर्णन किया है । अब नीचे इन सब लोकोंके अधिवासियोंके विषयमें क्रमशः वर्णन किया जाता है ।

प्रथमतः प्रेतलोकके निवासियोंके विषयमें कहा जायगा । मृत्युके समय किन किन घटनाओंसे सूक्ष्म शरीरपर मूर्च्छा आकर मनुष्यको प्रेतयोनि प्राप्त होती है, इसका विस्तारित वर्णन पहिले ही दिया गया है, अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है । श्रीभगवान् मनुने अपनी संहिताके १२वें अध्यायमें कर्म्मभ्रष्ट चार वर्णके मनुष्योंकी चार प्रकारकी प्रेतत्व-प्राप्तिका वर्णन किया है, यथा—

वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात् स्वकात् च्युतः ।
अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः ॥
मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक् ।
चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात् स्वकाच्च्युतः ॥

स्वधर्मभ्रष्ट ब्राह्मण वमन भक्षक उल्कामुख प्रेत होता है, कर्मभ्रष्ट क्षत्रिय शव तथा विष्टाभक्षक कटपूतन नामक प्रेत होता है, कर्मभ्रष्ट वैश्य पूयभक्षक मैत्राक्षज्योतिक नामक प्रेत होता है और कर्मभ्रष्ट शूद्र कीटभक्षक चैलाशक नामक प्रेत होता है । श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें भी कहा है—

प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।

अर्थात् तामसिक लोग भूत प्रेतोंकी उपासना करते हैं, ऐसा कहकर

प्रेतयोनिका अस्तित्व बताया है । अथर्ववेदमें भूतप्रेतोंके विषयमें प्रचुर प्रमाण मिलते हैं, यथा-अथर्ववेद ८-३-६ में—

ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः ।

अरायान् वस्तवासिनो दुर्गन्धींल्लोहितास्यान् मककान् नाशयामसि ॥

जो प्रेतगण सूर्यतेज सहन करनेमें असमर्थ होकर दिनमें छिपे रहते हैं, जो देखनेमें श्रीहीन, मेषचर्मपरिधानकारी, रक्तमुख तथा दुर्गन्धशरीर है, उनका मन्त्रशक्ति तथा द्रव्यशक्ति द्वारा नाश करेंगे । और भी २-२-६ में—

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु ।

अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुत्तमम् ॥

हे पलाशउदुम्बरादिदशवृक्षशकलनिर्मितमणे ! तुम उस मनुष्यको जो कि, अमावस्यामें ब्रह्मराक्षस (एक प्रकारकी प्रेतयोनि) द्वारा आक्रान्त हुआ है, ब्रह्मराक्षसके आक्रमणसे मुक्त करो और उस मुमुर्षुको पुनर्जीवन दान करो । इत्यादि इत्यादि अनेक प्रमाण वेदमें भी प्रेतयोनिके विषयमे प्राप्त होते हैं और वर्त्तमान पाश्चात्य जगत्‌में इस विषयमें कैसे कैसे अनुसन्धान तथा आविष्कार हो रहे हैं, इसका प्रचुर वर्णन पहिले ही किया गया है अतः इस विषयके प्रति उपेक्षा न बताकर विश्वासके साथ अनुसन्धान तथा तत्त्व-निर्णय करना ही युक्तियुक्त होगा ।

प्रेतलोक तथा उसके अधिवासियोंके विषयमें अभी कुछ ही दिनोंसे पश्चिम देशमें अनुसन्धान प्रारम्भ हुआ है; किन्तु आर्यजातिके भीतर अति प्राचीन कालसे ही इस विषयमें अनेक गवेषणाएँ हो चुकी हैं और हो रही हैं। शवसाधनाकी विधि जो तन्त्रशास्त्र में जहां तहां मिलती है, उसके द्वारा मृत शरीरमें प्रेतात्माको बुलाकर सिद्धि आदि लाभ, भविष्यत्कथन आदि रूप प्रक्रिया बताई गई है । इन सब प्रक्रियाओंके द्वारा वर्षोंतक गवेषणा करके प्रेतलोक सम्बन्धीय जो कुछ बातें जानी गई हैं, उनका कुछ अंश उद्धृत किया जाता है ।

"प्रेतका शरीर वायवीय होता है । इस लिये घरके द्वार बन्द रहनेपर भी किसी प्रकार छिद्र या वायुप्रवेशपथद्वारा प्रेत घरके भीतर प्रवेश कर सकता है । प्रेतका पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर न रहनेपर भी वासनाके वेगके अनुसार प्रेत स्थूलशरीर धारण कर सकता है और दर्शनपथमें भी आ सकता है । जिसके साथ प्रेतके वासनाका सम्बन्ध हो उसको दिखाई दे सकता है । यथा—पति रूपधारण करके स्त्रीके पास आकर स्त्रीपुरुष जैसा वर्ताव भी कर सकता है, सन्तानादिके

पास या प्रेमीके पास भी आ सकता है। वासनाके अनुसार प्रेत तरह तरहका रूप भी धारण कर सकता है। यथा—वायुतत्त्वको आकर्षण करके आंधीके रूपमें मनुष्योंको डराना या अग्नितत्त्वको आकर्षण करके अग्निमय रूपसे श्मशानादिमें लोगोंको डराना आदि प्रेत कर सकता है, किन्तु सब प्रेतोंमें ऐसी शक्ति नहीं हो सकती है। जो जिस भावके आवेशमें प्रेत होता है, उसका आचरण प्रेतयोनिमें भी ऐसा ही होता है। प्रेत अनेक भावसे होते हैं। काम, मोह, धन लोभ आदिके आवेशमें मरते समय उसीमें मूर्छा पाकर सब प्रकारके प्रेत होते हैं। आत्महत्या करके एक प्रकारके प्रेत होते हैं। अकस्मात् वज्रपात या मकान आदि द्वारा दबकर मरनेसे एक प्रकारके प्रेत होते हैं। युद्धमें भीरुकी तरह मर कर एक प्रकारके प्रेत होते हैं। जिघांसावृत्तिके वशीभूत होकर आत्महत्या करनेसे एक प्रकारके प्रेत होते है। इन सबके अलग अलग आचरण होते हैं। कामुक प्रेत उस योनिमें भी कामचेष्टा ही करता है और ऐसे पुरुष प्रेत, स्त्रियोंपर या स्त्री प्रेत, पुरुषोंपर आविष्ट होनेकी चेष्टा करते हैं। मोहान्ध स्त्री पुरुष प्रेत मोहकी वस्तु पुत्रादिके पास आनेकी चेष्टा करते हैं, कभी कभी उनको मारकर अपनी योनिमें लानेका उद्योग करते हैं। धनलोभी प्रेत अपनी जीवितावस्थामें उपार्जित धनकी ओर टकटकी लगाये रहते हैं, उसके खर्च हो जानेसे उन्हें बडा दुःख होता है। आत्मघात द्वारा प्रेतयोनि प्राप्त प्रेत अंधेरेमें रहना पसन्द करते हैं और आत्महननेच्छु स्त्रीपुरुषोंको आत्मघातके लिये उत्तेजित करते रहते हैं। वज्राघात आदिसे जो प्रेत होते हैं, वे निस्तब्ध होकर बैठे रहना और अफीमची-की तरह झूमते रहना पसन्द करते हैं। युद्धमें भीरुतासे मृत प्रेत कबन्ध होते हैं। उनके हाथमें अस्त्र रहता है। वे बडे दुष्ट होते हैं, लोगोंको सताना, डराना आदि इनका काम होता है। इस श्रेणीके मुसलमान प्रेत जिन्द कहलाते हैं। लोगोंको भय, प्रलोभन आदि दिखाकर मारना, नाना भयानक दृश्य दिखाना आदि इनका काम होता है। जिघांसावृत्तिसे जो प्रेत बनता है, वह बडा ही भयानक अत्याचारी होता है। जिसपर जीवितावस्थामें उसका क्रोध या द्वेष रहता है, उसको मार ही डालता है।" इत्यादि इत्यादि नाना श्रेणियोंके प्रेत देखे गये हैं।

इन सब विषयों पर पश्चिमदेशमें भी बहुत कुछ अनुसन्धान हो चुका है, यथा—

Evil spirits are of all degrees. All who pass over with a sense of injustice in their heart, and hatred anger and revenge

no matter for whatsoever cause, serious or trivial, illegitimate or apparently justifiable are a danger in any world, causing unrest and ill-will amongst men. Their thoughts and feelings are, like wireless messages, broadcasted in the ether and atmosphere of space and are picked up as suggestions and impulses by those whose minds and characters respond to such vibrations. More than that, they can in person, by their presence, inspire control or obsess suitable mortals to hate, anger and revenge to wound or murder. They hope to gain satisfaction by these means

Then similarly there are those who have allowed jealousy to eat like a cancer into their soul. There are the greedy and avaricious, those who love and crave for power and authority over their fellows, who love flattery, honour and glory above all else There are the sensualists (and alas they are many) who have always been making provision for the flesh to fulfil the lusts thereof—sexual excess, drink, eating, drugs, love of money and so on. People dying with strong fleshly lusts upon them carry the memory and desire for these with them. But they have no means of gratification—or full gratification and so seek to come back and enjoy their lust in a second hand sort of way by obsessing mortals to the same lust and picking up i. e., absorbing emotions thus engendered

MODERN SPIRITUALISM.

Richard A. Bush—Kalpaka, 6-23.

क्रोध, जिघांसा आदि भावोंको लेकर जो प्रेत होता है वह मरनेके बाद भी उस पापको छोड़ नहीं सकता है। ऐसा प्रेत दूसरेके भीतर भी इस भावके उत्पन्न करनेका प्रयत्न करता है। इससे उसको आनन्द मिलता है। ऐसा ही कामुक

प्रेत भी अपनी कामवृत्तिको चरितार्थ करनेके लिये प्रयत्न करता है और उसमें पूर्ण सफलता न होने पर दूसरेके भीतर काम भावकी प्रेरणा करता है और उसको देख कर उसे आनन्द होता है। इत्यादि यही सब प्रेतयोनिकी नारकी चिन्ता है।

"सबको प्रेत नहीं दीखता है और सबको प्रेतकी बातभी नही सुनाई देती है। साधारणतः जिन जन्तुओंमें रातको देखनेकी शक्ति है, वे सब प्रेत देख सकते है, यथा-कुत्ते, बिल्ली, घोड़े, शेर इत्यादि। रातको कुत्ते जो प्रायः बोलते रहते है, वे केवल मनुष्य देखकर ही नही बोलते, परन्तु प्रेतकी मूर्ति देखकर भी उसे मनुष्य समझ कुत्ते बोलते रहते हैं। इसी प्रकार अनेक स्त्री पुरुषोंमें प्रेत देखनेकी खास दृष्टि (Psychic sight) होती है। वे सब प्रेत देख सकते है। इनमेंसे किसी किसीको प्रेतकी बातें भी सुननेमें आती है। प्रेतकी बातें मनुष्यकी बातोंकी तरह वायुस्पन्दन द्वारा कानतक नहीं पहुंचती हैं। प्रेतको जब कुछ कहना होता है, तो वह तदनुरूप श्रोताके मनमें प्रेरणा करता है और उसी प्रेरणा द्वारा भीतरसे श्रोताके कानोंमें टेलीफोनके शब्दकी तरह प्रेतकी बातें सुननेमें आजाती है। सब प्रेतोंकी प्रकृति एकसी नही होती है, बल्कि उनकी प्रकृति जीवितावस्थाकी प्रकृति जैसी ही प्रायः हुआ करती है। दुष्ट मनुष्य मर कर दुष्ट प्रेत ही होता है, अच्छा मनुष्य किसी कारणसे प्रेतयोनि प्राप्त होनेपर भी अच्छा ही रहता है, अत्याचार नहीं करता है। इस रीतिके अनुसार कई एक साधु प्रेतोंको भजन गाते हुए सुना गया है और भङ्गी प्रेतोंको विष्ठा फेंकते, पाखानेमें रहते और विष्ठाकी टोकरी सिरपर ले चलते देखा गया है। सूर्यके प्रकाशमें प्रेतका बल घट जाता है। उसे प्रकाश सहन नहीं होता है। वह अँधेरेमें रहना ही पसन्द करता है। इसका वैदिक प्रमाण भी पहिले दिया जा चुका है। निशाचर जन्तुओंकी तरह प्रेतका बल सन्ध्या कालसे बढ़ने लगता है। उस समय प्रेत इधर उधर खानेके खोजमें घूमता रहता है। इस लिये सन्ध्या कालके भोजनपर प्रेतकी बड़ी दृष्टि रहती है। यही कारण है कि, आर्य शास्त्रमें ठीक सन्ध्याके समय भोजन करनेको निषेध किया गया है। प्रेत स्थूलरूपसे नहीं खाता है। वह वासना, मनके वेग तथा वेगमयी दृष्टिके द्वारा खाकर तृप्त हो जाता है। इस कारण किसीको खाते हुए देख कर, उस अन्नपर नजर लगानेसे प्रेतका पेट भर सकता है। स्थूल वस्तु न देकर केवल मनकी भावना द्वारा चावल, रोटी, मिठाई आदि देनेपर भी उसी मनोमय अन्नको मनोवेग द्वारा खाकर भी प्रेत तृप्त होसकता है, प्रेतको देनेके नामसे ब्राह्मणादिको खिलानेपर

भी उस समय ब्राह्मणोंको खाते हुए देख कर प्रेतका पेट भर जाता है। यही सब प्रेतभोजनके प्रकार हैं। प्रेत असल खानेसे उच्छिष्ट खाना अधिक पसन्द करता है। इसी लिये उच्छिष्टपर प्रेतकी बड़ी नजर रहती है और आर्यशास्त्र में उच्छिष्टभोजनको तामसिक तथा निषिद्ध भोजन कहा गया है। जिस वस्तुपर प्रेतकी दृष्टि पड़ जाय, वह असल हो या उच्छिष्ट हो, उसके खानेपर मनुष्यके पेटमें वह नहीं पचती है। उसको वमन आदि हो जाता है, वृक्षके फल-पर प्रेतकी नजर पड़नेसे वह फल गिर जाता है, या सूख जाता है। भोजनकी तरह क्षुधा, तृष्णा, मलमूत्रादि त्याग सभी मानसिकरूपसे प्रेतोंमें उदय तथा मानसिकरूपमें ही उनका समाधान हो जाता है।"

"प्रेत एकान्त स्थानमें रहना पसन्द करता है। इसलिये उजाड़ मकान या स्थान, श्मशानादिस्थान, अन्धकारमय गृह, वृक्ष आदिमें प्रायः रहता है। जहाँ पर यज्ञ होता है, वेदध्वनि होती है, शास्त्रचर्चा होती है, शङ्ख घण्टाकी ध्वनि या देवताकी आरति होती है, वहांसे प्रेत दूर भागता है। ऐसा कई बार देखा गया कि, किसी व्यक्तिपर प्रेत आविष्ट होकर बात कररहा है, इतनेमें शङ्ख घण्टाका शब्द होते ही प्रेत उसे छोड़ भाग गया। इसी प्रकार जल देख कर भी प्रेत डरता है। इस कारण प्रेत नदीपार नहीं जा सकता है। कभी जाना हुआ तो किसी स्थूल अवलम्बनके द्वारा जा सकता है। जलसे प्रेतको इतना डर होनेके कारण ही नृसिंहकवचादि प्रेतबाधानाशन मन्त्रोंको प्रेताविष्ट व्यक्तिके गलेमें उसको पानीमें डुबकी लगवाकर बाँधना पड़ता है। जलकी तरह रामनाम, दुर्गानाम, गायत्री-मन्त्र आदिसे भी प्रेत बहुत डरता है। मंत्रोंके द्वारा तो प्रेत वशीभूत हो जाता है, किन्तु बलपूर्वक वश होनेके कारण वश करनेवाले पर बहुत ही नाराज रहता है और थोड़ा मौका मिलते ही उसको तथा उसके परिवारोंको मार डालनेकी चेष्टा करता है। प्रेत वशीभूत होकर रुपया, फल वगैरह ला दे सकता है। प्रेत बहुत थोड़े समयमें दूर दूरसे दस बीस मन फल ला सकता है। प्रेत फलोंको उठा नहीं लाता है। किन्तु जहाँ फल है वहाँ तुरन्त पहुंच कर, फल देख आता है, पीछे चित्तकी तीव्र धारणासे फलादि बना देता है। इस लिये उन फलोंसे पेट नहीं भरता है और कभी कभी थोड़ी ही देरमें फलोंकी शकल बदल जाती है जैसा कि, आध घण्टे पहिले जो फल था सो राख या मिट्टी बन गया इत्यादि। सब लोगोंपर प्रेतका आवेश नहीं हो सकता है,

दुर्बलचित्त स्त्री पुरुषोंपर तथा पुरुषसे अधिक स्त्रीपर प्रेतावेश हो सकता है। प्रेत चाहे जीवितावस्थामें किसी भाषाका बोलने वाला हो, प्रेत होनेपर अन्य भाषामें भी बोल सकता है, जिसपर आविष्ट हो, उसकी भाषामें भी बोल सकता है, क्योंकि, वह आविष्ट व्यक्तिके मनमें प्रेरणा करके उसकी जिह्वाको यन्त्र बनाकर बोलता है। मूर्खपर आविष्ट होकर विद्वान् प्रेत उसके मुखसे अच्छी संस्कृत या अंग्रेजीमें बात कर सकता है। इस प्रकार प्रेत दुर्बलचित्त व्यक्तिमें स्वप्न भी दे सकता है, या स्वप्नावस्थामे उठा भी ले जा सकता है। प्रेतोंके अलग अलग हलके होते हैं, जिनके बाहर प्रेत जा नही सकते हैं। जिसका जो हलका है उसीके भीतर उस प्रेतको रहना पड़ता है। प्रत्येक हलकेमें प्रेतका शासक एक एक बेताल होता है। बेताल प्रेतयोनिसे ही बनते हैं, वे रङ्गमें काले तथा हाथमें डण्ड लिये हुए होते हैं। वे प्रेतोंके वृथा घूमनेसे, अनधिकार प्रवेशसे या किसीपर अत्याचार करनेसे रोकते रहते है। शासनका अतिक्रम करनेपर बेताललोग प्रेतोंको खूब मारते हैं। इतना होनेपर भी दुष्ट प्रेत कुकर्मसे निवृत्त नही होते हैं। विकृत-मस्तिष्क स्त्री-पुरुषोंपर प्रेतका बड़ा ही प्रभाव रहता है इसलिये पागल स्त्री पुरुष तथा पागलखानेमे प्रेत बहुत रहते हैं और पागलोंके मनपर प्रभाव डालकर, उनसे अनेक अत्याचार आदि करवाते हैं। पञ्चतत्त्वोंमें किसी प्रकार विकार (Elemental disturbance) होनेपर प्रेतोंको बड़ा ही कष्ट होता है, जैसा कि प्रबल आंधी चलते समय प्रेतोंको बड़ा ही कष्ट होता है, आंधीके ह्रास वृद्धिके साथ साथ वायुशरीर प्रेतोंके शरीरमें भी सङ्कोच विकाश होता रहता है और प्राण निकलनेकी तरह अत्यन्त कष्ट होता है। एक प्रेतने कहा भी था—When there is commotion in elements there is great commotion within us-Spirits" प्रेतको अपने पूर्व शरीरपर बड़ा ही मोह होता है इसलिये मृत्युके बाद श्मशानपर्यन्त उसीके साथ साथ रहता है। उसको आगमें जलाते समय प्रेतको बड़ा ही कष्ट होता है। मानों प्रेतका ही शरीर जल रहा हो ऐसा दुःख होता है। वह रोता पीटता रहता है, दुःखसे मूर्छित होने लगता है और जब तक शवदेह जलकर पूरा भस्म नही हो जाता है, प्रेत वहीपर उसे देखता रहता है और कभी कभी जल जानेके बाद भी श्मशानमें ही उसी स्थानमें रह जाता है। शीत, वर्षा आदि ऋतुओंका प्रभाव प्रेतोंपर नहीं होता है। केवल मानसिकरूपसे ऋतुओंका अनुभव होता है। वज्रादि पतनके समय उसको भय मालूम होता है। वज्रपातसे मृत प्रेतको वज्र-

पातके समय बड़ा ही भय होता है। जलमें डूब कर मरनेवाले प्रेतको जल देख कर बड़ा ही भय होता है। अमावस्याकी रात्रिको प्रेत बड़ा ही वलीयान होता है। इसलिये प्रेतवशीकरण शवसाधन आदिके लिये यही रात्रि प्रशस्त है।"

"प्रेतजीवन बड़ा ही दुःखमय तथा अशान्तिमय है। प्रेतके हृदयमें सदा ही कुछ दाह बना रहता है, जिससे प्रेत कभी एक स्थानमें थोड़ी देर तक शान्तिसे ठहर नहीं सकता है। रात दिन अज्ञानान्धकारसे भरे हुए मूर्च्छामय चित्तके साथ रहना भी महा कष्टकर होता है। दाह क्यों हो रहा है, इसका भी ठीक ठीक पता प्रेतको नहीं लगता है। इसके सिवाय जिस वासनाके वेगसे उसे प्रेतयोनि प्राप्त हुई है, वह वासना भी नहीं छुटती है, वल्कि, उसकी अग्नि वृद्धिङ्गत ही होती रहती है। इसी वासनाग्निसे दग्धचित्त प्रेत स्थूल संसारमें उसकी चरितार्थताके लिये रात दिन प्रयत्न करता है, किन्तु प्रायः ही विफल-मनोरथ होकर दुःखानलमें और भी व्याकुल हो जाता है। कामान्ध प्रेत कामकी वस्तुके पास, मोहान्ध प्रेत मोहके आधारके पास, धनान्ध प्रेत धनागारके पास आ कर उन सभोंसे मिलनेकी तथा स्थूल उपभोगोंकी प्राप्तिकी चेष्टा करता है। उन सभोंको अपने प्रेतलोकमें लानेके लिये भी प्रयत्न करता है। किन्तु लानेमें नाना कारणोंसे असमर्थ होकर बड़ा ही दुःखित होता है। किसी-की स्त्री मर कर प्रेतिनी हुई, उसके पतिने द्वितीय विवाह किया, नयी स्त्री पतिके पास आती है, इस दृश्यको देख कर मृत प्रेतिनी स्त्रीके चित्तमें बहुत ही ईर्ष्याजन्य दुःख होता है। किसीका बहुत धन था, वह मरते समय तक उसीको सोचता हुआ प्रेत बना, उसका धनलोभ नहीं छूटता है, वह जिस घरमें धन है, उसीमें रहता है, उसको खर्च होते हुए देखकर उसे दारुण कष्ट होता है इत्यादि प्रेतयोनिप्राप्त जीवोंके वासनाजन्य दुःख है। इन दुःखोंसे प्रेत रोता रहता है। अपने बदनको फाड़ता रहता है। उन्मत्तकी तरह घूमता रहता है, किन्तु कुछ उपाय उसे सूझता नहीं। श्मशानमें, एकान्तमें ऐसे दुःखसे रोते हुए कितने ही प्रेत देखे गये हैं। इसके सिवाय मृत्युके समय जिस कष्टसे उसकी मृत्यु हुई थी वह भी कष्ट बराबर बना रहता है। एक कुलटा स्त्री जो छूरेके आघातसे मारी गई थी, उसके बदनमें प्रेतावस्थामें भी छूरेका दाग देखा गया। एक आत्महत्याकारी प्रेत वेतालोंके द्वारा बांध कर लाया गया। उस समय देखा गया कि, पागल या बांधे हुए वन्य पशुकी तरह उसकी अवस्था

थी। जिसको प्राण निकलते समय जल नहीं मिला था, वह प्रेतयोनिमें तृष्णासे अधीर हो जल जल पुकारता रहता है। जिसका दुर्भिक्षमें प्राण गया था, वह हा अन्न, हा अन्न करता रहता है। कदाचित् कोई उसे जल दे दे या आहार दे दे तभी कुछ शान्ति होती है। आर्यशास्त्रमें प्रेतयोनिप्राप्त जीवोंके इन्हीं सब दुःखों-को दूर करनेके लिये तथा प्रेतयोनिगत मूर्च्छाको तोड़ उन्हें अन्ययोनिमें डालनेके लिये श्राद्धक्रियाकी विधि बताई गई है। श्राद्धका ठीक ठीक अनुष्ठान होनेपर प्रेतयोनिसे जीवकी मुक्ति हो जाती है। और गयाश्राद्धसे तुरन्त प्रेत-योनिमुक्त होते देखा गया है। उस समय प्राक्तन कर्मानुसार उसे नरक, स्वर्ग आदि भोग होनेके बाद पुनः पृथिवीमें जन्म मिलता है।" यही प्रेतयोनि तथा प्रेतलोकके विषयमें आर्यशास्त्रका अनुभवसे प्राप्त सिद्धान्त है।

प्रेतलोकके निवासियोंके विषयमें आर्यशास्त्रका सिद्धान्त कह कर, अब नरकलोकके निवासियोंके विषयमें आर्यशास्त्रका सिद्धान्त कहा जाता है। नरक-लोक कहांपर है और कितने नरक हैं, इस विषयके प्रमाण पहिले ही दिये जा चुके हैं। उपनिषद्में भी लिखा है—

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

आत्मघाती पापी लोग मृत्युके अनन्तर घोर अन्धकारावृत दुःखमय नरकादि लोकोंमें जाते हैं। श्रीभगवान् मनुजीने अपनी संहिताके द्वादशाध्यायमें नरकके विषयमें बहुत कुछ वर्णन किया है, यथा—

यथा यथा निषेवन्ते विषयान् विषयात्मकाः।
तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते॥
तेऽभ्यासात् कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः।
सम्प्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु॥
तामिस्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्तनम्।
असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनानि च॥
विविधाश्चैव सम्पीडाः काकोलूकैश्च भक्षणम्।
करम्भवालुकातापान् कुम्भीपाकांश्च दारुणान्॥

बहून् वर्षगणान् घोरान् नरकान् प्राप्य तत्क्षणात्।
संसारान् प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान्॥

विषयसेवा द्वारा भोगस्पृहा और भी बलवती होकर जीवको परलोकमें दारुण दुःख प्रदान करती है। पापकर्मके फलसे तामिस्र, असिपत्रवन, वन्धनच्छेदन आदि नरक प्राप्ति, उनमें नानाप्रकारका दुःखभोग, काक, उलूक आदि द्वारा भक्षण, वालुकाके ऊपरसे गमन, कुम्भीपाकमें भीषण दुःख आदि नरकयन्त्रणा पापीको भोगनी पड़ती है। इस प्रकारसे बहुवर्षपर्यन्त दुःखभोगके बाद पुनः जीवका इस संसारमें जन्म होता है। नरकमें दुःख भोगते समय परलोकगत जीवको जो शरीर मिलता है, उसको यातनादेह कहते हैं। यह देह प्रेतके वायवीय शरीरसे एकबारही भिन्न है। प्रेतत्वावसानके बाद वायवीय शरीर नष्ट होजाता है। तब नरकभोगके लिये जीवको वृद्ध कलेवर यातनादेह या स्वर्ग भोगनेके लिये यौवन-कलेवर तैजसदेह प्राप्त होता है। मृत्युके अनन्तर यमदूतगण आकर यातनादेह-धारी जीवको किस प्रकार कष्ट देते हुए यमलोकमें लेजाते हैं और यमलोकमें विचार होनेके बाद रौरव, कुम्भीपाकादि नरकोंमें जीवको कैसे कैसे कष्ट दिये जाते हैं, इसके बहुत वर्णन आर्यशास्त्रमें मिलते हैं। श्रीमद्भागवतके ५म स्कन्धके २६वें अध्यायमें पूर्वकथित २१ नरकोंके वर्णन दिये गये हैं, यथाः—

"तत्र हैके नरकानेकविंशतिं गणयन्ति तामिस्रोऽन्धतामिस्रो रौरवो महारौरवः कुम्भीपाकः कालसूत्रमसिपत्रवनं शूकरमुखमन्धकूपःकृमिभोजनः सन्दंशस्तप्तशूर्मिर्वज्रकण्टकशाल्मली वैतरणी पूयोदः प्राणरोधो विशसनं लालाभक्षः सारमेयादनमवीचिरयः पानमिति। किञ्च क्षारकर्दमो रक्षोगण-भोजनः शूलप्रोतो दन्दशूकोऽवटनिरोधनः पर्यावर्तनः शूचीमुखमित्यष्टाविंशति नरका विविधयातनाभूमयः।

तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्र-वन, शूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभोजन आदि २१ नरक हैं और किसी किसीके मतमें क्षारकर्दम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत आदि और भी सात मिलाकर २८ नरक हैं, इनमेंसे किस किस नरकमें किस किस पापके फलसे जीवको दुःख भोगना पड़ता है, इसका वर्णन उसी अध्यायमें दिया गया है, यथाः—

"यस्तु परवित्तापत्यकलत्राण्यपहरति स हि कालपाशबद्धो यमपुरुषैरतिभयानकैस्तामिस्रे नरके बलान्निपात्यते।"

"एवमेवान्धतामिस्रे यस्तु वञ्चयित्वा पुरुषं दारादीनुपभुङ्क्ते।"

"यस्त्विह वा एतदहमिति ममेदमिति भूतद्रोहेण केवलं स्वकुटुम्बमेवानुदिनं प्रपुष्णाति स तदिह विहाय स्वयमेव तदशुभेन रौरवे निपतति।"

जो दूसरेके धन, सन्तान या स्त्रियोंको चुराता है उसको कालपाशमें बाँध कर यमदूतगण तामिस्र नरकमें डालते हैं। जो परस्त्रीके साथ उसके पतिको वञ्चना करके कामसेवा करता है, वह अन्धतामिस्र नरकमें डाला जाता है। जो जीवोंको कष्ट देकर अपना कुटुम्बपोषण करता है उसको सब कुटुम्बोंको छोडकर रौरव नरकमें जाना पड़ता है। इत्यादि रूपसे नाना पाप कर्मोंके अनुसार नरकभोगके वर्णन आर्यशास्त्रमें दिये गये हैं। वे सभी भोग यातनादेहमें सूक्ष्मरूपसे होते हैं तथा वे सब नरक भी सूक्ष्मलोकके अन्तर्गत होनेसे सूक्ष्म ही हैं। भोग द्वारा नरकोंमें पापका प्रायश्चित्त होनेके बाद अन्यान्य कर्मानुसार जीवका पुनः इस स्थूल संसारमें जन्म होता है। अथवा नरकसे स्वर्गमें जीव जा सकता है और स्वर्गसे भी नरकमें आ सकता है। इस विज्ञानका सिद्धान्त यह है कि, जब पुण्यभोग थोड़ा होता है, तो जीव पहिले स्वर्गमें और पीछे नरकमें जाता है। जब पापका भोग थोड़ा होता है, तो पहिले नरकमें जाता है और पीछे स्वर्गमें जाता है। इसका ज्वलन्त दृष्टान्त महाभारतमें यह है कि, जब महाराज युधिष्ठिर परलोकमें गये थे, तो उन्होंने देखा था कि, उनके भीम आदि भ्रातृगण नरकमें और दुर्योधन आदि स्वर्गमें थे। उसीपर यमराजसे प्रश्न करनेपर उनको ऊपर कथित उत्तर मिला था। दूसरी ओर यह भी निश्चय है कि, स्वर्ग अथवा नरकसे जीव प्रेतत्वमें नहीं आते हैं, क्योंकि, प्रेतलोक मृत्युलोकके अति निकट है। जीवको यदि प्रेत होना हो, तो, प्रथम प्रेतत्व पाकर पश्चात् अन्य सूक्ष्म लोकमें जायगा।

नरक तथा नरकवासियोंका वर्णन करके अब पितृलोकवासियोंका वर्णन किया जाता है। पितृलोक-निवासी अग्निष्वात्ता, अर्यमादि नित्य पितृगण तथा इहलोकसे मृत्युके अनन्तर पितृलोकप्राप्त नैमित्तिक पितरोंके विषयमें बहुत कुछ वर्णन आर्यशास्त्रमें पाये जाते हैं। अथर्ववेदमें नित्य, नैमित्तिक पितरोंके विषयमें अनेक प्रमाण मिलते हैं, यथा—अथर्ववेदके अष्टादश काण्डमें:—

"सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः"

दक्षिण भागमें आसीन होकर पितृगण सरस्वतीका आह्वान करते हैं ।

"सरस्वती या सरथं यथाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ति"

(१८-१-१+१८-२-२)

आह्वानसे सन्तुष्टा सरस्वती देवी स्वधाभोजी पितरोंके साथ आनन्दसे विराजमाना होती है ।

उदीरतामवर उत परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।

असुम् य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोवन्तु पितरो हवेषु ॥

निकृष्ट, उत्कृष्ट तथा मध्यम श्रेणीके पितृगण जो सोमसम्पादनकारी हैं, यजमानको प्राण देते हैं, अहिंसक तथा सत्यवित् हैं, वे आहूत होकर हमारी रक्षा करें ।

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो ये अपरास ईयुः ।

ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु ॥

जो पितृगण पहिले ही पितृलोकको चले गये हैं, जो अभी पृथ्वीलोकमें हैं और जो दस दिशाओंमें व्याप्त हैं, सबको नमस्कार ।

मा त्वा वृक्षः सं वाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही ।

लोकं पितृषु विर्त्वैधस्व यमराजसु ॥

हे प्रेत ! तुम्हें वृक्ष बाधा न देवे, पृथिवी बाधा न देवे, तुम यमराजके लोकमें जाकर वहाँपर पितृलोकमें सुखसे रहो ।

"सं विशन्त्विह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्तं आयुः"

इस यज्ञमें हमारे पूर्वज पितृगण आवें और तृप्त होकर हमें सुख तथा आयु प्रदान करें ।

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिता ।

सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥

हे अग्नि ! हमारे जो पितर भूमिमें गाड़े गये हैं, जो दूर देशमें फेंके गये हैं, जो जलाये गये हैं, और जो संस्कारोत्तर पितृलोकमें स्थित हैं सबको हमारे दिये हुए हविर्भोजनके लिये यहांपर लाओ ।

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
त्वं तान् वेत्थ यदि ते जातवेद स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम् ॥

हमारे जो पितर अग्निमें जलाये गये थे या जो पृथिवीमें गाड़े गये थे, किन्तु अब स्वधापुष्ट होकर द्युलोकमें आनन्द करते हैं, उनको हे अग्ने ! यदि तुम जानते हो तो कहो वह हमारे प्रदत्त स्वधासे तृप्त होवें । इत्यादि इत्यादि अनेक प्रमाण नित्य या नैमित्तिक पितरोंके विषयमें वेदमें मिलते हैं । मनुसंहितामें भी पितरोंके विषयोंमें अनेक विचार किये गये हैं, यथा—तृतीय अध्यायमें:—

अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः ।
न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥
मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः ।
तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥
विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः ।
अग्निष्वात्ताश्च देवानां मरीचा लोकविश्रुताः ॥
दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
सुपर्णकिन्नराणाञ्च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥
सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः ।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणान्तु सुकालिनः ॥
सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरः सुताः ।
पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वशिष्ठस्य सुकालिनः ॥
अग्निदग्धानग्निदग्धान् काव्यान् बर्हिषदस्तथा ।
अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥
य एते तु गणा मुख्याः पितॄणां परिकीर्त्तिताः ।
तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥

पितृगण क्रोधशून्य, शौचपरायण, सदा ब्रह्मचारी और शस्त्रत्यागी, महात्मा तथा देवताओंके भी पूर्वतन हैं । ब्रह्मापुत्र मनुके जो मरीचि आदि पुत्रगण हैं, उनके पुत्र सोमपादि पितृगण हैं । उनमेंसे सोमसद नामक विराट्के पुत्रगण

साध्योंके पितर हैं। अग्निष्वात्ता आदि नामके मरीचिपुत्रगण देवताओंके पितर हैं। ब्राह्मणोंके पितर सोमप, क्षत्रियोंके पितर हविर्भुज, वैश्योंके पितर आज्यप और शूद्रोंके पितर सुकालिनगण हैं। बर्हिषद् आदि नामके अत्रिपुत्रगण दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, सुपर्ण, किन्नर इन सबके पिता हैं। भृगुपुत्रगण सोमप हैं, अङ्गिरापुत्रगण हविर्भुज हैं, पुलस्त्यपुत्रगण आज्यप है और वशिष्ठपुत्रगण सुकालिन है। अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद्, अग्निष्वात्ता और सौम्य ये सभी ब्राह्मणोंके पितर हैं। अतः इञ्जिनियर, हकीमादिको अग्निष्वात्तादि पितर कहना शास्त्र विरुद्ध है। स्थूल जगत्में जो मनुष्यगण हैं, उनको इन्हींके पुत्र-पौत्रादि वंशपरम्परा समझना चाहिये। यही सब आर्यशास्त्रकथित पितृलोकनिवासी नित्य-नैमित्तिक पितरोंके स्वरूप हैं।

नित्यपितृगणका क्या कार्य है, इनके द्वारा स्थूलजगत्की रक्षा, स्वास्थ्य-वीर्यादि सम्पादन, ऋतुप्रवर्त्तन इत्यादि कार्य कैसे कैसे होते हैं सो सब पहिले ही कहा जा चुका है। नैमित्तिक पितृगण पितृलोकमें जाकर नित्य पितरोंके साथ आनन्द करते है तथा उनके कार्य्यमें सहायता करते हैं। पितृलोक आनन्द-मय है, इसके अनेक प्रमाण श्रुतिमें मिलते हैं, यथा—वृहदारण्यकमें—

"स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैः मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दः।"

इस संसारमें राजा होकर तथा सकल लौकिकभोगके अधिकारी होकर जो सुख होता है, वही मनुष्यलोकके सुखकी पराकाष्ठा है, पितृलोकमें इस सुखका शतगुण अधिक सुख होता है। मर्त्यलोकके एक महीनेमें पितृलोकका एक अहोरात्र होता है। इस अहोरात्र क्रमसे बहुवर्ष तक पितरोंकी आयु है, जिसके अन्तमें अपना कर्त्तव्य तथा साधना समाप्त करते हुए पितृगण देवराज्यमें ऐसे ही अभ्युदयको प्राप्त होते रहते हैं, जैसे इन्द्रादि देवगण क्रमशः आगे बढ़ते है।

नैमित्तिक पितृगण भोगकालपर्यन्त पितृलोकमें रहकर पुनः इस संसारमें आजाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, नित्य पितृगण तो एक प्रकारके देवता हैं, अतः क्रमके अनुसार अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त होते हैं। और नैमित्तिक पितृगण इस मृत्युलोकसे पुण्यभोगके लिये पितृलोकमें जाते हैं, इसलिये

पुण्यशेष हो जानेपर उन्हे पुनः इस मृत्युलोकमें आना पड़ता है। यही नित्य-नैमित्तिक पितरोंकी गतिके विषयमें आर्यशास्त्रका सिद्धान्त है।

परलोक विज्ञानका सारांश यह है कि, प्रत्येक ब्रह्माण्ड सात उद्दूर्ध्वलोक और सात अधोलोकरूपसे चौदह भागोंमें विभक्त है, जैसा कि, ऊपर कहा गया है। इन चतुर्दश विभागोंका मध्य विभाग भूर्लोक समझा जाता है। भूर्लोक पुनः चार भागोंमें विभक्त है, जिनका नाम मृत्युलोक, प्रेतलोक, नरकलोक और पितृलोक है। इसी चतुर्विभागयुक्त भूर्लोकसे यद्यपि उग्रपुण्य करनेवाले जीव देवता अथवा असुर बन कर, देवलोकके दिव्य भोग और असुर-लोकके आसुरीभोग भोगनेके लिये यथाक्रम ऊपरके भुवः स्वः आदि छः देवलोक और नीचेके अतल-वितलादि सात आसुरी लोकोंमें जाते हैं, क्योंकि, यह भूर्लोक सबका केन्द्र है, परन्तु यह असाधारण नियम है कि, बड़ी तपस्या तथा पुण्यसे जीव भूर्लोकके बाहरके लोकोंमें जा सकता है, ऐसे साधारण नीतिसे नही जा सकता है, इस कारण भूर्लोकके साथ सम्बन्धयुक्त तीन सूक्ष्म लोक साधारण रूपसे परलोक कहलाते हैं और इन्ही तीनोंका वर्णन साधारणतः परलोक नामसे शास्त्रोंमें पाया जाता है। वस्तुतः हमारे इस मृत्युलोकमें जब मनुष्यकी आयुका अन्त होता है, तो, वह जीव या तो प्रेतलोकमें जाता है या नरकलोकमें जाता है या पितृलोकमे जाता है, या-इन तीनों या दो में जाता है और उसके अनन्तर पुण्य या पापका भोग समाप्त करके पुनः इस मृत्युलोकमें आ मातृगर्भमें जन्म लेता है। हमारे इस मृत्युलोकमे ही जीव मातृगर्भसे प्रकट होता है, अन्य लोकोंमें ऐसा नही होता है। मृत्युके अनन्तर जीवको तुरन्त ही एक आतिवाहिक देह मिलता है, जो लिफाफेके सदृश होता है। उस आतिवाहिक देहके द्वारा जीव अन्य सूक्ष्म लोकोंमें पहुँचाया जाता है, वहां जाते ही उसका आतिवाहिक देह छूट जाता है और वहां उस लोकके अनुरूप भोगदेह शीघ्र प्राप्त हो जाता है। यदि प्रेतलोकमें वह जाता है तो वेतालगण उसे ले जाते हैं, यदि नरकलोकमे जाता है तो यमदूतगण उसे ले जाते है, यदि पितृलोक या अन्यान्य ऊद्दूर्ध्व लोकमें जाता है, तो देवदूतगण उसे ले जाकर तत्तत् लोकोंमे पहुँचाते हैं।

पितृलोकादिका वर्णन करके अब प्रसङ्गोपात्त स्वर्गलोकका वर्णन करते हैं। भुवर्लोकके ऊपर स्वर्लोक है। इसको महेन्द्रलोक कहते है। यह देवराजकी राज-

धानी है। इसमें कितने प्रकारके देवता रहते हैं, इसके विषयमें योगभाष्यमें लिखा है :—

"माहेन्द्रनिवासिनः षड्देवनिकायाः, त्रिदशा अग्निष्वात्ता याम्याः तुषिता अपरिनिर्मितवशवर्त्तिनः परिनिर्मितवशवर्त्तिनश्चेति, सर्वे संकल्पसिद्धा अणिमाद्यैश्वर्योपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारका कामभोगिन औपपादिकदेहा उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिवाराः ॥"

महेन्द्रलोकमें छः प्रकारके देवता रहते हैं, यथा त्रिदश, अग्निष्वात्ता, याम्य, तुषित, अपरिनिर्मितवशवर्त्ती और परिनिर्मितवशवर्त्ती। वे सभी सङ्कल्पसिद्ध हैं अर्थात् इच्छानुसार भोगसमर्थ हैं, अणिमादि ऐश्वर्योंसे युक्त हैं, कल्पान्त आयुर्युक्त हैं, पूज्य, कामभोगी और पितृमातृसम्बन्ध बिना ही उत्पन्न दिव्य शरीरसे युक्त हैं। वे सुन्दरी अनुकूला अप्सराओंके साथ सदा विहार करते रहते हैं। महाभारतके वनपर्वमें स्वर्लोकके विषयमें वर्णन है, यथा :—

उपरिष्टाच्च स्वर्लोके योऽयं स्वरिति संज्ञितः।
ऊर्द्ध्वगः सत्पथः शश्वद्देवयानचरो मुने॥
नातप्ततपसः पुंसो नामहायज्ञभाजिनः।
नानृता नास्तिकाश्चैव तत्र गच्छन्ति मुद्गल॥
धर्मात्मानो जितात्मानः शान्ता दान्ता विमत्सराः।
दानधर्मरता मर्त्याः शूराश्चाहवलक्षणाः॥
तत्र गच्छन्ति धर्माग्र्यं कृत्वा शमदमात्मकम्।
लोकान् पुण्यकृतान् ब्रह्मन् सद्भिराचरितान् नृभिः॥
देवः साध्यास्तथा विश्वे तथैव च महर्षयः।
यामा धामाश्च मौद्गल्य गन्धर्वाप्सरसस्तथा॥
एषां देवनिकायानां पृथक् पृथगनेकशः।
भास्वन्तः कामसम्पन्ना लोकास्तेजोमयाः शुभाः॥
त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि योजनानि हिरण्मयः।
मेरुः पर्वतराड्यत्र देवोद्यानानि मुद्गल॥

नन्दनादीनि पुण्यानि विहाराः पुण्यकर्मणाम् ।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिर्न शीतोष्णे भयं तथा ॥
वीभत्समशुभं वापि तत्र किञ्चन्न विद्यते ।
मनोज्ञाः सर्वतोगन्धाः सुखस्पर्शाश्च सर्वशः ॥
शब्दाः श्रुतिमनोग्राह्यासर्वतस्तत्र वै मुने ।
न शोको न जरा तत्र नायासपरिदेवने ॥
ईदृशः स मुने लोकः स्वकर्मफलहेतुकः ।
सुकृतैस्तत्र पुरुषाः सम्भवन्त्यात्मकर्मभिः ॥
तैजसानि शरीराणि भवन्त्यत्रोपपद्यताम् ।
कर्मजान्येव मौद्गल्य न मातृपितृजान्युत ॥
न संस्वेदो न दौर्गन्ध्यं पुरीषं मूत्रमेव वा ।
तेषां न च रजो वस्त्रं वाधते तत्र वै मुने ॥
न म्लायन्ति स्रजस्तेषां दिव्यगन्धा मनोरमाः ।
संयुज्यन्ते विमानैश्च ब्रह्मन्नेवंविधैश्चते ॥
ईर्ष्याशोकक्लमापेता मोहमात्सर्यवर्जिताः ।
सुखस्वर्गजितस्तत्र वर्त्तयन्ते महामुने ॥

ऊर्द्ध्व तृतीय लोकको स्वर्लोक कहते हैं। उसमें तपोहीन, यज्ञहीन, असत्यपरायण नास्तिकलोग नहीं जा सकते है। शान्त, दान्त, दानधर्मशील, जितात्मा, समरवीर पुरुष ही वहां जाते हैं । देवता, साध्य, विश्व, महर्षि, याम, धाम, गन्धर्व, अप्सरा आदिके तेजोमय लोकसमूह स्वर्लोकके अन्तर्गत हैं । वहांपर तीस हजार योजन व्याप्त पर्वतराज मेरुपर नन्दन आदि देवोद्यान समूह स्थित हैं, जिनमें देवतागण विहार करते है । क्षुधा, पिपासा, ग्लानि, भय, किसी प्रकार वीभत्स या अशुभ वहाँ नही है । शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन तथा श्रुतिप्राणमोहन संगीतका आनन्द वहाँ मिलता रहता है । वहांपर शोक दुःख जरा या आयासका लेशमात्र भी नहीं है । पुण्यबलसे वहां जानेवाले जीवको कर्मज तैजस शरीर प्राप्त होता है । पितामातासे वहां शरीर नही मिलता है ।

स्वेद, मल, मूत्र, दुर्गन्ध आदिसे वहांपर वस्त्र अपवित्र नहीं होता है । स्वर्ग-वासियोंके गलेमें जो दिव्यगन्धयुक्त माल्य रहता है वह कभी मलिन नहीं होता है । वे दिव्य विमानपर चढ़कर घूमा करते हैं । ईर्ष्या, शोक, श्रमादि वर्जित तथा मोहमात्सर्यशून्य होकर आनन्दके साथ लोग इस लोकमें निवास करते हैं । स्वर्लोकके विषयमें कठोपनिषद्में लिखा है:—

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥

स्वर्गलोकमें किसी प्रकारका भय नहीं है, वहां किसीको जराका भी भय नहीं है, बुभुक्षा, पिपासा तथा शोकसे रहित होकर स्वर्गवासिगण सदा आनन्द करते हैं । और भी स्मृतिमें—

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतञ्च तत् सुखं स्वःपदास्पदम् ॥

जहांपर सुख दुःखसे युक्त नहीं है, जहां सुखके अनन्तर भी दुःख नहीं होता है, और जहां इच्छा करते ही भोग्य पदार्थ प्राप्त होते हैं,- वही स्वर्ग तथा वही स्वर्गसुख है । यही सब स्वर्गलोकके शास्त्रकथित वृत्तान्त है ।

वेदादि शास्त्रोंमें स्वर्गलोकके विषयमें और भी अनेक प्रमाण मिलते हैं, यथा अथर्ववेद ४-३४-२ में—

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम् ।
नैषां शिश्नं प्रदहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् ॥

अस्थिरहित, पवित्र, निर्मलवायुसे युक्त, स्वच्छ स्वर्गमे पुण्यात्मागण जाते हैं । वहां कामादिका दाह नहीं होता है, क्योंकि विहारके लिये अप्सरायें मिलती है । और भी—

घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना ।
एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमानाः ॥ ४-३४-६

जिनमें घृतके ह्रद हैं, जिनके किनारों पर मधु है, जिनमें अमृत ही जल है, दूध दहीसे जो भरे रहते हैं, तुम्हारे लिये धारारूपसे स्वर्गमें ये सब प्राप्त हों ।

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
अश्लोणा अंगैरहुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान्॥

जहां पर मैत्रीसे युक्त पुण्यात्मागण नीरोग पुण्य-शरीरसे आनन्द करते हैं वहां हम अपने माता, पिता और पुत्रोंको भी देखें। इस प्रकारसे स्वर्गके विषयमें वेदादि शास्त्रोंमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। अतः अर्वाचीन पुरुषोंकी इस विषय पर शंका मिथ्या है।

इसी प्रकारसे भूत-प्रेत पिशाचादिके विषयमें तथा उनसे रक्षाके विषयमें भी वेदादिमें बहुत कुछ प्रमाण मिलते हैं, यथाः—

भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षः पितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसांशान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम्। (सुश्रुत अ० १)

देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृ, पिशाच, नाग तथा क्रूर ग्रहोंका आक्रमण होने पर जो शान्ति कर्म तथा बलि दी जाती है उसे भूतविद्या कहते हैं।

सर्षपान् प्रकिरेत्तेषां तैलैर्दीपं च कारयेत्।
सदा सन्निहितं चापि जुहुयाद्धव्यवाहनम्॥
(सुश्रुत अ० २७, श्लो० १७)

भूतबाधाकी जहां चिकित्सा होती है, वहां चारों ओर सरसोंका बखेरना, तेलका दीपक जलाना, अग्नि पास रखना और हवन करना विहित है। इन सब प्रमाणोंसे भूतादि योनियोंको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता है। अब अथर्व वेदसे इनके लिये और भी विस्तृत प्रमाण देते है।

याः क्रान्दास्तविषीत्रयो अक्षकामा मनोमुहः।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्य अप्सराभ्योऽकरं नम॥ (२।२।५)

जो बुलानेवाली, बलवती, द्यूतमें जीतनेवाली मनमोहिनी, गन्धर्वपत्नी अप्सरागण हैं, उन्हें नमस्कार करता हूं। इस मन्त्रसे गन्धर्वयोनि तथा अप्सरायोनि सिद्ध होती हैं।

दर्शय मा यातुधानान् दर्शय यातुधान्यः।
पिशाचान् सर्वान् दर्शयेति त्वा रभ ओषधे॥ (४-२०-६)

हे ओषधे! तू मुझे राक्षस, राक्षसी और पिशाचोंको दिखा दे, इस लिये तेरा सेवन करता हूँ।

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नूरक्षांस्योषधे।
त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः॥ (४-३७-१)

हे ओषधे! तेरे प्रभावसे अथर्ववेदियोंने पहिले राक्षसोंको मारा था और तेरे ही प्रभावसे कश्यप, कण्व, अगस्त्यने भी उनको मारा था। इन मन्त्रोंसे राक्षसादि योनि तथा ओषधि प्रयोगसे उनका आक्रमण निवारण बताया गया है।

येषां पश्चात् प्रपदानि पुरः पार्ष्णी पुरो मुखा।
खलजा शकधूमजा उरुण्डा ये च मट्मटाः।
कुंभमुष्का अयाशवः। तानस्या ब्रह्मणस्पते
प्रतीबोधेन नाशय॥ (८-६-१५)

जिनके पैर पीछेकी ओर होते है, जिनकी एड़ी और मुख आगेको होता है, जो खलिहान और घेरमें रहते हैं, जो विना सिरके मट् मट् शब्द करते हैं, जिनके मुष्क घड़ेके समान होते है, जो शीघ्रगामी होते है, हे अथर्वज्ञ! तू उन भूतोंको सर्षपके प्रयोगसे हटा दे।

पर्यस्ताक्षा अप्रत्वंकषा अस्त्रैणाः सन्तु पडंगाः।
अत्र भेषज! पादय य इमां संविवृत्सत्यपतिः
स्वपतीं स्त्रियम्॥ (८-६-१६)

जो भूत चञ्चल नेत्र हैं, पतली कमरवाले और विना पैरके चलनेवाले हैं, उनको हे सर्षप! तू इस सोती हुई स्त्रीके पाससे हटा दे।

ये अम्नो जातान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते।
स्त्री भागान् पिंगो गन्धर्वान् वातो अभ्रमिवाजतु॥ (८-६-१९)

जो भूत अर्धोत्पन्न गर्भको मारते हैं, जो स्त्रीरूप होकर सूतिकाके पास सो जाते हैं अथवा जो गर्भवती स्त्री पर अधिक आघात करते हैं, उन सबको गौरसर्षप, वायु मेघोंको जैसे, दूर करे।

ये सूर्यात् परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि।
वजश्च तेषां पिंगश्च हृदयेधि निविध्यताम् ॥ (८-६-२४)

जिस प्रकार वधू श्वशुरसे परदा करती है, वैसे ही जो भूत सूर्यसे सर्वदा अलग रहते हैं, उसको श्वेतसर्षप और गौरसर्षप हृदयमें वेधित करे।

तं माषाज्यं कृत्वा प्रहिणोमि दूरम्।
स गच्छत्वप्सुषदोम्यग्नीन् ॥ (१२-२-४)

उस भूतको मैं घीमें उडद मिलाकर दूर करता हूँ, वह जल अथवा अग्निको चला जावे। यह भूत भगानेका वैदिक प्रयोग है।

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहंते।
देवानामोजः प्रथम ह्येतत् ॥
यो बिभर्त्ति दाक्षायणं हिरण्यं।
स जीवेषु कृणुते दीर्घायुः ॥ (१६-२६-२)

जो देवताओंका पहिला तेज दाक्षायण हिरण्यको धारण करता है, उसको राक्षस, पिशाच नहीं सताते और उसकी आयु बढ़ती है।

शृङ्गाभ्यां रक्षोनुदते मूलेन यातुधान्यः।
मध्येन यक्ष्मं बाधते नैनं पाप्मातितरति ॥ (१६-२६-२)

यह मणि अग्रभागसे राक्षसोंको, मूलभागसे, पिशाचियोंको, मध्यभागसे राजयक्ष्माको नष्ट करता है, और पापी इसे नहीं पाता। इसको नीलमणि कहते हैं।

इत्यादि कई सौ मन्त्र अथर्ववेदमें मिलते हैं; जिससे पूर्णतया सिद्ध होता है कि भूतादि योनि सत्य है और इन सबके बाधा दूर करणार्थ मणि, मन्त्र, ओषधि आदिका प्रयोग भी सत्य है। अतः इन सबके विषयमें अर्वाचीन पुरुषोंने जो कुछ कटाक्ष किया है सो सब मिथ्या है। यही संक्षेपसे वर्णित परलोक और जन्मान्तरका गूढ़ तत्त्व है।

वेद, वेदाङ्ग और दर्शनशास्त्र ।

सकल शास्त्रोंका मूल वेद है। विद्धातुसे वेद शब्द निष्पन्न होनेके कारण जिसके द्वारा धर्माधर्मका तत्त्वज्ञान हो, वही वेद-पदवाच्य है । वेद ज्ञानका भण्डार है और सब शास्त्र वेदसे ही उत्पन्न हुए हैं। वेद काण्डरूप है और इतर शास्त्र शाखा प्रशाखारूप हैं। वेद प्रधानतः दो प्रकारके हैं। यथाः—कण्ठास्र और कल्प्य । जिन श्रुतियोंका ऋषियोंने प्रत्यक्ष किया था, उनको कण्ठास्र कहते हैं और स्मृति या शिष्टाचारके द्वारा जिनका अनुमान किया जाता है, वे कल्प्य श्रुतियाँ कहलाती है । कण्ठास्र श्रुति मन्त्रभेदके अनुसार त्रिविध है। यथाः—ऋग्, यजुः और साम । इनका दूसरा नाम "त्रयी" है । ये ही कण्ठास्र श्रुतियाँ अन्य प्रमाणसे चतुर्धा विभक्त हैं । यथाः—ऋग्, यजुः, साम और अथर्व । आजकलकी भाषामें जिस प्रकार गद्य पद्य और गीत ये तीन श्रेणीके तीन अङ्ग कथित हैं, उसी प्रकार वेदमें भी मिलते हैं । यथाः—प्रायः पद्यमें प्रकाशित मन्त्रोंका नाम ऋक्, गद्यमें प्रकाशित मन्त्रोंका नाम यजुः और गेय मन्त्रोंका नाम साम है । अथर्व वेदमें उक्त तीनोंके मिश्रित मन्त्र हैं। वेद विभागकर्त्ताओंके विषयमें दो प्रकारकी सम्मति मिलती है। पहिली-सम्मति यह है कि, भगवान् वेदव्यासने ही वेदोंको त्रिधा चतुर्धा विभक्त किया है, परन्तु किसी किसीकी सम्मति यह है कि, यज्ञक्रियाओंकी सुविधाके लिये अथर्व ऋषिने वेदविभाग किया था । उन्होंने यज्ञकार्य्यके उपयोगी सूक्तसमूहको वेद-त्रयके अन्तर्गत करके अन्यान्य सूक्तोंको अलग कर दिया था । प्रथम मतके लोग कहते है कि, ये ही अवशिष्ट सूक्त अथर्व वेदके नामसे प्रकाशित हुए थे। परन्तु द्वितीय मत के लोग कहते हैं कि, अथर्व ऋषिके नामसे ही अथर्व वेद यह संज्ञा हुई है। इस रीतिसे दो प्रकारकी सम्मति है । और इस विषयके प्रमाण भी श्रुतिमें मिलते है। शतपथमें लिखा है कि:—

अग्नेर्वा ऋग्वेदो जायते वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः ।

अग्निसे ऋग्वेद, वायुसे यजुर्वेद और सूर्य्यसे सामवेद प्राप्त हुए हैं। मनुसंहितामें भी लिखा है कि:—

ऋचो यजूँषि चान्यानि सामानि विविधानि च ।
एष ज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैनं स वेदवित् ॥

ऋग् यजुः और विविध प्रकारके साम-मन्त्रोंको त्रिवृद्वेद कहते है। जो इसको जानता है वही वेदवेत्ता है। इसी तरहसे वेदके चार भागके विषयमें मुण्डकोपनिषद्में प्रमाण है, यथा :—

तत्राऽपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः। इत्यादि।

ऋक् आदि चार वेद अपरा विद्या है। और भी वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषद्में कहा है कि :—

ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषद इत्यादि।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और इतिहास पुराणादि सब अपरा विद्या है। अतः पृथक् पृथक् प्रमाण भेदानुसार वेदके दो प्रकारके विभाग ही माननीय हैं। इन्ही निखिल ज्ञानाधार वेदोंसे समस्त शास्त्रोंकी उत्पत्ति हुई है।

ज्ञान नित्य वस्तु है, इस कारण प्रलयके समय भी ज्ञानरूपी वेद ओंकार-रूपसे नित्य स्थित रहते हैं। श्रीभगवान् वेदव्यासजीने कहा है कि :—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी विद्या यतः सर्व्वाः प्रवृत्तयः॥

श्रीभगवानके वाक्यरूपी वेद अनादि नाशविहीन तथा नित्य है। वेद ही सृष्टिकी प्रथम अवस्थामें प्रकाशित आदि विद्या है। इससे ही सकल प्रपञ्चका विस्तार होता है।

वेदको इतना प्राचीन ग्रन्थ न कह सकने पर भी पश्चिमी अनेक निष्पक्ष विद्वानोंने वेदको ससारके सबसे प्राचीन ग्रन्थ कह दिया है, जैसा कि इटालीके प्रसिद्ध सस्कृत विद्वान्, केलिफोर्निया विश्वविद्यालयके नामी प्रोफेसर डाक्टर कार्लो फ़र्मिंचि (Carlo Formiche) साहबने कहा है :—

"As far as philosophical thought is concerned, we cannot any more allow the history of philosophy to begin with the Greeks ; because India has a rich literature of philosophical writings in Upanishads which go back to the sixth century B. C., and in certain hymns of the Rigveda, which go back to 2000 B. C. long before the Greeks had begun to

speculate In the matter of religion, one can have no idea of how religious *phenomena* began without knowing the religions of India." *Sanatanist 10, 1, 29,*

दार्शनिक चिन्ताके विषयमें अब हम यह नही कह सकते कि, ग्रीस देशसे उसका प्रथम विकाश हुआ था, क्योंकि, उपनिषद्का दार्शनिक तत्त्व खृष्ट जन्मके छः सौ वर्ष पहिले प्रकाशित हुआ था और ऋग्वेदके कुछ मन्त्र खृष्ट जन्मके दो हजार वर्ष पहिले अर्थात् ग्रीसदेशीय मनुष्योंमें चिन्ताशक्तिकी उत्पत्तिके ही कई हजार वर्ष पहिले प्रकट हुए थे। धर्मके विषयमें तो यह सत्य बात है कि, भारत के धर्मको जाने बिना धर्म-वस्तुकी उत्पत्तिका भी पता नहीं लग सकता है।

कुल्लूक भट्टजीने लिखा है किः—

प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशिः स्थितः।

प्रलयके समयमें भी परमात्मामें सूक्ष्मरूपसे वेदकी स्थिति रहती है। श्रीमेधातिथि आचार्य्यजीने भी लिखा है किः—

नैव वेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि।

महाप्रलयमें भी वेदोंका नाश नहीं होता है। वेद मनुष्यके द्वारा प्रणीत नहीं हुए हैं, इस कारण वे अपौरुषेय कहाते हैं। वेद ईश्वरकृत हैं, ज्ञान नित्य और ब्रह्मका स्वरूप है। उसी ज्ञानके विकाशरूप वेद हैं। इस लिये वेदोंको श्रीभगवान्के निश्वासरूपसे वर्णन किया गया है, यथा वाजसनेयि ब्राह्मणोपनिषद्में:—

अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषद् इत्यादि।

समस्त वेद निश्वासकी रीतिसे स्वाभाविकरूपसे परमात्माके द्वारा प्रकट हुए हैं। कृष्णयजुर्वेदीय श्वेताश्वतरोपनिषद्में लिखा है कि:—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

परमात्माने पहिले ब्रह्माजीको उत्पन्न करके उनको वेद प्रदान किया।

दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।

उस विराट् परमपुरुषकी श्रवणेन्द्रिय दिशा है और वाक्य वेदरूप हैं। श्रीगीताजीमें लिखा है किः—

कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।

कर्म्म वेदसे उत्पन्न हैं और वेद अक्षर परमात्मासे उत्पन्न है। ऋषिगण वेदके कर्त्ता नहीं, परन्तु द्रष्टामात्र हैं। वेद नित्य वस्तु है, केवल ऋषियोंके समाधि शुद्ध अन्तःकरणमें प्रकाशको प्राप्त होते हैं। इस लिये कहा है कि:—

ब्रह्माद्या ऋषिपर्य्यन्ताः स्मारका न तु कारकाः।

ब्रह्मासे लेकर ऋषिपर्य्यन्त कोई भी वेदके कर्त्ता नहीं है, सबही उसके स्मरण करनेवाले हैं। और भी स्मृतिमें कहा है कि:—

युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान् सेतिहासान्महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्व्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवाः॥

प्रलयकालमें अन्तर्हित वेदोंको सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माजीसे आज्ञा लेकर तपस्याके द्वारा महर्षियोंने प्राप्त किया था।

मनुसंहितामें लिखा है:—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥

ब्रह्माजीने यज्ञक्रिया-सम्पादनके लिये अग्नि वायु और सूर्य्यसे यथाक्रम ऋक्, यजुः और सामवेदको दोहन किया। इस प्रकारसे परमात्माके निश्वासरूपसे स्वभावतः प्रवाहित वेद ब्रह्माजीके हृदयमें स्थित होकर देवता और ऋषियोंके समाधि शुद्ध अन्तःकरणमें विकाशभावको प्राप्त होता हुआ निखिल कल्याण साधन कर रहा है।

वेद अपौरुषेय है, वेद ईश्वरकृत है, इसके विषयमें वैज्ञानिक आलोचनाकी आवश्यकता नहीं, जिस भाग्यवान् पुरुषके निर्म्मल अन्तःकरणमें वेदकी ज्ञान-ज्योतिः प्रतिफलित होती है, वे स्वयं ही इस बातका विचार कर सकते हैं कि, इस प्रकार भाषा, भाव या पूर्णतायुक्त ग्रन्थ परिच्छिन्नप्रकृति मनुष्यके द्वारा निर्म्मित हो सकता है या नहीं। वेदकी भाषाकी ओर दृष्टि डालिये, मनुष्योंकी विद्वत्ता जिस भाषाको प्रकाश कर सकती है, वैदिक संस्कृत उससे कुछ विलक्षण ही है। वैदिक मन्त्रोंके विषयमें क्या कहा जाय, सर्व्वशक्तिमान् अनन्त भगवान्के मुखनिःसृत एक एक मन्त्रमें अनन्त शक्ति भरी हुई है, जिसके ठीक ठीक उच्चारण और सिद्धिसे सकल कामनाकी पूर्त्ति हो सकती है, तथा अशुद्ध उच्चारण या प्रयोगसे बहुधा हानि भी हो सकती है। ये सब वेदके अपौरुषेयत्वके ही परम परिचायक हैं। इसके सिवाय प्रधान लक्षण यह है

कि पूर्ण भगवान्के वाक्यरूपी वेद सर्व्वथा पूर्ण है। मनुष्य-बुद्धि-विरचित कोई भी ग्रन्थ हो, उस बुद्धिके परिच्छिन्न और अपूर्ण होनेसे ग्रन्थकी सर्व्वाङ्गीण पूर्णता कदापि नहीं हो सकती है। परन्तु वेदमें यह बात नहीं है। वेदमें जीवके अभ्युदय व निःश्रेयस साधन करानेके विषयमें पूर्णता, वेदमें जीवकी त्रिविध शुद्धिका सम्पादन करके मुक्ति पद प्राप्त करानेके अर्थ कर्म, उपासना और ज्ञानकी पूर्णता, वेदमें साधककी त्रिगुणमयी प्रकृतिके अनुसार भावोंकी पूर्णता, इस प्रकार जितना ही विचार किया जायगा, वेदकी सर्व्वाङ्गीण पूर्णता दृष्टिगोचर होकर अपौरुषेयत्वकी सम्यक् सिद्धि होगी, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। अब इन उपर्य्युक्त विषयों पर अलग अलग विचार किया जाता है।

मनुष्योंकी बुद्धि अपने अपने अधिकारके अनुसार ऐहलौकिक विषय सम्बन्धीय उन्नति, पारलौकिक स्वर्गादिकोंमें सुख-भोग रूप उन्नति और नित्यानन्दमय मोक्ष पदवीको चाहती है। इन तीनों उन्नतिमें ही मानवीय उन्नतिकी पूर्णता है। अपौरुषेय वेदने अनुपम उक्तियोंके द्वारा तीनों प्रकारकी उन्नतिकी विधि बताई है। आजकल नवीन पदार्थ विद्या (सायन्स) की उन्नतिको देखकर मनुष्य मुग्ध हो रहे हैं। अपनी प्राचीन वेद विद्याकी गंभीरताको भूलकर उसे "कृषकोंका गान" कहनेमे भी सकुचित नहीं होते है। परन्तु दूरदर्शिताके साथ विचार करने पर वेदकी गम्भीर महिमा उन अर्वाचीन पुरुषोंको स्पष्टतया मालूम होगी। ऋग्वेदके चतुर्थ और दशम मण्डलमें जो कृषिकी उन्नतिके विषयमें स्तोत्र आदि देखनेमें आते हैं वे सब कृषिकार्य्य, कृषियन्त्र और गोमहिषादि गृह पशुओंकी उन्नतिके लिये देवताओंसे प्रार्थना है। क्योंकि, कृषि और गोरक्षाके द्वारा ही देश समानरूपेण सुखी व शान्तिमय हो सकता है। द्वितीयतः सायन्सकी भी कमी नहीं थी। ऋग्वेदमें अर्णवयान, बृहन्नालिकादि युद्धास्त्र, बहुत प्रकारके आग्नेयास्त्र, युद्ध विद्या आदि का भी प्रमाण मिलता है। आज प्राचीन मिसर (Egypt) व बाबिलन (Babylon) के प्रस्तर स्तम्भ देखकर लोग आश्चर्य्य कर रहे हैं। परन्तु आर्य्य हिन्दुगण शिल्प कार्य्यमें किस प्रकार निपुण थे, ऋग्वेदके द्वितीय व पञ्चम मण्डलमें उसका प्रमाण मिलता है। वहां सहस्र स्तम्भयुक्त विशाल अट्टालिकाका वर्णन है। इसके सिवाय बहुत प्रकारके वयन कार्य्य, वाणिज्य, शिल्पकला, धातुद्रव्य निर्म्माण आदिके द्वारा भारत वास्तवमें स्वर्णप्रसू भारत-

ही था, जिसके प्रमाण ऋग्वेदके प्रथम व चतुर्थ मण्डलमें बहुधा मिलते हैं। अतः ऐहलौकिक सुख और ऐश्वर्य्यके लिये वेदमें सकल प्रकारका साधन मिलता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। स्मृतिमें लिखा है कि:—

प्रत्यक्षेणाऽनुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

जहां पर लौकिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान नहीं पहुंच सकता है एतादृश अलौकिक पदवी पर साधकको प्रतिष्ठित करके दिव्य सुख और नित्यानन्दका अधिकारी कर देना ही वेदका वेदत्व है। वेदमें ज्योतिष्टोम, दर्शपौर्णमास आदि बहुविध यज्ञोंकी विधि बताई गई है, जिनके अनुष्ठानसे सकाम साधक विविध स्वर्गीय सुखोंको भोग सकता है, यथा गीतामें:—

त्रैविद्या मां सोमपा पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥

वैदिक अनुष्ठाता यज्ञोंके द्वारा भगवान्की पूजा करके यज्ञशेष सोमरस पानकर निष्पाप हो स्वर्गलोककी प्रार्थना करते हैं। वे लोग पुण्य फलरूप इन्द्रलोकको प्राप्त होकर उसमें देवताओंके योग्य उत्तम भोगोंको भोगते हैं। इस प्रकार उत्तम सुख-भोग वेदके ही कृपासाध्य तृतीयतः प्रकृतिसे परे मन वाणी-के अगोचर ब्रह्मका जो शास्त्रोंमें वर्णन है कि:—

न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्व्वम् तस्य भासा सर्व्वमिदं विभाति॥

जहां सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत् अथवा अग्निकी पहुंच नहीं, जो सबसे अतीत है, परन्तु जिनके तेज और ज्योतिसे समस्त संसार उद्भासित हो रहा है।

एतादृश ब्रह्मपदको प्राप्त कराकर निःश्रेयसलाभ करानेकी शक्ति यदि किसीमें है, तो, सब रीतिसे पूर्ण भगवान्के निश्वासरूपी वेदमें ही है। यही वेदकी अपौरुषेयता तथा पूर्णताका अकाट्य प्रमाण है, इसमें सन्देह नहीं।

वेदमें गुण और भावकी पूर्णता है। इसलिये वेद भगवद्वाक्य तथा पूर्ण है। यह बात पहिले ही कही गई है कि, त्रिगुणमय संसारमें सब प्रकारके मनुष्य होते हैं। और गुणोंके तारतम्यानुसार रुचि, प्रकृति व प्रकृतिमें भी बहुधा भेद पाये जाते हैं। सात्त्विक मनुष्य स्वभावतः ही अहिंसापरायण होते हैं। परन्तु

रजोगुणी लोग, ऐसे नहीं होते। और तमोगुणी लोग इससे सम्पूर्ण विपरीत ही होते हैं । इसलिये सबके लिये सात्त्विक विधि तो हो ही नहीं सकती है और सबके लिये विधि भी अलग अलग न हो तो वेद पूर्ण और भगवद्वाक्य नहीं है। अतः यह विषय विचार करने योग्य है । राजसिक या तामसिक यज्ञमें जहां हिंसाकी विधि है, वह विधि हिंसा बढ़ानेके लिये नहीं, परन्तु घटानेके वास्ते ही है । क्योंकि, राजसिक या तामसिक होनेसे जिस मनुष्यकी प्रकृति ही जन्मसे हिंसापरायण बनी हुई है, जो मनुष्य यथेच्छ और अजस्र मांस भोजन करता है उसको एकाएक मांस छोड़कर सात्त्विक बन जानेके लिये उपदेश करना ही मूर्खता और अनधिकार चर्चा है । अतः उसके लिये ऐसी युक्ति होनी चाहिये जिससे वह मनुष्य मांस खाना धीरे धीरे कम करता हुआ अन्तमें हिंसाको सम्पूर्णरूपेण त्याग देवे । यही युक्ति वेदमें बताई गई है। वहां लिखा गया है कि, यदि मांस खाना हो तो यज्ञ करके, देवताओंको निवेदन करके, विविध पूजा करके, ब्राह्मण भोजन कराके, देवताओंके प्रसाद रूपसे-यज्ञशेष मांस भोजन करो। क्योंकि गीतामें लिखा है, यथाः—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व्वकिल्विषैः ।

यज्ञशेष भोजन करनेसे सकल प्रकारके पापोंसे मुक्त होते हैं। इस प्रकार यज्ञ करके मांस खानेका फल यह होगा कि, कोई मांसाहारी मनुष्य जो कि अनर्गल मांस खा रहा था, उसे यज्ञके सब कार्य्य करने पड़ेंगे, जिसमें सैकड़ों रीतिके अनुष्ठान बताये गये हैं, जिससे उसको व्ययाधिक्य होनेसे मांस खाना ही घट जायगा, और पूजा आदिके करनेसे चित्तमें सात्त्विक भावका उदय धीरे धीरे होता जायगा, जिससे प्रवृत्ति घट जायगी और तृतीयतः यज्ञ शेष प्रसादके ग्रहण करनेकी बुद्धिके उदय होनेसे मांसके ऊपर जो लोभ था वह लोभ धीरे धीरे कम होता जायगा। अन्तमें फल यह होगा कि, कुछ दिनोंके बाद वही रजोगुणी या तमोगुणी मांसाहारी मांसको त्यागकर सात्विक ज्ञानयज्ञका अधिकारी बन जायगा । यही वेदकी उदारता और पूर्णता है । इस पर विचार करनेसे बुद्धिमान् मनुष्य अवश्य समझ सकेंगे कि, भगवान्के वाक्यमें ही इस प्रकार निष्पक्ष उदार भाव आ सकता है जिससे सकल अधिकारीका ही कल्याण और आत्मोन्नति हो । तदतिरिक्त वेदोक्त कर्मविज्ञानके अनुसार "स्वर्गकामो यजेत" इस प्रमाणसे वैदिक राजसिक यज्ञके प्रभावसे उसको

परलोकमें स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति होगी । यही वेदका गुण-विचारसे पूर्ण महत्त्व है ।

वेदका अपौरुषेयत्व, भावोंकी पूर्णतामें है । आर्यशास्त्रानुसार परमात्माके तीन भाव साधकको उपलब्ध होते हैं । उनके अध्यात्मभाव मायासे अतीत, मनवाणीसे अगोचर, निर्गुण, निष्क्रिय परब्रह्म है । उनके अधिदैवभाव मायोपहित चैतन्य सृष्टि-स्थिति प्रलयकर्त्ता ईश्वर है और उनके अधिभूत भाव अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमय विराट् है । इस लिये सर्व्वकारण परमात्मामें जब तीन भाव हैं तो कार्य्य-ब्रह्मरूपी इस संसारमें भी तीन भाव होने चाहिये । एक दृष्टान्त देकर समझाया जाता है । बृहदारण्यकोपनिषद्में वर्णन है कि:—

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चाऽसुराश्च,
तत्र कानीयसा एव देवाः ज्यायसा ह्यसुरास्त
एषु लोकेष्वस्पर्द्धन्त । इत्यादि ।

प्रजापतिके द्वारा देवता और असुर दोनों ही उत्पन्न हुए, उनमेंसे देवता छोटे और असुर बड़े भाई हैं । ये दोनों इन लोकोंमें आपसमें स्पर्द्धा करते हैं । इस मन्त्रमें जो देवासुर संग्रामका वर्णन किया गया है उसको केवल एक भावमें लेनेसे पूर्ण अर्थ नहीं होगा । इसको तीन ही भावमें समझना चाहिये । इस भौतिक जगत्में जो गीतोक्त दैवीसम्पत्तिवाले और आसुरीसम्पत्तिवाले जीवों-की आपसमें सदा ही लड़ाई होती रहती है, वह तो इसका अधिभूत अर्थ है । ठीक इसी तरहसे देवलोकमें जो तमोगुणके अधिष्ठाता असुर और सत्त्वगुणके अधिष्ठाता देवताओंकी आपसमें लड़ाई होती रहती है, अर्थात् इन दोनों चेतन-शक्तियोंकी लड़ाई अधिदैव देवासुर-संग्राम है । तृतीयतः अध्यात्म अर्थात् मनोराज्यमें जो कुमति और सुमतिका द्वन्द्व सदा बना रहता है, जिससे मनुष्य कभी कुमतिके चक्रमें आकर पाप करते हैं और कभी सुमतिके द्वारा प्रेरित होकर कृतपापके लिये अनुताप भी करते हैं, यह लड़ाई अध्यात्म राज्यमें देवा-सुर-संग्राम है । इस रीतिसे तीन तीन भाव देखनेसे तब वेदोंके मन्त्रोंका पूरा पूरा अर्थ हो सकता है, अन्यथा नहीं । पूर्ण भगवान् और भावमय भगवान्के निश्वासरूपी वेदमें सर्व्वत्र ही एतादृश त्रिभाव-विलास देखकर भक्तजनहृदय प्रफुल्लित होता है । फलतः पूर्व्वकथित विचारके अनुसार वेदोंमें त्रिगुणकी पूर्णता और त्रिभाव की पूर्णता होनेके कारण वेदका अपौरुषेयत्व सिद्ध हुआ ।

वेदमें जो ऋषि, छन्द और देवताका वर्णन आता है उससे तात्पर्य्य यह है कि, जिन जिन त्रिकालदर्शी महर्षिगणके चित्तमें स्वतन्त्र स्वतन्त्र श्रुतियां प्रथम आविर्भाव हुई थी अर्थात् जिन जिन आचार्य्योंके द्वारा वे मन्त्र प्रकाशित हुए हैं वे ही उन मन्त्रोंके ऋषि कहाते हैं, जिन जिन छन्दोंमें वे श्रुतियां कही गई हैं सो उन उन वेदमन्त्रोंके छन्द कहाते हैं और जिन जिन श्रुतियोंके द्वारा जिन जिन भगवच्छक्तियोंकी उपासना की जाय, वे उपास्य शक्ति उन उन श्रुतियोंके देवता कहाते हैं। इसी नियमके अनुसार प्रत्येक मन्त्रके साथ ऋषि, देवता और छन्दके उल्लेख करनेकी विधि वेदोंमें पाई जाती है। वेदके कर्म व उपासनाकाण्डमें स्वर्गादि फलप्रद सकाम साधनोंका बहुधा वर्णन होनेसे उसमें इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि दैवी शक्तियोंकी स्तुति की गई है। इस रहस्यको न समझकर बहुतसे वृथा वेद-ज्ञानाभिमानी मनुष्योंने धातुओंके अनेक अर्थ होनेसे उन सब देवताओंके नामोंको एक ईश्वरके नामपर ही लगाकर वर्णन किया है यह उनकी भूल है। देवताओंके विषयमें पृथक् अध्यायमें वर्णन किया गया है।

श्रुतिमें कहा है कि:—

"अनन्ता वै वेदाः"

वेद अनन्त हैं। वेदोंके अनन्त होनेपर भी इस कल्पके वेदोंकी संख्या पाई जाती है। महाभाष्यमें लिखा है कि:—

चत्वारो वेदाः सांगाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः एकशतमध्वर्य्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधा आथर्व्वणो वेदः।

अंग और रहस्यसे युक्त चार वेद बहुत शाखामें विभक्त हैं। यथा—यजुर्वेदकी १०१ शाखा, सामवेदकी १००० शाखा, ऋग्वेदकी २१ शाखा और अथर्ववेदकी ९ शाखा हैं। स्कन्दपुराणमें लिखा है कि:—

अवतीर्णो महायोगी सत्यवत्यां पराशरात्।
उत्सन्नान्भगवान्वेदानुज्जहार हरिः स्वयम्॥
ऋचः स ऋचमुद्धृत्य ऋग्वेदं कृतवान्प्रभुः।
यजूंषि निगदाच्चैव तथा सामानि सामतः॥
चतुर्धा व्यभजत्तांश्च चतुर्विंशतिधा पुनः।
शतधा चैकधा चैव तथैव च सहस्रधा॥

कृष्णो द्वादशधा चैव पुनस्तस्यार्थविस्तये।
चकार ब्रह्मसूत्राणि येषां सूत्रत्वमञ्जसा॥

स्कन्दपुराणके अनुसार एक वेद पहिले भगवान् वेदव्यासके द्वारा ४ भागमें विभक्त हुए और तदनन्तर उसीके ११३७ भाग हुए जिनको शाखा कहते हैं। यथा—ऋग्वेदकी २४ शाखा, यजुर्वेदकी १०१, सामवेदकी १००० और अथर्ववेदकी १२ शाखायें है। इत्यादि। मुक्तिकोपनिषद्में वेदकी ११८० शाखाओंका प्रमाण मिलता है, यथाः—

ऋग्वेदस्य शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः।
नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज!
सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप!
अथर्वस्य तु शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे!

ऋग्वेदकी २१ शाखाए, यजुर्वेदकी १०६, सामवेदकी १००० और अथर्व्वेकी ५० शाखाएं हैं। परन्तु महान् शोकका विषय है कि, वर्त्तमान कालप्रभावके कारण वेदोंकी इतनी शाखाएँ रहनेपर भी आजकल केवल सात आठ शाखाएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। वेदका आविर्भाव, तिरोभाव जीवोंके कर्म्मानुसार हुआ करता है। वेद तीन भागोंमें विभक्त हैं। यथा—मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग और आरण्यक भाग। आरण्यक ही उपनिषद्का मूल है। आरण्यकमें ब्रह्मतत्त्वके जो मूलसूत्र हैं, उनका ही विस्तार उपनिषद्में किया गया है। उपनिषद् निवृत्तिसेवी वानप्रस्थ और सन्यासियोंके लिये सगृहीत हुए है। जिसके द्वारा ब्रह्मका सामीप्यलाभ हो, उसे उपनिषद् कहते हैं। उनका मूलीभूत आरण्यकभाग इस लिये आरण्यक कहलाता है कि, प्राचीनकालमें तपोवन अनेक थे, वानप्रस्थाश्रमी वहीं वास करते थे और सन्यासीगण भी वहीं विचरण किया करते थे, अतः अरण्यमें ही प्रकाशित होनेसे आरण्यक नाम पड़ा है। परमपवित्र उपनिषद्समूह मुक्तिपद प्राप्तिके प्रधान अवलम्बन हैं। ब्राह्मणभाग और संहिताभाग प्रधानतः कर्म्मकाण्ड और उपासनाकाण्डके अवलम्बनीय हैं। यद्यपि सब वेद एक ही है, तथापि कर्म्माधिकार भेदसे उक्त प्रकार सङ्कलित किये गये हैं।

आरण्यक या उपनिषदोंके संहिता और ब्राह्मणोंके अन्तर्वर्त्ती होनेसे वेदको प्रायः दो भागमें ही कहा जाता है, यथाः—

"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" (आपस्तम्ब)

मन्त्र और ब्राह्मणको वेद कहते है। महर्षि जैमिनीने मन्त्र और ब्राह्मण दोनोंको ही वेद कहकर लक्षण वर्णन किया है। यथाः—पूर्व्वमीमांसादर्शनके द्वितीयाध्यायमें:—

"तच्चोदकेषु मन्त्राख्याः, शेषे ब्राह्मणशब्दः"

चोदना या प्रेरणालक्षण श्रुति ही मन्त्र है। मन्त्रावशिष्ट वेदभाग ब्राह्मण है। साधारणतः कह सकते है कि, जो सब श्रुतियाँ यज्ञीय अनुष्ठानके वर्णनके साथ किसी न किसी देवता पर लक्षित की गई हैं, वे सब मन्त्र है और जिन श्रुतियोंमें कौन मन्त्र किस कार्य्यमें प्रयुक्त होना चाहिये इसका उल्लेख करके मन्त्रोंकी विशेष व्याख्या की गई है उनको ब्राह्मण कहते है। अर्वाचीन पुरुषोंने जो ब्राह्मण भागको परतः प्रमाण माना है यह उनकी भूल है। महर्षि जैमिनीने अपने प्रणीत मीमांसादर्शनमें मन्त्र व ब्राह्मण दोनोंको वेद कहते हुए ब्राह्मण भागका ही प्राधान्य निर्देश किया है। यथा प्रथमाध्यायके द्वितीय पादका प्रथम-सूत्र:—

"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते"

इस सूत्रमें उन्होंने क्रियार्थक श्रुति अर्थात् ब्राह्मणको ही वेद कहकर, जो श्रुति क्रियार्थक नही है उसका वृथात्व प्रतिपादन किया है। इस प्रकार पूर्व्वपक्षमें ब्राह्मणभागकी श्रेष्ठता प्रतिपादन करके पश्चात् उत्तरपक्षमें मन्त्रभागको भी श्रुति कहकर दोनों ही को सम्हाल लिया है। प्रथम अध्यायके द्वितीय पादके सप्तम सूत्रमें कहा है कि:—

"विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः"

मन्त्रभाग क्रियासम्बद्ध न होने पर भी विधिके उद्देश्यसे एक ही प्रकारका होनेसे प्रमाणपद्वी पर प्रतिष्ठा पाने योग्य है, क्योंकि, मन्त्रभाग स्तुतिमूलक हैं और स्तुतिके द्वारा विधिके विषयमे प्ररोचना होती है। स्तुतिमूलक मन्त्र-समूह क्रियाओंकी प्रेरणा करके अनुष्ठाताका उपकार करते हैं, इसलिये मन्त्र भी वेदमें प्रमाण हैं। इस प्रकार महर्षि जैमिनिने ब्राह्मण व मन्त्र दोनोंको ही वेद कहकर ब्राह्मणभागका प्राधान्य निर्देश किया है।

द्वितीयतः केवल शब्द प्रमाण के द्वारा भी ब्राह्मणभागका परतः प्रमाण

होना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि, बहुतसे प्रामाणिक ग्रन्थोंमें इसको स्वतः प्रमाण कहा गया है। पारस्कर गृह्यसूत्रमें वचन है कि:—

"विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः"

इसमें विधिनिषेधात्मक श्रुतिको स्पष्ट शब्दसे वेद कहा गया है। ब्राह्मण भाग विधि या निषेधात्मक है, क्योंकि, इसमें ज्योतिष्टोम, गर्भाधानादि विधियों-का वर्णन है और विधेय मन्त्रभाग है। अतः पारस्करकी सम्मतिके अनुसार दोनों ही वेदके अन्तर्भूत हैं। भगवान् मनुजीने भी ऐसा ही कहा है। मनुसंहिता द्वितीय अध्याय—

श्रुतिद्वैधन्तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्म्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः॥
उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्व्वथा वर्त्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः

जहां पर दो श्रुतियां परस्पर विरुद्ध प्रतीत हों वहां दोनोंको ही धर्मजनक समझना चाहिये ऐसा मनीषिगणने कहा है। इसके दृष्टान्तरूपसे मनुजी कहते हैं, कि, जैसा वेदमें वचन मिलता है, कि, सूर्य्यके उदयकालमें होम करना चाहिये, अनुदयकालमें होम करना चाहिये और सूर्य्य या नक्षत्ररहित कालमें भी होम करना चाहिये। इस प्रकारसे परस्पर विरुद्ध श्रुति होने पर भी अधिकारीभेदसे सभी माननीय हैं, यही भगवान् मनुके वचनका तात्पर्य है। इसमें मनुजीने उदितकालमें होम, अनुदितकालमें होम इत्यादि आज्ञाओंको वैदिकी श्रुति कहा है, परन्तु यह सब आज्ञा वेदके ब्राह्मणभागकी है। अतः ब्राह्मणभाग भी स्वतःप्रमाण वेदके अन्तर्गत है, ऐसा मनुजीका भी सिद्धान्त प्रमाणित हुआ।

वेदकी शाखाओंके विषयमे जो मतभेद पाया जाता है, जैसा कि पातञ्जलि महाभाष्य और सूत संहिताके अनुसार वेदकी ११३१ शाखा, मुक्तिकोपनिषद्के अनुसार ११८० शाखा और स्कंदपुराणके अनुसार ११३७ शाखा है, इसका तात्त्विक कारण कुछ नहीं है, केवल किसी महर्षिने किसी शाखाको अन्य शाखामें अन्तर्भूत करके संख्या घटादी है और किसीने ऐसा अन्तर्भाव न करके संख्याको बरा-बर रक्खा है। अतः वेदकी शाखाओंकी संख्यामें इस प्रकार मतभेद होनेपर भी

महर्षियोंके वाक्यमें कोई विरोध नहीं है; ऐसा समझना चाहिये। यही भवरोग वैद्य भगवती श्रुतिके विषयमें संक्षिप्त विवेचन है।

(वेदाङ्ग)।

वेदके विषयमें कह कर अब वेदाङ्गके विषयमें कहा जाता है।

वेदार्थ अतिदुर्ज्ञेय है। जिस प्रकार समाधिस्थ पुरुष ही ब्रह्मदर्शनमें समर्थ हो सकता है, उसी प्रकार समाधियुक्त अन्तःकरण द्वारा ही शब्दब्रह्मरूपी वेदका यथार्थ अर्थ समझा जा सकता है। जिस प्रकार साधारण व्याकरण एवं काव्य कोष आदिके पाठ करनेसे ही पण्डितगण सब अन्यान्य संस्कृत ग्रन्थोंके समझनेकी उपर्युक्त बुद्धिका प्राप्त कर लिया करते हैं, केवल वैसी ही साधारण योग्यता द्वारा वैदिक ज्ञानकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। विना षडङ्गोंमें पूर्ण योग्यता प्राप्त किये जिज्ञासुगण कदापि वेदार्थ समझनेमें समर्थ नहीं हो सकते। वैदिक षडङ्गके नाम मुण्डकोपनिषद्में इस प्रकार हैं:—

"शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति"

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। शास्त्रोंमें लिखा है कि:—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।

इस वेद-पुरुषके छन्दःशास्त्र चरण, कल्पशास्त्र (कर्म्मकाण्ड ग्रन्थ) हस्त, ज्योतिषशास्त्र नयन, निरुक्तशास्त्र कर्ण, शिक्षाशास्त्र नासिका और व्याकरण शास्त्र मुखरूप है।

शिक्षाशास्त्रमें वेदके पाठ करनेकी शैली विस्तृत रीतिसे वर्णित है। वैदिक ज्ञानप्राप्तिके अर्थ पाठ ही प्रथमस्थानीय है। इस कारण शिक्षाशास्त्रकी सर्व्वप्रथम आवश्यकता मानी गई है। कल्पशास्त्र मन्त्रसम्बन्धीय क्रियाओंका वर्णन करनेवाला है। निरुक्त वेदका कोषरूप है। जिसके पढ़नेसे वेदार्थका पता लगता है। छन्दःशास्त्र द्वारा वैदिक स्वर तथा छन्दका पता लगता है। ज्योतिःशास्त्रके विषयमें कहा है—

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्द्धनि स्थितम्।

जैसे मयूरोंकी शिखा और सर्पोंकी मणि उनके सिरपर रहती है उसी प्रकार वेदाङ्गशास्त्रोंमें ज्योतिष सब अङ्गोमे मुख्य है। वेद यज्ञोंके लिये प्रवृत्त है और यज्ञ कालके अनुसार किये जाते है, ज्योतिष कालनिर्णय करनेवाला शास्त्र है, इसको जो जानता है वही यज्ञोंको जानकर कर सकता है।

ज्योतिर्विद्याके तत्त्वको न समझनेसे आजकल फलित ज्योतिषकी सत्यताके विषयमें बहुत सन्देह होरहा है। जब कर्मके द्वारा ही जीवको सुखदुःख प्राप्ति होती है, तो, जडग्रहोंका सम्बन्ध बीचमें मानकर जन्मपत्र बनाकर गृहस्थोंको सुख दुःखके फन्देमें क्यों फँसाया जाय, ऐसा करना सर्व्वथा अनुचित है इत्यादि अनेक प्रकारकी शङ्काएं हो रही हैं। अतः यह विषय विचारने योग्य है।

पहिले ही कहा गया है कि, प्रत्येक ग्रह उपग्रहके भीतर आकर्षण और विकर्षण, दो परस्पर विरुद्ध शक्तियां विद्यमान है। आकर्षणशक्ति द्वारा पदार्थ परस्परके प्रति आकृष्ट होते हैं और विकर्षणशक्ति द्वारा परस्पर पृथक् हो जाते हैं। इनमेंसे किसी एकके द्वारा भी या एकके प्रबल होने पर भी संसार की रक्षा नही हो सकती है। स्थिति दोनों शक्तिके सामञ्जस्यका ही फल है। अतः ग्रहोंमें परस्परके प्रति आकर्षण विकर्षण बना हुआ है। जब ग्रह उपग्रह आपसमें आकर्षण विकर्षण करते है, तो, ग्रहोंके या उपग्रहोंके भीतर जो जीव हैं, उन पर भी उस आकर्षणकी या विकर्षणकी क्रिया असर करेगी। यह बात सभी लोग जानते है, कि, पृथिवी-ग्रहमें माध्याकर्षण शक्ति है, जिससे समस्त जीवोंको पृथिवी माता खींचती है। इसी प्रकार और सब ग्रह उपग्रहमें भी समझना चाहिये। अतः सिद्धान्त हुआ कि, ग्रह, उपग्रह और समस्त ज्योतिष्कमण्डली, यथा—सूर्य्य, चन्द्र आदिके साथ जीवमात्र का ही आकर्षण विकर्षण सम्बन्ध प्राकृतिकरूपसे बना हुआ है। अब कर्म्मके विषय पर विचार किया जाता है।

मनुष्यका शरीर प्रारब्धकर्म्मसे ही उत्पन्न होता है। प्रारब्ध कर्म्मके अनुसार ही मनुष्यको पिता माता प्राप्त होते हैं। जाति, आयु और भोग सभी प्रारब्ध कर्म्मका फलरूप है।

जब कर्म्मका सम्बन्ध शरीरसे हुआ और ग्रहोंका भी प्राकृतिक आकर्षणविकर्षण-सम्बन्ध शरीरसे हुआ, तो, प्रारब्धकर्म्मके अनुसार मनुष्यके जन्मके समय ग्रह उपग्रहोंकी स्थिति भी सम या विषम होगी, इसमें कोई सन्देह नही। जिसका प्रारब्धकर्म्म जिस प्रकार है, उसके जन्मके समय ग्रह उपग्रहोंकी अनु-

कूल या प्रतिकूल स्थिति ठीक उसी कर्म्मके साथ सम्बन्धके अनुसार नभोमार्गमें हुआ करती है। और आकर्षण, विकर्षणका प्रभाव भी ऐसा ही हुआ करता है, इसमें सन्देह नहीं। अतः जो लोग केवल कर्म्मको ही मानकर ग्रह उपग्रहोंका सम्बन्ध उड़ा देते है वे गल्ती पर है, क्योंकि, कर्म्मके ही अनुसार जीवके साथ प्राकृतिक आकर्षण-विकर्षण-सम्बन्धयुक्त ग्रह उपग्रहोंकी स्थिति जन्मसे लेकर मरण पर्य्यन्त रहा करतो है और कर्म्मके परिवर्त्तनके अनुसार उनकी स्थिति और प्रभावमें भी परिवर्त्तन हुआ करता है। जब ज्योतिषी लोग ग्रह उपग्रहोंके विषयमें गणितविद्याके द्वारा सब कुछ जान सकते हैं, तो, किस ग्रहकी कहांपर स्थिति होनेसे कौन कर्म्म प्रबल या दुर्बल होना चाहिये यह भी वे कह सकेंगे, इसमें सन्देह नही हो सकता है, क्योंकि, कर्म्मके साथ शरीरका और शरीरके साथ ग्रहोंका सम्बन्ध है। अब ग्रहशान्तिका क्या प्रयोजन या सम्बन्ध है सो बताते हैं।

यह बात विज्ञानसिद्ध है, कि, कर्म्म नष्ट न होनेपर भी अच्छे कर्म्मके द्वारा बुरे कर्म्म दब जाते है। अतः किसी मनुष्यका कोई प्रारब्ध या क्रियमाण प्रबल कर्म्म अशुभ हुआ तो उसका ग्रह भी उसीके अनुसार मन्द होगा, अर्थात् जिस स्थानपर वह ग्रह उसीके कर्म्मानुसार रहेगा, उस स्थानसे उसके शरीर या मनपर आकर्षण विकर्षणका कार्य्य मन्द करेगा। अब यदि ऐसा कोई अनुष्ठान या क्रिया हो जिसके द्वारा वह असत् कर्म्म दब जाय, तो, यह बात आवश्यक है कि मन्द कर्म्मके दब जानेसे उसका ग्रह भी शान्त हो जायगा, अर्थात् मन्द कर्म्मानुसार जो ग्रहोंके आकर्षण विकर्षणका प्रभाव अशुभ था वह सुधर जायगा। यही ग्रहशान्तिका तत्त्व है। फलितज्योतिषके इस तत्त्वको न जानकर अज्ञानी पुरुषोंने बहुत ही कोलाहल मचा रक्खा है और कही कहीं ग्रहोंके नामोंका धात्वर्थ बिगाड़कर कुछसे कुछ कर डाला है, परन्तु धीर होकर विचार करनेसे यथार्थ तत्त्व विदित होगा और वेदोक्त उन सब शान्तिपाठ या शान्ति-क्रियाओंका ठीक ठीक तात्पर्य्य हृदयङ्गम होगा। अथर्व्ववेदमें लिखा है कि—

(१६-६-१०)

शन्नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।
शन्नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः॥

चन्द्रमाके साथके सब ग्रह, सूर्यके साथके राहु, मृत्युसूचक धूमकेतु, और विकराल रुद्रगण हमें कष्ट न दें।

ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलवर्हणात् परिपाह्येनम्।
अन्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥

६-११०-१२६

ज्येष्ठानक्षत्रको ज्येष्ठघ्नी और मूलनक्षत्रको विचृत कहते हैं। इनमें हुआ पुत्र मूलवर्हत्व अर्थात् वंशनाशक होता है। हे यम! इन दोनोंसे इस बालक की रक्षा करो, इसके समस्त दूरित दूर करो और इसे दीर्घायु करो।

अब इन सब तामसिक कर्म्मोंके दूर करनेके लिये जो सात्त्विक अनुष्ठान होना चाहिये, उसका करनेवाला कोई न हो, या जो करता है वह ठग हो, तो इसका दोष शास्त्र पर नही आ सकता है। इसी प्रकार फलितज्योतिषके जन्मपत्र आदिका ठीक ठीक फल यदि नही मिलता तो इससे फलित ज्योतिष झूठा नही बन सकता है, क्योंकि ग्रहोंका आकर्षण और कर्म्मके साथ उनका सम्बन्ध ठीक हो तो जन्मपत्रमें भूल नही होनी चाहिये। भूल होनेके कई कारण हैं सो बताये जाते हैं। पहिला कारण तो यह है, कि, आजकल ज्योतिष-शास्त्रके जानने वाले योग्य लोग ही कम रह गये हैं। अधूरे पण्डितोंसे इस प्रकार जन्मपत्र बनाने पर भूल तो हो ही जायगी और जन्मपत्र "शोकपत्र" हो जायगा इसमें सन्देह क्या? परन्तु बनानेवाले की मूर्खताका दोष फलित ज्योतिषशास्त्र पर नहीं लगाना चाहिये। दूसरा कारण यह है कि, जन्मकालमें जिस होराके जिस मिनट या सेकण्ड पर बालक भूमिस्थ होता है उसको गृहस्थ लोग ठीक ठीक विचारसे नहीं देखते। कई कारणोंसे दो चार मिनट इधर उधर हो ही जाता है, इससे ग्रहोंके स्थानोंमें बहुत अन्तर पडनेसे और उसी भ्रमपूर्ण समयके अनुसार जन्मपत्रके बननेसे जन्मपत्र झूठा होता है, इसका दोष गृहस्थ-पर है, फलित-ज्योतिष पर नही है। तीसरा कारण, ज्योतिषशास्त्रके बहुत ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं, जिससे सब विषयका पता नहीं चलता है और हिसाबमें ही गल्ती हो सकती है। चौथा कारण यह है, कि, प्राकृतिक परिवर्तनके अनु-सार ग्रहोंकी भी गतिमें परिवर्तन हो गया है, इसको ठीक ठीक जाननेके लिये या तो योगशक्ति या दृग्गणितकी सहायता चाहिये, सो दोनों ही बातोंका आज-कल अभाव है, अतः फलित-ज्योतिष पर दोषारोप न करके उसका संस्कार किया जाय। धनीलोगोंका रुपया वृथा खर्च न होकर इस काममें लगना

चाहिये। यन्त्रालय आदि बनना चाहिये। ऐसा करनेपर भारतका भाग्य सुप्रसन्न होगा और जन्मपत्र भी "शोकपत्र" न होकर यथार्थ जन्मपत्र हो जायगा।

अपौरुषेय वेदके गम्भीर अर्थ जाननेके लिये इस प्रकारसे छःहों वेदाङ्गोंका तत्त्वनिर्णय और सम्यक् परिज्ञान अत्यावश्यकीय है, इसमें सन्देह नहीं। विना छःहों अङ्गोंके भली भांति जाने वेदपारावारमे प्रवेश करना असम्भव है। प्राचीन कालमे इन छःहो अङ्गोंकी समानरूपसे उत्तम शिक्षा हुआ करती थी, इस कारण वैदिकज्ञानके लाभ करनेमें प्रजा समर्थ होती थी। अब इन सब अङ्गोंके योग्य ग्रन्थ प्रायः उपलब्ध नहीं होते और इनकी यथावत् शिक्षा वेदार्थ समझनेके उपयोगी नही होनेसे इस समयका रहा सहा वेद भी दुर्ज्ञेय हो रहा है। ऊपर कथित छः शास्त्र वेदके अङ्ग कहाते है और वैदिक दर्शनशास्त्र वेदके उपाङ्ग कहाते है। वेदाङ्गोंके द्वारा वेदका वहिःस्वरूप, वेदकी क्रियाशक्ति और वेदकी क्रियाशक्तिके साथ सूक्ष्मराज्यका सम्बन्ध बताकर वैदिकज्ञानके प्राप्त करनेमें सहायता होती है। और वेदके उपाङ्ग जिज्ञासुकी अन्तर्राज्यकी शुद्धि कराकर उसके बुद्धितत्त्वकी उन्नति कराते हुए उसको वेदोक्त आध्यात्मिक ज्ञानको लाभ कराते है। वेदाङ्गोंके अध्ययनके विना वेदमें प्रवेश करना ही असम्भव है। शिक्षाशास्त्र स्थूल अक्षरमय वेदकी स्थूलशक्तिके यथावत् प्रकाशका क्रम और प्रकाश करनेकी शैली बताकर स्थूल अक्षरमय वेदके यथार्थस्वरूप प्रकट करानेमें पूर्णरूपसे सहायता देते है। कल्पशास्त्र वैदिक क्रियाकलापका रहस्य और वैदिक कर्म्मकाण्डकी यथाक्रम पद्धति सिखलाकर वैदिक क्रियाशक्तिकी पूर्णता करते हैं। व्याकरणशास्त्र वेदोक्त अक्षरयोजना, योजनाक्रम और योजनाक्रमसे अक्षरार्थनिर्णय कराकर वेदमें प्रवेश करनेका द्वार खोल देते है। निरुक्तशास्त्र वेदोक्तशब्दोंसे वेद-सम्मतभावका पता बताकर शब्दकी सहायतासे अनादि, अनन्त और अलौकिक भावराज्यमें जिज्ञासुको प्रवेश कराते हैं। छन्दःशास्त्र स्थूल वेदमयी ऋचाओंकी अन्तर्निहित दैवीशक्तिका पता लगाकर उनके द्वारा दैवी कार्य्य लेनेकी शक्ति बतलाते हुए उनके प्रयोग करनेका दैवीमार्ग बताते हैं, और ज्योतिषशास्त्र साधकको जगत्के आधाररूपी कालका स्वरूप ज्ञान कराकर कालसेवाकी रीति बताते हुए साधकको वेदोक्त साधनादिमें सफलता पानेके उपयोगी बना देते हैं। इसी कारण वेदके इन छःहों अङ्गोंमें बिना पूर्ण अधिकार प्राप्त किये वेदपारावार में प्रवेश करनेकी इच्छा करना

दुराशामात्र है। फलित ज्योतिष के विषयमें पश्चिमी विद्वानोंने भी कहा है, यथा:—

The higher psychic attainments are being developed through spirit aid, with a view to use this magnetism in various forms as we mortals can use electricity. The spirits have machinery which they operate with the currents of thought in the same way as we run cars with the currents of electricity All this is within the power of the higher sense to know and study. This natural law of thought-currents, as we observe ocean currents, controls the effect of that force exerted by the moon on the ocean tide In Astrology we study the natural play of these laws and their effects on humanity. The weather-prophet studies the effect of this law on the weather, the astronomer, the action between the planets, and the geologist its effect on the earth in times past. None can deny these truths

(Professor R. E. DUTTON,—Kalpaka 2-24)

परलोकवासी आत्माओंकी सहायतासे आजकल सूक्ष्मशक्ति लाभकी कोशिश हो रही है जैसा कि, हम बिजलीकी शक्तिसे काम लिया करते है। जिस तरह हम बिजलीसे रेलगाड़ी चलाते है, ऐसे ही आत्माएं किसी विशेष उपायसे चिन्ताशक्ति की तरङ्गको चलाती रहती हैं। चन्द्रके आकर्षणसे जो समुद्रमे ज्वार भाटा होता है उस पर भी इस सूक्ष्मशक्तिका प्रभाव होता है। फलित ज्योतिषमें इस प्राकृतिक शक्ति तथा मनुष्य पर इसके प्रभावके विषयमें हम पढ़ते है। ऐसे ही आबहवा, ऋतु तथा ग्रहोपग्रहोंके आकर्षण प्रभावका वृत्तान्त ज्योतिष शास्त्रमें है। यह सभी सत्य है। इसे कोई अस्वीकार नही कर सकता है।

(दर्शन-शास्त्र)।

वेद और वेदाङ्गके विषयमें वर्णन करके अब वेदाङ्गरूपी दर्शनशास्त्रपर संक्षिप्त विवेचन किया जाता है। अध्यात्म-उन्नतिके सात क्रम है, उन्ही सात क्रमोंके अनुसार वैदिक दर्शन शास्त्रोंको भी पूज्यपाद महर्षियोंने केवल सात

श्रेणीमें ही विभक्त किया है। ये सातों दर्शन त्रिभावोंके अनुसार तीन भावमें विभक्त है। यथा:—न्यायदर्शन और वैशेषिकदर्शन पदार्थवादसम्बन्धीय, वैसे ही योगदर्शन और सांख्यदर्शन सांख्यप्रवचनसम्बन्धीय एव कर्म्ममीमांसा, भक्ति-मीमांसा और ब्रह्म-मीमांसा, ये तीनों वेदोंके काण्डत्रयके अनुसार मीमांसा सम्बन्धीय दर्शन कहाते हैं। इन सातोंके अतिरिक्त और किसी दार्शनिक सिद्धान्तका आर्य्यगण स्वीकार नहीं करते। जो कोई और दर्शन देखने और सुनने-में आते है वे अन्तर्भावरूपसे इन्ही सातमें प्रविष्ट हैं। सृष्टिके इस सात सात विभाग का परिचय पश्चिमी विद्वानोंको भी लगा है, यथा—Whether expressing through number, colour, sound or form every manifestation of the logos falls naturally into a septenary division giving us the notes of the musical scale, the 7 prismatic colours, the 7 planes of conciousness and the 7 sacred metals each of which is the imprisoned or precipitated force or quality which emanates from one of the 7 planets

(Artic Mae Blackborn—Kalpaka 7-24.)

सख्या, रङ्ग, शब्द, आकार सभी पर विचार करनेसे यही देखा जाता है, कि, दृश्य जगत्‌की सभी वस्तुयें सात सात भागोंमे विभक्त हैं। संगीत के स्वर सात ही होते हैं, सूर्यके रङ्ग सात हैं, ज्ञानभूमि और अज्ञानभूमि सात सात हैं, धातु भी सात ही होते हैं जिनमें सात ग्रहोंसे प्राप्त प्रचुर शक्ति भरी हुई है। अतः सप्त ज्ञानभूमिके अनुसार दर्शन शास्त्र भी सात हैं, जो परमात्माके साक्षात्कारके लिये दर्शन अर्थात् नेत्ररूप है।

इन सातों दर्शनोंका मुख्य उद्देश्य आत्यन्तिक दुःखनाश और नित्यानन्दकी प्राप्ति है। प्रकृतिविलासरूप संसार दुःखमय है, उसमें जो कुछ सुख है वह भी क्षणभङ्गुर और दुःखका ही पूर्वरूपमात्र है, इसलिये नित्यानन्दमय अमृतके पुत्र नश्वर सुखमय दुःखपूर्ण इस ससारमें सुख-लाभ नहीं कर सकते, इसीलिये जीव आत्यन्तिक दुःखनाश और सुखप्राप्तिके अर्थ इतस्ततः भ्रमण करते हैं। दर्शन शास्त्र जीवको दुःखमय संसारसे मुक्त कर आनन्दमय ब्रह्मधाममे पहुंचाता है इसलिये उसका नाम दर्शनशास्त्र है। सकल दर्शनशास्त्रका प्रतिपाद्य विषय दुःख-नाश और सुखप्राप्ति होनेपर भी प्रथम ज्ञानभूमियोंके दर्शनोंके साथ प्रकृतिका

सम्बन्ध अधिक होनेसे उनमें प्रधानतः दुःखनाश ही लक्षीभूत है और अन्तिम ज्ञानभूमियोंके दर्शनोंके साथ प्रकृतिसे परे आनन्दमय ब्रह्मभावका सम्बन्ध अधिक होनेसे उनमें नित्यानन्दमय स्वरूप-स्थिति अधिक लक्षीभूत की गई है। इन सात दर्शनसिद्धान्तोंके तीन विभागको इस प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, प्रथम दो स्थूलविज्ञान, अर्थात् अनुमानसे दुःखकी निवृत्तिकी भूमि बताना, दूसरे दो सूक्ष्म विज्ञान अर्थात् बीचकी भूमिमें ठहर कर दोनों ओरका पता लगाना और तीसरे तीनों कारण विज्ञानमय हैं, अर्थात् उनमें क्रमशः उत्तरोत्तर अत्यन्त दुःखनिवृत्तिकी अवस्थाका स्वरूप निर्णय होता है। अब इन सातों दर्शनोंके विषयमें संक्षेपसे आलोचना की जाती है।

(न्यायदर्शन)।

न्यायदर्शन महर्षि गौतमप्रणीत है, इसको आन्वीक्षिकी तथा अक्षपाददर्शन भी कहते हैं। प्रमाणके द्वारा पदार्थोंका निरूपण, अथवा दूसरोंके समझानेके लिये प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन, इन पांच अवयवकी अवतारणाका नाम न्याय है। न्यायदर्शनको प्रधानतः तीन भागमें विभक्त कर सकते हैं, यथा—तर्क, न्याय और दर्शन। तर्कांशमें तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा आदि विषय है। न्यायांशमें प्रमाण आदिके विषयमें चर्चा की गई है और दर्शनांशमें आत्मा अनात्माकी आलोचना है। न्यायदर्शनका प्रतिपाद्यविषय दुःखनिवृत्ति है। संसार दुःखमय है, इसमें जो कुछ सुख है वह भी दुःखयुक्त होनेके कारण दुःख ही है। जन्म होनेसे ही दुःख होता है अतः यदि दुःखका नाश करना हो, तो जन्मका नाश करना पड़ेगा। जन्मका कारण प्रवृत्ति है, प्रवृत्तिका कारण रागद्वेष मोहात्मक दोष है, दोष भी मिथ्या ज्ञानसे उत्पन्न होता है, अतः मिथ्याज्ञान नष्ट होना चाहिये, नहीं तो दुःखनिवृत्ति नहीं होगी; इसलिये महर्षि गौतमने सूत्र किया है कि:—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

उल्लिखित दुःख जन्म आदियोंका उत्तरोत्तर नाश होकर अन्तमें मिथ्या ज्ञानके नाश होनेसे जीवकी मुक्ति होती है। मिथ्याज्ञान नष्ट करनेका उपाय क्या है? न्यायदर्शनकी सम्मतिमें तत्त्वज्ञान ही मिथ्याज्ञान नष्ट करनेका उपाय है, अतः तत्त्वज्ञानके लाभसे ही अपवर्ग अर्थात् आत्यन्तिक दुःखनाश होता है।

तत्त्वज्ञान किसका होना चाहिये ? इसके उत्तरमे न्यायदर्शनमें लिखा है कि:—

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः॥

निःश्रेयस पदवी या आत्यन्तिक दुःखनाशके लिये प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन षोडश पदार्थोंका तत्त्वज्ञान होना चाहिये। न्यायदर्शनमें इन षोडश पदार्थोंका लक्षण-विचार अच्छी तरहसे किया गया है जिसका संक्षेप वर्णन नीचे किया जाता है।

इनमें प्रथम पदार्थ प्रमाण है। यथार्थज्ञानका नाम प्रमा और प्रमाका जो करण अर्थात् यथार्थज्ञान लाभ करनेका जो उपाय है उसको प्रमाण कहते हैं। न्यायदर्शनके मतमे प्रमाण चार प्रकारका है। यथाः—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इन्द्रियके द्वारा उपलब्ध ज्ञान प्रत्यक्ष है। अनुमानका अर्थ महर्षि गौतमने कहा है कि:—

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टञ्च।

अनु पश्चात् अर्थात् लिङ्गदर्शनके पश्चात् जो मान या ज्ञान अर्थात् लिङ्ग लिङ्गीका जो सम्बन्धज्ञान है उसे अनुमान कहते हैं, अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक है, क्योंकि, लिङ्गके प्रत्यक्ष न होनेसे लिङ्ग लिङ्गी का सम्बन्ध स्मरण नहीं हो सकता है। यथाः—चूल्हेमें आग (लिङ्गी) और धुआं (लिङ्ग) का एक साथ रहना पहलेसे देखनेपर ही पीछे कभी पर्वत पर धूम देखनेसे अग्निका अनुमान हो सकता है। अनुमान तीन तरहका है। यथाः—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। मेघको देख कर वृष्टिका अनुमान पूर्ववत् अनुमान है। इसमे कारणको देखकर कार्य्यका अनुमान है। नदीमें जलवृद्धि देखकर पर्व्वतपर वृष्टिका अनुमान शेषवत् अनुमान है। इसमें कार्य्यको देखकर कारणका अनुमान है। कारण अथवा कार्य्यके न रहनेपर भी सामान्यतः देखकर जो अनुमान है वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। जहाँ एकके साथ दूसरेकी उपमा दी जाती है, वह उपमान है। न्यायदर्शनके मतमें सादृश्यज्ञानका साधक उपमान है, यथा:—

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्।

पशुमें गौका सादृश्य या मुखमें चन्द्रमाका सादृश्य इत्यादि ज्ञान जिससे लाभ हो उसे उपमान कहते है। शब्दके लक्षणमें गौतमजीने कहा है कि:—

आप्तोपदेशः शब्दः।

भ्रम और प्रमादसे शून्य जो वाक्य है, उसको आप्तवाक्य कहते है। प्रमेय अर्थात् प्रमाणका विषय १२ बारह प्रकारका है। यथा:—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग। आत्मा द्रष्टा और भोक्ता है। इच्छा, द्वेष, प्रयोजन, सुख, दुःख आदि आत्माका लिङ्ग है। आत्माका भोगायतन शरीर और भोगसाधन इन्द्रियां है। इन्द्रिय पांच प्रकारकी है, घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र। इन्द्रियगण भूतोंसे उत्पन्न होते हैं। भूत पांच प्रकारके हैं, पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश। घ्राणेन्द्रिय पार्थिव, रसनेन्द्रिय जलीय, चक्षुरिन्द्रिय तैजस, त्वगिन्द्रिय वायवीय और श्रोत्रेन्द्रिय आकाशीय है। इन्द्रियोंके विषयका नाम अर्थ है। यथा—घ्राणेन्द्रियका विषय गन्ध, रसनेन्द्रियका विषय रस, चक्षुरिन्द्रियका विषय रूप, त्वगिन्द्रियका विषय स्पर्श और श्रोत्रेन्द्रियका विषय शब्द है। स्मरण, अनुमान, संशय, सुख आदि प्रत्यक्षका कारण मन है। प्रवृत्ति तीन प्रकारकी है, यथा—शारीरिक वाचिक और मानसिक। दोष तीन प्रकारका है, यथा–राग, द्वेष और मोह। काम तृष्णा आदि राग, क्रोध ईर्षा आदि द्वेष, मिथ्याज्ञान प्रमाद आदि मोह है। पुनः पुनः जन्ममरणका नाम प्रेत्यभाव है। दोष और प्रवृत्तिजनित सुख दुःखका अनुभव फल है। बाधना अर्थात् तापलक्षण दुःख है।

अनवधारण ज्ञानका नाम संशय है। साधारण धर्म्मज्ञान, असाधारण धर्म्मज्ञान, विप्रतिपत्ति, उपलब्धि और अनुपलब्धि, संशयके ये पांच कारण है। जिसको लक्ष्य करके प्रवृत्ति होती है, उसका नाम प्रयोजन है। जिस विषयमें साधारण अर्थात् लौकिक और उत्कृष्टबुद्धि अर्थात् परीक्षक लोगोंका मतभेद नहीं होता है, उसका नाम दृष्टान्त है। अर्थका जो अभ्युपगम या निश्चय है, उसे सिद्धान्त कहते हैं। जिन शब्दोंके या वाक्योंके अनुसार साधनीय अर्थ अर्थात् साध्यकी सिद्धि होती है, उसे न्याय कहते है। न्यायका एकदेश अवयव है। अवयव पांच प्रकारका है। यथा—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इस न्यायांशमें पहिले एक प्रस्ताव या प्रतिज्ञा की जाती है, तदनन्तर उसका हेतु निर्दिष्ट किया जाता है, तदनन्तर उदाहरणके द्वारा हेतुका कारण

दृढ़ किया जाता है, इस तरहसे हेतु निर्दिष्ट होनेपर कार्य्यस्थलमें उसका उपनय अर्थात् प्रयोग होता है, अन्तमे उसके द्वारा निगमन अर्थात् सिद्धान्त होता है। जिस विषयका तथ्य मालूम नही हो रहा है, उस विषयमें तथ्यज्ञानके लिये कारणकी उपपत्तिके अनुसार एक पक्षकी जो सम्भावना होती है, उसको तर्क बोलते हैं। किसी विषयका तत्त्व अज्ञात होनेसे उसके जाननेकी इच्छा स्वतः हुआ करती है, जाननेकी इच्छा होनेसे ही परस्पर विरुद्ध बातोंकी चर्चा होती है, इस प्रकार सन्दिह्यमान दोनों धर्म्मोंमेंसे जिस धर्म्मके कारणकी उपपत्ति होती है, उसके लिये "यह ऐसा हो सकता है," ऐसी सम्भावना भी होती है, इस सम्भावनाको ही तर्क कहते हैं। प्रमाण और तर्कका जो फल है, उसे निर्णय कहते हैं; अर्थात् स्वपक्षस्थापनके द्वारा लक्षीभूत अर्थका जो निश्चय है, उसका नाम निर्णय है। तत्त्वनिर्णयके उद्देश्यसे जो कथा प्रवर्त्तित होती है उसे वाद कहते हैं; अर्थात् अपना जय या प्रतिपक्षीका पराजय इसपर कुछ भी लक्ष्य न रखकर केवल तत्त्वनिर्णयके विचारसे जो कथोपकथन, वही वाद है। तत्त्वनिर्णयके प्रति लक्ष्य न रखकर प्रतिपक्षीका पराजय और स्वपक्षके जयके लिये जो शास्त्रार्थ प्रवर्तित होता है, उसका नाम जल्प है। जल्पमें वादी और प्रतिवादी दोनोंका ही स्वपक्षस्थापन और परपक्षप्रतिषेध लक्ष्य रहता है। अपना कोई भी पक्ष न रख करके केवल परपक्षके खण्डनके लिये जो शास्त्रार्थ होता है, उसका नाम वितण्डा है। दुष्ट हेतुका नाम हेत्वाभास है, अर्थात् जो हेतुकी तरह प्रतीत होता हो परन्तु वास्तवमें हेतु न हो उसे, हेत्वाभास कहते हैं। जिस अर्थके लिये वाक्यप्रयोग किया जाता है उसका विपरीत अर्थ कल्पना करके दोष उद्भावन करनेका नाम छल है। जैसा कि "नवकम्बलोऽयं मनुष्यः" इस वाक्यमें वक्ताका अभिप्राय यह है कि, वह मनुष्य नूतन कम्बलसे युक्त है, परन्तु छलवादी कहेंगे कि, इस मनुष्यके पास ९ कम्बल कहां हैं? व्यावृत्तिकी अपेक्षा न करके केवल साधर्म्य और वैधर्म्यके बलसे जो दोष निकाला जाय उसका नाम जाति है, इसके चौबीस भेद है जो मूलदर्शनमें द्रष्टव्य हैं। जिसके द्वारा विचारकार्यका विपरीत ज्ञान या प्रकृत विषयमे अज्ञान प्रकाश होता है उसका नाम निग्रहस्थान है। पहिले एक प्रकारकी प्रतिज्ञा करके पीछे उसका त्यागकर देना, दूसरे पक्षमें दोष होनेपर भी दोष उद्भावन न करना, दूसरेके द्वारा अपनेपर दिये हुए दोषोंका खण्डन न करना इत्यादि निग्रहस्थानके लक्षण हैं। महर्षि गौतमकी सम्मतिमें इन षोडश पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मुक्ति होती है।

शरीरसे आत्माका संयोग होनेसे अहं ज्ञानका उदय होकर आत्माको दुःख होता है, इसलिये शरीरसे आत्माको पृथक् कर देना ही इस दर्शनके अनुसार मुक्ति है। न्यायदर्शनमें ईश्वरका प्राधान्य मुक्तिके विषयमें न होनेपर भी इसमें ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार किया गया है, और बहुत प्रकारके तर्कवादके द्वारा वेदका भी प्रामाण्य स्वीकार किया है। यही सक्षेपसे न्याय दर्शनपर विवेचन है।

(वैशेषिकदर्शन)।

न्याय और वैशेषिक एक श्रेणीके दर्शन है। महर्षि कणाद इस दर्शनके प्रवर्त्तक है। इसमें 'विशेष' नामक एक अतिरिक्त पदार्थ स्वीकृत होने से इसका नाम वैशेषिकदर्शन हुआ है।

वैशेषिकदर्शनका भी प्रतिपाद्य विषय आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति है। दर्शनकार पहिले ही इस प्रकारसे ग्रन्थको प्रारम्भ करते है किः—

अथाऽतो धर्म्मं व्याख्यास्यामः।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः॥

अब धर्म्मकी व्याख्या करेंगे। जिससे अभ्युदय और आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति होती है वही धर्म्म है। महर्षि कणादकी सम्मतिमें निःश्रेयस या अत्यन्त दुःखनिवृत्ति तत्त्वज्ञानसे होती है, अतः इसी दर्शनमें कहा है किः—

धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्म्मसामान्य-

विशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्म्यवैधर्म्याभ्यां

तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।

धर्म्म विशेषसे उत्पन्न द्रव्य, गुण, कर्म्म, सामान्य, विशेष, समवाय इन छः पदार्थोंके साधर्म्य और वैधर्म्य ज्ञानजनित तत्त्वज्ञानके द्वारा निःश्रेयस लाभ होता है। इस प्रकारसे निःश्रेयसलाभका उपाय बताना ही वैशेषिक दर्शनका उद्देश्य है। साधर्म्य अर्थात् साधारणधर्म्म, यथा—पृथिवी, जल आदि द्रव्यका साधारण धर्म द्रव्यत्व है। द्रव्यका वैधर्म्य गुणत्व है क्योंकि, द्रव्यका गुणत्व दृष्ट नहीं होता है। द्रव्य नव प्रकारके है, यथा—क्षिति, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। क्षिति, अप्, तेज, वायु ये चार भूत नित्य अनित्य भेदसे द्विविध है। परमाणुरूपमें नित्य है और परमाणु सघातसे उत्पन्न

शरीर इन्द्रिय और विषयरूपमें अनित्य है । वैशेषिकके मतमें पृथिव्यादि चार प्रकारके द्रव्यके परमाणु और आकाशादि पांच द्रव्य नित्य है । आत्मा ज्ञानका आश्रय है। आत्माका मानस प्रत्यक्ष होता है। आत्मा प्रत्येक शरीरमे भिन्न भिन्न है। वैशेषिकके मतमें मन अणुप्रमाण है और आत्मा, सुख दुःखादि प्रत्यक्षका करण है। द्रव्य गुणका आश्रय है । गुणशून्य होकर द्रव्य नही रह सकता है। वैशेषिकके मतमे आकाश किसी द्रव्यका आरम्भक नही है । आकाश विभु और शब्दका आश्रय है । जागतिक कोई पदार्थ आकाशसम्बन्धसे रहित नही है। जिस पदार्थमें गुणत्व जाति है उसे गुण कहते है। गुण २४ प्रकारके हैं, यथा-रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म्म और अधर्म्म। परिणाम चार तरहका है अणु, महत्, ह्रस्व और दीर्घ। गुणोंके अलग अलग लक्षण मूलग्रन्थमें द्रष्टव्य हैं।

कर्म पांच प्रकारका है, उत्क्षेपण अर्थात् ऊर्ध्व-क्षेपण, अवक्षेपण अर्थात् निम्नक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन । सामान्यका अर्थ जाति है। जाति दो तरहकी होती है, परा और अपरा, अधिक देशवृत्ति जाति परा और अल्प देशवृत्ति जाति अपरा है, यथा—मनुष्यत्व, अश्वत्व, गोत्व, आदि अपरा और प्राणित्व परा जाति है । विशेषका अर्थ किसी किसीने व्यक्ति कहा है, यथा सामान्य अर्थ जाति और विशेष अर्थ व्यक्ति है, परन्तु सबकी सम्मति ऐसी नही है । उनके विचारमें जिस असाधारण धर्म्मके द्वारा निरवयव पदार्थोंकी परस्पर भेदसिद्धि होती है उसीका नाम विशेष है । वैशेषिक मतावलम्बी लोग कहते हैं कि, द्व्यणुकसे लेकर घटादिपर्य्यन्त समस्त सावयव द्रव्योंका परस्पर भेद अपने अपने अवयवभेदसे सिद्ध होता है, परन्तु जिस धर्म्मके द्वारा निरवयव एक जातिके दोनों परमाणुमें पारस्परिक भेद सिद्ध होता है उसीका नाम विशेष है। इसी विशेष पदार्थके विश्लेषणरूप हेतु से ही इसका नाम वैशेषिकदर्शन हुआ है। समवाय नित्य सम्बन्ध है। तन्तुके साथ वस्त्रका, गुणके साथ गुणीका, घटके साथ मिट्टी का या जातिके साथ व्यक्तिका जो नित्य सम्बन्ध है, उसीको ही समवाय सम्बन्ध कहते है। अभावके दो भेद हैं, संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव अर्थात् सम्बन्धका अभाव तीन प्रकारका है, यथा—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। सूत्रमें वस्त्रका

प्रागभाव है, घट चूर्ण हो जानेसे या देह भस्म हो जानेसे पूर्व उसमें उसका प्रध्वंसाभाव और जडमें चेतनका अत्यन्ताभाव है। अन्योन्याभाव, यथा–अश्व गज नहीं है इस लिये अश्वमे गजका जो अभाव है, या गजमें अश्वका जो अभाव है, उसे अन्योन्याभाव कहते हैं। महर्षि कणादकी सम्मतिमें ऊपरके छः पदार्थ भाव पदार्थ हैं और भावका अभाव ही अभाव पदार्थ है। वैशेषिकदर्शनके अनुसार इन षट्भाव पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मुक्ति होती है।

वैशेषिकदर्शनमें ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार किया गया है, परन्तु जीवकी मुक्तिके साथ उसका सम्बन्ध विशेष नहीं बतलाया गया है। उनकी सम्मतिमें पदार्थोंके तत्त्वज्ञानके द्वारा अदृष्टका नाश होता है जिससे जीवको मुक्ति मिलती है।

(योगदर्शन)।

योगदर्शनके प्रवर्त्तक श्रीभगवान् पतञ्जलि हैं। इसमें कुल १६५ सूत्र हैं, जिनपर श्रीभगवान् वेदव्यासने भाष्य किया है। योगदर्शनके चार पाद हैं, यथा—समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद। इसका और एक नाम सांख्यप्रवचन है। इसका कारण यह है कि, श्रीभगवान् पतञ्जलिने सांख्य-दर्शनके प्रवर्त्तक महर्षि कपिलके दार्शनिक सिद्धान्तोंको ग्रहण किया है। सांख्योक्त पञ्चविंशति तत्त्व अर्थात् पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा, एकादश इन्द्रिय और पञ्च महाभूत इसमें स्वीकृत हुए हैं। परन्तु पतञ्जलिजीने इसके सिवाय और एक तत्त्वका प्रचार किया है, वह तत्त्व ईश्वर है, ईश्वर सांख्योक्त पुरुष नहीं है, परन्तु पुरुषविशेष है। पातञ्जलिमें सूत्र है कि:—

क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।
तत्र निरतिशयं सार्वज्ञबीजम्।
स एष पूर्व्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

जो विशेष पुरुष क्लेश, कर्म्म, कर्म्मफल और संस्कारके सम्बन्धसे रहित है, वही ईश्वर हैं। उनमें चरम ज्ञानका बीज है। कालके द्वारा अवच्छिन्न न होनेसे ये ब्रह्मादिके भी गुरु हैं। अन्यान्य पुरुष अर्थात् सांख्यकथित बहुपुरुष इस दर्शनकथित ईश्वरकी तरह नहीं हैं। उनमें क्लेश, कर्म्म, कर्म्मफल और संस्कार-का सम्बन्ध है। क्लेशादि भोगके हेतु हैं। ईश्वरमे क्लेशादिके न रहनेसे उनका

भोग नहीं है। क्लेशादि अन्तःकरणके धर्म्म होने पर भी सान्निध्यवशात् पुरुषमें भी उपचरित होते हैं। पुरुष उनके भोक्ता है। क्लेश पांच प्रकारके है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश । मिथ्या ज्ञानको अविद्या कहते है। योगदर्शनमें कहा है कि:—

अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिरविद्या ।

अनित्य वस्तुमे नित्यत्वज्ञान, अशुचि शरीरादिकोंमें शुचित्वज्ञान, दुःखमें सुखज्ञान और अनात्मा देहादिकोंमे आत्मज्ञान अविद्या है। संसारके सब सुखोंके साथ दुःख मिला हुआ है। इस लिये परिणाम-ताप संस्कार-दुःखमिश्रित सांसारिक सुखमें अज्ञानीलोगोंके मत्त होने पर भी विवेकी लोग उसे दुःख ही समझते है। बुद्धि और पुरुष वास्तवमे भिन्न भिन्न होने पर भी दोनोंकी एक-रूपताज्ञानका नाम अस्मिता है। राग द्वेषके विषयमें योगदर्शनमें लिखा है कि:—

सुखानुशायी रागः। दुःखानुशायीद्वेषः।

सुखके विषयमें अभिलाषका नाम राग, और दुःखसाधनमें चित्तके विराग-का नाम द्वेष है। अभिनिवेश अर्थात् मृत्युभय जो कि, प्राकृत सस्कारके कारण विद्वान् अविद्वान् सभीको होता है। यही पांचप्रकारके क्लेश हैं। इसके द्वारा ससारमें जीवको दुःख मिलता है, योगदर्शन इसी दुःखसे मुक्त करके पुरुषको स्वरूपमें प्रतिष्ठित करता है। पातञ्जलिदर्शनके मतमें तत्त्व २५ पच्चीस नही है २६ छब्बीस है, परन्तु इन तत्त्वोंकी आलोचना योगदर्शनका मुख्य विषय नही है। योग ही इस दर्शनका मुख्य विषय है। योगका स्वरूप, साधन, गौणफल विभूति और मुख्य फल कैवल्यका तत्त्वनिर्णय, इसका प्रतिपाद्य विषय है।

योगशास्त्र चिकित्साशास्त्रकी तरह चार पर्वमें विभक्त है। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र रोग, निदान, आरोग्य व औषधि इन चार अध्यायोंमें विभक्त है, उसी प्रकार योगशास्त्रके भी चार पर्व्व हैं। यथा—हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय। अन्यान्यदर्शनोंकी तरह पातञ्जलि दर्शनके मतमे भी ससार दुःखमय है, अतः हेय है। सूत्रमें कहा है कि:—

"दुःखमेव सर्व्वं विवेकिनः"

विवेकीके अर्थ सब संसार ही दुःखमय है। हेयरूपी संसारका हेतु, हान और हानोपायके लक्षण सूत्रोंमें निम्नलिखित रीति से वर्णित है:—

दृग्दृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।

इस हेय संसारका निदान, अर्थात् हेतु प्रकृति-पुरुषका संयोग है। परन्तु प्रकृतिपुरुषसंयोगजन्य इस संसारका उच्छेद होना सम्भव है, इसीको हान कहते हैं। इस हानका उपाय प्रकृति पुरुषका यथार्थतः भेद ज्ञान है। इस प्रकार प्रकृति पुरुषका भेदज्ञान ठीक ठीक होनेसे मोक्ष होता है। सांख्यदर्शनके मतमें २५ तत्त्वोंके ज्ञानसे यह ज्ञान होता है, परन्तु योगदर्शनके मतमें योगके द्वारा ही एतादृश विवेक हो सकता है। योगका लक्षण यह है:—

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"

चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम योग है। चित्तकी पांच अवस्था या भूमि है। यथाः-मूढ, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमें प्रथम तीन अवस्था योगावस्थाके नीचे व्युत्थानदशामें होती हैं। तमोगुणके आधिक्यसे प्रमाद या मोहके द्वारा आच्छन्न अवस्था ही मूढ है। रजोगुणके आधिक्यसे चञ्चल-अवस्था क्षिप्त है। और कभी कभी सत्त्वगुणके उदय होनेसे चित्तकी जो वृत्तिशून्य निश्चल अवस्था होती है उसका नाम विक्षिप्त है। यह अवस्था क्षणिक होती है। इन तीनोंके अतिरिक्त एकाग्र दशामें योग द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध होना प्रारम्भ होता है। इस एकाग्रवृत्तिसे परे निरुद्धवृत्तिका उदय होता है, वही पांचवी वृत्ति है और इसी वृत्तिमें योगकी प्राप्ति होती है। चित्तकी पञ्चावयववृत्ति क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेदसे द्विधा विभक्त है। साधारणतः राजस तामस वृत्ति क्लिष्ट और सात्त्विक वृत्ति अक्लिष्ट है। इस प्रकार द्विधा भिन्न वृत्ति पञ्चावयव है। यथाः—प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। प्रमाण तीन प्रकारका है:—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। विपर्य्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान, यथा-शुक्तिमें रजतज्ञान। वस्तु न होनेपर भी शब्दज्ञानके कारण जो वृत्ति है उसे विकल्प कहते है। यथा-आकाशकुसुम या शशशृङ्ग। सुषुप्तिकालीन चित्तवृत्तिका नाम निद्रा है। निद्राके अनन्तर निद्राकालका सुख स्मरण रहता है इस लिये निद्राको भी वृत्ति कही गई है। चित्तमें रहे हुए विषयका पीछेसे स्मरण करना स्मृति है। इन पांचोंसे अतिरिक्त और वृत्ति नही है। चित्तके साथ पुरुषका संयोग रहनेसे वे सब

वृत्तियाँ पुरुषमें उपचरित होती हैं। योगके द्वारा इनके निरोध होनेसे इनका प्रतिबिम्ब पुरुष पर नहीं पड़ता है। उस समय क्या अवस्था होती है सो श्रीभगवान् पतञ्जलिजी वर्णन करते हैं कि:—

"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"

तब पुरुष अपने स्वरूपमें अवस्थान करते हैं। इस प्रकारसे योगकी प्राप्ति द्वारा स्वरूप-साक्षात्कार होने से कैवल्यकी प्राप्ति होती है। यही योगका फल है। इसी योग फलके प्राप्तिके उपायके विषयमें पूज्यपाद महर्षिने यह कहा है कि:—

"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः"

चित्तवृत्तिके निरोधका उपाय अभ्यास और वैराग्य है। स्वरूपमें स्थित होनेके लिये यत्न करना अभ्यास है। दृष्ट तथा अदृष्ट विषयोंमें वितृष्णाका नाम वैराग्य है। अभ्यास और वैराग्य द्वारा चित्तकी एकाग्रता पूर्ण होकर पश्चात् निरुद्ध दशा प्राप्त होती है। इसीका नाम योग या समाधि है। समाधिकी भी दो अवस्थायें हैं, यथा—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। असम्प्रज्ञातके भी चार भेद हैं, यथा—वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता। जब तक स्थूल सूक्ष्म जगत्के साथ, उससे परे जो पुरुष उसका सम्बन्ध रखकर वृत्ति-निरोध होता है वह दशा वितर्ककी है। जगत्को छोड़कर केवल पुरुषसत्ताके अवलम्बनपूर्वक निरोधका नाम विचार है। पुरुषमें प्रतिबिम्बित आनन्दभावमें चित्त-निरोध करके उसकी ही उपभोगदशा आनन्दपदवाच्य है। उससे भी परे केवल अपने अस्तित्वका अनुभव करानेवाली निरोध दशाका नाम अस्मिता है। सविकल्प या सम्प्रज्ञात समाधिकी इन चारो दशाने ही प्रकृतिका सूक्ष्म सम्बन्ध रहता है। इससे परे असम्प्रज्ञात या निर्विकल्प समाधिकी भूमि है जिसमे प्रकृतिका सम्बन्ध बिलकुल नही रहता है। इस भूमिको प्राप्त होकर समाधिस्थित होनेपर ही योगदर्शनके सिद्धान्तानुसार द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान होता है और यही योगदर्शनका लाभ है।

(सांख्यदर्शन)।

सांख्यदर्शनके प्रवर्त्तक महर्षि कपिल हैं। तत्त्वसमास, सांख्यप्रवचन आदि इसके कई ग्रन्थ मिलते हैं। ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिका भी आजकलके प्रामाणिक ग्रन्थोंमे है। सांख्यदर्शनका कौन ग्रन्थ प्राचीन है इस विषयमें मतभेद

होने पर भी विज्ञानभिक्षुने सांख्यप्रवचनका ही प्रामाण्य निरूपण किया है। सांख्य प्रवचनके सूत्र छः अध्यायोंमें विभक्त हैं।

पूर्व्वकथित दर्शनोंकी तरह सांख्यदर्शनका भी प्रतिपाद्य दुःखनिवृत्ति है। संसार दुःखमय है, पुरुषार्थके द्वारा वह दुःख दूर होता, ज्ञान ही परम पुरुषार्थ है, ज्ञानके द्वारा मनुष्योंका दुःखनाश और उनका मुक्तिलाभ होता है, इसलिये सांख्यसूत्रमें लिखा है कि:—

"ज्ञानान्मुक्तिः"

ज्ञानसे मुक्ति होती है। वह ज्ञान प्रकृति और पुरुषका पार्थक्यज्ञान है। महर्षि कपिलदेवजीने कहा है कि:—

कुत्राऽपि कोऽपि सुखीति तदपि दुःखशबलमिति
दुःखपक्षे निक्षिपन्ति विवेचकाः।

ससारमें सुख बिलकुल नही है। ससारमें जो कुछ सुख है, वह भी दुःखसे मिश्रित होनेके कारण दुःखरूपी है ऐसा विवेचक लोग निश्चय करते हैं। सांख्यदर्शनमें इस दुःखको तीन प्रकारसे विभक्त किया है। यथा-आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। आध्यात्मिक दुःख दो प्रकारके हैं, शारीरिक और मानसिक। रोगादिजनित दुःख शारीरिक और काम, क्रोध, लोभ, ईर्षा, शोक आदि-जन्य दुःख मानसिक है। देवतासे अर्थात् वात, वृष्टि, वज्रपात आदिसे उत्पन्न दुःख आधिदैविक है। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि भूतोंसे उत्पन्न दुःख आधिभौतिक है। जबतक शरीर है, तबतक ये तीन दुःख भोगने ही पड़ेंगे। दुःख उपादेय नही है, हेय है। उनका हान अर्थात् निवृत्ति सकल जीवोंको अभीप्सित है और क्षणिक निवृत्तिमें विशेष लाभ नही है। अतः दुःखनिवृत्ति आत्यन्तिक होना चाहिये। यही जीवका पुरुषार्थ है। इसलिये सांख्यकारने सूत्र कहा है कि:—

"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः"

त्रिविध दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति ही अत्यन्त पुरुषार्थहै। लौकिक उपायके द्वारा त्रिविध दुःखकी निवृत्ति होनेपर भी अत्यन्त निवृत्ति नही होती है, क्योंकि, देखनेमें आता है कि, औषधिसेवनके द्वारा शारीरिक दुःखकी और इष्टसाधनके द्वारा मानसिक दुःखकी निवृत्ति होनेपर भी उसका फल क्षणिक होता है, स्थायी

नही होता। अतः लौकिक उपायसे दुःखनिवृत्ति नही हो सकती। दुःखनिवृत्तिके लिये वैदिक उपाय है। वेदोक्त यज्ञादिके अनुष्ठानसे जीवको सुखमय स्वर्गलाभ हो सकता है, परन्तु वह भी उपाय समीचीन नहीं है, क्योंकि, कर्म्मके तारतम्यानुसार स्वर्गसुखमें भी तारतम्य होता है, इससे स्वर्गवासियोंमें ताप-दुःख होना अवश्यम्भावी है। द्वितीयतः पुण्यकर्म्मके क्षय होनेसे स्वर्गवासियोको पुनः दुखमय ससारमें लौट आना पड़ता है, इसलिये सांख्याचार्य्यने कहा है कि, दुःखनिवृत्तिके लिये लौकिक या वैदिक कोई भी उपाय ठीक नही है।

सांख्यदर्शनकी सम्मतिमें दुःखनिवृत्तिका ऐकान्तिक उपाय प्रकृति और पुरुषका विवेक है। सांख्यकारिकामें कहा है कि:—

"तद्विपरीतः श्रेयान्व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानात्"

प्रकृति और पुरुषका भेद साक्षात्कार ही श्रेष्ठतर उपाय है, वह व्यक्त अर्थात् विकृति, अव्यक्त अर्थात् प्रकृति और ज्ञ अर्थात् पुरुष, इन तीनोंके विशेष ज्ञानसे उत्पन्न होता है। सांख्यकारिकामें कहा है कि:—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्य्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥

तत्त्वोंके पुनः पुनः अभ्यास करनेसे भ्रमरहित विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है, जिससे पुरुषको मालूम होता है कि, यह प्रकृतिका कर्त्ता, भोक्ता कुछ भी नही है, उससे बिलकुल अलग निष्क्रिय ज्ञानरूप और साक्षीरूप है। इस दशामें सुख दुःख दोनोका ही तिरोधान होता है। प्रकृति नित्य, अव्यय, इन्द्रियों और महत्तत्त्वके परे, आदिमध्यहीन और ध्रुव है। सांख्यसूत्रमें लिखा है कि:—

प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुंकुमवहनवत्।
अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितम्प्रधानस्य। कर्म्मवद्दृष्टेर्वा कालादेः।

प्रकृति स्वयं ही सृष्टि करती है, वह सृष्टि अपने लिये नही करती है, परन्तु उष्ट्रके कुंकुमवहनकी तरह पुरुषके भोग और मोक्षके साधनके लिये करती है। जिस प्रकार वत्सकी पुष्टिके लिये अचेतन दुग्धकी स्वतः प्रवृत्ति होती है,

अथवा एक ऋतुके बाद एक ऋतु स्वतः ही आता है, उसी प्रकार अचेतन प्रकृति भी पुरुषके भोग और मोक्षके लिये स्वतः ही परिणामको प्राप्त होती है।

प्रकृतिका इस प्रकार परिणाम चेतन पुरुषके सान्निध्यमात्रसे सम्पन्न होता है। सांख्यदर्शनमें कहा है कि:—

"तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वंमणिवत्"

चुम्बकके कुछ न करनेपर भी केवल सामने रहनेपर जिस प्रकार लोहेमें प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार निष्क्रिय पुरुषके सान्निध्यमात्रसे ही प्रकृतिका महदादिरूपेण परिणाम होता है। प्रकृतिकी साम्यावस्था नष्ट होनेपर जो पहिला परिणाम होता है उसको महत्तत्त्व कहते है। महत्तत्त्वका विकार अहतत्त्व है। निर्विशेष सूक्ष्म पञ्चभूतको पञ्चतन्मात्रा कहते हैं। अहंकारतत्त्वके विकारसे यथाक्रम पञ्चतन्मात्रा और एकादश इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं। पञ्च ज्ञानेद्रिय, पञ्च-कर्मेन्द्रिय और मन, यह एकादश इन्द्रिय हैं। अविशेष पञ्चतन्मात्रासे विशेष पञ्च स्थूलभूत, क्षिति अप् तेज मरुद् व्योम उत्पन्न होते हैं। सांख्यका २५ पचीसवाँ तत्त्व पुरुष है। वह असग, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वभाव है। प्रकृति जड़ और पुरुष चेतन, प्रकृति परिणामिनी और पुरुष निर्विकार, प्रकृति गुणमयी और पुरुष निर्गुण, प्रकृति दृश्य और पुरुष द्रष्टा, प्रकृति भोग्य और पुरुष भोक्ता, कूटस्थ, असग, अकर्ता एवं साक्षीमात्र है। सांख्यके मतमें प्रकृति एक, परञ्च पुरुष बहु हैं। सांख्यसूत्रमें कहा है कि:—

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्।

बहुत पुरुष स्वीकार नहीं करनेसे जन्मादिकी व्यवस्था नही होती है।

सांख्यज्ञान-भूमिमें आरोहण करनेपर साधकको भी ऐसी उपलब्धि होने लगती है। सांख्य ज्ञानभूमिके अनुसार जो स्वरूपकी उपलब्धि होती है, वह व्यष्टि शरीरावच्छिन्न कूटस्थ चैतन्यकी उपलब्धि है। उस समय अद्वितीय व्यापक चैतन्यके साक्षात्कार न होनेसे और प्रतिपिण्डमे भिन्न भिन्न कूटस्थ आत्माका साक्षात्कार होनेसे बहु पुरुषवाद सांख्यज्ञान-भूमिके अनुसार ठीक है। सांख्यके मतमें सृष्टि दशामें प्रकृति और पुरुष परस्पर संयुक्त रहते हैं, इसी कारण पुरुषका गुण प्रकृति और प्रकृतिका गुण पुरुषमें उपचरित होता है। सांख्यकारिकामें लिखा है कि:—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥

जिस प्रकार अन्ध और पङ्गुको अलग अलग होकर किसी कार्य करनेकी शक्ति नहीं है, परन्तु दोनों मिलनेपर कार्यसम्पन्न होता है। अन्धके पंगुको कन्धेपर लेनेसे दर्शनशक्तिसम्पन्न पगु और चलनेवाला अन्ध, दोनो मिलकर अच्छे मनुष्यकी तरह कार्य्य कर सकते है, ठीक उसी प्रकार निष्क्रिय तथा चेतन पुरुष और सक्रिय तथा अचेतन प्रकृति, दोनोंके संयोगसे सृष्टिक्रिया होती है। सृष्टिका उद्देश्य, पुरुषका भोग और मोक्षसाधन है। जिस प्रकार कार्य्यसिद्धि हो जानेके बाद अन्ध और पगु अलग अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार विवेकके द्वारा पुरुष प्रकृतिको देखकर अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, असङ्ग, अकर्त्ता और निष्क्रिय स्वभावको समझकर प्रकृतिसे अलग हो जाता है। यही सांख्य शास्त्रानुसार पुरुषकी मुक्ति है।

सांख्यदर्शनमें उसकी ज्ञानभूमिके अनुसार ईश्वरके सिद्ध नहीं होनेपर भी अलौकिक प्रत्यक्ष विज्ञानके द्वारा ईश्वरकी सिद्धि सर्वथा की गई है। इस तत्त्वको न जानकर बहुत लोग इस दर्शनको निरीश्वर सांख्य कहा करते हैं, सो ठीक नहीं है।

(कर्ममीमांसा दर्शन)।

वेदका प्रथम काण्ड कर्म्मकाण्ड है, उस कर्मकाण्डकी मीमांसा करनेवाले दर्शनशास्त्रको कर्म्ममीमांसा दर्शन कहते हैं। इसको पूर्वमीमांसा भी कहते है। महर्षि जैमिनी इसके प्रवर्त्तक है। इसमें बारह अध्याय हैं। यज्ञ, अग्निहोत्र, दान आदि विषय इसमें वर्णित हैं।

इस कर्म्ममीमांसा दर्शनके मतमें वेदका कर्म्मकाण्ड ही सार्थक है, अन्य काण्डोंका कोई भी प्रयोजन नही है। इस मीमांसामें कहा है कि:—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।

कर्म ही वेदका प्रतिपाद्य होनेसे कर्म्मके सिवाय वेदका और अंश वृथा है। वेदमें जो तत्त्वज्ञानका उपदेश किया गया है, उसका उद्देश्य, देहसे भिन्न आत्माका अस्तित्व प्रमाण करके जीवको अदृष्ट स्वर्ग आदिके साधनरूप यागयज्ञमें प्रवृत्त करना है, ऐसा जैमिनी-मीमांसाका सिद्धान्त है।

इस मीमांसा दर्शनके मतमें वेद नित्य, अभ्रान्त और अपौरुषेय है। वेदके रचयिता और कोई नहीं है। ऋषि मन्त्रोंके द्रष्टामात्र हैं। वेदका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है। उसमें जीवोंके कल्याणके लिये यज्ञधर्मका प्रतिपादन किया गया है, यथा:—

"यजेत स्वर्गकामः"

स्वर्गकी कामनासे यज्ञ करना चाहिये।

यजतेर्जातमपूर्व्वम्।
अपाम सोमं अमृता अभूम।
अक्षय्यं ह व चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति।
सर्व्वान् लोकान् जयति, मृत्युं तरति, पाप्मानं
तरति, ब्रह्महत्यां तरति, योऽश्वमेधेन यजते।

यज्ञ द्वारा अमृतत्व लाभ होता है। हम लोग यज्ञीय सोमपान करके अमर होगये हैं। चातुर्मास्य याग करनेवालेको अक्षय्य पुण्यका लाभ होता है। अश्वमेध यज्ञ करनेसे समस्त लोकोंको जय करते हैं एव मृत्यु, पाप और ब्रह्म-हत्यासे उत्तीर्ण होते है। इत्यादि वैदिक सिद्धान्त इस पूर्वमीमांसाका प्रतिपाद्य है।

इस मीमांसाके मतमें यज्ञ ही मुख्य है। इन्द्रादि देवताओंके नामसे यज्ञ करनेपर भी वे गौण है, प्रयोजक नहीं है। इस मीमांसामें लिखा है कि:—

देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वात्।
अपि वा शब्दपूर्व्वत्वाद्यज्ञकर्म्म प्रधानं स्याद्गुणत्वे देवताश्रुतिः।

इस मीमांसाके सिद्धान्तानुसार देवताकी पृथक् सत्ता नही है। मन्त्रही देवता है। महर्षि जैमिनीके मतमें यज्ञ ही मोक्षफलका देनेवाला है, परन्तु क्रिया, क्रम व उच्चारण ठीक ठीक न होनेसे यज्ञ द्वारा अभीष्ट लाभ नही होता है। इस दर्शनमें ईश्वरका नाम नही है, परन्तुः—

"ब्रह्मापीत चेत्"

इस सूत्रमें ब्रह्मका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। महर्षि जैमिनिने वेदको अपौरुषेय कहा है, परन्तु ईश्वरवाक्य नही कहा है। उनके मतमें वेदका कर्त्ता कोई नहीं हो सकता है। शब्दका नित्यत्व और एकत्व ही वेदका मूल है, इसलिये महर्षिजीने कई एक सूत्रोंमें शब्दकी नित्यत्व सिद्धि की है। इस दर्शनमें

वेदोक्त यज्ञोंको ही मुख्य माना गया है। इस दर्शनका प्रधान सिद्धान्त यह है कि, वेदोक्त कर्म्मकाण्ड साधकको सब कुछ फल दे सकते है। साधक वेदोक्त कर्म्म करता हुआ स्वर्गादि सब उन्नत लोकोंको सुगमतासे प्राप्त कर सकता है और मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार वेदोक्त कर्म्मोंकी पूर्ण शक्ति प्रतिपादन करनेसे, अगत्या इस दर्शनशास्त्रको ईश्वर और उसके अंश देवताओंका गौणत्व दिखाना पड़ा है एवं इसी कारण इस दर्शनशास्त्रमें सकाम कर्म्मकाण्डको ही मुख्यता दी है। इस प्रकारसे महर्षि कपिलकृत सांख्यदर्शन और महर्षि जैमिनिकृत कर्म्म-मीमांसादर्शनोंमें ईश्वरको परम्परा सम्बन्धसे माननेसे कुछ दूषण नही है, किन्तु अपने विज्ञानके बाहर स्थित ईश्वरको प्रकारान्तरसे माननेसे उक्त दोनों दर्शनोंका भूषण ही है।

इस प्रकारसे श्रीजैमिनिदर्शन वेदोक्त विशेष कर्म-विज्ञान और साधारण कर्मविज्ञानका सिद्धान्त निर्णायक है। दर्शनके विना अध्ययन किये अन्य मीमांसादर्शनोंमे प्रवेश करना सुविधाजनक नहीं होता है। इसी कारण इसको पूर्व्वमीमांसादर्शन कहते है।

(भक्ति मीमांसादर्शन)।

श्रीभगवान् सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। उनका पूर्ण रूपसे साक्षात्कार करना हो तो सद्भाव, चिद्भाव और आनन्दभावकी प्राप्तिके द्वारा ही उनका साक्षात्कार हो सकता है। इसी कारण इन तीन प्रकारके भावोंकी प्राप्तिके लिये ही तीनों मीमांसाका विज्ञान कहा गया है। सद्भावके साथ कार्य्य ब्रह्मका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, इसी कारण पूर्व्वमीमांसा (कर्म्ममीमांसा) दर्शन कर्म्ममार्गके सहारेसे ही मुमुक्षुको विराट्‌रूपी कार्य्यब्रह्ममें व्यापक सद्भावकी प्राप्ति कराता है। चिद्भावके साथ कारणब्रह्मका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, इसी कारण उत्तरमीमांसा (वेदान्त) दर्शन ज्ञानमार्गके सहारेसे ही मुमुक्षुको प्रकृतिसे अतीत कारणब्रह्मके चिद्भावकी प्राप्ति कराता है और आनन्दभाव चित् एवं सद्भावमें व्यापक है, इसी कारण भक्तिमीमांसा (मध्यमीमांसा) दर्शन मुमुक्षुको ऊपर लिखित दोनों मीमांसाके साथ विरोध न रखता हुआ ब्रह्मानन्दसागरमें लीन करके कृतार्थ कराता है। ये तीनों भाव एक ही परमभावके अङ्गरूप होनेसे परस्परके इन भावोंमें इस प्रकार सम्बन्ध है कि, एक भावकी प्राप्तिसे अन्य दोनों भाव स्वतः प्राप्त होते हैं। एवं इसी कारणसे तीनों मीमांसाका साधनमार्ग भिन्न भिन्न होनेपर भी लक्ष्य एक

होनेसे इनमें वास्तवमें भेद प्रारम्भसे ही नही रक्खा गया है। अन्नके परिणामरूप शरीरकी रक्षाके लिये शरीरके यन्त्रोंमेंसे मुख प्रधान है, अन्य मतसे पाकस्थली मुख्य है, तृतीय मतसे हृद्‌यन्त्र प्रधान है, इस प्रकार मतभेद विचारवान् पुरुषके लिये कुछ भी नही कर सकता है, क्योंकि, अन्न प्रथम मुखके द्वारा ही पाकस्थली-में प्रवेश करके रसरूपसे हृदयमें प्रवेश करता है और वहां रक्त बनकर सारे शरीरकी रक्षा करता है, इस कारण शरीरकी रक्षाके लिये तीनों यन्त्र जिस प्रकार समान उपकारी और सहयोगी है उसी प्रकार एक ही ब्रह्मके तीन प्रकारके भावोंके सहारेसे ब्रह्ममार्गमें चलनेवाली तीनों मीमांसाका लक्ष्य एक ही होनेसे सब परस्परमें उपकारी और सहयोगी है इसमें सन्देह नही। जो उन्नत ज्ञानके पदपर स्थित है वे कर्म्म और भक्तिके लक्ष्यरूप अन्तिम-भावमें अवश्य ही पहुचे हुए होंगे। इसी प्रकारके यथार्थ कर्म्मयोगी और भक्तके लिये भी दूसरे दो अधिकार प्राप्त करना सुगम होता है। इसी कारण तीनों मीमांसाओंमें मतभेद देखकर सदेह करनेकी आवश्यकता नहीं है।

ऊपर लिखित मतभेद हानिकारक न होनेपर भी भक्तिमीमांसादर्शनमे विशेषता है कि, योगदर्शनके समान इसके साथ किसी दर्शनका भी मतभेद नही है। कारण यह है कि, इस मीमांसादर्शनके प्रतिपादन करनेका विषय परमात्माकी आनन्दसत्ता है, एव आनन्दसत्ताके सत् और चित् दोनोंमें ही व्यापक होनेसे सद्भाव और चिद्भाव दोनोंमें ही आनन्दभावकी प्राप्ति होती है। भक्तिमीमांसादर्शनमें इसी आनन्दका ही वर्णन किया गया है। वेदमें कहा है कि—

"रसो वै सः" "आनन्दरूपं परमं यद्विभाति"

इन मन्त्रोंके द्वारा श्रीभगवान्‌को रसरूप अर्थात् आनन्दरूप कहा है। उनकी यही आनन्दसत्ता सत् और चित् दोनोंके भीतर होकर ही प्राप्त होती है। सत्‌के साथ कार्य्यब्रह्मका सम्बन्ध होनेसे सद्भावसे मिला हुआ आनन्दप्रकृति में प्रतिबिम्ब-युक्त होकर जीवके अनुभवमें आता है। इसी कारण इस आनन्दको सुख कहते है। पुत्रके प्रति स्नेह, स्त्री मित्रादिके प्रति प्रेम, गुरुजनोंपर श्रद्धा आदि, यही सब लौकिकरसमें गिने जाते है। परन्तु जब साधकका चित्त लौकिकरसका लौकिकपना और नाशवान होना जानकर उससे वैराग्ययुक्त होता हुआ अलौकिक

(साक्षात् चित्सम्बन्धयुक्त) आनन्दमें डूबनेके लिये परिश्रम करता है तब ही यह रस भगवद्भक्तिरूपसे प्रकट होकर साधकको क्रमपूर्वक "वैधी" और "रागात्मिका" रूप भक्तिकी दो कक्षाओंमें धीरे धीरे उन्नत करता हुआ अन्तमें "पराभक्ति"के पदपर स्थापित और आनन्दसमुद्रमें डुबा देता है, वैधी और रागात्मिका दोनों ही गौणी भक्ति हैं। भक्तिकी वैधी अवस्थामें साधक श्रवण, कीर्त्तन, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, आदि नौ प्रकारकी सीढ़ियोंपर क्रमपूर्वक चढ़ते चढ़ते भगवान्में अनुराग होनेके लिये अभ्यास करता है। तत्पश्चात् इसी प्रकार अभ्यास करते करते जब उसके ऊपर भगवान्की कृपा होती है, तब उसी अभ्यासके फलसे भगवान्के प्रति अनुराग प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। इसीका नाम भक्ति है। यथा भक्तिदर्शनमें—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' परमात्मामें परम अनुरागका नाम भक्ति है। 'सा त्वस्मै परमप्रेमरूपा' यह नारद सूत्र है। विषयीका जिस प्रकार विषयमें अनुराग होता है, भक्तके चित्तमें इस समय ठीक वैसा ही भगवान्के प्रति अनुराग या एक प्रकारकी आसक्ति होती है। इस दर्शनका मत यह है कि, भावरूप दृश्यमान संसार चौदह भागमें विभक्त होनेसे वह आसक्तिप्रकाशक रस भी चौदह प्रकारका होता है। उनमेंसे वीर, करुण, हास्य, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, रौद्र, ये सात रस गौण, एवं दास्य, सख्य, कान्त, वात्सल्य, आत्मनिवेदन, गुणकीर्त्तन, तन्मय, ये सात रस मुख्य हैं।

इन चौदह रसोंके द्वारा ही साधक भगवान्के राज्यमें आगे बढ़ सकता है। तो भी मुख्य रसोंके द्वारा साक्षात् रूपसे, एव गौण रसोंके द्वारा परम्परारूपसे उन्नत होता है। भावके वैचित्र्यके कारण मुख्य आसक्तिसे युक्त भक्तोंमेंसे कोई उनको दासभावसे, कोई सख्यभावसे, कोई कान्तभावसे, कोई वात्सल्यभावसे, कोई आत्मनिवेदनभावसे, कोई गुणकीर्तनभावसे, कोई तन्मयभावसे, इसी प्रकार अनेक भावोंसे भगवान्के प्रति अनुरागवान् होकर साधक संसारकी लौकिक वासनाओंको त्याग करता हुआ अत्यन्त आनन्द और शान्तिको प्राप्त करता है। इसी प्रकार उनके आनन्दभावमें भगवान्के भक्त तीव्र संवेग (परवैराग्य) के आश्रयसे जगत्की सब वस्तुओंको त्याग करके जब रातदिन मनरूपी भ्रमरको भगवान्के चरणकमलके मकरन्द (पुष्परस) के पीनेमें तत्पर रखता है, एव अन्य सब विषयोंको त्याग करता हुआ उनके ही ध्यानमें उन्मत्त (पागल) रहता है, तब धीरे धीरे भगवान्की कृपासे साधककी

ऐसी एक उन्नत अवस्था आ उपस्थित होती है कि, जिस समयमें वह तन्मय होकर ध्येयरूप भगवान्‌के साथ अपनी "जुदाई" भूल जाता है। इसी तन्मय-भावकी पूर्णता होने पर फिर उसकी ध्याता, ध्यान, ध्येयरूपी त्रिपुटी नहीं रहती है, वह परमात्माके साथ एकता प्राप्त होकर 'वासुदेवः सर्व्वम्" अर्थात् सब स्थानोंमें ही परमात्माकी सत्ता देख सकता है। यही पराभक्तिकी अवस्था है। इस अवस्थामें भक्तिके साथ ज्ञानका कोई भेद नहीं रहता है, एव इसी प्रकारका ज्ञानी भक्त निर्विकल्प समाधिकी पदवीपर आरोहण करता है। प्रकृतिमें प्रतिबिम्बित आनन्दके साथ उसका सम्बन्ध इसी स्थानमें आकर सम्पूर्णरूपसे बन्द हो जाता है, एवं तब वह साक्षात् चिदानन्द सागरमें मग्न होता हुआ जीवभावसे मुक्त होकर ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। यही भक्ति मीमांसादर्शनका प्रतिपाद्य विषय है।

इस दर्शनके महर्षि शाण्डिल्यकृत 'भक्तिसूत्र' और देवर्षि नारदकृत 'नारद सूत्र' ये दो ग्रन्थ मिलते हैं। किन्तु इन पर किसी विद्वान्‌का भाष्य न रहनेसे इनका पठन पाठन बहुत कम हो गया है।

(ब्रह्ममीमांसादर्शन)।

वेदोक्त ज्ञानकाण्डकी प्रतिष्ठा वेदान्तदर्शन (ब्रह्ममीमांसादर्शन) की लक्ष्यीभूत है। यह दर्शन सप्तम ज्ञानभूमिका होनेसे और सब दर्शनोंका शीर्षस्थानीय है। इसके प्रवर्त्तक महर्षि वेदव्यास हैं। वेदके अन्तिम अर्थात् ज्ञानकाण्डका प्रतिपादक होनेसे इस दर्शनको उत्तरमीमांसा भी कहा जाता है और ब्रह्म ही इसका मुख्य प्रतिपाद्य होनेसे इसका नाम ब्रह्ममीमांसा भी है।

वेदान्तदर्शनका मुख्य उद्देश्य जीवको दुःखमय संसारसे मुक्त करके आनन्दमय ब्रह्मपदमें स्थापित करना है। शास्त्रोंमें कहा है कि:—

"जीवो ब्रह्मैव नापरः"

जीव और ब्रह्म एक ही है। भेदभावका मूल अविद्या है। अविद्याके आवरणमें आवृत होकर जीव अपनेको ब्रह्मसे पृथक् समझता है, इसलिये तत्त्व-ज्ञानके उदय होनेसे जीवकी यह अविद्या जब दूर होती है, तब ही जीव-ब्रह्मकी एकता होनेपर जीवकी मुक्ति होती है। जीव ब्रह्मका इस प्रकार औपाधिक भेदभाव उपनिषदोंमें बहुधा वर्णित है। ब्रह्मविन्दूपनिषद्‌में लिखा है कि:—

एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

एक ही आत्मा भूत भूतमें विराजमान है। जलमें चन्द्रकी तरह वे एक तथा बहुरूपमें देखे जाते है।

स्वमरीचिवलोद्भूता ज्वलिताग्नेः कणा इव ।
सर्व्वा एवोत्थिता राम ! ब्रह्मणो जीवराशयः ॥

इसी लिये वेदके महावाक्योंमें जीवब्रह्मकी एकता प्रतिपादित की गई है, यथाः—

"तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्माऽस्मि" "सोऽहम्" ।

त्वं अर्थात् जीव, तत् अर्थात् ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूँ । जीव और ब्रह्ममें जो भिन्नता बोध होती है वह तात्त्विक नहीं है, भेदकी प्रतीति उपाधिकृत है । पञ्चदशीमें लिखा है किः—

कोषोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम् ।

कोषरूप उपाधिको लक्ष्य करके ही जीवभावकी प्रतीति होती है । सुख, दुःख, काम, क्रोध रोग, शोक आदि शरीर और मनका धर्म्म है । जीवात्माका धर्म्म नहीं है, केवल शरीर तथा मनके साथ संयोग होनेसे जीव अपनेको सुखी तथा दुःखी समझता है, इसका कारण माया है, शास्त्रोंमें कहा है किः—

माहेश्वरीति या माया तस्या निर्म्माणशक्तिवत् ।
विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहयत्यसौ ॥
मोहादनीशतां प्राप्य मग्नो वपुषि शोचति ।

महेश्वरकी जो माया है उसकी मोहशक्तिसे ही जीव मुग्ध होता है और उसी मोहके वशमें आकर जीव ब्रह्मभावको भूलकर अपनेको कर्त्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी समझता है, यह भ्रम रज्जुमें सर्पभ्रम या शुक्तिमें रजत भ्रमके सदृश है । इसी भ्रमकी निवृत्तिसे ही जीव और ब्रह्मका पार्थक्य दूर होकर आनन्दमय ब्रह्मभावमें जीवकी स्थिति होती है ।

वेदान्तदर्शनका प्रथम सूत्र यह हैः—

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"

श्रीभगवान् शङ्कराचार्य्यने इस सूत्रके अन्तर्गत "अथ" शब्दके भाष्यमें लिखा है कि, विधिके अनुसार वेद वेदाङ्ग अध्ययन कर वेदका ठीक ठीक अर्थ जिसने समझा है, और शमदमादि साधनचतुष्टयसम्पन्न जो हुआ है, वही ब्रह्मज्ञान लाभ करनेका अधिकारी है। साधनचतुष्टय, यथा-नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रफलभोगविराग, शमदमादि षट्सम्पत्ति, और मुमुक्षुत्व। ब्रह्म नित्य है और समस्त संसार अनित्य है, इस प्रकार विचारका नाम नित्यानित्यवस्तुविवेक है। ऐहलौकिक और स्वर्गादि भोगरूप पारलौकिक सुखके प्रति वितृष्णाका नाम इहामुत्रफल भोगविराग है। ब्रह्मके सिवाय और विषयोंसे मनकी निवृत्तिका नाम शम है, बाह्येन्द्रियोंकी विषयोंसे निवृत्तिका नाम दम है, वैषयिक वस्तुओंसे चित्तको अलग करनेका नाम उपरति है, शीतोष्णादि द्वन्द्वसहिष्णुताका नाम तितिक्षा है, गुरु और वेदान्तवाक्यमें विश्वासका नाम श्रद्धा है और ब्रह्ममें चित्तकी एकाग्रताका नाम समाधान है। यही शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा ये षट्सम्पत्ति कहलाती है। चौथा साधन मुमुक्षुत्व अर्थात् मुक्तिलाभकी इच्छा है। इस प्रकार साधनचतुष्टयसम्पन्न होनेसे वेदान्त पढ़नेमें साधकका अधिकार होता है। इन्हीं चारों अधिकारोंके देखनेसे सिद्ध होगा कि, वेदान्तका अधिकार कितना उन्नत है और वेदान्तकी ज्ञानभूमि सब ज्ञानभूमियोंमें श्रेष्ठ है, क्योंकि, इसीमें अद्वैत भावकी सिद्धि हो सकती है। तदनन्तर अधिकारानुरूप साधन करते करते जीव मुक्तिभावको प्राप्त करता है।

वेदान्तमें ब्रह्मके दो लक्षण वर्णन किये गये है। एक तटस्थ और दूसरा स्वरूप। वेदान्तदर्शनमें लिखा है कि :—

"जन्माद्यस्य यतः"

जिस परमात्मासे संसारका जन्मादि अर्थात् सृष्टि स्थिति-प्रलय होता है वही ब्रह्म है। इस सूत्रके द्वारा ब्रह्मका तटस्थ लक्षण कहा गया है। परन्तु ब्रह्मके स्वरूप लक्षणके प्रतिपादक निम्नलिखित सूत्र हैं:—

"अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः" "प्रतिषेधाच्च"

तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षणको सगुण और निर्गुण ब्रह्म भी कहते हैं। ब्रह्ममें ये दो ही भाव हैं, यथा:—

"उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्"

जिस प्रकार सर्पके कुण्डल बांधकर रहनेसे सर्प भी कह सकते हैं और

कुण्डल भी कह सकते है। उसी प्रकार ब्रह्मके भी दो भाव समझने चाहिये। स्वरूपभाव मायासे अतीत निर्गुण निष्क्रिय है और तटस्थभाव मायोपहित चैतन्य ईश्वर है। इस विषयमें उपनिषद्के अनेक प्रमाण मिलते है। वेदान्तके सिद्धान्तमें ब्रह्म ही सत्य है और जगत् मिथ्या है। जो कुछ जगत्की प्रतीति हो रही है, सो ब्रह्ममे नामरूपमयी मायाका विलासमात्र है। सांख्यदर्शनके परिणाम-वादानुसार प्रकृतिकी विकृति ही यह संसार है; अर्थात् जिस प्रकार दुग्धके परिणामसे घी माखन आदि वस्तु बनती है, उसी प्रकार प्रकृतिके परिणामसे सृष्टि होती है। परन्तु वेदान्तका सिद्धान्त इस प्रकार नही है। वेदान्तदर्शनके अनुसार जगत् ब्रह्मका विवर्त्त है। परिणाम अर्थात् विकार तथा विवर्त्तके लक्षण ये है:—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदाहृतः॥

विवर्त्त अर्थात् वस्तुका स्वरूप न बदलकर अन्यथा प्रतीति है। ब्रह्म जगत्रूपेण परिणत नही होते हैं, परन्तु मायाके सम्बन्धसे उनमें जगत्की भ्रान्ति होती है। जिस प्रकार मरीचिकामें जल न होनेपर भी अज्ञानी पुरुषको उसमें जलभ्रान्ति होती है, उसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्ममें द्वैतभावमय संसारकी प्रतीति होती है। वास्तवमे ससार भ्रममात्र है। अविद्याके द्वारा उपहित चैतन्य जीव, मिथ्या जगत्को सत्यरूप मानकर संसार-बन्धनमें बद्ध होता है। यह बन्धन अनादि है, क्योंकि, वेदान्तदर्शनमे मायाको अनादि कहा गया है। माया-की दो शक्ति हैं, यथा—आवरण और विक्षेप। आवरणशक्तिसे जीव अपनेको पृथक् समझता है और विक्षेपशक्तिसे जगद्भ्रमरूप अघटनघटना होती है। इसलिये ही माया अघटनघटनापटीयसी कही गई है। जगत् है नहीं, ब्रह्म ही है, परन्तु उसमें जगत् है ऐसी घटना उत्पन्न करती है, यही मायाकी शक्ति है। जैसा कि, इन्द्रजालमें ऐन्द्रजालिक सूत्रकी सहायतासे शून्यमार्गमें खेलता है, मनुष्योंकी आँखोंके सामने जीवित मनुष्योंको खण्ड खण्ड करके काट देता है, आगमें शरीरको दग्ध कर देता है, परन्तु यह सभी मिथ्या है। ठीक इसीप्रकार संसारभी मिथ्या है। जीव इसको न जानकर बद्ध होता है। जिस प्रकार सूर्य्यदेव मेघाच्छन्न होनेसे दृष्टिपथमें नही आते है, उसी प्रकार सत्य ज्ञानरूप ब्रह्म असत्य अज्ञानके अन्धकारसे आच्छन्न होनेपर जीव उनके स्वरूपको नही जान सकते है।

छोटा एक खण्ड मेघ लाखों योजन व्याप्त सूर्य्यको नहीं ढांक सकता है, परन्तु अज्ञानी पुरुष जैसा इस प्रकार समझ लेता है और मेघसे सूर्यको प्रभाहीन समझ भ्रममें पड़ता है, उसी प्रकार मिथ्या जगत्को सत्यरूप समझ कर जीव भ्रान्तिमें पड़ा हुआ है। जीवका यह बन्धन तात्त्विक नहीं है, परन्तु कल्पनामात्र है, क्योंकि, जीव मुक्तस्वभाव है। गौड़पादाचार्य्यने लिखा है कि:—

न विरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

वास्तवमें आत्माकी उत्पत्ति नहीं है, विनाश नहीं है, बन्धन नहीं है, मोक्ष नहीं है, साधन नहीं है और मुक्तिकी इच्छा नहीं है। वेदान्तके मतमें मुक्ति साध्य नहीं है, परन्तु सिद्ध वस्तु है। जीव स्वतः ही मुक्त है। इस विषयका दृष्टान्त यह है कि:—

"कण्ठचामीकरवत्"

किसी शिशुके गलेमें कण्ठहार था, एक दिन उसे भ्रम हुआ कि, गलेमें कण्ठहार नहीं है, व्याकुल होकर ढूढ़ने लगा, कहीं हारका पता नहीं लगा, अन्तमें किसी दूसरेने कह दिया कि, उसके गलेमें हार तो पहिलेसे ही है, ढूंढता क्यों है? तब बालकका भ्रम दूर हुआ। जीवकी मुक्ति भी ऐसी ही है, जीव स्वभावतः मुक्त ही है। केवल अनादि अविद्याकी छायासे अपनेको बद्ध मान लेता है। सद्गुरुकी कृपासे तत्त्वज्ञान होनेपर अविद्या दूर होती है। उस समय जीव अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभावको जान जाता है। यही जीवकी मुक्ति है।

जगत् भ्रममात्र है, ब्रह्म मायाशक्ति द्वारा जगद्भ्रम उत्पन्न कर रहे हैं, वे ऐन्द्रजालिक हैं, इन्द्रजाल विस्तार करके मिथ्या संसारको सत्यरूप दिखा रहे हैं। परन्तु वेदान्तका अद्वैतवाद शून्यवाद नहीं है। इस मतमें जगद्भ्रमका आधार शून्य नहीं है, परन्तु सच्चिदानन्दमय ब्रह्म है। श्रीभगवान् शङ्कराचार्य्यने शून्यवादके परिहार करनेके लिये कहा है कि:—

न तावदुभयप्रतिषेध उपपद्यते शून्यवादप्रसङ्गात्। किञ्चित् हि परमार्थमालम्ब्य अपरमार्थः प्रतिषिध्यते यथा रज्ज्वादिषु सर्पादयः।

जगत् और जगत्का आधार दोनोका ही प्रतिषेध ठीक नहीं, क्योंकि, ऐसा होनेसे शून्यवाद-प्रसङ्ग हो जायगा। कोई परमार्थ अवश्य है, जिसको आश्रय

करके अपरमार्थ बाधित होता है। "नेति" "नेति" द्वारा कार्यका प्रतिषेध ही संगत है, क्योंकि, कार्य्य असत् और कल्पित है। जिस प्रकार रज्जुमें सर्पका प्रतिषेध होता है, इसी प्रकार उपदेशसे ब्रह्ममें कल्पित अवस्तुओंका प्रत्याख्यान करके ब्रह्मका स्वरूप प्रतिपादन किया गया है। इसमें कार्य्य, जिसका आधार ब्रह्म है, उस कार्यका ही प्रतिषेध किया गया है। ब्रह्मका प्रतिषेध नहीं किया गया है, क्योंकि, ब्रह्ममें ही सकल कल्पनाका विस्तार है। कल्पित असत् प्रपञ्च बाधित है, सत् वस्तु ब्रह्म अबाधित है।

अद्वैतवादिगण जगत्की व्यवहारिक सत्ताको स्वीकार करते हैं। व्यवहारिकरूपसे जगत् सत्य है परन्तु परमार्थतः सत्य नही है। जिस प्रकार कुण्डल, वलय आदि बाह्य दृष्टिमें भिन्न होनेपर भी एक सुवर्ण ही है, उसी प्रकार वैचित्र्यमय संसार ब्रह्म ही है। केवल नाम तथा रूपका भेद है, वस्तुगत तात्त्विक कोई भेद नहीं है, यथाः—

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"

मिट्टीके विकारसे जो घट आदि बनते है, उनमें नामका ही भेद है, वास्तवमें सब मिट्टी ही है और मिट्टी ही सत्य है, यथा:—

"अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्"

परमात्माने जीवरूपमें प्रवेश करके नाम और रूपका भेद सम्पादन किया है।

"तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत"

नाम और रूपके द्वारा परमात्मासे द्वैतरूप संसारकी उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार उपनिषदोंके वचनोंके द्वारा सिद्ध होता है कि, ब्रह्मको छोड़कर जीवभाव या जड़ किसीकी पारमार्थिक सत्ता नही है। सबकी सत्ता व्यवहारिक है। जो जीव है, सोही ब्रह्म है। केवल नामरूपमयी मायाके विलाससे भिन्नता प्रतीत हो रही है।

मायामय जीवके ब्रह्मभाव प्राप्त करनेके लिये वेदान्तशास्त्रमें तीन प्रकारकी उपासना बताई गई है। यथा—अङ्गावबद्ध, प्रतीक और अहङ्ग्रह। अङ्गावबद्ध उपासनामें यज्ञके अङ्गोंमें ब्रह्मभावना की जाती है, यथा:—

"इदं उद्गीथं ब्रह्म इत्युपासीत"

इसमें उद्गीथ अर्थात् यज्ञके अङ्ग विशेषमें ब्रह्मभावनाका उपदेश किया गया है। द्वितीय प्रतीकोपासना है। इसमें ब्रह्मभिन्न पदार्थमें ब्रह्मभावना की जाती है, यथाः—

"मनो ब्रह्म इत्युपासीत" "आदित्यो ब्रह्म इत्युपासीत"

मनमें ब्रह्मकी भावना कर उपासना करनी चाहिये, आदित्यमें ब्रह्मकी भावना कर उपासना करनी चाहिये, इत्यादि प्रतीक उपासनाका दृष्टान्त है। तृतीय अहङ्ग्रह उपासना है। यही अद्वैतवादियोंकी यथार्थ उपासना है इसमें "सोऽहं" "अहं ब्रह्माऽस्मि" इत्यादि, जीव ब्रह्मसे अभिन्न भावनाके द्वारा उपासना होती है, यथाः—

"आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च"

जीवात्मा ही परमात्मा है, ब्रह्मसूत्रोक्त इस प्रकार मनन और भावना ही अद्वैतवादकी उपासना है, यथाः—

"तं यथा यथोपासते तदेव भवति"

जो जिसकी उपासना करता है वह उसीका रूप प्राप्त होता है। इसलिये ब्रह्मभावनाके परिपाकसे साधक ब्रह्मभाव प्राप्त करते हैं। उस समय उनके लिये समस्त संसार ब्रह्ममय बन जाता है और इस प्रकार स्वरूपस्थित राजयोगी आनन्दमय ब्रह्मपदमें प्रतिष्ठा लाभ करते हैं। स्वरूपस्थित इस प्रकारके योगी संसारकी ओर दृष्टि डालनेसे, प्रस्तरमें खोदी हुई मूर्ति जैसे प्रस्तर ही है, वैसे ही इस विचित्र समस्त संसारको ब्रह्ममय देखते हैं। और स्वरूपकी ओर भावना करनेसे माया और सृष्टिसे अतीत परमपदकी उपलब्धि करते हैं। इस प्रकारके योगियोंके शरीर जबतक संसारमें रहते हैं तबतक वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं। जीवन्मुक्तके संसारके विषयमें ब्रह्मसूत्रमें लिखा है किः—

"तदधिगम उत्तरपूर्व्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्"

"इतरस्याऽप्येवं असंश्लेषः पाते तु"

"अनारब्धकार्य्ये एव तु पूर्व्वे तदवधेः"

ब्रह्मकी उपलब्धि होनेसे तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुषके समस्त सञ्चित कर्म्मका विनाश और क्रियमाण कर्म्मका असंस्पर्श होता है। जिस प्रकार पद्मपत्रमें जल स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानीको भी कर्म्म स्पर्श नहीं

करता । वे पाप पुण्य दोनोंसे बाहर हो जाते हैं । केवल प्रारब्धकर्म्म ही अवशिष्ट रहता है, जिसको भोगके द्वारा जीवन्मुक्त क्षय करते हैं, यथाः—

"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये"

जबतक प्रारब्ध क्षय पूर्ण नही हो जाता है, तबतक जीवन्मुक्तका शरीर रहता है तदनन्तर विदेहमुक्तिकी दशामें जीवन्मुक्त ब्रह्ममें मिलकर शरीरको त्याग कर देते हैं । ब्रह्मसूत्रमें लिखा है किः—

"विदुष ऐकान्तिकी कैवल्यसिद्धिः" "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"

ब्रह्मज्ञानीकी ऐकान्तिकी कैवल्यसिद्धि या विदेहमुक्ति होती है । ब्रह्मको जानकर वे ब्रह्म होते हैं । इनके लिये उपनिषद्में लिखा है कि :—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः, परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

जिस प्रकार नदियोंके समुद्रमें मिलनेपर, उनका नामरूप और अस्तित्व समुद्रमे ही लयको प्राप्त होता है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी महात्मा नामरूपमय जीवभावको त्याग करके ब्रह्मानन्द महोदधिमे अपनी आत्माको विलीन कर देते है । यही वेदान्तदर्शनका लक्ष्य तथा वेदान्त प्रतिपाद्य सप्तम ज्ञानभूमिकीमुक्ति है ।

अब सप्तज्ञानभूमिके विचार द्वारा भिन्न भिन्न दार्शनिक मतोंका सामञ्जस्य किया जाता है ।

ब्रह्मके स्वरूपलक्षणको वर्णन करनेके लिये सब श्रुतियें एकवाक्य होकर कहती हैं कि, ब्रह्मका निर्गुण स्वरूप प्रकृतिसे परे और मन, वाणी तथा बुद्धिसे अगोचर है । मुण्डकोपनिषद्मे लिखा है किः—

यत्तदद्रश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्व्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ।

ब्रह्म चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य नही है, श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, पाणिपादवान् नही है, शरीरधर्म्मी नही है, विभु, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अव्यय और समस्त ससारके कारण है, जहां सकल विषय, सकल शब्द, सकल चिन्ता, सकल बुद्धिवृत्ति, सकल इन्द्रिय और विशेष, अविशेष, लिङ्ग, अलिङ्गरूप प्राकृतिक विभागका अन्त है वही ब्रह्म है । यही श्रुति-प्रतिपाद्य ब्रह्मस्वरूप है । परन्तु इस स्वरूपकी यथार्थ व्याख्या प्रत्येक दर्शनमें क्यो नही मिलती ? क्यों नही प्रत्येक दर्शन

में नित्य सत्य निर्गुण ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादित है ? दर्शनोंमें प्रतिपाद्य विषयकी भिन्नता क्यों दृष्टिगोचर होती है ? अभ्रान्त विज्ञानमूलक दर्शन शास्त्रसमूह ऐसे भेदभावपूर्ण क्यों हैं ? इसके तत्त्वानुसन्धान करनेसे यह तत्त्व शाखारुन्धती न्यायसदृश मालूम होता है। सप्तर्षिमण्डलान्तर्गत किसी सूक्ष्म ताराका नाम अरुन्धती है। वरवधूको एकदम अरुन्धती दिखाई जाय तो उनके देखनेमे नहीं आती, इसलिये विवेकी दर्शयिता प्रथमतः दर्शकको अरुन्धती के पासके किसी स्थूल नक्षत्रको दिखाकर कहते हैं कि यही अरुन्धती है। पश्चात् उसके पासके और उससे सूक्ष्म किसी एक नक्षत्रको दिखाकर कहते हैं कि, पहिले जो नक्षत्र दिखलाया था वह अरुन्धती नहीं थी, पर यह अरुन्धती है। इस रीतिसे दर्शककी दृष्टि सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर नक्षत्र पर डलवाकर अन्तमें अरुन्धती दिखलाई जाती है। इसी प्रकार दर्शनशास्त्रसमूह भी है। स्थूलसे स्थूल ताराओंको देखते हुए अन्तमें सूक्ष्मतम तारा अरुन्धतीके दर्शनके सदृश, क्रमोन्नत ज्ञानभूमिका अवलम्बन करते हुए प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहनेके कारण आत्माके विविध भावोंको अनुभव करते करते सप्तम ज्ञानभूमिमें पहुँचकर तत्त्वज्ञानी महापुरुष आत्मस्वरूपकी पूर्णतया उपलब्ध कर सकते है, वेदान्त-प्रतिपाद्य निष्कल, निरञ्जन, शान्त और तुरीय दशाके निर्गुण ब्रह्मकी उपलब्धि करके ब्रह्म स्वरूप हो सकते हैं, संसारजाल खण्ड-विखण्ड कर सकते है, और चिद्भाव और आनन्दभावमें मग्न हो सकते हैं। अनन्त शास्त्रसिन्धुको मथन करके यही सत्यवस्तु उपलब्ध हुई है। वेद जलद-गम्भीर शब्दसे इसी सत्यकी घोषणा कर रहे हैं। सब दर्शनशास्त्र इसी परमतत्त्वको लक्ष्यीभूत करके अपनी अपनी भूमि पर चल रहे हैं। परन्तु प्राकृतिक आवरण-जनित बुद्धिमालिन्यके कारण इस परमतत्त्वका विकाश तत्काल नही होता है, अज्ञानान्धकारसे आच्छन्न हृदयाकाशमें इस सत्य सुधाकरकी किरणराशि जल्दी प्रकाशित नही होती है। जहाँ अविद्यारूप घनघटाका पूर्ण प्रभाव है वहाँ आत्म-सुधाकर पूर्णरूपसे आच्छन्न है और वही नास्तिकताका पूर्ण विकाश है इसीलिये नास्तिक देहात्मबुद्धि हुआ करते है। नास्तिक्य मत पर विचार करनेसे हम लोग क्या देखते है ? चार्वाक लोकायतिक, दिगम्बर इत्यादि नास्तिकोंका मत यह है कि :—

देहमात्रचैतन्यमेवाऽऽत्मा।
अथ चत्वारि भूतानि भूमिवार्य्यनलाऽनिलाः।

चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥
यावज्जीवेत्सुखंजीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

देहसे अतिरिक्त आत्मा कोई पृथक् वस्तु नहीं है, अन्नकणाओंके मिलानेसे जिस प्रकार मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पृथिवी, जल, वायु और अग्नि, इन चारों भूतोंके मिलनेसे आत्मा उत्पन्न हो जाती है और मृत्युके समय जब वे चार भूत अलग अलग हो जाते हैं, तो साथ ही साथ आत्मा भी नष्ट हो जाता है। देहके नाशके साथ ही आत्मा भी नष्ट हो जाता है। पीछे कुछ नहीं रहता है। इसलिये ऋण लेकर भी घी पीना चाहिये जिससे शरीर पुष्ट रहे और दीर्घायु हो। इस प्रकार देहात्मभावयुक्त चित्तके लिये तत्काल अविद्यामेघनिर्मुक्त शुद्ध सच्चिदानन्दरूप निर्गुण ब्रह्मकी उपलब्धि करना असम्भव है। इसलिये "स्थूलोऽहं" कृशोऽहं इत्यादि नास्तिक्यवादमूलक युक्ति आस्तिक दर्शनोंमें खण्डित होकर दार्शनिक भूमिकी उन्नतिके अनुसार परमात्माका यथार्थरूप प्रकट किया जाता है। और तदनुसार उच्चतर ज्ञानभूमिके दर्शनोंमें आत्मा स्थूलशरीर नहीं है, आत्मा कारणशरीर नहीं है, आत्मा इन तीनों शरीरोंके धर्म्मसे युक्त नहीं है इत्यादि सिद्धान्तसमूह निश्चय होकर नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव सर्व्वव्यापक परमात्माका यथार्थरूप प्रकटित होता है। ज्ञानकी उच्चकक्षा पर आरोहण करनेके लिये दर्शनशास्त्रसमूह सोपानस्वरूप हैं, इसलिये जो दर्शन जिस कक्षाका ज्ञान बतलाता है उसमें आत्मा और प्रकृतिका स्वरूप वैसा ही वर्णित होगा, और उस भूमि पर प्रतिष्ठित मुमुक्षु उतना ही आत्मतत्व जान सकेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतः ब्रह्मतत्त्वका निरूपण करना यद्यपि सब दर्शनोंका लक्ष्य है तथापि ज्ञानभूमियोंके भेदसे सिद्धान्तोंमें अवश्य ही भेद पाये जाते हैं। इन ज्ञानभूमियोंके अनुसार सिद्धान्तोंके भेदको और रीतिसे भी समझ सकते हैं। पृथिवीसे सूर्य्य ९२०००००० नौ करोड़ बीस लाख मील दूर पर है। यदि कोई मनुष्य भूपृष्ठसे आरम्भ करके सूर्यका फोटो लेता हुआ ऊपरकी ओर चले तो पृथिवी परसे खीचा हुआ जैसा सूर्य्यका फोटो होगा, उससे उन्नत स्थान परसे खींचा हुआ फोटो वैसा न होकर उससे भिन्न होगा, और उससे भी उन्नत स्थानसे लिया हुआ फोटो पहिलेसे भिन्न और बड़ा होगा, एवं अन्तमें ठीक स्थानसे सूर्य्यका फोटो लेनेसे यथार्थ फोटो मिलेगा। सूर्य्य एक ही है, परन्तु भूमि

(फोटो खींचनेका स्थान) के ऊँची नीची होनेसे फोटो अलग अलग हुए। सातों दर्शन ठीक उसी तरहसे परमात्माके फोटो लेनेवाले हैं, अर्थात् सभीका लक्ष्य परमात्माका स्वरूप प्रतिपादन होनेपर भी ज्ञानभूमिके भेदके अनुसार परमात्माके भिन्न भिन्न भावोंका प्रतिपादन होना है। तदनुसार इतर दर्शनभूमियोंमें प्रकृतिका सम्बन्ध विद्यमान रहनेके कारण परमात्माके तटस्थ लक्षणका क्रमोन्नत-ज्ञान होता है और सप्तम भूमिमें आकर वेदान्तप्रतिपाद्य स्वरूपलक्षणवेद्य निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान होता है, वह कैसे सम्भव है सो नीचे दिखाया जाता है।

प्रथमतः "कृशोऽहं" "गौरोऽहं" इत्यादि स्थूल देहात्मबुद्धि जीवमें रहा करती है, इस विषयमें पहिले ही कहा जा चुका है। इस देहात्मवादकी भूमिसे क्रमशः उच्चभूमि पर जानेवाले साधकका चित्त धीरे धीरे आस्तिक भूमि पर अग्रसर होता है। अतः इस प्रकारकी अवस्थाके साधकको एकाएक "तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्माऽस्मि" इत्यादि परमसूक्ष्म आत्मतत्त्वका उपदेश किया जाय तो वह उपदेश निष्फल हो जायगा और उसकी पुनः नास्तिक भूमिमें पतनकी सम्भावना हो जायगी। इसलिये न्याय और वैशेषिक दर्शनमें प्रथम अधिकारीके लिये सुख दुःखादि अन्तःकरणधर्म्मविशिष्ट आत्मतत्त्वका उपदेश किया गया है। जो जिज्ञासु पहिले देहको ही आत्मा करके जानता था, उसको प्रथमतः इतना ही समझना ठीक है कि, आत्मा देहसे भिन्न पदार्थ है और ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष इत्यादि अन्तःकरण-धर्म्म आत्माके हैं। इसका कारण यह है कि, उक्त प्रकारका ज्ञान व विश्वास जिस जिज्ञासुके हृदयमें पहिलेसे ही दृढ़ है उसको देहातिरिक्त आत्मा है, ऐसा समझानेके समय उस विश्वासके विरुद्ध नहीं लेजाना चाहिये।

सांख्यप्रवचनके भाष्यकार विज्ञान भिक्षुने भी इस विषयमें कहा है, यथाः—

न्यायवैशेषिकाभ्यां हि सुखीदुःखीत्याद्यनुवादतो देहादिमात्रविवेकेनाऽऽत्मा प्रथमभूमिकायामनुमापितः एकदा परसूक्ष्मे प्रवेशाऽसम्भवात्। तदीयं ज्ञानं देहाद्यात्मतानिरसनेन व्यावहारिकं तत्त्वज्ञानं भवत्येव। यथा पुरुषे स्थाणुभ्रमनिरासकतया करचरणादिमत्वज्ञानं, तद्वद्व्यवहारतस्तत्त्वज्ञानमपि।

एकाएक परमसूक्ष्म आत्मतत्त्वमें प्रवेश करना असम्भव है इसलिये आत्माकी स्थूल शरीरके साथ एकताको खण्डन करके लोकसिद्ध सुख

दुःखादिकोंके अनुवादपूर्व्वक न्याय और वैशेषिक दर्शनमें केवल स्थूल देहसे पृथक् आत्माका अनुमान कराया गया है और अन्तःकरणके सुख दुःखादि धर्म्मके साथ आत्माका सम्बन्ध रक्खा गया है। एतादृश ज्ञान देहात्मवादको दूर करके व्यावहारिक तत्त्वज्ञानमात्र उत्पन्न करता है, जैसा कि करचरणादिज्ञानसे पुरुषमें स्थाणुका भ्रम दूर होता है। इसी तरह साधक जब नास्तिक्यभूमिसे उन्नत होकर आत्मज्ञान राज्यमें कथञ्चित् प्रवेश लाभ करता है तब साङ्ख्य और पातञ्जलदर्शन आत्माका और उच्चतर ज्ञान प्रकट करते हैं। साङ्ख्य और पातञ्जलदर्शनका सिद्धान्त यह है कि, आत्मा सुख दुःखादि धर्म्मविशिष्ट नहीं है, ये सब अन्तःकरणके धर्म्म हैं। पुरुष असङ्ग और कूटस्थ है।

जिस प्रकार स्फटिकमणिके सामने लाल रङ्ग लानेसे स्फटिकमणि लाल दीखने लगती है, परन्तु वास्तवमें स्फटिक स्वच्छ है लाल नहीं है, उसी तरह अन्तःकरणके साव्निध्यमें प्राप्त पुरुषमें सुख दुःख आदिके भोक्तृभावका उपचार होता है। इस प्रकार भोक्तृभाव औपचारिक है, तात्त्विक नहीं है, क्योंकि आत्मा निर्लिप्त और निष्क्रिय है, यह बात श्रुतिसिद्ध है। मलिन दर्पणमें मुखके प्रतिविम्बित होनेसे दर्पणगत मालिन्य जैसा मुखमें प्रतीत होता है, ऐसा ही बुद्धिगत सुख दुःखादि व्यावहारिक दशामें निर्लिप्त और निष्क्रिय पुरुष पर प्रतीत होता है। समस्त क्रिया पुरुषप्रतिविम्ब-युक्त अन्तःकरणके द्वारा ही सिद्ध होती है। वास्तवतः पुरुष निर्गुण निष्क्रिय कर्तृत्वभोक्तृत्वादिशून्य है। साङ्ख्य और पातञ्जलदर्शन उल्लिखित भावसे आत्माका असङ्गत्व सिद्ध करने पर भी एकात्मवाद सिद्ध नहीं कर सकते। सांख्यदर्शनके अनुसार पुरुष प्रतिपिण्डमें भिन्न भिन्न हैं, यथा—

जन्ममरणकरणानाम् प्रतिनियमात् अयुगपत्
प्रवृत्तेश्च पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्य्ययाच्च। (सांख्यकारिका)

सांख्यकारिकामें कहा है कि सब पुरुषोंका एक ही साथ जन्ममरण या इन्द्रियवैकल्य दृष्टिगोचर नहीं होता। सबकी प्रवृत्ति एक ही समय दृष्टिगोचर नहीं होती। एक पुरुषमें एक गुण प्रबल है और दूसरे पुरुषमें दूसरा गुण प्रबल है, अतः पुरुष बहु है। इस तरहसे अनुमान प्रमाणके द्वारा साङ्ख्य दर्शनने बहु पुरुषवाद सिद्ध किया है। केवल अनुमान ही नहीं परन्तु यह बात अनुभवसिद्ध भी है। क्योंकि साङ्ख्यज्ञानभूमिमें प्रत्येक पिण्डमें पृथक् पृथक्

जो कूटस्थ चैतन्य है उसकी उपलब्धि होती है। इसलिये साङ्ख्यका बहुपुरुषवाद उसकी ज्ञानभूमिके अनुकूल है। इस दशामे प्रकृतिका सम्बन्ध नष्ट नहीं होता है, प्रकृतिका अस्तित्व रहता है इसलिये साङ्ख्यदर्शनमें प्रकृतिको अनादि व अनन्त कहा है। इस दशामें पुरुष अपने स्वरूपको ऐसा देखलेता है कि वह प्रकृतिसे बद्ध नहीं है, उससे पृथक् है और नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव है, प्रकृतिका सम्बन्ध स्फटिकमणिवत् औपचारिक है, यथार्थतः नहीं है। इस प्रकार ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूपी त्रिपुटीके साथ ही साङ्ख्यभूमिमें पुरुषका ज्ञान होता है।

इसके बाद मीमांसात्रयकी भूमियां प्रारम्भ होती हैं। इनमें ब्रह्मको स्वरूप लक्षणवेद्य अद्वितीय सत्ताका प्रतिपादन किया गया है। यह अद्वितीयता कार्य्यब्रह्मके भावसे प्रारम्भ होकर प्रकृतिके लयके साथ ही साथ कारणब्रह्ममें पर्य्यवसित होती है। कर्म्मका सम्बन्ध जगत्से है, इसलिये कर्म्ममीमांसा या पूर्व्वमीमांसामें जगत्को ही ब्रह्म मानकर अद्वितीयताकी सिद्धि की गई है। कर्म्ममीमांसाका विज्ञान साधकको प्रकृतिविलयमुखेन द्वैतमय जगत्से अद्वैतभावमय ब्रह्मकी ओर ले जाता है। इस ज्ञानभूमिका साधक जगत् अर्थात् कार्य्यब्रह्मको कारणब्रह्मका रूप जानकर उसीमें अपनी सत्ताको विलीन करके अन्तमें मुक्तिपद प्राप्त करता है। इस भूमिमें तटस्थसे स्वरूपकी ओर साधककी गति होती है। ज्ञाननदीकी यह कल्याणमयी गति वेदान्त प्रतिपाद्य सच्चिदानन्द सागरकी ओर है और इसकी समाप्ति वहीं जाकर होती है। इसके अनन्तर भक्तिमीमांसा या उपासनाभूमिकी मीमांसा ब्रह्मकी उस अद्वितीयताको प्रकृतिकी ओरसे उन्नत करके स्वरूपकी ओरसे दिखाती है। तदनुसार ब्रह्म ही जगत् है "वासुदेवः सर्व्वम्" यह ज्ञान उपासनाभूमिको सुशोभित करता है। यह षष्ठभूमिका ज्ञान है। इसमें आत्माका यथार्थ ज्ञान उन्हींमें विलीन प्रकृतिके ज्ञानके साथ होता है। यहाँ तटस्थ ज्ञान स्वरूपमें विलीनता प्राप्त होनेके मुखमें अवभासित होता है अर्थात् स्वरूपमें विलीन होना प्रारम्भ होने लगता है। उपनिषदोंमें इन दोनों भूमियोंके भावका वर्णन बहुत मिलता है, यथा मुण्डकोपनिषद् में :—

अधश्चोर्द्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।

ब्रह्मसत्ता अधः ऊर्द्ध्व सर्व्वत्र व्याप्त है, यह महान् विश्व ब्रह्मका ही रूप है।

यह समस्त वर्णन कर्म्ममीमांसा-प्रतिपाद्य "जगत् ही ब्रह्म है" इस विज्ञान-

को स्पष्टतया प्रकट करता है। इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद्में कई मन्त्र मिलते है जिनके द्वारा "ब्रह्म ही जगत् है" यह भक्तिमीमांसादर्शनका विज्ञान स्पष्टतया प्रमाणित होता है, यथाः—

तदेवाऽग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः॥

वह ही अग्नि है, आदित्य है, वायु, चन्द्र और उज्ज्वल नक्षत्र है, वही प्रकृति जल और प्रजापति है। यह सब भक्तिमीमांसादर्शन भूमि अर्थात् षष्ठ-भूमिका ज्ञान है जिसमें परमात्माकी व्यापकता, नित्यता, निर्लिप्तता और अद्वितीयता कार्य्यब्रह्मके साथ एकीकरणमुखेन उपलब्ध हुआ करती है।

तदनन्तर सप्तमभूमि अर्थात् वेदान्तभूमिका ज्ञान प्रारम्भ होता है। इसमें तटस्थ ज्ञानका गन्धमात्र भी नही है क्योंकि वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्म निर्गुण और प्रकृतिसे परे है। सांख्यभूमिमें जिस प्रकार पुरुष निर्लिप्त और नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव होने पर भी प्रकृतिके साथ स्फटिकमणिवत् औपचारिक सम्बन्धसे युक्त है, वेदान्तमें ऐसा नहीं है। वेदान्तप्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्ममें प्रकृति या माया-का अवभास बिलकुल नही है। वह स्वरूप मायाके राज्यसे बाहर है। माया उनके नीचे ईश्वरभावमें प्रतिफलित हुआ करती है। जैसा कि श्रुतिमें वर्णन है—

सोऽयमात्मा चतुष्पात्, पादोऽस्य विश्वभूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि।

परमात्माके चार पाद हैं, उनके एक पादमें समस्त सृष्टि विलसित है, परन्तु और तीन पाद सृष्टिसे बाहर और अमृत है। यही तीन पाद ब्रह्मभाव है। इनमें सांख्यदर्शनकी रीति पर बहु पुरुषवाद नही है क्योंकि, जिस मायाके साथ सम्बन्ध रहनेसे तटस्थ दशामें व्यापक और अद्वितीय आत्माका ज्ञान सांख्यभूमि-में बाधित होता है, वह माया ही वेदान्त भूमिमें नही है यहां मायाका लय है, इसलिये सांख्यदर्शनमें प्रकृतिको अनादि और अनन्त कहने पर भी वेदान्तमें मायाको अनादि और सान्त कहा है। क्योंकि निर्गुण ब्रह्मकी स्वरूप दशामें माया-का सम्बन्ध बिलकुल नही रहता है और इसीलिये सर्व्वत्र एकाकार अद्वितीय शुद्ध सत्‌चित्-आनन्दरूप परब्रह्मका साक्षात्कार होता है। सांख्यकी रीतिपर यहां आत्मामें भोक्तृत्वका उपचार नही है, निर्गुण ब्रह्म कर्तृत्व भोक्तृत्व सम्बन्ध-से रहित है और देशतः, कालतः एवं वस्तुतः परिच्छिन्न नहीं है। कालपरिच्छिन्न

न होनेसे ब्रह्म नित्य है, देशपरिच्छिन्न न होनेसे ब्रह्म विभु है और वस्तुपरिच्छिन्न न होनेसे ब्रह्म पूर्ण है। वेदान्त राजयोगीको इसी निर्गुण परब्रह्मभावका ज्ञान कराता है। इस दशामें साधक निर्विकल्प समाधिमें अधिरूढ़ हो जाते हैं। यह दशा मौनव्याख्याप्रकटित है अर्थात् शब्द इसको वर्णन नहीं कर सकता है, इसलिये श्रुतिमें इस भावका वर्णन "नेति नेति" शब्दसे किया गया है, यथाः—

"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इत्यादि।

परब्रह्म मन वाणीसे अगोचर और प्रपञ्चसे बाहर है, वहां प्रपञ्चमयी मायाका लय है, इत्यादि।

इस प्रकारसे श्रुतियोंमें वेदान्तभूमिप्रतिपाद्य ब्रह्मका स्वरूपलक्षण प्रतिपादन किया गया है। इसकी उपलब्धि करनेसे साधक कृतकृत्य हो जाता है, संसारजाल छिन्न करके मुक्तिपद प्राप्त कर लेता है और यहीं पर ज्ञान यज्ञकी पूर्णाहुति है।

पौराणिक शंका समाधान।

पुराण वेदके व्याख्याग्रन्थ हैं अतः सर्व्वथा वेदानुकूल हैं। वेदमें जो समाधिगम्य कठिन कठिन विषय हैं वे ही कहीं भिन्न भिन्न भावसे, कहीं भिन्न भिन्न भाषामें, कहीं भिन्न भिन्न अलङ्कार व गाथा द्वारा विस्तारके साथ पुराणोंमें वर्णित किये गये हैं। पुराणोंमें एक भी शब्द या विषय वेदविरुद्ध नहीं है। जहां वेदविरुद्ध प्रतीत हो वहां बुद्धिका दोष व समझनेका दोष है, पुराणका नहीं। श्रीभगवान् अज, नित्य, शाश्वत और पुराण पुरुष हैं इसलिये उनके निश्वासरूपी वेद और वेदव्याख्यारूप पुराण भी नित्य और पुरातन हैं। पुरातन होनेसे ही इनका नाम पुराण है। वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषद्में (अ. ४। ११ कं.। ब्रा. ५) लिखा है कि:—

अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्व्वेदः सामवेदोऽथर्व्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम्।

मन्त्रब्राह्मणात्मक चार वेद, इतिहास, पुराण इत्यादि महान् पुरुष परमेश्वरके निश्वास हैं। निश्वास जिस प्रकार आपसे आप प्राकृतिक रूपसे निकलता है उसी प्रकार वेद और पुराण आदि भी परमात्मासे अनायास ही उनकी ज्ञानसत्ताके स्वाभाविक विलासरूपसे युग युगमें प्रकट हुआ करते हैं।

इनमेंसे वेद ऋषियोंके समाधिस्थ अन्तःकरणमे स्वयं प्रकट होता है और वेदानुकूल पुराण साधारण अधिकारियोंके कल्याणार्थ पञ्चमवेदरूपसे ऋषियोंके द्वारा रचित हुआ करते हैं। यही कारण है कि, वेदमें पुराणके लिये बहुत प्रमाण मिलते हैं, यथा छान्दोग्योपनिषद्में—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्व्वणं
चतुर्थमितिहासं पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्। इत्यादि। (७-१)

मैं ऋग्यजुःसाम और अथर्व्ववेदको जानता हूँ और पाँचवां वेद इतिहास पुराण भी मैं जानता हूँ। गोपथब्राह्मणमें लिखा है कि :—

एवमिमे सर्व्वे वेदा निर्म्मितास्सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वयाख्याताः सपुराणाः सस्वराः ससंस्काराः सनिरुक्ताः सानुशासनाः सानुमार्जनाः सवाकोवाक्यास्तेषां यज्ञमभिपद्यमानानां क्रियते नामधेयं यज्ञमित्येवाचक्षते। (पूर्वभाग द्वितीय प्रपाठक)

इस मन्त्रमें ब्राह्मण, उपनिषद्, निरुक्त, कल्प, इतिहास, पुराण आदि सबका पृथक् पृथक् नाम उल्लेख किया गया है जिससे यह भी प्रमाणित होता है कि वेदके ब्राह्मणभागको ही पुराण कहनेकी कल्पना मिथ्या कल्पना है। अथर्व्ववेदमें लिखा है कि :—

स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् तमितिहासश्च पुराणञ्च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् इतिहासस्य च वै सपुराणस्य च गाथानाञ्च नाराशंसीनाञ्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद। (१५।६।१।१२)।

इससे भी सिद्ध होता है कि, वेदके संहिताभागमे भी पुराण का उल्लेख है। मनुसंहितामें भी लिखा है कि :—

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्म्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणान्यखिलानि च॥

श्राद्धमें वेद, धर्म्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण आदि, सबको सुनना चाहिये।

पुराण भारतवासियोंके अतिप्रिय हैं। अब भी यही देखनेमें आता है कि, भारतवर्षके सब प्रदेशोंमें सब ग्रन्थोंसे पुराणग्रन्थोंका प्रचार अधिक है।

इस प्रकारके धर्म्मग्रन्थोंका आदर केवल भारतवर्षमें ही नहीं, किन्तु विचारनेसे यही प्रतिपन्न होगा कि, पृथिवीके सकल धर्म्मावलम्बियोंमें ही इस रीतिके ग्रन्थ प्रचलित हैं और साधारण लोगोंमें इसी प्रकारके ग्रन्थोंका अधिक सम्मान देखनेमें आता है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि, धर्म्मके गम्भीर-ग्रन्थोंके विचार करनेमें साधारण लोगोंकी रुचि उतनी नहीं होती जितनी सरल इतिहासपूर्ण धर्म्मग्रन्थोंके पाठ करनेमें होती है। ईसाई धर्म्ममें यदि च ईसूमसीहके कोई इस प्रकारके पुराण ग्रन्थ नहीं देखनेमें आते हैं परन्तु उनके देहत्यागके पीछे उनके शिष्यों द्वारा बहुतसे इस रीतिके ग्रन्थ प्रकाशित हुए थे और अभी तक ईसाइयोंमें उनका प्रचार भलीभांति है। इसी प्रकार यदि च महम्मदी धर्म्मावलम्बियोंके लिये कुरानही प्रधान ग्रन्थ है तथापि उनके भक्तगणके ऐतिहासिक ग्रन्थ भी उक्त धर्म्मावलम्बियोंमें प्रचलित है। और बौद्ध जैन धर्मावलम्बियोंका तो कहना ही क्या है, क्योंकि इनके धर्म्मग्रन्थोंमें अधिकांश ग्रन्थ हमारे पुराण ग्रन्थोंके ही अनुकरण पर बनाये गये हैं, और उनका आदर इन सम्प्रदायोंके और और ग्रन्थोंसे अधिक है।

शास्त्रकारोंने पुराणके लक्षण इस प्रकार लिखे हैं कि:—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंश्यानां वंशचरितं पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

महाभूतोंकी सृष्टि, समस्त चराचरकी सृष्टि, वंशावली, मन्वन्तरवर्णन और प्रधान प्रधान वंशोंके व्यक्तियोंका क्रमशः विवरण, पुराणोंके ये पांच लक्षण हैं। महापुराण अष्टादश हैं, यथा:—

अष्टादश पुराणानि पुराणज्ञाः प्रचक्षते।
ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथा॥ इत्यादि।

ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, भागवतपुराण, नारदपुराण, मार्कण्डेयपुराण, अग्निपुराण, भविष्यपुराण, ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, लिङ्गपुराण, वाराहपुराण, स्कन्दपुराण, वामनपुराण, कूर्म्मपुराण, मत्स्यपुराण, गरुड़पुराण, ब्रह्माण्डपुराण यही अष्टादश महापुराण हैं।

कालिका, माहेश्वर, दैव, पाराशर, मारीच, भास्कर, इत्यादि अष्टादश उपपुराण हैं। इनमेंसे महापुराण और उपपुराण होनेके विषयमें किसी किसी

पुराणके नाममें साम्प्रदायिक मतभेद है। यथा—शैव और देवीके उपासकगण देवीभागवतको महापुराण कहते हैं और विष्णुके उपासकगण इसके विरुद्ध विष्णुभागवतको महापुराण कहते हैं। पुराणोंके अतिरिक्त जो इतिहासग्रन्थ हैं वे भी पुराणके ही अन्तर्गत हैं। यथा-श्रीमहाभारत और श्रीमद्रामायण। हरिवंश महाभारतके अन्तर्गत माना गया है। पुराण और इतिहासका प्रधानतः पार्थक्य यह है कि, इतिहासमें प्राचीन आख्यायिका अधिक, और सृष्टि आदिका तत्त्व कम बताया जाता है एवं पुराणमें सृष्टि आदिका वृत्तान्त अधिक और प्राचीन इतिवृत्त कम बताये जाते हैं। परन्तु इतिहासमें भी पुराणका अंश और पुराणमें भी इतिहासका अंश बहुत रहता है। जैसाकि महाभारतके शान्तिपर्व्वमें भीष्मदेवके उपदेशमें पुराणके अंश बहुत हैं और श्रीमद्भागवतमें कृष्णलीला आदि इतिहासका अंश बहुत है। इसलिये इतिहासमें कौन अंश पुराणका है और पुराणमें कौन अंश इतिहासका है इसको ठीक ठीक जानकर पढ़ना चाहिये अन्यथा भ्रान्ति होती है। इसके सिवाय समाधि-लौकिक-परकीय नामक त्रिविध भाषाओंका वैचित्र्य, अध्यात्मअधिदैवादि त्रिविध भाववैचित्र्य, वर्णनवैचित्र्य, अलंकारवैचित्र्य आदिके कारण भी पुराणोंके यथार्थ रहस्य समझनेमें बहुधा भ्रान्ति होती है, जिसका निराकरण क्रमशः किया जायगा।

पौराणिक वर्णनशैलीका रहस्यज्ञान न होनेसे बहुत स्थानोंपर ऐतिहासिक तथा भौगोलिक वर्णनोंके साथ पौराणिक वर्णनोंका असामंजस्य प्रतीत होता है, जो वर्णन रहस्यज्ञानसे दूर हो सकता है। नीचे कुछ दृष्टान्त देकर यह बातें समझाई जाती हैं।

आजकलके भूगोलमें लिखा है कि, पृथिवीका व्यास ८००० मीलका है। इसको भूगोलवेत्ताओंने नाप करके देख लिया है। अतः यह अभ्रान्त सिद्ध हुआ है। परन्तु पुराणोंमें लिखा है कि, पृथ्वीका परिमाण पचास कोटि ५००००००००० योजन है, इसलिये लोग इसमें संदेह करते हैं। अतः इसका समाधान किया जाता है। पुराणोंमें जो पृथिवीका परिमाण लिखा है और भूगोलवेत्ताओंने जो परिमाण लिखा है, वे दोनों सत्य हैं, केवल परिमाण करनेकी रीति पृथक् पृथक् है। भूगोलवेत्ताओंने जो पृथ्वीका नाप किया है सो पृथ्वीकी मध्यरेखा अर्थात् व्यासका है जो आठ हजार मील है। परन्तु पुराणमें समस्त पृथिवीकी भूमिका नाप घनफल निकालकर बताया है। किसी गोल पदार्थके घनफल निकालनेके

लिये शास्त्रमें यह युक्ति रक्खी गई है कि, उस गोल पदार्थके व्यासको तीन बार गुणा अर्थात् घन करके उसका आधा हिस्सा लिया जाय। इसी तरह हिसाब करनेसे सिद्ध होगा कि, पृथ्वीके व्यासका परिमाण जब आठ हजार मील है और दो मीलमें एक कोस और चार कोसका एक योजन होता है तो, आठ हजार मीलका एक हजार योजन हुआ जो कि पृथ्वीका व्यास है। इसलिये पृथ्वीकी समस्त भूमिका परिमाण घनफलके हिसाबसे $\frac{1000 \times 1000 \times 1000}{2} =$ ५०००००००० अर्थात् पचास कोटि योजन होगा, जिसको पुराणमें बताया गया है। इसलिये पुराणके वर्णनमें कोई असामञ्जस्य नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

द्वितीय दृष्टान्त, यथा-चन्द्र सूर्य्यका ग्रहण। भूगोलमें लिखा है कि, पृथिवीकी छाया चन्द्रपर पड़नेसे चन्द्रग्रहण और चन्द्रकी छाया सूर्य्यपर पड़नेसे सूर्य्य ग्रहण होता है, परन्तु पुराणमें लिखा है कि, राहुनामक एक असुर चन्द्र और सूर्य्यको जब ग्रस लेता है, तभी चन्द्रग्रहण और सूर्य्यग्रहण होता है। जब पहिली बात दूरवीक्षणयन्त्र द्वारा ठीक ठीक देख ली गई है, तो पौराणिक बात कैसे मानी जा सकती है, यही शङ्का है। इसका समाधान किया जाता है। राहुका ग्रास या छायाका पात दोनोंमें कोई भेद नहीं है, भेद केवल आस्तिकता और नास्तिकताका है। आस्तिक पौराणिकोंने दैव सम्बन्धसे छायाका वर्णन किया है, और भूगोलवेत्ताओंने उस सम्बन्धको उड़ाकर केवल छायाका ही वर्णन किया है। यह बात पहिले ही वेदाङ्गमें कही गई है कि, प्रकृतिके जड़ होनेसे सभी प्राकृतिक वस्तुएं जड़ हैं, इसलिये उन हर एक वस्तुओंको चलानेवाली अलग अलग चेतन शक्ति है, ये सब शक्तियां भगवान्की शक्तियां हैं। जिस प्रकार किसी बड़े राज्यका शासन करनेके लिये राजाकी शक्तिको लेकर भिन्न भिन्न विभागमें भिन्न भिन्न जज, मजिष्ट्रेट, मुन्सिफ, कोतवाल आदि अधिष्ठातागण राज्यका शासन करते हैं, ठीक उसी प्रकार प्रकृतिके विराट् राज्यमें प्रकृतिके राजा भगवान्की शक्तिको लेकर जड़प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागोंमें बहुतसे देवता अधिष्ठाता बनकर शासन करते हैं। जब प्रकृति अनादि, अनन्त और असीम हैं, तो प्रकृतिमें जड़वस्तुकी सख्या भी अनन्त है। इसलिये उन जड़वस्तुओंके ऊपर जो दैवी चेतनशक्तियां काम कर रही हैं उनकी संख्या भी अनन्त है, अतः देवता अनन्त हैं। पुराणमें जो ३३ कोटि देवताओंका वर्णन है वह अनन्तताका वाचक है। वेदमें भी 'सहस्रशीर्षः पुरुषः, सहस्राक्षः सहस्रपाद्' इत्यादि वर्णनोंमें सहस्र,

शब्दसे विराट्पुरुषके अनन्त हस्तादिकी ही बात कही गई है। ठीक इसी प्रकार वहां तेंतीस ३३ करोड़से करोड़ों अर्थात् अनन्त समझना चाहिये। अनन्त होनेपर भी ३३ तेंतीस करोड़ कहनेका कारण यह है कि—

"प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति"

प्राधान्यसे ही गिनती होती है। अनन्त देवताओंमें ३३ तेंतीस प्रधान हैं, यथा अष्ट वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र, प्रजापति, इस प्रकारसे तेंतीस ३३ और तेंतीससे अनन्त देवता प्रकृतिके अनन्त जड़ विभागोंपर चेतन परिचालकरूपसे विराजमान हैं। अब द्वितीय विचारका विषय यह है कि, प्रकृतिके अनन्त विभाग होनेपर भी साधारणतः इसमें दो विभाग हैं। एक सात्त्विक, द्वितीय तामसिक, इसको ज्ञान और अज्ञान अथवा प्रकाश या अन्धकार भी कह सकते हैं। दैवीशक्ति जिस प्रकार अनन्तरूपसे प्रकृतिके प्रकाशमय सात्त्विक विभागपर प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार प्रकृतिके अन्धकारमय तामसिक विभागके अनन्त स्थानोंपर अनन्त चेतन शक्तियां काम कर रही हैं, जिनको अनन्त आसुरीशक्ति या असुर कहते हैं। यही देवता और असुरोंमें भेद है। देवता सात्त्विक विभागमें, असुर तामसिक विभागमें, देवता ज्ञानके विभागमें; असुर अज्ञानके विभागमें, देवता प्रकाशके विभागमें, असुर अन्धकार या छायाके विभागमें, चेतनशक्तिरूपसे विराजमान हैं। पूर्व सिद्धान्तके अनुसार जिस प्रकार जड़ प्रकाशके ऊपर सूर्य्य, चन्द्र, अग्नि आदि चेतन देवताओंके विना प्रकाश कोई काम नहीं कर सकता है, ठीक उसी प्रकार अन्धकार या छायाके ऊपर चेतन आसुरीशक्ति अर्थात् राहुके विना छाया चन्द्रगोलक सूर्य्यगोलक या किसी वस्तुको आच्छन्न नहीं कर सकती है। आधुनिक भूगोलवेत्ताओंने केवल जड़ छायाको ही कार्यकारी मानकर छायाके बीच जो शक्ति है, उसको न जानकर छायापातसे ही सूर्य्य और चन्द्रका ग्रहण बताया है। किन्तु आस्तिक और ज्ञानदृष्टि होनेके कारण प्राचीन ऋषियोंने छायाके बीच जो चेतन आसुरीशक्ति राहुरूपसे काम कर रही है उसीसे चन्द्र-सूर्य्यका ग्रहण बताया है, यथा ऋग्वेद द्वितीयाष्टकमें "सूर्य्यं स्वर्भानुस्तमसाऽविध्यदासुरः" असुर राहु छायासे सूर्य्यको आवृत करता है। ठीक इसीके अनुरूप श्लोक ब्रह्मपुराणमें भी मिलता है, यथाः—

पर्वकाले तु सम्प्राप्ते चन्द्रार्कौ छादयिष्यसि।
भूमिच्छायागतश्चन्द्रं चन्द्रगोऽर्कं कदाचन॥

राहुको कहा जाता है कि तुम पूर्णिमा आदि पर्व दिनोंमें चन्द्रसूर्यको आच्छादित करोगे। कभी पृथिवीकी छायारूपसे चन्द्र पर और कभी चन्द्रकी छायारूपसे सूर्य पर तुम्हारा आक्रमण होगा।

ग्रहणमें प्रकाश पर आवरण आजानेसे उसका तमोमय प्रभाव शरीर तथा अन्तःकरणके ऊपर भी पड़ना निश्चय है, इसी कारण शास्त्रमे ग्रहणके समय गङ्गास्नान, दान, जप, पूजा, पुरश्चरण, आदिका विधान किया गया है। ग्रहणके तीन प्रहर पहिलेसे ही भोजन त्याग करनेका जो आर्यशास्त्रमें विधान है, उसका रहस्यज्ञान अब पश्चिमी विद्वानोंको भी होगया है। प्रो० टॉरेन्टन साहबने (Mac Millan & Co) अनुसन्धान कर यह निर्णय किया है कि, चन्द्रसूर्य ग्रहणके समय वायुमें एक प्रकारका विकार हो जाता है जिससे पेटमें अग्नि मन्द हो जाती है। अतः ग्रहणके भीतर या उससे पहिले भोजन करनेसे हानि होती है। यह सब शास्त्रके अनुकूल ही विषय है। इस प्रकारसे विचार करनेपर सभी पौराणिक वर्णनोंके साथ भौगोलिक वर्णनौका सामञ्जस्य निर्णय हो जायगा।

और भी शङ्का भागवत आदि पुराणोंकी ऐतिहासिक सत्यता पर होती है। यथा–कश्यप, दिति, अदिति, विनता, कद्रू, शरमा आदि नर-नारियोंसे दैत्य, दानव, पक्षी, सर्प, हाथी, घोड़े आदि उत्पन्न हुए है, ऐसा भागवतमें लिखा है। मानवी स्त्रीके पेटमें घोड़े, हाथी कैसे उत्पन्न हो सकते है, यह शङ्का है। अतः इसका समाधान किया जाता है। सृष्टिके रहस्य बड़े विचित्र हैं। सृष्टि केवल रजोवीर्य्यसे ही नही हुआ करती है। परन्तु वैजी और मानसी आदि सात प्रकारकी सृष्टि हुआ करती है। इसका प्रचुर रहस्यवर्णन 'श्रीकृष्णचरित्ररहस्य' नामक अध्यायमें पहिले ही किया गया है, जिससे यह ज्ञात होगा कि कश्यपके द्वारा दिति, अदिति आदिमें सृष्टि मानसी सृष्टिके अन्तर्गत है।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत, देवीभागवत, मार्कण्डेयपुराण आदि पुराण ग्रन्थौमे जम्बु, प्लक्ष आदि द्वीप, भूर्भुवः, स्वरादि उर्द्ध्वलोक तथा अतलवितलादि अधोलोकोंके ऐसे अनेक विचित्र वर्णन देखनेमें आते है, जिनका वर्त्तमान भौगोलिक वर्णनोंके साथ कुछ भी सामञ्जस्य नही पाया जाता। इस लिये प्रकृत प्रबन्धमें इस शङ्काका भी समाधान किया जाता है।

आर्य्यशास्त्रका यह सिद्धान्त है कि, समस्त स्थूल पदार्थ उसके सूक्ष्म

प्रतीकके ही परिणाम तथा विकाशमात्र हैं। अतिसूक्ष्म कारण शरीरसे ही सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है और स्थूलशरीर भी सूक्ष्मशरीरका विकाशमात्र है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरोंके मूलमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवात्माकी सत्ता है। अतः स्थूलके मूलमें सूक्ष्मके होनेसे आर्यशास्त्रमें सृष्टितत्त्वका सभी वर्णन स्थूलसूक्ष्ममय देखनेमें आता है। दैवजगत् स्थूलजगत्की अपेक्षा सूक्ष्म है, स्थूलजगतकी समस्त क्रिया दैवाधीन है। इसी कारण पूज्यपाद महर्षियोंने स्थूल मृत्युलोकके वर्णनके साथ सूक्ष्म दैवलोकोंका भी वर्णन किया है। चतुर्दश लोक इन्ही स्थूल सूक्ष्म दोनों प्रकारके भुवनोंकी समष्टिसे वना हुआ है।

श्रीमद्भागवतका पञ्चम स्कन्ध, देवीभागवतका अष्टम स्कन्ध आदिमें सप्तद्वीप सप्तसमुद्रमय विचित्र भुवनकोशके भूरिभूरि वर्णन देखनेमें आते हैं, जिनमेंसे कुछ वर्णन स्थूल पृथिव्यादि लोकसम्बन्धीय है और कुछ वर्णन पृथिव्यादिसे सम्बन्धयुक्त दैवलोक सम्बन्धीय है, यथा देवीभागवतमें :—

रथनेमिसमुत्थास्ते परिखाः सप्तसिन्धवः।
यत आसंस्ततः सप्त भुवो द्वीपा हि ते स्मृताः॥
जम्बुद्वीपः प्लक्षद्वीपः शाल्मलीद्वीपसंज्ञकः।
कुशद्वीपः क्रौञ्चद्वीपः शाकद्वीपश्च पुष्करः॥
तेषां च परिमाणं तु द्विगुणं चोत्तरोत्तरम्।
समन्ततश्चोपक्लृप्तं वहिर्भागक्रमेण च॥
क्षारोदेक्षुरसोदौ च सुरोदश्च घृतोदकः।
क्षीरोदो दधिमण्डोदः शुद्धोदश्चेति ते स्मृताः॥

'प्रियव्रत राजाके रथचक्राघात द्वारा जो सात खाईं उत्पन्न हुई थीं, वे ही सप्तसिन्धु बन गईं और उसी सप्तसमुद्रवेष्टित सप्तद्वीप भुवनकोशमें विद्यमान हैं, जिनके नाम जम्बु, प्लक्ष, शाल्मली, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर हैं। वे सप्तद्वीप उत्तरोत्तर द्विगुणित परिमाणके हैं और क्रमशः सात समुद्रके द्वारा वेष्टित है, जिनके नाम लवणसमुद्र, इक्षुरस समुद्र, सुरासमुद्र, घृतसमुद्र, क्षीरसमुद्र, दधिसमुद्र और शुद्धजलसमुद्र हैं। जम्बुद्वीप लवणसमुद्रके द्वारा वेष्टित है, प्लक्षद्वीप इक्षुरससमुद्रके द्वारा, शाल्मलीद्वीप सुरासमुद्र द्वारा, कुशद्वीप घृतसमुद्र द्वारा, क्रौञ्चद्वीप क्षीरसमुद्र द्वारा, शाकद्वीप दधिसमुद्र द्वारा और पुष्करद्वीप

जलसमुद्र द्वारा वेष्टित है, ऐसा प्रमाण देवीभागवतके उसी स्कन्धमें मिलता है। लवणसमुद्रवेष्टित जम्बुद्वीपके विषयमें देवीभागवत तथा श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि, जम्बुद्वीपमें इलावृतवर्ष, कुरुवर्ष, हरिवर्ष आदि नौ प्रकारके वर्ष हैं, उनमें-से भारतवर्ष भी एक प्रधान वर्ष है। इन सब वर्णनोंसे प्रतीत होता है कि, जम्बुद्वीप ही पृथिवीस्थानीय है, क्योंकि लवणसमुद्रके द्वारा पृथिवी ही वेष्टित है और भारतवर्ष भी पृथिवीमें ही है। प्लक्ष, कुश, शाल्मली आदि द्वीपोंके जिस प्रकार वर्णन देखनेमें आते हैं, उससे देवलोकोंके साथ उनका सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है, क्योंकि उनमें वर्णित समुद्र, नदी, वृक्ष, पर्वत तथा जीवसमूहका कोई भी प्रमाण प्रत्यक्ष भूगोल विद्या द्वारा सिद्ध नहीं होता है। और श्रीभगवान् वेदव्यासने भी योगदर्शन ग्रन्थमें लिखा है कि,—"सर्वेषु द्वीपेषु पुण्यात्मानो देव-मनुष्याः प्रतिवसन्ति" अर्थात् सातों द्वीपोंमें पुण्यात्मा देवतागण तथा मनुष्यगण निवास करते हैं। जम्बुद्वीपमें भी जो नौ प्रकारके वर्षोंका वर्णन देखनेमें आता है उनमेंसे भी भारतवर्षको छोड़ और सभी वर्ष देवलोकसे सम्बन्ध रखते हैं, क्योंकि श्रीमद्भागवतके वर्णनोंके द्वारा ऐसा ही उसके विषयमें सिद्धान्त स्थिर होता है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है:—

"तत्रापि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रमन्यान्यष्टवर्षाणि स्वर्गिणां पुण्यशेषोप-भोगस्थानानि भौमस्वर्गपदानि व्यपदिशन्ति। भारतेप्यस्मिन् वर्षे सरिच्छैलाः सन्ति बहवः। मलयोमैनाकस्त्रिकूटः सह्यो विन्ध्यो गोवर्द्धनो रैवतको नील इति चान्ये शतसहस्रशः शैलास्तेषां नितम्बप्रभवा नदा नद्यश्च सन्त्यसंख्याताः। एतासामपो भारत्यः प्रजा नामभिरेव पुनन्ती नामात्मना चोपस्पृशन्ति ताम्र-पर्णी कावेरी तुङ्गभद्रा गोदावरी तापी नर्मदा चर्मण्वती महानदी मन्दाकिनी यमुना सरस्वती दृषद्वती गोमती सरयू शतद्रुश्चन्द्रभागावितस्ता इति महानद्यः। अस्मिन्नेव वर्षे पुरुषैर्लब्धजन्मभिः शुक्ललोहितकृष्णवर्णेन स्वारब्धेन कर्मणा दिव्यमानुषनारकगतयो बह्वय आत्मन आनुपूर्व्येण सर्वा ह्येव सर्वेषां विधी-यन्ते यथावर्णविधानमपवर्गश्चापि भवति"।

जम्बुद्वीपान्तर्गत नौ वर्षोंमेंसे भारतवर्ष ही कर्मक्षेत्र है, बाकी आठ वर्ष भौमस्वर्ग कहलाते हैं, जिनमें स्वर्गवासिगण पुण्यशेष भोगके लिये निवास

करते हैं। भारतवर्षमें नदी, पर्वत अनेक हैं, यथा—मलय, मैनाक, त्रिकूट, सह्य, विन्ध्य, गोवर्धन, रैवतक आदि शत शत पर्वत हैं और ताम्रपर्णी, कावेरी, तुङ्गभद्रा, गोदावरी, ताप्ती, नर्मदा, चर्मण्वती, महानदी, गङ्गा, यमुना, सरस्वती, दृषद्वती, गोमती, सरयू, शतद्रु, चन्द्रभागा, वितस्ता आदि असंख्य नदियां हैं, इसी भारतवर्षमे जन्मलाभ करके सात्त्विक राजसिक तथा तामसिक कर्मानुसार मनुष्योंको यथाक्रम दिव्यगति, मानुषगति और निरयगति प्राप्त होती है और पुण्यविपाकसे ज्ञान द्वारा अपवर्ग भी प्राप्त होता है। इन सब वर्णनोंसे वर्तमान भारतके साथ पुराणवर्णित भारतवर्षकी सम्पूर्ण एकता सिद्ध होती है और इसी विचारसे जम्बुद्वीपके साथ पृथिवीका भी सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है। जम्बुद्वीपके विषयमे श्रीमद्भागवतमें और भी लिखा है, यथा:—

"जम्बुद्वीपस्य च राजन्नुपद्वीपानष्टौ हैक उपदिशन्ति
तद्यथा स्वर्णप्रस्थश्चन्द्रशुक्र आवर्त्तनो रमणको मन्द-
हरिणः पाञ्चजन्यः सिंहलो लंकेति"

जम्बुद्वीपके अन्तर्गत आठ उपद्वीप भी हैं, उनके नाम स्वर्णप्रस्थ, चन्द्रशुक्र, आवर्त्तन, रमणक, मन्दहरिण, पाञ्चजन्य, सिंहल और लङ्का हैं। इनमेंसे सिंहल और लङ्काके नाम तो अब तक भी वही हैं, शेषोंके नाम कालानुसार बदल दिये गये होंगे। अतः यह भी वर्णन प्रत्यक्ष भौगोलिक वर्णनोंके साथ ठीक ठीक मिलता है।

इलावृतादि वर्षोंके विषयमें देवीभागवतमें लिखा है—

यदुपस्पर्शिनो देवा योगैश्वर्याणि विन्दते।
देवोद्यानानि चत्वारि भवन्ति ललनासुखाः॥
नन्दनं चैत्ररथकं वैभ्राजं सर्वभद्रकम्।
येषु स्थित्वाऽमरगणा ललनायूथसंयुताः॥
उपदेवगणैर्गीतमहिमानो महाशयाः।
विहरन्ति स्वतन्त्रास्ते यथाकामं यथासुखम्॥

इस प्रकार श्रीमद्भागवतमें भी लिखा है:—

देवोद्यानानि च भवन्ति चत्वारि नन्दनं चैत्ररथं वैभ्राजकं सर्वतोभद्रमिति।

येष्वमरपरिवृताः सह सुरललनाललामयूथपतय उपदेवगणैरुपगीयमानमहिमानः किल विरहन्ति।

इलावृतादि वर्षोंमें नन्दन, चैत्ररथ, वैभ्राजक और सर्वभद्रक नामक चार देवोद्यान हैं। इनमें ऊपर कथित भौमस्वर्गवासी पुण्यशेषभोक्ता देवतागण देवललनाओंके साथ स्वच्छन्द विहार करते हैं। उपदेवगण इनकी महिमा गान करते रहते हैं। अतः भारतवर्षके सिवाय और आठ वर्ष दैवलोकसे सम्बन्ध रखते है, यह सिद्धान्त प्रमाणित हुआ। जम्बुद्वीपके साथ पृथ्वीका किस प्रकार सम्बन्ध है, सो पहिले ही बताया गया है। यही भुवनकोशान्तर्गत उपद्वीप द्वीप तथा वर्षोंके साथ सूक्ष्मलोक तथा प्रत्यक्ष भूगोलसिद्ध पृथिवीग्रहका वर्णन-सामञ्जस्य है। अतःपर स्थूलसूक्ष्मलोकसमन्वित चतुर्दश भुवनोंका वर्णन नीचे किया जाता है।

आर्य्यशास्त्रमें ब्रह्माण्डमय विराट् पुरुषका वर्णन करते समय उनके नाभिदेशसे ऊपरके अंशमें सात ऊर्द्ध्वलोक तथा नाभिसे निम्नदेशोंमें सात अधोलोकोंका स्थान बताया गया है। श्रीमद्भागवतके द्वितीय स्कन्धके पञ्चमाध्यायमें वर्णन है:—

स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः।
सहस्रोर्व्वङ्घ्रि बाहृक्षः सहस्राननशीर्षवान्॥
यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्द्ध्वं जघनादिभिः॥
भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः॥
ग्रीवायां जनलोकोऽस्य तपोलोकः स्तनद्वयात्।
मूर्द्धभिः सत्यलोकश्च ब्रह्मलोकः सनातनः॥
तत्कट्याञ्चातलं क्लृप्तमुरुभ्यां वितलं विभोः।
जानुभ्यां सुतलं शुद्ध जङ्घाभ्याञ्च तलातलम्॥
महातलन्तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम्।
पातालं पादतलत इति लोकमयः पुमान्॥

सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष, सहस्रपाद, सहस्रबाहु विराट् पुरुषने अण्ड अर्थात् ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति की। मनीषिगण उनके कटिदेशसे अधोभागमें सप्त अधोलोक और जंघाके ऊद्ध्र्वभागमें सप्त ऊद्ध्र्वलोककी कल्पना करते हैं। भूर्लोक नाभिके आस पास है, भुवर्लोक नाभिसे ऊपरकी ओर है, हृदयदेशमें स्वर्लोक है, वक्षस्थलमें महर्लोक, गलेमें जनलोक, स्तनोंके ऊपर तपोलोक और मस्तकमें सत्यलोककी कल्पना की जाती है। इसी प्रकारसे कटिदेशमें अतललोक, उरुदेशमें वितललोक, जानुदेशमें सुतललोक, जघाओंमें तलातललोक, गुल्फोंमें महातललोक, पांवमें रसातललोक, और चरणतलमें पाताललोककी कल्पना की जाती है। अतः भूः, भुवः, स्वः, महः, जन, तपः और सत्य ये सात ऊद्ध्र्वलोक तथा अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल ये सात अधोलोक इस प्रकारसे चतुर्दश लोक हुए। इनमेंसे भूर्लोकके अन्तर्गत चार लोक हैं, यथा—मृत्युलोक, प्रेतलोक, नरकलोक और पितृलोक। प्रेतलोक, नरकलोक तथा पितृ-लोकके विषयमें पहिले ही कहा गया है। मृत्युलोक भूर्लोकका चतुर्थांश है और चतुर्दश भुवनके एक चतुर्दशांशका भी एक चतुर्थांश है। इसीमें मनुष्यादि पाञ्चभौतिक स्थूलशरीरविशिष्ट जीवगण उत्पन्न होकर नरक, स्वर्ग, प्रेत, पितृ, देवता, असुरादि भिन्न भिन्न लोकोंमें कर्मभोगके लिये जाया आया करते हैं और इसी प्रकार जीवोंका आवागमनचक्र बना रहता है। अतः निश्चय हुआ कि, चतुर्दश लोकोंमेंसे यह मृत्युलोक ही स्थूल है, बाकी सभी ऊद्ध्र्व तथा अधोलोक सूक्ष्म हैं। सूक्ष्म लोकोंकी स्थिति स्थूल लोकोंकी तरह देशपरिच्छिन्न नहीं है; अर्थात् जिस प्रकार पृथिवी आदि स्थूल लोकान्तर्गत ग्रहोंकी स्थूल सीमा है और एककी सीमाके भीतर दूसरा नहीं रह सकता है, अतल, वितलादि अधो-लोक तथा भुवः स्वरादि ऊद्ध्र्वलोकोंकी इस प्रकार स्थूल सीमा नहीं है। इनकी स्थिति केवल सूक्ष्मताके तारतम्यानुसार ही है और इस कारण एक अति सूक्ष्मलोक उससे कम सूक्ष्म किसी दूसरे लोकके भीतर अनायास ही रह सकता है। जिस प्रकार जीवदेहमें स्थूलशरीरके भीतर ही सूक्ष्मशरीर रहता है और सूक्ष्मशरीरके भीतर ही अति सूक्ष्म कारण शरीर रहता है तथा इसी प्रकारके पञ्चकोषमय जीवदेहमें अन्नमय कोषके भीतर ही प्राणमय कोष रह सकता है और प्राणमय कोषके भीतर ही मनोमय, विज्ञानमय आदि कोषोंकी अनायास स्थिति हो सकती है, इनके लिये अलग अलग देशावच्छिन्न सीमाओंकी कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं होती है, ठीक उसी प्रकार एक सूक्ष्मलोकके साथ

अन्य सूक्ष्मलोकका देशावच्छेदसे कोई भी सीमा निर्देश नहीं है और आवश्यकतानुसार एक दूसरेके भीतर रह भी सकते हैं। द्वितीयतः समष्टि और व्यष्टिरूपसे ब्रह्माण्ड और पिण्डके एकत्व सम्बन्धसे युक्त होनेके कारण जिस प्रकार चतुर्दश लोकोंकी स्थिति ब्रह्माण्डमें है, इसी प्रकार पिण्डदेहमें भी चौदह लोकोंकी स्थिति है और जिस प्रकार पिण्डदेहमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय इन पांचकोषोंकी स्थिति है, उसी प्रकार ब्रह्माण्डमें भी पञ्चकोषोंकी स्थिति है। इस लिये सूक्ष्मलोकमें रहनेवाले देवजगत्के जीव तथा देवता असुरादिका सम्बन्ध और प्रभाव प्रत्येक पिण्डशरीरपर भी है और पिण्ड-देहान्तर्गत प्राणमय, मनोमयादि कोषोंकी सहायतासे, तत्तत् कोषोंसे सम्बन्ध रखनेवाले देवजगत्के जीव तथा देवासुरादियोंके साथ भी स्थूललोकके जीव नानाप्रकारका सम्बन्ध स्थापन कर सकते है। पुराणादि शास्त्रोंमें जो मृत्युलोकके जीवोंके साथ इन्द्रलोक, वरुणलोक, आदि लोकोंका तथा तत्तत् लोकवासी इन्द्र, वरुण, कुवेर आदि देवताओंके साथ नानाप्रकारके आदान प्रदानका वृत्तान्त देखनेमें आता है, ऊपर कथित ब्रह्माण्ड पिण्डकी एकता तथा पञ्चकोषका विस्तार ही इसमें कारण स्वरूप है। यही पिण्डशरीरमें प्राणमयादि सूक्ष्म कोषोंकी स्थितिके सदृश ब्रह्माण्डशरीरमें उन्नतावनत चतुर्दश लोकोंकी स्थिति है।

अब पुराणों पर अश्लीलता आदिका जो कलंक लगाया जाता है उसका निराकरण किया जाता है।

देवीभागवतमें एक कथा आती है कि, जलन्धर नामका एक असुर बड़ा अत्याचारी था, देवताओंको लूटना, देवियोंका पतिव्रत नष्ट करना, देवताओंका स्वर्ग जीत लेना, यही उसका काम था। उसकी वृन्दानाम्नी स्त्री बड़ी सती थी, जिसके पातिव्रत्यके तेजसे जलन्धरको कोई नही मार सकता था। इधर असुरके अत्याचारसे सृष्टिकी शृंखला विगड़ने लग गई जिससे सृष्टिरक्षक विष्णुजीको वृन्दाका सतीत्व नाश करके सृष्टिकी रक्षा करनी पड़ी। इसपर विष्णुजीको सतीत्व नष्ट करनेका दोष लगाया जाता है। अतः इसका समाधान किया जाता है। इस कथामें पहिला उपदेश सतीकी महिमा पर है, जिसके सामने देवताओंकी तो बात ही क्या है, विष्णुकी शक्ति भी परास्त होती है। दूसरा उपदेश धर्म्माधर्म्मके रहस्यका है। व्यावहारिक जगत्में धर्म्माधर्म्मका निर्णय लघु गुरु भेदसे होता है, कोई कार्य्य ठीक धर्म्म या ठीक अधर्म्म नहीं है, परन्तु जिस सम्बन्धमें

या जिस भूमिमें धर्म्माधर्म्मका प्रयोग हो उस सम्बन्ध या भूमिके अनुसार धर्म्माधर्म्मका सिद्धान्त निर्णय होता है। दृष्टान्तरूपसे समझ सक्ते हैं कि किसी मनुष्यकी हत्या करना पाप है परन्तु हजारों मनुष्योंकी रक्षाके लिये एकका प्राण लेना पड़े तो इसमें प्राणरक्षारूप धर्म होगा। क्योंकि धर्म्माधर्म्मका निर्णय तारतम्यसे होता है। विष्णु वृन्दाका संवाद ठीक इसी प्रकारका है। इसमें भी विष्णुकी तो बात ही क्या है, यदि सतीत्व नाश करनेवाला विष्णु न होकर दूसरा कोई साधारण मनुष्य होता तौ भी उसको इस प्रकारके सतीत्व-नाश करनेमें हानि नहीं थी। किसी सतीका सतीत्व नाश करना महापाप है परन्तु जिस असुरकी स्त्रीके सतीत्व रहनेसे लाखों देवियोंका सतीत्व नाश होजाय, देवताओं पर अन्याय तथा अत्याचार हो, देवराज्य भ्रष्ट हो, ब्रह्माण्डमें विशृंखला फैलजाय, विराट् पुरुषका अटूट नियम टूटने लगजाय, तो क्या इस प्रकार सतीत्वकी रक्षा महान् अनर्थ और पापका कारण नही है ? निष्पक्ष होकर विचार करनेसे अवश्य सिद्धान्त होगा कि जिस प्रकार मनुष्य-हत्या पाप होने पर भी अवस्था भेदसे ऊपर कथित एक मनुष्यकी हत्या विधेय है, ठीक उसी प्रकार सतीत्वनाश पाप होनेपर भी जिस स्त्रीके सतीत्व रहनेसे लाखों स्त्रियोंका सतीत्वनाश, संसारमें अत्याचार, पापविस्तार, और भगवान्‌के नियममें भंग हो, उस एक स्त्रीका सतीत्वनाश अवश्य कर्त्तव्य है। इसको निष्पक्ष मनुष्य कभी अस्वीकार नहीं कर सकते हैं। अब विचार करनेकी बात यह है कि, सतीका सतीत्वनाश, साधारण विचारसे पाप होने पर भी भगवान्‌को वह स्पर्श कर सकता है या नही।

श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

जिनको "मैं करता हूँ" यह अहंकार नहीं है, जिनकी बुद्धि कमलदलस्थित जलतुल्य निर्लिप्त है, वे हत्या करने पर भी हन्ता नहीं होते और न हत्याजनित पापसे बद्ध होते हैं। इसलिये जीवन्मुक्त महापुरुष जो कुछ कार्य्य करते हैं उससे उनको पाप या पुण्य नहीं होता है। क्योंकि जीवन्मुक्तका कोई कार्य्य स्वेच्छासे नही होता है। जब जीवन्मुक्तके ही लिये यह बात है तो विष्णुके लिये फिर क्या कहना, वे तो सदा ही शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव हैं। उनका जो कुछ कार्य्य है,

वह अपने लिये नहीं, परन्तु प्रकृतिप्रवाहमें धर्म्मकी धाराको अनुकूल रखनेके लिये है। अतः विष्णुका कोई कार्य्य विष्णुको स्पर्श नही करेगा किन्तु ब्रह्माण्ड-प्रकृतिको स्पर्श करेगा। और वह कार्य्य ब्रह्माण्ड-प्रकृतिके अनुकूल होनेसे सदा ही धर्म्म होगा। इसलिये विष्णुवृन्दासंवादमें भगवान् विष्णुने जो कुछ किया था उसके पाप या पुण्यरूप कोईभी संस्कार विष्णुको स्पर्श नही कर सकते थे और ब्रह्माण्ड-प्रकृतिके विचारसे उन्होंने धर्म्म ही किया था। यही पुराणका महाराज युधिष्ठिरकथित "धर्म्मस्य तत्त्वं निहित गुहायाम्" है। इसको ज्ञानवान् पुरुष समझ सकते है, पक्षपाती दोषदृष्टिसम्पन्न मनुष्य नही समझ सकते हैं।

इसतरह भागवतादि पुराणोंको न जानकर अर्वाचीन पुरुषोंने बहुत कुछ सन्देह उठाया है, और बहुतसी मिथ्या बाते भी बनाकर पुराण पर ठट्ठा किया है। यथा-हिरण्याक्ष पृथ्वीको चटाईके सदृश लपेटकर शिरानेपर धरकर सोगया, भगवान्ने प्रह्लादके लिये गर्म्म खम्भेपर चिंटी चढ़ा दी, प्रातःकालसे सन्ध्या पर्य्यन्त चार मील रास्ता वायुवेगके समान रथपर चढ़कर गये इत्यादि ये सब बातें मिथ्या हैं और भागवतमें नही है। पहिले ही कहा गया है कि पुराण भावप्रधान ग्रन्थ हैं। अतः बहुतसे स्थानोंमें भावको पूर्णरूपसे प्रकट करनेके लिये अतिशयोक्ति भी पुराणोंमें मिलती है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि, यदि कोई कह दे, कि, उनके तेजसे संसार कॉपता है, उनके सौन्दर्य्यको देखकर ईर्षासे चन्द्र सूखगये, तो, इसका तात्पर्य भावप्रधान समझना चाहिये। इसी प्रकार चण्डीमें रक्तबीजके प्रभाव तथा संसारके रक्तबीजमय होजानेका वर्णन वासनाके विस्तारका वर्णन है। इसी प्रकार महर्षि वेदव्यासकी माता सत्य-वतीके विषयमें महाभारत आदि पर्व अध्याय ६३ में लिखा है कि, वह उपरिचर वसुके वीर्यसे एक शापभ्रष्टा यमुनावासी अद्रिक नामक मछलीके पेटसे निकली थी जिसको धीवरने पाला था। महर्षि वशिष्ठ भी मित्रावरुण और अप्सरा द्वारा उत्पन्न हुए थे। ये सब अलौकिक दैवी सृष्टि होनेके कारण लौकिक नियममें नहीं आ सकते।

शिवपुराणमें एक कथा आती है कि, नारायण जलके भीतर सोये हुए थे, उनके नाभिकमलसे ब्रह्माजी प्रकट हुए, फिर दोनोंमें इस बातपर लड़ाई होने लगी कि, कौन बड़े है, उनकी लड़ाई हो रही थी, इतनेमें उनके बीचमें शिवजीका प्रचण्ड ज्योतिर्लिङ्ग प्रकट हुआ, जिसका पता लगानेके लिये ब्रह्माजी ऊपरकी

ओर और विष्णुजी नीचेकी ओर गये, परन्तु किसीको पता नहीं चला जिससे उन लोगोंको मालूम हुआ कि, उन दोनोंसे भी बड़ा तीसरा कोई है, इस बातको जानकर दोनोंने विवाद छोड़ दिया, इत्यादि, इत्यादि । इस लौकिकभाषारूपी वर्णनका तात्पर्य्य यह है । 'लिङ्ग' शब्दका भावार्थ पहिले ही अध्यायमें कहा गया है कि 'लयनाल्लिङ्गमुच्यते' अर्थात् जहां पर समस्त सृष्टिका लय हो उस परमात्माका नाम ही लिङ्ग है । परमात्माकी अनादि अनन्त सत्ता लिङ्गका बोधक है जिसका पता जीवकी तो बात ही क्या, ब्रह्मा, विष्णुतक भी नहीं लगा सकते हैं । इसलिये सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक परमात्माके राज्यमें किसीको यह अहंकार नहीं करना चाहिये कि, हम बड़े हैं । यही आध्यात्मिक भाव लौकिक भाषाके द्वारा प्रकट किया गया है । इसमें जो जलकी बात लिखी है सो स्थूल जल नहीं है, परन्तु कारण वारि अर्थात् समष्टि जीवोंका कर्म्म-संस्कार है । उन्हीं कर्म्म-संस्कारोंके बीचमें संस्कारोंसे सृष्टि करनेके लिये चेतनशक्ति नारायण रहते हैं। उन्हींकी चेतनशक्तिसे समष्टि संस्कार जब फलाभिमुखीन होते हैं तभी विकारहीन अर्थात् अव्याकृत प्रकृतिमें विकार-की सूचना अर्थात् व्याकृतावस्था होती है । उसी व्याकृतावस्था प्रकृतिको ही कमल कहा गया है और वह विष्णुजीको केन्द्रीभूत चेतनशक्ति (Central living Energy) का ही फल है । इसलिये विष्णुजीकी नाभिसे ही कमलकी उत्पत्ति कही गयी है, जिसमें ब्रह्माजी उत्पन्न होते हैं । यह शिवपुराणमें वर्णित उस लौकिक भाषाका आध्यात्मिक तत्त्व है ।

महाभारतमें द्रौपदीके पञ्च पतिका वर्णन देखकर लोग घबड़ाने लगते हैं और इस बातसे और भी घबड़ाते हैं कि, पांच पति होने पर भी द्रौपदी कैसे प्रातःस्मरणीया होगई । यह एक असाधारण घटना है, जिसका समाधान नीचे किया जाता है । हिन्दूशास्त्रका यह सत्य सिद्धान्त है कि, मनुष्य धर्म्मके किसी अङ्ग या उपाङ्गका भी अनुष्ठान करे यदि वह अनुष्ठान पूर्ण हो तो उसीसे उसकी मुक्ति होसकती है क्योंकि जिस प्रकार अग्निके एक कणमे भी, विशाल अग्निके समान, ससारको भी दग्ध कर देनेकी शक्ति है, उसीप्रकार धर्म्मके प्रत्येक अंग या उपांग में, उन्नति और मुक्ति देनेकी शक्ति है । जिस समय वीर अर्जुनने स्वयंवरमें लक्ष्यभेद करके द्रौपदीको जीत लिया और पांचो भ्राता मिलकर द्रौपदीके साथ आश्रम पर आये तो नित्यके नियमानुसार माता कुन्ती-

को अर्ज्जुनने पुकारकर कहा कि मातः! आज एक अपूर्व रत्न हम लोग लाये है। उन लोगोंका नियम यह था कि किसी वस्तुके लाने पर माताकी आज्ञासे परस्परमें बांट लिया करते थे, आज भी उसीप्रकार अर्ज्जुनने मातासे जब आज्ञा मांगी तो कुन्तीने घरके भीतरसे विना देखे ही कह दिया कि जो वस्तु लाये हो उसको पांचो भ्राता बांट लो। पाण्डव लोग अत्यन्त मातृभक्त थे, कुन्तीको भी ज्ञान नही था कि उस दिनकी वस्तु बांटनेके योग्य नही है, इसलिये उन्होंने आज्ञा कर दी। इसप्रकार मातृ-आज्ञापालनरूप धर्म्मके अंगको मुख्य मानकर पञ्च पाण्डवोंने एक स्त्रीके साथ विवाह किया। इस कार्य्यमें मातृभक्तिरूप धर्म्माङ्गका प्राधान्य है, यथा युधिष्ठिरकी उक्ति है—

> गुरोर्हि वचनं प्राहुर्धर्मं धर्मज्ञसत्तम ।
> गुरूणां चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः ॥
> सा चाप्युक्तवती वाचं भैक्ष्यवद्भुज्यतामिति ।
> तस्मादेतदहं मन्ये परं धर्मं द्विजोत्तम ॥ महाभारत।

गुरुका वचन ही धर्म है, सब गुरुओंमें माता ही श्रेष्ठतम गुरु हैं, जब उन्होंने भिक्षान्नकी तरह बांट लेनेकी आज्ञा की है, तब इसे परमधर्म मानकर हम पांचो ही द्रौपदीके साथ विवाह करेंगे। यद्यपि माताकी आज्ञा अज्ञानसे थी और अर्ज्जुन युधिष्ठिरादि भी इस बातको जानते थे, यदि वे माताकी इस अज्ञानकृत आज्ञाको न मानकर, उन्हे यथार्थ घटना समझा देते कि उस दिनकी वस्तु बांटने योग्य नही है, इसलिये ऐसी आज्ञा न करनी चाहिये तो इससे भी कोई दोष न होता। परन्तु इस प्रकार माताको बता देनेसे ज्ञानप्रधान धर्म्म होजाता, भक्तिप्रधान नही रहता। पञ्च पाण्डवोंने जिस धर्म्मका आदर्श इस विवाहमें दिखाया वह ज्ञानप्रधान नही था, परन्तु मातृभक्तिप्रधान था। उन्होंने भक्तिको ही मुख्य मानकर विचार करनेकी आवश्यकता नही समझी थी, क्योंकि माताने जब आज्ञा की है तो चाहे वह आज्ञा ज्ञानमूलक हो, या अज्ञानमूलक हो, उस पर विचार करनेका पुत्रको कोई अधिकार नही है। पुत्रका कर्त्तव्य केवल माताकी आज्ञा पालन करना है। बाकी पाप पुण्यका भार माता पर ही है। इस प्रकार धर्म्मके भक्ति अंगको मुख्य माननेसे पञ्च पाण्डवोंका विवाह एक द्रौपदीसे हुआ था। यही इस प्रकार असाधारण विवाहका रहस्य है। इसके सिवाय-

महाभारतमें और भी लिखा है, कि, पञ्च पाण्डव इन्द्रके अंशसे उत्पन्न हुए थे, और द्रौपदी इन्द्राणी थी। पूर्वजन्ममें शिवोपासनासे शिवके दर्शन मिलने पर आनन्दमें विह्वल हो पांच वार 'पतिं देहि' कहा था, इस कारण प्रार्थना स्वीकार तथा सतीत्व रक्षा दोनों विचारसे एक ही इन्द्र पांच रूपमें आये थे। इस प्रकार-के पांच पति होने पर भी द्रौपदीके प्रातःस्मरणीया होनेका कारण यह है कि उन्होंने पांच पति होने पर भी उसी अवस्थामें अपने नारीधर्म्मकी ठीक ठीक रक्षा की थी। नियमके अनुसार जितने दिनों तक एक पतिसे सम्बन्ध रखती थी, उतने दिनों तक और चार पाण्डवोंके प्रति मनसे भी पतिभावको नहीं रखती थी। यही द्रौपदीकी दृढ़ता, असाधारण धारणा और उसके विभूतिरूप होनेका परिचय है। इसलिये ही द्रौपदी प्रातःस्मरणीया है।

यह वात पहिले ही कही गई है कि पुराण भगवान्‌के निश्वासरूप होनेसे पुराणका नित्य और घनिष्ठ सम्वन्ध भगवान्‌के साथ है. इसलिये जैसे भगवान् पूर्ण है ऐसे ही पुराण भी पूर्ण है। अव पुराणकी यह पूर्णता त्रिविध भाषा, त्रिविध भाव आदि रूपमे किस प्रकारसे है नीचे उसका कुछ वर्णन किया जाता है।

पुराणकी पूर्णता त्रिविध भाषामें है। आजकल जो पुराण पर वहुत लोगों का सन्देह हुआ करता है, उसमें और और कारणोंके सिवाय यह भी एक प्रधान कारण है कि, लोग पुराणकी भाषाको समझकर पढ़ना नहीं जानते। पुराणमें तीन प्रकारकी भाषा वर्णित है, यथा—

समाधिभाषा प्रथमा लौकिकीति तथाऽपरा।
तृतीया परकीयेति शास्त्रभाषा त्रिधा स्मृता॥

पुराणोंमें समाधिभाषा, लौकिकभाषा और परकीयभाषा, तीन प्रकारकी भाषा हुआ करती है। समाधिभाषा उसका नाम है कि, जिसके द्वारा ऋषियोंने वेदके अतिगम्भीर समाधिगम्य तत्त्वोंको रूखी सूखी कठिन भाषामें पुराणोंमें लिख दिया है। लौकिकभाषा उसका नाम है कि, जिसके द्वारा ऋषियोंने समाधिगम्य कठिन तत्त्वोंको वहुत प्रकारके रूपक और अलंकारके साथ अति-सरस लौकिकभाषा द्वारा प्रकट किया है। तृतीय परकीयभाषा उसका नाम है कि जिसमें पौराणिक इतिहासोंके द्वारा धर्म्मतत्त्व समझाया गया है। केवल "सत्यं वद" "धर्म्मं चर" सत्य वोलो, धर्म्मका आचरण करो, इस प्रकार रूखा उपदेश करनेसे थोड़े ही लोग सत्यवादी और धार्मिक होते हैं। परन्तु यदि इसी

शिक्षाको हरिश्चन्द्र, रामचन्द्र आदिके दृष्टान्त द्वारा समझा दिया जाय तो लोग मान लेते हैं और धार्म्मिक होते हैं। इसलिये ही पुराणोंमें परकीयभाषाका वर्णन है। वेदोंमें भी यही तीनों प्रकारकी वर्णनशैली है। केनोपनिषद्‌में जो अग्नि, वायु आदि देवताओंका दर्प्प चूर्ण करके ब्रह्मकी सर्वशक्तिमत्ता बताई गई है और छान्दोग्योपनिषद्‌में जो इन्द्रियोंमें परस्परमें प्रधानताके लिये विवाद बताकर अन्तमें प्राणकी प्रतिष्ठा बताई गई है, वे सब वेदके लौकिक वर्णन हैं। उसी प्रकार वेदोंमें दृष्टान्तरूपसे अनेक गाथायें भी हैं। यह तीनों प्रकारका वर्णन स्वभाव-सिद्ध है, क्योंकि संसारमें सब अधिकारी एकसे नहीं होते और न सब समय एक प्रकारका भाव अच्छा ही लगता है, इसी कारण पुराणोंमें इस प्रकारका भाषावैचित्र्य है। विष्णुपुराणके प्रथमाध्यायमें सृष्टिवर्णनप्रसंगमें प्रकृति और पुरुषके सयोगसे जिस भाषामें महत्तत्त्व, अहंतत्त्व, मन, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूत आदिकी सृष्टिका वर्णन किया गया है वह सब समाधिभाषा है। इसी समाधिगम्य तत्त्वका देवीभागवत और श्री-मद्भागवतमें लौकिकभाषाके द्वारा विचित्ररूपसे वर्णन किया है। देवीभागवतमें लिखा है कि—

स कृष्णः सर्व्वसृष्टादौ सिसृक्षन्नेक एव च।
सृष्टयुन्मुखस्तदंशेन कालेन प्रेरितः प्रभुः॥
स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधारूपो बभूव ह।
स्त्रीरूपो वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान्स्मृतः॥
दृष्ट्वा तान्तु तया सार्द्धं रासेशो रासमण्डले।
रासोल्लासे सुरसिको रासक्रीडां चकार ह॥
अथ सा कृष्णचिच्छक्तिः कृष्णगर्भं दधार ह।
शतं मन्वन्तरं यावत् ज्वलन्ती ब्रह्मतेजसा॥
शतं मन्वन्तरान्ते च कालेऽतीते च सुन्दरी।
सुषाव डिम्बं स्वर्णाभं विश्वधाराऽऽलयं परम्॥

संसारके सृष्टि करनेवाले श्रीकृष्ण परमात्मा प्रलयके समय अकेले ही थे, परन्तु जब कालकी प्रेरणासे उनमें सृष्टि उत्पन्न करनेकी इच्छा हुई तो उन्होंने

अपने वाम अङ्गसे एक स्त्रीको निकाला, वही स्त्री प्रकृति है। अपनी शक्तिरूपिणी उस स्त्रीको देखकर परमात्माने उसके साथ विहार करना आरम्भ करदिया, पश्चात् उस स्त्रीका गर्भ हुआ, एक सौ मन्वन्तर तक वह गर्भ रहा, जिसके बाद प्रकृतिके पेटसे एक अण्डा निकला, और उसी अण्डेसे सब सृष्टि बन गई। यही देवीभागवतकी लौकिकभाषा है। विष्णुपुराणमें जो सृष्टिका तत्त्व समाधिभाषाके द्वारा बताया गया है, उसीको लौकिक भाषाके द्वारा इस प्रकारसे देवीभागवतमें बताया गया है। भाव दोनोंका एकही है, भाषाका केवल वैचित्र्य है। ठीक इसी तत्त्वका आंशिकरूपसे श्रीमद्भागवतके अष्टमस्कन्धके द्वादश अध्यायमें वर्णन किया गया है, जिसमें भगवान्की दैवी मायाकी महिमाका वर्णन करते हुए शिव शक्तिके सम्बन्धसे सृष्टिका विषय बताया गया है। ब्रह्म मायासे अतीत होने पर भी, ईश्वरमें मायाकी उपाधि है, जिससे ईश्वरके चित्तमें सृष्टिकी इच्छा होनेपर, उनकी वीर्य्यरूपा चेतनशक्तिकी मायाको देखकर स्खलित होनेसे, संसारमें विविध वस्तुओंकी उत्पत्ति होती है। इसी आध्यात्मिक भावको लेकर भागवतके अष्टमस्कन्धमें वर्णन कियागया है कि, मोहिनी मायाको देखकर शिवजी मुग्ध होगये। मायाके पीछे पीछे कामवश होकर दौड़ने लगे और उनका वीर्य्य स्खलन होने लगा, जिससे चांदी सोनेकी खानें बहुतसी बन गईं, यथा-भागवतमें—

तस्यानुधावतो रेतश्चस्कन्दाऽमोघरेतसः।
शुष्मिणो यूथपस्येव वासितामनुधावतः॥
यत्र यत्रापतन्मह्यां रेतस्तस्य महात्मनः।
तानि रूप्यस्य हेम्नश्च क्षेत्राण्यासन् महीपते!

इसी प्रकार श्रीमद्भागवतके चतुर्थ स्कन्धके उन्तीसवें अध्यायमें पुरुषको पुरञ्जन कहकर समाधिभाषाके द्वारा सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीरमें मन बुद्धि आदि और स्थूल शरीरमें इन्द्रियोंका नवद्वार, पुरुषका प्रकृतिके साथ सम्बन्ध, उसी सम्बन्धसे बन्धनका आभास, और सृष्टिका विस्तार आदि वर्णन करके, उसी स्कन्धके २५, २६, २७ और २८ अध्यायोंमें इसी समाधिगम्य विषयका लौकिकभाषाके द्वारा अलङ्काररूपसे वर्णन किया है, जिसका विस्तृत वर्णन मूलग्रन्थमें द्रष्टव्य है।

मत्स्यपुराणमें लिखा है कि, ब्रह्माजीने अपनी कन्याको देखकर कामातुर हो उसके साथ एक कमलमें रहना आरम्भ किया, जिसके फलसे मनु आदिकी सृष्टि हुई, यथाः—

ततः संजपतस्तस्य भित्त्वा देहमकल्मषम् ।
स्त्रीरूपमर्द्धमकरोत् अर्द्धं पुरुषरूपवत् ॥
शतरूपा च सा ख्याता सावित्री च निगद्यते ।
सरस्वत्यथ गायत्री ब्रह्माणी च परंतप ।
ततः स्वदेहसम्भूतां आत्मजामित्यकल्पयत् ।
दृष्ट्वा तां व्यथितस्तावत् कामवाणार्दितो विभुः ॥
एतत्तत्त्वात्मकं कृत्वा जगद्वेधा अजीजनत् ।
सावित्री लोकसृष्ट्यर्थं हृदि कृत्वा समास्थितः ॥

ब्रह्माजीके तप करते करते उनके आधे शरीरसे एक स्त्री निकली, जिसका नाम शतरूपा, साविश्री, सरस्वती, गायत्री और ब्रह्माणी हुआ । उस स्त्रीको ब्रह्माजीने कन्या करके मानलिया, परन्तु उसको देखते ही विभु अर्थात् व्यापक भगवान् ब्रह्माजी कामवाणसे पीडित होगये । तत्पश्चात् साविश्रीको हृदयमें धारण करके तत्त्वोंके क्रमसे ससारकी उत्पत्ति की । इन श्लोकोंमें तपके द्वारा अर्द्ध अङ्गसे स्त्रीकी उत्पत्ति, उसको कन्या रूपसे मानने पर भी काम होजाना, पश्चात् उसके साथ मिलकर सृष्टि करना, आदि विषय विचार करने योग्य हैं । इसमें प्रथम विचार यह है कि, जिस प्रकारसे काम शब्दका भाव आजकलके लोग लिया करते हैं ऐसा भाव पुराणोंमें या वेदमें ईश्वर या ब्रह्मा, विष्णु, शिवके लिये कही नही बनाया गया है, वहां सभी स्थानोंमें काम शब्दका अर्थ सिसृक्षा अर्थात् सृष्टि करनेकी कामना या स्वतः इच्छा, इस भावको प्रकट किया गया है, यथा–वेदमें कहा है किः—

"कामस्तदग्रे समवर्त्तताधिमनसो रेतः प्रथमं यदासीत्"
"स तपस्तप्त्वा मथुनमैच्छत्" ।

इन मन्त्रोंमें परमात्माका काम मनुष्यके सदृश काम नहीं है परन्तु तपस्याके द्वारा सृष्टि करनेकी इच्छा है । यह तपस्या भी साधारण तपस्या नही है, यथा-मुण्डकोपनिषद्में कहा है किः—

"तस्य ज्ञानमयं तपः"

उनका तप ज्ञानरूप तप है। यही भाव सब स्थानोंमें बताया गया है जिसको विचारवान् पुरुष समझ सकते हैं। ब्रह्माजीने भी इसी प्रकार तप करके कन्याकी उत्पत्ति की थी। इस विषयमें भ्रान्ति होनेका और एक कारण है कि, मनुष्य ब्रह्मा, विष्णु आदिके यथार्थ स्वरूपको नही समझते हैं। बहुतसे अर्व्वाचीन पुरुषोंने तो यह कह दिया है कि, जो चार वेद पढ़ जाय वही ब्रह्मा है। इस प्रकार कल्पना दैवजगत्के न जाननेका ही फल है। यह विषय पहिले ही कहा है कि, जड़ प्रकृतिमें स्वयं करनेकी शक्ति न होनेसे चेतन-शक्तिके अधीन होकर काम करती है, उसी सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्माण्डमें व्याप्त जिस चेतनशक्तिके होनेसे ब्रह्माण्ड-प्रकृति सृष्टिको उत्पन्न कर सकती है, ब्रह्माण्डमें व्याप्त उस चेतनशक्तिका नाम ब्रह्मा है। अब विचार यह है कि, ब्रह्माण्डकी सृष्टि करनेवाली चेतनशक्तिके अधिदैव जिनको ब्रह्मा कहते हैं, उनके साथ सरस्वतीका सम्बन्ध कैसे हुआ, और क्यों हुआ। यह बात सत्य है कि, जबतक कर्म्मके साथ ज्ञानका सम्बन्ध न हो, तबतक कर्म्म ठीक ठीक नही होता और कभी कभी गीतोक्त विकर्म्म भी बन जाता है। लौकिक जगत्में भी देखते है कि, ज्ञानके बिना संसारमें कोई कार्य्य नहीं होसकता है। अज्ञानसे कार्य्य करनेपर कार्य्य बिगड़ जाता है। सरस्वती विद्या अर्थात् ज्ञानकी देवी है, ब्रह्मा कर्म्मके देवता हैं। कर्म्मकी शक्तिके साथ जो ज्ञानकी शक्तिका मेल है, उसीको ही कन्याके साथ मेलके रूपसे पुराणकी लौकिकभाषामें वर्णन किया गया है। कन्या इसलिये कहागया है कि, ब्रह्माजीने उसको तपके द्वारा अपने शरीरके अर्द्ध अङ्गसे उत्पन्न किया था। ब्रह्माजीको ज्ञान चाहिये था क्योंकि, ज्ञानके बिना सृष्टि ठीक नहीं बन सकती थी। सन्ध्याके मन्त्रमें लिखा है कि:—

यथा पूर्वमकल्पयत् दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।

पृथिवी व स्वर्गादि लोककी सृष्टि पूर्व कल्पके अनुसार हुआ करती है। प्रलयके समय जो जीव जिस योनिमें रहकर लय हो जाते है उनको संस्कारके अनुसार सृष्टिके समय उसी योनिमें उत्पन्न करना पड़ता है। जो पूर्व कल्पमें मनुष्य था वह मनुष्य ही होकर आता है, जो पशु था वह पशु होकर उत्पन्न होता है, जो वृक्ष था वह वृक्ष होकर उत्पन्न होता है। उसी प्रकार कर्म्मके

अनुसार ठीक ठीक सृष्टि ब्रह्माजी तभी कर सकते हैं जब उनमें ऐसा ज्ञान हो। नहीं तो सृष्टिमें गडबड होसकता है, इसीलिये ब्रह्माजीने तपके द्वारा ज्ञानरूपी सरस्वतीको अपने भीतरसे उत्पन्न करके उसको हृदयमें धारण करके सृष्टि की, जैसा कि मत्स्यपुराणमें वर्णन कियागया है। यही पुराणोंमें त्रिविध भाषाकी पूर्णता है।

अब गङ्गाजीका स्वरूप बताकर त्रिविध भावकी पूर्णता बताई जाती है।

स्थूल गंगा हिमालयकी कन्दरासे निकली है, यह बात सत्य है, क्योंकि, प्रत्यक्ष है। ऋषियोंने गंगाजीको हिमालयसे निकलती हुई देखने पर भी जो शिवजीके मस्तकसे गंगाजीका निकलना बताया है इसमें गंगाजीकी आधि-भौतिक और आधिदैविक दोनों महिमाओंका देखना ही उनका उद्देश्य था। जिस प्रकार परमात्माके निराकार होने पर भी अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमय यह संसार उनका स्थूल विराट् स्वरूप है, उसी प्रकार शिवजीका भी विराट्रूप तत्त्वोंके विचारसे पृथिवी कही जासकती है, क्योंकि शास्त्रोमे प्रमाण है—

नभसोऽधिपतिर्विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी।
वायोः सूर्य्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाऽधिपः॥

आकाशतत्त्वके देवता विष्णु, अग्नितत्त्वकी देवता महेश्वरी, वायुतत्त्वके देवता सूर्य्य, पृथिवीतत्त्वके देवता शिव और जलतत्त्वके देवता गणेश है। इस लिये तत्त्वोंके विचारसे भावके अनुसार अधिदैव शिव और अधिभूत पृथिवी है। शिवजीकी जो मूर्त्ति श्वेतवर्ण व भुजङ्गभूषण है, सो उनकी भावमयी मूर्त्ति है। परन्तु जिस मूर्त्तिके साथ गङ्गाजीकी उत्पत्तिका सम्बन्ध बताया गया है वह शिवजीकी भावमयी मूर्त्ति नहीं है किन्तु तत्त्वोंके अनुसार विराट् मूर्त्ति है। पृथिवीतत्त्वके अधिदैव शिवजी हैं इसलिये शिवजीका आधिभौतिक स्वरूप अर्थात् स्थूल विराट् मूर्त्ति पृथिवी है। जब पृथिवी शिवजीकी विराट् मूर्त्ति है तो हिमालय शिवजीका मस्तक है क्योंकि मस्तक शरीरके सब अङ्गोसे ऊँचा अङ्ग होता है और हिमालय पृथिवीमें सबसे ऊँचा अङ्ग है। इसीलिये हिमालयसे गंगाजीका निकलना और शिवजीकी जटासे गंगाजीका निकलना दोनों एकही बात है। इस प्रकार स्थूल गंगा हिमालयसे निकलने पर भी हिमालयको केवल हिमालय न कहकर ऋषियोंने जो शिवजीके विराट् भावके सम्बन्धसे गङ्गाजीकी उत्पत्ति वर्णन की है, इसका तात्पर्य्य यह है कि, ऋषिगण गंगाजी को और

जलाशयकी तरह जलाशयमात्र ही न समझ कर उनको देवी समझते थे । गङ्गाजीमें दैवीशक्ति ऋषियोंको देखनेमें आती थी । इसी दैवीशक्तिका प्रकाश शिवजीके आश्रयसे हुआ था, क्योंकि शिवजी महाशक्तिके पति हैं, इसलिये दैवीशक्तिके आधार हैं, उनके मस्तकसे निकली हुई गङ्गाजीमें अनन्त दैवीशक्तियां भरी हुई है, जिससे गङ्गाजी त्रिलोकतारिणी पतितपावनी हैं, जिनके स्पर्शसे सगर वशके शापग्रस्त मनुष्योंका उद्धार होगया था । यही महान् देवता शिवजीके मस्तक से दैवीगंगाके निकलनेका रहस्य है । इस प्रकारसे शिवजीके विराट्रूपसे स्थूल गङ्गा और शिवजीकी दैवीसत्ताके आश्रयसे शक्तिमयी दैवीगंगा प्रकट हुई हैं ।

अब गङ्गाजीकी दैवीशक्ति जो कि मन्दाकिनीरूपसे स्वर्गमें विराजमान थी और जिसको भगीरथने शिवजीकी सहायतासे संसारके मनुष्योंके उद्धारके लिये अपनी तपस्याके बलसे प्रकट करदिया था, वह शक्ति क्या वस्तु है उसका वर्णन किया जाता है । यह बात विज्ञानसिद्ध है कि, जड़ वस्तुमें जो कुछ शक्ति देखनेमें आती है सो सब दैवीशक्तिका ही स्थूलके आश्रयसे विकाशमात्र है । इसी प्रकार जिस चेतनशक्तिके प्रतापसे गङ्गाजल संसारमें अनन्त कार्य्योंको करता है उस चेतनशक्तिका नाम गङ्गादेवी है । श्रीभगवान्ने गीतामें भी कहा हैः—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जित मेव वा ।
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽश सम्भवम् ॥ १० । ४१

अर्थात् जहां पर कोई अलौकिक शक्ति हो उसके भगवान्की दैवी शक्ति ही जाननी चाहिये । इसी गङ्गादेवीके रहनेसे ही गङ्गाजलमे कई प्रकारकी शरीर आरोग्य करनेके लिये स्थूलशक्तियाँ और मन व आत्माको पवित्र करनेवाली सूक्ष्म शक्तियाँ हैं । गङ्गाजलमे जो अद्भुत स्थूल शक्ति विद्यमान है, जिसको इतने दिन बाद पश्चिमी विद्वानोंने कुछ निर्णय करके सबकी आँखें खोलदी है, इसी शक्तिकी प्रशंसाके लिये गङ्गाजीकी स्तुतिसे हमारे ऋषिलोगोंने ग्रन्थके ग्रन्थ भर डाले है । जब तक सायन्सने गङ्गाजलकी शक्तिके विषयमें कुछ भी निर्णय नही किया था, तब तक प्रायः लोग समझते थे कि गङ्गाका जल और कूपका जल एक ही प्रकारका है, दोनोंमें कोई भेद नही है क्यौकि दोनों ही हैड्रोजन (Hydrogen) और एक्सीजन (Oxygen) के मिलानसे बने हुए है । अब सबको पता लग गया है कि, गङ्गाकी हवा, गङ्गाकी मिट्टी, गङ्गाका जल, इनमेंमें शरीरको पुष्ट और आरोग्य करनेकी शक्ति विद्यमान है । गङ्गाकी मिट्टीके

मलनेसे सब तरहके चर्म्मरोग आराम होते हैं। गंगाजलमे स्नान करनेसे मस्तककी बीमारी अच्छी होती है। गंगाके वायुके सेवनसे शरीरमे कोई रोग नहीं रहता है। गंगाका जल पीनेसे अजीर्णरोगकी तो बात ही क्या, जीर्णज्वर आदि कठिन रोग भी आराम होजाते हैं। केवल इतना ही नही, किन्तु बड़े बड़े सायन्सवेत्ताओंने कह दिया है कि, गंगाजलमें शरीरके बलको बढ़ानेकी अपूर्व्व शक्ति विद्यमान है, जिससे दुर्बल रोगी रोगसे मुक्त होनेके बाद शरीरमें बल बढ़ाना चाहे तो उसको डाक्टरी टानिक (Tonic) खानेकी आवश्यकता नही है, केवल गंगाजल पान और गंगास्नानसे ही शरीरमें पूर्ण बल प्राप्त होता है। यह भी दिखाया गया है कि, कूप आदिकोंके जल दो चार दिनमें ही खराब होकर पीने योग्य नहीं रहते, परन्तु गंगाजल चाहे कितनी ही दूर लेजाकर वर्षों तक रखने पर भी कुछ भी खराब नही होता है, वैसा ही स्वादिष्ट और पान करने योग्य रहता है। जितने सक्रामक रोग या प्लेग आदि कठिन कठिन रोग देशमें बहुत ही अनिष्ट करते है वे सब प्रायः खराब स्थान और खराब जलमें उत्पन्न होते हैं। मलेरिया, प्लेग, हैजा आदि बीमारियाँ इस प्रकारके रोग-के कीटोंसे फैलती हैं। हैज़ेके कीट जलमें ही बहुत उत्पन्न होते है, परन्तु परीक्षा करके देखा गया है कि, गंगाजलमें कभी किसी रोगका कीट पैदा नहीं होता, इतना तक कि गंगाजलमें रोगके कीट लाकर छोड़ देने पर भी वे कीट मर जाते हैं। गंगाजलमें इस प्रकारकी अपूर्व्व शक्ति है, इसीलिये ऋषियौने गंगाजलकी इतनी स्तुति की है। कहा है किः—

> शरीरे जर्ज्जरीभूते व्याधिग्रस्ते कलेवरे।
> औषधं जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः॥

शरीरके जर्जर होजाने पर और व्याधियोंसे ग्रस्त होजाने पर गंगा-जल ही औषधि है और श्रीमन्नारायण ही वैद्यराज है। गंगाजल ही श्रेष्ठ औषधि है, यह सब कहना गंगाजलमें जड़ शक्तिका लक्षण है। इस जड़ शक्तिकी मूलस्वरूपिणी चेतनशक्ति संसारमे गंगादेवीरूपसे प्रसिद्ध है, जिनकी शक्तिकी महिमा समस्त हिन्दूशास्त्रोंमें वर्णनकी गई है। यथा—गंगाके स्पर्शसे, यहां तक कि स्मरणसे भी पाप दूर होता है। ऋग्वेद (मं० १० अ० ३ सू० ७५ म० ५) में भी स्तुति की है किः—

> इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचत।

हे गंगे, यमुने, सरस्वति, शुतुद्रि, तुम मेरे यज्ञको सेवन करो, यहां गंगा आदि अधिष्ठात्री देवियोंका आवाहन किया गया है। रामायण (अयोध्या काण्ड) में सीताजीकी उक्ति है कि:—

त्वं हि त्रिपथगे! देवि! ब्रह्मलोकसमक्षमे!
सा त्वां देवि! नमस्यामि प्रशंसामि च शोभने!

हे देवि! तुम स्वर्ग, मर्त्य, पाताल तीनों लोकोंमें तीन रूपसे जानेवाली और ब्रह्मलोक प्राप्त करानेवाली हो, तुम्हे प्रणाम है।

गङ्गा अति पवित्र देवनदी है। महाभारतमें शिलवृत्तिका प्रश्न है—

के देशाः के जनपदाः के ग्रामाः के च पर्वताः।
प्रकृष्टाः पुण्यतः काश्च ज्ञेया नद्यस्तदुच्यताम्॥

कौन कौन देश, जनपद, ग्राम तथा पर्वत उत्तम है और कौन कौन नदियां भी पुण्यमयी हैं सो बताइये। उत्तरमे सिद्धने कहा—

ते देशास्ते जनपदास्ते ग्रामास्ते च पर्वताः।
येषां भागीरथी गंगा मध्येनैति सरिद्वरा॥
तपसा ब्रह्मचर्येण यज्ञैस्त्यागेन वा पुनः।
गतिं तां लभते जन्तुर्गंगां संसेव्य यां लभेत्॥
पूर्वे वयसि पापानि कृत्वा कर्माणि ये नराः।
पश्चाद्गङ्गां निषेवन्ते तेऽपि यान्त्युत्तमां गतिम्॥
यावदस्थि मनुष्यस्य गंगातोयेषु तिष्ठति।
तावद् वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते॥

वे ही देश, जनपद, ग्राम तथा पर्वत उत्कृष्ट है, जिनके मध्यमें नदी श्रेष्ठ भागीरथी बहा करती है। तपस्या, ब्रह्मचर्य, यज्ञ और त्यागके द्वारा जो उत्तम गति मिलती है, केवल गङ्गा सेवनसे वही मिलती है। पूर्व वयसमें पाप करने पर भी जो लोग पीछेसे गङ्गासेवन करते है, उन्हें उत्तमगति मिलती है। जबतक मनुष्यकी अस्थि गङ्गाजलमें रहती है, उतने हजार वर्ष तक स्वर्गलोकमें वास होता है। और भी:—

दर्शनात् स्पर्शनात् पानात्तथा गंगेति कीर्त्तनात्।
स्मरणादेव गङ्गायाः सद्यः पापात् प्रमुच्यते ॥ (महाभारते)
किमष्टांगेन योगेन किं तपोभिः किमध्वरैः।
वास एव हि गङ्गायां ब्रह्मज्ञानस्य कारणम् ॥ (नारदीये)
जाह्नवीतीरसम्भूतां मृदं मूर्द्ध्ना बिभर्त्ति यः।
बिभर्त्ति रूपं सोऽर्कस्य तमोनाशाय केवलम् ॥ (महाभारते)
वर्ज्यं पर्युषितं तोयं वर्ज्यं पर्युषितं दलम्।
अवर्ज्यं जाह्नवीतोयमवर्ज्यं तुलसीदलम् ॥ (यमसंहितायाम्)
चान्द्रायणसहस्राणां यत्फलं परिकीर्त्तितम्।
ततः शतगुणं पुण्यं गङ्गागण्डूषतो भवेत् ॥ (भविष्ये)
चन्द्रसूर्यग्रहे चैव योऽवगाहेत जाह्नवीम्।
सः स्नातः सर्वतीर्थेषु किमर्थमटते महीम् ॥ (गारुड़े)

गङ्गाके दर्शन, स्पर्शन, गुणकीर्त्तन, जलपान और केवल स्मरणमात्रसे मनुष्य सद्यः पापमुक्त होता है। अष्टाङ्ग योग, तपस्या या यज्ञ करनेका कुछ प्रयोजन नहीं है, क्योंकि केवल गङ्गा तीर निवास ही ब्रह्मज्ञानका हेतु है। गंगातीरकी मिट्टीको जिसने सिर पर धारण किया, मानो अज्ञान तमोनाशके लिये उसने सूर्यदेवको सिर पर धारण कर लिया। अन्य नदी, कूप आदिके जल तथा अन्य वृक्षके पत्ते बासी होनेपर त्याग देने योग्य होते हैं, किन्तु गङ्गाजल और तुलसी-दल सदा रखने योग्य तथा बासी नहीं होते है। सहस्रवार चान्द्रायणव्रत करने-से जो पुण्य होता है, गङ्गाजलका गण्डूप लेनेसे उसका शतगुण पुण्य होता है। चन्द्रसूर्यग्रहणके समय जिसने गंगास्नान किया, उसने सभी तीर्थोंमें स्नानका पुण्य ले लिया उसको पृथिवी घूमनेकी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकारसे श्रुतिस्मृति पुराणोंमें गङ्गाकी भूरि भूरि प्रशंसा लिखी गई है।

निम्नलिखित कर्म पवित्र गङ्गाजलमें करना निषिद्ध बताया गया है—

गङ्गां पुण्यजलां प्राप्य त्रयोदश विवर्जयेत्।
शौचमाचमनं चैव निर्माल्यं मलघर्षणम् ॥

गात्रसंवाहनं क्रीड़ां प्रतिग्रहमथारतिम् ।
अन्यतीर्थरतिं चैव अन्यतीर्थप्रशंसनम् ॥
वस्त्रत्यागमथाघातं सन्तारं च विशेषतः ॥ (ब्रह्माण्डे)
नाभ्यंगितः प्रविशेच्च गङ्गायां न मलार्दितः ।
न जल्पन्न मृषा वीक्षन्न वदन्ननृतं नरः ॥ (स्कान्दे)

पुण्यतोया गङ्गामें तेरह काम नहीं होने चाहियें; यथा—मलमूत्रादि त्याग, मुख प्रक्षालन या दन्तधावन, आचमन, पूजाके फूल निर्माल्य निक्षेप, मलघर्षण, जलक्रीड़ा, दानग्रहण, अन्यतीर्थ प्रशंसा, वस्त्रत्याग, तैलमर्दन, मलिनदेह होकर जलप्रवेश, मिथ्याभाषण और कुदृष्टि—ये सभी गङ्गास्नानके समय वर्जनीय हैं।

ऋग्वेद १० ७५-५ में, कात्यायनश्रौतसूत्र तथा शतपथ ब्राह्मणमें, रामायण, महाभारत और कितने ही पुराणोंमें गङ्गाकी अलौकिक महिमा बताई गई है। रामायण आदि काण्ड ४२, ४३, ४३ सर्गमें लिखा है कि, स्वर्गसे उतरकर गङ्गा शिवजटामें अटक गई। भगीरथके पुनः तपस्या करनेपर विन्दुसरोवरमें आगिरीं। विन्दुसरोवरसे गङ्गाकी सात धारायें निकलीं। ह्लादिनी, पावनी और नलिनी नामक तीन धारायें पूर्व दिशाको तथा वङ्क्षु, सीता और सिन्धु नामक तीन धारायें पश्चिम दिशाको चली गईं। एक धारा भगीरथ प्रदर्शित मार्गमें चली, उसीका नाम भागीरथी है। भागीरथीने ही सागरमें जाकर सगरवंशका उद्धार किया है। यही सब भगवती गङ्गाकी आधिभौतिक, आधिदैविक महिमा है।

तीसरी आध्यात्मिक गङ्गा, जिसको ज्ञानगङ्गा कहते हैं, जिसके लिये श्रीभगवान् शङ्कराचार्यने:—

"ज्ञानप्रवाहा विमलाऽऽदिगङ्गा"

"ज्ञानरूप प्रवाहवाली गङ्गा विमला आदिगङ्गा है" ऐसी स्तुति की है, उनकी उत्पत्ति भगवान् विष्णुसे है। विष्णुजी परमात्माकी चित्सत्ता अर्थात् ज्ञानसत्ताके केन्द्ररूप हैं, इसलिये उनसे ही ज्ञानगङ्गाका निकलना विज्ञान-सिद्ध है। इसीको ही किसी किसी पुराणमें वर्णन किया है कि, शिवजीके नृत्यको देखकर विष्णु द्रव होगये और उसीसे गङ्गा निकली, यह सब उसी भावका वर्णन है, इसीलिये ही गङ्गाका नाम ब्रह्मद्रव है। यही गङ्गाजीका आध्यात्मिक स्वरूप है। पुराणोंके गम्भीर रहस्यों पर जितना ही विचार किया जायगा उतना ही सर्व्वत्र

आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों भावोंकी पूर्णता दृष्टि-गोचर होगी।

अब पुराणके अन्तर्गत कुछ ऐतिहासिक विषयों पर शंकासमाधान किया जाता है। आर्य जातिका आदिनिवासस्थान भारतवर्ष ही है, अथवा आर्यगण कहीं बाहरसे यहां आकर बस गये है, इस विषयमें अनेक शंकाएं हुआ करती हैं। अतः यह विषय आर्यशास्त्रानुसार समाधान करने योग्य है। सृष्टि प्रकरण तथा वर्णविज्ञान प्रकरणमें श्रुतिप्रमाण देकर पहिले ही कहा गया है कि, मानवी सृष्टिमें प्रथम ब्राह्मण जातिकी उत्पत्ति हुई है। ये सब ब्राह्मण प्रथम कहां उत्पन्न हुए थे इस विषयमें महाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्व अध्याय ८२ श्लोक १०२ में लिखा है:—

अथ गच्छेत राजेन्द्र देविकां लोकविश्रुताम्।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ॥

यह नारद युधिष्ठिर–सम्वादका वचन है। काश्मीरप्रदेशमें वितस्ता (जेलम्) नदीके पास सप्तचरु तीर्थ और उसके पास देविका नदी है। इसी देविका नदीके तट पर प्रथम ब्राह्मण सृष्टि हुई थी। अब भी काश्मीरप्रदेशमें केवल ब्राह्मण जाति ही बसती है, जिसमेंसे कुछ 'मुसलमान' होगये है। यह सब स्थान सिन्धुनदके आसपास हैं, अतः सिन्धुसे 'हिन्दु' नाम हुआ है, यह भी अनुमान किया जा सकता है। अतः आर्यगण कहीं बाहरसे यहां आकर बस गये हैं यह सिद्धान्त आर्यशास्त्रानुसार प्रमाणित नहीं होता है। इसके विषयमें दूसरा सिद्धान्त यह है, यथा मनुसंहितामें:—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवाऽन्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥
सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते॥
कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पाञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः॥
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

जिस भूमिके पूर्व और पश्चिममें समुद्र है, जिसके उत्तरमें हिमालय और दक्षिणमें विन्ध्याचल है, उसको आर्य्यावर्त्त कहते हैं। आर्य्यावर्त्त भारतवर्षका ही नाम है। पूर्वोक्त लक्षणको देखकर और दक्षिणमें विन्ध्याचलका नाम देखकर प्रायः मनुष्योंकी यही सम्मति होती है कि, भारतवर्षके उत्तर भागको आर्य्यावर्त्त कहते है, और दक्षिण भागके दक्षिणावर्त्तादि और और नाम हैं; परन्तु इस सिद्धान्तको निश्चित न रखकर यदि समस्त भारतवर्ष अर्थात् हिन्दुस्तानको ही आर्य्यावर्त्त रूपसे माना जाय तो सिद्धान्तके स्थिर करनेमें सुविधा होगी। क्योंकि दक्षिण समुद्रके निकटवर्त्ती स्थानोंमे भी विन्ध्य नामका पर्व्वत विद्यमान है।

सरस्वती और दृषद्वती नाम्नी दोनों देवनदियोंके वीचमें जो देवनिर्मित देश है उसका नाम ब्रह्मावर्त्त देश है। कुरुक्षेत्र, मत्स्यदेश, पाञ्चालदेश और मथुरादेश ब्रह्मावर्तके अतिरिक्त ये देश ब्रह्मर्षि देश कहलाते हैं। सृष्टिका आदि विकाश इसी देशमें हुआ है, सृष्टिकी प्रथम दशामें जो ब्राह्मण उत्पन्न हुए थे सो इसी देशमें उत्पन्न हुए थे और इन्हींसे आचार, व्यवहार और चरित्रका आदर्श संसारमें सर्वत्र व्याप्त होना चाहिये; और सो हुआ भी था। क्योंकि पाश्चात्य पण्डितोंके सिद्धान्तानुसार पूर्ण पुरुष आर्य्यगणकी ही ज्ञानकी ज्योति समस्त संसारमें फैल गई थी सो आजतक उन देशोंमें प्रकाशको दे रही है। और श्रीभगवान् मनुजीके ऊपर कथित वचनोंका भी यही तात्पर्य है। शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है:—

"तेषां कुरुक्षेत्रं देवयजनमास तस्मादाहुः कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनम्"

कुरुक्षेत्र ही देवताओंके देवयज्ञका स्थान है। देवतागण कर्मके प्रेरक हैं, इसलिये देवयज्ञके द्वारा जो दैवीशक्ति उत्पन्न होती है उसीसे कर्मानुसार सृष्टि-प्रवाह चलता है और वह शक्ति जब कुरुक्षेत्रमें ही प्रथम विकाशको प्राप्त हुई थी तो प्रथम सृष्टिका विकाश कुरुक्षेत्रमें ही हुआ था यह कहा जा सकता है। इसलिये गीताजीमें भी भगवान्‌ने कुरुक्षेत्रको धर्मक्षेत्र कहा है। जावालोपनिषद्‌में लिखा है:—

"यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्"

कुरुक्षेत्र ही देवताओंके देवयज्ञका स्थान है तथा समस्त जीवोंका आदि उत्पत्तिस्थान है। सृष्टिके आदिकालमें पूर्णपुरुष आर्य्यगण भारतके इसी स्थानमें

उत्पन्न होकर समस्त आर्य्यावर्त्तमें विचरण करते थे, उनके रहनेके कारण इस भूमिका नाम आर्यावर्त्त हुआ है। शास्त्रोंमे लिखा है :—

"आर्याः श्रेष्ठा आवर्त्तन्ते पुण्यभूमित्वेन वसंत्यत्र इति आर्यावर्तः"

पुण्यभूमि होनेके कारण पूर्णपुरुष आर्यगण यहांपर निवास करते थे इसीलिये इस भूमिका नाम आर्यावर्त्त हुआ है। कुल्लूक भट्टजीने आर्यावर्त्त शब्दका यह अर्थ किया है :—

"आर्या अत्राऽऽवर्त्तन्ते पुनः पुनरुद्भवन्तीत्यार्यावर्त्तः"

आर्यगण इस स्थानमें पुनः पुनः जन्म ग्रहण करते हैं इसलिये इस स्थानका नाम आर्यावर्त्त हुआ है।

इन सब प्रमाणोंके द्वारा भारतवर्ष ही आर्यगणकी आदि निवासभूमि है यह बात स्पष्ट रूपसे सिद्ध होती है। इस विषयमें पण्डित मुयर साहबने अपने संस्कृत टेक्स्ट (Sanskrit Text) में कहा है:—

"They could not have entered from the West, because it is clear that the people who lived in that direction were descended from these very Aryans of India, nor could Aryans have entered India from the North or North-West, because we have no proof from history or philosophy that there existed any civilized nation with a language and religion resembling that of the Aryans"

अर्थात् "आर्यलोग कभी पश्चिम देशसे इस देशमें नहीं आये हैं, किन्तु आर्यगणके वंशसे ही पश्चिमदेशकी अनेक सभ्यजातियां उत्पन्न हुई थी। उत्तर या उत्तर-पश्चिम देशसे भी आर्यगण भारतमें नही आये है, क्योंकि प्राचीनकालमें पश्चिममें कोई सभ्यजाति रहती थी जिनसे आर्यगणकी सभ्यता तथा धर्मकी उत्पत्ति हुई है ऐसा प्रमाण भाषातत्त्वके इतिहासमें कही नहीं मिलता है। किसी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थमें प्रमाण नही मिलता है कि, विदेशीय किसी जातिसे प्राचीन आर्यगण उत्पन्न हुए हैं अथवा भारतके सिवाय और कहीं आर्योंका निवास था"। अतः वेदादि शास्त्रीय प्रमाण तथा विचारके द्वारा यही निश्चय होता है कि, आर्यजातिका आदि निवासस्थान भारतवर्ष ही है। तिब्बतसे आर्य-

गणके भारतमें आनेका कोई भी प्रमाण शास्त्रमें न मिलनेके कारण यह मत मान्य नही हो सकता है।

आर्यगण मध्य एशियासे या जर्मनीके समीपवर्त्ती स्केण्डिनेवियासे भारतमें आये है यह जो बात कोई कोई पश्चिमीय मनुष्य कहा करते है, इसमें उनकी यही युक्ति है कि, वहांके अनेक नदनदियां तथा नगरके नाम आर्यग्रन्थोंमें मिलते है, आर्योंके उपास्य अनेक देव देवियोंके नामके साथ वहांकी प्राचीन जातियोंके अनेक उपास्य देव देवियोंके नामका मेल देखनेमें आता है और जर्मन भाषाके भीतर संस्कृतके अनेक मौलिक शब्द पाये जाते हैं। किन्तु विचार करने पर पता लगेगा कि, इन सबका कारण आर्यजातिका वहांसे आना नहीं है, बल्कि वाणिज्य विस्तार, राज्य विस्तार आदिके लिये वहां पर बीच बीचमें जाना तथा उपनिवेश स्थापन करना है। प्राचीन कालमें आर्यजाति देशविजय, राज्यविस्तार, देशभ्रमण, उपनिवेशस्थापन, वाणिज्यवृद्धि आदिके लिये पृथिवीके सब देशोंमें ही गमन करती थी; इसका प्रमाण पाश्चात्य और एतद्देशीय सभी प्राचीनतत्त्वके वेत्ता पण्डितोंने दिया है। ऐतरेय ब्राह्मणमें राजा सुदासके विषयमें लिखा है कि, उन्होंने ससागरा पृथिवीको जीत करके सर्वत्र ही अपना अधिकार विस्तार किया था। एल्फिन्स्टन साहबने कहा है कि, पारस्यदेशका एक तिहाई अंश प्राचीनकालमें हिन्दुओंके अधीन था। कर्नल टाड साहबने कहा है कि, मुसलमानी राज्यके पहिले हिन्दुओंका अधिकार मध्यएशियाके अनेक स्थानोंमें था। वेवर साहबने अपने प्रणीत Indian Literature नामक ग्रन्थमें अनेक प्रमाणोंके द्वारा बताया है कि, प्राचीन कालमें ग्रीस और रोमके साथ आर्यजातिका बहुतही सम्बन्ध था। हिन्दू राजाओंके प्रासादोंमें ग्रीक स्त्रियाँ दासीरूपसे रहा करती थी और वहांके दूत यहां और यहांके दूत वहां प्रायः आया जाया करते थे। भारतवर्षकी प्रकृति पूर्ण होनेसे आदिसृष्टि यहाँ ही हुई थी इसका विज्ञान पहिले ही कहा गया है। पृथिवीकी आदि जाति आर्यगण 'पृथिवीपाल' थे इसका भी प्रमाण शास्त्रमें दिया गया है। यही पृथिवीपालक आर्यजाति प्राचीन कालमें पृथ्वी भरमें विस्तृत होकर राज्यविस्तार और उपनिवेश-स्थापन करती थी, जिसका चिह्न आज भी सर्वत्र विद्यमान है। दृष्टान्तरूपसे थोड़ासा वर्णन किया जाता है।

As regards America, Dr. Coleman quotes Baron Humbolt who "describes the existence of Hindu remains still found

there." Sir William Jones says in the Asiatic Researches Vol I—"It is very remarkable that Peruvians styled their greatest festival Ramat Sitva, whence we suppose that South America was peopled by the same race who imported into the farthest parts of Asia the rites and history of Rama" Monsieur Delbos says "The influence of the civilization worked out thousand of years ago in India is around and about us every day of our life It pervades every corner of the civilised world Go to America and you find there, as in Europe, the influence of that civilization which came originally from the banks of the Ganges"

बेरन हम्बोल्टने कहा है कि, "एमेरिकामें अभीतक हिन्दुओंके प्राचीन चिह्न प्राप्त होते है। एसियाटिक रिसर्चमें सर विलियम जोन्सने कहा है कि, पेरुजातिका सबसे बड़ा त्यौहार 'राम-सीता' नामसे प्रसिद्ध है, इससे स्पष्ट होता है कि, राम-सीताके उपासक हिन्दु दक्षिण एमेरिकामें रहते थे और उन्होंने रामके इतिहासको दूर दूर तक फैलाया था। मनसियरडेल्बोने कहा है—"हजारों वर्ष पहिले भारतमें जो सभ्यता थी उसीका प्रभाव हमारे प्रतिदिनके जीवनमें और सभ्य जगत्के कोने कोनेमें व्याप्त हो रहा है। एमेरिकामें जाओ, वहां देखोगे कि, यूरोपकी तरह एमेरिकामें भी उसी सभ्यताका प्रभाव है जो गङ्गा-तीरसे प्रथमतः प्रारम्भ हुई थी।"

The work called "Homer and Rama" proves the fact that in pre-Christian centuries the wonderful stories of Sri Rama and Sri Krishna were most popular in the Mediterranean World Greece, Asia Minor and Egypt worshipped the memories of these two great Indian Avataras Philo, a Syrian philosopher, who lived and preached in Alexandria (Egypt), being himself a disciple of the Brahmans who lived there then, was a great Krishna Bhakta and left a book called "The Life of Cristos" in the century before Christ, in

which many stories of Sri Krishna were embodied. This perhaps became so very popular that the Mediterranean World gave to any important Bhakta the appellation "Kristos"; and in this way even Lord Jesus of Nazareth got the title "the Christ" On the rocks of Scandinavian Mountains there are found carved representations of a god in male form in dance with a circle of damsels or maids. Linguists discovered that there was an ancient tradition among the people of the country that their God incarnated on earth and was so entracingly beautiful that the maids of his surroundings entered into the rapsody of dance, which the carvings represented. This same tradition was also believed by the ancient Tutons of North Germany and they commemorated their love of the God by performing dances. Public dances were in the beginning there *religious* as they were in some parts of Greece (Elysium) and Asia Minor and as they are to-day in Bengal and some parts of U. P. in India. The Angles, the Saxons and the Jutes, when they settled in Britain from North Germany, carried the institution of religious dance But as time rolled on and religion receded from thoughts of men in the West, the institution of public dance was retained, but its religious significance was unfortunately dropped Sanatanist 6-12-30

The most ancient phase of Egyptian civilisation which is put as 8000 years old from now is characterised by the worship of Tirumurtis, which they took to those distant banks of the Nile from our country. The Tirumurti worship is inseparable from Image Worship. Certain tribes on the Asiatic coast of the Mediterranean Sea worshipped

Kali with eight hands long before perhaps the Phoenecians settled there The Carvings of the Gopi Lila images on the rocky sides of the Scandinavian Mountains are again relegated to antiquities pre-historic. The images of Krishna and Buddha found in the Eastern Mounds of the U. S. A. belong to very, very remote times, between 4 and 5 thousand years from now. Sanatanist 17-2-31

'होमर और राम' नामक अङ्गरेजी ग्रन्थमें लिखा है कि, खीष्टान धर्मकी उत्पत्तिसे पहिले भूमध्यसागरके समीपस्थ लोगोंमें राम और कृष्णकी कथा बहुत प्रचलित थी। ग्रीस, एशिया माईनर और मिसरदेशके मनुष्य इन दोनों अवतारोंकी स्मृतिकी पूजा करते थे। एलेक्जण्ड्रिया निवासी फीलो नामक सिरियन दार्शनिक भगवान् कृष्णके बड़े भक्त थे और उन्होंने कृष्णजीवन नामक एक ग्रन्थ भी लिखा था। इस प्रकारसे 'कृष्ण' नामके विपुल प्रचार द्वारा ईसामसीका नाम भी 'क्राइष्ट' रक्खा गया है, ऐसा भी किसी किसीका मत है। स्केण्डिनेभियाके पहाडों पर गोपियों सहित श्रीकृष्णके नृत्य-दृश्य पत्थर पर खोदे हुये मिलते हैं और वहांके लोग कहते हैं कि, परमात्मा वहां पर ऐसी सुन्दर मूर्त्तिमें अवतार लेकर आये थे कि, स्त्री भक्तगण उन्हे देखकर मुग्ध हो नाचने लगी थी, जिनकी मूर्त्तियां प्रस्तरों पर खोदित हैं। उत्तर जर्मनीके ट्युटन लोगोंमें भी नृत्यके द्वारा भगवान्से प्रेम करनेकी चाल थी। उपासनाके साथ नृत्यका सम्बन्ध उस समय ग्रीस, एशिया माईनर आदि स्थानोंमें माना जाता था, और एङ्गल्, सैक्सन तथा जुट लोग जब उत्तर जर्मनीसे ब्रिटेनमें आ बसे थे तो वे भी धार्मिक नृत्यके द्वारा उपासना करते थे। कालको पाकर जब मनुष्योंमेंसे उपासनाका भाव ही घट गया तो पश्चिमदेशमें नृत्यका सम्बन्ध उसके साथ न रहा और नृत्यकला एक स्थूल दृश्यकलाके रूपमें परिणत होगई, यही तथ्य है।

मिसर देशकी सभ्यता जो आठ हजार वर्षकी पुरानी मानी जाती है उसमें ब्रह्मा-विष्णु-शिवरूपी त्रिमूर्त्तिकी पूजा मुख्य थी। भूमध्यसागरके समीपस्थ कुछ जातियां फिनिसियन जातिके वहां आनेके पहिले अष्टभुजा देवीकी पूजा किया करती थीं। एमेरिकाके पूर्वकी ओरके पहाडोंमें कृष्ण और बुद्ध भगवान्की खोदित मूर्त्तियां मिलती हैं, जिनकी आयु चार पांच हजार वर्षकी वहांके लोग कहा करते हैं।

कितने ही पश्चिमी पण्डितोंने तो यह कहा है कि, पृथिवीकी सभी जातियोंकी उत्पत्ति आर्यजातिसे हुई है। आर्यजाति ही सब देशोंमें भिन्न भिन्न समयपर जा बसी है, जिससे देश, काल तथा आचार-भेदानुसार उनमें अनेक भेद पड़ गये हैं। आचार आदिकी भ्रष्टताके कारण आर्य पदवीसे च्युत होकर वे सब अन्यजाति कहलाने लग गये हैं। मि० पोकक साहबने कहा है कि, पंजाबके रास्तेसे असंख्य हिन्दु यूरोप और एशियाके कई स्थानोंमें गये थे और वे उन्ही देशोंके अधिवासी बन गये है। प्रोफेसर हीरेनने कहा है कि, अन्तर्विवाद अर्थात् अपने ही समाजमें लड़ाई झगड़ेके कारण आर्यगण अन्य देशोंमें जा बसे है। ऐसा न मानने पर भी इतना तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि, भारतवर्षमें हिन्दुओंकी अगणित विशाल जातियोंके बसनेके लिये यथेष्ठ स्थान नहीं था, इसलिये अन्यान्य अनेक देशोंमें प्राचीन हिन्दुगणने उपनिवेश स्थापन किया था, जिससे संसारभरका विस्तार आर्यजातिसे ही हुआ है। मनुसंहितामें क्रियालोप और वेदपाठके अभावसे अनेक क्षत्रियजाति किस प्रकार पतित होकर काम्बोज, शक, यवन, खश, पारद आदि नीचजाति बन गई थी, इसका वर्णन किया गया है। महाभारतके अनुशासनपर्व और शान्तिपर्वमें भी ऐसी अनेक जातियोंका वर्णन देखनेमें आता है, जो आर्यजातिसे ही क्रियालोपके द्वारा बन गई हैं, यथाः—

शका यवनकाम्बोजास्तास्ताः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात्॥
द्राविडाश्च कलिन्दाश्च पुलिन्दाश्चाप्युशीनराः।
कोलिसर्पा माहिषकास्तास्ताः क्षत्रियजातयः॥
मेकला द्रविडा लाटा पौण्ड्राः कोन्वशिरास्तथा।
शौण्डिका दरदा दर्वाश्चौराः शर्वरबर्बराः॥
किराता यवनाश्चैव तास्ताः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वमनुप्राप्ता ब्राह्मणानामदर्शनात्॥

(अनुशासन पर्व)

वेदाचारके खण्डित होनेसे शक, यवन आदि जातियाँ क्षत्रिय जातिसे बन गई थीं। इस प्रकार शान्तिपर्वमें:—

यवनाः किराता गांधाराश्चीनाः शर्वरबर्वराः ।
शकास्तुशारा कंकाश्च पन्हवाश्चान्ध्रमद्रकाः ॥
पौण्ड्राः पुलिन्दा रमठाः काम्बोजाश्चैव सर्वशः ।
ब्रह्मक्षत्रप्रसूताश्च वैश्याः शूद्राश्च मानवाः ॥
कथं धर्मांश्चरिष्यन्ति सर्वे विषयवासिनः ।
मद्विधैश्च कथं स्थाप्याः सर्वे वै दस्युजीविनः ॥

यवन, किरात, गान्धार, आदि जो अनेक जातियां चतुर्वर्णसे बन गई हैं उनका धर्म क्या होगा और उनपर शासन भी किस प्रकारसे होगा ऐसा प्रश्न हो रहा है । इसके द्वारा प्राचीन कालमें आर्यजाति पृथिवीकी अन्य सब जातियों पर आधिपत्य करती थी यह भी सिद्ध होता है । प्राचीन आर्यगण इस प्रकार भिन्न भिन्न देशोंमें उपनिवेश स्थापन करनेके लिये स्थलपथ और जलपथ दोनोंके द्वारा ही सर्वत्र गमनागमन करते थे । यवद्वीप, बोर्णियो आदि अतिक्रम करके प्राचीन हिन्दुगण अमेरिका जाते थे, ऐसे प्रमाण अनेक स्थानोंमें पाये जाते हैं । पाश्चात्य पण्डितोंकी आलोचना द्वारा सिद्ध हुआ है कि, बेरिङ्ग प्रणाली (Strait) का अस्तित्व पहिले नहो था । उस समय रूस देशके उत्तरपूर्व प्रान्तीय स्थानोंके साथ उत्तर अमेरिकाके आलास्का देशका संयोग था जिससे भारतवासिगण चीन, मगोलिया और साइबेरिया होकर अमेरिका जाया करते थे । बौद्धधर्मके प्रादुर्भावके समय बौद्ध मिशनरीगण अमेरिकामें जाया आया करते थे । चीन देशके इतिहासमें इसका प्रमाण मिलता है । प्राचीन मिश्र या वर्तमान अफ्रिका देशमें प्राचीन आर्यगणने जो उपनिवेश स्थापन किया था उसका वृत्तान्त पहिले ही कहा गया है । कई एक आचारभ्रष्ट क्षत्रियोंको राजा सगरने समाजच्युत किया था । वे ही शक, यवन और पारद कहे जाते हैं । भारतवर्षको छोडकर इन लोगोंने नानादेशोंमें जाकर उपनिवेश स्थापन किये थे । किसी किसीकी सम्मति है कि, इन भ्रष्ट क्षत्रियोंमेंसे 'पारद' लोगोंके द्वारा ही 'पारस्य' देशका नामकरण हुआ है और किसी किसीके मतमें परशुरामके अनुचरगणके द्वारा ही पारस्य देशका नामकरण हुआ है । श्रीरामचन्द्रके किसी वंशजके द्वारा रोमराज्यकी प्रतिष्ठा और मगध राजगणके द्वारा ग्रीसराज्यकी प्रतिष्ठा अनेक पाश्चात्य पण्डितोंकी गवेषणाके द्वारा सिद्ध हुई है । जर्मन देशमें मनुके वंशजोंने

उपनिवेश स्थापन किया था । तुरस्क तथा उत्तर एशियामें हिन्दुओंका ही आधिपत्य था । इन बातोंके अनेक प्रमाण मिलते हैं । कालकी गतिसे प्राचीन आर्यौंके अधिकारभुक्त अनेक स्थानोंका नाम परिवर्तन हो गया है । आर्यजातिका अधिकारभुक्त प्राचीन गान्धार वर्तमान कान्दहार है । प्राचीन काम्वोज वर्तमान काम्वोडिया है । प्राचीन पन्हव तथा पारद वर्तमान पारस्य है । प्राचीन यवन आधुनिक ग्रीस है । प्राचीन दरद वर्तमान चीन है । प्राचीन खस वर्तमान पूर्व युरोप है । इस तरह प्राचीन देशोंकी नामावलीका पता लग सकता है, जिससे आर्यजातिका समस्त पृथिवी पर अधिकार सिद्ध होता है । अब भी यव और वाली द्वीपके लाखों हिन्दु अधिवासी, काम्वोडियाके अपूर्व मन्दिरोंके ध्वंसावशेष और पृथिवीके प्रधान अंशोंमें बौद्धधर्म्मका विस्तार, आर्य्यजातिकी सर्वत्र व्यापकताको सिद्ध कर रहे है ।

प्राचीनकालमें इस प्रकार पृथ्वीके सर्वत्र जाने आनेके लिये आर्यगणके पास यान आदिका भी अभाव नही था । प्राचीन इतिहास पुराणादिमें जो द्रुतगामी रथ, पोत आदिका प्रमाण मिलता है—जिनके द्वारा थोड़े समयमें ही स्थल, जल तथा आकाशमार्गमें वहुत दूर तक जानेकी वात वताई गई है—उनके द्वारा आधुनिक जहाज, वेलून, एरोप्लेन आदिका अस्तित्व सिद्ध होता है । ऋग्वेदके प्रथम मण्डलमें ३७ सूक्तकी प्रथम ऋक् यह है :—

क्रीळं वः शर्द्धोमारुतमनर्वाणं रथे शुभम् । कण्वा अभिप्रगायत ।

इसमें 'अनर्वाणं' शब्दका अर्थ 'अश्वरहित' है और 'मारुत' शब्दका तात्पर्य्य मरुत्दत्त या वाष्पदत्त वलसे है । अतः पूरे ऋक्का यह अर्थ निकलता है कि, हे कण्वगोत्रोत्पन्न महर्षिगण ! जिस प्रकारसे वाष्पके प्रभावसे अश्वरहित रथ चल सकता है, उसकी शिक्षा हमें दीजिये । अतः इस ऋक्के द्वारा अश्वरहित वाष्पीय रथ प्राचीन कालमें था, ऐसा सिद्ध हुआ । ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके ६७ सूक्तमें लिखा है :—

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय ।
स नः सिन्धुमिव नावयाति पर्षाः स्वस्तये ॥

हे विश्वतोमुख देव ! तुम हमारे शत्रुओंको जहाजसे पार करनेकी तरह दूर भेज दो और हमारे कल्याणके लिये हमें जहाजके द्वारा समुद्र पार ले चलो । इस प्रकार और भी अनेक मन्त्रोंके द्वारा प्राचीन कालमें समुद्रगामी पोत

आदिके भी अस्तित्वका प्रमाण मिलता है। केवल समस्त पृथिवी पर अधिकार विस्तारके लिये ही नहीं, अधिकन्तु वाणिज्य आदिके लिये भी प्राचीन आर्यगण पृथिवीके सर्वत्र जाया आया करते थे। ऋग्वेदके चतुर्थ मण्डलके ५५ सूक्तमें धनलाभेच्छु वणिक्‌गणके समुद्रयात्राका वृत्तान्त लिखा हुआ है। प्रोफेसर म्याक्स डकारने कहा है कि, खृष्टजन्मके २००० वर्ष पहिले आर्यजाति जहाज प्रस्तुत करना जानती थी और समस्त पृथिवीके साथ उसका वाणिज्य कार्य चलता था। प्रोफेसर हीरेन साहबने कहा है कि, प्राचीन हिन्दुगण एक प्रकारका जलयान प्रस्तुत करना जानते थे, जिस पर चढ़कर करोमण्डल तट, गङ्गातटस्थ अनेक देश और ग्रीस तथा मछलीपट्टनके अनेक प्रदेशोंके साथ वे वाणिज्य करते थे। हिन्दुशास्त्रमें भी इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं जिससे सिद्ध होता है कि, प्राचीन आर्यगण काष्ठ विज्ञानको भली प्रकारसे जानते थे और उसी विद्याकी सहायतासे उत्तम और दृढ़ जहाज प्रस्तुत करके देशविदेशमें जाया करते थे। वृद्ध-आयुर्वेदके मतानुसार काष्ठ भी चार वर्णोंके होते थे। जिसका प्रमाण 'वर्णविज्ञान' में दिया जा चुका है। इन्हीं चार वर्णोंके काष्ठ जलयान बनानेके काममें आते थे। महाभारतके आदिपर्वमें लिखा है:—

ततः प्रवासितो विद्वान् विदुरेण नरस्तदा।
पार्थानां दर्शयामास मनोमारुतगामिनीम्॥
सर्ववातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम्।
शिवे भागीरथीतीरे नरैर्विश्रम्भिभिः कृताम्॥

महात्मा विदुरजीने पाण्डवोंकी रक्षाके लिये गंगातटपर ऐसे एक विश्वासी पुरुषोंसे अधिष्ठित जहाजको भेज दिया, जिस जहाजमें सभी प्रकारके यन्त्र थे, ध्वजा थी और पवनवेगको सहन करनेकी भी शक्ति थी। ऐसे अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि, प्राचीन कालमें आर्यगण जहाज आदि जलयान बनानेके कौशलको पूर्णतया जानते थे और इस प्रकार अर्णवपोत आदिमें चढ़कर दिग्विजय और वाणिज्य आदिके लिये समुद्रपथसे दूर दूर देशोंमें यातायात करते थे।

वाणिज्यके विषयमें प्राचीन आर्य-इतिहासकी पर्यालोचना करनेसे पता लगता है कि, प्राचीन कालमें जो भारत स्वर्णभूमि कहलाता था, आर्यजातिका

वाणिज्य ही इसका प्रधान कारण था। मैक्स डनकर साहबने कहा है कि, खृष्ट जन्मसे दश शताब्दि पहिले फिनिशियन् जातिके साथ आर्यजातिका हस्तिदन्त, चन्दन-काष्ठ, स्वर्ण, रौप्य, मणि तथा मयूर आदिका वाणिज्य चलता था। यह एक प्रसिद्ध बात है कि, ग्रीकजातिने भारतवासियोंसे ही चीनीका व्यवहार पहिले सीखा है। अंग्रेजी सुगर शब्द संस्कृत 'शर्करा' से ही बना हुआ है। पश्चात् अरब, पारस्य और यूरोपके अनेक देशोंमें इसका प्रचार हुआ है। मि० मण्डारने कहा है कि, सेलूसिडिके राज्यकालमे भी सिरीयाके साथ आर्यजातिका वाणिज्य चलता था। भारतवर्षके लोह, अलंकार और बहुमूल्य वस्त्र जहाजोंके द्वारा यहांसे ब्याबिलोन और टायर देशमें जाया करते थे। रेशम, प्रवाल, मुक्ता, हीरा आदिका व्यापार सदा ही मिश्र और तदन्तर्गत अलग्जेण्ड्रियासे था। हस्तिदन्त और नीलका वाणिज्य ग्रीसके साथ प्राचीन आर्यजातिका था। रोमके साथ भारतवासियोंका नाना प्रकारके सुगन्धी द्रव्य और मसालोंका व्यापार था, ऐसा प्रो० हीरेन साहबने कहा है। प्राचीन रोम देशकी स्त्रियां भारतीय रेशम और सुगन्ध द्रव्यको इतना पसन्द करती थी कि सोनेके दामसे उसे खरीदती थी। प्लैनी साहबने दुःख प्रकाश किया है कि, इस प्रकारसे रोमके सकल प्रान्तोंसे भारतवर्षमें प्रतिवर्ष ४० लाख रुपया चला जाता था। इस प्रकार वाणिज्यके विषयमें पाश्चात्य पण्डितोंके प्रमाणोंके अतिरिक्त हिन्दूशास्त्रीय प्राचीन और आधुनिक ग्रन्थोंमे भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। यही सब कारण है कि, भाषा, देव, देवी, नगर आदिके नामोंके साथ उन देशोंके नामोंका मेल देखनेमें आता है। प्रत्युत भारतवर्ष ही आर्य जातिका आदि निवास स्थान है।

अब अन्तमें त्यौहार तथा तीर्थोंके विषयपर कुछ शंका समाधान करके प्रकरणका उपसंहार किया जाता है।

होली हिन्दुओंका प्रसिद्ध त्यौहार है। संस्कृतमें इसका नाम 'होलिका' वा 'होलाका' कई जगह आया है। विद्वानोंमें ऐसी प्रसिद्धि है कि, ब्राह्मणादि चारों वर्णोंके क्रमसे 'श्रावणी' 'विजयादशमी' 'दीपावली' और 'होली' ये चारों मुख्य त्यौहार है। इस क्रमसे यह शूद्रोंका मुख्य त्यौहार माना जाता है, किन्तु प्रत्येक त्यौहारमें एक एक वर्णकी प्रधानता रहनेपर भी अन्य सभी वर्ण अपने भाई उस वर्णके साथ मिलकर सब त्यौहारोंको मनाते हैं, इसलिये होली भी हिन्दूमात्रका जातीय त्यौहार है। यह होली कई एक पर्व,

उत्सव और श्रौत स्मार्त कर्मोंका एक समूह है, जिसमें कालक्रमसे रूपान्तर होते होते भिन्न भिन्न कर्मोंके कुछ कुछ चिह्न मात्र बाकी रह गये हैं। वे सब ही कर्म्म केवल शूद्रोंसे ही सम्बन्ध नहीं रखते, किन्तु कई एकका मुख्य सम्बन्ध द्विजातियोंसे ही है, यथा:—

(१) वेदका मुख्य प्रतिपाद्य कर्म्म यज्ञ है। उस श्रौत यज्ञके मुख्य तीन भेद हैं:—इष्टि, सोम और चयन। इसमें 'इष्टि'-अग्निहोत्र, दर्श पौर्णमास और चातुर्मास्य आदि भेदसे अनेक प्रकारकी है। चतुर्मास्य उन यज्ञोंका नाम है जो चार चार महीनोंके अन्तरसे वर्षमें चार बार किये जाते हैं। वैसे तो ऋतु ६ मानी गई हैं, किन्तु दो दो ऋतुओंमे समय प्रायः एकसा रहता है, इसलिये प्रधान ऋतु तीन ही हैं, गर्मी, वर्षा और शीत। इनकी सन्धिमे एक एक चातुर्मास्य यज्ञ (इष्टि) का विधान श्रुतिमें है। फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमाके दूसरे दिन गरमीके आरम्भका चातुर्मास्य याग होता है, यहीसे वर्षका आरम्भ है, इसलिये यह प्रथम चातुर्मास्य याग है—जिसका नाम 'वैश्व देव' है। आषाढ़ी पूर्णिमाके दूसरे दिन 'वरुण प्रघास' नामका दूसरा चातुर्मास्य होता है। कार्तिकी पूर्णिमाके दूसरे दिन 'शाक मेध' नामका तीसरा और फाल्गुनके मध्यमें समाप्तिका 'शुना सीरीय' नामका चौथा चातुर्मास्य और करते हैं। इस प्रकार यह फाल्गुनी पूर्णिमा चातुर्मास्य यज्ञके आरम्भका प्रधान समय है। कहना नहीं होगा कि, इस यज्ञका सम्बन्ध द्विजातियोंसे ही है।

(२) नवीन अन्न पैदा होनेपर जबतक वह यज्ञ द्वारा देवताओंको अर्पण न किया जाय, तबतक अपने काममें नहीं लिया जा सकता। इसलिये जब जब नया अन्न पैदा हो, तब तब एक इष्टि (यज्ञ) होती है जिसका नाम श्रौत सूत्रोंमें 'आग्रयणेष्टि' है। यह वर्षमें तीन बार की जाती है। भदई धान या श्यामाक आदि पैदा होनेके समय भाद्रपदमें, धान, मक्का, बाजरा आदि पैदा होनेके समय कार्तिक या मार्गशीर्षमे, और यव, गोधूम आदि पैदा होनेके समय फाल्गुन या चैत्रमें। इसका समय भी फाल्गुनकी पूर्णिमा है। जिन द्विजोंने श्रौत अग्निहोत्र न लिया हो, वे निरग्नि कहाते हैं। निरग्नि द्विजातियोंके लिये भी गृह्य सूत्रोंमें इस नवीन अन्न पैदा होनेके समयमें एक स्मार्त इष्टिका विधान है, जिसे 'नवान्नेष्टि' या 'नवान्न प्राशन' नामसे कहा गया है। किसी भी प्रकारसे हो, नवीन अन्नका पहिले होम करना आवश्यक समझा गया है। यह कर्म भी हमारे 'होलिका'

के त्यौहारमें ही आजकल मिला हुआ है। इसका इतना ही चिह्न शेष रह गया है कि, होलीकी ज्वालामें गेहूं, जौ आदिकी बालें सेक ली जाती हैं। इस स्मार्त्त कर्मका सम्बन्ध भी प्रधान रूपसे द्विजातियोंसे ही है।

(३) पौराणिक आख्यान प्रसिद्ध है कि, 'हिरण्य कशिपु' दैत्यकी बहन जिसका नाम 'होलिका' था, वह हिरण्य कशिपुकी आज्ञासे प्रह्लादको गोदमें लेकर उसे जलानेके लिये अग्निमें बैठी थी, किन्तु जगत्के एक एक अणुमें ईश्वर को देखनेवाला ईश्वरभक्त प्रह्लाद न जला और वह 'होलिका' जल गई। इस पवित्र अलौकिक घटनाकी स्मृतिमें आज भी ईश्वर विश्वासी आर्य्यावर्त्त निवासी 'होलिका' को जलाते है, और अग्निज्वालाके बीचमेसे प्रह्लादके प्रतिनिधि एक वृक्षको निकालकर जलाशयमें ठण्ढा कर देते है। उसी वृक्षको प्रह्लादका प्रतिनिधि मानकर पहिले पूजा भी करते हैं। यह पौराणिक अनुष्ठान है, और इसका भी सम्बन्ध सभी वर्णोंसे है।

(४) भविष्य पुराण (उत्तर पर्व १३२ अध्याय) में एक दूसरे प्रकारका भी उपाख्यान है। 'माली' नामके राक्षसकी पुत्री एक 'दुण्ढा' या 'ढौण्ढा' नामकी राक्षसी थी, उसने बड़ी तपस्या करके शिवसे वर प्राप्त किया, जिससे वह शस्त्र अस्त्रों द्वारा अवध्य हो गई। इसके बाद वह बालकोंको सताने लगी। विशेषकर ऋतुकी सन्धिमे उससे पीड़ा होती थी। उसका नाश किसी अस्त्र, शस्त्र, मन्त्र, औषध आदिसे न हो सका। सत्ययुगमें रघुके राज्यमें जब प्रजा इससे बहुत आर्त होकर राजाके पास पुकारी, तो राजाने अपने गुरु, पुरोहित वशिष्ठजीसे इसका उपाय पूछा। उनने यही उपाय बताया कि, फाल्गुनकी पूर्णिमाके दिन—जब कि शीत समाप्त होता है, और गरमीका प्रारम्भ होता है—सब मनुष्य, विशेषकर बालक बड़े उत्साहसे काष्ठके बने हुए खड्ग आदि शस्त्र लेकर योद्धाओंकी तरह विचरें। सूखे काष्ठ और उपलोंका बहुत बड़ा ढेर लगाया जाय, सायकाल उसमें अग्नि लगाकर, राक्षसविनाशक मन्त्रोंसे हवन किया जाय। उस अग्निकी सब लोग तीन प्रदक्षिणा करें, और उस समय 'अड़ा' 'अड़ा' आदि ऊंची आवाजसे शब्द करें। सायङ्काल घरमें व आंगनमें गोबरसे चौका लगाना, छोटे बालकोंको घरमें रखना, काष्ठकी तलवार लिये हुए हास्यरसके गीत गाते रहना, व उन कुमारोंको गुड़, पकान्न, मिठाई आदि बांटना चाहिये। छोटे बालकोंकी उस रात्रिको विशेष रक्षा करनी चाहिये। इससे इस राक्षसीकी पीड़ा

मिटेगी। निदान वैसा ही किया गया, उससे प्रजामें शान्ति हुई, और तबसे सदाके लिये यह विधि चल पडी। 'अड़ा, अड़ा' शब्दके कारण उस राक्षसीका नाम 'अडाड़ा' है, शीत और उष्णके बीच होनेके कारण 'शीतोष्णा' है और होमके कारण यह पर्व 'होलिका' नामसे प्रसिद्ध हुआ है।

ये सब काम आज भी होलिकाके दिन होते हैं। काठका खड्ग (खांडे), गोबरकी ढाल आदि बनाई जाती हैं। अग्नि प्रज्वालन, अग्नि प्रदक्षिणा आदि सब ही कुछ होता है। 'डफ' आदि बाजोंपर ऊँचे स्वरसे हास्य रस प्रधान गायन भी खूब प्रसिद्ध है। राक्षसविनाशक मन्त्रोंसे हवन तो नही होता, किन्तु धूप देकर गण्डे, तावीज आदि बालकोंके गलेमें बांधनेका प्रचार है। वस्तुतः इस पौराणिक विधानका सम्बन्ध विज्ञानसे प्रतीत होता है। शीतकालका संचित कफ बसन्तकी गरमी पाकर पिघलता है, उसके कीटाणु सब शरीरमें फैलकर नाना रोग पैदा करते हैं। यह ऋतु कफ रोगोंके लिये आयुर्वेदमें सुप्रसिद्ध है। विशेष कर बालकोंको भिन्न भिन्न प्रकारके रोग इस मौसममें होते हैं। घरोंमें भी शीतकालमें पूरी गरमी न पहुंचनेके कारण कई प्रकारके कीटाणु अपना स्थान बनालेते हैं, जो कि कई प्रकारकी हानि करते रहते हैं। शरीरमें उत्साह लाना, कूदना, फांदना अग्नि जलाकर उसके पास रहना, ऊँची आवाजसे गाना आदि सब ही काम कफके निवर्तक हैं। मिष्टान्नमें गुडकी प्रधानता भी कफकी निवृत्तिके लिये ही बताई गई है। घरोंको स्वच्छ रखना, गोबरसे लीपना, अग्निकी ऊँची ज्वाला ये सब विधि भी कीटाणुओंकी विनाशक हैं। इन वैज्ञानिक अनुष्ठानोंसे कफरोगोंकी निवृत्तिमें किसीको सन्देह नही हो सकता। हास्य प्रधान गायन भी इसी आधारपर रक्खा गया है कि, मनुष्य स्वभावतः ऐसे विषयोंको ऊँचे स्वरसे बोलता है। उत्साहजनित ऊँचा स्वर कफको हटाकर फेफड़ोंको साफ करेगा। इस वैज्ञानिक अनुष्ठानका सम्बन्ध भी सभी वर्णोंसे है। और पुराणोंमें भी सबके ही लिये यह विधान है। चारों वर्णोंके उपयुक्त क्रियाएं भी इसमें स्पष्ट मिलती हैं। रक्षोघ्न मंत्रोंसे हवन ब्राह्मण वर्णोचित कार्य है, शस्त्र, अस्त्र लेकर घूमना क्षत्रिय जनोचित, मिठाई आदिका आयोजन वैश्य जनोचित व यथेच्छ भाषण आदि शूद्र जनोचित कार्योंका इसमें समावेश मौजूद है। इन वैज्ञानिक क्रियाओंकी ही इस त्यौहारमें प्रधानता है।

(५) बसन्त ऋतु सम्भवतः उन्मादक है। शीतकालमें प्रकृति सबको

चल देती है। शक्ति सञ्चित होनेपर उसका प्रेमरूपसे प्रस्फुटित होना प्राकृतिक है। हमारे शास्त्रोंमें वसन्तको कामदेवका मित्र इसी आधारपर कहा गया है। इसी प्रेमोन्मादको पूर्ण चरितार्थ करनेका हिन्दू जातिमें एक दिन नियत है—चैत्र कृष्ण प्रतिपदा। वही वसन्तारम्भका दिन है। उस दिन बड़े, छोटे, धनी, दरिद्र, ऊँच, नीच, जाति, पांति सब भेद-भाव भुलाकर सब आपसमें मिलें, प्रेममय मधुर भाषण करें, प्रेम चिह्नके रूपमें एक दूसरेपर रङ्ग छोड़ें। इस दिन चाण्डालतकका स्पर्श करनेकी शास्त्रमें स्पष्ट विधि है। चाण्डाल भी हिन्दू जातिका एक अङ्ग है, वह यह न समझे कि मेरे साथ कोई प्रेम नहीं करता, इसलिये स्नानसे पूर्व चाण्डालका स्पर्श करके स्नान करनेकी विधि उस दिन रक्खी गई है और उसका फल माना गया है। प्रेमोन्मादके कारण ही हँसी मजाकको भी उस दिन स्थान दिया गया है। पश्चिम देशमें इसी वसन्त ऋतुमें 'एप्रिलफूल' नामका त्यौहार होता है।

वसन्तोत्सव और कामदेव पूजाकी भी प्रतिपदाके दिन शास्त्रमें विधि है। दक्षिणमें यह उत्सव 'मदन महोत्सव' के नामसे प्रसिद्ध है। स्वच्छ वस्त्र पहन कर स्वच्छ स्थानमें सबका बैठना, चन्दन, रोली, गुलाल आदि लगाना और आम्र मञ्जरीका आस्वादन करना इस विधानमें मुख्य है। यह चंदन गुलाल ही अशिक्षाके कारण कीच उछलनेतक पहुँच गई। होलिकाके भस्मका वन्दन करना भी शास्त्रमें विहित है, इस विधिने भी राख धूल उछालनेकी प्रथामें सहायता पहुँचाई है।

(६) देवी पूजा, कृष्ण पूजा, हिण्डोलेका उत्सव आदि शास्त्रोक्त कई विधान भी प्रतिपदाके शास्त्रोंमें मिलते हैं—जो कि भिन्न भिन्न प्रदेशोंमें प्रचलित हैं।

होलिकोत्सवके विषयमें नारदीयपुराणमें लिखा है :—

फाल्गुने पौर्णिमायान्तु होलिकापूजनं स्मृतम्।
संचयं सर्वकाष्ठानां पलालानां च कारयेत्॥

फाल्गुनमासकी पूर्णिमामें होलिका पूजन होता है, उसमें लकड़ी तथा घास फूसका एक ढेर लगा कर रक्षोघ्न वेद मन्त्रोंसे हवन करनेकी विधि है। वेदमन्त्र यथा :—

ॐ रक्षोहणं वलगहनं वैष्णवीमिदमहं तं वलगमुत्किरामि स्वाहा। इत्यादि मन्त्रोंसे हवन करके पश्चात् होलिका पूजनकी विधि है। इसका मन्त्र, यथा :—

अहकूटाभयत्रस्तैः कृता त्वं होलि बालिशैः।
अतस्त्वां पूजयिष्यामि भति-भूतिप्रदायिनीम् ॥

हे होलि! अहकूटा राक्षसीके भयसे भीत बालकोंने उसके मारनेके लिये तुम्हारी प्रतिष्ठा की है, इसलिये मैं तुम्हारी पूजा करता हूं। तुम्हारा भस्म मुझे ऐश्वर्यप्रदान करे। इसके सिवाय दोलोत्सवके विषयमें भी ब्रह्मपुराणमें लिखा है:—

नरो दोलागतं दृष्ट्वा गोविन्दं पुरुषोत्तमम्।
फाल्गुन्यां संयतो भूत्वा गोविन्दस्य पुरं व्रजेत् ॥

फाल्गुन पूर्णिमाके दिन पुरुषोत्तम गोविन्दको हिण्डोलेमें झूलते देखनेसे विष्णुलोककी प्राप्ति होती है। होलीके सम्बन्धसे वङ्गदेशमें यह भी उत्सव होता है जिसको दोलोत्सव कहते है। भविष्यपुराणमें महाराजा युधिष्ठिरसे देवर्षि नारदने कहा है:—

अथ पंचदशी शुक्ला फाल्गुनस्य नराधिप।
अभयं चैव लोकानां दीयतां परमेश्वर ॥
यथा ह्यशंकिनो लोका रमन्ति च हसन्ति च।
दारुजानि च खंडानि गृहीत्वा तु समुत्सुकाः ॥
योधा इव विनिर्यान्तु शिशवः संप्रहर्षिताः।
संचयं शुष्ककाष्ठानामुपलानां च संचयम् ॥
तत्राग्निं विधिवद् हुत्वा महामन्त्रैश्च वित्तमैः।
ततः किलकिलाशब्दैस्तालशब्दैर्मनोहरैः ॥
तेन शब्देन सा पापा होमेन च समाकृता।
सर्वदुष्टापहो होमः सर्वरोगोपशान्तये ॥
क्रियतेऽस्यां द्विजैः पार्थ तेन सा होलिका स्मृता ॥

हे राजन्! फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमाको सब मनुष्योंके लिये अभयदान देना चाहिये, जिससे निःशंक हो लोग हंसें और खेलें। लकड़ीके टुकड़ोंको लेकर वीरोंकी तरह लड़के सब गांवसे बाहर जांय और लकड़ी-कण्डे आदिका ढेर

लगाकर विधिवत् हवन करें। वह पापिनी ढुण्ढा राक्षसी मन्त्र, हवन, किल-किला शब्द तथा ताली बजानेसे नष्ट हो जाती है। होम ही सकल प्रकारका दोष तथा रोगनाशक है। इसी कारण इसको होलिका कहते हैं। पूर्वकी ओरके कुछ लोग इसको कृष्णसम्बन्धी त्यौहार मानते हैं और होलिका पूतना राक्षसी है,–ऐसा कहते है। राजपूतानेके कुछ लोग हिरण्यकशिपुकी भगिनी और प्रह्लादकी घटनासे सम्बन्ध मानते है। प्रह्लादको मारनेके लिये हिरण्य-कशिपुकी भगिनी उन्हें अग्निमें लेकर बैठी, किन्तु भगवद्भक्त प्रह्लादके प्रतापसे वह स्वयं जल गई, प्रह्लादको कुछ न हुआ। दक्षिणके लोग इसे कामदहनका स्मारक मानते है। देवादिदेव महादेवने जिस तृतीय नेत्रकी अग्निसे मदनको मार दिया था, उसी अग्निको होलिकाग्नि मानकर उत्सव करते हैं।

इस प्रकारसे होलीके त्यौहारमें अभ्युत्सव करना, हास्यगीत आदि करना, रङ्ग-गुलाल आदि सभ्यताके साथ खेलते रहना यह सब तो शास्त्रमें लिखा है। किन्तु होलीके नामसे कही कहीं स्त्री-पुरुष निर्लज्ज होकर जो बीभत्स रसके गाने गाते रहते है, फोस दिल्लगी करते रहते हैं, भांग, अफीम, गांजा तथा शराब पीकर उन्मत्त होते रहते हैं, साल भरके नारदानोंकी गन्दगीको लेकर मनुष्योंपर फेंकते है, रास्ता चलते आदमियोंका मुँह काला कर देते हैं—ये सब बहुत ही अनाचार, अत्याचार हैं, इनको त्याग देना चाहिये।

दूसरा त्यौहार दीपावलीका है, जिसमें यह कुरीति फैली हुई है, कि, छोटे-बड़े सब लोग जुएमें मत्त हो जाते हैं और इसीसे कितने ही झगड़े, भाई-भाईमें विरोध, सर्वनाश, मुकद्दमे आदि उत्पन्न होते है। यह भी सर्वथा त्यागने योग्य है।

तीसरा त्यौहार गणेश चतुर्थीका है। इसको किसी किसी प्रदेशमें 'पथरा चौथ' कहते है और इसके नामसे रात्रिके समय एक दूसरेके मकानपर पत्थर फेंकते है। यह बड़ी कुप्रथा है इसमें सिर फूट जाते है, बुरी तरह चोट लगती है, आपसमें कलह बढ़ता है। अतः सर्वथा त्यागने योग्य है।

अब विस्तारभयसे केवल सर्वप्रधान महातीर्थ काशीका वर्णन किया जाता है। वाराणसी, वराणसी, अविमुक्त, आनन्दकानन, महाश्मशान ये सब काशीके पर्यायशब्द हैं।

कर्मणां कर्षणात्सा वै काशीति परिकथ्यते।

शिव० पु० ज्ञानसंहिता।

यहां पर शुभाशुभ कर्म नष्ट होकर मोक्षलाभ होता है, इसलिये इसका नाम काशी है।

काशतेऽत्र यतो ज्योतिस्तदनाख्येयमीश्वर।
अतो नामापरं चास्तु काशीति प्रथितं विभो॥

काशी० खं० २६-२७

वाक्यसे अगोचर परम ज्योति यहां पर प्रकाशित होती है, इसलिये इसको काशी कहते हैं।

विमुक्तं न मया यस्मान् मोक्षते वा कदाचन।
मम क्षेत्रमिदं तस्मादविमुक्तमिति स्मृतम्॥

लिङ्ग पु० ९२-४५

इस स्थानको भगवान् शंकर न कदापि परित्याग करते हैं और न करेंगे, इसलिये इसका नाम अविमुक्त है। शुक्ल यजुर्वेदीय शतपथब्राह्मणमें काशी शब्दका उल्लेख मिलता है, यथा—'अतः काशयोऽग्निना दत्तम्।' 'यथं काशीनां शात्वतामिव' १३-५-४१९।४२१ कौषीतकी उपनिषद् ३-१-५-१ तथा रामायण किष्किन्धा काण्ड ४०-२२ में काशीको बड़ा भारी जनपद तथा पवित्र यज्ञभूमि करके बताया गया है। 'वाराणसी' नामके विषयमें जाबालोपनिषद्में लिखा है—

अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे, येनासावमृतीभूत्वा मोक्षीभवति, तस्मादविमुक्तमेव निषेवेत, अविमुक्तं न विमुञ्चेत् एवमेवैतद् याज्ञवल्क्य! सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति। वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति। का वै वरणा का च नाशीति। सर्वानिन्द्रियकृतान् दोषान् वारयतीति तेन वरणा भवतीति। सर्वानिन्द्रियकृतान् पापान् नाशयतीति तेन नाशी भवतीति।

यहांपर जीवोंके मृत्यु समय रुद्रदेव कानमें 'तारकब्रह्म' मन्त्र कह देते हैं जिससे जीवको मोक्ष हो जाता है। अतः अविमुक्त वाराणसीका ही सेवन करना चाहिये, इसे छोड़ना नहीं चाहिये। यह अविमुक्त कहांपर है? वरणा और नाशी इन दोनों नदियोंके बीचमें है। समस्त इन्द्रियकृत दोष दूर करती है इसलिये 'वरणा' नाम है और समस्त इन्द्रियकृत पाप नष्ट करती है इसलिये

'नाशी' नाम है। काशीखंड ४।२४ २६ में वाराणसीका यौगिक रहस्य पूर्ण अर्थ बताया गया है, यथा—

क्षेत्रं पवित्रं हि यथाऽविमुक्तं-
नान्यत्तथा यच्छ्रुतिभिः प्रयुक्तम्।
न धर्मशास्त्रैर्न च तैः पुराणै-
स्तस्माच्छरण्यं हि सदा विमुक्तम्॥
सहोवाचेति जावालिरारुणेऽसिरिड़ा मता।
वरणा पिंगला नाड़ी तदन्तस्त्वविमुक्तकम्॥
सा सुषुम्ना परा नाड़ीत्रयं वाराणसी त्वसौ।
तदत्रोत्क्रमणे सर्वजन्तूनां हि श्रुतौ हरः॥
तारकं ब्रह्म व्याचष्टे तेन ब्रह्म भवन्ति हि।
एवं श्लोको भवत्येष आहुर्वै वेदवादिनः॥
नाविमुक्तसमं क्षेत्रं नाविमुक्तसमा गतिः।
नाविमुक्तसमं लिङ्गं सत्यं-सत्यं पुनः पुनः॥

काशी जैसा पवित्रक्षेत्र और कोई भी नहीं है, इसको केवल धर्मशास्त्र तथा पुराणने ही नही कहा है, अधिकन्तु वेदमें भी यही कहा गया है, इसलिये अविमुक्त क्षेत्रकी ही शरण लेनी चाहिये। मुनिवर जावालिने अपने शिष्य आरुणिसे कहा है—इड़ा नाड़ी असि, पिङ्गला वरणा और इन दोनोंके मध्यमें स्थित सुषुम्ना नाड़ी अविमुक्त क्षेत्र है। इस तरहसे योगनाड़ीत्रय ही वाराणसी है। वाराणसीमें प्राणत्याग होते समय भगवान् शिव दक्षिण कर्णमें 'तारक-ब्रह्म' नाम सुनाते है, जिससे जीवको ब्रह्म स्वारूप्य लाभ होता है। इस विषयमें वेदवक्ता पण्डितोंने यही श्लोक कहा है कि, अविमुक्तके समान क्षेत्र नही है, अविमुक्तके समान गति नही है, अविमुक्तके समान लिङ्ग नही है, यही निश्चित सत्य है।

"कलौ विश्वेश्वरो देवः कलौ वाराणसी पुरी" ३१।२५

कलियुगमें विश्वेश्वर ही श्रेष्ठतम देवता और वारणसी ही श्रेष्ठतम पुरी है। यही अति प्राचीन काशी, अविमुक्त और वाराणसी नामत्रयकी सार्थकता है।

आर्यशास्त्रमें काशी महातीर्थकी सर्वोत्तम प्रशंसा की गई है। लिखा है—

धर्मस्योपनिषत् सत्यं मोक्षस्योपनिषच्छमः।
क्षेत्रतीर्थोपनिषदमविमुक्तं विदुर्बुधाः॥

शिव० पु० ज्ञानसंहिता ४६-६३।

धर्मका सर्वोत्तम रहस्य सत्य है, मोक्षका सर्वोत्तम रहस्य शम है और क्षेत्र तीर्थका सर्वोत्तम रहस्य अविमुक्त वाराणसी है।

और भी—

जन्मान्तरसहस्रेण यत्पापं पूर्वसञ्चितम्।
अविमुक्तं प्रविष्टस्य तत् सर्वं व्रजति क्षयम्॥ मत्स्य पु०।

पूर्वसञ्चित हजार जन्मोंके पाप भी काशीप्रवेशमात्रसे नष्ट हो जाते हैं।

बहुनात्र किमुक्तेन वाराणस्या गुणान् प्रति।
नामापि गृणतां काश्याश्चतुर्वर्गो न दूरतः॥ नारदीय पु०।

वाराणसीका गुण अधिक क्या कहा जाय, इसके नाम मात्रके उच्चारणसे चतुर्वर्ग फल मिलता है।

काशीमें मृत्यु होनेसे मुक्ति होती है, तो क्या काशीमें आनेसे पूर्व जिसने पाप किया है या काशीमें रहकर भी जिसने पाप किया है सभीको मुक्ति मिळ जायगी? जब 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इस वेदप्रमाणके अनुसार ज्ञान बिना मुक्ति नहीं होती है, तो ज्ञानविहीन या अज्ञानी पापी काशीवासी होनेपर ही कैसे मुक्त हो सकते हैं, यह विषय अवश्य विचारने योग्य है। अब नीचे इस विषयमें कुछ विचार किया जाता है। काशीखण्डमें लिखा है:—

विषयासक्तचित्तोऽपि त्यक्तधर्मरतिर्नरः।
इह क्षेत्रे मृतः सोऽपि संसारं न विशेत् पुनः॥
तत्रोत्क्रमणकाले तु साक्षात् विश्वेश्वरः स्वयम्।
व्याचष्टे तारकं ब्रह्म येनासौ तन्मयो भवेत्॥

विषयमें आसक्तचित्त, धर्ममें रतिहीन मनुष्य भी यदि काशीमें मरे तो उसे पुनः संसारमें आना नहीं पड़ेगा। क्योंकि यहांपर प्राणत्यागके समय स्वयं विश्वेश्वर मुमुर्षुके कानमें 'तारकब्रह्म' नाम सुनाते हैं, जिससे तन्मयता

होकर पाप कटता है और मोक्ष मिलता है। यह दोनों काशीमें मुक्तिके विषयमें साधारण श्लोक हैं। विशेष विवेचनमें पद्मपुराणका वचन है, यथा :—

अविमुक्ते कृतं पापं वज्रलेपी भवेद् दृढम् ।
वज्रलेपेन पापेन तेन मे जन्म राक्षसम् ॥
'अविमुक्तेऽणुमात्रं हि तत्पापं मेरुतां व्रजेत् ।'
पञ्चक्रोशीं प्रविशतस्तस्य पातकसन्ततिः ।
वहिरेव प्रतिष्ठेत नान्तर्निविशते क्वचित् ॥ काशीखण्ड

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं काशीक्षेत्रे विनश्यति ।
काशीक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपं भविष्यति ॥ म० तन्त्र

काशीमें किया हुआ पाप वज्रलेप हो जाता है, इसी कारण एक मनुष्यको राक्षसयोनिमें जाना पड़ा, ऐसा पद्मपुराणमें लिखा है। यहांका अणुमात्र पाप भी मेरुतुल्य विशाल हो जाता है। काशीखण्डमें लिखा है—पञ्चक्रोशीके भीतर प्रवेश करते समय पाप वाहर ही रह जाता है, भीतर घुसने नहीं पाता। इस कारण अन्यत्रका पाप काशी क्षेत्रमें नष्ट हो जाता है, किन्तु काशीमें अनुष्ठित पाप वज्रलेप हो जाता है। इसलिये और भी काशीखण्डमें लिखा है:—

अन्यत्र यत्कृतं पापं तत् काश्यां परिणश्यति ।
न कल्पकोटिभिः काश्यां कृतं कर्म प्ररुष्यते ।
किन्तु रुद्रपिशाचत्वं जायते निरयत्रयम् ॥

अन्यत्र किया हुआ पाप काशीमें नष्ट हो जाता है। किन्तु काशीमें किया पाप कोटिकल्पमे भी नष्ट नही होता है, रुद्र पिशाचकी योनि और तीन नरक प्राप्त होते है।

पद्मपुराणमें इसका दृष्टान्त, यथा :—

अथ शूद्रशरीरं तु दध्रे नाम्ना क्रमेलकः ।
ततो भैरवदूतैस्तैः स नीतो भैरवाग्रतः ॥
कालभैरवं दृष्ट्वैव रुद्रपैशाच्यमाप्तवान् ।
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि क्षुत्तृष्णाभ्यां विवर्जितः ॥

काशीमें पाप करनेसे अनेक योनियोंमें दुःख भोगके बाद क्रमेलकको शूद्र-योनि प्राप्त हुई। तदनन्तर भैरवदूतगण उसको कालभैरवके पास लाये। कालभैरवको देखकर उसे तीस हजार वर्ष तक रुद्रपिशाच योनिमें रहना पड़ा। इसी कारण काशीखण्डमें उपदेशवाक्य है, यथा—

तत्र पापं न कर्त्तव्यं दारुणा रुद्रयातना।
अहो रुद्रपिशाचत्वं नरकेभ्योऽपि दुःसहम्॥
पापमेव हि कर्त्तव्यं मतिरस्ति यदीदृशी।
सुखेनान्यत्र कर्त्तव्यं मही ह्यस्ति महीयसी॥
परापवादशीलेन परदाराभिलाषिणा।
तेन काशी न संसेव्या क्व काशी नियमः क्व सः॥ इत्यादि।

काशीमें कदापि पाप नहीं करना चाहिये। क्योंकि रुद्रयातना बड़ी भयानक तथा नरकयातनासे भी दारुण है। यदि पाप करनेकी इच्छा ही है तो विशाल पृथिवी पड़ी हुई है, अन्यत्र जहां चाहे सुखसे पाप करे, किन्तु काशीमें आकर पाप नहीं करना चाहिये। जो मनुष्य परनिन्दा तथा परनारीमें आसक्ति रखता है उसको काशीमें रहना नहीं चाहिये। क्योंकि काशीवासके नियमसे यह विरुद्ध है। इत्यादि।

अब विचारकी बात यह है कि, 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' इस आज्ञाकी सार्थकता अज्ञानी, पापी काशीवासीके लिये कैसे होगी। इस विषयमें शास्त्रमें लिखा है—

यानि चेह प्रकुर्वन्ति पातकानि कृतालयाः।
नाशयेत्तानि सर्वाणि देवः कालतनुः शिवः॥ कूर्म पु०
कृत्वापि काश्यां पापानि काश्यामेव म्रियेत चेत्।
भूत्वा रुद्रपिशाचोऽपि पुनर्मुक्तिमवाप्स्यति॥ काशीखण्ड
वाराणस्यां स्थितो यो वै पातकेषु रतः सदा।
योनिं प्रविश्य पैशाचीं वर्षाणामयुतत्रयम्॥
पुनरेव च तत्रैव ज्ञानमुत्पद्यते ततः।

मोक्षं गमिष्यते सोऽपि गुह्यमेतत् खगाधिपः ॥

"अधर्मिष्ठस्य तत्क्षेत्रे यातनान्ते दिशेन्मतिम्।" गरुड़ पुराण

काशीमें रह कर जो कुछ पाप किया जाता है, उसके दण्डदाता यमराज नहीं हैं, किन्तु स्वयं कालतनु शिव हैं। वे पापीको मरणके बाद रुद्र-पिशाच योनिमें या अत्यधिक पाप हो तो अन्यान्य अधमयोनिमें डालते हैं। इस प्रकारसे वर्षों दुःखभोग या रुद्रयातना भोगके बाद पापीकी बुद्धि ठिकाने पर आती है। तब उसमें पुण्य तथा ज्ञानका संचार होने लगता है। वही ज्ञान बढ़ता हुआ अनुकूल कालमें उसको पुनः काशीमें जन्म दिलाता है। तब ज्ञान परिपाकके समय 'तारक ब्रह्म' नाम विश्वेश्वर उन्हें देते हैं, जिससे मरणानन्तर मुमुक्षुको मोक्ष मिल जाता है। इस प्रकारसे 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' और 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' इन दोनों वाक्योंकी एकता श्रीभगवान् भवानीपतिकी कृपासे हो जाती है।

कालके प्रभावसे अधिकांश तीर्थोंकी आजकल बहुत ही दुर्दशा देखनेमें आती है। जब ऋषि, देवता, तपस्वी, महात्माओंके शुभनिवास द्वारा तीर्थोंमें दिव्य विभूति प्रकट होती है, तो स्वतः सिद्ध बात है कि, जबतक तीर्थ निवासिगण सदाचारी, आस्तिक, जपपूजापरायण रहेंगे, यात्रिगण तीर्थदर्शन बुद्धिसे श्रद्धाभक्तिके साथ तीर्थोंमें निवास करेंगे, ज्ञानी महात्मा अधिक संख्यामें तीर्थमें निवास करेंगे, अनाचार—कदाचार—व्यभिचार आदि जन्य प्रबल पाप तीर्थोंमें एकबारगी ही न होंगे, तभीतक तीर्थोंकी महिमा अटूट, अक्षुण्ण रहेगी और इस सिद्धान्तका व्यतिक्रम कुछ भी होनेपर तीर्थकी महिमा नष्ट होने लग जायगी और तीर्थमेंसे दिव्यविभूति तिरोहित हो जायगी। किन्तु अत्यन्त खेदकी बात यह है कि, प्रायः सभी तीर्थोंमें तीर्थमहिमा विध्वंसनकारी ऊपर लिखित विषय आजकल प्रचुर देखनेमें आ रहे हैं। एक तो रेल आदि द्वारा जानेकी सुविधा हो जानेसे लोग आजकल प्रायः वायुसेवन या प्रमोदबुद्धिसे तीर्थयात्रा करते हैं, पहिलेकी तरह तपस्याका मौका न रहनेसे श्रद्धा, भक्ति, प्रेमका भी मौका घट गया है। द्वितीयतः निरंकुश होकर घूमनेकी या समाजबन्धन तोड़कर यथेच्छ आहार विहारकी सुविधा तीर्थमें रहनेके कारण प्रायः सभी तीर्थ दुश्चरित्र, अनाचारी लोगोंसे भर गये हैं। तृतीयतः ऐसे नर नारियोंके अनाचारका सामान तैयार रखनेके कितने ही तीर्थोंमें मांस-मदिरा भी बिकने लगे हैं,

वेश्याएं भी रहने लगी हैं, इत्यादि इत्यादि दुराचारोंकी पराकाष्ठा आजकल तीर्थोंमें ही बहुधा देखनेमें आती है। चतुर्थतः जो तीर्थगुरु कहलाते थे, त्यागी-ज्ञानी-वेदोज्ज्वला बुद्धि पण्डासे विभूषित होकर तीर्थयात्रियोंका कल्याण करना जिनकी प्राचीन मर्यादा तथा धर्म था, इनमेंसे अधिकांश ही आजकल अत्याचारी, अनाचारी, अर्थलोलुप, चरित्रहीन बनकर तीर्थयात्री तथा तीर्थ दोनोंके लिये महान् दुःखदायी तथा सत्यानाशी बन गये हैं। उनके अत्याचारसे, उत्पीड़नसे तीर्थमें जाना भी आपत्तिजनक होगया है, देवमन्दिरमें १० मिनट शान्तचित्तसे बैठकर ध्यानधारणा करना भी कठिन होगया है, प्रेमभक्तिके साथ प्रतिमादर्शन तथा तीर्थविभूतियोंका दर्शन करना भी असम्भवसा होगया है, अधिक क्या कहा जाय किसी किसी तीर्थमेंसे तो स्त्री पुत्रादिको लेकर मर्यादासे लौट आना भी कठिन होगया है। अनेक विधर्मी म्लेच्छ भी तीर्थोंमें निवास कर नाना प्रकारके अत्याचार करने लगे हैं और कहीं कहीं पर तीर्थ को ग्रास ही किये जारहे हैं। अब तीर्थमें अधिकांश स्थलपर शास्त्रविधिसे श्रद्धा भक्तिके साथ पूजन भी नहीं होते, अधिकांश पण्डे-पूजारि पूजाके अरि ही बन गये हैं। केवल चढ़ावेके लिये ही चीत्कार करते और यात्रियोंका प्राण खाते रहते हैं। कहीं कहीं पर अत्याचारी राजाओंने यात्रियों पर कर या स्नान दर्शन आदि पर टैक्स लगा दिया है, जिन कारणोंसे तीर्थोंकी महिमा नष्ट होकर केवल दुकानदारी ही चल पड़ी है। इसलिये यदि तीर्थोंकी महिमा पुनः प्रतिष्ठित करनी हो तो उनका समयानुकूल सुधार अवश्य होना चाहिये। तीर्थगुरु या तीर्थपुरोहित जिससे सच्चे गुरु पुरोहित बनकर तब दक्षिणा-पूजा ले सकें इसकी व्यवस्था होनी चाहिये। तीर्थोंमें जो लाखों रुपयेकी सम्पत्ति बरबाद होती है, उसे अच्छे काममें लगाकर पुरोहित विद्यालय, आचार्यकुल आदि खोलना और उन विद्यालयोंसे उत्तीर्ण विद्वान्, सदाचारी, आस्तिक, श्रद्धाभक्तिपूजापरायण गुरुपुरोहित ही जिससे सम्मानित होसके और अनधिकारियोंका सम्मान न हो इसकी व्यवस्था करनी चाहिये। जिन राज्योंके अन्तर्गत तीर्थ हों उनमें वो नृपतिगण राजाज्ञा द्वारा ही यह काम करा सकते है, अन्यत्र विशेष कमेटी द्वारा तीर्थाचार्यगण स्वयं ही इस कार्यको सुगमताके साथ करा सकते है या अन्य उत्तम अभिज्ञ पुरुषोंकी सहायता ले सकते हैं। तपस्वी, सदाचारी ब्राह्मण तथा महात्माओंको तीर्थोंमें बसाना चाहिये, उनके ग्रासाच्छादन, भिक्षा आदिकी जिसमें असुविधा न रहे इसका उपाय सार्वजनिकरूपसे करा देना चाहिये। निरंकुश अनाचारी नर

नारियोंके अड्डे तीर्थ समूह न बन सकें और गन्दी दुकान या वेश्यादि तीर्थोंमें न रह सकें इसका विशेषकर प्रयत्न करना चाहिये। देवमन्दिर या स्नानके स्थानपर चढ़ावेके लिये बलप्रयोग नहीं होना चाहिये, यात्रिगण श्रद्धापूर्वक जो कुछ देवें उसीमें तीर्थपुरोहितोंको सन्तोष रखना चाहिये। इत्यादि इत्यादि आवश्यक व्यवस्था होजानेपर पुनः तीर्थोंकी महिमा जाग उठेगी और पुराणादि शास्त्रोंमें तीर्थसेवनके जो उत्तमोत्तम फल बताये गये हैं, उन्हें सर्वथा प्राप्त करके आस्तिक, सदाचारपरायण, जितेन्द्रिय तीर्थसेवी कृतकृतार्थ हो सकेंगे, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

गो-महिमा।

वेदके कर्म–उपासना–ज्ञानकाण्डके आधार पर आर्यशास्त्रके अनेक विषयोंका प्रचुर वर्णन करके अन्तमें कुछ प्रकीर्ण विषयों पर विचार किया जाता है। प्रथम विषय गोजातिकी महिमा पर है।

गमनार्थक गम् धातुसे योगरूढ़ शब्द 'गो' बनता है। इसके द्वारा कर्तृवाच्यमें 'जो जाता है वह गऊ' यह अर्थ, और करणवाच्यमें जिसके द्वारा अर्थात् जिसको वाहन बनाकर मनुष्य तथा देवतागण जाते हैं तथा जिसको दान करके पुण्यफलसे स्वर्गमें जीव जा सकता है; यही अर्थ निकलता है। इस अपूर्व जातिकी उत्पत्ति कहांसे हुई इस विषयमें पुरुषसूक्तमें लिखा है—"गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्मात् जाताः अजावयः" ब्रह्ममय यज्ञसे प्रथम गऊ प्रकट हुई और तदनन्तर बकरे और भेड़ उत्पन्न हुए। सुरभि, नन्दिनी इस जातिकी आदिमाता कही जाती है। यथा—ब्रह्मवैवर्त्तपुराण-प्रकृतिखण्डमें—

गवामधिष्ठात्री देवी गवामाद्या गवां प्रसुः।
गवां प्रधाना सुरभिर्गोलोके सा समुद्भवा॥

गउओंकी अधिष्ठात्री देवी, आदिजननी, सर्वप्रधाना सुरभि है, उनका उत्पत्तिस्थान गोलोक है। समुद्रमन्थनके समय लक्ष्मीके साथ सुरभि भी प्रकट हुई थी, ऐसा प्रमाण भी शास्त्रोंमें मिलता है।

सौरभेय्यः सर्वहिताः पवित्राः पुण्यराशयः।
प्रतिगृह्णन्तु मे ग्रासं गावस्त्रैलोक्यमातरः॥

यह गोग्रासका मन्त्र है, इसमे भी सुरभिको गोजातिकी आदिजननी कहा गया है। इस प्रकारसे दैवजगत्के साथ गोजातिकी उत्पत्तिका सम्बन्ध आर्य-शास्त्रमें बताया गया है।

आर्यशास्त्रमें गोजातिका स्थान बहुत ऊंचा है। आर्यशब्दकी उत्पत्ति ही 'ऋ' धातुसे हुई है, जिससे कर्षण या कृषिकार्यके साथ आर्यजातिका सम्बन्ध सिद्ध होता है। कृषिकार्य गोजातिके विना चल नही सकता। अतः आर्य-जातिके साथ गोजातिका नित्य सम्बन्ध है। 'दोहन' से ही 'दुहिता' शब्द बना है। आर्यबालिकाएँ गोदोहन करती थी। अतिप्राचीन ऋग्वेदमें लिखा है—

"गोर्मे माता ऋषभः पिता मे दिवं शर्म जगती मे प्रतिष्ठा"

गाय मेरी माता और ऋषभ पिता है, वे इहलोक परलोकमें सुख, मङ्गल तथा प्रतिष्ठा प्रदान करें।

वृषो हि भगवान् धर्मश्चतुष्पादः प्रकीर्तितः।
वृणोमि त्वामहं भक्त्या, स मां रक्षतु सर्वदा॥

वृष ही भगवान् चतुष्पाद-पूर्ण धर्म है। उन्हें वरण करता हूं। वे सर्वदा मेरी रक्षा करें। इस मन्त्रद्वारा श्राद्धमें वृषकी स्तुति की जाती है।

या लक्ष्मीः सर्वभूतानां या च देवेष्ववस्थिता।
धेनुरूपेण सा देवी मम शान्तिं प्रयच्छतु॥
विष्णोर्वक्षसि या लक्ष्मीर्या लक्ष्मीर्धनदस्य च।
या लक्ष्मीर्लोकपालानां सा धेनुर्वरदास्तु मे॥
देहस्था या च रुद्राणी शंकरस्य च या प्रिया।
धेनुरूपेण सा देवी मम शान्तिं प्रयच्छतु॥
चतुर्मुखस्य या लक्ष्मीः स्वाहा या च विभावसोः।
चन्द्रार्कऋक्षशक्तिर्या सा धेनुर्वरदाऽस्तु मे॥
सर्वदेवमयीं दोग्ध्रीं सर्ववेदमयीं तथा।
सर्वलोकनिमित्ताय सर्वलोकमपि स्थिरम्॥
प्रयच्छामि महाभागामक्षयाय शुभाय ताम्।

जो देवी सकल भूतोंमें लक्ष्मीरूप है तथा सकल देवताओंमें अवस्थित है,

वह धेनुरूपमें मुझे शान्ति देवे। जो देवी लक्ष्मीरूपसे विष्णुहृदयमें, कुबेर तथा लोकपालोंमें विराजमान है वह धेनुरूपमें मुझे वरदान करे। जो देवी देहमें रुद्राणी तथा शंकरप्रिया है वह धेनुरूपमें मुझे शान्तिप्रदान करे। जो ब्रह्माकी लक्ष्मी, अग्निकी स्वाहा और चन्द्र, सूर्य ताराओंमें शक्ति है वही देवी धेनुरूपमें मेरी वरदात्री हो। सर्व देवमयी, सर्व वेदमयी, दुग्धदात्री देवीको समस्त लोकोंकी अक्षयकल्याणकामनासे दान करता हूं। इस स्तुतिके अक्षर अक्षरमें गोमाताकी अलौकिक महिमा दर्शायी गई है। और भी—अग्निपुराण २९२ अ०:—

ब्राह्मणाश्चैव गावश्च कुलमेकं द्विधा कृतम् ।
एकत्र मन्त्रास्तिष्ठन्ति हविरेकत्र तिष्ठति ॥
यत्र वेदध्वनिध्वान्तं यत्र गोभिरलंकृतम् ।
यत्र वालैः परिवृतं श्मशानमेव तत् गृहम् ॥

ब्राह्मण और गऊ एक ही कुलके ये दो हैं, एकमें वेदमन्त्र और दूसरेमें यज्ञीय हविका स्थान है। जो मकान वेदके शब्दसे गूंजता नहीं, गउओंसे सुशोभित होता नहीं और बालगोपालोंसे भरा रहता नहीं, वह श्मशान है। अग्निपुराणके २९२ अध्यायमें गऊके विषयमें और भी बहुत कुछ लिखा गया है, यथाः—

शकृन्मूत्रं परं तासामलक्ष्मीनाशनं परम् ।
गवां कण्डूयनं वारि शृङ्गस्याघौघमर्दनम् ॥
गवां श्वासात् पवित्रा भूः स्पर्शनात् किल्विषक्षयः ॥
हविषा मन्त्रपूतेन तर्पयन्त्यमरान् दिवि ।
ऋषीणामग्निहोत्रेषु गावो होमेषु योजिताः ॥
सर्वेषामेव भूतानां गावः शरणमुत्तमम् ।
गावः पवित्रं परमं गावो मांगल्यमुत्तमम् ।
गावः स्वर्गस्य सोपानं गावो धन्याः सनातनाः ॥

गोमय, गोमूत्रसे अलक्ष्मी नाश और कण्डूयन तथा सींगके जलसे पापनाश होता है। गायके श्वाससे भूमि पवित्र और स्पर्शसे पापक्षय होता है। ऋषियोंके अग्निहोत्र तथा हवनमें गाय ही सेवा करती है, गाय ही सकल भूतोंकी शरण

है। गाय परम पवित्र, परम मङ्गलमयी, स्वर्गकी सोपान और चिरन्तनी धन्य माता है। श्रीभगवान् मनुने गोदानका फल लिखा है, यथा:—

'अनडुहः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य पिष्टपम्' (अ० ४ श्लो० २३१)

बैलका देनेवाला प्रचुर सम्पत्ति और गायका देनेवाला सूर्यलोक प्राप्त करता है। पराशरसंहितामें लिखा है:—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
निर्दिष्टं पञ्चगव्यन्तु पवित्रं पापनाशनम्॥
गोमूत्रं कृष्णवर्णायाः श्वेताया गोमयं हरेत्।
पयश्च ताम्रवर्णाया रक्ताया दधि चोच्यते॥
कपिलाया घृतं ग्राह्यं सर्वं कापिलमेव वा॥ (अ. ११ श्लो. २७ २८)

गोमूत्र, गोमय, दूध, दही, घृत और कुशाका जल—यह पञ्चगव्य पवित्र तथा पापनाशक है। काली गायका गोमूत्र, श्वेत गायका गोमय, तामेके रङ्गकी गायका दूध, लाल गायका दही, और कपिला गायका घृत लेना चाहिये। पाँच रङ्गकी गायें न मिलें तो केवल कपिला गायसे ही सब लिया जा सकता है। विष्णुसंहितामें लिखा है:—

गवां हि तीर्थे वसतीह गङ्गा पुष्टिस्तथासां रजसि प्रवृत्ता।
लक्ष्मीः करीषे प्रणतौ च धर्मस्तासां प्रणामं सततं च कुर्यात्॥ (अ० २३)

गो निवास-स्थानमें गङ्गा वसती है, उनकी धूलिमें पुष्टि विद्यमान है, उनके शुष्क गोमयमें लक्ष्मी तथा प्रणाममें धर्म विराजमान है, अतः गोमाता सदा प्रणाम करने योग्य है। भविष्यपुराणमें लिखा है:—

पृष्ठे ब्रह्मा गले विष्णुर्मुखे रुद्रः प्रतिष्ठितः।
मध्ये देवगणाः सर्वे रोमकूपे महर्षयः॥
नागाः पुच्छे क्षुराग्रेषु ये चाष्टौ कुलपर्वताः।
मूत्रे गङ्गादयो नद्यो नेत्रयोः शशिभास्करौ॥
एते यस्यास्तनौ देवाः सा धेनुर्वरदास्तु मे॥

गोमाताके पृष्ठ देशमें ब्रह्माका स्थान, गल देशमे विष्णुका स्थान और मुखमें रुद्रका स्थान है। बीचके अवयवोंमें समस्त देवता और रोमकूपमें महर्षिगण

वसते हैं। पुच्छमें अनन्तनाग, खुराओंमें कुलपर्वत, मूत्रमें गङ्गादि नदियां और नेत्रोंमें चन्द्र, सूर्य है। ऐसी अनन्त देवमयी माता वरदा बने। देवीपुराणके ११० अध्यायमें लिखा है:—

"गोस्पर्शनमायुर्वर्द्धनानाम्"

आयु बढ़ानेवाले कार्योंमेंसे गायका स्पर्श एक उत्तम कार्य है, जिससे आयु बढ़ती है। और भी:—

गंगातटे गवां चैव दर्शने स्यान्महाफलम्।

बृह० मध्यखण्ड १८ अ०

यात्राकाले सवत्सां च धेनुं दृष्ट्वा सुखं व्रजेत्।

बृह० उत्तर ख० ६ अ०

गवां सेवा तु कर्त्तव्या गृहस्थैः पुण्यलिप्सुभिः।
गवां सेवापरो यस्तु तस्य श्रीर्वर्द्धतेऽचिरात्॥
ताडनं म्रियतां वाक्यं स्पर्शनं तालपत्रतः।
पदाघातं भक्ष्यरोधं वर्जयेद् गोषु मानवः॥ बृह० उ० ६ अ०
गवां ग्रासप्रदानेन मुच्यते सर्वपातकैः। सौर० पु० १० अ०
मया गवां पुरीषं वै श्रिया जुष्टमिति श्रुतम्।

महाभारत अनुशासन पर्व ८२—१

गङ्गातटपर गायके दर्शनसे महाफल लाभ होता है। यात्राके समय सवत्सा गायको देखनेसे यात्रा अच्छी होती है। पुण्य चाहने वाले गृहस्थको गोसेवा अवश्य करनी चाहिये। इससे शीघ्रही श्रीकी प्राप्ति होती है। ताड़न, 'मर जा' यह कहना, ताड़के पत्तेसे छूना, पांवसे मारना, भूखा रखना यह सब गौके लिये मना है। गो-ग्रास देनेसे सकल पापसे छुटकारा होता है। गोमयमें समस्त लक्ष्मी विद्यमान हैं। महाभारतके अनुशासनपर्वमें अर्जुनके प्रति श्रीभगवान्‌की भी उक्ति है:—

कीर्त्तनं श्रवणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव।
गवां प्रशस्यते वीर सर्वपापहरं परम्॥
निविष्टं गोकुलं यत्र श्वासं मुञ्चति निर्भयम्।
विराजयति तं देशं पापं चास्यापकर्षति॥

गौओंका महिमाकीर्त्तन, महिमाश्रवण, गोदान, गोदर्शन, सकल पापोंको दूर करता है। जिस भूमिपर स्थित हो गऊ भय छोड़कर श्वास लेती है, उसकी शोभा बढ़ती है और वहांसे पाप हट जाता है। महाभारतके अनुशासनपर्वमें एक कथा आती है कि, समस्त देवताओंके अंशको लेकर भगवान् ब्रह्माने गौमाताकी सृष्टि की। गङ्गादेवीको शिवजटासे आनेमें और लक्ष्मी देवीको नारायण छोड़ आनेमें थोड़ी देर लगी। तबतक गौमाताका समस्त शरीर देवताओंसे भर गया था, खाली जगह कोई भी न मिली। इन दोनों देवियोंने भगवती गौमाताके शरीरमें स्थानलाभार्थ मातासे बहुत ही प्रार्थना की। माताने कहा और तो कोई स्थान खाली नहीं है केवल मूत्र और पुरीष बाकी है, इच्छा हो तो उसमें स्थान ले सकती है। 'तथास्तु' कहकर अति प्रसन्नताके साथ गङ्गादेवीने गोमूत्रमें और लक्ष्मीदेवीने गोमयमें स्थान ले लिया। दूसरी कथा उसी पर्वमें यह है—एकबार महाराजा नहुष भृगुवंशीय महर्षि च्यवनका मूल्य निर्द्धारण करने लगे, और उन्हें उनके मूल्यरूपमें धीरे धीरे हजार, लाख तथा करोड़ रुपये तक देने लगे। किन्तु जब महर्षिने कहा कि, यह भी उनके योग्य मूल्य नहीं है तो महाराजा आधा राज्य और अन्तमें समूचा राज्य देनेको तैयार हो गये। उसपर भी महर्षिने कहा कि, यह भी उनका उपयुक्त मूल्य नहीं हुआ। अन्तमें महाराजाने जब महर्षिका मूल्य एक गाय निर्द्धारित किया तब प्रसन्नताके साथ उन्होंने स्वीकार किया। इस प्रकारसे आर्यशास्त्रमें गोजातिको उच्च स्थान दिया गया है।

इसका कारण क्या है? इसका एक ही कारण है कि, जिस प्रकार 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां' बीस लक्ष वृक्षयोनियोंमें अश्वत्थ वृक्षयोनि ही अन्तिम और इस हेतु सर्व श्रेष्ठ है, उसी प्रकार 'चतुरशीतिलक्षान्ते गोजन्मा तत्पर नरः' ऐसा कहकर तत्त्वदर्शी महर्षियोंने पशुयोनिमें गोजन्मको ही अन्तिम जन्म बताया है। प्रकृतिके त्रिगुणमय तीन प्रवाहके अनुसार जरायुज पशुओंमें तमोगुणकी अन्तिम योनि वानरकी, रजोगुणकी अन्तिमयोनि सिंहकी और सत्त्वगुणकी अन्तिम योनि गायकी होती है, अतः गोजातिमें सत्त्वगुण और सात्त्विकशक्तिकी अधिकता होनेसे सत्त्वगुणप्रिय धर्मप्राण आर्यजातिने गोमाताकी देवीवत् पूजा की है, सर्वश्रेष्ठ स्थान उन्हें दिया है। अब विचार करनेकी बात यह है कि, लौकिक जगत्में इस सात्त्विकता तथा शक्तिमत्तासे क्या क्या लाभ हमें प्राप्त होता है। आगे क्रमशः इसीका तत्त्वनिरूपण किया जायगा। मनुसंहितामें लिखा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

अग्निमें दी हुई आहुति सूर्यदेवको प्राप्त होती है, उससे वृष्टि, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजाकी उत्पत्ति होती है। आहुति गव्य घृतकी हुआ करती है, भैंस आदिके घृतसे हवन करना शास्त्रविरुद्ध है । अतः गोमाताकी रक्षाके विना यज्ञकार्य निष्फल होगा, जिससे अन्नका अभाव होकर देशमें दुर्भिक्ष फैल जायगा और प्रजाकी उत्पत्ति भी रुक जायगी यह निश्चय है। द्रव्यशुद्धि, क्रियाशुद्धि और मन्त्रशुद्धिके विना यज्ञकर्ममें सफलता नहीं होती है। बल्कि कहीं कहीं विपरीत फल भी हो जाता है। "मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा" इत्यादि महाभाष्य वचन प्रसिद्ध ही है। द्रव्यशुद्धिमें घृत आदि यज्ञीय द्रव्यका ग्रहण होता है । क्रियाशुद्धिमें वेदानुकूल क्रियाका ग्रहण होता है और मन्त्रशुद्धिमें वैदिक मन्त्रोंके शुद्ध उच्चारणका ग्रहण होता है। अतः अन्न तथा प्रजाकी रक्षाके लिये गोजातिकी परम आवश्यकता होनेके कारण आर्य शास्त्रमें गोमहिमा विशेषरूपसे बताई गई है।

संसारमें ऐसा कोई जीव नहीं है जिसके सभी अङ्गसे कुछ न कुछ उपकार प्राप्त होता हो। केवल गौ ही ऐसा जीव है, जिसके सभी अङ्ग किसी न किसी अच्छे काममें आते हैं । भैंसमें दूध देनेकी शक्ति गायकी अपेक्षा अधिक अवश्य है, किन्तु भैंसका पुत्र तमोगुणी होनेसे मृत्युका वाहन और गौका पुत्र सत्त्वगुणी होनेसे शङ्कर भगवान्का वाहन है । भैंसके दूधमें तमोगुणका प्रभाव है, इसके पीनेसे ब्रह्मचर्यकी रक्षा नहीं होती है। किन्तु कामादि पशुभावकी वृद्धि होती है। मनबुद्धि सभी मोटी हो जाती है । शरीर जड़ताग्रस्त हो जाता है । किन्तु गव्यामृत अमृत ही कहलाता है । इसमें ब्रह्मचर्यरक्षा, मनः संयम, बुद्धिकी स्फूर्त्ति, शारीरिक नीरोगता, आत्माकी उन्नति आदि सभी कुछ सात्त्विकभाव प्रदानकी शक्ति विद्यमान है। दही, तक्र, मक्खनमें जो धातुपुष्टकारी, अजीर्णनाशकारी, मस्तिष्कके बल वृद्धिकारी अपूर्व गुणावली है, उसको तो आजकलके डाक्टरी सायन्सने भी प्रमाणित कर दिया है । गव्यघृत वेदमें "आयुर्वै घृतम्" अर्थात् प्राणियोंके प्राणरूप करके वर्णन किया गया है। "हैयङ्गवीन" अर्थात् ताजे बनाये हुये घृतकी भूरि भूरि प्रशंसा आयुर्वेदमें देखनेमें आती है। इस प्रकारसे गोदुग्ध तथा उससे उत्पन्न घृतादिकी महिमा शास्त्रमें बताई गई है।

सभी जीवोंके विष्ठा मूत्रको अपवित्र समझ कर लोग उससे घबड़ाते हैं

और दूर रहते हैं । केवल गौके विष्ठा मूत्रमें ही ऐसी शक्ति है कि, समस्त अपवित्रता उसके द्वारा दूर हो जाती है । महाभारत अनु० ८२-१ में लिखा है—

"मया गवां पुरीषं वै श्रिया जुष्टमिति श्रुतम्"

अर्थात् गोमयमें समस्त लक्ष्मी विद्यमान है, यही शास्त्रका सिद्धान्त है ।

महापातक, उपपातक, अनुपातक सभी पापोंके प्रायश्चित्तके समय पञ्चगव्य पानका प्रथम विधान है जिसके विना प्रायश्चित्त ही वृथा हो जाता है । इसके अधिक पवित्रकारिणी शक्ति और क्या बताई जा सकती है । अस्पृश्य स्पर्श आदि दोषोंसे शालिग्राम शिला आदिके अपवित्र हो जानेपर भी पञ्चगव्यके द्वारा ही उनकी शुद्धि की जाती है । अतः देवताओंकी भी पवित्रतादायिनी गाय ही है । विना गोग्रास दिये कोई भी प्रायश्चित्त सफल नहीं होता है । विना गोदान किये कोई भी सकाम कर्म सिद्ध नहीं होता है । "वायव्यं गोरजःस्नानम्" गौमाताकी चरण धूलिमें भी स्नानकी पवित्रता देनेकी शक्ति है । मृत्युके बाद भी गायकी ही पूंछ पकड़कर वैतरणी पार हो परलोकगत जीव सुखमय लोकमें पहुंच सकता है । अतः इहलोक परलोक सर्वत्र ही गौमाता मनुष्योंके उन्नतिपथकी साथी है ।

आयुर्वेद शास्त्रमें गोमूत्र और गोमयकी शतमुखसे प्रशंसा लिखी गई है । गोमयमें बिजलीके रोक देनेकी अद्भुत शक्ति है, इस कारण पर्वतीय लोग वर्षात्से पहिले अपने मकानको गोबरसे लीपकर दरवाजे पर गोमयके यन्त्र बनाये रखते हैं । ऐसा बङ्गादि देशके लोग भी करते हैं । पश्चिमी सायन्स वालोंने यह बात निश्चय करके जान ली है कि, बीमारियोंके कीट उत्पन्न न होने देनेकी शक्ति (antiseptic) जितनी गोबरमें है इतनी और किसी वस्तुमें नहीं है । इसलिये घरको गोबरसे लीपना और सब उपायोंसे अच्छा समझा गया है । पेटके समस्त रोग, सकल प्रकारके धातुरोग, नेत्ररोग तथा हृदयरोग आराम करनेकी अद्भुत शक्ति गोमूत्रमें विद्यमान है । नियमित गोमूत्र पानसे दमेकी बीमारी बिलकुल अच्छी हो जाती है, और नेत्रमें ज्योति बहुत ही बढ़ जाया करती है । नन्दिनीके मूत्रको आंखमें लगाकर रघुराज दिव्यनेत्र हो गये थे और इन्द्रके रथको तथा इन्द्र और अश्वको देख लिया था, यह बात शास्त्रमें प्रसिद्ध ही है । धातुदौर्बल्य, शुक्रतारल्य, प्रमेह, मधुमेह आदि समस्त रोग गोमूत्र पानसे अच्छे होते हैं । अजीर्ण, तिल्ली तथा यकृत्की खराबी, उदरामय, आंव आदि सभी उदरके

रोग गोमूत्र पानसे दूर हो जाते हैं। इन्हीं सब कारणोंसे आयुर्वेदमें गोमूत्र द्वारा शोधन करके कितनी ही औषधियोंके बनानेकी विधि बताई गई है। महाभारतके अनुशासनपर्वकी कथा पहिले ही कही गई है कि, अति प्रसन्नताके साथ गङ्गादेवीने गोमूत्रमें और लक्ष्मीदेवीने गोमयमें स्थान लिया है। इस कथाके द्वारा गोमहिमाकी पराकाष्ठा तथा गोमूत्र और गोमयकी परमोपकारिता बताई गई है। वास्तवमें गोमूत्रमें वे सब गुण है जो कि, गङ्गाजलमें पाये जाते हैं। गङ्गाजलकी कीटनाशिनी शक्ति, गङ्गाजलकी उदररोगादिनाशिनी शक्ति, गङ्गाजलकी पवित्रतादायिनी शक्ति, गङ्गाजलकी मलिनतानाशिनी शक्ति, गङ्गाजलकी दिव्य तेज-दायिनी शक्ति ये सभी शक्तियां गोमूत्रमें पूर्णरूपसे विराजमान हैं। प्रसूता स्नात स्त्रीको जो गोमूत्रपान करनेकी आज्ञा धर्मशास्त्रमें दी गई है, इसमें यही कारण है कि, प्रसूता स्त्रीके उदरमें जमे हुए समस्त मलको गोमूत्र साफकर निकाल देता है और गर्भाशयको बिलकुल शुद्ध बना देता है। अन्यथा प्रसूताको विषम-ज्वर, अम्लपित्त, कुक्षिगलन आदि कठिन कठिन रोग उत्पन्न हो सकते हैं। गोमयको 'श्रिया जुष्टम्' कहकर लक्ष्मीका स्थान तो पहिले ही कह दिया गया है और उसमें लक्ष्मी बुलानेकी अद्भुतशक्ति तथा नैरोग्यप्रदायिनी समस्त शक्ति पहिले ही प्रतिपादित की गई है। अतः महाभारतकी यह आख्यायिका अक्षरशः सत्य प्रमाणित होती है।

गोमातामें खास दो शक्तियां होती हैं; एक चेचक रोगनाश और दूसरा अपुत्रको पुत्र देनेकी शक्ति। भारतके किसी प्रान्तमें भीषण महामारीरूपसे चेचक फैल जानेके समय एक अङ्गरेज़ने अपनी आंखों जांच करके देखा था कि जिन जिन ग्रामोंमें अहिरलोग बसते थे और गौके थनोंमें हाथ लगाकर अपने हाथ दूध दुहा करते थे, उन ग्रामोंमें चेनक नहीं फैला। इसी अपूर्व तत्त्वके जान लेनेके बाद ही गोबीजसे (Vaccination) टीका देकर चेचक रोगसे बचनेकी प्रथा चली। यह गोमातामें अपूर्वशक्ति है। उनमें दूसरी अपूर्वशक्ति सन्तान प्रदान करनेकी है। तन, मन, धनसे गोसेवा करनेपर वन्ध्या भी पुत्रवती होती है, अपुत्रक भी पुत्ररत्न लाभ किया करता है। गोमाता स्वभावतः ही सबकी जननी है और जननीसे भी बढ़कर है। क्योंकि अपनी माताके बीमार होनेपर या अन्तःसत्त्वा अथवा प्रसव होनेपर पहिली सन्तानके लिये उनका दूध पीने-योग्य नहीं रहता है, उस समय गोमाता ही सच्ची माता बनकर दूधपोष्य

शिशुका पालन करती है । उत्तमोत्तम अन्न भोजन करनेवाली मातासे जो पालन कार्य नहीं होता है, तृणभोजी गोमाता वह भी काम सानन्द सम्पादन करती है । अपने बच्चेको बुभुक्षु रखकर भी मनुष्य सन्तानोंको विना संकोच दूध देकर प्रतिपालन करती है और यही पालन बचपनसे लेकर मृत्यु पर्यन्त बल्कि मृत्युके बाद भी पिण्डदानके समय तक करती रहती है । इन्ही उदार हेतुओंसे सन्तानोत्पत्तिके साथ गोमाताका स्वाभाविक सम्बन्ध है, और इन्ही कारणोंसे गोसेवाद्वारा सुपुत्र लाभ हुआ करता है । महाराजा दिलीपको इसीलिये वशिष्ठ महर्षिने नन्दिनीकी सेवा द्वारा ही पुत्ररत्नलाभकी आज्ञा की थी, और इसी नन्दिनीकी कृपासे ही महर्षि वशिष्ठने ससैन्य विश्वामित्रका प्रचुर आतिथ्य किया था और उनके साथ सग्राममें भी विजय लाभ किया था ।

दैवी सम्पत्तिकी खान होनेसे गौओंमें पापनाशकी विशेष शक्ति विद्यमान है । गौके सभी शरीरमें दैवीशक्तिके केन्द्र विद्यमान हैं, जैसा कि भविष्यपुराणमें 'पृष्ठे ब्रह्मा' आदि श्लोकोंद्वारा कहा गया है । इतनी दैवीशक्ति तथा ज्ञानशक्तिके केन्द्र होनेसे अनेक फल गोसेवा द्वारा प्राप्त होंगे, इसमें सन्देह नही । यदि तेंतीस करोड़ देवताओंकी पूजाके बदले कोई गोमाताकी पूजा करेगा तो इष्टसिद्धि अवश्य होगी । क्योंकि गोमाताके शरीरमे ही सब देवता हैं, उन्हे दैवीशक्ति प्रचुर प्राप्त होगी जिससे आसुरीशक्तिका अत्याचार उनपर नही हो सकेगा । उनका शरीर, मन, जितेन्द्रियता सब कुछ बना रहेगा, यह निश्चय है । ऋषिशक्तिका केन्द्र होनेसे गोसेवा द्वारा बुद्धिकी उन्नति और ज्ञानका लाभ अवश्यम्भावी है । गङ्गा-स्नानमें जितना फल है, लक्ष्मीपूजनमें जितना फल है, विष्णुपूजा, शिवपूजामें जितना फल है सभी केवल गोसेवा, गोपूजा द्वारा प्राप्त हो सकेगा । स्थूल विद्युत्-शक्ति दैवीशक्तिका ही स्थूल विकाशरूप है । इसलिये विद्युत्शक्ति गोमाताके शरीर-में बहुत कुछ भरी रहती है । गौओंके शरीर, श्रृङ्ग, खुराक स्पर्शसे, गोपूजा तथा गोचारणसे यह शक्ति प्राप्त होती है । "गावः कण्डूयनप्रियाः" इसलिये गौयें कण्डूयन पसन्द करती हैं । उनके शरीरमें कोई हाथ फेरे या खुजलावे तो उन्हें अच्छा लगता है । मनुष्योंके प्रति उनको स्वाभाविक दया हो इसमे कारण है । यही कारण है कि, गोव्रतमें श्रृङ्ग खुरा आदिका स्पर्श करके गोपूजनकी विधि बताई गई है । और यही कारण है कि, श्रीभगवान् नन्दनन्दनने स्वय गोचारण करके जगत्को गोमाताके प्रति कर्त्तव्य बता दिया था । प्राचीनकालमें गोरक्षाके

ऊपर ही नन्द, सुनन्द, महानन्द आदि उपाधि मिला करती थी । अतः सिद्धान्त यह निकला कि, घरमें जितनी गौवें रक्खी जायँगी घरकी स्थूल तथा दैवीशक्ति उतनी ही बलवती होगी, सन्तानोंका स्वास्थ्य वीर्य उतना ही पुष्ट होगा, घरकी शान्ति, सम्पत्ति उतनी ही वृद्धिगत होगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है । गौवें विद्युत्शक्तिकी पुञ्जरूपिनी (Galvanic centre) है, सूक्ष्म दैवीशक्तिको, व्यापक दैवीशक्तिकी साकार मूर्त्तिरूपिनी (Epitome) हैं, इसी एक ही पिण्डमें ब्रह्माण्डकी सारी शक्ति सन्निविष्ट है। अतः गोसेवा न करनेवाले तथा गौओंको दुःख देनेवाले जैसे नराधम पापी और कौन होगा।

अब नवीन सायन्सके विचारानुसार गोमाताको उपकारिताका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। मनुष्यशरीरको नीरोग, पुष्ट, बलवान् तथा दीर्घ काल स्थायी रखनेके लिये जितने रासायनिक उपादानको आवश्यकता होती है, गायके दूधमें वे सभी विद्यमान है। भिन्न भिन्न परिमाणसे जल, मक्खन, केसिन, अल्बुमिन, चीनी और लवण गोदुग्धमें रहते हैं। भैंस, बकरी, भेंड़ी आदिके दूधमें भी ये सब चीजें रहती हैं, किन्तु जिस परिमाणसे इन वस्तुओंके रहनेपर दूध शरीर, मन, आत्माके लिये उपकारी हो सकता है वह परिमाण श्रीभगवान्ने गोदुग्धमें विशेष विचारसे रक्खा है। यही कारण है कि अन्यान्य दूधोंकी अपेक्षा गोदुग्धमें सकल प्रकारकी शक्ति अधिक है। कृष्णा गायका दूध त्रिदोषनाशक, पीली गायका दूध वातपित्तनाशक और लाल गायका दूध वातनाशक है । बहुमूत्र, प्रमेह, मृगी आदि कितनी ही बीमारियोंमें गोदुग्ध रसायनकी तरह उपकारी हैं।

गौके गोबरके विषयमें पहिले ही कुछ लिखा जा चुका है । गोबरमें फासफोरिक एसिड्, चूना, मैग्नेशिया और सेलिका रहती है। इसमें नाईट्रोजन भी है। सांड़के गोबरमें यह सब अधिक परिमाणसे रहता है, यथा-बछड़ेके गोबरमें ३० भाग, गायके गोबरमें ७५ भाग और सांड़के गोबरमें ६५ भाग नाईट्रोजन है। गोबरका गुण, खाये जानेवाले पदार्थ तथा गौकी अवस्था पर निर्भर करता है। गोबरमें फिनाईलकी तरह दुर्गन्धनाशक शक्ति तथा उर्वरता बढ़ानेकी खास शक्ति है। उत्तम गोबरके खाद्से खेतोंमे आलू, सलगम, गोभी, कपास, ईख आदि सब कुछ विशेषरूपसे उत्पन्न किये जा सकते है। किन्तु गोबरके बाहर फेंक रखनेसे उत्तम खाद नहीं बन सकता है। उसे गढ़ा बना कर उसमें जमा करना चाहिये और ऊपरसे मिट्टी ढाक कर खाद बनाना चाहिये।

आयुर्वेदमें गोबरको शीतनाशक कहा गया है, इसलिये साधु लोग उसके भस्मको वदनमें मलकर विना वस्त्र शीत निवारण करते हैं। गोबरके द्वारा कागज जोड़नेका उत्तम मसाला बनाया जाता है, गोबर और कागजको मिलाकर कई प्रकारके खिलौने तथा मूर्त्तियां बनाई जाती हैं। गोबरके भस्मसे उत्तम दन्तमञ्जन बनता है, उसमें तिल्लीनाशक शक्ति होनेसे आयुर्वेदमें उसका व्यवहार भी लिखा है। गोवरका धुंआं चोटपर लगानेसे आराम मिलता है। सूखे गोवरको उपल कहते हैं। उसकी आगसे भात बनानेपर वह बहुत ही लघुपाक तथा उदरामयमें उपकारक हो जाता है। उसका सेक देनेपर वात व्याधिके रोगोंमें आरोग्य लाभ होता है। उसकी आगसे वैद्य लोग स्वर्ण, रौप्य आदिका भस्म भी बनाते हैं। कटे घावपर ताजे गोबरका लेप देनेपर खून निकलना बन्द हो जाता है और घाव जुड जाता है। इत्यादि इत्यादि गोबरके अनेक गुण हैं।

गोमयकी तरह गोमूत्र भी परमोपकारी रसायन है। सायन्सके विचारसे उसमें फस्फेट, पोटास, लवण और नाईट्रोजन है। नाईट्रोजनमें यूरिया और यूरिक एसिड है। आयुर्वेदमतसे गोमूत्र खारा, कडुआ, कषैला, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, दीप्तिकारक, मेधाजनक और पित्तकर है। यह कफ, वायु, शूल, गुल्म, प्लीहा, उदररोग, श्वास, कासरोग, सूजन, कब्ज, पाण्डुरोग, नेत्ररोग, मुखरोग, खुजली, आमवात, वस्तिरोग, कुष्ठरोग इत्यादिका नाशक है। इसकी बूंदें कानमें डालनेसे कानका दर्द दूर होता है।

गोमूत्रका खाद गोवरसे भी उत्तम होता है। गोशालामें जहां गायें रातको सोती हैं वहां बालू डालकर या किसी खड्डेमे गोमूत्र सग्रह करके उसमें गोवर डालकर खाद बनाया जा सकता है। गोमूत्रसे नित्य नेत्र धोनेपर नेत्रका ज्योति बुढ़ापे तक अच्छी रहती है। इसके पानसे सब प्रकारके कुष्ठरोग तथा तिल्लीरोग दूर हो जाते हैं। इससे कपडा भी खूब साफ होता है। गोमूत्रमें हर्ड़ भिगोकर किसी लोहेके वर्त्तनमें पीस शरीरपर मालिश करनेसे धवल रोग आराम होजाता है। ऐसाही भिगोकर अमृत हरीतकी वनती है जो उदरामय, अरुचि, अजीर्ण आदि रोगोंमें विशेष उपकारी है। गोमूत्रमें धानोंको भिगोकर, उन्हें भूँसीकी आगमें भून जो चावल निकलते है, उसका भात खानेसे कठिन-कुष्ठ भी आराम हो जाता है। निर्गुण्डीके पत्तोंके फङ्का वनाकर उसके साथ

गोमूत्रका व्यवहार करनेपर भी कुष्ठरोग आराम हो जाता है। केवल गोमूत्र पानसे ही कितने कुष्ठरोगी इस कठिन व्याधिके प्रकोपसे निस्तार पाचुके हैं।

उत्तम गायके फेफड़ेके पास पीतवर्ण जो शुष्क पित्त होता है, उसे गोरोचन कहते हैं। आयुर्वेदके मतानुसार गोरोचन स्वयं महौषधि है तथा अनेक महौषधिके बनानेमें और तान्त्रिक यन्त्रादि बनानेमें विशेष उपचार है। यह शीतल, तिक्त, कान्तिवर्द्धक, मङ्गल तथा वशीकरणजनक है। ग्रहदोष, उन्माद, गर्भपात, भूतबाधा, कृमि, कुष्ट आदिमें महौषधिरूपसे गोरोचनका प्रयोग होता है।

इस प्रकारसे प्राच्य-प्रतीच्य दोनों विचारोंके अनुसार गोजातिकी परम महिमा बताई गई है।

गोजातिकी इतनी महिमा होनेपर भी भारतके दुर्भाग्यसे अब दिनोंदिन गोवंशका नाश हो रहा है। बहुत वर्षकी बात नहीं, आइने-अकबरीके देखनेसे पता लगता है कि, अकबरके समयमें एक आना सेर घी और दस आने मन दूध बिकता था। अब अढ़ाई रुपयेमें भी १ सेर शुद्ध घी तथा एक रुपयेमें भी चार पांच सेर शुद्ध दूध नहीं मिलता है। ४२ वर्ष पहिले भी दो पैसे सेर अच्छा दूध मिलता था। अब भारतमें वह घी, दूध नहीं है। अब आस्ट्रेलियासे जमा हुआ दूध, मक्खन भारतमें आता है, उसीसे हमारे बच्चे जीवन धारण करते हैं। शुद्ध घीके अभावसे अब यज्ञके फल नहीं मिलते, समयानुसार वृष्टि नहीं होती, दुर्भिक्षका कराल कोप भारतमें व्याप्त है। घीकी जगह अब महुएके तेल, सांपकी चर्बी और बनस्पतिके रससे बना हुआ अप्राकृतिक घी मिलने लगा है, जिसे खाकर लोग बीमार हो रहे हैं। अब भारत गोहीन, गव्यहीन हो गया है। भारतसे गायके चमड़ा भेजनेका व्यवसाय अब दिनोंदिन उन्नति पर है। १८९१ ई० से १९०० तक प्रतिवर्ष दो करोड़ रुपयेका गोचर्म विदेशको भेजा गया है। १९०१ में ५ करोड़ तीस लाखका गोचर्म बाहर भेजा गया था। १८९९-१९०० और १९००-१९०१ इन दो वर्षोंमें तीन करोड़ बीस लाखका गोचर्म विदेश भेजा गया है। Imperial Gazetteer of India Vol. III, P. 189 में ये सब वृत्तान्त लिखे हुए हैं। यदि यही हाल रहा, तो आगामी ५० वर्षके भीतर तसवीरमें ही गौमाताके दर्शन हुआ करेंगे और मूछोंमें लगानेके लिये भी दूध घीका मिलना असम्भव हो जायगा।

गोजातिके इस प्रकार रोमाञ्चकारी सत्यानाशका हेतु क्या है? इस

विषयपर अनुसन्धान करनेसे निम्नलिखित प्रधान प्रधान कारण प्रतीत होते हैं :—

१—गोभक्षकोंकी निष्ठुर उदरपूर्त्तिके लिये भीषण गोहत्या।

२—देशमें गोग्रास तथा गोखाद्यका अभाव।

३—गोचर भूमिका अभाव तथा प्राचीन गोचर भूमियोंका कृषिभूमिमें परिणत कर देना।

४—गोवंश-वृद्धिके लिये उत्तम सांड़का अभाव।

५—इस देशके कसाई नियत समयपर चमड़ा देनेके लिये चमड़ेके व्यापारियोंसे पेशगी रुपया ले लेते हैं। वे लोग घासके साथ विष मिलाकर या मयदे और घीमें विष मिलाकर गायोंको खिला देते हैं, अथवा जहां गायें चरती हैं, वहां डाल देते हैं। कभी कभी गायके शरीरमें फोड़ा देखकर वहीं विष लगा देते हैं। कभी कभी छूरेमें विष लगाकर गायके शरीरके खूनमें विष प्रवेश करा देते हैं। कभी गोशालासे गायें चुरा ले जाते हैं और जीते ही जी मुख बांधकर उनके चमडे उतार लेते हैं। जब किसी गांवकी गायोंमें संक्रामक रोग फैलता है, तो उसी रोगसे मरे हुए पशुकी अँतड़ी, मांस इत्यादि दूसरे गांवके उस स्थानमें डाल आते हैं, जहां गायें चरती हैं। इस तरह वहां भी संक्रामक रोग उत्पन्न होकर गोवंशका नाश होता है।

६—भारतमें गोपालन तथा गोचिकित्सा सिखानेके लिये विद्यालयोंका अभाव।

७—गोचिकित्सालय तथा औषधालयोंका अभाव और गोचिकित्सकोंका भी अभाव।

८—भारतमें गोपालन, उनकी बीमारी तथा चिकित्साविषयक पुस्तकोंका अभाव।

९—दूधके व्यापारी कृत्रिम उपायोंसे गायको दुह कर बच्चोंको अधिक दाम पर कसाईके हाथ बेच देते हैं, जिस कारण गोजाति क्षीण तथा निर्मूल हो रही है।

१०—दूधके व्यापारी अधिक लाभकी आशासे गायको खूब दुह लेते हैं इससे बच्चोंको कम भोजन मिलता है। और वे क्रमशः रोगी तथा जीर्ण होकर मर जाते हैं।

११—कहीं कहीं अहीर लोग अधिक दूधके लोभसे फूका देकर गाय दुहते हैं, जिससे उनकी गर्भ धारण शक्ति नष्ट हो जाती है। और अन्तमें वे भी कसाइयोंके हाथ बेच दी जाती हैं।

१२—गौशालाओंमें गौओंकी रक्षा ठीक ठीक न होनेके कारण उन्हें शीत, ताप आदि कष्ट सहन करना पड़ता है और इसीसे ज्वर, चेचक, आंव, उदररोग आदि होकर वे मर जाती हैं।

१३—गायोंमें संक्रामक रोग फैलने पर उसका प्रतिकार नहीं किया जाता है, गायोंको हटाया या अलग अलग नहीं रक्खा जाता है इससे भी उनमें मृत्यु फैल जाती है।

१४—सड़ी हुई नालियोंका जल तथा वर्षाके बंधे जलमें उत्पन्न खराब तृणादिको खाकर गायें बीमार हो जाती हैं और कितनी मर ही जाती हैं।

१५—हमारे देशके धनी लोग कुत्ते तथा चिड़ियां बहुत शौकसे पालते हैं, किन्तु गाय पालनेकी इच्छा उनमें बहुत ही कम पाई जाती है। अपने सामने गोवध होते देख कर भी उपेक्षा करते हैं इससे भी गोजातिका नाश हो रहा है।

येही सब गोवंश नाशके मुख्य कारण हैं। अतः इनके हटाये विना यथोचित गोरक्षा होना असम्भव है।

विज्ञानजगत्में नवीन चमत्कार।

आजकल विज्ञानजगत्में अनेक प्रकारके नवीन चमत्कार प्रकाशित होरहे हैं। इस ग्रन्थके पहिले ही अध्यायमें कहा गया है कि, सनातनधर्मकी भित्ति विज्ञानमूलक होनेके कारण विज्ञानजगत्की जितनी जितनी उन्नति होगी, सनातनधर्मका भी रहस्य उतना ही उतना अधिक उज्ज्वलरूपसे संसारके सामने प्रकट हो जायगा। अब नीचे वैज्ञानिक नवीन चमत्कारके कुछ उदाहरण देकर इस सत्यकी सार्थकता दिखाई जाती है।

(१) Mark Twain speaking of some test, by Mr. Hankins the Scientist in Government employ at Agra in connection with the water of the Ganges, remarks in his 'More Tramps Abroad' (Pages 343-44):—

"It had long been noted as a strange thing that while

Benares is often afflicted with cholera she does not spread it beyond its borders. This could not be accounted for. Mr. Hankins, the Scientist in the employ of the Government at Agra concluded to examine the water He went to Benares and made his tests He got water at mouths of the sewers where they empty into the river at the bathing ghats, a cubic centimetre of it contained millions of cholera germs; at the end of six hours they were *all dead* He caught a floating corpse, towed it to the shore, and from beside it he dipped up water that was swarming with cholera germs, at the end of six hours they were *all dead*

"He added swarm after swarm of cholera germs to this (Ganges) water, within six hours they always died, to the last sample. Repeated he took pure wellwater which was barren of animal life and put into it a few cholera germs, they always began to propagate at once and always within six hours they swarmed and were numberable by millions upon millions For ages the Hindoos have had absolute faith that the water of the Ganges was utterly pure, could not be defiled by any contact whatsoever, and infallibly made pure and clean whatsoever thing touched it They still believed it, and that is why they bathe in it and drink it The Hindoos have been laughed at these many generations, but the laughter will need to modify itself a little from now on How did they find out the water's secret in those ancient ages? Had the germ-scientists then? We do not know. We know that they had a civilization long before we emerged from savagery".

In confirmation of this may be quoted what the Indian Medical Gazette notes --

"It would appear as if modern science was coming to the aid of the ancient tradition in maintaining a special blessedness of the water of the Ganges Mr E H. Hankins in the preface to the fifth edition of his excellent pamphlet 'on the Cause and Prevention of Cholera' writes as follows:—"Since I originally wrote this pamphlet I have discovered that the water of the Ganges and the Jumna is hostile to the growth of the cholera microbe, not only owing to the absence of food materials, but owing to the actual presence of an antiseptic that has the power of destroying this microbe. At present I make no suggestion as to the origin of this mysterious antiseptic."

इस बातको देखकर बहुत दिनोंसे लोग आश्चर्य मानते थे कि काशीमें हैजा बहुत होता है, किन्तु आसपासके ग्रामोंमें प्रायः नहीं होता है। आगरामें गवर्नमेण्टकी ओरसे नियुक्त वैज्ञानिक हैङ्किन्स साहब इस रहस्यकी जांचके लिये काशी आये और यन्त्रोंके द्वारा गन्दे जलकी परीक्षा की। उन्होंने देखा कि, काशीके गन्दे नालोंका जो जल गङ्गाजीमें आ गिरता है, उसमें लाखों हैजेके कीट हैं। किन्तु गङ्गाजलमें मिलनेके छः घण्टे बाद ही सब मर जाते हैं। उन्होंने एक बहते हुए मुर्देको पकड़ लिया और उसके पासके जलकी परीक्षा ली तो उसमें भी हैजेके असंख्य कीड़े पाये गये किन्तु छः घण्टेके बाद सबके सब मर गये। तब उन्होने लक्षलक्ष हैजेके कीट गङ्गाजलमें छोड़ दिये, किन्तु क्या आश्चर्य देखा गया कि छः घण्टेके बाद उनमेंसे एक भी नही बचा और सबके सब मर गये। इसके बाद हैङ्किन्स साहबने विशुद्ध कूपका जल लेकर उसमें हैजेके कीट छोड़ दिये, वे कीट उस जलमें उसी समयसे बढ़ने लगे और छः घण्टेके भीतर बढ़ते बढ़ते असंख्य होगये। आश्चर्यमें होकर उन्होंने कहा—"हिन्दुगण गङ्गाजलको जो इतना पवित्र और गङ्गाको देवी मानते हैं, उसके भीतर बहुत कुछ तत्त्व हैं। स्वेदज कीट विज्ञानका इतना पता प्राचीन हिन्दुओंको कैसे लग गया था? क्या प्राचीन कालमें भारतमें भी ऐसे विज्ञानवित् पण्डित थे? हमें मालूम नही, केवल इतना ही हमें मालूम है कि, जिस समय समस्त संसार असभ्यताके

अन्धकूपमें डूबा हुआ था, उस समय हिन्दुजातिकी सभ्यता पराकाष्ठा पर पहुंची हुई थी।"

ऊपर लिखित विषयका समर्थन इण्डियन मेडिकल गेजेटने भी किया है, यथा—"गङ्गाजलकी पवित्रता और उत्तमताको प्रमाणित करनेके लिये अब आधुनिक सायन्सकी सहायता मिल रही है, ई. एच् हैङ्किन्स साहवने परीक्षा करके अपने ग्रन्थमें लिखा है कि, गङ्गा और यमुना दोनोंके ही जलमें हैजाके कीटनाशकी प्रबल शक्ति विद्यमान है, क्योंकि इन जलोंमें कीटोंकी वृद्धिके लिये कोई खुराक नहीं है और द्वितीयतः इनमें कीटनाशकारी रासायनिक वस्तु रहा करती है। हमें अभी तक पता नहीं लग सका है कि, गङ्गाजल तथा यमुना जलमें ऐसी कीटनाशिनी शक्ति कैसे उत्पन्न होगई है।"

(२) While recommending the inauguration of Sanskrit Seats in American Universities, which is fast being carried out there, Dr Carlo Formichi, an eminent Italian Sanskrit Scholar and one who holds professional posts at the Universities of Pisa and Rome, now temporarily appointed in the University of California to inaugurate the Chair of Italian Culture, said —

"The study of Sanskrit is of immense importance, first because it is the most perfect linguistic organism that we know, more perfect than either Greek or Latin in its structure and more transparent, for it preserves all its roots, while others have lost many of theirs The etymology of many words that are lost in other languages can be found in Sanskrit Among all the Aryan languages, it is the most perfect one extant. From the mythological, literary and philosophical view-points, Sanskrit is also of the highest importance The mythology of Greece and Rome is largely fragmentary, there we have the forces of Nature already personified but their origins remain obscure. In Indian my-

thology, however, we find the process of personification still going on, so that the whole becomes clear For the key to our own languages and mythology we must appeal to Sanskrit; and this fact makes it of enormous scientific interest. Sanatanist 10—1—29.

पीसा और रोमके विश्वविद्यालयके प्रसिद्ध अध्यापक संस्कृतके उत्तम-ज्ञाता कार्लो फर्मिचि साहबने एमेरिकन विश्वविद्यालयोंमें संस्कृत विद्याको स्थान देनेकी आवश्यकता बतानेके मौके पर निम्नलिखित विषय कहा था—

"संस्कृतभाषाकी चर्चा नितान्त आवश्यक है, क्योंकि भाषाजगत्में संस्कृत ही सर्वोत्तम तथा सर्वाङ्ग सम्पूर्ण है और ग्रीक व लेटिनभाषा भी इस विषयमें इतनी ऊंची कक्षा तक नहीं पहुँच सकी है। संस्कृतभाषाने अपने मौलिक शब्द तथा धातुओंकी सुरक्षा की है, अन्य भाषाओंने प्रायः इसको खो दिया है। शब्दविन्यास तथा पदविन्यास अन्यान्य भाषाओंमें बहुधा नष्ट होगया है, किन्तु संस्कृतभाषामें यथावत् विद्यमान है। पौराणिक, साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टिसे भी संस्कृतभाषा सर्वोत्तम आवश्यक वस्तु है। ग्रीस और रोमकी आख्यायिकाएं परस्पर सम्बन्धविहीन हैं, उनमें प्राकृतिक शक्तियोंके चेतनरूपवर्णन होने पर भी उनकी मौलिक सत्ताका पता नहीं लगता है। किन्तु संस्कृतभाषामें ये सब यथावत् नियमबद्ध देखनेमें आते हैं। हमें अपनी भाषाओं तथा आख्यायिकाओंकी उत्पत्ति ढूंढनी हो तो संस्कृतमें ही ढूंढनी पड़ेगी, इसीसे संस्कृतभाषाके वैज्ञानिक भावका पता लग जाता है।"

यौगिक मूलाधार चक्रसे आदिनाद प्रणवकी उत्पत्ति, तदनन्तर समस्त अक्षरोंका चक्रपथमें क्रमविकाश, संस्कृतभाषा तथा वर्णमालाकी स्वाभाविकताका रहस्य मन्त्रशास्त्र नामक अध्यायमें वर्णित है।

(३) Mr. T V. Thangavalu Mudaliar, Deputy Tahsildar, Puttur writes :—

One of the most marvellous instances of sex change recently came to my notice while out camping in an out of the way village of my division. One morning while

talking to the headman of the village, I observed a womanish looking man of about six or seven and twenty, tall and upright in stature and clad in half male and half female attire

On enquiry I learnt a very strange and almost incredible account of the man. It appears that in youth he had all the organs of a male and of an abnormal size too, but that during the past three years, a strange change has been happening in him. The male organs have been gradually giving place to female organs, the man has been developing breasts, menstruating monthly and displaying female sex instincts. I have reliable information that he even conceived but somehow got rid of his pregnancy. Almost every elderly man of the village whom I enquired repeated the same tale about this strange human being but yet I could not believe it. So I took the fellow aside with another villager and examined him and lo ! I found every word of what I heard quite true.

The man himself admits he had male organs but says he had a slit an inch long under his testis, that this slit has been gradually getting longer, followed by a simultaneous absorption of the male generative organs and that he never had any abscess there nor underwent any operation. He always associates with females and feels very shy to talk to men His gait is steady and like a man's He has no moustache His name is Jadalugadu, and he belongs to the Muthrasi caste It is impossible for a layman to understand this marvellous change of a man into a woman

A. B. Patrika 5-12-29.

A peculiar case of a Hindu woman, who was examined in the Patna Hospital and who developed male characteristics after the birth of her fourth child, was brought to the notice of Dr Hirschfeld.

The facts briefly stated were that soon after the birth of her fourth child the woman had oedema of hand and feet, and three or four months after she noticed that she was putting on fat rapidly, her voice deepened, hair grew on her forearms, arms, leggs and abdomen. Later she had beard and moustache She had no important illness in the past and she had before a feminine appearance and was tall and thin.

The genital system on examination disclosed that uterus was lightly atrophied and clitoris enlarged like a rudimentary male genital part There was also a small mass palpable in the right groin.

Interviewed by a special correspondent for his opinion on the subject, Dr. Hirschfeld said that it was a very interesting case because the sex changed after the fourth child.

The reason for such transition was that the sexual glands of the body had different influence on the same basis. The basis of both sexes was the same. Every body was at first bisexual and had bisexual possibilities. They had sexual chemistry in the body and the change that happened was not due to anatomy but to chemistry.

Liberty 19-10-1931.

दक्षिण देशके अन्तर्गत पुडुर नगरमें वहांके तहसीलदार टी. भी. मुडालियरजीने एक पच्चीस वर्षके पुरुषके स्त्री होजानेकी घटना निम्नलिखितरूपसे बताई है ।

"गांवमें दौरा करते समय उनको ऐसी व्यक्ति देखनेमें आगई। वह बहुत वर्षों तक पुरुष रहा था, किन्तु तीन वर्षसे स्त्री बनने लगा है। उसकी जननेन्द्रिय भीतर दब गई और अण्डकोषके नीचे पहिलेसे जो एक छोटासा छेद था वह बढ़ता बढ़ता स्त्रीलिङ्ग बन गया। उसका ऋतुधर्म होने लगा, स्तनोंमें दूध आगया और एकबार गर्भ भी होगया था। मूछ डाढी उसकी पहिलेसे ही नहीं थी, अब उसमें स्त्रीजातिकी तरह लज्जा, संकोच आदि सब कुछ आगया है। उसका नाम गदालुगडु है और वह मुथ्रासी जातिका है।" इत्यादि।

ऐसी ही और एक अद्भुत घटना अभी हालहीमें पटना अस्पतालमें देखनेमें आई है। "वहांके प्रधान डाक्टर हिर्सफेल्ड् साहबने ऐसा एक केस जांच किया है जिसमें चार सन्तान उत्पन्न करनेके बाद एक स्त्री पुरुष होगई है। चौथी सन्तान उत्पन्न होनेके बाद ही उसका स्वर पुरुषकी तरह गम्भीर होगया, हाथ, पांव आदिमें अधिक केश निकल आया और डाढ़ी मूछ भी निकल पडी। परीक्षा करने पर पता लगा कि, उसकी जरायु समाप्त होगई है और स्त्रीलिङ्ग के भीतर जो पुरुषचिह्नका सा पदार्थ है वह बढकर पुरुषलिङ्ग ही बन गया है। हिर्सफेल्ड् साहब इसका यह कारण बताते हैं कि, प्रत्येक शरीरमें स्त्रीपुरुष उभय-लिङ्गके ही गुप्त या प्रकट चिह्न तथा शक्ति है। इसप्रकारकी पेशियां भी दोनों शरीरोंमें रहती हैं। किसी कारणसे कोई शक्ति प्रच्छन्न और कोई प्रकट होकर स्त्री या पुरुष जीवको उत्पन्न कर देती है।"

सुकर्म या कुकर्मके फलसे आगामी जन्ममें स्त्रीका पुरुष या पुरुषका स्त्री होना सतीधर्मरहस्य नामक प्रबन्धमें पहिले ही बताया है। आर्यशास्त्रमें अलौकिक दैवप्रकोपसे एकही जन्ममें ऐसा परिवर्त्तन होना भी सिद्ध किया गया है। पुंसवन सस्कार गर्भाधानके चौथे महीनेमें इसी लिये किया जाता है। भागवतमें इला राजाका उसी जन्ममें स्त्री होजानेका वर्णन है। महाभारत में अर्जुनकी क्लीवत्वप्राप्तिका दृष्टान्त भी इसी अलौकिक रहस्यको प्रमाणित करता है।

ACTION OF DRUGS ON PULSE BEAT OF PLANT AND ANIMAL.

(४) Extraordinary interest was roused when the plant was shown to inscribe in luminous tracings its throbbing

pulsations similar to those of the animal heart. Under poison, the pulse-beat of the plant fluttered as of a creature desperately struggling for life. In some cases it was possible to save the plant by timely application of a suitable antidote. Accurate investigation on the characteristic effects of differ-rent drugs on animal heart has been rendered possible by the invention of the Resonant Cardiograph. Of special interest was the record obtained by the leading experts of the Faculty of Medicine in Vienna thrown on the screen. The heart-beat of a frog had just come to a stop, the animal being to all intents and purposes dead. The injection of a few drops of an Indian drug of high potency then revived the heart and the animal was brought back to life. Details of his experimental methods and results will be found in Sir J. C. Bose's recently published work on "Motor Mechan-ism of Plants". A large number of Indian plants is being discovered whose medical properties have never been suspect-ed and whose efficacy in reviving the failing heart appears to be exceptionally high, *A. B. Patrika 1-12-1929.*

जगद्विख्यात वैज्ञानिक परिडत सर जगदीशचन्द्र वसु महाशयने अपने कलकत्तेके विज्ञान महाविद्यालयमें यन्त्रके द्वारा प्रमाणित कर दिखाया है कि; भारतीय औषधिविशेषके प्रयोगसे मृत वृक्षपत्र, मृत मण्डूक, मृत वृक्ष आदिमें पुनः प्राणका सञ्चार हो जाता है। उस महाविद्यालयकी ओरसे आजकल विशेष प्रयत्न हो रहा है कि, इस प्रकारकी औषधियोंका संग्रह हो जो मृत सञ्जीवनी बूटीका काम कर सके। इत्यादि।

इस प्रकार ज्ञान विज्ञान-उन्नतिके विषयमें प्राचीन आर्यजाति किस प्रकार अलौकिक शक्तिसम्पन्न थी सो प्राचीन इतिहास पाठ करनेसे विदित होता है। मृत पुरुषका पुनर्जीवन लाभ प्राचीन भारतके इतिहासमें बहुधा देखनेमें आता है। दैत्यगुरु-शुक्राचार्यने मृतसञ्जीवनी विद्याके प्रभावसे रणाहत मृत दैत्योंको

पुनर्जीवित किया था। अतिवृद्ध कङ्कालसार च्यवनऋषिका नवयौवन लाभ इत्यादि सभी बातें प्राचीन अलौकिक ज्ञानविज्ञानोन्नतिकी अपूर्व्व परिचायक हैं जिसको निष्पक्ष विचारशील पुरुष अवश्य ही स्वीकार करेंगे। प्राचीन आर्यजातिमें अपने कर्म्मको दूसरेमें सञ्चालित करनेकी अद्भुत शक्ति थी। ययाति राजाने अपने वार्द्धक्यको अपने युवक पुत्रपर समर्पित कर उसके यौवनको ग्रहण किया था। भगवान् शङ्करकी आयु षोडश वर्षकी थी, परन्तु महर्षि वेदव्यासने अपनी आयुसे १६ वर्ष देकर उनकी आयु ३२ वर्षकी कर दी थी। इसीतरह परीक्षितकी कितनेही वर्षोंकी आयु एक ऋषिपुत्रने घटाकर सात दिनकी सीमापर डाल दी थी। अभी—कुछ शत वर्षसे पहिले बाबरने हुमायूको अपनी आयु देकर नीरोग कर दिया था, इसका प्रमाण इतिहासमें है। ऐसे ऐसे कितने ही दृष्टान्त प्राचीन आर्यजातिके इतिहासमें मिलते हैं।

चिकित्सा शास्त्रमें प्राचीन आर्यजातिने बहुत उन्नति की थी। चिकित्सा विद्यामें जो जो विषय रहनेसे उसकी पूर्ण उन्नति समझी जा सकती है, वे सभी आयुर्वेदमें थे। शस्त्रविद्या, रसायनविद्या, धातुप्रयोगविद्या और काष्ठादि भेषज-प्रयोगविद्या सभी आयुर्वेदमें पाई जाती है। आयुर्वेद आठ तन्त्रोंमें विभक्त है। यथा—शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगद, रसायन और वाजीकरण। इन आठ प्रकारके चिकित्सातन्त्रोंमें शरीरविज्ञान, देहविज्ञान, शस्त्र-विज्ञान, धात्रीविज्ञान, चिकित्साविज्ञान, भेषजविज्ञान और रोगनिदान सभी विषय वर्णित किये गये हैं। केवल मनुष्यकी चिकित्सा ही नहीं पशु आदिकी चिकित्सा-प्रणाली भी आयुर्वेदमें वर्णित है। चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट आदि आयुर्वेदीय ग्रंथोंके अनुशीलन करनेसे सर्वव्याधिविनाशनोपाय निर्द्धारित हो सकता है। कक्षी-वानकी कन्या घोषा कुष्ठरोगसे आक्रान्त हो गई थी। अश्विनीकुमारोंने जब उसको रोगमुक्त किया तब उसका विवाह हुआ था। कण्वऋषि अन्धे हो गये थे, निषध पुत्र बधिर हो गये थे, बध्रिमतीके पति नपुंसक हो गये थे, परन्तु प्राचीन आर्यजाति-के आयुर्वेदशास्त्रकी ही महिमा है, जिससे ऐसे ऐसे कठिन रोग भी आराम हो जाया करते थे। आर्यचिकित्साविद्यामें विशेषता यह है कि, उसने स्वतन्त्ररूपसे काष्ठादिक और धातुज औषधियोंकी उन्नति की है। कोई आचार्य केवल काष्ठादि औषधियोंकी ही व्यवस्था कर गये हैं और कोई केवल धातुज औषधियोंको ही प्रसिद्ध कर गये हैं। आयुर्वेदोक्त चिकित्साशास्त्र कितनी उन्नतिपर पहुंचा था सो

इसके नाड़ीज्ञानशास्त्रके पाठ करनेसे ज्ञात हो सकता है जिसकी सहायतासे नाड़ीपरीक्षा द्वारा सकल प्रकारके रोगोंका भलीभाँति निदान हो सकता है और जिसमें विलक्षणता यह है कि, एकमात्र नाड़ीज्ञानसे ही तीन मास, छः मास अथवा उससे अधिक काल पूर्वमें भी भविष्यत् रोगका ज्ञान हो सकता है। यह नाड़ीज्ञानशास्त्र इतना गंभीर और सूक्ष्म है कि, आजतक पश्चिमी विद्वान्गण उसको समझ नही सके हैं। इसके सिवाय शस्त्रचिकित्सामें भी प्राचीन आर्यगणने बहुत उन्नति की थी। डाक्टर रेली साहबने बड़ी प्रशंसाके साथ मुक्तकण्ठ होकर कहा है:—"प्राचीन भारतवासियोंके ग्रन्थ देखनेसे प्रकट होता है कि, वे शस्त्रचिकित्सामें विशेष निपुण थे। प्रायः १२७ प्रकारके शस्त्रोंका वे शरीरपर प्रयोग किया करते थे और शस्त्रव्यवहारके साथ नाना प्रकारकी औषधियोंका भी प्रयोग किया करते थे।" वेवर साहबने कहा है कि, शस्त्रचिकित्सा (Surgery) में प्राचीन आर्यगण पूर्णता प्राप्त कर चुके थे और इस विद्यामें पश्चिमी लोग अभी उनसे बहुत कुछ सीख सकते है। जैसा कि, विकृत कान या नाकको सुधारकर नया बना देनेकी चिकित्सा पश्चिमी चिकित्सकोंने प्राचीन हिन्दुओंसे ही प्राप्त की है। डाक्टर हन्टर साहबने भी ऐसी ही आर्य शस्त्रचिकित्साकी बड़ी प्रशसा की है। मिस् म्यानिङ्गने कहा है कि, प्राचीन हिन्दुओंके शस्त्रचिकित्सायन्त्र ऐसे उत्तम और सूक्ष्म हुआ करते थे कि, उनसे केश तक सीधे लम्बे फाड़े जा सकते थे। इस प्रकारसे पश्चिमी विद्वान् और एतद्देशीय सभी पुरुषोंने प्राचीन आर्यजातिके चिकित्साशास्त्रकी महिमा प्रकट की है।

(५) One of the most far reaching scientific discoveries of the age that stands to the credit of one of our own countrymen is that plants like animals possess life and are sensible to external stimuli to which they respond in their own way. It was given to Dr. J C. Bose of Calcutta to envisage this truth and demonstrate it to a sceptical world by unerring experiments in a manner that effectively silenced opposition and won universal acceptance.

Sanatanist 27-12-30.

अन्यान्य जीवोंकी तरह वृक्षोंमें भी प्राण होता है और सुखदुःखादिका

बोध भी इनमें होता है, इस विषयको डा जे. सी बोस महाशयने वैज्ञानिक यन्त्रोंके द्वारा प्रमाणित करके समस्त ससारको चकित कर दिया है। किन्तु यह विषय आर्यशास्त्रके लिये नवीन नही है। 'शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः' अर्थात् तीव्र कायिक पापसे मनुष्यका वृक्षयोनिमें जन्म होता है, ऐसा कहकर श्रीभगवान् मनुने स्पष्ट कर दिया है कि, वृक्षयोनिमें भी आत्मा तथा प्राण है। भागवतमें 'यमलार्जुन' की कथासे भी यही बात प्रमाणित होती है। मनुसहितामें और भी लिखा है—

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥

जडता अधिक होनेके कारण ऊपरसे पता न लगने पर भी भीतर भीतर वृक्षोंमें सुखदुःखका बोध विद्यमान रहता है। महाभारतके शान्तिपर्वमें युधिष्ठिरके प्रश्न पर भीष्मपितामहका कथन है, यथा—

वल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्वतश्चापि गच्छति।
न ह्यदृष्टेश्च मार्गोऽस्ति तस्मात्पश्यन्ति पादपाः॥
पुण्यापुण्यैस्तथा गन्धैर्धूपैश्च विविधैरपि।
अरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः॥
वाय्वग्न्यशनिनिर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्यते।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः॥
उष्मणा म्लायते वर्णं त्वक् फलं पुष्पमेव च।
म्लायते शीर्यते चापि स्पर्शस्तेनात्र विद्यते॥ इत्यादि।

लता वृक्षको घेर कर ऊपर चढ़ती है, दृष्टि विना ऐसा हो नहीं सकता है, इसलिये वृक्षोंमें देखनेकी शक्ति है। उत्तम गन्धसे वृक्ष फलते, फूलते, फैलते है, अतः उनमें घ्राणशक्ति भी सिद्ध होती है। वज्र आदिके शब्दसे वृक्ष शीर्ण होजाते है, अतः उनमें श्रवणशक्ति अवश्य होगी। गर्मी लगनेसे वृक्षके फल, फूल आदि सूखने लगते है जिससे उनमें स्पर्शशक्तिका होना सिद्ध होता है। इस प्रकारसे वैज्ञानिक चमत्कार आर्यशास्त्रमें बताया गया है।

WIRE THAT TALKS

(१) What is practically a "speaking book" was demon-

strated recently. It consists of an apparatus designed to bring literature to the ear instead of to the eye, and the system of recording sound differs from others, use being made either of a thin steel wire or (for synchronization purposes) a steel tape

Speech and music can now be bottled and preserved if necessary for years, simply by using a coil of wire that can be folded and placed in a waist-coat pocket

The instrument is simple The wire, or metal strip, is contained on spools The recorder speaks into a microphone, and as the wire passes through the magnets, the sound is impressed on it by electro-magnetic means. Sounds impressed on the wire will not wear off, any number of "copies" can be made and there is no limit to the possible length of the record.

Entire plays, operas, speeches and so on can now be reproduced, while Mr. Henry Ainley proposes to make a sound record of the Bible, from Genesis to Revelation, which will be indexed in such a way that any part can be turned up as required *A. B. Patrika 1-12-1929*

मि हेन्री एन्ले साहबने एक वैज्ञानिक तारयन्त्रका आविष्कार किया है जिसके द्वारा बोतलमें या पाकेटमें या बक्समें शब्दराशि, सङ्गीत, व्याख्यान आदि सब कुछ कई वर्षों तक सुरक्षित रक्खे जा सकते हैं और जब आवश्यकता हो उन शब्दों या व्याख्यानोंको सुनाये जा सकते है। अब समग्र बाईबलको इस प्रकारसे रखनेका विचार उन्होंने किया है। इस यन्त्रमे बिजलीकी सहायतासे एक तार पर शब्दोंके सस्कार डाल दिये जाते है और उस तारको जहां चाहे रख दिया जाय उस परका संस्कार नष्ट नही होता है और समय पर पुनः प्रकट किया जा सकता है।

'नैव वेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि' 'प्रलयकालेऽपि परमात्मनि सूक्ष्मरूपेण

वेदास्तिष्ठन्ति' वेद नित्य है, इस लिये महाप्रलयमें भी वेद नष्ट नहीं होता है, किन्तु सूक्ष्मरूपमें परमात्मामें रहता है, इस आर्यशास्त्रीय सिद्धान्तका आभास ऊपर कथित यन्त्रके द्वारा अवश्य ही प्राप्त होता है। मीमांसाशास्त्रमें भी शब्दको नित्य कहा गया है।

TRAINS THAT OBEY ORDERS

(७) Model electric trains made to work by spoken commands were shown in London recently The word "Stop" brings the engine to a halt; "Back up" causes it to reverse, and so on.

This result is brought about by the vibration of the voice through a microphone *A. B Patrika 1-12-1929.*

Magnetism is that power which manifests itself in nature in diverse ways like the electric current in a live wire. In the horse-shoe magnet, there is magnetism, and in man there is personal magnetism. It is also found in the load-stones in the north and attracts the needle of the compass This law of attraction, although unseen, like the atmosphere of spirit world exists between one planet and another. It binds the universe together. It causes gravitation, while, in another form as electricity passing through the earth to the sun and planets, it is the motor power of the universe whereby worlds revolve in space This is governed by a higher power, namely thought power Thought is governed by a still higher force that we cannot account for, because of our not being able to grasp the things above the power of thought, which alone most of us possess. As soon as we advance and develop ourselvs to a condition where we use that higher power, we will use the power of thought in place of electricity in making the engines run and work.

Prof. R. E. DUTTON—Kalpaka 2-1924.

कुछ दिन हुए लण्डनमें ऐसी आदर्श बिजलीकी ट्रेन बन गई है जो शब्दके वेगसे चलती रहती है। 'ठहरो' इस शब्दके उच्चारणसे जो स्पन्दन उत्पन्न होता है उसके वेगसे ट्रेन ठहर जाती है, ऐसा ही चलो या फिर जाओ इत्यादि शब्दोंके कहनेसे तदनुरूप कार्य ट्रेन करने लगती है। रामायणमें आदेशके अनुसार पुष्पक विमानके चलनेका या ठहरनेका जो प्रमाण मिलता है अब वैज्ञानिक यन्त्रोंके द्वारा वही बात पूर्णरूपसे सिद्ध कर दी गई है। प्रोफेसर डटन साहबने इस मनोविद्युत् शक्तिका प्रभाव बहुत कुछ वर्णित किया है और अन्तमें यही सिद्धान्त निर्णय किया है कि, कालको पाकर मनकी यह महती शक्ति इञ्जनोंको भी चलाया करेगी।

(८) थियोसफी (Theosophy) मतकी आविष्कर्त्री मैडम् ब्लाभाट्स्कीने अपने प्रणीत *Isis Unveiled* नामक ग्रन्थमें योगशक्तिसे आकाशमें उत्थानका सायन्स बताया है। उन्होंने लिखा है कि, प्रत्येक मनुष्यकी नेगेटिभ शक्तिको पृथिवी अपनी पजिटिभ शक्तिके द्वारा आकर्षण करती है। और यही कारण है कि, पृथिवीके इतने घूमते रहने पर भी समस्त जीव पृथिवीपृष्ठ पर ही बने रहते हैं, इधर उधर नहीं हो जाते हैं। जब योगी अधिकमात्रामें प्राणायाम करते है तो उनमें नेगेटिभके स्थान पर पजिटिभ शक्ति बहुत बढ़ जाया करती हैं। पजिटिभके साथ पजिटिभका विकर्षण सम्बन्ध है, आकर्षण सम्बन्ध नहीं है। अतः योगीको पृथिवी आकर्षण नहीं कर सकती है, किन्तु विकर्षण सम्बन्ध द्वारा अलग कर देती है और इसीसे योगी योगबल द्वारा आकाशमार्गमें जा सकते हैं।

(९) All-nations of antiquity have regarded 7 as the Sacred Number. Volumes have been written upon the mystery and magic of its potency Its sacred significance is revealed by constant use in religious rite the 7 vases in the temples of upper Egypt; the 7 fires burning continuously before the altars of Mithra The 7 planets used as a model of State division

The 7 planets in their courses gave the idea of the eternal harmony of the spheres. 'As above, so below.' As

the harmony of the Universe sounds on the keyboard of space between the 7 planets, so the harmony of audible tones takes place in smaller plan within musical scale of the ever-recurring seven tones. Thus we have also the 7 pipes in the syrinx of the God Pan (Nature) their gradually diminishing proportions corresponding to the distance between the planets and the earth The lyre of Appollo was also 7 stringed.

7 is composed of three and four—the triangle and the cube and stands for the sevenfold nature of man. It is in sequence of sevens that man's evolution is accomplished, cyclic periodicity applying alike to man and to the evolvement of globes

The Sacred Seven—Artie Mae Blackburn 2-25

प्राचीन सभी जातिने सातको पवित्र संख्या मानी है। इस संख्याकी शक्तिके विषयमें अनेक ग्रन्थोंमें विशेष वर्णन किये गये हैं। इसी कारण धर्मकृत्योंमें ७ का प्रचुर प्रयोग देखा जाता है। मिश्रदेशके मन्दिरोंमें सात स्तर होते हैं, वहांके मित्र यज्ञस्थानमें सात अग्नि सदा प्रज्वलित रहती है। वहां पर सात ग्रहोंके सम्बन्धसे राज्यविभाग भी किया जाता है। अनन्तगगनव्यापी विश्वमण्डलमें सात ग्रहोंके नियमित आवर्त्तन द्वारा विश्वसामञ्जस्यका पता लगता है और उसी सामञ्जस्यकी प्रतिध्वनिरूपसे सप्तस्वर सङ्गीतशास्त्रमें बताये गये हैं। सङ्गीत देवता एपोलोकी वीणामें सात ही तार होते हैं। तीन और चारसे सात होते हैं, जिससे सप्तधा मनुष्य प्रकृति प्रमाणित हो जाती है। इसी कारण मनुष्योन्नतिके स्तर भी सात ही हैं और ब्रह्माण्डमें क्रमविकाशके भी सात ही स्तर हैं। (आर्टि मे ब्लेकवर्न)।

सात सातके आर्यशास्त्रसम्मत विभाग पहिले ही बहुत कुछ बताये गये हैं। उपनिषद्‌में यज्ञकी सप्त अर्चि प्रसिद्ध ही है। सप्त ऊर्द्ध्व सप्त अधोलोक, सप्तज्ञान सप्तअज्ञान भूमि, सप्तवर्ण, सप्तस्वर, सप्तगौण सप्तमुख्यरस, सप्तसमुद्र, सप्तधातु, इत्यादि सभीके रहस्य इसी नियमके अधीन हैं।

(१०) In addition to the size and quality of brain being important factors in determining mental equipment, the shape of the head is equally important. In the frontal lobes of the brain are situated the intellectual organs, which when large give prominence to the brow, and height, breadth and fulness to the forehead. In the posterior and parietal lobes at the back and crown of the head are the organs of the domestic and social affections and aspiring sentiments, giving home-loving, affectional and self-regarding qualities and ambition. The executive organs, which when large give width to the head at the base of the brain, are located in the temporal lobes; while the organs of the moral and religious sentiments have their seats in the top head, and when large give expansiveness and height to the head.

Long, narrow heads are generally indicative of intellectual types of mind, particularly if the chief developments of the brain are in the frontal lobes, and are indicated by prominence of the brow and fulness and height to the forehead. Prominence in the back of the head gives a home-loving, affectional disposition, wide heads indicate executive power, aggression, and force of character; high heads when well developed towards the front, indicate religious qualities, and imagination and creative capacity. Thus the kind and amount of mental equipment a person possesses may readily be discerned by the formation of the head.

J. Millott Severn—Kalpaka 8-24

विज्ञान जगत्में इस शास्त्रको 'फ्रेनलजी' कहा गया है। इसमें सिरके आकारके द्वारा मनुष्य प्रकृतिकी पहिचान की जाती है। सिरके सामनेके अंशके साथ बुद्धि वृत्तिका, बीचके तथा ऊपरके अंशके साथ आध्यात्मिक वृत्ति

तथा धार्मिक वृत्तिका और पीछेके अंशके साथ वैषयिक मलीन मनोवृत्तिका सम्बन्ध है। इस कारण तीक्ष्ण बुद्धिवाले भाग्यवान् मनुष्यका ललाट और सिरके सामनेका अंश प्रायः प्रशस्त अर्थात् चौड़ा होता है। आध्यात्मिक उन्नतिशील धार्मिक मनुष्यके सिरके ऊपरका अंश और बीचका अंश चौड़ा होता है और विषयी मनुष्यके सिरके पीछेका अंश ऊंचा और बड़ा होता है। सिरकी आकृति परीक्षाके द्वारा इस प्रकारसे मनुष्यकी भीतरी प्रकृतिका ज्ञान लाभ किया जा सकता है। हमारे यहां सामुद्रिक शास्त्रमें यह सब तथा इससे अधिक विषय बताये गये हैं। हस्तरेखा विज्ञान, मुखाकृतिविज्ञान आदि शास्त्रमें हाथकी रेखायें, मुखके अवयव आदिकी परीक्षाद्वारा बहुत कुछ आयु, भाग्य, चरित्र आदिका पता लगाया गया है।

(११) आजकल विज्ञानजगत्में ग्रेफोलजी (Graphology) एक नवीन चमत्कार है। इसके अनुसार हाथके लेख देख कर मनुष्यप्रकृतिकी परीक्षा की जाती है। मि. रवी, एफ्. रेमण्ट साहबने इसके विषयमें बहुत कुछ अनुसन्धान किया है, यथा—

LIVELINESS Energy, disconnected letters, angular writing, heavy down-pressure on *lower half* of downstrokes in small letters. The heavy pressure on rounded *lower middle* of small letters, such as cup-shaped bottom of a, n, u, or d—will show slowness

LITERARY GIFT High d-stroke ending in a small o-shaped loop at top and turning out toward right Look for imagination, inspiration, idealism, observation, criticism (ability to read character), intuition, versatility (letters of various sizes), creativeness, concentration—or emotionality. Both produce writers. Small, sharp writing would bring out scientific theses probably.

MATERIALISM· Heavy writing, blunt lower strokes on y, g, f.

MOODINESS: Change of writing slope, downslanting

lines with change to up-slant t-bars, strong imagination, jealousy, pride, sensitiveness.

NERVOUSNESS: Trembling writing, hasty, angular writing, excessive slope.

NEATNESS· Plain, regular writing, well-spaced, clean script, careful t-crossing and i-dots. Absence of blurs, blots, erasures.

Again we memorize traits thru comparison in determining the spiritual or material status of any one. The gross individual so often has heavy jowls, thick lips, is "thick headed" or has heavy-lidded eyes. So in his handwriting he presses down heavily. Thick, heavy writing betrays the man who lives in the objective world. He fulfils his desire nature. He goes hard after everything he wants, hence writes with hard pressure.

The spiritually minded thinker is his direct opposite. He writes a light, fine hand, with the corroborating feature of high i-dots and high d, and t, main strokes, soaring upwards, even as his thoughts soar high.

Emotionality is most easily recognized by letters bobbing up and down from the invisible base line, like waves of the sea, like a rhythmic motion undulating. It also causes the optimistic rise of lines to the right, or the pessimistic down-trailing lines at right of sheet. Usually the great loops of imagination are found on long letters.

Mild persons, who write fine, light writing, light t-bars and wide spaces showing unselfishness, are not readily moved to any jealousy. They are willing to share all.

If upper loop on h, l, f, b, etc has a notch at top, as if some one had bitten a piece out of the loop, you may look for incipient lung trouble The writer cannot breathe to full lung capacity, hence cannot form a full loop. Accentuation and repetition of the sign will indicate advanced tubercular trouble. Frequently 'lungers' have great will-power and hopefulness, hence the trait is not even noticed by the family until too late In handwriting the danger of lung diseases is detected long before the patient realizes the trouble.

Ruby F. Remont—Graphology. Kalpaka 1924-1925

लेखके अक्षरोंमें परस्पर मेल न हो, कोण वाला अक्षर हो, अक्षरोंके नीचेकी ओर अधिक जोर पड़ता हो, तो जानना चाहिये कि लेखक उद्यमशील तथा प्रबल प्राणशक्ति युक्त है। अक्षरोंके ऊपरकी ओर ऊंचा तथा गोलसा होना साहित्यिक मनुष्यका और छोटा तीक्ष्ण अक्षर होना वैज्ञानिक मनुष्यका लक्षण है। भारी मोटा अक्षर और नीचेकी ओर भद्देपनसे युक्त अक्षर भौतिक भावका सूचक है। अक्षर लिखनेका ढङ्ग बदलता रहे, नीचेकी ओर झुकाव अधिक हो तो अधिक कल्पना शक्ति, अहंकार, ईर्ष्यादिकी प्रकृति जाननी चाहिये। कम्पायमान अक्षर, शीघ्रतायुक्त—कोणयुक्त—अधिक झुकावसे युक्त अक्षर—मनोवेगशील मनुष्य प्रकृतिका परिचायक है। सरल, नियमित, साफ स्वच्छ, उत्तम बनावट से युक्त अक्षर, जहां पर स्याही गिरने से, धब्बेसे, या भद्देपनसे अक्षर बिगड़ न गया हो, वहां उत्तम साफ प्रकृति, सावधान मनुष्यका लक्षण समझना चाहिये। जिसप्रकार मोटा भद्दा होंठ, सिर तथा आंखोंका पर्दावाला मनुष्य मोटी बुद्धिका और स्थूल वैषयिक बुद्धिका होता है, उसी प्रकार ऐसे मनुष्यका लेखभी मोटा भद्दा और नीचेकी ओर भद्देपनका झुकाववाला होता है। सूक्ष्म बुद्धि तथा आध्यात्मिक बुद्धिवाले मनुष्य ठीक इससे विपरीत होते हैं। वे हलके सुन्दर अक्षर लिखते हैं और अक्षरोंके ऊपरके विन्दु, मात्रा आदि भी इनके दिये हुए स्पष्ट तथा ऊपरकी ओर झुकाववाले होते हैं। समुद्रतरङ्गकी नाईं कभी ऊपर कभी नीचेकी ओर हिलते डोलते अक्षर मानसिक अधिक वेगकी सूचना करते हैं।

नम्र विनयी प्रकृतियुक्त मनुष्य ऐसे अक्षर नहीं लिखते हैं। वे सुन्दर, सूक्ष्म अक्षर लिखते है। स्वास्थ्यविकारके साथ भी लेखविकारका सम्बन्ध देखा जाता है, फेफड़ेकी बीमारीवाले मनुष्य प्रायः ऊपरकी ओर खण्डित अक्षर लिखते है। ऐसा टूटा हुआ अक्षर जितना अधिक होगा, रोगकी उतनी ही वृद्धि जाननी होगी। क्षयरोग वाले प्रायः जीवनके विषयमें अतिविश्वासी होते हैं। ऐसे मौके पर लेख विज्ञानके द्वारा ही यथार्थ रोग और रोगीका लक्षण ठीक ठीक जाना जा सकता है।

(१२) It is evident that seeing, hearing, feeling, tasting and smelling, belong exclusively to the mind. Electricity is the only substance that can come in contact with mind and it is through the agency of this fluid that sensations are transmitted to the mind. Hence it is through the medium of electricity that we see, hear, feel, taste and smell. The power of sight being in the mind, it is evident we never saw any thing out of our eyes By the agency of electricity, it is conveyed through the optic nerve to the mind where it is seen. Now if our nervous system could be charged with the nervo-vital fluid, so as to render the brain positive and thus bring it into exact equilibrium or balance with external electricity, then we should be clairvoyant. Because the nervous system being duly charged, the great quantity of this fluid passing in right lines from the mind as a common centre and in every direction through the pores of the skull, renders it transparent. Uniting with external electricity which passes through these walls and all substances which are also transparent, the image of the whole universe, as it were, in this transparent form, is thrown upon the mind and is there seen and seen, too, independent of the retina. On this principle the whole of

those objects which are opaque to natural vision, are rendered transparent to the clairvoyant

Philosophy of Mesmerism
by John Bovee Dods 50-52.

जन वर्भी डड्स् साहब अपने प्रणीत मेस्मेरिजम् विज्ञान नामक पुस्तकमें लिखते हैं कि देखना, सुनना, अनुभव करना, स्वाद लेना गन्ध लेना आदि व्यापार तत्तत् इन्द्रियोंके द्वारा नहीं होता है, किन्तु समस्त अनुभवका मूल 'मन' ही है। किसी विषयके साथ इन्द्रियका संस्पर्श होते ही तारकी तरह सूक्ष्म नसोंके द्वारा उसके व्यापारको मनोगामी विद्युत्शक्ति मन तक पहुंचा देती है और वहां पर विषयका यथार्थ अनुभव होता है। अतः इन सब कार्यवाहियोंके मूलमें सूक्ष्म मनोगामी विद्युत्शक्ति ही प्रधान कारण तथा करण है, यह सिद्ध हुआ। अब यदि योगबलसे या अन्य किसी प्रक्रियासे स्नायुयन्त्रोंमें यही विद्युत् शक्ति इतनी भर दी जाय कि, विश्वव्यापिनी विद्युत् सागरके साथ देहस्थ विद्युत्शक्तिका सामञ्जस्य हो जाय तो यह निश्चय है कि, अपने अन्तःकरणके ऊपर समस्त विश्वस्थित व्यापारोंका प्रतिबिम्ब पड़ेगा। क्योंकि इस दशामें व्यक्तिगत और विश्वगत विद्युत्शक्तिका आदान प्रदान यथेष्ट रूपसे होने लग जायगा और चक्षुरिन्द्रियकी सहायताके बिना ही विश्वका समस्त विषय अतीन्द्रियदर्शी योगीके अन्तःकरण पर प्रतिफलित हो जायगा। इसी उपायसे अतीन्द्रियदर्शी (clairvoyant) योगी प्राकृतिक नेत्रोंके अगम्य विषयोंको भी देख लिया करते हैं। पुराणोंमें जो भविष्यत्की बातें महर्षिगण वर्णित कर गये हैं, योगशास्त्रमें जो भुवनज्ञान आदिका वर्णन प्राप्त होता है, अर्जुनको जो विराट देखनेकी दृष्टि भगवत्कृपासे प्राप्त हुई थी, साधारणतः मेसमेरिजम् द्वारा मुग्ध करके जो दूर दूरकी बातें बताई जाती हैं—ये सभी योगप्रभावसे या भगवत्कृपासे प्राप्त सूक्ष्म विद्युत्शक्तिके सूक्ष्म परिणामके ही अलौकिक, आश्चर्यजनक फल हैं।

(१२) When Nature strikes her true note and throws out her cheering green in the spring, it penetrates into the hearts of men and awakens in them a desire to grow, to do, to create, to accomplish. No one thinks of calling a tree spiritual, yet who can look up into the waving branches

of a noble tree and not have his Soul lifted up from Nature to Super-Nature. Green is the color of the human intellect lower manas the highest point attainable by physical nature and man.

'Green is the keynote of the physical plane, hence is always restful and pleasing to man. It is the color of worldly power and the success due to intellectual attainments, its lower aspects manifesting as envy, greed etc. It is a necessary link between Nature and Super-Nature'.

The green current corresponds to *individualization.* This is the reason Green in its lower aspects is associated with deceit and jealousy—The 'green eyed monster' and selfishness. It is only the sullied and debased green vibrations which denote treachery and the unpleasant emotions. Manifesting in the green current is all desire for personal aggrandizement.

Artie Mae Blackburn—Color Currents—Kalpaka 12-24

रङ्गके विज्ञान पर विचार कर आर्टि मी ब्लैकवर्न साहबने कहा है कि, 'हरा रङ्ग' जीवको सांसारिक भावमें मुग्ध करता है। यही कारण है, कि, प्रकृति वसन्तमें हरी भरी हो जाती है और वृक्षलता आदिका रङ्ग भी हरा ही है। प्रकृतिमाता हरे रङ्गके द्वारा ही जीवको अपने साथ मिलाये रखती है। हरे रङ्गके साथ व्यक्तिगत स्वार्थका सम्बन्ध अधिक है और परार्थभाव तथा व्यापक भावका सम्बन्ध बहुत कम है। इसी कारण इसकी निम्न दशामें रङ्गके प्रभावसे मनुष्योंकी वृत्ति भी बिगड़ने लगती है और प्रतारणा, ईर्ष्या, व्यक्तिगत स्वार्थ-परता आदिका विकाश मनुष्योंमें होने लगता है।

आर्यशास्त्रमें प्रकृतिको 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' कहकर रङ्गके साथ प्रकृतिका विशेष सम्बन्ध बताया गया है। सूर्यके सात रंगके साथ तो समस्त संसारकी तथा त्रिविध शक्तिकी उत्पत्तिका ही सम्बन्ध आर्यशास्त्रमें बताया गया है। अतः यह रङ्गविज्ञान सर्वथा आर्यशास्त्रानुकूल है।

(१४) HEALING BY LIGHT AND COLOR.

E. D. BABBITT, M.D.,–Kalpaka 3-25.

Light is a material substance as well as the result of certain vibratory laws of motion in the atoms thru which it passes and each of the colors which combines to form the full ray of light, has a special grade of substance with its own style of power, which is capable of being transmitted as a refined medicine or chemical agent to the human system direct, or into water or other substances which may be taken into the stomach, applied externally or to the skin, etc.

The red, yellow and blue constitute the most distinctive and important colors. While chemical affinity brings electrical and thermal substances together, chemical repulsion causes similarly colored elements to repel and stimulate each other; thus red light stimulates a red principle, like arterial blood; yellow light with some orange and red, stimulates the nerves, the interior elements of which are strong in their colors, blue cools the arterial, and intensifies the bluish venous blood, etc. We see then that chemical affinity helps balance extreme or onesided condition by bringing a contrasting color or substance; while chemical repulsion helps kindle into greater action any part which is deficient in intensity. Thus, for the head, where the blood and nerves are predominant, we generally need blue or violet light as a balancing principle; for the extremeties, red is generally best; for the thorax and stomach, purple is best; for dormant liver and dormant bowels, yellow and orange; for deficient menstruation, red over the womb; for

too free menstruation, blue; for a pale cold system the red is the best, if nervousness is not too great; for arterial, inflammable conditions, blue or indigo is required.

ई. डी बैबिट साहबने प्रमाणित कर दिया है कि, जिन जिन रङ्गोंके मिश्रणसे ज्योतिकी रेखा प्रकाशित होती है उन सबमें पृथक् पृथक् शक्ति विद्यमान है । अतः यदि ज्योतिको या रङ्गोंको जल या अन्य किसी वस्तुके द्वारा शरीरमें प्रवेश कराया जाय तो उनकी शक्तिसे शरीरके अनेक रोग आराम किये जा सकते हैं । लाल, पीत और नील रङ्ग ही इन क्रियाओंमें प्रधान माने जाते है। लालका प्रभाव रक्त पर होता है, पीतका प्रभाव नसों पर होता है और नील रङ्ग नसोंमें प्रवाहित होनेवाले खूनमें ठण्डक तथा शक्ति पहुँचाया करता है। इस प्रकारसे शारीरिक समता रक्षाके द्वारा स्वास्थ्य सम्पादन कार्यमें रङ्ग और ज्योतिके उपयोग देखे गये हैं । दृष्टान्त रूपसे समझ सकते हैं कि, सिरके लिये,—जहां पर कि खून और नसोंका प्रभाव रहता है—प्रायः नील रङ्गका उपयोग होता है, छाती और पेटके लिये 'अरगवानी' रङ्गका उपयोग होता है, लीभर तथा कोठेके और यन्त्रोंके लिये पीत तथा नारङ्गी रङ्गका उपयोग होता है, ऋतुधर्म सम्बन्धीय स्त्रीरोगोंके लिये लाल और नील रङ्गका उपयोग होता है, रक्त तथा गर्मीसे हीन शरीरके लिये लाल रङ्गका उपयोग होता है इत्यादि । ये सभी विज्ञान आर्यशास्त्रमें बहुधा वर्णित किये गये हैं ।

(१५) There is another outlook for the modern science of healing, as recently pointed out by Sir Henry Gauvain at a meeting of the people's League of Health in London. 'Luminous rays from the sun have the power of passing through the skin and being absorbed by the blood. When a person's arm had been exposed to the sun, the returning blood had a temperature of 115 degrees—higher than was compatible with life, yet the person derived benefit, indicating that the injurious toxins were thus destroyed.' It is only a matter of time, Sir Henry suggests, that light

waves of different length would be found to have distinct and selective beneficial properties in the treatment of disease Dr Saleeby suggests that the early morning sun is the best, the light and not the heat being so valuable

Kalpaka 1—24

लन्दनके स्वास्थ्य सम्मेलनमें सर हेनूरी गौभेन साहबने वर्णन किया था कि, सूर्य राशिमें यह शक्ति है कि, शरीरके भीतर प्रवेश कर जाय और रक्तके साथ मिल जाय। यदि इस प्रकारसे हाथमें सूर्यकिरण लगाई जाय तो उत्ताप अत्यन्त अधिक बढ़ जाता है, किन्तु उससे रोगीको हानि न होकर स्वास्थ्यलाभ ही होता है और उसके शरीरके अन्तर्गत विष नष्ट होजाता है। सर हेनूरी कहते हैं कि भिन्न भिन्न आलोक प्रवाहमें भिन्न भिन्न प्रकारकी रोगनाशक शक्ति है। डाक्टर सलीबीकी रायमें प्रातःकालको सूर्यकिरणमें यह शक्ति सबसे अधिक है, किन्तु उत्तापमें उतनी शक्ति नहीं है।

(१६) To fast for a day now and then is a splendid plan. It is good for self-control, it is good to rest the digestion, and to give the body a chance to eliminate waste matter I should advise that during the fast, whether it be for one day or two or three days, the bowels should be kept open. As a rule, plenty of water should be sipped, and a little exercise can be taken

During the fast, besides the water-drinking and attention to the opening of the bowels, people should cultivate cheerfulness, or should be sure that their body is in the right position, thanks to certain physical exercises which are quite easy to do without fatigue.

It is amazing what cures have been effected by fasting, which has a tremendous advantage over most other cures. namely, that it is decidedly economical not only of money and food and time, but also of energy.

But those who regulate their diet scientifically have no need to fast. The aim must, of course, be to have balanced meals; but there are very few people who understand what true balance is in diet.

Eustace Miles—Kalpaka 8-22

यूस्टेस् माईल्स साहब कहते हैं कि, बीच बीचमें उपवास करना बहुत ही अच्छा है। इससे जितेन्द्रियता, संयम बढ़ता है, पाचनक्रियाके यन्त्रोंको विश्राम मिलता है और शरीरके भीतर अपच आदिके कारण जो मलिन, विपाक्त वस्तु एकत्रित होती हैं, वह सब निकल जाती हैं, जिससे शरीर साफ हो जाता है। उपवासके समय थोड़ा थोड़ा जल पीते रहना चाहिये और पेटको खाली छोड़ देना चाहिये। स्वल्प शारीरिक व्यायाम भी इस दशामें हितकर होता है। उपवासचिकित्सा और सब चिकित्साओंसे उत्तम है। इसमें खर्चकी बचत भी होती है और सबसे सीधा तथा प्राकृतिक उपाय यही है। जो लोग वैज्ञानिक रीतिसे आहारका संयम रखते हैं उनके लिये उपवासकी इतनी आवश्यकता नहीं रहती है। अफसोस है, इस विषयमे मनुष्योंका ध्यान बहुत ही कम रहता है।

'विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः' ऐसा कहकर श्रीभगवान्‌ने उपवासके द्वारा विषयनाशका उपदेश किया है। मिताहारकी महिमा भी 'युक्ताहारविहारस्य' 'नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति' इत्यादि उपदेशोंके द्वारा श्रीभगवान्‌ने गीतामें बताई है। योगमें सिद्धिलाभके लिये इसकी विशेष उपकारिता है। मिताहारका लक्षण, यथा:—

द्वौ भागौ पूरयेदन्नैर्भागमेकं जलेन तु।
वायोः सञ्चरणार्थं वै चतुर्थमवशेषयेत्॥

पेटका दो भाग अन्नके द्वारा और एक भाग जलके द्वारा पूर्ण करके बाकी एक भाग वायुके सञ्चारार्थ खाली रखना चाहिये। यही मिताहारका नियम है। अतः उपवास विज्ञान सर्वथा आर्यशास्त्र सम्मत है, यह सिद्ध हुआ।

(१७) The history of Magic remains to be written. Meantime we are indebted to Mr C. J. S. Thompson for his book, *The Mysteries and Secrets of Magic*, which has

recently been published, and which gives a very useful and interesting survey of the subject, covering the magical beliefs and practices of many times and races, including those of ancient Egypt, classical Greece and Rome, and mediaeval Europe.

In particular, Mr Thompson emphasises the curious universality of certain magical beliefs and practices. For example, the method of injuring an enemy by making a waxen image of him and sticking pins in it, which is at least three thousand years old, is common to peoples the most distinct from each other both geographically and historically

H Stanley Redgrove—Kalpaka 4-28

जादू या चमत्कारके विषयमें भी विज्ञानजगत्में अब नये नये आविष्कार देखनेमें आरहे हैं। सी. जे. एस्. टामसन साहबने इसके ऊपर 'चमत्कार रहस्य' नामक एक ग्रन्थ लिखा है, जिसमें प्राचीन मिशर, ग्रीस, रोम तथा मध्यकालीन यूरोपमें चमत्कार विषयक कैसे कैसे इतिहास थे उन सबका प्रचुर वर्णन किया गया है। किसी शत्रुको दुःख देनेके लिये उसकी मोमकी मूर्त्ति बनाकर उसमें सूई चुभा देना, मन्त्रोंसे मारणादि प्रयोग करना आदि जो गूढ विद्याएं तीन हजार वर्ष पहिलेसे प्रचलित हैं उनके विषयमें भी चमत्काररहस्यमें वर्णन किया गया है। यह सभी विद्या आर्यशास्त्रमें, तन्त्रशास्त्रमें और अथर्ववेद आदिमें अतिप्राचीन विद्या करके मानी गई है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

यही विज्ञानजगत्में नवीन चमत्कारोंका संक्षिप्त दिग्दर्शन है।

शिक्षाविषयोंपर तुलनात्मक विचार।

तुलनात्मक ज्ञानके विना ज्ञानकी पूर्णता होती नहीं, इस कारण वर्त्तमान प्रवन्धमें इसी पर विचार किया जाता है। शिक्षाको अङ्गरेज़ीमें एजुकेशन (education) कहते हैं, जिसकी उत्पत्ति 'educe' (to bring out) अर्थात् भीतरी शक्तिको वाहर प्रकट करना इस शब्दसे हुई है। प्रत्येक व्यक्ति या जातिके भीतर जो मौलिक सत्ता स्वभावतः विद्यमान है, उसीका पूर्ण परिस्फुट करना ही शिक्षाका लक्षण तथा लक्ष्य है। यदि किसी अश्वको शिक्षा देना हो तो उसके भीतर अश्वत्वकी जो मौलिकता विद्यमान है उसे ही पूर्णतापर पहुँचानेसे अश्वकी शिक्षा पूरी होगी। हाथीको कलाकौशलसम्पन्न हाथी वनाना ही हाथीकी शिक्षा है। मनुष्यको पूर्णमानव वनाना ही मनुष्यकी शिक्षा है; क्योंकि प्रत्येक मनुष्यके भीतर जव पूर्णमानवका वीज विद्यमान है तो शिक्षाका यही लक्ष्य होना चाहिये जिससे मानव पूर्णमानव हो सके। प्रत्येक जीवमें जव ब्रह्मका वीज विद्यमान है तो जीवकी शिक्षा तभी पूरी होगी जव जीव शिक्षाके द्वारा भगवद्राज्यमे अग्रसर होता हुआ अन्तमें जीवत्वको छोड़कर ब्रह्मत्वको प्राप्त कर लेगा। ब्राह्मण यदि शिक्षाके फलसे पूर्ण ब्राह्मण वन सके तभी ब्राह्मण-की शिक्षा सार्थक है। क्षत्रिय यदि शिक्षाके फलसे आदर्श क्षत्रिय वीरकी गौरव-मयी पदप्रतिष्ठाको पा सके तभी क्षत्रियकी शिक्षा सफल है। आर्यजाति यदि शिक्षाके द्वारा आर्यजीवनके आदर्शको चरितार्थ कर सके तभी आर्यजातिकी शिक्षा सार्थक है। आर्यमाता यदि शिक्षाके द्वारा अपनी पवित्रता रक्षा करती हुई जगन्माताकी रूप वन सके तभी आर्य्यमाताकी शिक्षा सार्थक है, क्योंकि जव प्रत्येक स्त्रीमें जगन्माताका अंश विद्यमान है, तो शिक्षा द्वारा उसी जगन्मातृभावको पूर्ण परिस्फुट करना ही शिक्षाका आवश्यक लक्ष्य होगा। माताको माता वनाना ही माताकी शिक्षाका लक्ष्य है, उनको पिता वनाना शिक्षाका लक्ष्य नही है, क्योंकि उनके भीतर मातृत्वका ही वीज है, पितृत्वका नही, अतः सिद्ध हुआ कि, व्यक्ति तथा जातिगत मौलिकताका पूर्ण विकाशसम्पादन ही शिक्षाका लक्ष्य है।

कालके प्रभावसे आर्यजातिको अतिप्राचीन समयसे लेकर नवीन भारतके इस नवीन संधिसमयपर्यन्त शिक्षाराज्यमें अनेक विप्लव सहन करने पड़े हैं। जव प्रत्येक मनुष्यको सम्पूर्ण मनुष्य वनाना ही शिक्षाका लक्ष्य है तो

आदर्श शिक्षा वही कहलावेगी जिसके द्वारा मनुष्यके अन्तर्गत समस्त उपादान पूर्ण परिस्फुट हो सके। यदि मनुष्य केवल पाञ्चभौतिक स्थूल शरीरका ही नाम होता तो केवल स्थूल शरीरको पुष्ट तथा सुखी बनाना ही शिक्षाका एकमात्र लक्ष्य होता, किन्तु केवल पञ्चभूतोंके संघातको ही मनुष्य नही कहते हैं। आत्मा तथा स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीररूपी उपाधित्रयसे युक्त जीवको मनुष्य कहते हैं, अतः जिस शिक्षाके द्वारा आत्मा पूर्णोन्नत हो सके और साथ ही साथ स्थूल सूक्ष्म कारण तीनों शरीर पूर्णताको प्राप्त हो जाय वही शिक्षा आदर्शशिक्षा कहलावेगी, किन्तु शिक्षाका इस प्रकार पूर्ण आदर्शनिर्णय जीव आत्माके राज्यमें अपनी क्रमोन्नतिके अनुसार ही कर सकता है। जो जाति आत्माके राज्यमें अभी तक अग्रसर ही नही हुई है, किन्तु भौतिकजगत्में ही जिसके समस्त पुरुषार्थका पर्यवसान है वह जाति केवण स्थूलशरीरके उस सकल प्रकार उन्नतिप्रद शिक्षाको ही आदर्श शिक्षा अवश्य समझेगी। शिल्पकलाकी उन्नति, वाणिज्योन्नति, राजनैतिक उन्नति, भौतिकविज्ञान या सायन्सकी उन्नति आदि स्थूल सूक्ष्म शरीरके क्षणिक सुखप्रद उन्नतियोंके लिये जिस प्रकार शिक्षाकी आवश्यकता होती है उसी शिक्षामें ही वह जाति अपनेको कृतकृत्य तथा पूर्ण शिक्षित और पूर्ण सभ्य समझेगी। आर्यजातिके सिवाय अन्य सब जातियों-ने अभी तक भौतिक शिक्षाको ही चरम आदर्शशिक्षा समझ रक्खी है, क्योंकि उनकी दृष्टि प्रकृतिसे अतीत नित्यानन्दमय परमात्माकी ओर अभी तक गई नही है। इस कारण अपराविद्यामें ही उनकी विद्याकी पराकाष्ठा है। स्थूल शरीर-के ऊपर मन बुद्धि आदिके विषयमें उन जातियोंने जो कुछ छानबीन की है वे सब विचार भी मायातीत ब्रह्मके राज्यसे सुदूर ही हैं क्योकि उन सब विचारो-में उन्होंने केवल लौकिक बुद्धिकी ही प्रखरता बतलाई है, आत्मोपलब्धि या ऋतम्भरा प्रज्ञाका कुछ भी परिचय उनके द्वारा नही मिलता है। किन्तु अनादिसिद्ध सनातन आर्यजातिके पितापितामह पूज्यपाद महर्षियोंने स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरके यथार्थ स्वरूपको तो देख ही लिया था, इसके सिवाय उन्होंने शरीरत्रयोपाधिसे निर्मुक्त आत्माके स्वरूपके विषयमें भी पूरा अनुसन्धान तथा अनुभव लाभ किया था। इस कारण उनके बताये हुए शिक्षा-दर्शमें कुछ भी असम्पूर्णता नही रह गई है। वे स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरके उन्नतिप्रद शिल्प, सायन्स, राजनीति, धर्मनीति, दर्शनशास्त्र, योगविज्ञान आदिकी शिक्षाके लिये भी यथेष्ट उपदेश दे गये हैं और अन्तमें आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति-

द्वारा नित्यानन्दप्रद ब्रह्मद्वारके उद्घाटनके लिये भी आर्य्यजातिके हाथमें पराविद्याकी कुञ्जी दे गये हैं। इसी लिये आर्य्यजातिके आदि ग्रन्थ वेदमें परा अपरा नामक दो विद्याएं बताई गई हैं, यथा—मुण्डक श्रुतिमें—

द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः अथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

वेदके कर्मकाण्डमें वर्णित इहलोक परलोकमें सुखशान्ति तथा उन्नतिप्रद समस्त विद्या अपरा है और अक्षर परमात्माकी उपलब्धि जिससे होती है वह विद्या परा है। परा अपरा दोनों मिलकर ही शिक्षा पूर्ण होती है इसी कारण आर्य्य-जातिने केवल शिल्प, पदार्थविद्या, सायन्स आदिकी शिक्षाको ही पूर्ण शिक्षा नहीं समझी है। उनके विचारमें भौतिक उन्नतिकी शिक्षाके साथ साथ मानसिक उन्नति, बुद्धिकी उन्नति, धर्मोन्नति और आत्माकी पूरी उन्नति जिस शिक्षाके द्वारा हो सकती है, वही शिक्षा सर्वाङ्गसम्पूर्ण आदर्शशिक्षा है, अतः सिद्ध हुआ कि शिक्षाके विषयमें आर्य्यजातिके साथ अन्य सब जातियोंके अनेक विचार तथा आदर्शभेद पाये जाते हैं। विचारकी सुविधाके लिये नीचे उन भेदोंके कुछ उल्लेख किये जाते हैं।

(क) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंके भेदानुसार आर्य्य-शास्त्रमें अधिकार विचारसे चारप्रकारकी शिक्षाप्रणाली निर्दिष्ट की गई है। ब्राह्मणवर्णका शिक्षादर्श मोक्षप्रधान, क्षत्रियवर्णका धर्मप्रधान, वैश्यवर्णका अर्थ-प्रधान और शूद्रवर्णका काम अर्थात् कला विद्या प्रधान बताया गया है। अन्य जातियोंमें शिक्षाके इन चार लक्ष्योंका यथावत् परिज्ञान नहीं है और न अधिकारभेदका ही विचार है।

(ख) आर्य्यशास्त्रानुसार शिक्षा षोड़श प्रकारके धर्मसंस्कारोंमेंसे एक प्रधान धर्मसंस्कार है। इसको संस्कारविधिक्रममें वेदारम्भ नामक संस्कार कहा जाता है। इस प्रकारसे संस्कारोंके अन्तर्गत होनेके कारण आर्य-जातीय शिक्षादर्शके साथ धर्मशिक्षाका अच्छेद्य सम्बन्ध है। आर्य्यशास्त्रमें धर्म-हीन विद्याको अविद्या, धर्महीन शिक्षाको कुशिक्षा तथा सकल अनर्थोंकी जननी कहा गया है; किन्तु अन्य जातियोंमें इस प्रकार धर्ममूलक शिक्षाप्रणाली एकबार ही नहीं है। वहां शिक्षाके साथ धर्मका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। उनके

सिद्धान्तके अनुसार एक महापापी भी परम शिक्षित पण्डित हो सकता है जिसका वर्त्तमान युगमें यही कुपरिणाम देखनेमें आ रहा है कि, धर्महीन आस्तिक्यहीन शिक्षा तथा सभ्यताके फलसे पश्चिम देशोंमें घोर अशान्ति, भीषण सग्राम, अनाचार तथा राष्ट्रविप्लव दिन-ब-दिन बढता जा रहा है। वे सब आर्य्यजातीय शिक्षादर्शसे सम्पूर्ण विपरीत हैं।

(ग) आचारके प्रथमधर्म होनेसे आर्य्यजातीय शिक्षादर्शके साथ सदाचारका अति घनिष्ट सम्बन्ध है। वर्णधर्म और आश्रमधर्मकी मर्यादा भी दूसरा प्रधान लक्ष्य है; किन्तु अन्यजातियोंमें सदाचार, वर्णधर्म, आश्रमधर्मका संस्कार तक नहीं है और न इनके अनुकूल शिक्षापद्धतिका प्रचार ही है। वहां श्रमविभागके अनुसार शिक्षाविभागके न होनेसे अप्राकृतिक साम्यवादका आन्दोलन और उसकी अशान्तिकर प्रतिक्रिया है।

(घ) आर्य्यजातीय शिक्षादर्शमें धर्म तथा अध्यात्मलक्ष्य मुख्य है, परलोकमें अभ्युदयका पूरा विचार है और आत्मोन्नति तथा मुक्तिकी उत्तम साधन विधि है। किन्तु इतरजातीय शिक्षादर्शमें अर्थ काम ही एकमात्र लक्ष्य है, आत्मोन्नति या मुक्तिका नाम भी नहीं है और इहलोक-भोग्य इन्द्रिय-सुखके लिये ही साधन विधिकी भरमार है।

(ङ) आर्य्यजातीय शिक्षादर्शमें अर्थकामके साधकरूपसे शिल्प तथा भौतिक विज्ञानकी शिक्षा आदरणीय होनेपर भी जीवनका चरम लक्ष्य वह कदापि नहीं था। धर्म तथा मोक्ष ही आर्यजातिका अन्तिम लक्ष्य था। केवल ससार यात्रा निर्वाह तथा आधिभौतिक अभावकी पूर्त्तिके लिये ही शिल्पकला तथा भौतिक विज्ञानका प्रयोजन समझा जाता था। तथापि प्राचीनकालमें इन विद्याओंकी यथेष्ट उन्नति हुई थी जिसका कङ्काल आज भी अनेक ध्वंसावशिष्ट शिल्पकलाके रूपमें तथा प्राच्य प्रतीच्य अनेक प्रत्नतत्त्ववित् पण्डितोंके दिये हुए प्रमाणोंके रूपमें सर्वत्र देखनेमें आता है। किन्तु अन्यदेशीय शिक्षादर्शमें केवल अर्थ काम ही अन्तिम लक्ष्य है और उसीके लिये शिल्पकलादि भौतिक साधनचेष्टा है। उनमें धर्ममोक्षके प्रति कुछ भी स्थिर लक्ष्य नहीं है। उनके सारे पुरुषार्थका पर्यवसान अर्थ काममें ही हो जाता है। इस कारण भौतिक विज्ञानजगत्में आर्येतर जातियोंके द्वारा असाधारण उन्नति लब्ध होनेपर भी आत्माके प्रति उनकी स्थिरदृष्टि नाममात्र भी प्रकाशित नहीं

हो सकी है। आर्य्यजातिकी दृष्टि आत्मामें प्रतिष्ठित है और आत्मामें ही आर्य्य-जातिको परमानन्द तथा परम शान्ति है। अन्य जाति भौतिक उन्नति सम्पादनको ही सर्वरोगौषधि समझती है और आत्माके प्रति उपेक्षा करके भी उसीके साधनमें तत्पर रहती है। किन्तु आर्य्यजाति सब कुछ खोनेपर भी आत्माको खोना नही चाहती है और यदि आत्माके लाभके लिये सब कुछ खोना पड़े तो भी उसमें पश्चात्पद नही होती है। यही सब अन्यजातीय शिक्षादर्शके साथ आर्य्यजातीय शिक्षादर्शका पार्थक्य है।

अनादिकालसे लेकर कुछ वर्ष पहिले तक आर्य्यजातिके इतिहासमें ऊपर कथित शिक्षादर्शका पूर्ण प्रचलन देखनेमें आता है। समस्त आर्य्यजातिको चार वर्णके विभागमें विभक्त करके नैसर्गिक गुणानुसार कर्त्तव्यनिर्देश द्वारा दूरदर्शी महर्षियोंने धर्मार्थकाममोक्षरूपी चतुर्वर्गकी ही सम्यक् साधनप्रणाली बताई थी। एक एक वर्णके लिये एक एक वर्गका साधन बतानेके कारण प्रत्येक वर्णको अपने अपने वर्णमें पूर्ण सिद्धि प्राप्त करनेका भी पूरा मौका दिया गया था। शूद्र वर्णको कामप्रधान शिल्पकला या कारुकार्यमें पारदर्शिता दिखानेका उपदेश दिया गया था। वैश्य वर्णको वाणिज्यादि द्वारा प्रचुर अर्थ संग्रह करके अन्य वर्णोंको सहायता देनेके लिये आज्ञा की गई थी। क्षत्रिय वर्णको धर्मानुकूल बलवीर्य्य सम्पादन करके प्रजापालन तथा विजातीय अत्याचारसे देशकी रक्षा करनेके लिये धर्म बताया गया था। ब्राह्मण वर्णको संयम, तपस्या तथा जितेन्द्रियताके साथ ज्ञानार्जन करके मोक्षदायक अन्तिमशांतिप्रद आत्माका पथ आविष्कार करनेके लिये तथा सकल वर्णोके शिक्षागुरु बननेके लिये कहा गया था। इस प्रकारसे श्रमविभाग विधिके अनुसार पुरुषार्थ विभाग करके प्रत्येक वर्णको अपने अपने विभागमें उन्नतिकी पराकाष्ठा लाभके लिये बहुत ही विचार पूर्वक पूर्ण अवकाश दिया गया था। स्वधर्मानुकूल आचरणकी व्यवस्था ठीक ठीक रहनेसे प्राचीनकालमें ऊपर कथित नियमानुसार चारों वर्णोंको ही पूर्णोन्नति प्राप्त हुआ करती थी। राजा राजदण्डके द्वारा तथा ब्राह्मण शास्त्रानुशासन द्वारा अर्थकामकी धर्मरहित उद्दण्डताको सदा ही दमन करते थे, इन दोनों वर्णोंके धर्मानुकूल नियमनसे समाजशृङ्खला स्थापन तथा आधिभौतिक सकल प्रकारकी उन्नतिका विधान होता था। राजाका राजमद त्यागी, तपस्वी ब्राह्मणोंके अंकुशके नीचे कदापि धर्मविरुद्धरूपसे नहीं बढ़ने पाता था। राजा भी अपनी

राजशक्तिके प्रभावसे ब्राह्मणशक्तिकी रक्षा तथा पुष्टि किया करते थे। श्रीभगवान् मनुने लिखा है—

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते।
ब्रह्मक्षत्रन्तु सम्पृक्तमिह चामुत्र वर्द्धते॥

ब्राह्मणशक्तिके विना क्षात्रशक्ति परिपुष्ट नहीं हो सकती है और क्षात्रशक्तिके विना ब्राह्मणशक्ति भी वृद्धिगत नहीं होती है। दोनों शक्तियां परस्पर समवेत होकर ही इहलोक परलोकमें कल्याणदायिनी होती है। इस मनुवचनानुसार प्राचीनकालमे दोनों शक्तियोंका पूर्ण सामञ्जस्य रहा करता था। इन दोनोंमेंसे किसी एकमें कदापि कुछ असमञ्जस भाव होनेपर दूसरी उसको समञ्जस कर दिया करती थी, अर्थात् क्षत्रियशक्तिका अपलाप ब्रह्मशक्तिके द्वारा तथा ब्राह्मण शक्तिका अपलाप क्षात्रशक्तिके द्वारा दमन किया जाता था। कदाचित् अपलाप अधिक होनेपर श्रीभगवान् अवतार धारण करके अत्याचारी शक्तिको दबाकर समञ्जस तथा धर्मानुकूल कर दिया करते थे। यथा—त्रेतायुगके प्रारम्भमें क्षत्रियशक्ति जब अत्याचारिणी तथा ब्रह्मशक्तिघातिनी हो गई तब श्रीभगवान्को परशुरामरूपमें ब्राह्मणशक्ति द्वारा क्षात्रशक्तिको दबाना पड़ा। उसी प्रकार परवर्ती कालमें जब ब्राह्मणशक्ति विकृत होकर रावणादिरूपसे राक्षसभावापन्न होगई तो श्रीभगवान्को रामचन्द्रके रूपमें क्षात्रशक्तिके द्वारा ब्राह्मणशक्तिके अपलापको दूर करना पड़ा। द्वापर और कलिके सन्धिकालमें कालप्रभावसे दोनोंही शक्तियोंमें अपलाप होने लग गया था और द्रोणाचार्य अश्वत्थामा आदि ब्राह्मण, दुर्योधन कर्ण आदि क्षत्रिय सभीकी बुद्धि असुरभावापन्न होगई थी। इसलिये श्रीभगवानको पूर्णकलामें अवतीर्ण होकर श्रीकृष्णचन्द्ररूपसे दोनों शक्तियोंको दबाकर ठीक करना पड़ा था। परन्तु कालका प्रभाव दुरत्यय है। इसलिये कुरुक्षेत्रके संग्रामके बाद कुछ वर्षोंतक भारतवर्षमें शान्ति विराजमान रहनेपर भी इस भीषण रणाग्निमें दोनों शक्तियाँ बहुधा भस्मीभूत हो जानेके कारण कलियुगके प्रारम्भमें दोनोंमें ही पराक्रमका अभाव होगया और तदनन्तर बौद्धविप्लवके द्वारा दोनों ही अधिकतर हीनबल हो गईं। भारतवर्षमें किसीका भी एकछत्र आधिपत्य न होकर छोटे छोटे अनेक राज्य हो गये। उन राज्योंके अधिपतियोंमें अन्तर्विवाद तथा संग्रामके बढ़ जानेसे क्षत्रियशक्ति बहुत ही-हीनबल हो गई। इधर रक्षाकारिणी क्षत्रियशक्तिके दुर्बल हो जानेसे तथा

कलियुगके प्रभावको पाकर ब्राह्मणशक्ति भी बहुत हीनप्रभ होने लगी । ब्राह्मणों-की तपस्या, अतीन्द्रिय दृष्टि, ज्ञानमय जीवन, संयमकी पराकाष्ठा, अलौकिक योगशक्ति सभी दिन प्रति दिन नामशेष होने लग गये । इस प्रकारसे जब धर्मप्रधान क्षात्रशक्ति तथा मोक्षप्रधान ब्राह्मणशक्ति हीनप्रभ हो गई तो अनुशासनके अभावसे अर्थशक्ति और कामशक्ति बहुत ही अनर्गलरूपसे बढ़ने लगी। आर्य्यजाति धर्म-मोक्षको गौण समझ कर उसके प्रति उपेक्षा करके अर्थ-कामके प्रलोभनमें आत्मविक्रय करने लग गई । जिस जातिमें धर्ममोक्षके बदले अर्थकाम बढ़ जाता है उस जातिकी क्या दुर्दशा होती है, सो पहिले ही कहा गया है । तदनुसार आर्य्यजातिके प्राचीन शौर्यवीर्य, बलबुद्धि, आत्मशक्ति सभी नष्ट होने लग गये और इस प्रकारसे आर्य्यजातिमें आत्मरक्षाकी शक्ति नष्ट हो जानेसे पश्चिमदेशसे यवनजातिने आकर आर्य्यजातिपर अपना राज्याधिकार जमा लिया । धर्मप्राण आर्य्यजातिके धर्मरक्षक ब्राह्मणोंमें क्षात्रशक्तिके हीनबल होनेसे धर्महीनता तो पहिलेसे ही आगई थी अब विधर्मी राजकीय शक्तिके संघर्षद्वारा धर्महीनता और भी बढ़ गई । अर्थ-कामके प्रभावसे आर्यजातीय जनताकी बुद्धि बहुत ही विषयमलिन तथा भौतिकविज्ञानपक्षपातिनी बन गई । त्यागकी महिमा, अध्यात्मविज्ञानकी उत्कृष्टता, आत्मानन्दकी माधुरी, सभीका प्रभाव आर्य्यजातिके हृदयसे धीरे धीरे लुप्त होने लगा । पश्चात् अदृष्टचक्रके परिवर्तनसे जब यवनशक्ति भी हीनबल हो गई तब भी आर्य्यजातिने अपना होश नहीं सम्हाला, उसकी प्राचीन महर्षिवर्णित स्वरूपप्रतिष्ठा उसे पुनः प्राप्त नहीं हो सकी । इधर यवनशक्ति नष्ट हो गई और उधर अर्थ-कामके उन्मादसे आक्रान्त होकर आर्य-जातीय क्षुद्र क्षुद्र राजन्यवर्ग तथा राजा प्रजा सभीके भीतर अन्तर्जातीय संग्रामका दावानल प्रबलरूपसे जलने लगा, जिससे नष्टावशिष्ट ब्राह्मण क्षत्रिय शक्तियां और भी नामावशेषताको प्राप्त हो गई । रत्नप्रसविनी भारतमाताकी रत्नरक्षाके लिये कोई प्रबल शक्ति बाकी ही न रही । इस अपूर्व सुयोगको देखकर पश्चिम-दिशासे वाणिज्यप्रिय, ऐश्वर्यलोलुप, स्वार्थसिद्धिमें विशेष दक्ष वैश्यभावप्रधान बहुत जातियां भारतवर्षमें वाणिज्य करनेके लिये आने लगी और उनमेंसे एकने भारतवासियोंके अन्तर्विवादके सुअवसरको काममें लाकर भारतपर आधिपत्य जमा लिया। इस प्रकारसे आर्यजातिने अपने स्वरूपसे भ्रष्ट होकर स्वराज्यको भी खो डाला और वह अति दीन हीन दशाको प्राप्त हो गई । सिंहको जबतक पता रहे कि वह सिंह है तबतक उसका हुंकार नहीं नष्ट होता है और न सिंहसुलभ

पराक्रमका ही अभाव होता है। इसलिये आर्यजातिको स्वरूप भुलानेके लिये विदेशीय राजाओंने बहुत कुछ उपाय अवलम्बन किये। प्रथमतः अध्यात्म-विज्ञानकी अलौकिक उत्तमताको भूलकर आर्यजाति अर्थकामप्रद भौतिक विज्ञानमें मुग्ध हो ही रही थी, इतनेमें भौतिक विज्ञानका और भी मनोमुग्धकर चमत्कार दिखाकर आर्य्यजातिको पश्चिमी जातिने बिलकुल ही फंसा लिया। आर्य्यजाति सायन्सके भूलभूलैयेमें फँसकर अध्यात्मविज्ञानप्रदाता पितापितामह महर्षियोंपर श्रद्धाहीन हो गई और अपने प्राचीन इतिहासकी महिमाको भी भूल बैठी।

पश्चिमी जातिने भारतीय शिक्षाका भार अपने हाथमें लेकर आर्य्यजातिके प्राचीन इतिहासके विषयमें शिक्षार्थियोंके हृदयमें अनेक प्रकारके सन्देह डाल दिये और कहीं कहीं आर्य्यजातीय प्राचीन चरित्रोंका अन्य स्वरूप बतलाकर उनके अन्तःकरणमें भावान्तरको उत्पन्न कर दिया। श्रीकृष्ण परस्त्रियोंके साथ नाचा करते थे, रामचन्द्र भीलोंकी तरह जंगलोंमें भ्रमण करते थे, यहांके लोग प्रस्तरपूजक असभ्य हैं, यहांकी स्त्रियोंमें सतीधर्म नहीं है, एक एक स्त्रीके कई एक पति होते हैं, यहांका वर्णाश्रम असभ्यतामूलक तथा आचार कुसंस्कार मात्र है इत्यादि इत्यादि अनेक बातें बचपनसे विद्यार्थियोंके हृदयमें भर दी जाने लगीं और मातृभूमिके प्रति अभिमान नष्ट करनेके लिये यहां तक दिखाया जाने लगा कि आर्य्यजातिका आदिवासस्थान भारतवर्ष है ही नहीं, वे लोग मध्य-एशियासे यहां आये हुए हैं। विदेशीय भाषाके प्रचार द्वारा विदेशीय भाव अन्तःकरणपर घन घटाकी तरह आच्छन्न होगया और आर्य्यजातिकी देववाणी संस्कृत भाषा मृतभाषा बनाई गई। जैसाकि मेकाले साहबने कहा है—English education would train up a class of persons, Indian in blood and colour, but English in tastes, in opinions, in morals and in intellect अर्थात् "अंग्रेजी शिक्षा द्वारा ऐसा एक मनुष्यदल तैयार होगा जो रक्त तथा रङ्गमें हिन्दु रहेगा किन्तु आचार, व्यवहार, रुचि, चरित्र, चिन्ता तथा विचारमें अहिन्दु होगा" ऐसा ही पूरा पूरा परिवर्तन शिक्षाके दोषसे आर्यजातिमें होने लग गया। और जैसाकि कूटनीतिज्ञ मेकाले साहबने प्रयत्नका पथ दिखाया था वह कूटनीतिका प्रयत्न कैसा सफल हुआ है सो थोड़े ही विचारसे समझा जा सकता है। विदेशीय शिक्षाप्रणालीके भीतर धर्मका कुछ भी सम्बन्ध न रहनेसे शिक्षक-छात्रके परस्परमें अर्थके साथ विद्याका विनिमय मात्र समझा जाने लगा और धर्महीन शिक्षा केवल अर्थकाम संग्रहके साधनरूपसे ही मानी जाने

लगी। इधर अर्थ-कामका प्रधान साधन वाणिज्य शिल्पकला विदेशियोंके हाथोंमें होनेसे भारतवासियोंके लिये उसकी प्रत्यक्ष योग्यताकी शिक्षा कुछ न रही, और न उसका कुछ प्रत्यक्ष फल ही उनको प्राप्त हुआ। भारतवासीकी शिक्षा केवल दासवृत्ति द्वारा दग्धोदरपूर्ति तथा हीनजीवन बितानेके लिये ही समझी जाने लगी। इस प्रकारसे हतभाग्य आर्यजाति विपरीत शिक्षादर्शके विपरीत परिणामके प्रभावसे धर्मभ्रष्ट, कर्मभ्रष्ट, निर्धन, निर्जीव, आत्मलक्ष्यहीन तथा सर्वथा जीवन्मृत दशाको प्राप्त हो गई।

संसार परिवर्तननियमके अधीन है इस कारण कालचक्रके घूमते घूमते आर्यजातिके समष्टि जीवनमें भी क्रमशः अनेक प्रकारसे परिवर्तन हो गये और हो रहे हैं। भौतिकविज्ञानकी झलक, जिसने कुछ ही दिन पहिले तक भारतवासियोंको स्वरूपविस्मृत कर दिया था, अब आंखोंको निस्तेज करनेमें उतनी समर्थ नहीं हो रही है, क्योंकि धर्महीन आस्तिकताहीन भौतिक विज्ञानोन्नतिकी पराकाष्ठाको पाकर भी पश्चिमदेशीयगण किस प्रकार घोर पाशविक संग्राममें लिप्त हो सकते हैं और कोरी भौतिक उन्नतिका अन्तिम भीषण परिणाम क्या है इसको भारतवासियोंने आंखोंके सामने ही यूरोपीय महायुद्धमें अच्छी तरहसे देख लिया है। पक्षान्तरमें जिन विदेशीय जनोंके मुखसे आर्यजातिने अपने शास्त्र तथा अपने इतिहासादिकी निन्दाका पाठ पढ़ा था उन्हींके वंशधर अनेक प्रातीच्य ऐतिहासिक पण्डित आर्यजातीय इतिहास, आर्यजातीय शिल्पकला, आर्यजातीय सामाजिक व्यवस्था आदिकी पूरी पूरी प्रशंसा कर रहे हैं जिसको पढ़कर हतभाग्य आर्यजातिको अपने स्वरूपके पुनः परिचयमें विशेष सुविधा प्राप्त हुई है। अब विदेशियोंके द्वारा स्वजातीय शास्त्र तथा पूज्यचरण महर्षियों-की निन्दा सुनकर भारतवासी उन्हींके साथ अनुमोदनसूचक पैशाचिक हास्य नहीं करते हैं, बल्कि स्वजातीय शास्त्रसमूहका यथार्थ तत्त्वानुसन्धान द्वारा विदेशीय अनुदारचित्त पक्षपाती जनोंके भ्रम दूर करनेमें तत्पर हो जाते हैं, प्राचीन आत्मोन्नतिमय आर्यजीवनके आदर्शको नीचा दिखानेमें प्रतिष्ठा या विद्वत्ता नहीं समझते हैं, किन्तु किस प्रकार अतिदूरदर्शितापूर्ण विज्ञानमूलक विचार द्वारा आर्यजातिके अनन्तकालस्थायी कल्याणके लिये इस प्रकार सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण आदर्श निर्धारित किया गया है, समस्त जगत्के सामने इसीके रहस्य बतानेमें ही अपनी विद्वत्ता तथा आत्मप्रतिष्ठा समझते हैं। अतः नवीन भारतके लिये शिक्षा समालोचनका यही सर्वोत्कृष्ट अवसर है।

शिक्षाके लक्ष्य तथा लक्षणवर्णन प्रसङ्गमें पहिले ही कहा गया है कि, प्रत्येक वस्तुकी मौलिक सत्ताको पूर्ण परिस्फुट करना ही शिक्षाका लक्ष्य है। अतः मनुष्यके लिये शिक्षादर्श वही होगा जिसके द्वारा मनुष्यसुलभ निखिल मौलिकता पूर्णतापर प्रतिष्ठित हो सके। अब विचार करनेकी बात है कि, मनुष्य व्यक्ति किन किन बातोंसे मनुष्य कहलाती है। स्थूल सूक्ष्म कारणरूपी शरीरत्रय तथा आत्मा, इन चारोंकी समष्टि मनुष्यव्यक्ति है। इनमेंसे आत्मा नित्य तथा अविनाशी है और शरीरत्रय विनाश तथा परिणामधर्मी और आत्माके बन्धनरूप हैं। स्थूलशरीरका मल, सूक्ष्मशरीरका विक्षेप और कारणशरीरका आवरण ये ही मल, विक्षेप, आवरण, आत्माके तीन पर्दे हैं जिनसे जकड़ा हुआ आत्मा स्वरूपप्रतिष्ठाके पानेमें असमर्थ रहता है। नित्य वस्तुकी उन्नति ही उन्नति है, अनित्य वस्तुकी उन्नति निरपेक्ष उन्नति नहीं हो सकती है, परन्तु नित्यवस्तुकी उन्नति सापेक्षताको लेकर की जा सकती है। इस कारण आत्मोन्नतिसम्पादन ही शिक्षाका यथार्थ लक्ष्य है, परिणामी शरीरत्रयका उन्नतिसाधन निरपेक्ष या आत्यन्तिक पुरुषार्थ नहीं हो सकता है किन्तु आत्माकी पूर्णोन्नतिको लक्ष्य करके उसीके सहायक या साधकरूपसे हो सकता है। अतः आर्यजातिके लिये शिक्षादर्श वही होगा जिससे आत्माकी पूर्णोन्नति हो सके और उसमें बाधक मल, विक्षेप, आवरणकी निवृत्ति हो। तीनों शरीरोंमें स्थूल शरीर, मन और बुद्धि इनकी उन्नतिसे ही आवरणत्रयका नाश तथा आत्मोन्नतिमें पूर्ण सहायता हो सकती है। अतः स्थूल शरीरसे लेकर आत्मापर्यन्तकी पूर्ण उन्नतिके लिये शिक्षादर्शमें चार प्रकारकी शिक्षाओंका सन्निवेश किया जा सकता है, यथा—

स्थूल शारीरिक उन्नतिप्रद शिक्षा, मानसिक उन्नतिप्रद शिक्षा, बुद्धि उन्नतिकारी शिक्षा और आत्मोन्नतिकर शिक्षा। अब नीचे इन चार प्रकारकी शिक्षाओंके विषयमें वर्णन किया जाता है।

शास्त्रमें लिखा है—'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्'। शारीरिक उन्नतिसाधन ही प्रथम धर्मसाधन है। आर्यशास्त्रमें शरीरके लिये शरीरकी रक्षाका उपदेश नहीं दिया गया है, क्योंकि ऐसा होनेसे स्थूल लक्ष्य होकर मनुष्य पशुभावापन्न तथा इन्द्रियासक्त हो जाता है और आध्यात्मिक लक्ष्यको खो बैठता है। इस कारण आर्य्यशास्त्रमें आत्मोन्नतिसाधनके सहायकरूपसे शारीरिक

उन्नतिसाधनका उपदेश दिया गया है। वे सब उपदेश ऋषिनिर्दिष्ट 'सदाचार' के अन्तर्गत हैं इस कारण आचारको प्रथम धर्म कहा गया है। स्थूलशरीरको पुष्ट तथा बलवान् बनानेके लिये पश्चिमी देशोंमें जिस प्रकार व्यायामादिकी विधियाँ देखनेमें आती हैं उनके द्वारा स्थूलशरीरका पोषण होनेपर भी आत्माकी उन्नति उनसे कुछ भी नही होती है, प्रत्युत प्राणक्षय, पशुभाववृद्धि, मस्तिष्ककी दुर्बलता तथा आत्मोन्नतिमें यथेष्ट हानि ही होती है। इस कारण महर्षिप्रदर्शित आर्य्यसदाचारोंका प्रतिपालन ही शारीरिक उन्नतिलाभके लिये सर्वथा उपयोगी है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। आर्य्यसन्तान कभी यह न समझे कि वैषयिक सुखभोगके लिये वह शरीरकी रक्षा या उन्नति कर रहा है, इस प्रकारकी धारणा अनार्य्यधारणा है और इस प्रकार स्थूलशरीरधारण भी आत्माका अवनतिकर है। आर्य्यसन्तानके हृदयमें यह धारणा दृढ़मूल होनी चाहिये कि, वह शरीरकी उन्नति इसलिये कर रहा है कि, शरीरकी उन्नतिसे मनकी उन्नतिमें सहायता होती है और मनकी उन्नतिसे आत्माकी साधना उत्तमरूपसे बन सकती है जिसके परिपाकसे जीव अपने अन्तिम लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार मौलिक धारणाको हृदयमें रखकर स्थूलशरीरकी उन्नतिप्रद शिक्षा ग्रहण करनेसे स्थूलशरीरपर कदापि अभिनिवेश उत्पन्न नही होगा और यह शारीरिक उन्नतिप्रद शिक्षा आत्मोन्नतिमें सहायक होकर शिक्षाके यथार्थ लक्षणको चरितार्थ करेगी इसमे अणुमात्र सन्देह नही है। यही आर्य्य-शास्त्रानुमोदित शारीरिक उन्नतिप्रद शिक्षाका आदर्श है।

अतःपर मानसिक उन्नतिप्रद शिक्षादर्शके विषयमें विचार किया जाता है। श्रीभगवान् वेदव्यासने योगदर्शनभाष्यमें लिखा है:—

"चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय वहति पापाय च।"

चित्तनदीका प्रवाह पाप पुण्य दोनोंकी ही ओर है। उसे सम्हालकर पुरुषार्थके साथ पुण्यकी ओर प्रवाहित न करनेसे उसकी पापप्रवणता निःसन्देह ही होगी। पञ्चतत्त्वोंके सूक्ष्मांशसे उत्पन्न मनमें रजोगुणका विशेष आवेश रहनेके कारण मनका चञ्चल होना—सङ्कल्प करना—स्वाभाविक धर्म है। समस्त संसार, समस्त सृष्टि मानसिक वृत्तिचाञ्चल्यका ही फलरूप है। शास्त्रमें कहा है:—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥

मन ही जीवोंके बन्धन तथा मोक्षका कारण है। विषयासक्त मन बन्धनका तथा निर्विषय मन मोक्षका देनेवाला है। अतः मन ही जब सबका मूल है तो मानसिक उन्नतिप्रद शिक्षाद्वारा सभी प्रकारकी उन्नति हो सकती है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। योगशास्त्रमें चित्तकी समस्त वृत्तियोंको क्लिष्ट और अक्लिष्ट नामक दो भागोंमें विभक्त किया गया है। तमोगुणवृद्धिकारी वृत्तियोंको क्लिष्ट और सत्त्वगुणवृद्धिकारी वृत्तियोंको अक्लिष्टवृत्ति कहते है। इनको श्रीभगवान्ने गीताजीमें आसुरी और दैवी सम्पत्ति करके वर्णन किया है, यथा :—

अभय, सत्त्वशुद्धि, दानशीलता, इन्द्रियदमन, तप, सरलता, अहिंसा, सत्यवादिता, अक्रोध, त्याग, शान्ति, जीवदया, निर्लोभता, तेज, क्षमा धृति, शौच, अद्रोह, इत्यादि दैवी सम्पत्तिवाले मनुष्योंके गुण हैं। दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान—ये सब आसुरी प्रवृत्तिवाले मनुष्योंके लक्षण हैं। संसारमें इन्ही दो प्रवृत्तियोंके मनुष्य होते हैं, उनमेंसे दैवीप्रवृत्ति मोक्षदायिनी और आसुरीप्रवृत्ति बन्धनकारिणी होती है। आसुरी प्रवृत्तियुक्त मनुष्यगण कामभोगको ही सब कुछ समझते हैं, अनन्त आशापाशोंमें बद्ध, कामक्रोधपरायण होकर कामभोगार्थ अन्यायरीतिसे अर्थोपार्जनकी चेष्टा करते हैं; आज मैंने यह पाया है, कल यह मेरी मनोरथपूर्त्ति होगी, यह मेरा धन है और भी आगे मिलेगा, इस शत्रुको मैंने मारा है, दूसरोंको भी मारूगा, मैं ऐश्वर्यवान् हू, भोगी हूं, सिद्ध हूं, बलवान् हूं, सुखी हूं, इस प्रकारसे अहंकार, बल, दर्प, काम तथा क्रोधको आश्रय करके आसुरी प्रकृतियुक्त मनुष्य सर्वभूतोंमें विराजमान भगवान्से भी द्वेष करते है।

मानसिक उन्नतिप्रद शिक्षादर्शमें यत्नपूर्वक मनसे असुरभावके उन्मूलनके लिये शिक्षालाभ करना होगा और साथ ही साथ दैवभावकी वृद्धिके लिये पुरुषार्थ करना होगा। सच्चरित्रता, सत्यवादिता, जितेन्द्रियता, आस्तिकता, सरलता, दया, अस्तेय, अक्रोध, शीलता, धैर्य्य, क्षमा आदि अक्लिष्ट सात्त्विक वृत्तियां जिससे दिन प्रति दिन वृद्धिगत हो सकें इसके लिये पूरा प्रयत्न होना चाहिये तभी मानसिक उन्नति पूरी हो सकेगी। संसारमें यथार्थ सुख क्या है, इन्द्रियसंस्पर्शजन्य यावतीय सुख परिणाममें दुःखप्रद होनेसे किस प्रकार दुःखरूप ही है, भोगसे त्यागमें किस प्रकार अतिविमल सुख लाभ होता है, इन्द्रियोंके दास बननेकी अपेक्षा इन्द्रियोंके संयममें किस प्रकार सर्वविध उन्नतियों-

का गूढ़बीज विद्यमान है, द्वेषसे प्रेममें, मोहसे दयामें, हिंसासे अहिंसामें, जिघांसासे क्षमामें, लोभसे निर्लोभतामें, तमोगुणसे सत्वगुणमें किस प्रकार अधिक उन्नति और अनुपम आनन्दके उपादान विद्यमान हैं, इस सब बातोंकी शिक्षा तथा निजजीवनमें सर्वथा परिपालन द्वारा ही मानसिक उन्नति पूरी हो सकेगी। जिन आदर्श प्राचीन आर्य्यपुरुषोंके चरित्रोंमें मानसिक उन्नतिकी पराकाष्ठा पाई जाती है, ध्यानपूर्वक उनकी जीवनीचर्चा प्रतिदिन नियमितरूपसे करनी चाहिये, तभी आदर्शदर्शनसे अपने जीवनमें भी आदर्श नैतिक उन्नतिकी पूर्ण प्रतिष्ठा होगी। धर्मराज युधिष्ठिरकी सत्यवादिता, महाराज हरिश्चन्द्रका प्रतिज्ञापालन, भगवान् भीष्मपितामहका ब्रह्मचर्य, महर्षि दधीचिका जगत्-कल्याणके लिये प्राणबलिदान, ध्रुव प्रह्लादका अलौकिक भक्तिभाव, मयूरध्वजकी दानशीलता, महाराणा प्रतापकी स्वदेशसेवा, चित्तौरके वीरोंकी स्वधर्म तथा स्वजातिसेवामूलक वीरता इत्यादि इत्यादि आदर्शचरित्र महापुरुषोंकी जीवनियोंका इतिहास शिक्षाकालमें अवश्य ही बालकोंको हृदयङ्गम कराना चाहिये, तभी उनका भविष्यत् जीवन नैतिक उन्नतिमें पूर्ण होकर देश, धर्म तथा जातिके लिये यज्ञहविकी तरह उत्सर्गीकृत हो सकेगा।

दुःखकी बात है कि, आजकलकी शिक्षाप्रणालीमें क्या स्कूल कालेज, क्या संस्कृत पाठशाला कहीं भी यथार्थ मानसिक उन्नतिप्रद शिक्षा नहीं दी जाती है, प्राचीन कालमें आचार्य्यकुलमें जिस प्रकार अत्युत्तम शिक्षादर्श विद्यमान था, अर्थकामप्रधान वर्त्तमानयुगमें उसका नामशेष भी नहीं देखनेमें आता है। आचार्यकुलमें निखिलशास्त्रनिष्णात आचार्यदेव अपने अन्तेवासी शिष्यको केवल वेदार्थका ही पण्डित नहीं बनाते थे, किन्तु वेदमय जीवन शिष्यका जैसे बन जाय इसके लिये पूर्ण प्रयत्न करते थे, शिष्यको वैखरी विद्याके पण्डित बनानेकी अपेक्षा अध्यात्मविद्याके पण्डित बनानेके अर्थ अधिक पुरुषार्थ करते थे। उसके हृदयमें दैवीसम्पत्तिकी प्रतिष्ठाके लिये मानसिक उन्नतिकी समस्त साधनाओंका उपदेश करते थे। यही कारण है कि, प्राचीन कालमें आचार्यकुलसे प्रत्यागत स्नातक ब्रह्मचारी इतने विद्वान्, चरित्रवान् तथा कुलभूषण बन कर मनुष्य-जीवनकी अति उच्चतम कोटि पर प्रतिष्ठालाभ कर सकते थे। आज प्राचीन कालके ये सब शिक्षादर्श स्वप्नप्राय हो गये हैं, आजकल सभी विद्यालयोंमें केवल अर्थोपार्जनके साधकरूपसे विद्या पढ़ी पढ़ाई जाती है। अध्यापकगण वृत्ति-

लेकर पाठ्यग्रन्थोंका केवल अक्षरज्ञान करा देनेमें ही अपने कर्त्तव्यकी परिसमाप्ति समझते हैं। उनके छात्र किस चरित्रके हैं, किस प्रकारके सङ्गमें रहते हैं, पठित उपदेशोंके अनुसार अपनी जीवनचर्य्याको कहांतक नियमित करते है या कर सकते हैं, उनकी नैतिक जीवनोन्नति, मानसिक उन्नति या अवनति कितनी हो रही है, उसमें क्या-क्या सुधार होने चाहिये, इन अति आवश्यकीय विषयोंके प्रति वृत्तिभोगी अध्यापकोंका कुछ भी ध्यान नहीं रहता है और न वे इस प्रकार ध्यान रखनेको अपने अध्यापकीय कर्त्तव्यके अन्तर्गत ही समझते हैं। इसके सिवाय मातापिता आदि अभिभावकगण भी अपनी सन्तानोंकी मानसिक उन्नतिकी ओर यथेष्ट ध्यान नही देते हैं। उनमें प्रधानतः यही इच्छा रहती है कि, उनके लडके किसी प्रकारसे परीक्षोत्तीर्ण होकर प्रचुर अर्थ उपार्जन करने लग जाय। वह अर्थोपार्जन किस रीतिसे होता है और उसमें पुत्रका आध्यात्मिक पतन कितना हो रहा है, इस ओर माता-पिताका ध्यान विरल ही आकृष्ट होता है। अतः अध्यापक तथा अभिभावक किसीसे भी प्ररोचना न मिलनेके कारण छात्रोंकी समस्त विद्या अर्थकरी विद्यामें ही परिणत हो जाती है। क्या संस्कृत पाठ्य पुस्तक, क्या दार्शनिक ग्रन्थ, क्या अन्यदेशीय ग्रन्थसमूह—किसीको भी छात्र उपदेशलाभके तौरपर या जीवन बनानेके साधनके तौरपर नहीं पढते हैं, केवल तोतेकी तरह कण्ठस्थ करके परीक्षा पास करनेके लिये पढा करते हैं। लड़के वेदान्ततीर्थ बनकर भी विषयी ही रहते हैं, योगाचार्य्य होकर भी साधनशून्य ही रहते हैं, विदुरनीति कण्ठ करके भी अतिहीन नैतिक जीवनयापन करते हैं, बर्क, मेकले, शेरिडनको पढ़कर भी राजनैतिक जीवनकी योग्यता नहीं आती, बेकन, स्पेन्सर, सोपेन्हर आदिके चिन्तापूर्ण ग्रन्थोंके पाठसे भी नैतिक जीवन उन्नत नही होता, अर्थकामके पीछे पागल हो जाना ही सबका अन्तिम परिणाम हो जाता है। यही कारण है, कि, वर्त्तमान समयके शिक्षालयोंमें प्रचलित शिक्षाप्रणाली द्वारा मानसिक उन्नतिका कुछ भी साधन नहीं बनता है। शिक्षालयमें प्रचलित शिक्षादर्शका सुधार होना चाहिये और मानसिक उन्नतिप्रद यथार्थ शिक्षादर्शका पुनः प्रवर्त्तन होना चाहिये।

बुद्धिउन्नतिकारी शिक्षादर्शके विषयमें अवश्य यह स्मरण रखने योग्य है कि:—

"या लोकद्वयसाधिनी चतुरता सा चातुरी चातुरी ॥"

जिस बुद्धिबलसे इहलोक परलोक दोनोंमें ही कल्याण लाभ हो, वही बुद्धि पूर्णोन्नत है, अतः शिक्षाके आदर्शमें भी ऐसी ही विधियां होनी चाहियें। बुद्धिविकाशका प्रथम लक्षण शिल्पकलाकी प्रतिष्ठा है। अपरा विद्याके अन्तर्गत जितने विषय हैं, जिनसे इहलोकमें अर्थ-कामका प्रचुर आहरण हो सकता है, बुद्धिविकाशके प्रथम लक्षणमें वे सभी गिने जाते हैं। तदनन्तर बुद्धि इहलोकके स्थूल विषयोंको भेद करके अतीन्द्रिय सूक्ष्मजगत्में जब प्रवेश करती है, तब प्रेतलोक, नरकलोक, स्वर्गलोक, पितृलोक, देवलोक आदिके रहस्यनिर्णय तथा तत्त्वान्वेषण करनेमें प्रवृत्त हो जाती है और तदनन्तर योगकी सहायतासे बुद्धि जब अलौकिक ऋतम्भरा प्रज्ञाके स्वरूपको प्राप्त हो जाती है, तभी उस अलौकिक योगयुक्त बुद्धि द्वारा परमात्माका पता लगने लगता है, जैसा कि श्रुतिमें कहा है:—

"दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।"

अतीन्द्रियदर्शी योगिगण अलौकिक योगबुद्धि द्वारा परमात्माका दर्शन करते है। इस प्रकारसे बुद्धिविकाशके राज्यमें बुद्धिकी लोकद्वयप्रसाधिनी चतुरता कार्यकारिणी हुआ करती है। अतः बुद्ध्युन्नतिविधायक शिक्षादर्श भी इसी क्रमसे नियमित होना चाहिये। यद्यपि धनसंग्रह करना जीवनका आत्यन्तिक लक्ष्य नहीं है, तथापि शरीरयात्रा निर्वाह और देश तथा समाजके स्थूल अभाव दूर करनेके लिये धनकी विशेष आवश्यकता रहती है। इसलिये धनागमके साधन रूपसे लौकिक जगत्में बुद्धिका विनियोग अवश्य ही होना चाहिये। पूज्यपाद महर्षियोंने इसी उद्देश्यपूर्तिके अर्थ हिन्दु-समाजमें वैश्यजातिका वाणिज्यादि स्वाभाविक कर्त्तव्य निर्देश किया था। देश-विदेशमें जाकर वाणिज्य करना, वाणिज्यश्रीवृद्धिके लिये नवीन नवीन उपाय उद्भावना करना, अर्णवयान, वाष्पीय पोत, तरणी आदि समुद्र यात्राके लिये निर्माण करना, अन्यान्य स्थलयानोंका भी निर्माण करना, आधिभौतिक विज्ञानोन्नति द्वारा नाना प्रकारके शिल्पवाणिज्योन्नतिप्रद यन्त्र निर्माण करना, कृषिकार्यमें उन्नति करना इत्यादि इत्यादि स्थूलसम्पत्तिलाभके लिये सभीकी आवश्यकता है। अतः बुद्धिको लौकिकव्यापारमें उन्नत करके व्यावहारिक श्रीवृद्धि सम्पादन अवश्य ही करना चाहिये। इतना विचार अवश्य रखना चाहिये कि,

इस प्रकार अर्थकामका सञ्चय धर्ममोक्षका बाधक न हो किन्तु केवल स्थूल अभाव विदूरित करके धर्ममोक्षका पूर्ण सहायक हो। इसके अनन्तर बुद्धि जब कुछ भावराज्यमें प्रवेश करके उसका आस्वादन लेना चाहती है तो काव्यकला, चित्रकला, सङ्गीतकला आदिका विकाश होता है। इन सब कलाविद्याओंके विकाशके समय बुद्धि स्थूल ऐन्द्रियिक सुखसे भावराज्यके सूक्ष्म आनन्दको अधिक मूल्यवान् जानकर उसीमें मग्न होती है। अतः इस दशामें उन सब विद्याओंकी यथेष्ट उन्नति होना स्वाभाविक है। तदनन्तर धीरे धीरे बुद्धिको यह पता लगता है कि, इहलोक ही सब कुछ नहीं है, मृत्युके साथ ही साथ सब कुछ समाप्त नहीं हो जाता है किन्तु इससे परे और कुछ अवश्य ही होगा। इस प्रकार प्रश्नोंका उदय अपने भीतर होनेसे ही परलोकके विषयमें मनुष्यबुद्धिकी अनुसन्धित्सा होने लगती है जिसके परिपाकमें सूक्ष्मजगत्में बुद्धिका प्रवेश अवश्यम्भावी है। यही अतीन्द्रियजगत्में प्रवेशानुरागपरायण बुद्धि धीरे धीरे तप तथा साधना द्वारा अतिसूक्ष्मताको अवलम्बन करती हुई अन्तमें आत्मानुसन्धानमें प्रवृत्त हो जाती है। इस आत्मानुसन्धानका चरम फल ही स्वरूपोपलब्धि है। अतः सिद्धान्त यह निकला कि, बुद्ध्युन्नतिप्रद शिक्षादर्शमें लोकद्वयप्रसाधिनी बुद्धिचालना ही परमश्रेयस्कर तथा शिक्षादर्श नामको सार्थक्य देनेवाली है।

सकल उन्नतिके ही मूलमें धर्मोन्नति है। विना धर्मोन्नतिके पूर्ण सम्पादन किये न शारीरिक उन्नति हो सकती है, न मानसिक उन्नति हो सकती है और न बुद्धिकी ही उन्नति हो सकती है। मनुष्य-प्रकृतिमें देवभावसे असुरभाव अधिक बलवान् होनेके कारण मनुष्यका शरीर, मनुष्यकी इन्द्रियाँ, मन या बुद्धि सदा पापकी ओर ही जानेको उद्यत रहती है। केवल धर्म ही मनुष्यके भीतर कर्त्तव्यनिष्ठता, संयमका सुफल, इन्द्रियपरताका कुपरिणाम, विषयसुखकी तुच्छता तथा पापमय जीवनसे परलोकमें दुःख आदि दूरदर्शितापूर्ण देवभावोंको उत्पन्न करके जीवचित्तमें असुरभावको नियमितरूपसे दबाये रहता है जिससे शारीरिक, मानसिक तथा बुद्धि सम्बन्धीय सभी उन्नति मनुष्योंके लिये सुसाध्य हो जाती है। मनुष्य शारीरिक व्यायाम चाहे कितना ही क्यों न करे यदि तपोमूलक इन्द्रियनिग्रह न हो, शरीरको इन्द्रियोंके दास बननेसे रोक न सके, तो यथार्थमें शारीरिक उन्नति मनुष्योंकी कदापि न होगी। उसी प्रकार मनका निग्रह भी धर्मके विना कदापि नहीं हो सकता। धर्म ही मनुष्यको सुकर्म कुकर्म

का परिणाम दिखाता है और बताता है कि, पुण्यपरिपाकसे स्वर्गादि लोकोंमें किस प्रकार अलौकिक दिव्यसुख प्राप्त होता है और पापके फलसे प्रेतशरीर प्राप्ति तथा नरकादि लोकोंमें किस प्रकार भीषण दुःख भोगना पड़ता है। धर्म ही मनुष्यको बताता है कि, उत्तम, मध्यम, अधम प्रत्येक क्रियाकी किस किस प्रकार प्रतिक्रिया हुआ करती है; किस प्रकारसे सत्पात्रमें धनदान करनेपर मनुष्य आगामी जन्ममें प्रचुर धनलाभ करता है और धनका अपव्यवहार, असदुपायसे धनार्जन या यक्षकी तरह धन सञ्चय करने पर आगामी जन्ममें महादरिद्र हो जाता है, किस प्रकारसे प्राणियोंकी वृथा हिंसा करने पर अल्पायु तथा रोगी होता है और भूतदयाके द्वारा दीर्घायुलाभ तथा पुण्य सञ्चय कर सकता है, किस प्रकारसे चक्षुरादि इन्द्रियोंका शास्त्रानुकूल उपयोग करनेपर दिव्यचक्षुलाभ, मानसिकशक्तिलाभ आदि कर सकता है और दुरुपयोगसे मानसिकशक्तिहीनता, दृष्टिशक्तिहीनता, बधिरता आदि अवश्य प्राप्त होती है, किस प्रकारसे तपस्या द्वारा अपूर्वशक्तिलाभ तथा असंयम द्वारा सकल प्रकारकी हानि होती है इत्यादि इत्यादि विचारोंके द्वारा यही स्पष्ट सिद्ध होता है कि, विना धर्मोन्नतिके कोई भी उन्नति चिरकालस्थायी तथा यथार्थमें उन्नतिपदवाच्य नहीं हो सकती है। इसी प्रकार लोकद्वयप्रसाधिनी बुद्ध्युन्नतिके मूलमें भी धर्मोन्नति गूढ़ रूपसे निहित है। मनुष्य धर्मसंस्रवके विना भी केवल लौकिक चातुरीके द्वारा लौकिक जगत्में थोड़े दिनके लिये चमत्कार दिखा सकता है किन्तु इस प्रकार चमत्कार भावी घोर अन्धकारका ही सूचक है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है, क्योंकि धर्महीन बुद्धिकौशल केवल दूसरेको प्रतारित करके लौकिक अर्थकामसिद्धिमें ही पर्यवसानको प्राप्त हो जाता है। उसमें उन्नत बुद्धिमान् वही कहलाता है जिसने नरहत्या, परधनलुण्ठन या परपीड़नके लिये जितना सीधा तथा सहजसाध्य उपाय निकाला हो। कुछ दिनसे पश्चिम देशमें भी इस प्रकार धर्महीन लौकिक राजनीति आदि सम्बन्धीय बुद्धिचातुरी चली हुई है। और उसका अवश्यम्भावी परिणाम अशान्ति, नरहत्या, दुःख दारिद्र्य, राजनैतिक विप्लव तथा जातीय महासंग्राम प्रत्यक्ष ही हो रहा है। अतः सिद्ध हुआ कि, धर्मके मूलमें न रहनेसे इहलोकप्रसाधिनी बुद्धि अपूर्ण, अनर्थकर तथा अशान्तिप्रसविनी ही होती है और परलोकप्रसाधिनी बुद्धिके विषयमें तो कहना ही क्या है! इस बुद्धिका विकाश तो धर्मबुद्धिके विना कदापि हो ही नहीं सकता है; क्योंकि धर्मके विना न परलोकमें ही विश्वास होता है और न आत्माके

अस्तित्वमें ही विश्वास होता है और जहां विश्वास नहीं है वहां सिद्धि भी कदापि नहीं हो सकती है, जैसा कि शिवसंहितामें लिखा है—

"फलिष्यतीति विश्वासः सिद्धेः प्रथमलक्षणम्"

'होगा' यह विश्वास ही सिद्धिलाभका प्रथम लक्षण है। इस कारण क्या शारीरिक उन्नति, क्या मानसिक उन्नति, क्या बुद्धितत्त्वकी लोकद्वयप्रसाधिनी उन्नति, सभीके लिये धर्मोन्नति ही एकान्त मूल कारण है इसमें बिन्दुमात्र संशय नहीं है। अतः शिक्षादर्शके भीतर धर्मशिक्षाका अन्तर्निवेश अवश्य ही होना चाहिये। प्रथमतः कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ, ज्ञानयज्ञ, नित्यनैमित्तिककाम्य-कर्मरहस्य, निर्गुण उपासना, सगुण पञ्चदेवोपासना, अवतारोपासना, ऋषि देव-पितृउपासना, आत्मानात्मविचार आदि धर्मके सर्वसाधारण सर्वलोकहितकर साधारण अङ्गोंकी शिक्षा अवश्य ही होनी चाहिये। तदनन्तर वर्णधर्म, आश्रमधर्म, पुरुषधर्म, नारीधर्म, प्रवृत्तिधर्म, निवृत्तिधर्म, आर्यधर्म, अनार्यधर्म, राजधर्म, प्रजाधर्म, आपद्धर्म, असाधारणधर्म आदि विशेष धर्मके विविध विभागोंकी शिक्षा पूर्णरूपसे देनी चाहिये। साथ ही साथ धर्मशिक्षाप्राप्त स्त्री पुरुष केवल धर्मविषयक अक्षरज्ञानमें ही सन्तुष्ट न होकर अपनी जीवनचर्या तथा दिनचर्यामें जिससे उन सब धर्माङ्गोंका अनुष्ठान करें इस विषयमें पूर्ण ध्यानयुक्त तथा पूर्ण उद्यमशील होना चाहिये, तभी सकल उन्नतिके मूलमें वास्तविक धर्मोन्नति प्राप्त हो सकेगी।

धर्मोन्नतिकी चरमसीमा आत्मोन्नति है, यथा याज्ञवल्क्यसंहितामें— 'अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्' योगबलसे आत्माका दर्शन करना ही परम धर्म है। यही पराविद्या है और इसीमें शिक्षादर्शका अन्तिम पर्यवसान है।

यदि वक्तागण धार्मिक जनताके हृदयमें शिक्षाविषयक इस प्रकार तुलनात्मक विचारका बीज वपन करेंगे और स्वयं भी अनुष्ठान करके बीजके वृक्षरूपमें परिणत होनेमें सहायक बनेंगे तो हिन्दुजगत्का वास्तविक कल्याण साधित होगा इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

व्याख्यान-कला-कुशलता।

आर्यशास्त्रके गम्भीर तत्त्वों पर यथेष्ट विवेचन करके अब उपसंहाररूपसे धर्मप्रचारकी प्राचीन तथा अर्वाचीन रीतियोंके विषयमें कुछ विचार किया जाता है। सभा, समिति आदिमें वक्तृता द्वारा धर्मप्रचारकी रीति नवीन है, प्राचीन नहीं है। श्रीभगवान् मनुका कथन है कि—

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जड़वल्लोक आचरेत्॥

विना पूछे उपदेश नहीं करना चाहिये, अन्यायरूपसे कुतर्कप्रेरित होकर पूछने पर भी नहीं बोलना चाहिये, सब कुछ ज्ञान रहने पर भी बुद्धिमान् विद्वान् पुरुषको वाचालताशून्य तथा आडम्बरशून्य होकर जड़वत् आचरण करना चाहिये। इसी सिद्धान्तके अनुसार प्राचीन कालमें महर्षि तथा आचार्यगण अपनी ओरसे निश्चेष्ट रहते थे, धर्मजिज्ञासुगण दीनभावसे उनकी शरण लेकर जब प्रार्थना करते थे, तभी वे जिज्ञासुओंके अधिकारानुसार तत्त्वोपदेश दिया करते थे। उपनिषद्में भी लिखा है:—

"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।"
"त्वं मां भगव शोकस्य पारं तारय" "अधीहि भगव ब्रह्मेति"।

परमात्माके विषयमें जाननेके लिये हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाना चाहिये। 'हे भगवन्! मुझे शोकसागरसे पार उतारो, ब्रह्मका तत्त्व बताओ' इत्यादि प्रार्थना करनी चाहिये।

इस प्रकारकी हार्दिक प्रार्थना पर धर्मोपदेश करना प्राचीन-धर्मप्रचारकी रीति है। धर्मप्रचारकी दूसरी रीति व्यासासन पर बैठकर किसी शास्त्रके आधारसे धर्मव्याख्या करनेकी है, जैसा कि सूत शौनक आदि प्राचीन मुनि ऋषिगण करते थे। किन्तु हिन्दुजातिके दुर्भाग्यसे ये-दोनों रीति ही आजकल लुप्त सी होरही है। हिन्दु जातिमें अब विरल ही तत्त्वजिज्ञासाकी इच्छा होती है। आत्मा, परमात्मा, धर्म, मोक्ष, आध्यात्मिक उन्नति आदिके विषयमें कामिनी-काञ्चनासक्त, अर्थकामपरायण जीव आजकल न जानना ही चाहते हैं और न जाननेका प्रयोजन ही समझते है। इसी कारण पुराणादिश्रवणकी रुचि भी

लोगोंसे बहुत कुछ कम होगई है। और इन शास्त्रों परसे श्रद्धा भक्ति भी उठती जाती है। इधर हिन्दुजातिकी इस कमजोरीसे लाभ उठानेके लिये भारतवर्षमें विविध विधर्मियोंका अड्डा जम गया है, जोकि रातदिन नाना प्रलोभनके द्वारा हिन्दुजातिको अपने धर्मसे च्युत करनेके प्रयत्नमें लगे हुये हैं। इन सब संकटोंसे जातिकी रक्षा करके उसे चिरन्तन धर्ममर्यादा पर स्थापित करनेके अर्थ नवीन व्याख्यान-कलाका आविर्भाव हुआ है। अतः वर्त्तमान देशकालपात्रानुसार नवीन वक्तृताशैलीकी आवश्यकता सर्वत्र ही अनुभूत हो रही है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

वक्तृता सुनने मात्रसे मोक्ष नहीं होता। 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः' ऐसा वेदका उपदेश भी है। किन्तु उत्तम हृदयग्राही वक्तृताके द्वारा धर्मोत्साह अवश्य बढ़ जाया करता है। धर्मोत्साहसे प्रेरित होकर धर्मकी वृद्धिके लिये लोग अर्थ दान, जीवनदान तक कर देते हैं। धर्म लाभ होनेसे अधार्मिक भाव नष्ट होते हैं जिससे आत्माकी ओर अन्तःकरणकी गति होती है और इसीसे तत्त्वजिज्ञासाका उदय होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरण मनुष्य ले लेता है। व्याख्यानमें शास्त्रीय विषय सुनते सुनते शास्त्रश्रवणकी रुचि बढ़ती है जिस कारण भी महात्माओंके सङ्गकी तथा पुराणादि व्याख्यानश्रवणकी अभिलाषा उत्पन्न होती है। इस प्रकारसे नवीन वक्तृताशैली द्वारा प्राचीन पूर्वकथित दोनों ही धर्म प्रचार शैलियोंकी पुष्टि होती है। स्वधर्मके विषयमें व्याख्यान तथा शङ्कासमाधानके सुनते सुनते परधर्मके प्रति प्रीति नष्ट हो जाती है, जिससे उनके भुलावेमें आनेसे लोग बच जाते हैं। देशसेवा, जातिसेवा, जीवसेवा, धर्मसेवा आदि आनुषङ्गिक बातोंको उत्तेजनापूर्ण व्याख्यानके द्वारा हृदयमें धारण करके लोग देवचरित्र होजाते हैं, स्वार्थ परतामय वैषयिक कार्योंको छोड़कर देशके लिये, धर्मके लिये तथा प्राणिमात्रके कल्याणके लिये सर्वस्व अर्पण कर देते हैं और इस प्रकारसे अपने जीवनको विश्वजीवनके साथ मिलाकर जीव शिवभावकी ओर द्रुतपद अग्रसर होने लगते हैं। इन्हीं सब कारणोंसे वर्त्तमान वक्तृताशैलीकी उपयोगिता सर्ववादिसम्मत है।

व्याख्यानकलामें ऊपर वर्णित विभूतियोंके विकाशके लिये सुयोग्य वक्ताको निम्नलिखित पांच गुणोंसे विभूषित होना पड़ेगा अन्यथा इन सब विभूतियोंका विकाश नहीं हो सकेगा, यह निश्चय है। प्रथमतः व्याख्यानदान कार्यको उन्हें

शिल्प या कला न समझकर 'साधना' समझना होगा। 'सञ्चारः पद्योः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरः' श्रीभगवान् शंकराचार्यके इस उपदेशके अनुसार उपदेशकका धर्मप्रचारके लिये दौरा श्रीभगवान्‌की विराट्‌मूर्त्तिकी प्रदक्षिणाभावसे होगा और उनका धर्मव्याख्यान श्रीभगवान्‌के स्तुतिगानरूपसे होगा तभी यह महदुद्देश्य सफल हो सकेगा। संसारको परमात्माकी मूर्त्ति मानकर भगवत्सेवारूपसे वक्तृताद्वारा उन्हें जगत्सेवा करनी होगी। निष्कामभावसे ऐसी सेवा करते हुए फलाफल श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंमें उन्हें समर्पित करना होगा, तभी उनका व्याख्यानकार्य 'साधना' कहलाने योग्य होगा। इस साधनकार्यके द्वारा उपदेष्टाको आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त होगी, उनमें भगवद् विभूतियोंका विकाश होगा, दैवकृपा तथा भगवत्कृपालाभ वे कर सकेंगे और उनके द्वारा हिन्दुजगत्‌में यथार्थ उन्नतिका कार्य सुसम्पादित हो सकेगा। ये सब सात्त्विक धर्मोपदेशकके लक्षण हैं। राजसिक उपदेष्टामें ये सब लक्षण नहीं पाये जाते हैं। वे वित्तैषणा या लोकैषणाके द्वारा प्रेरित होकर सकाम बुद्धिसे व्याख्यानकलाका आडम्बरमात्र दिखाते फिरते हैं, उनकी 'लेकचरबाजीसे' उन्हें धनकी प्राप्ति या यशकी प्राप्ति होती है। जगत्‌का सच्चा या स्थायी कल्याण उनके व्याख्यानके द्वारा नहीं होता है। मनुष्यों पर उनके व्याख्यानका प्रभाव भी सामयिक तथा क्षणभङ्गुर ही होता है। तामसिक उपदेष्टामें इतनी भी बातें नहीं होती हैं। वे द्वेषकलुषितचित्त होकर दूसरेको गाली देनेमें ही अपना बड़प्पन तथा व्याख्यानचातुरी समझते हैं। शास्त्रोंका विपरीत अर्थ करके जनसमाजको भ्रममें डाल देते हैं, रागद्वेषभरी बातोंसे जनताके भीतर भी राग, द्वेष तथा परस्परविरोध विद्रोहकी सृष्टि करते हैं, परपक्षामर्दनके लिये शास्त्रभित्तिहीन अनर्गल प्रलाप बकते रहते हैं। ऐसे उपदेशकोंकी वक्तृतासे शान्तिके बदले अशान्ति ही उत्पन्न होती है, प्रकाशके बदले अन्धकार ही फैलता है, समाजमें उन्नतिके बदले विद्रोहका ही विस्तार हो जाता है। अतः व्याख्यानकलामें विभूति लाभार्थ वक्ताको प्रथमतः व्याख्यान व्यापारको सात्त्विक साधना रूपसे ही अभ्यास करना होगा। उनका द्वितीय गुण यह होना चाहिये कि वे जो कुछ कहें सो हृदयसे कहा करें ग्रामोफोनकी तरह वाक्यवैखरीमात्र न हो। मुखसे निकले हुए शब्द श्रोताके कान तक ही पहुँच सकते हैं, किन्तु हृदयसे निकले हुए शब्द हृदयके अन्तस्तलतक पहुँच जाते हैं, इस सत्यकी पूर्णप्रतिष्ठा वक्ताके हृदयमें होनी चाहिये। वे यदि स्वयं भक्त न हों तो भक्ति पर व्याख्यान देनेका उनको अधिकार नहीं है, वे यदि विषयी हों तो वैराग्य पर व्याख्यान

देनेका उनको अधिकार नहीं है, वे यदि स्वार्थपर हों तो 'देशभक्ति' पर व्याख्यान देनेका उनको अधिकार नहीं है, वे यदि स्वयं अनाचारी हों तो 'सदाचार' पर व्याख्यान देनेका उनको कोई अधिकार नही है। इत्यादि। इस प्रकारसे शब्द और भावका जितना सामञ्जस्य वक्ताके जीवनमें होगा उतना ही विभूतिका विकाश उनके कार्यमें हो सकेगा इसमें अणुमात्र सन्देह नही है। तृतीयतः उन्हें चरित्रवान् होना चाहिये। इसमें अपना तथा श्रोता दोनोंका लाभ है। क्योंकि प्राणकी शक्तिसे ही वाक्की स्फूर्ति होती है, अतः वाक्क्षयसे प्राणका क्षय अवश्य होता है। इधर चरित्रदोषसे प्राणक्षय होता ही है। अतः वक्ता यदि चरित्रवान् न हो और उच्चस्वरसे व्याख्यान दिये जाय तो दोनों ओरके प्राणक्षय द्वारा तेजोनाश, शक्तिनाश, स्वास्थ्यनाश उनका अवश्य होता जायगा और शीघ्र ही वे कठिन रोगग्रस्त होकर अल्पायु हो जायेंगे। द्वितीयतः चरित्रहीन वक्ताका प्रभाव जनता पर नहीं होता है। उनके शब्दोंमें तेज नहीं रहता है, प्राण नहीं रहता है, इसलिये उनके व्याख्यान प्राणस्पर्शी, हृदयग्राही नही होते हैं। उनके द्वारा उच्चरित पुष्पित शब्दराशि क्षणभङ्गुर अभिनयकी तरह थोड़ी देर तक श्रोताओंका मनोरञ्जनमात्र करके द्वितीय क्षणमें ही विलीनताको प्राप्त होजाती है। अतः व्याख्यानकलामें विभूतिलाभके लिये वक्ताका तृतीय गुण चरित्रवान् होना अवश्य उपयोगी है। वक्ता-का चतुर्थ गुण शास्त्रज्ञ तथा बहुश्रुत होना है। आजकल जैसे 'पल्लवग्राही पाण्डित्य' के बल पर ही लोग पबलिक प्लेटफार्म पर उतर पड़ते हैं, यह ठीक नहीं है। ऐसे पण्डितम्मन्य हलके वक्ताओंके द्वारा प्लेटफार्म बिगड़ता ही है, उसकी मर्यादा नहीं रहती। उत्तम वक्ताके लिये उत्तम शास्त्रज्ञ होना अतीव आवश्यक है। केवल शास्त्रज्ञ होना ही नहीं, अधिकन्तु शास्त्रों पर उनका इतना अधिकार और शास्त्र-का मर्मज्ञान होना चाहिये कि, एक ही शास्त्रीय विषयको श्रोताओंकी प्रकृति प्रवृत्तिके अनुसार बीसों प्रकारसे बनाकर बोल सकें, तभी उनकी वक्तृता समया-नुकूल पुष्पित तथा फलित हो सकेगी और श्रोताओंके मन बुद्धि दोनों ही पर प्रभाव जम सकेगा। श्रोताओंमें कई प्रकारके तथा कई प्रकृतिके मनुष्य होते हैं, इस कारण बहुश्रुत, बहुदर्शी वक्ता ही समयोपयोगी अनेक प्रकारके विषय कहकर श्रोताओं पर पूर्णप्रभावविस्तार कर सकते हैं। वक्ताका पञ्चम गुण भावानुकूल भाषाका पाण्डित्य है। हृदयके भीतर भाव यथेष्ट होने पर भी उसके प्रकट करने-के लिये वक्ताके पास यदि भाषाकी सम्पत्ति न हो तो दरिद्रके मनोरथकी तरह हृदयका भाव हृदयमें ही विलीन हो जाता है और श्रोताओं पर कुछ भी प्रभाव

नहीं पड़ता । इस कारण जिस भाषाके वक्ता हों उसके साहित्य तथा अलंकार शास्त्रका पूर्णज्ञान वक्ताको अवश्य होना चाहिये । ये ही पांच सुयोग्य वक्ताके प्रधान गुण हैं जिनके नियमित उत्तरोत्तर विकाश द्वारा व्याख्यानकलामें अलौकिक शक्तिका विकाश अवश्य ही हो जाता है और ऐसे व्याख्यानकलाकुशल विभूतियुक्त धर्मप्रचारकके द्वारा धर्मजगत्में बहुत कुछ अभ्युदयसाधन हो सकता है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है ।

अब वक्ताओंको अपने कार्यमें कुशलतालाभके लिये किन किन विषयों पर ध्यान रखना उचित है सो नीचे क्रमशः बताया जाता है:—

(१) 'पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्' परमात्मा परम पवित्र तथा सकलमङ्गलके आदिनिदान हैं, इस लिये व्याख्यानरूपी पवित्र कार्यमें विघ्नविनाश निर्विघ्नपरिसमाप्तिके अर्थ प्रथमतः नारायणस्मरण पूर्वक मङ्गलाचरण करना चाहिये । और भी—

सर्वदा सर्वकार्येषु नास्ति तेषाममङ्गलम् ।
येषां हृदिस्थो भगवान् मङ्गलायतनो हरिः ॥

मङ्गलमय हरिको हृदयमें धारण करनेसे कभी किसी कार्यमें अमंगल नहीं होता है । अतः व्याख्यान प्रारम्भ करनेसे पहिले वक्ताको मङ्गलाचरण करना चाहिये । बहुतसे वक्ता मङ्गलाचरण करते समय हिलते डोलते रहते हैं, मानो व्याख्यान ही दे रहे हैं, यह ठीक नही है । मङ्गलाचरण वक्तृताका अंग नहीं है, यह केवल भगवत्प्रार्थनामात्र है । अतः धीर एकाग्रचित्त होकर भक्तिके साथ आंखें बन्द करके मंगलाचरण करना चाहिये । उस समय वक्ता अपनेको लघुशक्ति और परमात्माको गुरुशक्ति, अपनेको यन्त्र और परमात्माको यन्त्री समझ कर यही प्रार्थना करें कि, व्याख्यानरूपी भगवत्कार्यके लिये परमात्मा उन्हें शक्ति देवें और यन्त्रीरूपसे उनके शरीररूपी यन्त्रद्वारा परमात्मा जगत्हितकर कार्य करा लेवें । मङ्गलाचरणमें प्रथमतः अपने इष्टदेवकी स्तुतिका श्लोक, तदनन्तर गुरु स्तुतिका श्लोक और उसके बाद सरस्वती स्तुतिका श्लोक कहना चाहिये और सभीसे शक्ति पानेकी प्रार्थना करनी चाहिये । इस प्रकार तीन श्लोक कहनेके अनन्तर जिस सम्प्रदायके श्रोताओंके भीतर व्याख्यान हो रहा है अथवा जिस देशकालमें व्याख्यान हो रहा है उसीके अनुकूल एक श्लोक चाहे किसी भाषामें हो अवश्य कहना चाहिये ।

(२) दिवा या रात्रिके जिस समय व्याख्यान होरहा है उसी समयके अनुकूल राग या रागिणीमें श्लोक उच्चारण करना चाहियें, नहीं तो कालप्रतिकूल रागमें वक्ता या श्रोता दोनोंके ही चित्तकी एकाग्रतामें विघ्न हो सकता है। और व्याख्यानके तरङ्गमें भी भङ्ग हो सकता है। इसी कारण व्याख्यानके बीच बीचमें भी जो कुछ श्लोक कहे जायें वे भी कालानुकूल रागरागिणीके साथ बोलने चाहियें। इसके लिये सङ्गीतशास्त्रका थोड़ा बहुत अभ्यास वक्ताको अवश्य करना चाहियें। अधिक न हो सके तो प्रातःकाल, मध्याह्न, अपराह्न, सायंकाल और अधिक रात्रिके उपयोगी भैरव, पीलु, इमन कल्याण, मुलतान, वेहाग आदि रागरागिणियोंका अभ्यास अवश्य ही करना चाहियें।

(३) मङ्गलाचरणमें प्रार्थनाके बाद जब वक्ताको भगवत्‌शक्ति तथा वीणापाणि शारदाकी शक्ति मिल गई तो जितने श्रोता उपस्थित हैं सबकी अपेक्षा उनमें शक्ति अधिक प्राप्त हुई ऐसी धारणा करके निर्भय तथा निःसङ्कोच होकर व्याख्यान देना चाहिये, कमसे कम भगवत्‌सेवा या जगत्‌सेवा भावसे अपनेको जो कुछ आता हो उसे निडर होकर कहना चाहिये, जिससे सभाक्षोभकी सम्भावना न हो। इसके लिये प्रथमतः थोड़ी तथा साधारण जनतामें व्याख्यान देकर अभ्यासको बढ़ाना चाहियें। प्रारम्भमें कुछ प्रधान प्रधान विषय या वर्णनात्मक विषय कण्ठ कर लेने पर सभाक्षोभ अवश्य कम होगा और धीरे २ अभ्यास बढ़ते बढ़ते सभी हालतमें अनायास व्याख्यान देना आजायगा।

(४) सभी श्रोताओंमें या सभी देशकालमें एकही प्रकारका व्याख्यान अच्छा नहीं होता। इसी कारण पहिले ही कहा गया है कि, वक्ताको शास्त्र, भाषा तथा अपने विषय पर इतना अधिकार होना चाहिये कि, एक ही विषयको देशकाल-पात्रानुसार कई प्रकारसे कह सके। उच्च कोटिके शास्त्रज्ञश्रोतागण वैज्ञानिक युक्तिपूर्ण शास्त्रीयसिद्धान्तसमन्वित बातोंको पसन्द करते हैं, उच्चकोटिके पश्चिमी शिक्षाप्रिय श्रोतागण भौतिक विज्ञान या सायन्स तथा युक्तिपूर्ण विषयोंको पसन्द करते हैं, स्कूल, कालेज, पाठशालाके छात्रगण सायन्स, देशभक्ति तथा ऐतिहासिक चमत्कारपूर्ण विषयोंको पसन्द करते हैं, साम्प्रदायिक वृद्धपुरुषगण तत्तत् सम्प्रदाय सम्बन्धीय भक्तिपूर्ण बातोंको पसन्द करते हैं, प्रायः युवक श्रोता वीररस तथा हास्यरसकी बातें और वृद्धश्रोता करुण, भक्ति तथा शान्तरसकी बातें पसन्द करते हैं। सात्त्विक मनुष्योंको ज्ञानविज्ञान, राजसिक

मनुष्योंको दृष्टान्तदार्ष्टान्तिपूर्ण युक्ति और तामसिक मनुष्योंको गाथा अधिक प्रिय होती है। सात्त्विक मनुष्योंको निष्काम भाव, राजसिकको सकामभाव और तामसिकको प्रिय सुस्वर रोचक भावयुक्त व्याख्यान रुचिकर होते हैं। सात्त्विक श्रोता थोड़े शब्दोंमें अधिक भावप्रकाशक शब्दोंको प्रिय समझते हैं, राजसिक श्रोता थोड़े सारको बहुत शब्दोंमें बढ़ाकर कहनेसे प्रसन्न होते हैं और तामसिक श्रोता गभीरतारहित पुष्पित शब्दोंसे प्रसन्न होते हैं। अतः इन सब बातों पर विचार करके वक्ताको तदनुसार अपने व्याख्यानको नियमित करना चाहिये। किन्तु सभामें प्रायः सभी कोटिके मिले जुले श्रोता होते हैं। ऐसी दशामें वक्ताको चाहिये कि, प्रथमतः श्रोताओंको एकबार देखलें और जिस कोटिके श्रोता अधिक हों उसी कोटिका व्याख्यान देवें और साथही साथ ऐसे विषयोंका अन्तर्निवेश करते रहें जिससे अन्य कोटिके अल्पसंख्यक श्रोताओंका भी व्याख्यानके प्रति आकर्षण तथा मनोयोग बना रहे। उत्तम वक्ता बननेके लिये इतनी योग्यता अवश्य अपेक्षित है।

(४) आचार्य या गुरुके उपदेशका राज्य बुद्धिराज्य है, और वक्ताके भाषणका राज्य मनोराज्य है। इसलिये वक्ताको श्रोताके मनोराज्य पर अधिकार जमानेका प्रयत्न प्रथम करना चाहिये। अर्थात् व्याख्यानके प्रारम्भमें ही अधिकारी विचार कर वक्ताको इस प्रकारसे व्याख्यानकी भूमिका बांधनी चाहिये, कि, उसे सुनते ही श्रोताओंका चित्त वक्ता तथा व्याख्यानकी ओर आकृष्ट होजाय और श्रोताओंके भीतर यह धारणा उत्पन्न हो जाय कि, वे अच्छा बोलेंगे। इतना होजाने पर श्रोताओंका मनोयोग टूटेगा नहीं और तब वक्ता यदि बीच बीचमें कठिन, बुद्धि पर असर करनेवाली शास्त्रीय बात भी कहेंगे तौभी व्याख्यानका तरंग भंग नहीं होगा। भूमिका श्रोताओंका कोटिविचार करते हुए रूपक या अलंकारवाली हो सकती है, ऐतिहासिक हो सकती है, भावमय उत्तम भाषामय वर्णनात्मक हो सकती है, सायन्सरहस्यवाली हो सकती है या गाथामयी हो सकती है। बीच बीचमें चमत्कारिक बातें, चमत्कार वर्णन, गाथा तथा मधुरकण्ठसे श्लोक कहते रहने पर श्रोताओंका चित्ताकर्षण विशेषरूपसे होता है। कोई कोई वक्ता आकर्षणवृद्धिके लिये जयध्वनि भी कराते रहते हैं।

(५) किसी किसीका यह विचार है कि, व्याख्यान देते समय व्याख्यानके भावानुरूप किसी एक व्यक्तिको लक्ष्य बनाकर व्याख्यान देना चाहिये। किन्तु

इसमें वक्ताके लिये कुछ सुविधा होने पर भी श्रोताओंके मनोयोगमें भङ्ग होनेकी विशेष सम्भावना रहती है। क्योंकि एक व्यक्तिकी ओर दृष्टि रखकर व्याख्यान देते रहनेसे अन्य श्रोतागण अधीर हो उठेंगे और कोलाहल मचाना शुरू कर देंगे। और कटाक्ष आदिके मौके पर जिस पर दृष्टि रख कर उपहास किया जायगा वह अपनेको अवमानित भी समझ सकता है। अन्यपक्षमें यदि वक्ताने एकहीको लक्ष्यीभूत रक्खा तो अन्य श्रोतागण अपनेको उपेक्षित समझेंगे, ऐसा होने पर श्रोताओंका मनोयोग टूट जायगा और वे परस्परमें बातचीत करना तथा कोलाहल करना प्रारम्भ कर देंगे, जिससे सभामें शान्ति-भङ्ग हो जायगा। इस कारण वक्ताको किसी एक पर विशेष दृष्टि न जमाकर, सभी श्रोताओं पर सामान्यतः दृष्टि रखनी चाहिये और विशेष विशेष मौके पर कहीं कहीं विशेष दृष्टि डालकर व्याख्यानके प्रभावको बढाना चाहिये। यथा—वीररसका उद्रेक करनेके लिये युवक श्रोताओं पर विशेष दृष्टि, भक्तिरसका उद्रेक करनेके लिये वृद्ध तथा भक्त श्रोताओं पर विशेष दृष्टि, शास्त्रीय विषयों पर जोर देनेके लिये विद्वान् श्रोतृमण्डलीमें विशेष दृष्टि, हास्यरसका उद्रेक करनेके लिये साधारण जनता पर विशेष दृष्टि, इस प्रकारसे मौके मौके पर विशेष दृष्टि और सामान्यतः सर्वजनता पर साधारण दृष्टि ही हितकारी होती है।

(७) व्याख्यानका प्रारम्भ ओजोगुणसे नहीं होना चाहिये, बीच बीचमें ओजोगुण तथा अन्तमें ओजोगुण हो तो अच्छा है। कोई कोई वक्ता प्रारम्भमें ही बड़े जोशमें आ जाते हैं, किन्तु अन्त तक उस जोशके रखनेमें असमर्थ होनेके कारण व्याख्यानका प्रभाव जाता रहता है। ऐसे वक्ता वृथा जोशीले बनकर स्वयं भी क्लान्त होते हैं और श्रोताओंके मन बुद्धिको भी थकित कर देते हैं। यह ठीक नहीं है। व्याख्यानके प्रारम्भमें मधुर आकर्षक विषय, बीचमें कठिन वैज्ञानिक विषय और अन्तमें जोशभरे विषय यही साधारण सिलसिला है। व्याख्यानके विषय तथा भावके अनुकूल शब्द और साहित्यका भी प्रयोग होना उचित है। यथा—भक्ति विषयमें रसपूर्ण भक्तिके शब्द, वीरताके विषयमें वीर-रस भरे शब्द तथा साहित्य, वैराग्य आदि विषयोंमें तदनुकूल वैराग्यप्रद वर्णनात्मक शब्द, जोश उत्पन्न करनेके लिये उसके अनुकूल जोश भरे साहित्य तथा शब्द इन सबका प्रयोग अवश्य मौके मौके पर होना चाहिये। व्याख्यानमें विषयान्तर नहीं होना चाहिये और जिस विषयका प्रतिपादक व्याख्यान हो,

समाप्ति भी उसी पर अवश्य होनी चाहिये। बीचमें कहीं और प्रकारका विषय प्रसङ्गोपात्त या भूलसे आजाय तो उसे इस तरह लपेटना चाहिये कि, वह श्रोताओंको विषयान्तर प्रतीत न होकर विषयाङ्गरूपसे ही प्रतीत हो और प्रकृत विषयमें बुद्धिमत्ताके साथ उसे लवलीन कर देना चाहिये, यही व्याख्याताकी योग्यता है। विषयके प्रतिपादनमें प्रथमतः भूमिकामें ही विषयके प्रति यथेष्ट इङ्गित होना चाहिये, तदनन्तर मुक्ताहारकी नाईं धीरे धीरे सिलसिलेवार प्रतिपाद्य विषयके प्रत्येक अङ्गपर रोचक, मधुर गम्भीर विवेचन होना चाहिये, दृष्टान्त—श्लोक—इतिहास—गाथा—युक्ति—विज्ञान—सायन्स—भाव आदिके द्वारा उसे सर्वजनप्रिय तथा सारवान् बनाना चाहिये और अन्तमें उसी पर ज़ोर देकर ओजोगुणके साथ विषयको समाप्त करना चाहिये। यही प्रारम्भसे अन्ततक विषयविन्यासकी प्रणाली है। बहुतसे वक्ता, श्रोतामें भाव हो अथवा न हो, स्वयं कृत्रिम भावमें चञ्चल होकर असर डालनेकी कोशिश करते हैं। यह केवल चाञ्चल्य और हलकापनमात्र है। कही वे स्वयं रो गाकर, उच्चस्वरसे हँसकर, कृत्रिम भावभंगी बताकर वृथा वीभत्सरसकी सृष्टि करते हैं, यह ठीक नही है। वक्तामें भावका या रसका सयम रहना चाहिये, उसमें विह्वल नही होना चाहिये। वक्ता भावका उदय कराकर गम्भीर रहें, श्रोता उस भावमें मग्न होकर व्याख्यानके पूर्ण प्रभावका अनुभव करे, वीररसके व्याख्यानमें हृदय वीरतासे भरपूर हो जाय, भक्तिरस या करुणरसके व्याख्यानमें अश्रुधारासे आर्द्र हो जाय—इसीमें वक्ताकी योग्यता है, स्वयं भावोन्मादमें नही है। इस विषयके प्रति वक्ताको अवश्य ध्यान रखना चाहिये।

(८) बहुतसे वक्ता विकृतकण्ठ कृत्रिमस्वर तथा अस्वाभाविक भाषा द्वारा व्याख्यान देते है। प्रकृति ही प्रकृति पर प्रभाव डाल सकती है, विकृति नही डाल सकती है। इसलिये विकृतस्वर या विकृतकण्ठसे वक्तृता करनेपर श्रोताओं पर प्रभाव नहीं जमता। बहुतसे व्याख्याता रोनेके स्वरमें मूर्छनाहीन रागकी तरह व्याख्यान देते है, बहुतसे विरामहीन अति उच्च एक ही स्वरमें व्याख्यान देते हैं। बहुतसे वक्ताओंने तो चाहे थोड़ी जनता हो या अधिक जनता हो, अपनी एक ही प्रकारकी ऊंची आवाज बना ली है और बहुतोंने उत्कट साधुभाषामें समग्र व्याख्यानको आदिसे अन्त तक मण्डित कर डालना ही व्याख्यानकलामें सफलतालाभका मूलमन्त्र समझ रक्खा है। ये सब वक्ताओंके भ्रममात्र हैं।

विकृतस्वरसे कान, मन, मस्तिष्क तीनों ही पर चोट लगती है, जिससे श्रोता बहुत देरतक धैर्य्य नहीं रख सकते है और थककर सभासे उठकर चले जाते है। रोनेके स्वरके व्याख्यानमें भी श्रोताका मन थोड़ी देर बाद क्लान्त होजाता है और ऐसे व्याख्यानमें प्रायः लोगोंको निद्रा या आलस्य आजाता है। अति उच्च-स्वरके व्याख्यानसे भी श्रोताओंका कान, मन तथा मस्तिष्क थक जाता है और श्रोतागण उत्मना या विमना होकर व्याख्यानके यथार्थ लाभसे वञ्चित होजाते हैं। अतः स्वाभाविक 'बोलचाल' के स्वर तथा भाषामें ही व्याख्यान देना चाहिये, अवश्य बीच बीचमें नवीन भावके प्रकटनार्थ तदनुरूप भाषा, स्वर या रस होना चाहिये। किन्तु एकही स्वर, भाषा या कण्ठका प्रयोग कदापि नही होना चाहिये। स्वर, भाषा या रसके प्रयोजनानुसार लाघव गौरवद्वारा ही श्रोताओंका चित्ताकर्षण, उत्साहवर्द्धन और मनोयोग होता है। स्वरकी मितव्ययिता (economy of voice) तो व्याख्यानकलाकी एक प्रधान वस्तु है। पांच हजार मनुष्योंको सुनानेके लिये जितने उच्चस्वरसे बोलना चाहिये पांच सौ मनुष्यौंको सुनानेके लिये यदि उतनी ही ऊंची आवाजसे व्याख्यान दिया जाय तो व्याख्यान निश्चय ही कर्णकटु हो जायगा, उसका प्रभाव नहीं होगा। इस कारण स्वरकी मितव्ययिता अवश्य होनी चाहिये। इसी प्रकार भाषाकी सामान्यता, विशेषता या लाघवगौरवभी विषयके लघुत्व गुरुत्व पर निर्भर करता है। साधारण भाव द्योतक विषयको साधारण भाषाकी सहायतासे ही बोलना चाहिये, उसमें उत्कट साधुभाषाका प्रयोग केवल प्रगल्भता या वाचालताका ही सूचकमात्र है, उत्तम व्याख्यानका सूचक नहीं है। अतः व्याख्यानकलामें भाव, भाषा, स्वरका मितव्यवहार विशेष आवश्यक गुण है, इस ओर वक्ताओंका ध्यान रहना चाहिये। इसी प्रकार निर्दिष्ट समयानुसार व्याख्यानके विषयोंका समावेश भी वक्ताका एक प्रधान गुण है। बहुतसे जडवक्ता दस मिनिटका समय मिलने पर भी पांच मिनिट तक मगलाचरण ही करते रहते है, इसके बाद बाकी पांच मिनिटके भीतर समग्र व्याख्यान समाप्त करनेके वृथा प्रयासमें हांपते ही रह जाते है और श्रोताओंमें अपनी हँसी कराते है। बहुतोंके लिये तो घण्टे डेढ़ घण्टे तकके लायक रटे हुए व्याख्यानको दस बीस मिनिटमें बोलना ही असम्भव हो जाता है। ये सब वक्ताके दोष तथा कच्चेपन है। वक्ताको जितना समय सभामें बोलनेके लिये मिले उतने ही के भीतर अपने विषयको सुसंयत कर लेना चाहिये और यदि वक्तव्य विषय सोचा हुआ अधिक भी हो तथापि

उसमेंसे छांट कर श्रोताओंके अधिकारानुसार ऐसी बातें कहनी चाहिये जिनसे उतनी ही देरमें श्रोता पर पूर्ण प्रभाव पड़ जाय। यही व्याख्यानकलाकी कुशलता है।

(९) बहुतसे वक्ता आठ दस हाथ जमीनके भीतर घूमते घूमते, और बहुतसे नानाप्रकारके अङ्ग-सञ्चालन करते करते व्याख्यान देते हैं, बहुत दूर तक घूमते रहनेसे श्रोताओंके मनःसयोगमें कठिनता होती है, जिससे उनपर प्रभाव कम होता है। अपने चाञ्चल्यका असर श्रोताओं पर भी होता है जिसका फल अच्छा नहीं होता है। इसके सिवाय एक ओरसे दूसरी ओर तक बहुत दूर घूमते रहनेसे सब ओरके श्रोताओंको सब बातें सुननेमें भी नहीं आतीं। इस कारण भी वक्ताका प्रभाव कम तथा सभामें कोलाहल हो जाता है। नाना प्रकार सर्वाङ्गसञ्चालनके द्वारा भी श्रोताओंका मनश्चाञ्चल्य, व्याख्यानमें मनोयोगका अभाव और कहीं कहींपर वीभत्सरसका उदय हो जाता है, जो वक्ताके लिये लघुता मात्रका परिचायक है। अतः वक्ताको एकही स्थान पर धीरभावसे खड़े होकर व्याख्यान देना चाहिये। अङ्गोंमें केवल हाथ और मुख प्रयोजनानुसार हिले और कोई अङ्ग न हिले तो अच्छा है। मुद्रा आदि दिखाने, श्रोताओं पर विशेष प्रभाव जमाने तथा अधिक संख्यक जनता पर प्रभाव विस्तार करनेके लिये बैठकर व्याख्यान देनेकी अपेक्षा खड़े होकर व्याख्यान देना अधिक लाभदायक होता है। तथापि साधु या आचार्य वक्ताके लिये बैठकर व्याख्यान देना ही आश्रम मर्यादानुकूल होगा।

(१०) व्याख्यानकी प्रभाववृद्धिके लिये मुद्राओंका यथोचित प्रयोग वक्ताको अवश्य करना चाहिये। जिस प्रकार उपासनाजगत्में शङ्ख, चक्र, धनुष, गरुड़, कपि आदि मुद्राएं होती हैं, उसी प्रकार धर्मोपदेशकार्यमें भी भक्ति, ज्ञान, अभय, वर, प्रणति, प्रार्थना, वीर, करुण, हास्य आदि भावसूचक मुद्राओंका प्रयोग किया जाता है। व्याख्यान देते समय ऊपर हाथ उठाकर श्रीभगवान्से प्रार्थनामूलक प्रार्थनामुद्रा दिखाई जाती है या सिर नमा कर प्रणतिमुद्रा दिखाई जा सकती है। हाथ सीधा या औंधा करके वर तथा अभयमुद्रा, अङ्गुलियोंके खास संकेतसे ज्ञानमुद्रा, तर्जनी हिलाकर तर्जनमुद्रा, विचित्ररूपसे हाथ हिलाकर हास्य-मुद्रा, शरीर, मुख तथा हाथके सवेग सञ्चालनके द्वारा या धनुषाकार हाथ करके वीरमुद्रा, यथा योग्य मुखभङ्गी आदि द्वारा प्रेम तथा करुण भावोत्पादक मुद्रा,

हृदय पर हाथ धर कर भक्तिभावमुद्रा, छाती तथा ललाटमें हाथ रख कर शोक-मुद्रा इत्यादि देशकालानुसार अनेक मुद्राएं दिखाई जाती हैं जिससे शब्दोंके साथ भावजनक शारीरिक चेष्टाओंके भी सम्मिलित होनेपर श्रोताओं पर व्याख्यानका पूर्ण प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। पश्चिमदेशमें जनतामें 'जोश' डालकर राजसिक काम निकालनेके लिये और भी अनेक मुद्राओंके प्रयोग किये जाते हैं, जिनका वर्णन Bell's Elocutionist, Bacon's Essays आदि अङ्गरेजी ग्रन्थोंमें बहुत कुछ मिलता है। यहां पर बाहुल्यभयसे उन सबका वर्णन नहीं किया गया। मुख्य बात यह है कि, यदि वक्तामें यथार्थ भाव हो और वक्ता हृदयके साथ व्याख्यान देवें तो बिना प्रयत्नके ही अनेक मुद्राएं उनके द्वारा प्रकट हो जाती हैं, जिनके स्वाभाविक तथा स्वतः प्रकट होनेके कारण उनका जो असर जनता पर होता है, बनठन कर कृत्रिममुद्रा दिखानेसे वह असर जनता पर कदापि नहीं हो सकता है। इसलिये कृत्रिम मुद्राओंकी अपेक्षा स्वाभाविक मुद्राओंकी ओर वक्ताओंका अधिक ध्यान रहना चाहिये और उसीके उपयोगी योग्यता सम्पादन वक्ताको करना चाहिये। कभी कभी असमय मुद्रा प्रदर्शन, वृथा चाञ्चल्य, अधिक अङ्गसंचालन, दम्भ, अहङ्कार या बीभत्स भावसूचक मुद्रा आदि दिखाकर वक्ता अपने व्याख्यानके प्रभावको हीन कर देते हैं, सो ऐसे अनिष्टकर मुद्राप्रदर्शनसे वक्ताओंको सदा सावधान रहना उचित होगा।

(११) व्याख्यान सभ्यतापूर्वक देना चाहिये। वक्ताको यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि, उनका यह धर्मोपदेशदानकार्य भगवत्कार्य है, इस कारण इसका मुख्य फल श्रोताओंमें सत्त्वगुण तथा सात्त्विक भावका पोषण करना है। उनके किसी प्रकार हावभाव चेष्टा या शब्द-प्रयोगद्वारा यदि श्रोताओंमें राजसिक, तामसिक भावका उदय हो या रागद्वेष, ईर्ष्या, जिघांसा आदि क्लिष्ट वृत्तियोंका प्रोत्साहन प्राप्त हो तो जानना चाहिये कि, उनका परिश्रम धर्मानुकूल नहीं हुआ। उनके व्याख्यान द्वारा जो कुछ 'जोश' श्रोताओंमें उत्पन्न हो वह भी धर्मानुकूल ही होना चाहिये। कोई कोई वक्ता अपने व्याख्यानमें बहुतसे अपशब्दों-का प्रयोग करके बीभत्स रसका उदय कराते हैं, कोई कोई गाली बककर, गन्दे किस्से कहकर या खराब इङ्गित हावभाव आदि दिखा कर श्रोताओंके मनको कलु-षित कर देते हैं। कोई कोई अन्यधर्मी या अन्य मतमतान्तरोंके प्रति असभ्यता-पूर्ण कटाक्ष करके श्रोताओंके हृदयमें 'तामसी द्वेषभावमय जोश' भर दिया

करते हैं। कोई कोई एक दूसरेसे लड़ा देने लायक शब्दोंका प्रयोग करके वृथा जिघांसा वृत्तिका उदय करा देते हैं। ये सब बहुतही निन्दनीय दोष हैं, जिनसे वक्ताको सदा सावधान रहना चाहिये। यदि कहीं पर परपक्षखण्डनकी भी आवश्यकता हो तो जहां तक हो सके सभ्यतापूर्वक मण्डनमुखेन खण्डन ही प्रशंसनीय होगा, नङ्गी गाली देना या तीव्र कटाक्ष करना उचित न होगा। वास्तवमें नङ्गी गाली या उत्कट खण्डनके द्वारा परपक्षविदलन न होकर प्रायः परपक्षके जोश, उत्साह आदि और भी बढ़ जाया करते हैं, क्योंकि संघर्षसे ही शक्तिकी वृद्धि होती है। ऐसे अवसर पर बहुधा उपेक्षा, मृदु सभ्यतायुक्त सुन्दर समालोचना अथवा स्वपक्षके उदार मण्डन द्वारा स्वतः ही परपक्षका खण्डन होजाता है, जिसका प्रभाव सभ्यश्रेणीकी जनता पर जादूकासा पड़ जाया करता है। अवश्य निम्नकोटिकी जनताके लिये ऐसा उच्चकोटिका भाव कहीं कहीं पर फलप्रद या प्रभावोत्पादक नहीं होता है, किन्तु ऐसे मौके पर भी वक्ताको सभ्यताच्युत कदापि नहीं होना चाहिये, यही सार तथ्य है।

(१२) व्याख्यानमें रसभङ्ग, रसाभास या रससांकर्य कदापि नहीं होना चाहिये, इससे व्याख्यानका प्रभाव एकबारगी नष्ट होजाता है। वीर, करुण, हास्य, भयानक आदि सप्त गौणरस और दास्य, वात्सल्य, कान्त, सख्य आदि सप्त मुख्य रसोंके वर्णन पहिले ही किये गये हैं। गुण रसका धर्म है, इसलिये गुणहीन रस नहीं होते। माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणके ये तीन भेद हैं। माधुर्यगुणके साथ करुणरसका सम्बन्ध है, ओजगुणके साथ वीर, वीभत्स, रौद्ररसका साक्षात् सम्बन्ध है और प्रसादगुणके साथ सामान्यतः चौदह रसोंका तथा विशेषतः सात मुख्य रसोंका सम्बन्ध है। अद्भुत, हास्य, भयानक ये तीन रस अवस्थाभेदसे स्वतन्त्रताके साथ कभी माधुर्यगुणके साथ और कभी ओजगुणके साथ सम्बन्धयुक्त होते हैं। योग्य वक्ताको इन सब गुण तथा रसोंका पूरा पता होना चाहिये और रसमें शत्रुमित्रका ज्ञान भी उन्हे पूर्णरूपसे होना चाहिये। यथा—हास्य तथा अद्भुत रस शृंगार रसके मित्र हैं, किन्तु करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर, भयानक रस उसके शत्रु हैं। इसी तरह करुणरस शान्तरसका मित्र है, किन्तु वीर, शृंगार, रौद्र, हास्य, भयानक रस उसके शत्रु हैं। रौद्ररस वीररसका मित्र है, किन्तु शान्त, शृंगार रस उसके शत्रु हैं। अद्भुत, रौद्र, वीररस, भयानकरसके मित्र हैं, किन्तु शृंगार, हास्य, शान्तरस उसके शत्रु हैं। जिस प्रकार

शरीरके वात पित्त कफ ये तीन भाव हैं, उसी प्रकार साहित्यशास्त्रमें भी ऊपर-लिखित माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन गुण माने गये हैं। जिस गुणके साथ जिन जिन रसोंका सम्बन्ध है, वे रस यदि एक दूसरेके बाद प्रकाशित हों तो रससांकर्य नहीं होता है, अन्यथा व्याख्यानमें रसभङ्ग, रसाभास, या रससांकर्य दोषका उदय होकर धीर श्रोताओंके लिये कर्णक्लेश तथा मनःक्लेशका कारण बन जाता है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं, कि, शुद्ध शृङ्गारके दास्य, वात्सल्य आदि रसोंका परस्परमें मेल हो सकता है तथा वीर, रौद्र आदिका भी परस्परमें मेल हो सकता है। परन्तु दास्य, वात्सल्यके साथ वीररसका मेल नहीं हो सकता। अतः शान्तरसका उदय होते समय यदि कोई हँसा देवे तो रसभावुकको क्लेश होता है। इसी प्रकार रोदनभावोत्पादक व्याख्यान देते देते यदि वक्ता जनताको हँसा देवे या वीररसोत्पादक व्याख्यान देते देते यदि अकस्मात् वक्ता उपहासजनक बात कहकर श्रोताओंके मनोभावको हलका कर देवे तो केवल व्याख्यानका असर ही नही नष्ट होजाता है, अधिकन्तु श्रोताओंके अन्तःकरण तथा कानपर तीव्र चोट लग जाती है। अतः इस रसभङ्ग तथा रससांकर्य दोषसे वक्ताको सदा बचना चाहिये।

इस प्रकारसे ऊपर वर्णित द्वादश विषयोंपर निरन्तर ध्यान रखनेसे वक्ता उत्तमवक्ता तथा सफलवक्ता अवश्य ही बन सकते हैं।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!